व्याकरणचन्द्रोदय

पंचम खण्ड

(शिक्षा, संज्ञा, परिभाषा, संहिता तथा लिङ्ग)

श्री चारुदेव शास्त्री

मोतीलाल बनारसीदास

विशिष्ट ज्ञानार्थ प्रवृत्त हुए इस पञ्चम खण्ड में पाँच प्रकरणों का निरूपण किया गया है—शिक्षा, संज्ञा, परिभाषा, संहिता तथा लिङ्ग । शिक्षा का निरूपण प्रायेण पाणिनीय शिक्षा के आधार पर किया गया है । वर्णोत्पत्ति अथवा वर्णाभिव्यक्ति के विषय में आधुनिक भाषा विज्ञान-विशारदों का मत भी स्पष्ट रूप से दिया है । अष्टाध्यायीगत सभी संज्ञाओं को सोदाहरण एकत्र संगृहीत किया है ।

परिभाषाओं का सविस्तर विशद व्याख्यान किया गया है । प्रत्येक परिभाषा का पदच्छेद, समस्तपदविग्रह, पदार्थ, वाक्यार्थ देते हुए अनेक शंकाओं का समाधान किया है । नागेशधृत १३२ परिभाषाओं का यह व्याख्यान तथा प्राचीन परिभाषावृत्तिकार सीरदेव के ग्रन्थ का सार २६० पृष्ठों में परिसमाप्त हुआ है । यह परिभाषेन्दुशेखर का भाषान्तरमात्र नहीं, यह मूलातिरिक्त अत्यधिक विवरण है । नव्यन्याय-भाषासमूर्छित परिभाषार्थ को संजीवित करने का यह प्रथम प्रयास है । वादि-प्रतिवादि-परिगृहीत शास्त्रार्थ-शैली-रूप आवर्त में मज्जनोन्मज्जन करते हुए प्राथमकल्पिक छात्र के निस्तारण के लिये यह प्रकृत प्रयत्न है ।

संहिताप्रकरण में यथासंभव अष्टाध्यायीगत सूत्रक्रम का अनुसरण किया है । वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते—इस कारिकांश को प्रस्तुत प्रकरण में व्यवस्थित विभाषा स्वीकार किया है और वे इने-गिने प्रदेश निर्दिष्ट किये हैं जहाँ सन्धि नहीं होती । सन्धि संस्कृत के स्वरूप की घ[...]
पर संस्कृत का भूषण भी है जो आरोपित अथवा [...]
नहीं । राधेय कर्ण के स्वर्णकुण्डल की तरह सहज [...]
भी माना है । सन्धि सरलीकरण अथवा समीक[...]
उत्तम उपाय है, इसे सोदाहरण प्रतिपादित किया [...]
कृति के व्याक्रियाप्रधान होने से यहां स्थानिवद्भाव[...]
स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ, अचः परस्मिन्पूर्वविधौ, न प[...]
वंचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु कृ[...]
त्रिसूत्री की विशद विस्तीर्ण उदाहरण-प्रत्युदाह[...]
व्याख्या मिलेगी, जो सिद्धान्तकौमुदी में देखने [...]
नहीं मिलती । सिद्धान्तकौमुदी के प्रक्रिया-प्रधान [...]
वहां 'सुद्ध्युपास्यः' की प्रक्रिया में इसका संस्पर्शम[...]
है । यहां सन्धि-विषयक सूत्रों की कैसी व्याख्या हुई [...]
निदर्शन के रूप में अच्सन्धि प्रकरण के आदिम स[...]
यणचि' की व्याख्या को ही पढ़ें । कितने वैशद्य से [...]
दिखाया गया है । परिभाषा-साहाय्य से सूत्रार्थ कं[...]

व्याकरणचन्द्रोदय

पञ्चम खण्ड

(शिक्षा, संज्ञा, परिभाषा, संहिता, लिङ्ग)

श्री चारुदेव शास्त्री

एम्० ए०, एम्० ओ० एल्०

श्रीगान्धिचरित, अनुवादकला, प्रस्तावतरङ्गिणी, उपसर्गार्थचन्द्रिका,
वाक्यमुक्तावली, शब्दापशब्दविवेक आदि ग्रन्थों के निर्माता,
वाक्यपदीय (प्र० का०) के परिष्कर्ता तथा व्याकरण
महाभाष्य (नवाह्निक) के अनुवादक व विवरणकार

मो ती ला ल ब ना र सी दा स

दिल्ली : : वाराणसी : : पटना

विषयानुक्रमणिका

लिङ्गप्रकरण

ओं नमः परमात्मने ।

नमो भगवते पाणिनये । नमः शिष्टेभ्यः ।

प्रकृत्यादिविभागेन शब्दानामनुशिष्यते ।
साधुत्वं येन तच्छास्त्रं वेद्यं व्याकरणाभिधम् ॥१॥

व्याक्रियन्ते पदानीह क्रियन्ते नूतनानि न ।
अन्वाख्यानस्मृतिस्तस्मादुक्ता व्याकरणं बुधैः ॥२॥

ऐतदात्म्यमिदं शास्त्रं प्रस्मृत्येदं निरर्गलाः ।
तं तमर्थं विवक्षन्तः शब्दान्नूत्नान्प्रकुर्वते ॥३॥

अर्थेऽर्थे प्रत्ययं शिष्ट्वा शिष्टैर्व्युत्पादितानुत ।
अर्थान्तरेऽननुज्ञाते शब्दान्वामी प्रयुञ्जते ॥४॥

आसतां तावदन्ये ये र्वाचीनाः साहसप्रियाः ।
भट्ट्याद्यैः सूरिभिश्चापि सम्प्रदायो न रक्षितः ॥५॥

तद्रक्षया प्रणुन्नोहं विनेयप्रणयेन च ।
व्याक्रियां लौकिकानां हि शब्दानां वक्तुमुद्यतः ॥६॥

सूत्राणां वार्तिकानां च सम्प्रदायानुरोधिनी ।
सोपपत्तिरसन्देहा व्याक्रिया प्रकृते स्थिता ॥७॥

पदानां प्रक्रिया लघ्वी बुद्धिवैशद्यकारिणी ।
शैक्षाणामुपकाराय प्रभूताय भविष्यति ॥८॥

इहस्थं वाक्यसन्दोहं दर्शं दर्शं बुभुत्सवः ।
प्रयोगनैपुणीं काञ्चिल्लप्स्यन्तेऽन्यत्र दुर्लभाम् ॥९॥

अज्ञानमन्यथाज्ञानं ज्ञानं सांशयिकं तथा ।
भेत्स्यतीयं कृतिः कृत्स्नं तमश्चन्द्रोदयो यथा ॥१०॥

किञ्चिद् वक्तव्य

व्याकरणचन्द्रोदय के इस पञ्चम खण्डमें पञ्च प्रकरणों का निवन्धन किया है। वे पाँच प्रकरण ये हैं—१. शिक्षा, २. संज्ञा, ३. परिभाषा, ४. संहिता, ५. लिङ्गानुशासन।

प्रथम खण्डचतुष्टय में कारक-समास, कृत्तद्धित, तिङन्त, स्त्रीप्रत्यय, सुवन्त तथा अव्यय का निरूपण पर्यवसित होने पर शिक्षा आदि ही पञ्च वर्ण्यविषय रह जाते हैं, सो उनकी वर्णना प्राप्तावसर ही है, अनवसरग्रस्त नहीं। तो भी शिक्षा और संज्ञा को ग्रन्थोपक्रम में स्थान देना चाहिये था, ग्रन्थोपान्त में क्यों रखा गया? यह ऐसे हुआ है कि यह ग्रन्थ उन छात्रों के हितार्थ लिखा गया है जो सामान्यतः संस्कृत तथा संस्कृतव्याकरण में लब्धप्रवेश हैं और विशेष के जिज्ञासु तथा प्रौढि के प्रेप्सु हैं। क्रिया का सामान्य वोध होने पर क्रियाकारक-सम्वन्ध के सविस्तर विशद रूप से सुविदित होने पर छात्र को अनवद्य हृद्य वाक्यावलि के निवन्धन में समर्थ वनाने के अभिप्राय से सर्वप्रथम कारक प्रकरण रखा गया है। पृथक् पदों का वाक्य में निवन्धन सुगृहीत हो जाने पर किसी एक भाव को पृथक् पदों से न कहकर तत्स्थानापन्न एकपद से कैसे कहा जा सकता है, इसके लिये कारकप्रकरण के समनन्तर समासप्रकरण का निवन्धन पूर्वसम्वद्ध ही है। नानार्थाभिधान के निमित्त महान् शब्द राशि अपेक्षित हैं। यह शब्दराशि ऐसे प्रत्ययों से निष्पन्न होती है जो धातु से परे आते हैं और कृत् (नामकरण) कहलाते हैं और जो सुबन्त पदों से आते हैं और तद्धित कहलाते हैं। एतदर्थ द्वितीय खण्ड में कृत् तथा तद्धित प्रत्ययों का निरूपण किया है। कारकप्रकरण तथा कृत्प्रकरण से क्रियापदों का सामान्यतः बोध होने पर भी उसकी अकृत्स्नता बनी रहती है। लगभग दो हजार धातुएँ पाणिनीय धातुपाठ में सम्पठित हैं और वर्धते धातुगणः ऐसा वैयाकरणकृतान्त भी है, जिस से कुछ लौकिक धातुएँ भी मानी जाती हैं और कुछ केवल सूत्रोपात्त होने से सौत्र हैं। यद्यपि वाचा संव्यवहार चार सौ धातुओं से अनायास सिद्ध

हो सकता है, तथापि सभी भावों के व्यक्तीकरण तया अनन्तपार साहित्याब्धि के विलोडन के लिये एतावान् धातुराशि पर्याप्त नहीं। नैरुक्त पक्ष में तथा शाटकायनादि वैयाकरणों के मत में संस्कृत के सभी नाम धातुज हैं ऐसा स्वीकार करके तत्तन्नाम-व्युत्पत्त्यर्थ धातु, धात्वर्थ, धातुरूपावलि-विषयक ज्ञान यथासंभव कृत्स्न होना चाहिये, अकृत्स्न ज्ञान से कृतार्थता नहीं होगी। अतः इस कृति के तृतीय खण्ड में विपुल धातुराशि का उपादान करके सप्रपञ्च तिङन्तरूपप्रक्रिया दी है और तत्सम्बद्ध विशद सूत्र-व्याक्रिया भी। जिससे यह एकप्रकरणनिरूपक खण्ड ६३३ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। पूर्व तीन खण्डों में स्त्रीप्रत्ययों, सुबन्तों तथा अव्ययों का सामान्य ज्ञान होने पर भी विशिष्ट ज्ञान के लिये चतुर्थ खण्ड का प्रणयन हुआ है।

विशिष्ट ज्ञानार्थ प्रवृत्त हुए इस पञ्चम खण्ड में प्रथम स्थान शिक्षा का हो, इस में असन्देह होने से कुछ विशेष वक्तव्य नहीं। संज्ञा-ज्ञान के बिना शास्त्र की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती और परिभाषा-ज्ञान के बिना शास्त्र की सम्यक् प्रतिपत्ति और यथास्थान प्रवृत्ति—दोनों ही नहीं हो सकतीं, अतः ये शास्त्रोपकारिका होने से एकसमान उपादेय हैं। इसलिये इनका यहाँ पौर्वापर्य से व्याख्यान किया है। प्रथम चार खण्डों में सहस्रों पद-वाक्यों के प्रयोग से सन्धि का प्रयोगविषयक ज्ञान पर्याप्त हो जाने पर भी सन्धि का शास्त्रीय ज्ञान नहीं हो पाता, तदर्थ संहिताप्रकरण का विस्तार से निरूपण किया है। लिङ्ग के विशिष्ट ज्ञान के लिये इस खण्ड के अन्त में पाणिनीय लिङ्गानुशासन का सविस्तर सोदाहरण व्याख्यान किया है।

शिक्षा का निरूपण पाणिनीय शिक्षा के आधार पर किया गया है। आधुनिक भाषाविज्ञान-पण्डितों के मत से वर्णोत्पत्ति का वर्णन भी किया है। संज्ञाप्रकरण को प्रारम्भ करते हुए हमने प्रत्याहारसूत्रों को आचार्य पाणिनि की कृति माना है, शिवसूत्र नहीं। इस अभ्युपगम में जो साधक युक्तियाँ दी हैं उन पर विद्वज्जन विचार करें। शास्त्रप्रयुक्त प्रायः सभी संज्ञाओं को यहाँ संगृहीत किया है। संज्ञासूत्रों का वितत, विशद व्याख्यान किया है। उदाहरण, प्रत्युदाहरण द्वारा संज्ञाओं की अर्थवत्ता को प्रदर्शित किया है।

संज्ञानिरूपण के अनन्तर परिभाषाओं का व्याख्यान किया है। यहाँ नागेश द्वारा परिभाषेन्दुशेखर में पढ़ी हुई १३२ परिभाषाओं की सविस्तर व्याख्या नागेश का अनुसरण करते हुए की है। पर यह परिभाषेन्दुशेखर का भाषान्तरमात्र नहीं है। यह मूलातिरिक्त अत्यधिक विवरण है। नव्यन्याय-भाषा-संमूर्छित

परिभाषार्थ को उज्जीवित करने का यह प्रथम प्रयास है। वादि-प्रतिवादि-परिगृहीत शास्त्रार्थ-शैलीरूप आवर्त में मज्जनोन्मज्जन करते हुए प्राथमकल्पिक छात्र के निस्तारण के लिये यह प्रकृत प्रयत्न है। यहाँ प्रत्येक परिभाषा में पदच्छेद, समस्तपदविग्रह, पदकृत्य आदि देकर समुदित परिभाषार्थ को अत्यन्त प्राञ्जल रूप में समर्पित किया है। तदनन्तर उसका शङ्कितसमाधिपूर्वक सविस्तर विवेचन किया है। आप किसी एक परिभाषा के विवरण को पढ़िये, कहीं भी संदिग्धता, संकुलता अथवा व्यामोहकता नहीं पायेंगे, सर्वत्र प्रसन्न-सन्दर्भ-सद्भाव से इष्ट प्रतिपाद्यार्थ-व्यक्ति हुई है, ऐसा अनुभव करेंगे। उदाहरण के रूप में असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे (५०) को ही लीजिये। यहां सर्वप्रथम अन्तरङ्ग बहिरङ्ग शब्दों का व्युत्पत्त्यर्थ दिया है। अङ्ग से निमित्त विवक्षित है और वह भी शब्दरूप निमित्त, न कि अर्थरूप—यह स्पष्ट किया है। इससे आगे अर्थाश्रय बहिरङ्गता नहीं मानी जाती इसे व्यक्त किया है। तब अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग के कैयटाभिमत अर्थ अल्पापेक्षत्वमन्तरङ्गत्वम्, बह्वपेक्षत्वं बहिरङ्गत्वम्, को दूषित किया है। इस के पीछे संज्ञा-कृत बहिरङ्गता नहीं मानी जाती इसे सप्रमाण दर्शाया है। समग्र परिभाषार्थ देते हुए अन्तरङ्गं बहिरङ्गाद् बलीयः इस स्वतन्त्र परिभाषा के आश्रयण की अनावश्यकता को दिखाया है। इस के पश्चात् त्रिपादी अन्तरङ्ग सूत्रों में इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती इसे उपपादित किया है। यह परिभाषा ज्ञापक-सिद्ध है इसे स्पष्ट रूप से स्थापित किया है। इसके पश्चात् कार्यकाल-पक्ष में इस परिभाषा की प्रवृत्ति त्रिपादी में होती ही है इस पक्ष का निरास किया है। प्रसङ्ग से समकाल-प्राप्तिक बहिरङ्ग भी असिद्ध होता है इस की उपपादना की है। साथ ही पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन, पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण —इन दो मतों की परीक्षा की है। विशेषापेक्षं बहिरङ्गम् इस एकीय मत की भी युक्तियुक्त निराक्रिया की है। ऐसा ही विश्लेषणपूर्वक व्याख्यान अन्य परि-भाषाओं के विषय में भी हुआ है। इस से व्याकृतिविशारद शास्त्रज्ञ सज्जनों को यथेष्ट परितोष होगा और शास्त्रार्थ जिज्ञासु छात्रों को अभीष्ट बोध प्राप्त होगा।

नागेश के अतिरिक्त श्रीपुरुषोत्तमदेव, सीरदेव आदि विद्वानों ने भी परि-भाषाओं की व्याख्या की है। इनमें महत्त्व की व्याख्यायें श्री पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव की ही हैं। यद्यपि सीरदेव का श्रीपुरुषोत्तमदेव उपजीव्य है, तथापि अधिक विस्तीर्ण होने से इस के व्याख्यान के सार को यहाँ नागेशवृत परिभाषाओं के विवरण के साथ-साथ रखा है। प्राचीनों का कैसा मत है इसे दिखाने के लिये

सीरदेवोक्त परिभाषार्थ को संक्षेप से हिन्दी में अनूदित किया है। सीरदेवीय संक्षेप सहित यह परिभाषा-व्याख्यान २६० पृष्ठों में समाप्त हुआ हैं। इसके अन्त में नागेशकृत परिभाषेन्दुशेखर मूलमात्र अनुवन्ध (१) के रूप में संगृहीत किया है, जिससे मेधावी छात्र को अवसर मिलेगा कि वह हमारे व्याख्यान के आधारभूत ग्रन्थ को स्वतन्त्रतया समझने का यत्न करे और यत्न में असिद्धि होनेपर व्याख्यान को देखकर विप्रतिपत्त्यादि-निवृत्तिपूर्वक परिभाषार्थ को सुगृहीत कर सके। इसके समनन्तर श्रीपुरुषोत्तमदेवकृत परिभाषावृत्ति को अनुवन्ध (२) के रूप में संकलित किया है। यह वृत्ति नागेश-कृत शेखर की अपेक्षा अति ऋज्वी तथा संक्षिप्त है और अनेकत्र नूतन उदाहरणों से सनाथित है, जिस से प्रतिपाद्यार्थ सुकरता से बुद्ध्युपारूढ हो जाता है। अतः यह वृत्ति छात्र-हितैषिणी होने से सर्वथा उपादेय है। **सच तो यह है कि प्राचीनों की उक्तियों में सरलता की छाप है और नवीनों की उक्तियों में जटिलता की।**

परिभाषाप्रकरण की परिसमाप्ति पर संहिताप्रकरण का प्रारम्भ होता है। यहाँ संहिता का लक्षण करके संहिताधिकारीय सन्धि को ऐच्छिक न मान कर नैत्यक माना है। वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते—इस कारिकांश को व्यवस्थित विभाषा स्वीकार किया है और वे इनेगिने प्रदेश निर्दिष्ट किये हैं जहां सन्धि नहीं होती। व्यवस्थित विभाषा की सकारणता को भी सुष्ठुतया विस्पष्ट किया है। अन्यत्र सर्वत्र सन्धि अपरिहार्य है, ऐसा स्थिर किया है। एक वाक्य में सन्धि की अपरिहार्यता की तो वात ही क्या, निराकाङ्क्ष वाक्यों के अन्त्य व आद्य वर्णों के बीच भी सन्धि होती है, इसे औपनिषद ऋषियों के वचनों द्वारा दिखाया है। **सन्धि संस्कृत के स्वरूप की घटक है। यह संस्कृत का भूषण भी है, पर यह भूषण आरोपित अथवा आहार्य नहीं। राधेय कर्ण के स्वर्णकुण्डल की तरह सहज है। सन्धि सरलीकरण अथवा समीकरण का उत्तम उपाय है,** इसे सोदाहरण प्रतिपादित किया है। सन्धिप्रक्रिया को प्रारम्भ करने से पूर्व समस्त सन्धिशास्त्र के मूलभूत तत्त्वों का निरूपण किया है।

संहितायाम् (६।१।७१) यह अधिकार सूत्र है। अतः यहाँ सन्धि विधायक सूत्रों का प्रारम्भ होता है। इस में आचार्य ने अच्सन्धि का विधान पहले किया है और 'इको यणचि' सूत्र से इसका उपक्रम किया है। इसी क्रम का हमने अनुसरण किया है। जैसे हमने प्रथम खण्ड के प्रारम्भ में प्रतिज्ञा की थी, हमारी कृति व्याक्रियाप्रधान ग्रन्थ है, प्रक्रिया-प्रधान नहीं। इस प्रतिज्ञा की निरूढि के लिये हमने भरसक प्रयत्न किया है। इस सूत्र की ही व्याख्या को

देखिये, सूत्र के एक-एक पद की सार्थकता पर विचार किया है। अनेक परिभाषाओं के साहाय्य से निष्कृष्ट, परिशुद्ध सूत्रार्थ उपस्थित किया है। परभूत अच्निमित्तक इक्स्थानिक यण् को लक्ष्य में दिखा कर सन्तोष नहीं किया है।

यथासम्भव पदान्त, अपदान्त, समास तथा उपसर्ग सन्धि के पृथक् पृथक् उदाहरण दिये है, सांकर्य से नहीं। उदाहरणों का प्राचुर्य हमारी समग्र कृति का स्वालक्षण्य है और वे प्रचुर उदाहरण प्रायेण प्राचीन वैदिक व लौकिक साहित्य से उद्धृत किये होते हैं। ठीक ऐसा ही सन्धि प्रकरण में किया गया है, जिस से प्रतिपाद्य विषय अत्यन्त अभिव्यक्त हो गया है। सभी प्रकार की सन्धि दिखाते हुए यथासम्भव वाक्योपन्यास किया है। वाक्य की व्यवहार्यता और वाक्यार्थ की रोचकता को सर्वत्र ध्यान में रखा गया है।

'सुध्युपास्य' आदि में यण् सन्धि को ही दिखाया है, अच्सन्धि प्रकरणस्थ होने से। यण् सन्धि के निर्वृत्त होने पर परिनिष्ठित व्यवहार्य रूप सिद्ध हो जाता है। आष्टमिक वैकल्पिक द्विर्वचन जो हल्सन्धि प्रकरणस्थ है, उसे यहाँ नहीं दिखाया है। इस में हम ने काशिका का अनुसरण किया है, और व्याक्रियाप्रधान ग्रन्थ में प्रकरणशः सूत्रप्रवृत्ति ही उचित है, यह निर्विवाद है।

अच्सन्धि प्रकरण के सूत्रों की कैसी व्याख्या हुई है, इसके लिये एकः पूर्वपरयोः (६।१।८४), अन्तादिवच्च (६।१।८५) सूत्रों की विवृति को देखिये। पूर्व (अधिकार) सूत्र में सम्पूर्ण रूप से पदकृत्य दिखाया है। उत्तर सूत्र व्यपदेशातिदेश है, रूपातिदेश नहीं, इसे स्पष्ट किया है।

इस प्रकरण में उदाहरणों की प्रत्यग्रता तथा रुचिरता के लिये ऋत्यकः (६।१।१२८) सूत्र के वैदिक व लौकिक उदाहरण पढ़िये और कहिये कैसे लगते हैं। इन के साथ काशिकास्थ खट्व ऋश्यः, माल ऋश्यः आदि उदाहरणों की तुलना कीजिये। ये कितने असंगत, नीरस तथा विरस है!

आचार्य ने छे च (६।१।७३) आदि तुग्विधायक सूत्रों को संहितायाम् (६।१।७२) इस अधिकार में पढ़ा है। संहिताधिकार से पूर्व ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (६।१।७१) सूत्र से तुक् विधान किया है। संहिताधिकारीय तुक् का भी एकप्रकरणस्थता के लिये यहीं विधान किया है। हम इस संहिताकारीय तुग्विधि को हल्सन्ध्यन्तर्गत मानते है। जहाँ हल् कार्यी है, निमित्त चाहे अच् हो चाहे हल्, वह हल्सन्धि का विषय है। अतः हमने इन सूत्रों को हल्सन्धि प्रकरण के प्रारम्भ में रखा है। कौमुदीकार ने हल्सन्धि प्रकरण के अन्त में इन्हें रखा है। ऐसा क्यों किया है, यह हमारे लिये दुरूह है।

हल्सन्धि प्रकरण को भट्टोजिदीक्षित ने स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।४०) से प्रारम्भ किया है। विसर्ग सन्धि सम्बन्धी तृतीय पाद के सूत्रों को इस प्रकरण के पीछे रखा है और कुछ एक को इसी प्रकरण में पढ़ा है। इस प्रकरण में भी किसी क्रम-विशेष का आश्रयण नहीं किया। भट्टोजिदीक्षित का अष्टाध्यायी-क्रम के प्रति अनादर सुविदित है। इस में शब्दरूप प्रक्रिया का लक्ष्य होना ही कारण है। तो भी यह समझ में नहीं आता कि हल्सन्धि का प्रारम्भ स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।४०) से क्यों किया, जब कि इस प्रकरण में तृतीय पाद के हल्सन्धि-विषयक सूत्रों को भी संगृहीत किया है। और यह भी दुरवगम है कि यदि विसर्ग सन्धि हल्सन्धि नहीं, विसर्ग के हलों के मध्य में पाठ न होने से, तो विसर्जनीयस्य सः (८।३।३४), कुप्वोः ≍क≍ पौ च (८।३।३७), कस्कादिषु च (८।३।४८)—इन सूत्रों को यहां क्यों पढ़ा ?

हम ने हल्सन्धि के सूत्रों (और इनके साथ विसर्ग सन्धि के सूत्रों को भी) अष्टाध्यायी क्रम से अनुक्रान्त करके सन्धि का स्वरूप दिखाया है।

'रु' के स्थान में 'उ' भी हल्सन्धि है, हल् के कार्यी होने से, अतः षष्ठाध्याय प्रथमपादीय अतो रोरप्लुतादप्लुते (६।१।११३) इत्यादि सूत्रों की पहले व्याख्या की है। तदनन्तर रु-सम्बन्धो तथा रु-स्थानिक कार्यान्तर-विधायक सूत्रों का उपन्यास किया है। ये सूत्र आष्टमिक अध्याय तृतीय पाद के हैं।

यह रुप्रकरण (८।३।२२) सूत्र के साथ समाप्त हो जाता है। इस के आगे अनुस्वार, अनुस्वार को परसवर्ण, आगम, आदेश के विधायक सूत्रों को क्रमपूर्वक रखकर सोदाहरण व्याख्या की है। यह व्याख्या मय उञो वो वा (८।३।३३) सूत्र के साथ समाप्त हो जाती है। (८।३।३४) से विसर्गसन्धि का प्रारम्भ होकर (८।३।४८) के साथ इस की समाप्ति हो जाती है। (८।३।५५) से हल्सन्ध्यङ्गभूत षत्व विधि उपक्रान्त होती है और (८।३।११६) के साथ समाप्त हो जाती है। इस के आगे (८।४।१) से णत्वविधान जो हल्सन्ध्यन्तवर्ती है, प्रारब्ध होता है और (८।४।३९) के साथ समाप्त हो जाता है। तदनन्तर स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।४०) से लेकर अध्यायपरिसमाप्ति तक हल्स्थानिक नाना कार्य विधान किये हैं। अध्याय की परिसमाप्ति के साथ ही हल्सन्धि प्रकरण समाप्त हो जाता है। इस प्रकार अविकल रूप से हमने हल्सन्धि प्रकरण के निरूपण में अष्टाध्यायीस्थ क्रम का आश्रयण किया है। इस के परित्याग में कोई युक्ति नहीं। मनमाने क्रम का स्वीकार न परम्परा का रक्षक है और न प्रतिपाद्यप्रतिपादनोपकारक है।

अष्टाध्यायीस्थ क्रम का अनुसरण तो हमारे हल्सन्धिनिरूपण का वैशिष्ट्य है ही, यहाँ भी अच्सन्धि-प्रकरण की तरह वाक्योपन्यास द्वारा सन्धिकार्य प्रदर्शन इस कृति का व्यावर्तक लक्षण है। जहाँ वाक्य साहित्य से उद्धृत नहीं भी हैं, स्वनिर्मित हैं, वहाँ भी स्वाभाविक सरसताऽभिषिक्त तथा रुचिरतारूषित वाक्यावलि का निबन्धन हुआ है ऐसा अनुभव होगा, जिस से सहसा सहेलम् सन्धि विषय हृदिस्थ हो जायगा। आङ्माङोश्च सूत्र (पृ० ४४०) के ही उदाहरणों को पढ़िये—आच्छायाऽस्य तरोः। अस्य च प्रच्छाया, तेनात्र निषीदामः। आच्छायमत्र तरुतले निषत्स्यामः।

सूत्रों की व्याख्या कैसी हुई है इसके लिये अतो रोरप्लुतादप्लुते (पृ० ४४१) की ही वृत्ति को देखिये। अनुवृत्ति दिखाते हुए सूत्र-घटक पदों की प्रयोजनवत्ता असन्दिग्ध रूप से कही है। षाष्ठ उत्वविधि के प्रति पूर्वत्रा-सिद्धीय त्रैपादिक रुत्व की असिद्धता की शङ्का का समाधान किया है। सूत्र में 'अतः' में तपर क्यों किया, सानुबन्ध 'रु' को 'उ', ऐसा क्यों कहा, 'अति' ऐसा क्यों न्यास किया, तथा अप्लुतात्—यहाँ प्लुत का निषेध क्यों किया—इन प्रश्नों का एक-एक करके उत्तर दिया है।

'सुध्युपास्यः'—इस लक्ष्य में अनचि च (८।४।४७) से धकार के द्विर्वचन के प्रसङ्ग में यण् के स्थानिवद्भाव की चर्चा करते हुए दीक्षित ने स्थानिवदा-देशोऽनल्विधौ, अचः परस्मिन्पूर्वविधौ, न पदान्तद्विर्वचनवरे-यलोप-स्वर-सवर्णा-ऽनुस्वार-दीर्घजश्चर्विधिषु सूत्रों की क्रमिक प्रवृत्ति द्वारा स्थानिवद्भाव का निषेध कहा है, जिससे द्विर्वचन होकर सुद्ध्युपास्यः—यह इष्ट रूप निष्पन्न हो जाता है। पर इन सूत्रों का यहाँ संस्पर्शमात्र हुआ है। सिद्धान्तकौमुदी में अन्यत्र भी इनकी व्याख्या नहीं मिलती। कौमुदी के प्रक्रिया-प्रधान ग्रन्थ होने से इन की व्याख्या को कोई स्थान न मिल सका! सूक्ष्मदृक् दीक्षित ने जहाँ यथा-स्थित सूत्र की प्रवृत्ति से लक्ष्यसिद्धि में अनिष्टप्रसङ्ग की आशङ्का होती है वहाँ अनेकत्र सुन्दर कल्पनाओं द्वारा परिष्कृत सूत्रार्थ का विवरण किया है। इस महावैयाकरण के लिये प्रकृत त्रिसूत्री की व्याख्या दुष्कर अथवा अनुपयोगिनी थी ऐसा कहना साहसमात्र होगा। इस के लिये वह उचित स्थान न पा सका, यही कहना होगा। अतः हमने (क्योंकि हमारी कृति व्याक्रियाप्रधान है) इस त्रिसूत्री की वितत विशद व्याख्या दी है, जिससे सूत्र-प्रवृत्ति-विषय का बोध ही नहीं होगा, सूत्रार्थ का अभीष्ट बोध भी होगा। यह त्रिसूत्री महार्थ है, इसका अनितरसाधारण गौरव है और महान् विषय है, यह इसके उदाहरण-

प्रत्युदाहरणों से सहज में सुविदित हो जाता है। अतः कौमुदी में इसके विवरण का परिहार शोच्य है।

सन्धिप्रकरण की परिसमाप्ति के अनन्तर इस खण्ड का पञ्चम प्रकरण पाणिनीय लिङ्गानुशासन का व्याख्यान रखा है। इस व्याख्यान में सूत्रोपात्त शब्दों का अर्थ व लिङ्ग दिखाकर साहित्योद्धृत रुचिर उदाहरणों से उसे और रोचक बनाया है और कोषान्तरों के उद्धरणों से आप्यायित किया है। कोषान्तरों के साथ संवाद विसंवाद भी स्थान-स्थान पर दिखाया है।

पाणिनीय लिङ्गानुशासन सूत्रशैली से लिखा गया है और अतिसंक्षिप्त है। इसमें बहुत कुछ वक्तव्य शेष रह गया है। इस शेष की पूर्ति साकल्येन तो एक स्वतन्त्र महाकाय ग्रन्थ से ही की जासकती है, पर यह हमारा उद्देश्य नहीं। अतः इसकी आंशिक पूर्ति के लिये हमने यत्न किया है और 'लिङ्गानुशासनशेषः' नाम का स्वनिर्मित प्रकरण जोड़ा है। यह प्रकरण जैसे पुरुषोत्तमप्रणीत त्रिकाण्डशेष अमरकृत नामलिङ्गानुशासन का शब्दान्तर-संग्रहमात्र से पूरक अथवा अभ्युच्चायक है वैसे पाणिनीय लिङ्गानुशासन का अनुक्तनामान्तर-संकलनमात्र से पूरक ही नहीं, अपितु विवेचनात्मक दृष्टि से लिङ्ग का गम्भीर विमर्शक भी है। इस प्रकरण को हमने ११ अवान्तर प्रकरणों में विभक्त किया है—

१. हर्षवर्धनलिङ्गानुशासनत उद्धारः। २. अलिङ्गकाः शब्दाः। ३. अजहल्लिङ्गाः। ४. विधेयप्राधान्यात्तल्लिङ्गग्रहः। ५. सर्वनाम्नां विधीयमानानूद्यमानलिङ्गग्रहणे कामचारः। ६. अर्थभेदाल्लिङ्गभेदः। ७. स्वार्थिकानां प्रकृतिलिङ्गस्य व्यतिक्रमः। ८. स्त्रीत्वं लोकात्। ९. सामान्ये नपुंसकम्। १०. लिङ्गसर्वनाम नपुंसकम्। ११. प्रकीर्णकम्।

हर्षवर्धन की कृति से जो यहाँ उद्धरण दिये हैं वे अनुक्तार्थ के पूरक हैं पर उनका यहाँ संग्रहण पूर्त्तिमात्र के उद्देश्य से नहीं हुआ है। हर्षवर्धन ने ऐसे रुचिर लालित्यभरे छन्दों में निबन्धन किया है जो अध्येता को एकदम मन्त्रमुग्ध कर देता है। वह एक रागपरिवाहिणी गीति है जिसे पढ़ते-पढ़ते उसका सिर झूम जाता है। तत्तच्छब्द-लिङ्ग अनायास स्मृत्यारूढ होता चला जाता है। हम यहाँ इस रुचिरपद्यावलि से एक-दो उदाहरण देते हैं

रेणुवेणुबिन्दुकन्दु-
कम्बुकन्तुजन्तुतन्तु।
पांसुपीलुसेतुधातु-
मन्युमायुपायुजायु॥

भ्रुकुटिकुटिकटीतित्रोटिकोट्याजिराजि-
च्छविकृषिरुचिवीचिश्रेणिनिःश्रेणिवेणीः ।
वटितुटिखनिहानिग्लानिनेम्यश्निनीवी-
ग्रहणिविपणिपेशीः पालिधूल्यालिनालीः ।।

इतने से आप हमारे साथ सहमत होंगे कि हर्षवर्धन से अपेक्षित उद्धरण कितना उपादेय है ।

एक-एक अवान्तर प्रकरण द्वारा बहुत कुछ उपदेष्टव्य है । अलिङ्गकाः शब्दाः, विधेय-प्राधान्यात्तल्लिङ्गग्रहः इत्यादि पङ्क्तियाँ विद्वानों को सुविदित हैं । शास्त्रशीलन-परायण विमर्शक जन इन से भली भाँति परिचित हैं पर इनके निदर्शनभूत वाक्य-संग्रह को आप यहीं पायेंगे । ये निदर्शन प्रायः प्राचीन साहित्य से उद्धृत किये गये हैं, स्वकपोलकल्पित नहीं हैं ।

इन अवान्तर प्रकरणों में 'सामान्ये नपुंसकम्' के अन्तर्गत शक्यम् (नपुं० एक०) के प्रयोगविषय में हमारे विमर्श को विशेषरूप से पढ़िये । हमारी यह धारणा है कि वाक्यारम्भ में कर्मविशेष की अविवक्षा में नपुंसक एकवचनान्त 'शक्यम्' का प्रयोग सूपपन्न है, पर कर्मविशेष के शब्दोक्त होने पर वाक्य-मध्यस्थ 'शक्यम्' का प्रयोग दुरुपपाद है ।

प्रकीर्णक में फुटकल रूप से किन्हीं एक शब्दों के लिङ्ग के विषय में विमर्श उपस्थित किया है । सर्वत्र प्राचीन साहित्योद्धृत उदाहरणों द्वारा लिङ्गविशेष का निर्णय किया है और उसके प्रयोग के विषय को दर्शाया है । प्रवेक (समा-सोत्तरपद), उपग्रह, वन्दि (वन्दी), विष्टि, भृति (कुमारार्थक), प्रतीहारी, शिवा, दिग्ध, लिप्तक, निरस्त, स्यूत (क्तान्त) आदि के विषय में हमारा विशेष वक्तव्य द्रष्टव्य है । स्वक्षेत्रे संस्कृतायाम्—में स्त्रीलिङ्गी विशेषण की उपपादना भी आलोच्य है ।

प्रथम खण्डचतुष्टय के मुद्रित-प्रकाशित हो जाने के पश्चात् शास्त्रशीलन के नैरन्तर्य से हमें नई संग्राह्य सामग्री उपलब्ध हुई, जिसको अनर्घ्य निधिरूप में अपने पास रखना हमने उचित नहीं समझा । उसे पठक-पाठक वृन्द तक पहुंचाना ही उचित समझा है । अतः इस खण्ड के अन्त में उसे 'परिशिष्टांशाः' इस शीर्षक से संनिविष्ट कर दिया है । यहाँ कितना नूतनार्थ संगृहीत हुआ है, इसे आप स्वयं सम्यक् अनुभव करेंगे, अतः इस विषय में यहाँ कुछ नहीं कहते हैं ।

पहले दो खण्डों में सूत्राद्यनुक्रमणियाँ नहीं लगाई थीं, यह एक बड़ी त्रुटि रह गई थी। अब इस खण्ड में कारक-समास सूत्रानुक्रमणियाँ, कृत्तद्धित सूत्रानुक्रमणियाँ तथा कृत्तद्धित प्रत्ययानुक्रमणियाँ यथास्थान दे दी गई हैं जिससे उन दो खण्डों के अवलोकन में यथेष्ट सौकर्य होगा।

यह हमारी समग्र कृति २३३२ पृष्ठों में परिसमाप्त हुई है। इसके प्रणयन, प्रूफसंशोधनादि समस्त कार्यभार के निर्वाहण में चार वर्ष लगे हैं। प्रथम खण्ड के 'किञ्चिद् वक्तव्य' में हमने लिखा था कि सम्पूर्ण ग्रन्थ लगभग १००० पृष्ठों में परिसमाप्त होगा। यह हमारा अनुमान कितना वितथ सिद्ध हुआ है। अब ग्रन्थकलेवर लगभग अढाई गुणा हो गया है। इस परिश्रम से हमारी शरीरशक्ति का अवश्य उपक्षय हुआ है, पर मानस परितोष में उपचय हुआ है। यह उपचय और बढ़ जाय यदि शास्त्रमर्मज्ञ अध्यापक इसे आमूलचूल देख जायें। मैं इतने से भी अपने आपको कृतकृत्य समझूँगा।

यदि तनुरपि तोषो मत्कृतौ नूतनार्था-
ल्लसति हृदि बुधानां वाचि निष्ठां गतानाम्।
यदि च भवति बोधः संमतः शब्दशास्त्रे
सुमतियुतबटूनां स्यात्तदा धन्यता मे ॥

अष्टावनारतं होरा हायनांश्चतुरोऽन्वहम्।
व्यापीपरं कृतावस्यामात्मानं स्वस्य तुष्टये ॥२॥

यदेषा प्रासिधत्सम्यग् देहसादे महत्यपि।
प्रसाद ऐश्वरस्तत्र हेतुर्वा विद्वदादरः ॥३॥

तामिमां प्राभृतीकृत्य वाग्विद्योभयजन्मनि।
अर्पयामीश्वरे प्रह्वः प्रमना विरमामि च ॥४॥

३/५४
मुरिभ, रूपनगर,
दिल्ली,
१३ एप्रिल, १९७३.

निवेदक
विद्वद्विधेय चारुदेव शास्त्री

अथ

व्याकरणचन्द्रोदये

शिक्षाप्रकरणं प्रथमम् ।

तत्र प्रथमो वर्गः—वर्णमाला

शिक्षां घ्राणं तु वेदस्य प्रवदन्ति महर्षयः ।
अन्यथोच्चारयंश्छन्दो नरो भवति किल्बिषी ॥१॥
उच्चारणस्य साधुत्वं सममादरभाजनम् ।
मतं लोके च वेदे च संवादो विदुषामिह ॥२॥
शब्दान्मोच्चीचरन्मिथ्या शिष्यः प्राथमकल्पिकः ।
व्याक्रियां वक्ष्यमाणोऽतः शिक्षां तावदुपक्रमे ॥३॥

आर्यावर्त में जिस लिपि में संस्कृत लिखी जाति है उसे देवनागरी कहते हैं । संस्कृत ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपि में भी लिखी जाति रही । जिसे आज संस्कृत कहते हैं वैदिक काल में इसे 'भाषा' कहते थे । संस्कृत शब्द का मूल अर्थ सुन्दर रीति से निष्पादित, परिमार्जित, अलंकृत है । आदि में यह वाक् (वाणी) का विशेषण होकर प्रयुक्त होता था,[1] पीछे विशेष्य रूप से नपुंसक लिंग में प्रयुक्त होने लगा[2] । लिपि का देवनागरी यह नाम कैसे पड़ा निश्चय से नहीं कहा जा सकता । हो सकता है आर्यों के किसी नगरविशेष में इसका जन्म होने से इसका यह नाम पड़ा हो । अथवा किसी नगर विशेष की लिपि न होकर देवों=आर्यों के नगरों में प्रयुक्त होने से यह इस नाम से प्रसिद्ध हुई हो । इस की वर्णमाला में दो प्रकार के वर्ण हैं—स्वर तथा

---

१. यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम् ।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति ॥ (रा० ५।३०।१८)
२. संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः । (काव्यादर्श १।३३)

व्यञ्जन। कुल वर्णों की संख्या ६३ अथवा ६४ है।[1] इनमें २२ स्वर हैं, शेष व्यञ्जन। एकीय मत के अनुसार दीर्घ ॡ मानने से ६४ संख्या सम्पन्न होती है।

जिन वर्णों के उच्चारण में दूसरे वर्णों की सहायता की अपेक्षा नहीं उन्हें "**स्वर**" कहते हैं।[2] स्वरों के तीन भेद हैं—ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत। जिनके उच्चारण में एक मात्रा समय लगे उन्हें ह्रस्व स्वर कहते हैं, जिनके उच्चारण में दो मात्रा समय लगे उन्हें दीर्घ और जिन के उच्चारण में तीन मात्रा समय लगे उन्हें प्लुत स्वर कहते हैं।[3] मूलभूत ह्रस्व स्वर ये हैं—अ इ उ ऋ ऌ। पूर्वाचार्य इन्हें '**समानाक्षर**' नाम से कहते हैं। दीर्घ स्वर ये हैं—आ, ई, ऊ, ॠ। दीर्घ (मिश्र) स्वर ये हैं—ए ऐ ओ औ। इन्हें **सन्ध्यक्षर** कहते हैं। यह संज्ञा भी प्राचीन वैयाकरणों की है, पाणिनिसूत्रों में इसका कहीं निर्देश नहीं। दो-दो अक्षरों (वर्णों) की सन्धि (मेल) से ये बने हैं, अतः इन्हें सन्ध्यक्षर कहते हैं। ऌ दीर्घ नहीं होता ऐसा आचार्य मानते हैं। सन्ध्यक्षर ह्रस्व नहीं होते। अ इ उ ऋ में से प्रत्येक के ह्रस्व, दीर्घ (आ ई ऊ ॠ), प्लुत (आ३ ई३ ऊ३ ॠ३) तीन-तीन भेद होने से ये कुल १२ हुए। ऌ के ह्रस्व और प्लुत होने से दो भेद हुए। ए ऐ ओ औ के दीर्घ और प्लुत दो-दो भेद होने से ये ८ हुए। इस प्रकार कुल स्वर २२ हुए। पर प्रत्येक स्वर के उदात्त, अनुदात्त, स्वरित—ये तीन-तीन और भेद भी हैं। भाग वाले तालु आदि स्थानों में ऊर्ध्व (ऊंचे) भाग से उत्पन्न हुआ अकारादि वर्ण उदात्त (=उदात्तगुण वाला) कहलाता है, निचले भाग से उत्पन्न हुआ अनुदात्त (=अनुदात्त गुणवाला)। जिस अकारादि वर्ण के उच्चारण में उदात्त और अनुदात्त

---

१. **त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः।** पाणिनीय शिक्षा।

२. स्वरन्तीति स्वराः, स्वृ शब्दोपतापयोः, भ्वादिः, पचाद्यच्। स्वयं राजन्त इति स्वराः। यह अर्थ-प्रधान नैरुक्त शैली के अनुसार व्युत्पत्ति है। स्वयं राजन्त इति स्वरा अन्वग्भवति व्यञ्जनम् (महाभाष्य १।२।२९)।

३. **ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः** (१।१।२७)। पदच्छेद—ऊकालः। अच्। ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतः। उश्च ऊश्च ऊ३श्च वः। वः कालो यस्य स ऊकालः। 'ऊ' यह कुक्कुट के रुत का अनुकरण है। इस रुत में तीन अवस्थायें देखी जाती हैं, पहली अवस्था १ मात्रा काल की, दूसरी २ मात्रा काल की, तीसरी ३ मात्रा काल की।

दोनों हों अर्थात् पहली अर्धमात्रा उदात्त हो और शेष अनुदात्त, उसे स्वरित (=स्वरित गुणवाला) कहते हैं।[1] **उदात्त आदि का श्रुतिप्रकर्ष से कुछ संबन्ध नहीं।** स्वर सानुनासिक (आनुनासिक्य धर्मवाले) तथा निरनुनासिक (आनुनासिक्य रहित) होते हैं। अँ, अ इत्यादि।

पहले उदात्तादि स्वरों का लोक में भी उपयोग होता था [2] जो अब नहीं रहा। वेद में पद-पदार्थ-बोध में उपयोगी होने से इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

व्यञ्जन जो संख्या में ४१ (अथवा ४२) हैं, इस प्रकार लिखे जाते है—

१. क् ख् ग् घ् ङ् (कवर्ग)
२. च् छ् ज् झ् ञ् (चवर्ग)
३. ट् ठ् ड् ढ् ण् (टवर्ग)
४. त् थ् द् ध् न् (तवर्ग)
५. प् फ् ब् भ् म् (पवर्ग)

ये पाँच-पाँच वर्णों के पाँच वर्ग हैं। प्रत्येक वर्ग की संज्ञा उसके आदि वर्ण के अनुसार है, जैसे क् के आदि होने से प्रथम वर्ग कवर्ग कहलाता है।

य् र् ल् व्
श् ष् स्
ह

---

१. **उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः, समाहारः स्वरितः** (१।२।२९,३०,३१)। **तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्** (१।२।३२)। यहाँ आदितः=आदौ। अर्धह्रस्वम् =अर्धमात्रा।

२. **उदक् च विपाशः** (४।२।७४) यह सूत्र अण् के अधिकार में अञ् विधान करता है। दत्तेन निर्वृत्तः कूपो दात्तः। दत्त नाम के पुरुष द्वारा विपाट् (व्यास) नदी के उत्तर तीर पर बनवाए हुए कुएँ को 'दात्त' कहते हैं। अञ्-प्रत्ययान्त होने से 'दात्त' आद्युदात्त हुआ, अण् प्रत्ययान्त होता तो प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त होता। रूप में भेद न होने पर भी स्वर में भेद है।

इस से विदित होता है कि ब्राह्मणादि शिष्ट लोग ही नहीं, किन्तु सामान्य जनता किसान आदि भी शब्दों का सस्वर उच्चारण करते थे। सूक्ष्मदृक् भगवान् सूत्रकार ने तो वस्तुस्थिति का अनुवादमात्र किया है। जिसपर मुग्ध होकर काशिकाकार ने—महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य' ऐसा कहा है।

य् व् ल् दो प्रकार के होते हैं—सानुनासिक तथा निरनुनासिक। यँ वँ लँ, य व ल।

इनके अतिरिक्त दो और व्यञ्जन हैं—**अनुस्वार**[१] (ं) और **विसर्जनीय** (:)। ये स्वर के अनन्तर ही प्रयुक्त होते हैं, अतः प्रायः इन्हें 'अ' के साथ दिखा दिया जाता है—अं अः। विसर्जनीय मूलभूत वर्ण नहीं है। स् अथवा र् का विकार है। विसर्जनीय (:) के कुछ ध्वनि-भेद से और कुछ रूप-भेद से दो और नाम हैं—**जिह्वामूलीय** (≍), **उपध्मानीय** (≍)। पहला केवल क ख से पूर्व प्रयुक्त होता है, दूसरा केवल प फ से पूर्व।

अनुस्वार, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को **"अयोगवाह"** कहते हैं। उक्त वर्णों को छोड़ कर ४ और वर्ण हैं जो 'यम' नाम से कहे जाते हैं। वे लोक में इन नामों से प्रसिद्ध हैं—कुँ खुँ गुँ घुँ। पञ्चम वर्ण परे होने पर पूर्व वर्ण सदृश जो वर्ण उनके बीच में उच्चरित हो जाता है उसे 'यम[२]'

---

१. 'अनुस्वार' यह अन्वर्थ संज्ञा है। अनुस्वार का अर्थ है—अनुगतः स्वारम् अनुस्वारः। स्वर एव स्वारः। प्रज्ञादित्वादण्। स्वर शब्द से स्वार्थिक प्रत्यय अण् होकर 'स्वार' शब्द सिद्ध होता है।

'अनुस्वार' को स्वर भी माना जाता है— **अनुस्वारो व्यञ्जनं वा स्वरो वा**—ऋ० प्रा० २४।२२॥

२. लोक में यम, यमज, यमल समानयोनि, समानकालोत्पत्तिक दो बच्चों को कहते हैं। यमाविमौ शिशू (यमजौ यमलौ)। यमज बच्चे बहुत कुछ समानाकृतिक होते हैं। इस सादृश्य को लेकर ऐसे वर्णों की 'यम' संज्ञा की है।

'यम' का स्थान नासिका है—**अनुस्वारयमानां च नासिका स्थानमुच्यते** (पाणिनीय शिक्षा)। भट्टोजिदीक्षित ने 'यम' की 'नासिक्यता' को स्वीकार नहीं किया है ऐसा कौमुदीस्थ लक्षण व उदाहरण से प्रतीत होता है—वर्गेष्वाद्यानां चतुर्णां पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्ववर्णसदृशो वर्णः। पलिक्क्नी चख्ख्नतुः। अग्ग्निः। प्रक्रियासर्वस्वकार नारायणभट्ट का यम-लक्षण इसकी अपेक्षा अतिग्राह्य है—**यमाः स्युरग्निरत्नादौ सनासा जम्परा झयः**। यह लक्षण शिक्षा तथा प्रातिशाख्य के साथ अधिक संवादी है। म० म० पं० शिवदत्त शास्त्री (तत्त्वबोधिनी-टिप्पणीकार) का इसके विपरीत ऐसा कथन है—(यमः) कवर्गीय एव भवति नान्यवर्गीयः। श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्क्न्यौ (यजुः) इत्यत्र तकारनकारयोरपि मध्ये ककारस्यैव दर्शनात्। यह प्रमाणान्तर-सव्यपेक्ष है।

कहते हैं। पलिक्क्नी, चख्ख्नतुः, अग्ग्निः, घ्घ्नन्ति—ये क्रम से उदाहरण हैं। 'यम' भी "अयोगवाह" हैं। अनुस्वार आदि इन आठ वर्णों का अक्षरसमाम्नाय (प्रत्याहारसूत्रों) में योग (=उपदेश, उच्चारण) नहीं है तो भी इनसे 'वहन' (=निर्वहण, निर्वाह) शास्त्र कार्य होता है, अतः इन्हें "अयोगवाह[1]" कहते हैं।

द्वितीयो वर्गः—वर्णोच्चारणम्

अ आ कवर्ग ह (असंयुक्त) तथा विसर्जनीय का कण्ठ में उच्चारण होता है। अतः इन्हें **'कण्ठ्य'** कहते हैं। पाणिनीय शिक्षा में कवर्ग को 'जिह्वामूलीय' कहा है।[2]

इ ई चवर्ग य श का तालु में उच्चारण होता है। अतः इन्हें 'तालव्य' कहते हैं।

ऋ, ॠ टवर्ग र ष का मूर्धा में उच्चारण होता है। अतः इन्हें **'मूर्धन्य'** कहते हैं। मूर्धा=कोमल तालु का पिछला भाग।

ऌ तवर्ग ल स का दाँतो में उच्चारण होता है। अतः इन्हें **'दन्त्य[3]'** कहते हैं।

उ ऊ पवर्ग और उपध्मानीय का ओष्ठों से उच्चारण होता है, अतः इन्हें **'ओष्ठ्य'** कहते हैं।

'व' का उच्चारण ऊपर के दाँतों से अधर ओष्ठ की सहायता से होता है अतः इसे **'दन्तोष्ठ्य[4]'** कहते हैं।

---

१. अयोगाश्च ते वाहाश्च इत्ययोगवाहाः। अविद्यमानो योगो येषां ते ऽ योगाः। वहुव्रीहिः। वाह इत्यत्र ज्वलितिकसन्तेभ्यो ण इति कर्तरि णः।

२. **जिह्वामूले कुः प्रोक्तः** (पा० शि०)। **हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तःस्था-भिश्च संयुतम्। उरस्यं तं विजानीयात्**···(पा० शि०)।

३. वस्तुतः तवर्ग दन्तमूलीय है, इसका ऊपर के दाँतों के मूल से उच्चारण होता है, इसीलिये भग्नदन्त पुरुष भी तवर्ग का उच्चारण कर सकता है। **दन्तमूलीयस्तु तकारवर्गः**—ऋक् प्रा० १।१।४।। दन्तमूलों के पीछे के खुरखुरे तथा उभरे प्रदेश से वोले जाने वाले वर्णों को 'वर्स्व्य' कहते हैं। किन्हीं लोगों के मत में रेफ (र्) 'वर्स्व्य' है।

४. **दन्तोष्ठ्यो वः स्मृतो बुधैः** (पा० शि० १८)। **वकार ओष्ठसंभूतो दन्ताग्रकरणः स्मृतः** ( )। **उवोपोपध्मा ओष्ठे**। (शुक्ल यजुः प्रा० १।७०)।

ए ऐ का उच्चारण कण्ठ और तालु में होता है, अतः इन्हें 'कण्ठतालव्य' कहते हैं।

ओ औ का उच्चारण कण्ठ और ओष्ठों में होता है, अतः इन्हें 'कण्ठोष्ठ्य' कहते हैं।

य र ल व—ये 'अन्तःस्थ' अथवा अन्तः स्था (विच्प्रत्ययान्त) कहलाते हैं, कारण कि वर्णमाला में इनका स्थान स्पर्शों और ऊष्म वर्णों के बीच में है और यह भी कि ये न तो स्वर हैं और न पूर्ण व्यञ्जन, क्योंकि दूसरे व्यञ्जनों की भांति इनके उच्चारण में जिह्वा के अग्रादि भाग तात्वादि स्थानों को पूर्णतया स्पर्श नहीं करते। ऊष्म वर्णों (श्, ष् स्) की भांति इनके उच्चारण में तात्वादि स्थानों का घर्षण भी नहीं होता।

श ष स ह— ये 'ऊष्मन्' कहलाते हैं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति में श्वास की अधिकता प्रधान है। इनमें तात्वादि स्थानों का घर्षण होने से इन्हें 'घर्षक' भी कहते हैं।

क से लेकर म तक के वर्णों को 'स्पर्श' कहते हैं, (स्पर्श एषामस्तीति स्पर्शाः) क्योंकि इनके उच्चारण में जिह्वा के अग्रादि भाग तात्वादि स्थानों को सम्पूर्णतया स्पर्श करते हैं। वर्णात्मक ध्वनि तब उत्पन्न होती है जब जिह्वा के अग्रादि भागों द्वारा वायु-प्रवाह को रोक कर छोड़ा जाता है। इस कारण इन्हें 'स्फोटक' भी कहा जाता है।

प्रत्येक वर्ग के पञ्चम वर्ण को 'अनुनासिक'[1] (ँ) भी कहते हैं, क्योंकि वर्ग के दूसरे वर्णों के साथ तात्वादि स्थानों के समान होते हुए भी इनका नासिका में भी उच्चारण होता है। इनके उच्चारण में वायु नासिका द्वारा तथा मुख-द्वारा निकलती है।

अनुस्वार और यमों का उच्चारण केवल नासिका में होता है, अतः इन्हें 'नासिक्य'[2] कहते हैं। अनुस्वार आदि के उच्चारण में मुखद्वार बन्द रहता है। नासिका से ही वायु निकलती है।

---

१. मुखनासिका-वचनोऽनुनासिकः। (१।१।८)। अनुगतो नासिकाम् अनुनासिकः। मुखसहिता नासिका मुखनासिका (शाकपार्थिवादि)।

२. अनुस्वारयमानां च नासिका स्थानमुच्यते। पा० शिक्षा।

वर्णोच्चारण-कोष्ठ

स्थान	स्पर्श	अनु-नासिक	अन्तःस्थ	ऊष्मन्	ह्रस्व स्वर	दीर्घ स्वर
कण्ठ	क् ख् ग् घ्	ङ्	—	ह्	अ	आ
तालु	च् छ् ज् झ्	ञ्	य्	श्	इ	ई
मूर्धा	ट् ठ् ड् ढ्	ण्	र्	ष्	ऋ	ॠ
दन्त	त् थ् द् ध्	न्	ल्	स्	ऌ	—
ओष्ठ	प् फ् ब् भ्	म्			उ	ऊ
दन्तोष्ठ			व्			
कण्ठतालु						ए ऐ
कण्ठोष्ठ						ओ औ

ह् र् श् ष् स् परे रहते नित्य ही अनुनासिक के प्रसंग में अनुस्वार का उच्चारण इष्ट है, जैसे सिंह, संरम्भ,[1] शिंशपा, प्रशंसा। आजकल अनुस्वार के स्थान में कुछ लोग 'न्' का उच्चारण करते हैं और कुछ 'म्' का। शुद्ध अनुस्वार का उच्चारण विशेष अभ्यास-साध्य है।

प्रयत्न

जब किसी पुरुष के मन में किसी अन्य पुरुषके प्रति कुछ कहने की इच्छा होती है तो वह अपने संकल्प से जाठर अग्नि को प्रेरित करता है, जिससे नाभि-प्रदेश का वायु वेग से उठता हुआ मूर्धा तक पहुँचकर जिह्वा के अग्रादि भागों द्वारा निरोध होने पर मुख के ताल्वादि स्थानों के साथ टकराता है, जिससे वर्ण अभिव्यक्त होते हैं। पीछे लौटता हुआ वही वायु यत्नविशेष की सहायता से गल-विवर आदि का विकास करता है। इस सारे व्यापार का नाम यत्न है। यत्न के दो भेद हैं—**आभ्यन्तर** (प्रयत्न) और **बाह्य** (यत्न)। आभ्यन्तर प्रयत्न को '**करण**' भी कहते हैं। आभ्यन्तर प्रयत्न ४ प्रकार का है—स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत, संवृत। इन्हें आभ्यन्तर इसलिये कहते हैं कि इनका कार्य आस्य अर्थात् ओष्ठ से लेकर काकलक (कण्ठपिटक, टेंटुआ) से पहले-पहले मुख के भीतर होता है और यह वर्णोत्पत्ति से पूर्व होता है। जब

---

१. **अनुस्वारस्तु कर्तव्यो नित्यं ह्रोः शषसेषु च** (पा० शि०)। क्विबन्त सम्राट् शब्द में अवश्य अनुनासिक 'म्' का उच्चारण होता है। मो राजि समः क्वौ (८।३।२५)।

वर्णोत्पत्ति से पूर्व जिह्वा के अग्रादि भाग ताल्वादि स्थानों को पूर्णतया स्पर्श करते हैं तब उस व्यापार को **'स्पृष्ट'** कहते हैं। जब थोड़ा स्पर्श करते हैं, उसे **'ईषत्स्पृष्ट'**, जब उसके समीप पहुँचते हैं, उसे **'संवृत'** और जब दूर रहते हैं उसे **'विवृत'** कहते हैं। तदनुसार स्पर्शों का प्रयत्न स्पृष्ट, अन्तःस्थों का ईषत्स्पृष्ट, ऊष्मन् वर्णों और स्वरों का विवृत तथा 'अ' का संवृत हैं।[1]

दीर्घ एकादेश आदि की सिद्धि के लिए प्रक्रियादशा में 'अ' को विवृत माना गया है। 'आ' विवृत है, उसके साथ 'अ' को सवर्ण बनाकर शास्त्रीय कार्य (दीर्घ एकादेश) करने के लिए ऐसी कल्पना की गई है, लोक में तो 'अ' संवृत ही है। अतः शास्त्र (अष्टाध्यायी) के अन्त में भगवान् पाणिनि 'अ अ इति' इस सूत्र से इस कल्पना को दूर करते हैं और 'अ' को अपने शुद्ध संवृत रूप

---

१. आधुनिक भाषाविज्ञान के पण्डित इस प्रकार वर्णोत्पत्ति अथवा वर्णाभिव्यक्ति मानते हैं—फेफड़ों को साफ कर के निकलता हुआ वायु श्वासनालिका (wind-pipe) द्वारा उस के अग्रभाग में अवस्थित काकलक (कण्ठपिटक, स्वरयन्त्र, larynx) में पहुँचता है, जहाँ से मुख-विवर तथा नासिका-विवर में जाता है। काकलक के मुंह पर दो स्वरतन्त्रियाँ (Vocal chords) हैं, जो रवर की तरह स्थिति-स्थापक (खिंचकर सिकुड़ जाने वाले दो परदे हैं) (प्रत्येक परदा अतिसूक्ष्म तन्त्रियों का समूह है)। इन का विवार (खुलना) और संवार (सटना, वन्द होना) काकलक में आए हुए वायु को रूप देता है संवार के कारण कम्पन होने से वायु नादवान् हो जाता है, विवार की अवस्था में श्वास-रूप रहता है। यही नादवान् वायु घोषवान् (गूंजवाला) होकर मुख में पहुँचता है और नादरहित श्वास अघोषवान् होकर। ताल्वादि स्थानों में जिह्वा के अग्रादि भागों द्वारा वायु के निरोध किये जाने पर और तदनन्तर निर्मुक्त किये जाने पर ककार आदि स्पर्शों की उत्पत्ति होती है। जिह्वा की समीप में स्थिति (अधिक ऊपर उठना) से मुख विवर बहुत पतला अथवा संवृत हो जाता है, उस अवस्था में उच्चरित वर्ण को 'संवृत' कहा जाता है। जब जिह्वा की दूर स्थिति (कम से कम ऊपर उठना) होती है तो मुखविवर अधिक विवृत रहता है, उस समय उच्चरित वर्ण को 'विवृत' कहते हैं। (इस संवृतता, विवृतता का कण्ठ की संवृति, विवृति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं)।

में उपस्थित करते हैं। स्वरूप से प्रच्युत हुए की पुनः स्वरूप प्राप्ति को **'प्रत्यापत्ति'** कहते हैं। सो यह प्रत्यापत्ति अन्तिम सूत्र से की गई है।

बाह्य यत्न

बाह्य (प्र) यत्न[1] ग्यारह प्रकार का है—विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राणता, महाप्राणता, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित। भाष्यकार के मत में बाह्य प्रयत्न आठ ही हैं; अर्थात् उदात्त, अनुदात्त और स्वरित प्रयत्न नहीं। इन्हें बाह्य प्रयत्न इसलिए कहते हैं कि यह कार्य मुख से बाहर काकलक से नीचे गल-विवर के संकोचविकासादि रूप से होता है और यह वर्णोत्पत्ति के पश्चात् होता है। बाह्य प्रयत्न को **अनुप्रदान** भी कहते हैं। नाभि प्रदेश से उठता हुआ वायु जब गल विवर को खोल देता है, उस व्यापार को 'विवार' कहते हैं, जब संकुचित करता है तब 'संवार' कहते हैं। जब काकलक से केवल श्वास आता है उसे **'श्वास'** और जब ध्वनि-विशिष्ट श्वास तब उसे **'नाद'** कहते हैं। **श्वास-प्रकृतिक वर्ण 'अघोष' कहलाते हैं और नाद-प्रकृतिक 'घोषवान्'**। जिन वर्णों की उत्पत्ति में प्राणवायु की अल्पता होती है, उन्हें **'अल्पप्राण'** और जिनकी उत्पत्ति में प्राणवायु की अधिकता होती है, उन्हें **'महाप्राण'** कहते हैं।

'खर्' वर्णों का प्रयत्न विवार, श्वास और अघोष है। 'हश्' वर्णों का संवार, नाद व घोष। वर्गों के प्रथम, तृतीय और पञ्चम वर्ण तथा यण् का प्रयत्न अल्पप्राण है। वर्गों के द्वितीय, चतुर्थ तथा 'शल्' वर्णों का महाप्राण है।

सवर्ण संज्ञा (जिसे आगे कहेंगे) में बाह्य प्रयत्नों का उपयोग नहीं। हाँ, जहाँ एक के स्थान में नाना आदेश प्राप्त होते हों वहाँ अन्तरतम (=सदृशतम) आदेश के निश्चय के लिए ये उपयोगी हैं।

---

१. **प्रयतनं प्रयत्नः स्थानकरणव्यापारः**—न्यास। प्रयत्न शब्द में 'प्र' शब्द आदिकर्म में है। **प्रारम्भो यत्नस्य प्रयत्नः। यत्नानां मध्ये प्रथमं वर्णोत्पत्तेः पूर्वमारभ्यमाण इत्यर्थ** इत्युद्द्योतः। वर्णाभिव्यक्ति से पहले प्राणवायु के मूर्धा में टकराने पर स्पृष्टता आदि प्रयत्नों का व्यापार हो जाता है, पश्चात् लौटने पर विवार आदि बाह्य प्रयत्नों का व्यापार होता है। अतः 'प्रयत्न' शब्द से ४ आभ्यन्तर प्रयत्न ही लिए जाते हैं। बाह्य विवार आदि को यत्न कहना अधिक ठीक होगा।

प्रयत्न विवेक का कोष्ठ

आभ्यन्तर प्रयत्न	वर्ण	वाह्य यत्न
स्पृष्ट	क च ट त प	अल्पप्राण विवार श्वास अघोष
	ख छ ठ थ फ	महाप्राण ,, ,, ,,
	ग ज ड द ब	अल्पप्राण संवार नाद घोष
	घ झ ढ ध भ	महाप्राण ,, ,, ,,
	ङ ञ ण न म	अल्पप्राण ,, ,, ,,
ईषत्स्पृष्ट	य र ल व	अल्पप्राण संवार नाद घोष
विवृत	श ष स	महाप्राण विवार श्वास अघोष
	ह	,, संवार नाद घोष
	अ (प्रक्रिया दशा में), आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ए ऐ ओ औ	अल्पप्राण उदात्त अनुदात्त स्वरित
संवृत	अ (प्रयोगस्थ)	अल्पप्राण उदात्त अनुदात्त स्वरित

वेदों के अङ्गों में शिक्षा प्रथम[1] अङ्ग है। शुद्ध उच्चारण सिखाने की विद्या को शिक्षा कहा गया है। शुद्ध उच्चारण से वक्ता और श्रोता को जो रस आता है वह विलक्षण ही है, वह स्वयंसंवेद्य है, कहा नहीं जा सकता है। अतः उपनिषत्कार ऋषियों ने भी अपनी कृतियों में शिक्षा[2] को उचित स्थान दिया है। महाकवि यायावरीय राजशेखर ने भीं अपनी कृति काव्यमीमांसा में शिक्षा के महत्त्व का वर्णन करते हुए शुद्ध उच्चारण को मनुष्य का अलङ्कार मानते हुए इसे अनेक जन्मोपार्जित माना है।[3] आचार्य पाणिनि ने भी शिक्षा को वेद का घ्राण[4] बतलाया है।

इति श्री चारुदेवशास्त्रिणः कृतिषु व्याकरणचन्द्रोदये शिक्षानाम प्रथमम्प्रकरणमवसितम् ॥

---

१. शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस्, ज्योतिष—ये वेद के छः अङ्ग हैं।

२. अथ शीक्षां व्याख्यास्यामः—तै० उ०

३. यथा जन्मान्तराभ्यासात्कण्ठे कस्यापि रक्तता।
तथैव पाठसौन्दर्यं नैकजन्मविनिर्मितम् ॥

४. शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य।

अथ

संज्ञा-प्रकरणं द्वितीयम् ।

अणादिरूप-वृद्ध्याद्या आचार्येण प्रकल्पिताः ।
संज्ञाः शास्त्रप्रवृत्त्यर्थमर्थाप्यन्ते यथाक्रमम् ॥

पाणिनिव्याकरण के आधारभूत माहेश्वर[1] नाम से प्रसिद्ध १४ सूत्र ये हैं—

---

१. वैयाकरण कुल में यह ऐतिह्य है कि पाणिनि व्याकरण के मूल-भूत अ इ उ ण् आदि १४ सूत्र भगवान् शिव के नृत्तावसान में ढक्का-वादन से उत्पन्न हुए। अतः इन्हें '**माहेश्वर**' कहते हैं। पर भगवान् भाष्यकार **प्रत्याहारेनुबन्धानां कथमज्ग्रहणेषु न** इत्यादि श्लोक-वार्तिक का व्याख्यान करते हुए कहते हैं—**एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते यत्तुल्यजातीयांस्तुल्यजातीयेषूपदिशति—अचो ऽक्षु हलो हल्षु**। यहाँ आचार्य शब्द अनादि शब्द पुरुष के लिए प्रयुक्त हुआ है, ऐसा नागोजिभट्ट का कथन है। सम्भवतः 'अनादि शब्द-पुरुष' से उन्हें शिव अभिप्रेत है। पर यह संगत प्रतीत नहीं होता। यह दूराधिरोहिणी कल्पना है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि ढक्कावादन से उत्पन्न हुए सूत्रों को उपदेश नाम से कैसे व्यपदिष्ट किया जा सकता है। भाष्यस्थ 'उपदिशति' (=उच्चारयति) शब्द का प्रयोग भी असंगत रहता है। शैली शब्द का प्रयोग भी पुरुषकृत प्रयत्न की ओर संकेत करता है। शीलाद् अभ्यास-वशाद् आगता शैली=शील से निष्पन्न निबन्धन-प्रकार-विशेष। भाष्य में आचार्य शब्द का व्यवहार सूत्रकार भगवान् पाणिनि अथवा वार्तिककार भगवान् कात्यायन के लिए प्रयुक्त हुआ है, हाँ, बहुवचन में प्रयुक्त हुआ यह पूर्वाचार्यों का संकेतक है। ये सूत्र शिवसूत्र हैं इसका भाष्य में गन्धमात्र भी संकेत नहीं है। हमारा विचार है कि ये सूत्र भगवान् पाणिनि की उपज्ञा (आद्य ज्ञान) हैं; उनकी अपनी कृति हैं। भाष्यकार का इन्हें अक्षरसमाम्नाय कहना भी इनकी अनादिकालता का बोधक नहीं, कारण कि सम्-आङ्पूर्वक

अइउण् (१) ऋलृक् (२) ए ओङ् (३) ऐ औच् (४) हयवरट् (५) लण् (६) ञमङणनम् (७) झभञ् (८) घढधष् (९) जबगडदश् (१०) खफछठथ-चटतव् (११) कपय् (१२) शषसर् (१३) हल् (१४)।

भाष्य में इन्हें 'अक्षरसमाम्नाय' अथवा वर्णसमाम्नाय कहा है। इन्हें 'प्रत्याहार सूत्र'[1] भी कहते हैं। यहाँ हकारादि में जो अकार है वह उच्चारण-सौकर्य के लिए है। इन सूत्रों के आधार पर अष्टाध्यायी में ४३ 'प्रत्याहार' प्रयोग में आए हैं। वे ये हैं—

अण्, अक्, अच्, अट्, अण्, अम्, अश्, अल्, इक्, इच्, इण्, उक्, एङ्, एच्, ऐच्, हश्, हल्, यण्, यम्, यञ्, यय्, यर्, वश्, वल्, रल्, ञम्, मय्, ङम्, झष्, झश्, झय्, झर्, झल्, भष्, जश्, बश्, खय्, खर्, छव्, चय्, चर्, शर्, शल्।

शास्त्र में प्रयुक्त हुए अण् आदि प्रत्याहार हैं, यह व्याख्यान से ही जाना जाता है, लक्षण से नहीं। अण्, इण् आदि कहाँ प्रत्ययादि स्वरूप से विवक्षित हैं, कहाँ प्रत्याहार रूप से, इसमें भाष्यकारादि का वचन प्रमाण है।

थोड़े से शब्दों में अथवा थोड़े से प्रयास से शास्त्रप्रवृत्ति कराने के लिए प्रत्याहारों की रचना हुई है। ऊपर दिए हुए प्रत्याहार दो-दो वर्णों से घटित हुए हैं पर बहुत से वर्णों का बोध कराते है। ये कैसे घटित हुए हैं और किन वर्णों का ग्रहण कराते हैं इस विषय में कहते हैं—

किसी एक सूत्र के किसी वर्ण को आदि में उच्चारण कर उसके अन्त में उसी सूत्र अथवा उसके आगे के किसी सूत्र के इत्संज्ञक (अन्त्य) वर्ण का उच्चारण करने से ये वर्णसमुदायरूप प्रत्याहार घटित हुए हैं, यह इन्हें देखने से ही स्पष्ट है। प्रत्येक सूत्र के अन्त्य वर्ण (हल्) की 'इत्'[2] संज्ञा है। इत् संज्ञा

म्ना धातु आ प्रयोग संग्रह अर्थ में भी होता था, जैसे कि यास्क निरुक्त (७।१३) में 'भूयांसि तु समाम्नानात्, यत् तु संविज्ञानभूतं स्यात्प्राधान्यस्तुति तत् समामने' इस वाक्य में करते हैं। नागोजिभट्ट भी 'अक्षरसमाम्नायो वाक्-समाम्नायः' का अर्थ 'वाक्संग्रहोपायः' ऐसा करते हैं।

१. प्रत्याह्रियन्ते संक्षिप्यन्ते वर्णा अस्मिन्निति प्रत्याहारः।

२. एतीति इत्, (इण्+क्विप्) जो चला जाता है वह 'इत्' है। यह अन्वर्थ संज्ञा है। हलन्त्यम् १।३।३। अन्योन्याश्रयदोष को हटाने के लिए इसके

वाले वर्ण को अनुवन्ध भी कहते हैं। ये अनुवन्ध शास्त्रीय कार्य करने के लिए लगाए जाते हैं जैसे यहाँ शास्त्र प्रवृत्त्यर्थ प्रत्याहार वनाने के लिए। जिसकी इत् संज्ञा हो (अर्थात् जो अनुवन्ध हो) उसका लोप[1] (=अदर्शन) हो जाता ह। कार्यार्थ लगाए हुए अनुवन्ध अविद्यमान होते हुए ही उस-उस शास्त्रकार्य को सम्पन्न करते हैं ऐसा माना जाता है। प्रत्याहार का आदि वर्ण अन्त्य इत् संज्ञक वर्ण से मिलकर अपने स्वरूप तथा अपने से लेकर अन्त्य वर्ण पर्यन्त सूत्रों में पढ़े हुए मध्य में आने वाले सव वर्णों का बोधक (ग्राहक) होता है।[2] अण् कहने से अ इ उ का वोध होता है, तथा अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ ह य व र ल का भी, पर इत्संज्ञक ण्, क्, ङ्, च् ण् का नहीं। ऐसा ही सभी प्रत्याहारों के विषय में जानो।

अण् प्रत्याहार के अन्तर्गत ह्रस्व स्वरों से दीर्घ स्वरों का भी वोध होता है,[3] अर्थात् शास्त्र में जो कार्य अण् को कहा जाएगा वह जैसे ह्रस्व स्वरों को होगा, वैसे ही दीर्घ स्वरों को भी। 'अच्' से सव स्वरों का बोध होता है, इत्संज्ञक ण् क् ङ् च् का नहीं। 'हल्' कहने से सव व्यञ्जनों का। अर्थात् हयवरट् सूत्र के ह से लेकर 'हल्' इस सूत्र के 'ल्' तक। इत्संज्ञक ट् आदि का नहीं। इसलिए 'झल्' कहने से 'झभञ्' सूत्र के झ से लेकर 'हल्' सूत्र के

दो अर्थ किए जाते हैं—उपदेशे ऽन्त्यं हल् इत् स्यात्, हल् इति सूत्रे ऽन्त्यम् इत् स्यात्। उपदेश आद्य उच्चारण को कहते हैं। सोमसुत् में अन्त्य हल् 'त्' तुक्-विधायक शास्त्र से निष्पन्न होने से आद्य उच्चारण नहीं; अतः इसकी इत् संज्ञा नहीं। और इत् संज्ञा न होने से लोप भी नहीं होता। उपदेश इस प्रकार परिगणित हुए हैं—

धातुसूत्रगणोणादिनामलिङ्गानुशासनम्।
आगमाः प्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः॥

१. **तस्य लोपः** (१।३।९)। **अदर्शनं लोपः** (१।१।६०)।

२. **आदिरन्त्येन सहेता** (१।१।७१) आदिः। अन्त्येन। सह। इता। ऐसा पदच्छेद है।

३. **अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः** (१।१।६९)। अण् और उदित् (कु चु टु तु पु) अपने आपका बोध कराते हैं और अपने सवर्णों का भी। पर प्रत्यय (=प्रत्यय, आदेश, आगम) अण् से ऐसा बोध नहीं होता। इस शास्त्र को ग्रहणक (संग्राहक) शास्त्र कहते हैं।

अन्त्य इत्संज्ञक ल् तक के वर्णों का बोध होता है, पर बीच में आने वाले इत्संज्ञक ञ्, ष्, श्, व्, य्, र् का और अपने अन्त में आने वाले इत्संज्ञक ल् का नहीं।

प्रत्याहार सूत्रों में 'ण्' दो बार पढ़ा है। 'अण्' से पहले णकार तक के वर्णों का ग्रहण (बोध) होता है। **अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः** (१।१।६९) में उपात्त अण् को छोड़ कर। यहीं अण् से परे के णकार तक के वर्णों का ग्रहण होता है, अन्यत्र कहीं नहीं। इसमें व्याख्यान ही शरण है। यथा उरण् रपरः (१।१।५१)। अणो ऽ प्रगृह्यस्यानुनासिकः (८।४।५७)—यहाँ पूर्व णकार तक के वर्णों का ग्रहण होता है। 'इण्' से परे के णकार तक का ही ग्रहण होता है।

पर यदि अण् 'तपर' (**तः परो यस्मात्**, 'त्' है परे जिससे, अथवा **तादपि परस्तपरः**, 'त्' से परे) पढ़ा हो तो दीर्घ आदि का ग्रहण न होगा। जैसे **अदेङ् गुणः** (१।१।२) सूत्र में 'अ' 'तपर' पढ़ा है, इसलिए 'अ' अपने काल वाले ह्रस्व (एकमात्रिक) का ही बोध करायगा, दीर्घ (द्विमात्रिक) का नहीं, जिससे 'अ' की गुण संज्ञा होगी, दीर्घ 'आ' की नहीं। एङ् भी 'तपर' पढ़ा है (तादपि परस्तपरः, 'त्' से परे होने से), इस से प्लुत (त्रिमात्रिक) एङ् (ए, ओ) की गुण संज्ञा नहीं होगी।

वृद्धि[1]—आत् (तपर आ) और ऐच्=ऐ, औ) की वृद्धि संज्ञा होती है। चाहे आदैच् **तद्भावित**, वृद्धि शब्द उच्चारण करके भावित (उत्पादित, साधित, विहित) हों, चाहे अतद्भावित (वृद्धि शब्द द्वारा अविहित)। 'तपर' करने से त्रिमात्रिक, चतुर्मात्रिक आ, ऐ, औ की वृद्धि संज्ञा नहीं होगी। आश्वलायनः। ऐतिकायनः। औपगवः। यहाँ तद्भावित आ, ऐ, औ की वृद्धि संज्ञा हुई है। अश्वलस्य गोत्रापत्यम्, इतिकस्य गोत्रापत्यम्, उपगोरपत्यम्—यहाँ अश्वल तथा इतिक से फक् प्रत्यय हुआ है, और आदि अच् (अ, इ) को वृद्धि हुई है। 'उपगु' से अण् होकर आदि अच् 'उ' को वृद्धि हुई है। शालीयः मालीयः। यहाँ 'आ' तद्भावित नहीं तो भी वृद्धि संज्ञा होने से वृद्धाच्छः (४।२।११४) से छ प्रत्यय होता है। शालायां भवः शालीयः। मालायां भवः =मालीयः।

---

१. वृद्धिरादैच् (१।१।१)।

गुण[1]—अत् (तपर अ) और एङ् (तपर एङ्=ए, ओ) की गुण संज्ञा होती है, चाहे अत्, एङ् **तद्भावित** (गुण शब्द द्वारा विहित) हों, चाहे **अतद्भावित**। तद्भावित—तरिता। चेता। स्तोता—यहाँ 'तृ' को अर् गुण शब्द उच्चारण करके विहित हुआ है। इसी प्रकार 'चि' और 'स्तु' के 'इ', 'उ' को गुण विधि से 'ए' और 'ओ' हुए हैं। अतद्भावित—ते पचन्ति। अहं पचे—यहाँ पच+अ+अन्ति, पच्+अ+ए में क्रम से 'अ' तथा 'ए' अतद्भावित हैं। 'अन्ति' के 'अ' की गुण संज्ञा होने से ही **अतो गुणे** (६।१।९७) से पररूप एकादेश हुआ है। 'पच' में **टित आत्मनेपदानां टेरे** (३।४।७९) से 'इट्' को 'ए' हुआ है, गुणविधि से नहीं, तो भी गुणसंज्ञा होने से 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश हुआ है।

संयोग[2]—विजातीय (=भिन्नजातीय) अचों से अव्यवहित (व्यवधान-रहित) अनन्तरोच्चारित हलों की 'संयोग' संज्ञा है। समुदाय की संज्ञा की है, प्रत्येक संयुक्त हल् की नहीं। हल् शब्द यहाँ जातिपरक है, अतः दो हलों के समुदाय की संयोग-संज्ञा इष्ट है तथा बहुतों के समुदाय की भी। 'अग्नि' में ग् न् का संयोग है। 'अश्व' में श् व् का। 'कर्ण' में र् ण् का। इन्द्र, चन्द्र, मन्द्र में न् द् र् का। उष्ट्र, राष्ट्र, भ्राष्ट्र, में ष् ट् र् का संयोग है। अनन्तरोच्चारित हलों की संयोग संज्ञा की है, अचों की नहीं, अतः तितउ च्छत्रम् में यद्यपि अ उ अनन्तरोच्चारित हैं, पर इनकी संयोग संज्ञा नहीं। यहाँ भी यदि संयोग संज्ञा होती तो 'उ' का **संयोगान्तस्य लोपः** (८।२।२३) से लोप हो जाता।

सवर्ण[3]—मुख के भीतर होने वाले तालु आदि स्थान तथा प्रयत्न=स्पृष्टतादि वर्ण-गुण जिस वर्ण के जिस समानजातीय वर्ण के प्रति तुल्य (समान=सदृश) हैं वे दोनों परस्पर 'सवर्ण' कहलाते हैं। सूत्र में 'आस्य' शब्द तद्धितान्त है—**आस्ये भवम् आस्यम्**। **शरीरावयवाच्च** (४।३।५५) से यत्। **आस्यं च प्रयत्नश्चेति आस्यप्रयत्नौ। तुल्यौ आस्यप्रयत्नौ यस्य तत् तुल्यास्यप्रयत्नं वर्णम्**। वर्ण शब्द नपुंसक भी है। **दण्डाग्रम्। खट्वाग्रम्**। सावर्ण्य होने पर **अकः सवर्णे दीर्घः** (६।१।१०१) से सवर्ण दीर्घ एकादेश हुआ है।

प्रगृह्य[4]—ई, ऊ, ए—अन्तवाले द्विवचन की प्रगृह्य संज्ञा होती है। द्विवचन

१. अदेङ् गुणः (१।१।२)।
२. हलोऽनन्तराः संयोगः (१।१।७)।
३. तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् (१।१।९)।
४. ईदूदेद् द्विवचनम् प्रगृह्यम् (१।१।११)।

सुप् व तिङ् के एक-एक त्रिक के द्वितीय घटक अवयव की संज्ञा है। उस द्विवचन के अन्त में जब ई, ऊ, ए हों तो उसकी शास्त्र में प्रगृह्य संज्ञा की है। इस का यह फल है कि अच् परे रहते ऐसा द्विवचन प्रकृत्याऽवस्थित रहता है, अर्थात् अपने स्वरूप में अवस्थित रहता है, सन्धि द्वारा विकार को प्राप्त नहीं होता। इसे **प्रकृतिभाव** कहते हैं। **अग्नी** इति। **वायू** इति। **माले** इति। **पचेते** इति। **पचेथे** इति। अग्नी आदि में ईकारादि व्यपदेशिवद्भाव से ईकारान्तादि द्विवचन हैं। पचेते, पचेथे में आते, आथे मुख्यरूप से एकारान्त द्विवचन हैं।

घु[1]—दा-रूप चार धातुएँ (डुदाञ् दाने, दाण् दाने, दो अवखण्डने, देङ् रक्षणे) तथा धा-रूप दो (डुधाञ् धारणपोषणयोः, धेट् पाने) घु-संज्ञक होती हैं, दाप् लवने, दैप् शोधने की यह संज्ञा नहीं होती। दो अवखण्डने तथा देङ् रक्षणे इन्हें उपदेशावस्था में ही आकार अन्तादेश हो जाता है। इसी प्रकार धेट् पाने को भी। 'दाधाः' का विग्रह ऐसा है—**दाश्च दाश्च दाश्च दाः। धाश्च धाश्च धौ। दाश्च धौ च दाधाः।** घु—संज्ञा होने से प्रणिददाति, प्रणियच्छति, प्रणिद्यति, प्रणिदयते, प्रणिदधाति, प्रणिधयति में उपसर्गस्थ निमित्त से 'नि' को णत्व हुआ। पर घु संज्ञा न होने से प्रनिदाति बर्हिः (कुशा को काटता है), प्रनिदायति मुखम् (मुंह को धोता है) में णत्व नहीं होता।

घ[2]—आतिशायनिक प्रत्यय तरप्, तमप् की 'घ' संज्ञा होती है। इसका फल यह है कि **ब्राह्मणितरा, ब्राह्मणितमा**—यहाँ घ-रूप-कल्प-चेलट् (६।३।४३) सूत्र से ङीनन्त 'ब्राह्मणी' शब्द को ह्रस्व हो जाता है। तरबन्त, तमबन्त की घ-संज्ञा नहीं होती। यदि हो जाय तो **कुमारगौरितरा** सिद्ध नहीं होगा, कारण कि उत्तरपद परे होने पर **पर** होने से पुंवद्भाव को बाधकर 'कुमारी' शब्द के ङी को ह्रस्व प्रसक्त होगा, तरप् परे रहते 'गौरी' को नहीं होगा जिससे '**कुमारिगौरतरा**', यह अनिष्ट रूप निष्पन्न होगा।

अव्यय[3]—वह शब्दरूप जो तीनों लिङ्गों, सातों विभक्तियों में तथा तीनों वचनों में बदलता नहीं, एकसमान रहता है, उसे 'अव्यय' कहते हैं—

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
सर्वेषु च वचनेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥

---

१. दाधा घ्वदाप् (१।१।२०)।
२. तरप्तमपौ घः (१।१।२२)।
३. स्वरादिनिपातमव्ययम् (१।१।३७)। चादयोऽसत्त्वे (१।४।५७)।

स्वर् आदि शब्द गणपठित हैं, इन की अव्यय संज्ञा की है। च, वा, ह, अह, अहह आदि गणपठित '**निपात**' कहलाते हैं। तथा प्र, परा, सम्, अनु आदि २२ निपात पढ़े हैं। इन निपातों की भी 'अव्यय' संज्ञा की है।

सर्वनामस्थान[1]—सुप् (सु औ जस् अम् औट् शस् टा आदि २१ प्रत्यय) के पहले पाँच प्रत्यय (=सुट्) की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा है जब वे अनपुंसक लिङ्ग शब्द से परे आएँ। जस् और शस् के स्थान में नपुंसकलिङ्ग शब्द-सम्बन्धी 'शि' की भी 'सर्वनामस्थान' संज्ञा है। यह इतनी बड़ी संज्ञा पूर्वाचार्यकृत है, पाणिनि ने इसे अपने शास्त्र में अपना लिया है। **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** (७।१।७०) इत्यादि इसके प्रदेश हैं।

सम्प्रसारण[2]—यण् के स्थान में जो शास्त्र-विहित इक् हो उसकी सम्प्रसारण संज्ञा है तथा यण् के स्थान में इक् होता है इस वाक्यार्थ की भी सम्प्रसारण संज्ञा है। **विधि में वाक्यार्थ संज्ञी है—ष्यङः सम्प्रसारणम्** (६।१।१३), जैसे यहाँ। **अनुवाद में** (जहाँ सम्प्रसारण अनुवाद्य है, विधेय नहीं, जहाँ सम्प्रसारण को उद्देश करके कुछ कहा गया है) **यण्स्थानिक इक् वर्ण संज्ञी है।** जैसे **सम्प्रसारणाच्च** (६।१।१०८) यहाँ यण् के स्थान में इक्। यहाँ संख्यातानुदेश है, अर्थात् स्थानी यण् (य् व् र् ल्) को जो क्रम से इक् (इ उ ऋ ऌ) हो उसकी सम्प्रसारण संज्ञा है, जो व्युत्क्रम से हो, उसकी नहीं, इसीलिये **अदुहितराम्**—यहाँ अदुहि (अदुह् लङ् इट्) में ल् के स्थान में 'इ' हुआ है, इसकी सम्प्रसारण संज्ञा नहीं। यदि होती तो **हलः** (६।४।२) सूत्र से 'इ' को दीर्घ हो जाता।

टि[3]—संनिविष्ट अचों के मध्य में जो अन्त्य अच् तदादि शब्दसङ्घात की 'टि' संज्ञा की है। 'तदादि' बहुव्रीहि है। स आदि यस्य तदादिः। तद् से अच् परामृष्ट है। '**अचः**' यह निर्धारण अर्थ में षष्ठी है। जाति अर्थ में एकवचन प्रयुक्त हुआ है। जहाँ अन्त्य अच् किसी वर्ण का आदि नहीं, अर्थात् जब उस से परे कोई वर्ण नहीं, तो व्यपदेशिवद्भाव से इस अकेले अच् की भी 'टि' संज्ञा होती है—अग्निचित् (जिस ने अग्नि चयन किया है) में 'इत्' शब्द 'टि' हैं। सोमसुत् (जिसने सोमरस निष्पादन किया है) में 'उत्' शब्द 'टि'

---

१. सुडनपुंसकस्य (१।१।४३)। शि सर्वनामस्थानम् (१।१।४२)।
२. इग्यणः सम्प्रसारणम् (१।१।४५)
३. अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६४)।

है। आताम्। आथाम् में आम् 'टि' है। कुमुद्वान्। नड्वान्—यहाँ ड्मतुप् प्रत्यय परे रहते कुमुद तथा नड के अन्त्य अच् 'अ' का टेः (६।४।१४३) से लोप हुआ है। यहाँ 'अ' टिसंज्ञक है।

उपधा[1]—धात्वादि वर्णसमुदाय में अन्त्य अल् से पूर्व जो अल् वर्ण हो उसकी उपधा संज्ञा है। पच्। पठ्—यहाँ अकार उपधा है। छिद्। भिद् में 'इ' उपधा है। बुध्। युध् में 'उ' उपधा है। वृत्। वृध् में ऋ उपधा है। शिष्टः। शिष्टवान् में समुदाय ष्ट् आदि से पूर्व की नहीं।

अपृक्त[2]—जो प्रत्यय एक अल्मात्र से घटित हुआ है उसकी 'अपृक्त' संज्ञा है। एक=असहाय, जिसका दूसरा साथी=सहोच्चारित नहीं। **एकोऽल् यस्य स एकाल्।** 'अपृक्त' शब्द का अर्थ असंयुक्त=जुदा, अलग, अकेला है। पृची सम्पर्के + क्त=पृक्त। नञ्पूर्वक=अपृक्त।

प्रातिपदिक[3]—अर्थवान् शब्द जो न धातु हो और न प्रत्यय और न प्रत्ययान्त, उसकी प्रातिपदिक संज्ञा है। प्रातिपदिक शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ है—**प्रतिपदं भवं प्रातिपदिकम्**=पद पद में होने वाला। प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा विभक्ति होती है। शब्द के श्रवण मात्र से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वही प्रातिपदिकार्थ है। **नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः**। डित्थः। कपित्थः। कुण्डम्। पीठम्। अर्थवान् इसलिये कहा कि वनं धनम् इत्यादि में नान्त शब्द रूप जो अनर्थक है, की प्रातिपदिक संज्ञा न हो। यदि हो जाय तो **नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (८।२।७) से न् लोप हो जाय। अधातु क्यों कहा? इसलिये कि हन् धातु के लङ् रूप 'अहन्' की प्रातिपदिक संज्ञा न हो। यदि हो जाय तो यहाँ भी न्-लोप हो जाय। अप्रत्यय (जो प्रत्यय न हो, तथा प्रत्ययान्त न हो) क्यों कहा? इसलिए कि काण्डे। कुड्ये—इन की प्रातिपदिक संज्ञा न हो। यदि हो जाय तो **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** (१।२।४७) से 'ए' को ह्रस्व 'इ' हो जाय। प्रत्ययान्त की प्रातिपदिक संज्ञा का निषेध किया है, पर कृत्प्रत्ययान्त तथा तद्धितप्रत्ययान्त की प्रातिपदिक संज्ञा होती ही है—कारकः। हारकः। (कृत् प्रत्यय ण्वुल्)। कर्ता। हर्ता। (कृत् प्रत्यय तृच्)। औपगवः। कापटवः। (तद्धित प्रत्यय अण्)। अर्थवान् पदसमुदाय **समास** की भी प्रातिपदिक संज्ञा होती है, पर अर्थवान् पद समुदाय वाक्य की नहीं।

---

१. अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा (१।१।६५)।
२. अपृक्त एकाल्प्रत्ययः (१।२।४१)।
३. अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (१।२।४५)।

इत्[1]—उपदेशावस्था के अन्त्य हल् की इत् संज्ञा होती है, हलन्त्यम् (प्रत्याहारसूत्र १४) में हल् के 'ल्' की भी। उपदेशावस्था के अच् की भी इत् संज्ञा होती है, जिस अच् को पाणिनि ने आनुनासिक्य-धर्म-युक्त पढ़ा हो—अ इ उण्—यहाँ णकार की इत् संज्ञा है। ऋलृक्—यहाँ ककार की। पर 'अग्निचित्' में 'त्' की नहीं। यह 'त्' औपदेशिक नहीं। तुक् आगम है। एधँ। स्पर्धँ—यहाँ 'अ' इत्संज्ञक है। अभ्र आँ अपः—यहाँ अनुनासिक शास्त्र-विहित है, औपदेशिक नहीं, अतः इत् संज्ञा नहीं हुई। इत् संज्ञा होती तो 'आ' का लोप हो जाता।

नदी—ईकारान्त, ऊकारान्त नित्य स्त्रीलिङ्ग शब्द की 'नदी' संज्ञा होती है। सूत्र में यू का विग्रह है—**ईश्च ऊश्च=यू** (इतरेतरयोग द्वन्द्व)। **स्त्र्याख्यौ =स्त्रियमाचक्षाते,** श्रुत्या स्त्रीत्व को कहते हैं, वाक्य में पदान्तर के योग से जिन का स्त्रीत्व सम्पन्न होता है, वे नहीं। कुमारी (ङीप्)। गौरी (ङीष्) लक्ष्मीः। (यहाँ लक्ष्मी में औणादिक 'ई' प्रत्यय है, ङीप् आदि स्त्री प्रत्यय नहीं)। शाङ्र्गरवी (ङीन्)। ब्रह्मबन्धूः (ऊङ्)। यवागूः (यु—आगूच्)। पर सेनानी, ग्रामणी, खलपू (सफाई करने वाला)—ये 'स्त्र्याख्य' नहीं, स्वतन्त्र प्रयुक्त हुए स्त्रीत्व को नहीं कहते हैं। पदान्तरयोग से अवश्य कहते हैं। इन की 'नदी' संज्ञा नहीं होगी—सेनान्ये स्त्रियै। ग्रामण्ये स्त्रियै। खलप्वे स्त्रियै। इनमें नदी संज्ञा न होने से **आण्नद्याः** (७।३।११२) से आट् आगम नहीं हुआ।

घि[2]—शेष शब्दरूप 'सखि' शब्द को वर्जन करके घि-संज्ञक होता हैं। 'शेष' से अभिप्राय ऐसे शब्दस्वरूप से है जो ह्रस्व इवर्णान्त ह्रस्व उवर्णान्त है पर 'स्त्र्याख्य' नहीं है, और जो 'स्त्र्याख्य' तो है पर नदीसंज्ञक नहीं। अग्नि। वायु—से ङे परे 'घि' संज्ञा होने से **घेर्ङिति** (७।३।१११) से गुण होता है—अग्नये। वायवे। अग्नि, वायु पुमान् शब्द हैं, स्त्र्याख्य नहीं हैं। कृति, धेनु—ये स्त्र्याख्य हैं, पर नदीसंज्ञक नहीं हैं, इनके ङे परे रहते 'घि'—निमित्तक गुण होकर कृतये, धेनवे रूप होते हैं। 'सखि' शब्द की 'घि' संज्ञा प्राप्त थी, उसका निषेध कर दिया है।

लघु[4]—ह्रस्व (एकमात्रिक) अच् की 'लघु' संज्ञा है।

---

१. हलन्त्यम् (१।३।३)। उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१।३।२)।
२. यू स्त्र्याख्यौ नदी (१।४।३)।
३. शेषो घ्यसखि (१।४।७)।
४. ह्रस्वं लघु (१।४।१०)।

गुरु[1]—संयोग परे रहते ह्रस्व अच् की 'गुरु' संज्ञा है—कुण्डा । शिक्षा । भिक्षा । यहाँ संयोग (ण् ड्, क् ष्) परे होने से पूर्व अक्षर के 'गुरु' होने से **गुरोश्च हलः** (३।३।१०३) से अङ् प्रत्यय होता है । दीर्घ अक्षर की भी गुरु संज्ञा की है—ईहा । गुरोश्च हलः (३।३।१०३) से अङ् । ईहाञ्चक्रे । **इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः** (३।१।३६) से लिट् परे आम् प्रत्यय हुआ है ।

अङ्ग[2]—जिस शब्दरूप से प्रत्यय विधान किया गया है तदादि (वह है आदि जिसका) शब्द-संघात की अङ्ग संज्ञा होती है प्रत्यय परे रहते । **यस्मात्प्रत्ययविधिस्तत आरभ्या तस्मात्प्रत्ययाद्यः शब्दसंघातस्तस्य संज्ञा क्रियते,** अर्थात् जिससे प्रत्यय विहित हुआ है, उससे लेकर प्रत्यय तक जो शब्द संघात है, उसकी (अङ्ग) संज्ञा की जा रही है । जहाँ ऐसा शब्दसंघात न होगा वहाँ केवल शब्द की भी व्यपदेशिवद्भावेन अङ्ग संज्ञा होगी—करिष्यति । हरिष्यति—यहाँ कृ, हृ से तिप् प्रत्यय विधान किया है, पीछे 'स्य' प्रत्यय आया है । तिप् प्रत्यय परे रहते 'कृ' तदादि है, कृ+स्य इस संघात की 'अङ्ग' संज्ञा हुई । कुण्ड+शि (इ) । 'कुण्ड' से शि प्रत्यय विधान किया गया है । पीछे **नपुंसकस्य झलचः** (७।१।७२) से नुम् होता है । अब 'कुण्डन्' यह शब्दसंघात 'अङ्ग' बन जाता है, अतः नान्त होने से **सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ** (६।४।८) से उपधा-दीर्घ हो जाता है । कर्ता । हर्ता—यहाँ कृ, हृ से तृच् प्रत्यय हुआ है, इसके परे रहते पूर्व कृ, हृ की अङ्ग संज्ञा होने से **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (७।३।८४) से गुण होता है । यहाँ कृ, हृ की व्यपदेशिवद्भाव से अङ्ग संज्ञा है ।

पद[3]—सुबन्त तथा तिङन्त शब्दरूप की 'पद' संज्ञा है । सु औ जस् २१ प्रत्ययों को सुप् कहते हैं । तिप् तस् झि आदि १८ प्रत्ययों को तिङ् कहते हैं ।

क्य (=क्यच्, क्यङ्) परे होने पर नान्त शब्द रूप की ही पद संज्ञा होती है, दूसरे किसी की नहीं । सुबन्त से क्यच्, क्यङ् विधान किए हैं, अतः क्यच्परक तथा क्यङ्-परक की पद संज्ञा सिद्ध ही थी । **सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः** । सिद्ध होने पर जो विधान किया जाता है वह नियमार्थ होता है । क्यच्—राजीयन्ति प्रजाः (प्रजायें अपने लिए राजा चाहती हैं) । यहाँ राजन्

---

१. संयोगे गुरु (१।४।११) दीर्घं च (१।४।१२) ।
२. यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्यये ऽङ्गम् (१।४।१३) ।
३. सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४) । नः क्ये (१।४।१५) ।

की पद संज्ञा होने से न् का लोप हो गया। वाच्यति द्विजः। (ब्राह्मण वाणी को चाहता है)। स्रुच्यति याजकः। (पुरोहित स्रुवा को चाहता है)। यहाँ वाच, स्रुच् की पदसंज्ञा न होने से 'कुत्व' नहीं होता। सिन् (स् इत् है जिसका) प्रत्यय परे रहते पूर्व की पद संज्ञा होती है।[1] **भवतष्ठक्छसौ** (४।२।११५)। भवत्+छस् (=ईय) =भवदीय। **झलां जशोऽन्ते** (८।२।३९) से 'त्' को जश्त्व से 'द्' हुआ। भ-संज्ञा प्राप्त थी। यदि 'भ' संज्ञा होती तो 'त्' को 'द्' न होता। ऊर्णा+युस्=ऊर्णायुः (ऊर्णनाभि, लूता, मकड़ी)। यहाँ भ-संज्ञा होती तो **यस्येति च** (६।४।१४८) से अवर्ण (=आ) का लोप हो जाता। 'युस्' सित् प्रत्यय है।

सु[2] (सु औ जस्) आदि सर्वनामस्थान-वर्जित कप्प्रत्ययावधिक प्रत्ययों के परे रहते पूर्व शब्दरूप की पद संज्ञा होती है। सु आदि २१ प्रत्यय जिन्हें सुप् कहते हैं, उनमें सुट् को (पहले पाँच को) छोड़कर शेष असर्वनामस्थान हैं। पञ्चमाध्याय के अन्त में समासान्त प्रकरण **समासान्ताः** (५।४।६८) से प्रारम्भ होता है और कप्-समासान्त-विधान के साथ समाप्त हो जाता है। इस अवधि के अनुसार सभी तद्धित प्रत्ययों से पूर्व की पद संज्ञा होती है। अतिप्रसङ्ग को वक्ष्यमाण सूत्र से वारित किया जाएगा—राजभ्याम्। राजभिः। भ्याम्, भिस् असर्वनामस्थान स्वादि प्रत्यय हैं। इन से पूर्व राजन् की पद संज्ञा होने से न् लोप हुआ है। राजत्वम् (राज्ञो भावः, त्व तद्धित प्रत्यय)। राजता (राज्ञो भावः, तल् तद्धित)। राजतरः (इमौ राजानौ, अयमनयो राजतरः, अतिशायने तरप् तद्धित)। राजतमः (इमे राजानः, अयमेषां राजतमः (तमप् तद्धित)। पद संज्ञा होने से न् का लोप हुआ है।

भ[3]—पदसंज्ञा का अपवाद भ-संज्ञा का विधान किया जा रहा है। यकारादि अजादि कप् प्रत्ययावधिक सर्वनामस्थानवर्जित स्वादि प्रत्यय परे होने पर पूर्व की भ-संज्ञा होती है—राज्ञः। राज्ञा। राज्ञे। राज्ञः। राज्ञि। राज्ञोः। राज्ञाम्। यहाँ सर्वत्र असर्वनामस्थान स्वादि प्रत्यय अजादि है, अतः 'भ' संज्ञा होने से **अल्लोपोऽनः** (६।४।१३४) से 'अन्' के अ' का लोप होता है। गार्ग्यः। वात्स्यः। गोत्रापत्य में यञ् तद्धित है। यकारादि होने से भ-संज्ञा होकर **यस्येति च** (६।४।१४८) से 'अ' का लोप हुआ है। कुमारी। गौरी। ब्राह्मणी।

---

१. सिति च (१।४।१६)।
२. स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१।४।१७)।
३. यचि भम् (१।४।१८)।

यहाँ स्त्री प्रत्यय ङीप्, ङीष्, ङीन् अजादि हैं। अतः भ-संज्ञा होने से 'कुमार' आदि के 'अ' का **यस्येति च** (६।४।१४८) से लोप हुआ है। दाक्षिः। प्लाक्षिः। यहाँ अपत्यार्थक इञ् तद्धित होने से पूर्व की भ संज्ञा होने से **यस्येति च** (६।४ १४८) से 'अ' का लोप हुआ है।

तकारान्त, सकारान्त शब्दरूप की भी भ-संज्ञा होती है जब मत्वर्थीय प्रत्यय परे हो—उदश्वित्वान् घोषः (अहीरों का निवास जहाँ छास प्रचुर-मात्रा में विद्यमान है)। विद्युत्वान् वलाहकः (बिजलीयुक्त मेघ)। यहाँ तान्त उदश्वित्, तथा विद्युत् के भ-संज्ञक होने से 'त्' को जश्त्वविधि से 'द्' नहीं हुआ। यशस्वी। पयस्वी—यहाँ सकारान्त यशस् पयस् के स् को भ-संज्ञा होने से पदत्व-निमित्तक रुत्व नहीं हुआ। विदुष्मती सभा (बहवो विद्वांसः सन्त्यत्र) —यहां भी भ-संज्ञा होने से विद्वस् को सम्प्रसारण हुआ है और स् को रुत्व नहीं हुआ।

निपात[1]—चादयोऽसत्त्वे (१।४।५७) से लेकर **अधिरीश्वरे** (१।४।९७) सूत्र तक के सूत्रों द्वारा अनुक्रान्त 'च' आदि की निपात संज्ञा की है। इस संज्ञा का गति, उपसर्ग, कर्मप्रवचनीय संज्ञाओं के साथ समावेश है, बाध्य-बाधक भाव नहीं। यथा 'अपि' गति भी है, उपसर्ग भी है, कर्मप्रवचनीय भी (अर्थविशेष में) और निपात भी।

उपसर्ग[2]—प्र, परा, अप, सम्, अनु आदि २२ निपातों की उपसर्ग संज्ञा की है जब ये क्रियायुक्त होकर क्रियापद से पूर्व प्रयुक्त हों। **प्रणयति। परिण-यति** (विवाहता है)। **प्रणायकः**। (प्रकर्षेण नयतीति)। परिणायकः (वोढा)। क्रियायोग न होने पर उपसर्ग संज्ञा नहीं होगी—**प्रगतो नायकोऽस्माद् देशात् प्रनायको देशः** (ऐसा देश जहाँ से नेता चला गया है)। जहाँ प्र का योग गमि-क्रिया के साथ है, 'नी' के साथ नहीं, अतः उपसर्ग संज्ञा न होने से उपसर्गस्थ निमित्त से 'नी' को जो णत्व प्राप्त था, वह नहीं हुआ। निपात संज्ञा अवस्थित रही।

गति[3]—क्रियायोग में प्रादि निपातों की गति संज्ञा भी की है—प्रकृत्य।

---

१. प्राग्रीश्वरान्निपाताः (१।४।५६)। चादयो ऽ सत्त्वे (१।४।६७)। प्रादयः (१।४।५८)।
२. उपसर्गाः क्रियायोगे (१।४।५९)।
३. गतिश्च (१।४।६०)।

प्रकृतम् । 'प्रकृत्य' में गतिसमास हुआ है । समास होने से क्त्वा को ल्यप् हुआ । 'प्रकृतम्' में **गतिरनन्तरः** (६।२।४६) से 'प्र' गति प्रकृतिस्वर (आद्युदात्त) होता है ।

उपसर्गाः क्रियायोगे । गतिश्च—इस प्रकार योग विभाग कर के क्यों पढ़ा ? गत्युपसर्गाः (अथवा उपसर्गा गतिश्च) क्रियायोगे ऐसा एकयोग रूप में क्यों नहीं पढ़ा ? इसलिए कि वक्ष्यमाण निपातों की गतिसंज्ञा ही हो उपसर्ग संज्ञा मत हो । अन्यथा ऊरी स्यात्—यहाँ **उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः** (८।३।८७) से षत्व का प्रसङ्ग होगा ।

कर्मप्रवचनीय[1]—इसका आचार्य ने लक्षण नहीं किया । पर इसका व्युत्पत्त्यर्थ है—कर्म प्रोक्तवन्त इति कर्मप्रवचनीयाः । कर्म=क्रिया । कर्मप्रवचनीय क्रिया को नहीं कहते, निर्वृत्त क्रिया द्वारा जनित सम्बन्ध के विशेषक होते हैं । हेतुभूत लक्षण आदि अर्थ में अनु आदि निपातों की कर्मप्रवचनीय संज्ञा की है । संज्ञा का फल यह है कि कर्मप्रवचनीय से युक्त में द्वितीया विभक्ति होती है—शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत्, शाकल प्रोक्त ऋग्वेदीय शाखा के पाठ की समाप्ति से लक्षित तद्-हेतुक वृष्टि हुई । यहाँ अनु कर्मप्रवचनीय के योग में 'संहिता' से द्वितीया विभक्ति हुई ।

विभक्ति[2]—सुप् जो २१ प्रत्यय हैं और तिङ् जो १८ प्रत्यय हैं उनके एक-एक त्रिक (सु औ जस्), (तिप्, तस् झि) की विभक्ति संज्ञा की है । त्रिक में वर्तमान सु आदि अथवा तिप् आदि एक एक की भी विभक्ति संज्ञा इष्ट है । **न विभक्तौ तुस्माः** (१।३।४) इत्यादि में इस संज्ञा का उपयोग किया गया है ।

आमन्त्रित[3]—संबोधन अर्थ में जो प्रथमा विभक्ति होती है उस की आमन्त्रित संज्ञा है । **आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्** (८।१।७२), **आमन्त्रितस्य च** (६।१।१९८, ८।१।१९) इत्यादि सूत्रों में इस संज्ञा का उपयोग हुआ है ।

सम्बुद्धि[4]—आमन्त्रित प्रथमा के एकवचन की सम्बुद्धि संज्ञा है । **एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः** (६।१।६९) । **सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे** (१।१।१६) इत्यादि सूत्रों में इस संज्ञा का उपयोग हुआ है ।

---

१. कर्मप्रवचनीयाः (१।४।८३) ।
२. विभक्तिश्च (१।४।१०४) ।
३. साऽऽमन्त्रितम् (२।३।४८) ।
४. एकवचनं सम्बुद्धिः (२।३।४९) ।

सार्वधातुक[1]—धात्वधिकारोक्त तिङ् तथा शित् प्रत्ययों की सार्वधातुक संज्ञा होती है। नयति। यहाँ तिप् के सार्वधातुक होने से धातु से शप् प्रत्यय हुआ तथा शप् के शित्त्व निमित्त से सार्वधातुक होने से धातु को गुण हुआ। 'रोदिति' में तिप् के सार्वधातुक होने से **रुदादिभ्यः सार्वधातुके** (७।२।७६) से इट् आगम हुआ। पचमान :—यहाँ शानच् परे रहते सार्वधातुक होने से धातु से शप् प्रत्यय हुआ। **धातोः** (३।१।९१) से धात्वधिकार प्रारम्भ होता है।

आर्धधातुक[2]—धात्वधिकारोक्त तिङ् तथा शित् से भिन्न प्रत्यय की आर्धधातुक संज्ञा की है। लविता। लवितुम्। लवितव्यम्। यहाँ लू से ता (तास् डा), तुमुन्, तव्य प्रत्ययों को वलादि आर्धधातुक होने से इट् आगम होता है। धात्वधिकारोक्त क्यों कहा? इसलिये कि **गुप्तिज्किद्भ्यः सन्** (३।१।५) से विहित सन् की आर्धधातुक संज्ञा नहीं होती, क्योंकि यह सन् धात्वधिकारोक्त नहीं। धात्वधिकार तो (३।१।९१) से प्रारम्भ होता है। जुगुप्सते। तितिक्षते। चिकित्सति—में सन् को इट् नहीं हुआ। लूभ्याम्। लूभिः—यहाँ 'लू' के क्विबन्त होने से धातुत्व होने पर भी भ्याम्, भिस् के धात्वधिकारोक्त न होने से आर्धधातुक संज्ञा नहीं हुई। यदि होती तो वलादिलक्षण इट् हो जाता।

अभ्यास[3]—षाष्ठ द्विर्वचन (दो बार उच्चारण) में धातु के प्रथम खण्ड को 'अभ्यास' कहते हैं। **अभ्यासाच्च** (७।३।५५) इत्यादि सूत्रों में इस संज्ञा का उपयोग किया गया हैं।

अभ्यस्त[4]—द्विर्वचन होने पर दोनों खण्डों के समुदाय को 'अभ्यस्त' कहते हैं।

जक्षि जागृ दरिद्रा शास् दीधीङ् वेवीङ् चकास् तथा।
अभ्यस्तसंज्ञा विज्ञेया धातवो मुनिभाषिताः॥[5]

जक्ष् आदि इन सात धातुओं की भी अभ्यस्त संज्ञा होती हैं। जिसका फल यह होता है कि झि के झ् को अत् आदेश होता है—जक्षति। शासति। जाग्रति। सूत्र में जक्षित्यादयः—यह अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि है। अतः जक्ष् को साथ लेकर सात धातुएँ होती हैं।

---

१. तिङ्शित्सार्वधातुकम् (३।४।११३)।
२. आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४)।
३. पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४)।
४. उभे अभ्यस्तम् (६।१।५)।
५. जक्षित्यादयः षट् (६।१।६)।

आम्रेडित[1]—अष्टम अध्याय प्रथम पाद में **सर्वस्य द्वे** (८।१।१) इस अधिकार में जो **नित्यवीप्सयोः** (८।१।४) इत्यादि सूत्रों द्वारा द्विर्वचन विधान किया है, वहाँ द्विरुक्त से परे जो शब्दरूप है उसकी 'आम्रेडित' संज्ञा की है। **दस्यो दस्यो३घातयिष्यामि त्वा**। यहाँ दूसरा 'दस्यो' आम्रेडित है। यहाँ भर्त्सन अर्थ में द्विरुक्ति हुई है। **आम्रेडितं भर्त्सने** (८।२।९५) से आम्रेडित को प्लुत हुआ है। भुक्त्वा भुक्त्वा व्रजति। भोजं भोजं व्रजति। यहाँ **अनुदात्तं च** (८।१।३) से आम्रेडित भुक्त्वा शब्द सारा अनुदात्त हो जाता है। ऐसे ही आम्रेडित भोजम् भी। द्विरुक्त भुक्त्वा प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। द्विरुक्त भोजम् (णमुलन्त) लित् स्वर से आद्युदात्त है।

इति संज्ञाप्रकरणं समाप्तम्।

१. तस्य परमाम्रेडितम् (८।१।२)।

अथ

परिभाषाप्रकरणं तृतीयम्।

विनियम्यं नियच्छन्तीः सूत्रार्थस्योपकारिकाः।
परितो व्यापृता भाषाः परिभाषाः प्रचक्ष्महे ॥१॥
नागेशशेखरं श्रित्वा दृष्ट्वा व्याख्याश्च पूर्विणाम्।
ऋज्वीं शैलीं समास्थाय व्याख्यामेतां वितन्महे ॥२॥
प्राचां कीदृगभिप्रायोऽत्रेति दर्शनकाम्यया।
सीरदेवकृतेः सारोऽर्थतः संगृह्यते समम् ॥३॥

संज्ञाओं का सामान्यतः निरूपण हो चुका है। अब क्रमप्राप्त परिभाषाओं का व्याख्यान करते हैं—

परिभाषा क्या पदार्थ है। 'परितो व्यापृतां भाषां परिभाषां प्रचक्षते'—ऐसा व्युत्पत्त्यर्थ है। अर्थात् वे वचन जो शास्त्र में वार-वार व्यापक रूप से विधि वाक्यों के सहायक के रूप में, स्वयं विधायक न होते हुए उच्चारित होते हें उन्हें परिभाषा कहते हैं। 'अनियमे नियमकारिणी परिभाषा'—ऐसा लक्षण भी किया जाता है। **षष्ठी स्थानेयोगा** (१।१।४९) यह परिभाषा नियम करती है कि शास्त्र में वह षष्ठी जिसका अर्थ (सम्बन्ध विशेष) निर्दिष्ट नहीं किया गया वह 'स्थान' अर्थ में समझनी चाहिये, और किसी अर्थ में नहीं। अवयवाऽवयविभाव सम्बन्ध, सामीप्य, आनन्तर्य आदि षष्ठी के नाना अर्थ माने जाते है।

परिभाषायें तीन प्रकार की हैं—(१) **वाचनिकी**, जो वचनरूप में शास्त्र (अष्टाध्यायी) में पढ़ी हैं, जैसे **षष्ठी स्थानेयोगा, इको गुणवृद्धी, तस्मादित्युत्तरस्य, तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** इत्यादि।

(२) **ज्ञापकसिद्ध**—जिनकी सत्ता न स्वीकार करने पर सकल सूत्र अथवा सूत्रैकदेश व्यर्थ पड़ता है जैसे **असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे, कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्** इत्यादि।

(३) न्याय (लोकन्याय)-सिद्ध—जैसे संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य, व्यपदेशिवदेकस्मिन् इत्यादि ।

परिभाषाओं को नागेशभट्ट ने तीन प्रकारों में विभक्त किया है—शास्त्रत्वसम्पादक, बाधचिन्तक तथा शास्त्रशेषभूत । इसी क्रम से प्रकृत व्याख्यान किया जा रहा है, इस व्याख्यान का आधार नागेशभट्ट की कृति परिभाषेन्दुशेखर है। प्राचीन सीरदेव की कृति परिभाषावृत्ति से भी स्थान-स्थान पर उपादेयांश उद्धृत किये हैं जो परिभाषेन्दुशेखर की अपेक्षा सरल, सुबोध तथा रोचक हैं ।

अइउण्, लण् इन दो प्रत्याहारसूत्रों में आचार्य दो बार ण् पढ़ते हैं । यहाँ सन्देह होता है कि अण् प्रत्याहार किस ण् तक लिया जाय, और इण् प्रत्याहार किस ण् तक । इस सन्देह की निवृत्ति आवश्यक है, सन्देह के रहते शास्त्र की प्रवृत्ति न हो सकेगी । अतः परिभाषा पढ़ते हैं—

व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम् । (१)

अर्थ—व्याख्यान द्वारा किसी एक संशयकोटि का निश्चित ज्ञान हो जाता है । सन्देहमात्र से लक्षण-शास्त्र अलक्षण =अप्रवर्तक लक्षण नहीं बन जाता । शब्दसाधुत्वानुशासनरूप इस शास्त्र में सन्देह होने से अनुष्ठापकता =प्रवर्तकता =कार्यनिर्वाहकता नहीं आएगी, तो शास्त्र-प्रणयनरूप आचार्य का आयास व्यर्थ हो जाएगा, अतः सन्देह की निवृत्ति शिष्टों के व्याख्यान द्वारा की जाती है, शिष्ट इसमें प्रमाणभूत हैं । तत्कृत व्याख्यान ही सन्देहनिवृत्ति में एकमात्र उपाय है, उपायान्तर की कोई अपेक्षा नहीं, ऐसा इस परिभाषा से बोध होता है। प्रकृत में शिष्टों का व्याख्यान ऐसा ही है कि **इण्-ग्रहणानि परेण णकारेण, अण्-ग्रहणानि पूर्वेण, अणुदित् सवर्णस्येत्येकं वर्जयित्वा,** अर्थात् शास्त्र में सर्वत्र इण् परे के णकार तक लिया जाता है, अण् पूर्व णकार तक ही, केवल अणुदित् (१।१।६९) संग्राहक सूत्र में पठित अण् परे के णकार तक लिया जाता है ॥१॥

सीरदेवीय—

चार अण्-ग्रहण पूर्व णकार तक के बोधक होते हैं। **अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः** (१ १।६९) यहाँ ही अण् परे के णकार तक का बोधक होता है। इण् ग्रहण सभी परे के णकार तक लिए जाते हैं। ऐसा आचार्य परम्परा का उपदेश है । पर इसमें युक्ति भी दी जा सकती है । **केऽणः** (७।४।१३), **ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** (६।३।१११)—यहाँ अण्-ग्रहण-सामर्थ्य से यह

निश्चित होता है कि अण् पूर्व णकार तक लिया जाता है। यदि परे के ण् तक हो, अच् को ही ह्रस्व, दीर्घ होने से, अचश्च (१।२।२८) इस परिभाषा से ही इष्टसिद्धि हो जाती, अण् ग्रहण व्यर्थ रहता ॥१॥

यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्। (२)

कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्। (३)

अर्थ—उद्देशमनतिक्रम्य यथोद्देशम्। संज्ञाश्च परिभाषाश्च संज्ञापरिभाषम् (समाहारद्वन्द्व)। दिश् का उच्चारण अर्थ है। उद् पूर्वक दिश् से अधिकरण अर्थ में घञ् प्रत्यय हुआ है। उद्दिश्यत उच्चार्यतेऽत्रेत्युद्देशः। उच्चारण= आम्नान प्रदेश। व्याकरण शास्त्र में संज्ञा तथा परिभाषा जो उस-उस विधि-शास्त्र की संस्कारक हैं, तत्तच्छास्त्रविहित-कार्य की निर्वाहक हैं, अथवा कार्य के निर्वाह में उपकारक हैं, के विषय में दो पक्ष प्रतिष्ठित हैं—(१) **यथोद्देश**—संज्ञा तथा परिभाषायें अपने उद्देश (उच्चारण-स्थान) को न छोड़ती हुई अपने-अपने अर्थ को (जो विधिशास्त्र द्वारा अपेक्षित है) स्वलिङ्गलिङ्गित विधिशास्त्र में अर्पित कर देती हैं। संज्ञा व परिभाषा-शास्त्र विधिशास्त्र में उपस्थित नहीं होते। ऐसी एकवाक्यता को **वाक्यैकवाक्यता**[1] कहते है। (२) **कार्यकाल**—संज्ञाएं तथा परिभाषाएँ स्वलिङ्गलिङ्गित विधिशास्त्र में साक्षात् रूप से उपस्थित हो जाती हैं, उनके उपस्थित होने पर ही विधि-वाक्यों का पूर्ण निश्चयात्मक वोध होता है, अन्यथा अपूर्ण रहने से कार्य-

---

१. **स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया।**
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहृत्य जायते॥
उपजीव्योपजीवकभावापन्न-बोधजनकत्वं वाक्यैकवाक्यता।
उपजीव्योपजीवकभावः=उपकार्योपकारकभावः॥

यथा मृजेर्वृद्धिः—यह उपजीवक—उपकार्य है। वृद्धिरादैच्—यह उपजीव्य—उपकारक है। स्वरूप से उपस्थित एकत्र संनिहित ये दोनों, शास्त्र और संज्ञा, अपने अपने अर्थ को (जो वाक्यस्वरूप है) एकत्र जोड़कर एक नया वाक्य वनाती हैं। तब यह अर्थ होता है—वृद्धि शब्दार्थक वृद्धि शब्द से लक्षित आत् ऐच् मृज् के इक् के स्थान में हों।

निर्वाह नहीं हो पाता। यहाँ भी पूर्ववत् एकवाक्यता होती है। इसे **पदैक-वाक्यता**[1] कहते हैं।

कार्यकाल पक्ष में तो उस-उस विधि-वाक्य में परिभाषा के संनिधान से एकवाक्यता होती है, इससे उस-उस विधिशास्त्र में उस-उस परिभाषा की सन्निधि का बोध होने पर भी वह-वह परिभाषा विधिशास्त्र के समान देश-वाली नहीं हो जाती। भाष्यस्थ प्रदीप दृष्टान्त—**अधिकारो (=परिभाषा) नाम त्रिविधः, कश्चिदेकदेशस्थ एव सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति यथा प्रदीपः सुप्रज्वलितः सर्वं वेश्माभिज्वलयति**, से उसका अपना ही देश (उच्चारण-देश) रहता है। दीपप्रभा के सारे गृह में व्याप्त (संचरित) होने पर भी दीप का अपना ही स्थान रहता है। अन्यत्र भी व्यवहारार्थ अनेक देशों में जाने पर भी व्यापारी लोगों का वह-वह देश नहीं हो जाता, किन्तु उन्हें अभिजन-देश (जहाँ वे पहले रहते थे) से ही व्यपदिष्ट किया जाता है।

परिभाषाएँ परार्थ होती हैं, निषेध वाक्य भी निषेध्य-विशेष की आकाङ्क्षा रखते हैं, अतः उनका विधि के साथ एकवाक्यतया अन्वय होता है, अतः उन्हें भी परिभाषा के सदृश होने से परिभाषा नाम से कह दिया जाता है। उनकी एकवाक्यता (=पदैकवाक्यता) पर्युदासन्याय से होती है। **क्ङिति च** (१।१।५) का अर्थ होगा—**क्ङिद्भिन्नयोः सार्वधातुकार्धधातुकयोः परत इको गुणवृद्धी भवतः**। प्रसज्यप्रतिषेध में **क्ङिन्निमित्ते ये इको गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवतः**, इस प्रकार निषेधार्थक नञ् के साथ वाक्यार्थबोधमात्र से वाक्य-भेद होने पर भी एकवाक्यता मानी जाती है।

परन्तु संज्ञाशास्त्र का कार्यकाल पक्ष में जो विधि का देश हो, वही होता है, कारण कि इस पक्ष में संज्ञा-शास्त्र का कुछ पृथक् अर्थ बुद्धिस्थ नहीं होता, इसका लक्ष्यसंस्कार में अनुपयोग रहता है जब तक यह विधि के साथ एक-वाक्यतापन्न न हो जाय। सफल वाक्यार्थ बोध विधिदेश में ही होता है, अतः युक्त ही है कि यह विधिदेशीय हो। इसलिये **अयादिभ्यः परैव प्रगृह्यसंज्ञा**

---

१. **निरूप्यनिरूपकभावापन्नविषयताप्रयोजकपदघटितत्वं पदैकवाक्यता**— यथा 'क्ङिति च' इस निषेधवाक्य को परिभाषारूप मानकर इसकी 'पुगन्तलघूपधस्य च' इस गुणविधायक शास्त्र के साथ इस प्रकार पदैकवाक्यता होती है—**क्ङिद्भिन्नयोः सार्वधातुकार्धधातुकयोः पुगन्त-लघूपधस्याङ्गस्येको गुणः**।

अदसो मात् (१।१।१२) सूत्रस्थ यह भाष्य संगत होता है। अदसो मात् (१।१।१२) प्रगृह्य-संज्ञा-विधायक शास्त्र की प्रगृह्य-संज्ञा-युक्त **अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः** (८।४।५७) के साथ एकवाक्यता होने पर इस (अदसो मात्) के प्रति 'अमी' में **अदसोऽसेर्दादु दो मः** (८।२।८०) से विहित 'मुत्व' असिद्ध नहीं। असिद्धता शास्त्रीय कार्य के लिए होती है। और वह कार्य-ज्ञान के होने पर ही हो सकती है और कार्य-ज्ञान विधि-प्रदेश में ही हो सकता है। प्रदेश (=विधि) देशस्थ होने से **अदसो मात्** शास्त्र पूर्व न रहा। प्रदेश-देश में ही वाक्यार्थ का वोध होने पर ही विरोध का ज्ञान होता है, अतः विप्रतिषेध सूत्र (१।४।२) की प्रवृत्ति के लिये प्रदेशदेशस्थ **परत्व** लिया जाता है। अतः **एचोऽयवायावः** (६।१।७२) से **अदसो मात्** (१।१।११) विहित प्रगृह्य संज्ञा पर हो जाती है—यह भाष्य वचन सूपपन्न हो जाता है।

इस शास्त्र में संज्ञाओ और परिभाषाओं के विषय में यथोद्देश, कार्यकाल यह दो पक्ष प्रतिष्ठित हैं। यह असकृत् कहा जा चुका है। पर प्रत्येक संज्ञा वा परिभाषा के विषय में यह दो पक्ष नहीं कह सकते हैं—**आकडारादेका संज्ञा** (१।४।१) इस अधिकार में भ-पद संज्ञाविषय में यथोद्देश पक्ष ही माना जाता है। अतः पाठदेशस्थ परत्व से ही बाध्यबाधक-भाव सिद्ध होता है। यदि यहाँ कार्यकाल पक्ष स्वीकार किया जाय, तो जहाँ कार्य होगा वहीं संज्ञा उपस्थित होगी। 'दण्डिना'—यहाँ भ-संज्ञा प्रयुक्त कार्य का अभाव होने से भ-संज्ञा की अप्राप्ति होने पर स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१।४।१७) से पदसंज्ञा होने से 'न्'-लोप प्रसक्त होगा। नद्या (नदी+आ)—यहाँ भी पद-संज्ञा होने से **इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च** (६।१।१२७) से प्रकृतिभाव प्रसक्त होगा। इसी प्रकार ध्रुवमपाये ऽपादानम् (१।४।२४) आकडाराधिकारस्थ संज्ञा है। कार्यकालपक्ष में **अपादाने पञ्चमी** (२।३।२८) विधिशास्त्र के साथ एकवाक्यता को प्राप्त यह अपादान-संज्ञा **कर्मणि द्वितीया** (२।३।२) विधिशास्त्र के साथ एकवाक्यता को प्राप्त **कर्तुरीप्सिततमं कर्म** (१।४।४९) इस कर्म संज्ञा की अपेक्षा पर हो जाती है। इससे भाष्यकार का **'अपादानमुत्तराणि कारकाणि बाधन्ते'** यह कथन असङ्गत हो जाता है। इस असङ्गति के वारण के लिए यहाँ यथोद्देशपक्ष ही स्वीकार करना होगा।

पदादिसंज्ञा का आम्नानदेश में ही वोध हो जाने से त्रिपादीस्थ विधिशास्त्र में भी निर्वाधरूप से व्यवहार होता है। अन्यथा संज्ञा के उपजीव्य होने से त्रिपादीस्थ उपजीवक विधिशास्त्रों का कोई वाक्यार्थवोध ही न हो सकेगा।

कार्यकाल का '**कार्यस्य कालः (देशः) एव कालो यस्य तत् कार्यकालम्**' ऐसा (पराभिमत) अर्थ नहीं, किन्तु नागेशभट्ट के अनुसार **कार्येण काल्यते स्वसन्निधिं प्राप्यत इति कार्यकालः**, कार्यशास्त्र द्वारा अपने (कार्यशास्त्र के) अन्वित, निश्चित अर्थ के बोध के लिए अपने में रहने वाले लिङ्ग (चिह्न) से चिह्नित परिभाषाओं का आक्षेप होता है—ऐसा अर्थ है। इसीलिए **पूर्वत्रासिद्धम्** (८।२।१) के भाष्य में त्रिपादी के असिद्ध होने से सपाद सप्ताध्यायीस्थ परिभाषाओं की प्रवृत्ति त्रिपादी शास्त्र में नहीं होनी चाहिये ऐसी शङ्का की है, यथोद्देशपक्ष में संस्कारक (परिभाषा) के सिद्ध होने पर भी संस्कार्य (विधिशास्त्र) के असिद्ध होने से संस्कार न हो सकेगा। इसका कार्यकाल पक्ष का आश्रयण कर के समाधान किया है। त्रिपादी में उपस्थित हुआ परिभाषाशास्त्र त्रैपादिक विधिशास्त्र को देखता है। कैसे ? देशमाहात्म्य से ही। अथवा **अदृष्ट-पिशाचाकर्षण** न्याय से उसे न देखता हुआ ही त्रिपादीस्थ शास्त्र से खींचा जाता है, जैसे पिशाच जिसे हम नहीं देख पाते हमें अपनी ओर खींच लेता है। इह प्रकार कार्यकालपक्ष भाष्यानुगृहीत है, भाष्यारूढ़ है।

संज्ञाशास्त्रों का कार्य-काल पक्ष में विधिदेश में ही सफल वाक्यार्थबोध होने से विधि देश ही मुख्य देश है, ऐसा निर्णीत हो चुका है। अब यहाँ यह विचार्य है कि परिभाषाओं का कार्यकालपक्ष में मुख्य देश कौन सा है। **इको गुणवृद्धी** सूत्र में कैयट का कथन है—'**यथोद्देशे परिभाषयोः पौर्वापर्यम्, न तु कार्यकालतायाम्**', अर्थात् यथोद्देशपक्ष में पाठदेश के अनुसार परिभाषाओं का पौर्वापर्य होता है, कार्यकालपक्ष में उनके विधिदेशीय होने से एकदेशस्थ होने से पौर्वापर्य का प्रसङ्ग ही नहीं। पर भाष्यकार **ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्** (८।३।३२) इस सूत्र की व्याख्या में **तस्मादित्युत्तरस्य** (१।१।६७), **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** (१।१।६६) इन दो पदिभाषाओं की उपस्थिति होने पर **पर** होने से **उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्** ऐसा कहते हैं। कैयट को प्रमाण मानें तो यह भाष्य असंगत हो जाता है। यह असङ्गति तभी टल सकती है जब हम यह मानें कि विप्रतिषेध सूत्र की प्रवृत्ति के लिए कार्यकालपक्ष में भी अष्टाध्यायीपाठ-कृत **परत्व** ही लिया जाता है, अर्थात् परिभाषाओं का मुख्य देश **उनका पाठदेश** है, विधिदेश नहीं। बात यह है कि दोनों पक्षों में परिभाषायें अपने विधेय अर्थ को विधिशास्त्र में समर्पित करती हैं। इस अंश में दोनों में कुछ भी भेद नहीं। कार्यकाल पक्ष में भी अचेतन शास्त्र (परिभाषाशास्त्र) का अपने देश को त्याग कर विधिशास्त्र में जाना

संभव नहीं। अस्मदादियों द्वारा विधिशात्र में परिभाषार्थ को जोड़ देने से परिभाषाओं के अपने देश का त्याग नहीं हो जाता है। कैयट भी तस्मिन्निति सूत्र में अष्टाध्यायी सूत्र पाठ के आधार पर परत्वव्यवस्था को स्वीकार करता है, अतः –**इको गुणवृद्धी** सूत्र में उपर्युक्त कैयट-वचन व्याघात-दोष-दूषित है। अन्यथा सभी शास्त्र प्रयोग (=व्यवहार्य शब्द)–सिद्धि के लिए हैं, और प्रयोग-सिद्धि में प्रवृत्त हुए वे सभी एकदेशस्थ हो जाएँगे, उनमें परत्व कहीं भी नहीं रहेगा। इतना ही नहीं कैयटनिर्दिष्ट रीति से यथोद्देश पक्ष में विधि-शास्त्र परिभाषा-शास्त्र के साथ जुड़ जाएँगे, ऐसा होने पर उनमें भी पूर्वत्व, परत्व की व्यवस्था न रहेगी। पूर्वत्व-परत्व व्यवस्था के नष्ट हो जाने से 'वृक्षेभ्यः'— यहाँ सुपि च (७।३।१०२) को बाधकर पर होने से बहुवचने झल्येत् (७।३।१०३) से जो एत्व होता है वह न हो सकेगा।

इन दोनों पक्षों का लक्ष्यानुरोध से भाष्यकार ने आश्रयण किया है, अतः दोनों प्रमाण हैं। यद्यपि कार्यकाल पक्ष मुख्य है और यथोद्देश अमुख्य, गौण, इसका क्वाचित्क आश्रयण होने से। **आगच्छतम् अग्नी**—यहाँ प्लुत को बाधकर **ईदूदेद्द्विवचनम्** (१।१।११) इससे प्रगृह्य संज्ञा होने पर उसके स्थान में प्लुत होने पर भी प्लुत (८।२।८३,८४) के असिद्ध होने से 'ई' द्विमात्र ही है इस बुद्धि से पुनः प्रगृह्य संज्ञा हो जाती है। और **अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः** (८।४।५७) से अनुनासिक नहीं होता। यदि यहाँ कार्यकाल पक्ष का आश्रयण किया जाय तो **ईदूदेद्** (१।१।११) इस संज्ञाशास्त्र की **अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः** (८।४।५७) के साथ एकवाक्यता हो जाने से प्लुत की अपेक्षा इसमें पर बुद्धि होने से प्लुत असिद्ध नहीं होगा, द्विमात्रत्वाभाव में प्रगृह्य संज्ञा न होने से अनुनासिकत्व की प्राप्ति होगी।

सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे (७।४।९३) सूत्र में **'अङ्गस्य'** की अनुवृत्ति (६।४।१) से, और **'अभ्यासस्य'** की अनुवृत्ति (७।४।५८) से आ रही है। कार्यकालं संज्ञापरिभाषम् इस पक्ष के आश्रयण से **पूर्वोऽभ्यासः** (६।१।४) संज्ञाशास्त्र की यहाँ उपस्थिति होती है। **अङ्गस्य ये द्वे उच्चारणे तयोः पूर्वोऽभ्याससंज्ञः स सन्वद् भवति**, ऐसा फलितार्थ होता है। अध्याहृत 'उच्चारण कृदन्त' (ल्युडन्त) पद है। इसके योग में 'अङ्गस्य' यहाँ कर्मणि षष्ठी हुई है। कर्मीभूत अङ्ग प्रत्यय परे होने पर कृत्स्न प्रकृति ही ली जाएगी, कृत्स्न प्रकृति अङ्ग की द्विरुक्ति अङ्ग के एकाच् होने पर ही संभव है, अतः सन्वद्भाव व दीर्घ एकाच्कों में ही होगा, अनेकाच्कों में नहीं। अतः कार्यकाल पक्ष के पक्षपाती

माधव के अनुसार अनेकाच्क चकास्, ऊर्णञ्, अर्थापि के चङ् परक णि परे होने पर अभ्यास को सन्वद्भाव नहीं होगा, यथाप्राप्त इत्व भी न होगा। **अचचकासत्, औणु॑नवत्, आर्तथपत्**। पर यथोद्देश पक्ष भी मान्य है, अन्यथा कृत्स्नाङ्ग की द्विरुक्ति न होने से **दिदरिद्रासति** आदि में हलादिः शेषः इत्यादि अभ्यास कार्य न हो सकेगा। किंच, भाष्यकार को भी यथोद्देश पक्ष मान्य है। **अजजागरत्**—यहाँ सन्वद्भाव विषय में शङ्का करते हुए णि-परक जो लघु गकार का अकार उसके 'जा' से व्यवहित होने से अभ्यास को सन्वत् नहीं हुआ ऐसा समाधान किया है। यदि एकमात्र कार्यकाल पक्ष है, तो अनेकाच्क अङ्ग में कृत्स्न अङ्ग की द्विरुक्ति न होने से सन्वद्भाव की शङ्का का उत्थान ही नहीं होता, शङ्कोत्थिति हुई और उसकी समाहिति उक्त प्रकार से की गई, इससे हम जानते हैं कि भाष्यकार यहाँ यथोद्देशपक्ष का समाश्रयण कर रहे हैं। अतः यथोद्देश पक्ष में **पूर्वोऽभ्यासः** यह संज्ञाशास्त्र अपने अर्थ को प्रकृत सूत्र में अर्पित करता है, जिससे 'अङ्गस्य' यह अवयव-षष्ठी होगी, अङ्गावयव-भूत अभ्यास को सन्वद्भाव होता है ऐसा अर्थ फलित होता है। इस पक्ष में **अचीचकासत्, आर्तीथपत्, औणू॑नवत्**—ऐसे रूप होंगे। किंच। यथोद्देश पक्ष का आश्रयण कर षाष्ठी (षष्ठाध्याय ज्ञापित) **'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे'** परिभाषा की दृष्टि में अरुन्तुदः (अरु+मुम् स्+तुद्+खश्)—यहाँ आष्टमिक संयोगान्त लोप के असिद्ध होने से, और इसलिए अन्तरङ्ग (संयोगान्त लोप) के न होने से असिद्धपरिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती। और संयोगान्त लोप (स् लोप) हो जाता है। यदि प्रवृत्ति होती तो बहिरङ्ग मुम् के असिद्ध होने से संयोगाभाव में संयोगान्त लोप की प्राप्ति ही न होती।

कार्यकाल पक्ष में **नृकुट्यां भवः=नार्कुटः, नृपतेरपत्यं नार्पत्यः**, यहां वृद्धि बहिरङ्ग अण् व ण्य-प्रत्यय-निमित्तक होने से बहिरङ्ग है। **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (८।३।१५) से बहिरङ्ग वृद्ध्यङ्गभूत रेफ के स्थान में अन्तरङ्ग कार्य विसर्जनीय प्राप्त होता है। असिद्धपरिभाषा से, जो अन्तरङ्ग कार्यविधायक 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' के साथ एकवाक्यतापन्न होकर एकदेशस्थ हो गई है, बहिरङ्गवृद्धि के असिद्ध होने से वृद्ध्यङ्गभूत रेफ को विसर्जनींय नहीं होता। यदि यहाँ यथोद्देश पक्ष को स्वीकार करें षाष्ठी असिद्धपरिभाषा की दृष्टि में आष्टमिक 'खरवसानयोः' के असिद्ध होने से, अन्तरङ्गाभाव में परिभाषा प्रवृत्त न होगी, तब रेफ के सिद्ध होने से 'खरवसानयोः' की प्रवृत्ति से विसर्जनीय होकर अनिष्ट रूप प्रसक्त होगा ॥२, ३॥

सीरदेवीय—

कैयट के अनुसार सीरदेव का भी ऐसा मत है—व्युत्पन्नाव्युत्पन्नप्रतिपत्तृभेदादेतौ यथोद्देशकार्यकालपक्षौ।

अनेकान्ता अनुबन्धा इति। (४)

अर्थ—अन्त शब्द देशवाची है। **एकान्तः** यह समानाधिकरण तत्पुरुष है। **एकश्चासावन्तश्च। एकदेशः=अवयवः। अनुबन्धः=अनुबध्यते पश्चाद् आसज्यत इत्यनुबन्धः** । इत्संज्ञक ञ्, ण् क् ट् आदि। अनुबन्ध (जिसके साथ लगे हुए हों उसके वे) अवयव नहीं होते, कारण कि जो अवयव होते हैं, वे कभी न कभी उसमें दीखते हैं जिसका वे अवयव होते हैं। वृक्ष की शाखा कटने के पश्चात् यद्यपि वृक्ष पर नहीं दीखती, कटने से पूर्व तो वहां दीखती है। पर ऐसा हम अनुबन्धों के विषय में नहीं देखते। अच्, इञ् आदि प्रत्ययों के बोध्य अ, इ आदि ही प्रयोग में देखे जाते हैं। उनके अनुबन्ध च्, ञ् आदि कभी नहीं। यदि ऐसा हो शित्, कित् आदि बहुव्रीहि समासों की क्या गति होगी? समीपस्थ श्, क् को अवयव मानकर समास सिद्ध होता है। **शकार इत् समीपस्थो यस्य, ककार इत्समीपस्थो यस्य।** पर अनवयव मानने पर एक और आपत्ति आती है। **वुञ्छण् कठ—**(४।२।८०) आदि सूत्र में णकार के अवयव न होने से इसे पूर्ववर्ती 'छ' तथा परवर्ती 'क' का (दोनों का) अनुबन्ध माना जा सकेगा, जिससे अनिष्ट-रूप-प्रसक्ति होगी। इसका समाधान तो पूर्व कहा जा चुका है—**व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः**, ऐसा व्याख्यान होगा कि पूर्वपठित प्रत्यय (प्रकृत में छ) के साथ ही ण् अनुबन्ध का योग समझा जाएगा, अनन्तर पठित 'क' के साथ नहीं। यदि अनुबन्ध अवयव नहीं हैं तो हलन्त्यम् सूत्र में 'अन्त्य' को अनुबन्ध (इत्संज्ञक) कैसे कहा गया। अन्त्यः=अन्ते भवः, अन्त में होने वाला, अन्तावयव ऐसा अर्थ है। उत्तर— यहाँ अन्त्य शब्द परसमीप का बोधक है।

इदम इश् इस सूत्र में इश् को अण् मानकर सवर्ण ग्रहण प्राप्त होता है, अतः भाष्यकार **अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः** (१।१।६९) यहाँ अप्रत्ययग्रहण से इसका वारण करते हैं। इससे भी अनुबन्ध अवयव नहीं हैं यह ज्ञापित होता है॥४॥

एकान्ता अनुबन्धाः। (५)

वस्तुतः अनुबन्ध जिस प्रत्यय आदि के साथ लगाए गये हों उसके अवयव

ही हैं। यही ठीक है शास्त्र में विधेयबोधक पद में ही दीखते हैं, अन्यत्र = विधेय में नहीं दीखते। यहाँ लौकिक दृष्टान्त देते हैं—जैसे कौआ आदि संयोगादि सम्बन्ध से कभी गृह में, कभी वृक्ष आदि में दीखता है, पर गृहादि का अवयव नहीं होता। पर अनुबन्ध इस के विपरीत एकत्र औपदेशिक प्रत्यय आदि में दीखता है, अतः अवयव ही होता है। अवयव मानने पर शित्, कित् आदि बहुव्रीहि समास विधिवत् उपपन्न हो जाते हैं और 'हलन्त्यम्' यहाँ अन्त्य शब्द की समीप अर्थ में लक्षणा भी नहीं माननी पड़ती।

अनवयव मानने पर प्रत्ययादि में वर्तमान (प्रत्यय के आद्य अवयव) **लशक्वतद्धिते** (१।३।८) सूत्र से ल्, श्, क् आदि की इत्संज्ञा न हो सकेगी। कारण कि इस पक्ष में ल्, श्, क् आदि प्रत्यय के आदि नहीं हैं ॥५॥

अब यहां यह शङ्का होती है कि यदि अनुबन्ध एकान्त (=अवयव हैं), तो **अष्टाभ्य औश्** (७।१।२१) आदि में औश् के अनेकाल् (अनेक अल् = औ, श् जिसमें) होने से ही जस्, शस् के स्थान में सर्वादेश हो जाता, तो **अनेकाल् शित् सर्वस्य** (१।१।५५) सूत्र में शित् क्यों पढ़ा, शित् ग्रहण व्यर्थ पड़ता है। उत्तर——

नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम् । (६)

अर्थ—**अनुबन्धेन कृतम् = अनुबन्धकृतम् । अनेकेऽलो यस्य तद् अनेकाल् । तस्य भावः = अनेकाल्त्वम् ।** अनुबन्धके कारण (यद्यपि अनुबन्ध अवयव हैं) अनेकाल्ता नहीं मानी जाती। इस परिभाषा में **अनेकाल् शित्सर्वस्य** (१।१।५५) में शित् ग्रहण ही ज्ञापक है। परिभाषा के ज्ञापित होने पर औश् आदि एकाल् ही हैं ऐसा हम जानते हैं। अनेकाल् न होने से शित्-ग्रहण के बल पर ही वे सर्वादेश होते हैं। जब तक यह परिभाषा ज्ञापित नहीं होती शित् ग्रहण व्यर्थ रहता है (अनुबन्धों के अवयव होने से अनेकाल्ता बन जाने से)। परिभाषा के ज्ञापित होते ही (अनेकाल्ता के न माने जाने से) शित् ग्रहण चरितार्थ (सार्थक) और आवश्यक हो जाता है।

अनुबन्धकृत अनेकाल्ता न होने से **अर्वणस्त्रसावनञः** (६।४।१२७) में तृ अर्वन् के स्थान में सर्वादेश नहीं होता, किन्तु अन्त्य अल् 'न्' के स्थान में होता है। कारण कि सानुबन्धक 'तृ' अनेकाल् नहीं।

यह शङ्का होती है कि अनुबन्धों के कारण यदि अनेकाल्ता नहीं मानी जाती तो 'डा' आदि आदेश—(**लुटः प्रथमस्य डारौरसः** (२।४।८५ लुट् प्रथम-

पुरुष एक० तिप् के स्थान में विहित 'डा', 'जसः शी' से विहित शी, सुपां सुलुक् (७।१।३९) से विहित ,शे' एकाल् होने से तिप् आदि सारे के स्थान में कैसे आदेश होते हैं ? उत्तर—इन डा आदि में किसी में भी औपदेशिक प्रत्ययत्व नहीं। प्रत्ययाधिकारस्थ न होने से। जब तक इन्हें तिप् आदि के स्थान में सर्वादेश न मानें, तब तक इनमें प्रत्ययत्व (स्थानिवद्भाव से आतिदेशिक प्रत्ययत्व) नहीं आयेगा। प्रत्ययत्व के अभाव में ङ् आदि अनुबन्ध नहीं बनेंगे और इनकी इत् संज्ञा न होकर लोप नहीं होगा, अतः गत्यन्तराभावात् इन्हें पहले सर्वादेश करना पड़ता है।

णल् लिडादेश तिप्, मिप् के स्थान में सर्वादेश कैसे हो जाता है। णल् तो प्रत्यय अधिकार-विहित है। (तृतीयाध्याय से पञ्चमाध्याय की परिसमाप्ति तक प्रत्ययाधिकार चलता है) अनुबन्धकृत अनेकाल्ता नहीं ली जाती, तो तिप्, मिप् के अन्त्य 'इ' के स्थान में णल् आदेश होना चाहिये। उत्तर—णल् में 'अ' का प्रश्लेष (अ+अ=अ) मानकर अनेकाल्ता सिद्ध की जाती है, तब सर्वादेश निर्बाध हो जाता है।

इस प्रकार अनुबन्ध एकान्त (अवयव) हैं इस पक्ष में उक्त दोषों का उद्धार होने पर भी घु संज्ञा में **दाधा घ्वदाप्** (१।१।२०) में जो अदाप् ग्रहण किया है उससे दैप् शोधने की घुसंज्ञा का निषेध न हो सकेगा, कारण कि उपदेशावस्था के एच् को आत्व होता है, दैप् एजन्त नहीं, पकारान्त होने से अनेजन्त है। पकार का लोप होने पर आत्व हो जाएगा, पर उस अवस्था में दाप्-रूप नहीं होगा, तो निषेध सिद्ध नहीं होगा ॥६॥

सीरदेवीय—

सर्वादेशपूर्वक (जो सारे के स्थान में आदेश होने के पीछे) अनुबन्धता बनती है वह सर्वादेशता को नष्ट नहीं कर सकती, कारण कि सर्वादेशता उससे पहले ही हो चुकी है ॥६॥

नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम्। (७)

अर्थ—अनुबन्धेन कृतम्=अनुबन्धकृतम्। एच् अन्तोऽस्य=एजन्तः। स न भवति=अनेजन्तः। तस्य भावः=अनेजन्तत्वम्। अनुबन्ध के कारण (अनुबन्ध के होते हुए भी, सानुबन्धक प्रत्ययादि अनेजन्त नहीं हो जाते। इसमें आचार्य का **उदीचां माङो व्यतीहारे** (२।३।१९) में मेङ् के स्थान में माङ् आदेश-करण ही ज्ञापक है। **आदेच उपदेशेऽशिति** (६।१।४५) उपदेश में एजन्त को आत्व विधान करता है। मेङ् प्रणिदाने उपदेश में एजन्त नहीं, ङकारान्त है। यदि

यह परिभाषा न हो तो आचार्य का प्रयोग असङ्गत हो जाय। उदीचां माङः सूत्र में माङ् माने का ग्रहण क्यों न माना जाय, ऐसा होने पर ज्ञापकता नहीं बनेगी। मेङ् का ही बिना पदान्तरसम्बन्ध अन्तरङ्गतया व्यतीहार अर्थ से नित्य सम्बन्ध है, माङ् से तो पदान्तरसंनिधान से ही इस अर्थ की प्रतीति हो सकती है जो बहिरङ्ग है।

यहाँ यह भी शङ्का हो सकती है कि मेङ् के धातु न होने से 'आदेचः' से आत्व कैसे हो गया ? शास्त्र में (१।१।४) के भाष्य तथा कैयट में यह सिद्धान्त निश्चित किया गया है कि अनुबन्ध-विनिर्मुक्त से ही क्रियावाचिता-रूप पदार्थोपस्थिति होती है, अतः प्रयोग में 'मे' शब्द की धातु संज्ञा रहती है, केवल उसे ङिन्निमित्तक कार्य होता है, अतः मेङ् धातु नहीं। उत्तर— आदेच उपदेशे सूत्र में धातोः (६।१।८) की निवृत्ति हो चुकी है ऐसा माना जाता है।

उक्त आक्षेपों का समाधान होने पर भी अनुबन्धा एकान्ताः इस पक्ष में एक और शङ्का होती है। **कर्मण्यण्** (३।२।१) यह अण् विधान करता है, यह उत्सर्गशास्त्र है। **आतोऽनुपसर्गे कः** (३।२।३) यह आकारान्त अनुपसृष्ट धातु से 'क' प्रत्यय विधान करता है। यह अपवाद है। अपवाद उत्सर्ग का बाधक होता है, इसमें ही इसकी चरितार्थता है, पर **वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्** (३।१।९४) सूत्र से असरूप अपवाद (जो उत्सर्ग के साथ सरूप=समान रूप वाला न हो) उत्सर्ग को विकल्प से बाधता है, पक्ष में उत्सर्ग की प्रवृत्ति भी होती है। अनुबन्धों के अवयव होने पर 'क' और अण् सरूप नहीं हैं, असरूप हैं, अतः 'क' के विषय में भी अण् की वैकल्पिकी प्रवृत्ति होने लगेगी, **गोदः** (क प्रत्ययान्त) के साथ **गोदायः** (अण् प्रत्ययान्त) भी साधु होगा। इसका क्या समाधान है? अतः समाधान कहते हैं—

नानुबन्ध-कृतमसारूप्यम्। (८)

अर्थ—जो प्रत्ययादि अनुबन्धरहित होने पर सरूप (समानरूप वाले) हैं, वे सानुबन्ध होने पर असरूप नहीं होजाते। इसमें **ददातिदधात्योर्विभाषा** (३।१।१३९) में विभाषा ग्रहण ज्ञापक है। यह सूत्र दा, धा से 'ण' का बाधक 'श' विकल्प से विधान करता है। **श्याद्व्यध** (३।१।१४१) से आकारान्त धातु से कत्रर्थ में ण प्रत्यय का विधान किया गया है। यदि अनुबन्ध-कृत असरूपता मानी जाय तो **वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्** (३।१।९४) से 'ण' का 'श' से विकल्प से बाध होगा, जिस से **ददः, दधः, दायः, धायः**— ये वैकल्पिक इष्टरूप सिद्ध हो जाएँगे तो सूत्र में विभाषा ग्रहण व्यर्थ पड़ता है। व्यर्थ होने से यह ज्ञापित करता है कि

अनुबन्ध-कृत असरूपता नहीं होती, अतः परिभाषा के ज्ञापित होने पर 'विभाषा' ग्रहण चरितार्थ हो जाता है। यदि 'विभाषा' ग्रहण न हो तो नित्य बाध होने से इष्ट रूपद्वय की सिद्धि नहीं होगी ॥८॥

संख्या दो प्रकार की हैं—(१) लोकप्रसिद्ध एक द्वि आदि, जो अकृत्रिम हैं, बताई नहीं गईं। (२) शास्त्रकृत 'वहु' आदि जो कृत्रिम हैं। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि ऐसा न्याय है कि **कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययः**, अर्थात् जहां यह सन्देहास्पद हो कि जो शास्त्र कार्य विधान किया जा रहा है, वह कृत्रिम (पारिभाषिक शब्द = संज्ञा) को उद्देश्य करके विधान किया जा रहा है अथवा अकृत्रिम लोकप्रसिद्ध संज्ञा को उद्देश्य करके; वहाँ कृत्रिम संज्ञा का ही ग्रहण होना चाहिये। इस न्याय का बोध अर्थ का नियामक (संकोचक) होता है जैसे **सैन्धवमानय** इत्यादि में प्रकरणवश सैन्धव के अर्थ का एकत्र नियमन हो जाता है। सैन्धव लवण और अश्व का नाम है। भोजन के प्रकरण में सैन्धव से लवण लिया जाता है, अश्व नहीं।

इस पर कहते हैं—

उभयगतिरिह भवति। (९)

अर्थ—इह = अस्मिञ्शास्त्रे। उभयोः (कृत्रिमाकृत्रिमयोः)। गतिः = अव-गतिः। भवति। इस शास्त्र में दोनों कृत्रिम तथा अकृत्रिम संज्ञाओं का बोध होता है। कभी दोनों का एक ही स्थान में, कभी कृत्रिम का ही, और कभी अकृत्रिम का ही। **संख्याया अतिशदन्तायाः कन्** (५।१।२२) इस सूत्र में "अति-शदन्तायाः' का ग्रहण इस परिभाषा का ज्ञापक है। अर्थ है जो संख्या त्यन्त (ति + अन्त) तथा शदन्त (शत् + अन्त) न हो। यह निषेध सप्तति, चत्वा-रिंशत् आदि संख्याओं के विषय में ही हो सकता है जो ति अन्त तथा शत्अन्त हैं, पर शास्त्र में कोई त्यन्त तथा शदन्त शब्द नहीं जिसकी संख्या संज्ञा की हो, सप्तति, चत्वारिंशत् आदि लौकिक संख्याओं के ही अन्त में ति तथा शत् देखा जाता है। अतः पाणिनीय व्याकरण में संख्याशब्द से पारिभाषिक संख्या ही नहीं ली जाती, लौकिक भी ली जाती है। इसी प्रकार **कर्तरि कर्मव्यतिहारे** (१।३।१४), **शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे** (३।१।१७), **विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि** (२।४।१३) इत्यादि स्थलों में कर्म तथा करण से लौकिक क्रिया और अधिकरण से द्रव्य लिया जाता है, कर्म-कारक, करण-कारक तथा अधिकरण-कारक (पारिभाषिक संज्ञा) नहीं। कहाँ कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों का, कहाँ अकृत्रिम

का ही और कहाँ कृत्रिम का ही—यह लक्ष्यानुरोधी व्याख्यान से हो जाना जाता है। अतः आम्रेडितशब्द से **तस्य परमाम्रेडितम्** (८।१।२) में की गई कृत्रिम संज्ञा का ही ग्रहण होता है, दो तीन बार उच्चारित शब्दमात्र का नहीं।

पर यह मानना कि शास्त्र में जो संज्ञाएँ की गई हैं वे नियमार्थ हैं, उन्हीं का ग्रहण होगा, लौकिक संज्ञाओं का नहीं और कृत्रिम तथा अकृत्रिम संज्ञाओं के विषय में जो **कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययः** यह न्याय उद्धृत किया है वह संज्ञा-शास्त्र की नियामकता पर आधृत है, ऐसा मानना ठीक नहीं। विधि सम्भव होने पर नियम नहीं माना जाता। वृद्धिरादैच् आदि शास्त्र आत्, ऐच् 'वृद्धि' अर्थ में अगृहीत (=पूर्व अविदित) शक्ति का ग्रहण कराते हैं। **अज्ञातज्ञापको विधिः।** ऐसा होने से इन्हें जब विधिशास्त्र माना जा सकता है, तो इन्हें नियम क्यों माना जाय। यह कहना कि जब यह परमतत्त्व है कि सभी शब्दों के सभी अर्थ होते हैं तो संज्ञा-शास्त्र अपूर्व नया अर्थ कैसे विधान कर सकता है। यदि नहीं कर सकता, तो यह विधिशास्त्र कैसे हो सकता है? इसमें हमें इतना ही कहना कि उक्त सिद्धान्त योगियों की दृष्टि के अनुसार है। अस्मदादियों की दृष्टि के अनुसार नहीं। सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक होते हैं—यह सामान्य ज्ञान हमारे लिए अनुपयोगी है, और विशेष रूप से ज्ञान असम्भव है, अतः विशेष अर्थ के बोधक संज्ञा-विधायक शास्त्रों की अपेक्षा बनी रहती है, अन्यथा हम कैसे जानें कि शास्त्र में आत, ऐच् वृद्धि-शब्द-वाच्य हैं।

अब यहाँ शङ्का होती है कि **अध्येता, शयिता** इत्यादि में इङ्, शीङ् के ङित् होने से क्ङिति च (१।१।५) से गुण-निषेध क्यों नहीं होता। उत्तर—

कार्यमनुभवन्हि कार्यी निमित्ततया नाश्रीयते। (१०)

अर्थ—कार्य को अनुभव करने वाला (जिसे कार्य होने को है) कार्यी (जिसे उद्देश्य करके कार्य विधान किया गया है), उस कार्य का निमित्त नहीं माना जाता। यहाँ निमित्त से कारण मात्र लिया जाता है। अध्येता (तृच्प्रत्ययान्त), शयिता (तृच्प्रत्ययान्त) के इ, ई को 'क्ङिति च' से गुणनिषेध प्राप्त होता है। यह निषेध तभी प्राप्त होता है जब **'क्ङिति च'** के व्याख्यान में **क्ङिन्निमित्ते ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवतः**, यहाँ निमित्त शब्द का कारणमात्र अर्थ समझा जाय, जिससे इ, ई को उद्देश्य करके विहित गुण का 'इ', ई भी कारण हैं क्ङिति परतः, ऐसी व्याख्या स्वीकार करने पर तो शङ्का ही उत्पन्न नहीं

होती। प्रकृत में इ, ई को गुण हो रहा है, जिन का अवयवभूत अनुबन्ध 'ङ्' है। इ, ई कार्यी हैं और इन्हें कार्य (गुण) हो रहा है। इस कार्य में इन्हीं को निमित्त नहीं माना जा सकता। अतः ङित् होने पर भी गुण होता है।

स्थण्डिलाच्छयितरि (४।२।१५) सूत्र में शयितरि (शीङ् इट् तृच् इ= सप्तमी) शब्द का प्रयोग इस परिभाषा का ज्ञापक है।

परिभाषा में **'कार्यमनुभवन्'** ऐसा क्यों कहा गया? ऐसा करने से ही **ऊर्णुनविषति'** रूप सिद्ध होगा। 'ऊर्णु+इ+स' यह इट्-सहित सन्नन्त ऊर्णु धातु है। अब इसे **सन्यङोः** (६।१।९) से द्वित्व होगा। 'सन्यङोः' यह षष्ठी है, अर्थ हुआ—सन्नन्त तथा यङन्त को द्वित्व होता है। अब **अजादेर्द्वितीयस्य** (६।१।२) से (तथा **नन्द्राः संयोगादयः**, संयोग के आदिभूत न्, द्, र् द्विरुक्त नहीं होते, इससे) 'नु' शब्द को द्वित्व होता है। कार्यी 'इस' कार्य को अनुभव नहीं कर रहा, इसलिए इसका निमित्त रूप से ग्रहण होता है। इसका यह फल होता है **द्विर्वचनेऽचि** (१।१।५९) से 'नु' को आदेश निषेध (गुण-निषेध) अथवा गुण होकर स्थानिवद्भाव होने से इष्ट रूप सिद्ध होता है। यदि यहाँ **'अनुभवन्'** यह विशेषण न दिया जाय तो ऊर्णु इसमें कार्यी का निमित्त रूप से ग्रहण न होने से (द्विर्वचन-निमित्तक अच् न होने से) आदेश-निषेध अथवा स्थानिवद्भाव नहीं होगा, तब 'नव् (गुण-लभ्य) को द्वित्व होने पर अभ्यास के 'अ' को सन्वद्भाव से 'इ' होने पर 'ऊर्णिनविषति' ऐसा अनिष्ट रूप प्रसक्त होगा।

इसी प्रकार ऋ इ सन्। गुण (अ रपर) होने पर 'अरिस'—यह सन्नन्त धातु निष्पन्न होती है। सन्नन्त को द्वित्व होता है, सन्नन्त कार्यी है। धातु अजादि है, अतः द्वितीय एकाच् रिस् को द्वित्व होता है। इ (ट्) सन् का अवयव है, अतः अजादि सन् (इस) द्वित्व का निमित्त है। यही द्वित्व-रूप कार्य को अनुभव कर रहा है। इसीलिये निमित्त नहीं माना जाता, फलतः द्विर्वचनेऽचि की प्रवृत्ति नहीं होती, न गुण-निषेध रूप आदेश और न स्थानिवद्भाव होता है।

' नागेशभट्ट का विचार है कि इस परिभाषा को ज्ञापक से सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं। न्यायादि शास्त्रों में प्रायेण समवायी (उपादानकारण) और निमित्त कारण का भेद स्वीकार किया गया है। जो समवायी कारण होता है वही निमित्त कारण नहीं होता। यहाँ भी जिसे कार्य हो रहा है (कार्य का हेतु-भूत आश्रय) वह कार्यी समवायी है। वही निमित्त नहीं बन सकता ॥१०॥

दा (डुदाञ् दाने) इत्यादि की दाधा घ्वदाप् (१।१।२०) से घु-संज्ञा की है। णिच् परे रहते पुक् आगम होने पर 'दापि' ऐसा रूप हो जाने से घु-संज्ञा नहीं होनी चाहिये, घु संज्ञा के अभाव में **नेर्गदनद-घु**—(८।४।१७) सूत्र से 'नि' को उपसर्ग-निमित्तक णत्व की प्राप्ति न होने से **प्रणिदापयति**—यह रूप साधु कैसे होता है ? इस प्रश्न का उत्तर पढ़ते हैं—

यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते। (११)

अर्थ—**यदागमाः**=**यद् उद्दिश्य आगमा (विधीयन्ते)। तद्गुणीभूताः**=**तदवयवतां गताः**। गुण शब्द अवयववाची है, जैसे—**त्रिगुणा रज्जुः** में। **तद्ग्रहणेन**=**तस्यागमिनो ग्रहणेन**। जिनको उद्देश्य करके आगम विधान किये जाते हैं, वे आगम उन आगमियों (आगम वाले शब्द समुदायों) का अवयव बन जाते हैं, अतः आगमी न केवल अपने स्वरूप के बोधक होते हैं, किन्तु आगम-सहित स्वरूप के भी। ऐसा क्यों होता है ? इसलिये कि आगम आगमियों के अवयव होते हैं। अवयव से पृथक् नहीं होते। **आद्यन्तौ टकितौ** (१।१।४६) इस आगम-विषयक शास्त्र में आगमों को अवयव बताया गया है।

लोक में भी हम देखते हैं कि जब कोई देवदत्त-नामक पुरुष दूसरों से अधिकाङ्ग होता है, तो देवदत्त संज्ञा से अङ्गाधिक्य-विशिष्ट देवदत्त का ही बोध होता है, अङ्गाधिक्यरहित देवदत्त का नहीं। इस परिभाषा की व्याख्या में ऊपर '**यद् उद्दिश्य**' क्यों कहा गया है ? इसलिये कि ऐसा न होने पर आगम का आगमी के अवयव रूप से ग्रहण नहीं होगा। 'यद् उद्दिश्य' का अर्थ है—इस परिभाषा की प्रवृत्ति के विषय-भूत सूत्र में जो कार्यी के रूप से निर्दिष्ट किया गया है, जिसे आगम विधान किया गया है, ऐसा आगमी। इस व्याख्यान के आश्रित '**प्रनिदारयति**' में 'दार्' की घु-संज्ञा न होने से 'नि' को णत्व नहीं हुआ। यहां दृ धातु को णिच् परे रहते वृद्धि रपर आर् हुई है। 'र्' 'दा' के 'आ' का एक प्रकार से आगम तो है, पर 'दा' को उद्देश्य करके उसका विधान नहीं हुआ है, अतः 'दा' का अवयव न होने से दा-ग्रहण से उसका ग्रहण नहीं होता, जिससे घु-संज्ञा नहीं होती और तत्कृत णत्व नहीं होता।

यह परिभाषा अनित्य है, कभी इसकी प्रवृत्ति नहीं भी होती ऐसा हम **आने मुक्** (७।२।८२) सूत्र से मुक् आगम के विधान से जानते हैं। यदि ऐसा न हो, अर्थात् यदि यह परिभाषा सर्वत्र लागू हो तो **पचमानः** (पच् शप् मुक् आन सु) में अकार को मुक् हुआ है, मुक् (म्) विशिष्ट 'अ'-'अम्' भी अक्

प्रत्याहार से गृहीत है, 'अ' ही है, तो 'आ' के साथ सवर्ण दीर्घ हो जाने से मुक् विधान व्यर्थ हो जाय। इसी हेतु (अनित्य होने से ही) दीङ् क्षये के लिट् प्र० पु० एक० में **दिदीये**—यह रूप न होगा, किन्तु जो यहाँ **दीङो युडचि** (६।४।६३) से एश् प्रत्यय को युट् आगम हुआ है उसका (युट्-सहित एश्-ग्रहण से ग्रहण हो जाने से **'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य'** (६।४।८२) से दीङ् के 'ई' को यण् प्रसक्त होगा। और **'जहार'**—यहां **आत औ णलः** (७।१।३४) से धातु के अवयव-भूत आकार से परे णल् को 'औ' आदेश नहीं होता। यहां 'ऋ' को वृद्धि 'आर्' हुई है। स्पष्ट ही यहां रेफ 'आ' का अवयव है, तो णल् को 'औ' हो जाना चाहिये, पर परिभाषा के अनित्य होने से नहीं होता। आकारादिवर्ण का दूसरा वर्ण रेफ कैसे अवयव हो सकता है? शाखा जो स्वयं वृक्ष का अवयव होती है दूसरी शाखा का अवयव नहीं होती—यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, कारण कि यही परिभाषा इस अर्थ में प्रमाण है। वर्ण को हुआ आगम वर्ण के अवयव के सदृश होता है, ऐसा तात्पर्य है।

यह कहना कि सामान्यापेक्षं ज्ञापकं भवति इस न्याय से उक्त ज्ञापक (आने मुक् में मुक्-ग्रहण) से यह पता चलता है कि जहां वर्ण को आगम विधान किया जाता है वहां यह परिभाषा नहीं लगती—ठीक नहीं, कारण कि ऐसा मानने से भाष्यस्थ निम्ननिर्दिष्ट तीन कथन असंगत हो जाते हैं—(१) आने मुक् का ठीक अर्थ यह है—अङ्ग के अवयव 'अ' को मुक् आगम होता है। इस अर्थ के आश्रित 'पचमान' में **तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशात्**—(६।१।१८६) से आदेश 'आन' को अनुदात्त होता है, पर अकार को मुक् होने से 'म्' का व्यवधान होने से यह स्वर न हो सकेगा, यह शङ्का होती है। इसका समाधान यह कहा है कि अकारान्त उपदिश्यमान पच (पच्+शप्=अ) से मुक्-सहित पचम् का ग्रहण होने से उक्त स्वर निर्बाध हो जायगा। यहां स्पष्ट ही भाष्यकार वर्णविषय में भी परिभाषा की प्रवृत्ति मानते हैं। इस उदाहरण में अकार जिसे आगम विधान किया गया है, विशेषण है। (२) **ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्** (८।३।३२) की एक व्याख्या ऐसी भी है—ह्रस्व से परे जो ङमन्त (ङ्, ण्, न्—अन्त) पद का अवयव ङम् (ङ्, ण्, न्) उसे ङमुट् (ङ्, ण्, न्) आगम होता है। इस अर्थ में ङम् आगम होने पर **'कुर्वन्नास्ते'** यहाँ पहले नकार को णत्व प्राप्त होता है इस शङ्का को पहले नकार को भी पदान्त मानकर, **पदान्तस्य** (८।३।३७) से णत्व का निषेध हो जाता है ऐसे समाहित किया है। पर यह 'न्' पदान्त नहीं। पदान्त न् को अवश्य

हुआ है, यह पदान्तभक्त है, अतः पदान्त कैसे माना गया है? भाष्यकार का यह कहना कि **पदान्तभक्तः पदान्तग्रहणेन ग्राहिष्यते** इस बात का ज्ञापक है कि यदागमपरिभाषा का यही अर्थ नहीं कि आगमी न केवल अपने स्वरूप का बोधक होता है किन्तु आगम सहित समुदाय का भी। इसका यह भी अर्थ है कि **आगमास्तद्‌ग्रहणेनागमिग्राहकधर्मेण गृह्यन्ते ज्ञानविषयीक्रियन्ते**, आगमी जिस धर्म से गृहीत होता है उस ग्राहक धर्म से आगम भी (जो उस आगमी को उद्देश्य करके विधान किये गये हैं और जो उन आगमियों के अवयव हैं, गृहीत होते हैं और तद्विशिष्ट भी। फलित अर्थ यह है—आगमी जिस-जिस शब्द से बोधित किया जाता है उस-उस से कार्यानुरोध-वश आगम तथा समुदाय का बोधन होता है।

वर्ण ग्रहण करके आगम करने में यह परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती यह मत एक और भाष्यवचन से भी कट जाता है। भाष्यकार गुण संज्ञक 'अ' और वृद्धिसंज्ञक 'आ' के रपर होने पर रेफविशिष्ट अर्, आर् की गुण-वृद्धि संज्ञा चाहते हैं, अन्यथा 'ऋ' के स्थान में 'अर्', 'आर्' ही गुण-वृद्धि' संज्ञक हों यह नियम न हो सकेगा। इस परिभाषा के अङ्गीकार से ही, अर्, आर् की गुण वृद्धि संज्ञा होने से भाष्यकार **रदाभ्यां** (८।२।४२) सूत्र के भाष्य में कहते हैं—जब हम कहते हैं—गुण होता है वृद्धि होती है, हमारा अभिप्राय होता है कि यदि 'अ' 'आ' के ऊपर रेफ हो तो रेफविशिष्ट अर्, आर् की भी गुण वृद्धि संज्ञा होती है।

इतना ही नहीं। **नेटि** (७।२।४) से जो इडादि सिच् परे वृद्धि का निषेध किया है और **णेरनिटि** (६।४।५१) से जो अनिडादि आर्धधातुक परे रहते णिच् का लोप कहा है उससे भी वर्ण-विषय में भी यह परिभाषा प्रवृत्त होती है, ऐसा हम जानते हैं। यदि इस परिभाषा से सिच् तथा आर्धधातुक प्रत्यय इडादि सिच् तथा इडादि आर्धधातुक का बोध न कराये, तो इट् के व्यवधान से ही वृद्धि रुक जायगी, अदेवीत् आदि में हलन्त लक्षणा वृद्धि नहीं होगी, नेटि से निषेध करना व्यर्थ हो जायगा, और इट् के व्यवधान से ही णिच् का लोप हो जायगा, 'अनिटि' यह निषेध व्यर्थ हो जायगा। आर्धधातुक प्रत्यय का णिच् से इट् द्वारा व्यवधान होने से ही '**कारयिता**' में णिच् का लोप नहीं होगा। इट्-विशिष्ट आर्धधातुक प्रत्यय भी परिभाषा बल से आर्धधातुक ही है ऐसा मानने पर इट्‌ग्रहण चरितार्थ हो जाता है।

जब हम कहते हैं कि आर्धधातुक प्रत्यय को इट् आगम हो, तब हम एकदम इस बात का अनुभव करते हैं कि नित्य शब्दों को आगम विधान कितना अनुपन्न है। इस अनुपपत्ति के वारण के लिये **'अनागमकानां सागमका आदेशा भवन्ति'** इस वाक्य की कल्पना करते हैं, जिसका ऐसा अर्थ है—इट्-रहित आर्धधातुकादि प्रत्ययों की बुद्धि (बोध) के विषय में इट्-सहित आर्धधातुक-बुद्धि करनी चाहिये। ऐसा अर्थ मानने पर आदेशों की तरह आगमों में भी बुद्धि विपरिणाम-मात्र होता है, शब्द रूप भेद नहीं। शब्द में अपूर्व उपजन हुआ है ऐसा नहीं, अतः शब्दान्यत्व (विकृतत्व) नहीं होता। इस प्रकार शब्द की नित्यता (अविचालिता, अविकारिता) बनी रहती है। शङ्का—उपर्युक्त न्याय के आधार पर स्थानिवद्भाव से परिभाषा-लभ्यार्थ सुलभ होने से परिभाषा गतार्थ हो जाती है, इसका कुछ प्रयोजन नहीं रहता। उत्तर—अनित्यता रूप अनुपपत्ति को दूर करने के लिये अनागमक शब्द के स्थान में सागमक आदेश मान लिया जाता है। शास्त्रोक्त स्थानिद्भाव का ऐसा आनुमानिक आदेश विषय नहीं। अष्टाध्यायी में साक्षात् शब्दोक्त (श्रौत) आदेशों के विषय में ही स्थानिवद्भाव होता है, जैसे **अस्तेर्भूः, हनो वधः** इत्यादि। भाष्यकार के मत से लावस्था, जब अभी लकार ही पड़ा है, उसे तिवादि आदेश नहीं हुए, में ही धातु को अट्, आगम होता है। अपा—ल्। अब यदि यहां पा के स्थान में 'अपा' आदेश हुआ है, ऐसी बुद्धि हो, तो इस आदेश में स्थानि-बुद्धि करके अर्थात् इसे 'पा' मानकर 'अपा' सारे के स्थान में **पाघ्राध्मा**—(७।३।७८) से 'पिब' आदेश हो जायगा। और लङ् प्र० पु० ए० पिबत् होगा, अपिबत् (जो इष्ट है) नहीं। शङ्का—यद्यपि 'अपा' स्थानिवद्भाव से 'पा' है तो भी पिबादेश विधायक **पाघ्राध्मा**—(७।३।७८) सूत्र में निर्दिश्यमान परिभाषा (१२) से 'पा' मात्र को ही 'पिब' आदेश होना चाहिये। उत्तर—स्थानिवद्भाव के विषय में निर्दिश्यमान परिभाषा नहीं लगती। यदि स्थानिवद्भाव विषय में निर्दिश्यमान परिभाषा की प्रवृत्ति हो तो भाष्य में दी हुई निम्नस्थ प्रक्रिया असंगत हो जाय। तिसृणाम् (षष्ठी बहु०) की सिद्धि में **त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ** (७।२।९९) से 'त्रि' को 'तिसृ' आदेश प्राप्त होता है। **त्रेस्त्रयः** (७।१।५३) से 'त्रि' को 'त्रय' आदेश विधान किया है। **पर** होने से 'तिसृ' आदेश होता है, 'त्रय' नहीं। तिसृ होने पर भी स्थानिवद्भाव से 'त्रि' ही है, अतः पुनः 'त्रय' आदेश क्यों नहीं होता? इसका उत्तर भाष्यकार यह देते हैं कि 'त्रय' आदेश को बाधकर 'तिसृ' आदेश हुआ है। **सकृद्गतौ विप्रतिषेधे**

यद् बाधितं तद् बाधितमेव, प्राप्ति होने पर तुल्यबल विरोध होने पर जो शास्त्र एकबार बाधित हो जाता है, वह बाधित ही रहता है, उसकी पुनः प्रवृत्ति नहीं होती। यदि स्थानिवद्भाव विषय में निर्दिश्यमान परिभाषा लगे तो 'त्रय' आदेश उस 'त्रि' को ही होगा जो (७।१।५३) सूत्र में निर्दिष्ट है, जो स्थानिवद्भाव से लभ्य है उसे नहीं, तो 'त्रि' को 'त्रय' आदेश की शङ्का ही नहीं होती। यदि अज्ञान से हो भी तो निर्दिश्यमान परिभाषा से उसका उत्तर देना चाहिये था। सकृद्गति-न्याय से समाधान इस बात का ज्ञापक है कि स्थानिवद्भाव विषय में निर्दिश्यमान परिभाषा नहीं लगती।

एरुः (३।४।८६) सूत्र का लोट् सम्बन्धी 'इ' को 'उ' आदेश हो, ऐसा अर्थ नहीं। स्थान्यादेशभाव अर्थवान् शब्दरूप को होता है। शब्द रूप को विशेष्य मानकर तदन्त विधि से इकारान्त (ति) के स्थान में उकारान्त (तु) आदेश हो ऐसा अर्थ है। यहां भी स्थानिवद्भाव होता है, यद्यपि स्थानी व आदेश श्रौत नहीं हैं, आनुमानिक हैं। स्थानिवत् सूत्र में आदेश शब्द ग्रहण के सामर्थ्य से यहां भी स्थानिवद्भाव होता है। 'स्थानी' शब्द का सम्बन्धी शब्द आदेश है, उसका स्थानी शब्द से ही आक्षेप हो जाता है, आदेश-ग्रहण व्याप्त्यर्थक है, सभी प्रकार के आदेश का ग्रहण हो सके, इसलिये किया है। प्रकृत में 'एरुः' इस वाक्य द्वारा स्थानी को आदेश विधान किया गया है। यह बात और है कि हम यहां स्थानी व आदेश की सार्थकता के लिये उन दोनों को यथाश्रुत न ग्रहण करके कुछ अदल-बदल से पढ़ते हैं। **(तेस्तुः)**। पर अनागमकों के स्थान में कल्पित सागमक आदेशों को स्थानिवद्भाव नहीं होता, कारण कि ऐसे आदेश अष्टाध्यायी में आचार्य ने कहीं पढ़े नहीं। अतः स्थानिवत् सूत्र से यदागम-परिभाषा गतार्थ नहीं होती।

यदागमपरिभाषा से अस्थात् (स्था-लुङ्-तिप्) में स्था से अट्विशिष्ट 'अस्था' का भी बोध होगा, तो उदः **स्थास्तम्भोः पूर्वस्य** (८।४।६१) से स्था को कहा हुआ पूर्व-सवर्ण 'अस्था' को भी होने लगेगा। अतः उत्तर पढ़ते हैं—

निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति। (१२)

अर्थ—आदेश सूत्र में आचार्य द्वारा उच्चार्यमाण शब्द को होते हैं। ('अस्था' के स्था रूप से गृहीत होने पर भी पूर्वसवर्ण विधायक सूत्र में स्था उच्चरित हुआ है, 'अस्था' नहीं। अतः आदेश (पूर्वसवर्ण-रूप) स्था को ही होगा। यह परिभाषा ज्ञापक अथवा लोकन्याय-सिद्ध नहीं है, यह वाचनिकी है, शास्त्र में वचनरूप से

पढ़ी है। **षष्ठी स्थानेयोगा** (१।१।४९) इस सूत्र का ही अर्थ-रूप यह परिभाषा है। इस सूत्र की आवृत्ति की जाती है। इस सूत्र को दो बार पढ़ा जाता है। पहली वार पढ़े का अर्थ है—शास्त्र में अनिर्धारित सम्बन्ध में षष्ठी समझनी चाहिए। वस्तुतः इस अर्थ में सूत्र की आवश्यकता ही नहीं। विना कहे ही षष्ठ्यन्त का स्थान के साथ ही सम्बन्ध हो सकता है। शब्द का शब्दान्तर के साथ और क्या सम्बन्ध हो सकता है। स्थान सम्बन्ध ही अन्तरङ्ग है, वह जाना जायगा, अनन्तर समीप आदि सम्बन्ध सभी वहिरङ्ग हैं। पर जिसे अन्तरङ्ग बहिरङ्ग का बोध न हो उसके लिये इस अर्थ में भी सूत्र की आवश्यकता है। दूसरे सूत्र का अर्थ है—षष्ठ्यन्त जो निर्दिश्यमान=उच्चार्यमाण, अथवा उच्चार्यमाण का सजातीय=सवर्ण, अथवा उच्चार्यमाण का जो सजातीय उसका अवयव, वही स्थान-सम्बन्ध से युक्त होता है, अर्थात् साक्षात् उच्चारित षष्ठ्यन्त पद के स्थान में आदेश होते हैं। ज्यों त्यों प्रतीति का विषय बने हुए के स्थान में नहीं। यदागम परिभाषा के बल से 'अस्थात्' में 'स्था' 'अस्था' का बोधक है, पर उच्चार्यमाण नहीं। आचार्य ने **उदः स्था-स्तम्भोः पूर्वस्य** (८।४।६१) में 'स्था' (षष्ठ्यन्त) का उच्चारण किया है, 'अस्था' का नहीं। शङ्का—यदि उच्चार्यमाण ही निर्दिश्यमान है तो **अस्य च्वौ** (७।४।३२) में 'अ' का उच्चारण होने से ह्रस्व 'अ' ही निर्दिश्य-मान है, दीर्घ 'आ' नहीं, तो **मालीभवति** में दीर्घ 'आ' को 'ई' कैसे हुआ ? उत्तर—जातिपक्ष में अत्वाक्रान्त सभी अकार निर्दिश्यमान ही हैं, इससे कोई दोष नहीं। व्यक्तिपक्ष में भी **न भूसुधियोः** (६।४।८५) इस शास्त्र से यण् का जो निषेध किया है उससे भी ज्ञापित होता है कि ग्रहणक शास्त्र **अण् उदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः** (१।१।६९) से जो सवर्ण-गृहीत (बोधित, प्रतीति का विषय) होते हैं उन्हें भी निर्दिश्यमान मानकर कार्य होता है, अन्यथा (यदि ऐसा न हो) तो **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य** (६।४।८२) से तथा **ओः सुपि** (६।४।८३) से यण् प्राप्त ही न था, तो निषेध कैसे किया। **अचि श्नु-धातु-भ्रुवां य्वोरियङुवङौ** (६।४।७७) सूत्र अङ्गाधिकारीय है (अङ्गाधिकार ६।४।१ से सप्तमाध्याय की परिसमाप्ति तक चलता है) और यह परिभाषा है 'पदाङ्गा-धिकारे तस्य च तदन्तस्य च (२९), अङ्गाधिकारीय कार्य न केवल उसे होता है जिसे विधान किया जाय, किन्तु तदन्त को भी होता है। अतः इवर्णान्त उवर्णान्त धातु को भी इयङ् उवङ् आदेश होंगे, तभी इयङ्-उवङ् का ङित्व अन्त्य के स्थान में आदेश के लिये चरितार्थ होता है। पर 'इ',

'उ' निर्दिश्यमान (उच्चार्यमाण) हैं, इवर्णान्त, उवर्णान्त नहीं, तो आदेश नहीं होना चाहिये। पर ऐसा मानने पर इयङ् उवङ् का ङित्त्व व्यर्थ रहता है, अतः इवर्णान्त, उवर्णान्त धातु को भी अगत्या निर्दिश्यमान मानना पड़ता है।

रीङ् (**रीङ् ऋतः** ७।४।२७), तथा रिङ् (**रिङ् शयग्लिङ्क्षु** ७।४।२८) में ङित्करण स्पष्टता के लिये है, इसका कोई अन्य प्रयोजन नहीं। इन दोनों सूत्रों में ऋ वर्ण को ही 'री' तथा 'रि' आदेश विधान किये हैं, ऋकारान्त को नहीं। अङ्ग अधिकृत है। तदन्तविधि से ही अङ्ग स्थानी बनता है जब अर्थ होगा अकारान्तस्याङ्गस्य, पर प्रकृत परिभाषा की प्रवृत्ति के लिये तदन्त-विधि-लभ्य स्थानी नहीं लिया जाता, साक्षात् उच्चार्यमाण (निर्दिश्यमान) ही लिया जाता है। इससे वर्ण को निर्दिष्ट करके जहां आदेश विधान किया गया है वहां यह परिभाषा नहीं लगती यह पक्ष कट जाता है। भाष्यकार भी स्वयं वर्ण-विषय में इस परिभाषा की प्रवृत्ति मानते हैं। हयवरट् (५) सूत्र में कहा है कि अयोगवाहों (विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, अनुनासिक और यम) का अक्षर-समाम्नाय में पाठ होना चाहिये, ताकि अल् प्रत्याहार में गृहीत हो जाने से **विसर्जनीयस्य सः** (८।३।३४), विसर्जनीयान्त पद को स् हो, में विसर्जनीय के अल् अन्तर्गत होने से **अलोन्त्यस्य** (१।१।५२) से वृक्षस्तत्र— यहां अन्त्य - विसर्जनीय को स् आदेश हो। इस का भाष्यकार निराकरण करते हुए कहते हैं कि यह कोई प्रयोजन नहीं। यह प्रयोजन निर्दिश्यमान को आदेश होता है इसी से सिद्ध हो जाएगा।

इस परिभाषा से यह बोधित किया जाता है कि तदन्त विधि से लभ्य की तथा आगम-विशिष्ट की स्थानिता नहीं होती। कारण कि 'वे प्रतीयमान हैं, निर्दिश्यमान नहीं। इसी से **सुपदः, निर्जरः** आदि तथा **उदस्थात्** की सिद्धि होती है। **पादः पत्** (६।४।१३०) से पाद् को पद् आदेश विधान किया गया है। निर्दिश्यमान होने से पाद् मात्र स्थानी है, उसी को पद् आदेश होता है, पादन्त (सुपाद्) को नहीं। **जराया जरसन्यतरस्याम्** (७।२।१०१) से 'जरा' के स्थान में जरस् आदेश होता है, सूत्र में 'जरा' निर्दिश्यमान है, अतः अङ्गाधिकार होने से लभ्य निर्जर के स्थान में नहीं। इसी प्रकार उद् से अस्थात् परे होने पर पूर्व सवर्ण नहीं होता। 'स्था' निर्दिश्यमान है (सूत्र में षष्ठ्यन्त पढ़ा है)। यदागम-परिभाषा से आगम-विशिष्ट स्था (अस्था) भी स्था है, उसे निर्दिश्यमान न होने से स्थानी नहीं माना जा सकता।

इन परिभाषा का अलोन्त्यादि (**अलोन्त्यस्य** १।१।५२ आदि) परिभाषा

शास्त्रों के साथ समावेश है, यह उन्हें बाधती नहीं। अलोन्त्यादि के अपने-अपने निमित्त उपस्थित होने पर वे भी प्रवृत्त होते हैं और उनके साथ यह भी, कारण कि इनमें परस्पर विरोध नहीं। षष्ठीपद की अनुवृत्ति होने से 'अलोन्त्यस्य' का अर्थ है— निर्दिश्यमान जो अवयव उसको आदेश होता है और अङ्गाङ्गिभाव (एक मुख्य हो और दूसरा गौण) भी नहीं, कारण कि दोनों परिभाषा होने से परार्थ होने से (विधिशास्त्र के उपकारक होने से) एक-समान गुणीभूत हैं। और जो गुणीभूत होते हैं उनका परस्पर गुणप्रधान-भाव (विशेषण-विशेष्य भाव) नहीं होता। **गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्स्यात्** ऐसा न्याय है। एकसाथ प्रवृत्ति के संभव होने पर बाध्य-बाधक-भाव क्यों माना जाय। **अबाधेनोपपत्तौ बाधेनोपपत्तिरन्याय्या। अनेकाल्शित्सर्वस्य** (१।१।५५) में जो कहा है कि अनेकाल् आदेश और शित् आदेश 'सर्व' के स्थान में होते हैं, यहाँ निर्दिश्यमान-परिभाषा से लभ्य स्थानी लिया जाता है, न कि तदन्तविधि तथा यदागमपरिभाषा से लभ्य।

आगम-विशिष्ट स्थानी नहीं होता, आगम-रहित के निर्दिश्यमान होने से ऐसा पूर्व कह आए हैं। पर अकच् आगम (जो टि-भाग से पूर्व होता है) के विषय में निर्दिश्यमान परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती अर्थात् अकच्-विशिष्ट के स्थान में भी आदेश होता है, कारण कि **तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते,** स्थानिवद्भाव से जैसे आदेश में स्थानिबुद्धि होती है, मध्य-पतित (अन्तर्निविष्ट) आगम के होने पर भी यह वही है ऐसी बुद्धि होती है। इसमें **अनाप्यकः** (७।२।११२) में अकः (यह निषेध) ज्ञापक है। यदि अकच्-विशिष्ट 'इदकम्' इस परिभाषा से निर्दिश्यमान न होने से स्थानी नहीं, तो सूत्र में अकच्-ग्रहण व्यर्थ है, इसके विना भी इदकम् में इद्-भाग को अन् नहीं होगा (इमकेन यह इष्ट रूप होगा)। पर इस ज्ञापक से यह अवगत होता है कि जहाँ अकच्-सहित का आदेश द्वारा अपहार नहीं होता वहां निर्दिश्यमान परिभाषा नहीं लगती। इसका 'युवकाभ्याम्' में आत्वसिद्धि फल है। पर अन्यत्र (जहाँ 'तन्मध्यपतित' न्याय से आदेश से अकच्-सहित का अपहार प्राप्त होता है वहाँ) यह परिभाषा प्रवृत्त होती ही है—**हुझल्भ्यो हेर्धिः** (६।४।१०१) से '**भिन्द्धकि**' इत्यादि में अकच् होने पर 'हकि' के 'हि' न होने से 'हि' के स्थान में 'धि' होता है, 'हकि' के स्थान में नहीं। यहाँ अकच् का अपहार नहीं होता। 'सर्वकदा' यहाँ 'सर्व' को अकच् होने पर सर्व के स्थान में **सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि** (५।३।६) वैकल्पिक 'स' आदेश 'सर्व' को होता है, 'सर्वक'

को नहीं। साकच्क का अपहार प्राप्त होने से यहाँ निर्दिश्यमान परिभाषा की प्रवृत्ति होती ही है। 'सर्व' निर्दिश्यमान है, अकच् विशिष्ट 'सर्वक' नहीं, यद्यपि अकच् तन्मध्यपतित है (सर्व के अन्तर्गत टि-भाग से पूर्व निविष्ट हुआ है)।

यदि ऐसा हो तो **किमः कः** (७।२।१०३) सूत्र में साकच्क 'ककिम्' के स्थान में क' आदेश नहीं होना चाहिए, साकच्क का अपहार प्राप्त होने से निर्दिश्यमान परिभाषा प्रवृत्त होगी, निर्दिश्यमान 'किम्' है न कि 'ककिम्'। इस शङ्का का समाधान इस प्रकार किया जाता है—आदेश (क) में 'क' की आवृत्ति यह ज्ञापित करती है कि 'क' अकच्-सहित के स्थान में भी आदेश इष्ट है, कारण कि यदि किम् मात्र के स्थान में ही आदेश इष्ट होता तो आचार्य किम् के 'इम्' के स्थान में 'अ' आदेश ही विधान करते।

यह परिभाषा अवयव अर्थ में जो षष्ठी उसके विषय में भी प्रवृत्त होती है। (यह अधिक जानना चाहिये)। इसीलिये **अतिस्यः (अतिक्रान्तोऽतिशयितो वा स्यः)** में त्यद् के 'त्' को स् आदेश हुआ है। **तदोः सः सावनन्त्ययोः** (७।२।१०६) से त्यद् आदि के अनन्त्य त्, द् को स् होता है। यहाँ त्यदादीनामः (७।१।१०२) से अनुवृत्त 'त्यदादीनाम्' में षष्ठी अवयव-षष्ठी है। अङ्गाधिकार के कारण तदन्तविधि होने से त्यदाद्यन्त अङ्ग के त्, द् को स् होता है ऐसा अर्थ होने से **'अतित्यद्'** (अङ्ग) के अति उपसर्ग के त् को 'स्' प्राप्त होता है, पर निर्दिश्यमान परिभाषा से यह 'त्' त्यदादि का अवयव नहीं (त्यदाद्यन्त अङ्ग का अवयव अवश्य है), अतः इसे 'स्' नहीं होता। इसीलिए युष्मदस्मदोः (७।२।८६) से अनुवृत्त अस्मद् के मपर्यन्त भाग को जो **यूयवयौ जसि** (७।२।६३) से यूय, वय आदेश विधान किए हैं वे युष्मद्, अस्मद् के मपर्यन्त भाग के स्थान में होते हैं, अतियुष्मद्, अत्यस्मद् (अङ्गों) के उपसर्ग सहित मपर्यन्त भाग के स्थान में नहीं। यहाँ भी 'युष्मदस्मदोः' अवयव-षष्ठी है। 'मपर्यन्तस्य' स्थानषष्ठी है॥१२॥

सीरदेवीय—

पादः पत् (६।४।१३०)—से षष्ठी-निर्दिष्ट पाद् के स्थान में पद् आदेश होता है। **द्विपदः पश्य**। अङ्गाधिकार परिभाषा से (२६) तदन्त के स्थान में नहीं। अतः **भवेताम्**—यहाँ तस् के स्थान में ताम् आदेश होता है, यासुट् सहित तस् के स्थान में नहीं। **यतः षष्ठ्युच्चारिता तदेव कार्योपयोगि स्यात्**। यह

'षष्ठी स्थाने-योगा' का अर्थ है, इसी का प्रकृत परिभाषा अनुवादमात्र है।

चेता (चि तास् डा) में प्रमाणतः आन्तर्य (सादृश्य) के कारण ह्रस्व के स्थान में ह्रस्व 'अ' गुण क्यों नहीं होता। इसका उत्तर पढ़ते हैं—

यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीयः। (१३)

अर्थ—जहाँ (स्थानी और आदेश के बीच में) (अनेकविधम्=अनेका विधा यस्य तत्। आन्तर्यम्=सादृश्यम्) कई प्रकार का आन्तर्य सम्भव है वहाँ स्थान-विषयक आन्तर्य बलवत्तर होता है। अमर अन्तर शब्द के नानार्थ पढ़ता है। उनमें 'सदृश' अर्थ नहीं पढ़ा, पर **छिद्रात्मीयविनाबहिरवसरमध्येन्तरात्मनि च**—यहाँ चकार से गृहीत होता है, जैसे प्रसिद्ध 'अन्य' अर्थ। **अन्यो देशो देशान्तरम्।** आन्तर्य अनेकविध=नाना प्रकार का सम्भव है—**स्थानकृत, अर्थकृत, गुणकृत, प्रमाणकृत।** 'स्थानतः' में करणतृतीया के अर्थ में तसि प्रत्यय है। **स्थानतः=स्थानेन।** इस परिभाषा का **षष्ठी स्थानेयोगा** (१।१।४९) से एकदेश 'स्थाने' की अनुवृत्ति आने पर जो **स्थानेऽन्तरतमः** (१।१।५०) में पुनः 'स्थाने'–ग्रहण किया है—यही ज्ञापक है। स्थानेऽन्तरतमः का इस प्रकार योगविभाग किया जाता है—**स्थाने** (पूर्वसूत्र से अनुवृत्त) **ऽन्तरतमः।** यह एक सूत्र होता है। इसमें पूर्व सूत्र से अनुवृत्त स्थाने शब्द प्रसंगवाची है। **स्थाने च (भवति)** यह दूसरा सूत्र होता है। एतत्सूत्रस्थ 'स्थाने' को तृतीया में बदल दिया जाता है (तृतीयया विपरिणामो भवति)। यहाँ 'स्थान ताल्वादि स्थान का वाचक है। स्थान से आन्तर्य के कारण 'दण्डाग्रम्' में दोनों अकारों के स्थान में कण्ठ्य आकार आदेश होता है। **अदसोऽसेर्दादु दो मः** (८।२।८०) से असन्त अदस् के द् के स्थान में म् और 'म्' से उत्तर ह्रस्व के स्थान में ह्रस्व 'उ' और दीर्घ के स्थान में दीर्घ ऊ होता है। **वतण्डी चासौ युवतिश्च 'वातण्ड्ययुवतिः'।** यहाँ अर्थ से आन्तर्य के कारण 'वातण्ड्य' पुंवद्भाव से अन्तरतम आदेश होता है, 'वतण्ड' नहीं, कारण कि वतण्डी शब्द स्त्रीलिंग में वतण्ड के अपत्य को कहता है, अतः अपत्यार्थक **'वातण्ड्य'** शब्द ही पुमान् आदेश होता है। **पद्दन्नोमास्** (६।१।६३) सूत्र में विधान किए गए पद् आदि आदेश स्थानी के अर्थ को कहने में समर्थ तत्समान वर्णवाले पादादि को होते हैं। शृगालवाची क्रोष्टु के स्थान में तृजन्त क्रोष्टृ शब्द आदेश होता है, सामान्यतः किसी क्रोशन करने वाले के अर्थ में नहीं। **पाकः। त्यागः। रागः**—यहाँ च्, ज् के स्थान में गुण (प्रयत्न)-कृत आन्तर्य से **चजोः कु घिण्ण्यतोः** (७।३।५२) से च् के स्थान

में वैसा ही अल्पप्राण तथा अघोष ककार आदेश होता है और जकार के स्थान में वैसा ही घोषवान् तथा अल्पप्राण गकार। पर प्रकृत 'चि-तास् डा' में प्रमाणकृत आन्तर्य से ह्रस्व 'इ' के स्थान में 'अ' ह्रस्व गुण प्राप्त होता है, और स्थान-कृत आन्तर्य से 'ए'। स्थानकृत आन्तर्य के बलवत्तर होने से 'ए' ही होता है।

अब यहाँ यह शङ्का होती है—**'प्रोढवान्** में **'प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु'** इस वार्तिक से वृद्धि क्यों नहीं होती। प्र+ऊढ में भी 'प्र' से परे 'ऊढ' पड़ा है। इसका उत्तर पढ़ते हैं—

अर्थवद्-ग्रहणे नानर्थकस्य। (१४)

अर्थ—जहाँ अर्थवान् वर्णसमुदाय-रूप शब्द का ग्रहण संभव हो वहाँ अनर्थक नहीं लिया जाता। अनियम (नियमाभाव) में नियम करना परिभाषा का धर्म है। **अनियमे नियमकारिणी परिभाषा।** 'ऊढ' क्तान्त अर्थवान् है। वह् से कर्मणि क्त प्रत्यय हुआ है। ऊढवान् क्तवत्वन्त है। यहाँ वह् से कर्तरि क्तवतु प्रत्यय हुआ है। इसमें 'ऊढ' यह अंश स्पष्ट ही अनर्थक है। अतः ऊढवान् में वृद्धि एकादेश नहीं होता। जहाँ अर्थवान् का ग्रहण संभव नहीं वहाँ अनर्थक का भी ग्रहण होता है। **अत्वसन्तस्य चाधातोः** (६।४।१४)—यहाँ सार्थक 'अतु' के संभव न होने से अनर्थक 'अतु' लिया जाता है।

इस परिभाषा का आधार यह है—जब विशिष्ट-रूप-युक्त (वर्णसमुदायात्मक) शब्द का उपादान (ग्रहण, उच्चारण) किया जाता है, तो उससे जो अर्थ की उपस्थिति (प्रतीति) होती है, उसका शब्द के साथ विशेषण रूप से अन्वय-संभव होने पर उसका त्याग किसी प्रमाण से भी प्राप्त नहीं।

यहाँ यह शंका होती है कि लोक में परिनिष्ठित पद (प्रयोगार्ह पद) अथवा व्यवहृत वाक्य ही अर्थवान् होते हैं, अर्थ से लौकिकार्थ ही प्रायः लिया जाता है, अतः प्रकृति 'ऊढ' आदि तथा प्रत्यय 'तीय' आदि में यह लौकिक अर्थ नहीं हो सकता तो इस परिभाषा के लिए ऊढ और ऊढवत् समान हैं और द्वितीय और पटुजातीय भी। उत्तर—इस परिभाषा के लिये शास्त्र द्वारा कल्पित प्रकृति प्रत्ययादि का अन्वय-व्यतिरेक द्वारा कल्पित अर्थ भी माना जाता है, केवल लौकिक नहीं। प्रकृत्यादि के होने से (अन्वय से) अर्थविशेष प्रतीत होता है, न होने से (=व्यतिरेक से) नहीं। इससे इनकी अन्वय-व्यतिरेकगम्या अर्थवत्ता स्वीकार की जाती है। उपसर्गों का केवल (पृथक् रूप से) प्रयोग न होने से

लौकिक अर्थ न होने पर भी शास्त्र में इनकी अन्वय-व्यतिरेक द्वारा अर्थवत्ता मानी जाती है।

इस परिभाषा की प्रवृत्ति वर्णमात्र के निर्देश में नहीं होती। इसलिए **यस्येति च** (६।४।१४८) से अनर्थक इ, अ का भी लोप होता है। **'लस्य'** (३।४।७७) यहाँ वर्णमात्र का निर्देश है, ल् विवक्षित है। अकार उच्चारणार्थ है। लुनाति, लभते में ल् के स्थान में तिबादि क्यों नहीं होते ? अर्थवद् ग्रहण परिभाषा से नहीं होंगे, ऐसा कहे जाने पर भाष्यकार का कहना है कि वर्ण-ग्रहण में अर्थवत् परिभाषा नहीं लगती। तो फिर क्यों नहीं होते ? इसलिए कि 'धातोः' की अनुवृत्ति आ रही है और धातु ग्रहण विहित का विशेषण माना जायगा, धातु से विहित जो ल् ऐसा अर्थ होने से कोई दोष नहीं होगा। यदि यह परिभाषा वर्णनिर्देश में भी लागू हो, ईः (=लक्ष्मी)+अः (=विष्णु)—यहाँ यण् हो जायगा, पर भवतु+इति—यहां नहीं होगा, कारण कि यहाँ 'भवतु' का उ और 'इति' का 'इ' दोनों अनर्थक हैं।

येन विधिस्तदन्तस्य (१।१।७२) पर पढ़े गये वार्तिक (**अलैवानर्थकेनेति वक्तव्यम्**) से भी यही सिद्ध होता है कि वर्ण निर्देश में अर्थवत् परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती। वार्तिक का अर्थ है—यदि अनर्थक से तदन्त विधि हो तो वर्णमात्र (अल्) से ही हो, अनर्थक वर्णसमुदाय से नहीं। इसी कारण **इन्हन्पूषार्यम्णां शौ** (६।४।१२) में अनर्थक वर्णसमुदाय 'हन्' से तदन्त विधि नहीं होती, अतः 'प्लीहानौ'—यहाँ दीर्घ होता है।

अर्थवत् परिभाषा की सत्ता इस प्रकार भी सिद्ध होती है—**स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा** (१।१।६८) सूत्र में 'स्व' शब्द जो आत्मीय (अपना) अर्थ को कहता है, अर्थ का वाचक है। रूप शब्द से शब्द का स्वरूप लिया जाता है, अतः 'शब्द' से इन दोनों का बोध होता है। अर्थ यहाँ विशेष्य नहीं है, कारण कि शास्त्रीय कार्य अर्थ को नहीं हो सकते, 'अर्थ' शब्द का विशेषण है। इस प्रकार अर्थ-विशिष्ट (अर्थवान्) शब्द 'शब्द' से बोधित होता है यह सूत्रार्थ होता है।

सीरदेवीय—

अर्थवान् और अनर्थक के विचार में अर्थवान् शब्द का ही ग्रहण होता है अतः **वनो र च** (४।१।७) इससे कर्तृवाचकत्वेन सार्थक क्वनिप् तथा वनिप् के वन् को रेफ आदेश होता है। धीवरी। पीवरी। (धीवन्—ङीप्, पीवन्—

ङीप्) । अनर्थक वन् को नहीं, इसलिये **अतिशुनी** (अति+श्वन्+ङीप्)। **अति-यूनी**—(अति+युवन्+ङीप्) यहाँ वन् को रेफ आदेश नहीं होता ।

अतिशुनी इत्यादि में 'वन्' शब्द अनर्थक कैसे है ? 'स्वरूप'—रूप अर्थ के होने से यह सार्थक मानना चाहिए । **वृद्धिरादैच्** (१।१।१) सूत्र में कहा गया है—संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध से पूर्व 'वृद्धि' शब्द 'स्वरूप'—रूप अर्थ से अर्थवान् है । अतः प्रातिपदिक है, अतएव इससे सूत्र में प्रथमा विभक्ति हुई है । कहा भी है—

यस्मिन्नुच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते ।
तमाहुरर्थं शब्दस्य नान्यदर्थस्य लक्षणम् ॥

जिस शब्द का स्वरूपपरतया प्रयोग है उसका स्वरूप ही अर्थ है, उसी में उसका तात्पर्य होने से । **यत्परः शब्दः स शब्दार्थः** । पर 'अतिशुनी' आदि में वन् आदि वर्णसमुदाय स्वरूप-परक नहीं है । अतिशुनी इत्यादि समुदाय को बनाने के लिए उनका उच्चारण है ।

यह परिभाषा **स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा** (१।१।६८)—इस सूत्र के भाष्य में ज्ञापित की गई है । यद्यपि शब्द का स्वरूप और अर्थ दोनों होते हैं, तो भी रूप ही लेना चाहिए, अर्थ नहीं । शब्द के उच्चारण काल में पहले शब्द की प्रतिपत्ति होती है तदनन्तर अर्थ की । तथा शब्द अनुकरण काल में अर्थ को छोड़ देता है, रूप को नहीं । स्वं-ग्रहण से ही रूप-ग्रहणके सिद्ध होने पर जो सूत्र में रूप-ग्रहण किया है उससे हम जानते हैं कि व्याकरण शास्त्र में रूप की तरह अर्थ का भी ग्रहण होता है ।

अकारादि वर्णों के ग्रहण में यह परिभाषा नहीं लगती । निरर्थक इक् के स्थान में भी निरर्थक अच् परे होने पर यण् होता है—**भवत्यत्र** । **भव-त्विति** । अन्यथा सार्थक ङीप् आदि ई के स्थान में सार्थक अच् परे होने पर ही यण् होगा—कुमार्यौ । श्वश्र्वौ ।

अर्थवत् परिभाषा को मानने पर **'महद्भूतश्चन्द्रमाः'** यहाँ **आन्महतः समानाधिकरण-जातीययोः** (६।३।४६) से महत् को जो यहाँ सार्थक है और 'भूत' के साथ समानाधिकरण भी है 'महा' आदेश हो जाना चाहिए । अमहान्-महान् भूतः ऐसा विग्रह है । चन्द्र जो महान् सा हो गया है ऐसा अर्थ है । क्यों नहीं होता इसका उत्तर पढ़ते हैं—

गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः । (१५)

अर्थ—जब किसी शब्द का मुख्यार्थ के अतिरिक्त गौण अर्थ भी होता

है तो ऐसे शब्द को शास्त्र में विधान किया कार्य तभी होता है जब वह शब्द मुख्यार्थ का बोधक है। **गुणाद् आगतः=गौणः।** जैसे गो शब्द का जाड्यादि गुणों के सादृश्य के कारण 'वाहीक' अर्थ होता है और जैसे राम से भिन्न पुरुष को 'रघुनाथ' कह दिया जाता है रामगतगुणों के आरोप से ही। **मुख-मिव मुख्यः**=प्रधानः, प्रथमः। गौण अर्थ में जब शब्द प्रयुक्त होता है तब मुख्यार्थ के आरोप से ही होता है उसके बिना नहीं। मुख्यार्थ के आरोप के लिए मुख्यार्थ की पहले उपस्थिति अवश्य होगी ही। उसी अर्थ को लेकर प्रवृत्त हुआ शास्त्र चरितार्थ हो जायगा, वह गौण अर्थ में क्यों प्रवृत्त हो? ऐसी प्रवृत्ति में प्रमाणाभाव ही इस परिभाषा का मूल है। इस परिभाषा में गौण अर्थ से अभिप्राय 'अप्रसिद्ध=आरोपित तथा गौण-लाक्षणिक=सदृश-लाक्षणिक=सादृश्यमूलक आरोप का विषय' है। अतः **अमहान्ब्राह्मणः**—यहाँ आरोप के नञ् से द्योत्य होने के कारण **'आरोपितमहत्त्ववान् ब्राह्मणः'** ऐसा अर्थ है। आरोपित महत्त्व की प्रतीति होने पर भी महद्भूतश्चन्द्रमाः की तरह सादृश्यमूलक आरोप की प्रतीति न होने से गौण-लाक्षणिकत्व रूप गौणत्व नहीं, अतः महत् को आत्व हुआ है। **'प्रियत्रि'** (प्रियास्त्रयो यस्य सः) के षष्ठी बहुवचन में 'त्रि' (जो अन्य पदार्थ का विशेषण होने से उपसर्जन है) को 'त्रय' आदेश हो गया, उक्तरूप गौणत्व न होने से।

यह परिभाषा प्रातिपदिक को कार्य की कर्तव्यता में प्रवृत्त नहीं होती, यह युक्ति सिद्ध बात है, इसमें आचार्य के वचन की अपेक्षा नहीं। जहाँ अपने निजी अर्थ को कहने के लिए आनुपूर्वी-विशेष-विशिष्ट पद का ग्रहण (उच्चा-रण) किया गया है अथवा अनुवृत्ति से लभ्य है, उस पद को कार्य करना हो वहीं इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है। कारण कि परिनिष्ठित (निष्पन्न सुबन्त वं तिङन्त) प्रयोगार्ह शब्द का वाक्य में पदान्तर के साथ सम्बन्ध होने पर ही गौर्वाहीकः (वाहीक बैल है) इत्यादि में गौणत्व की प्रतीति होती है, न कि जब प्रातिपदिक कार्य किया जा रहा है।

अत इञ् (४।१।९५) सूत्र से अदन्त प्रातिपदिक से **'श्वशुरसदृशस्यापत्यम्'** इस अर्थ में 'श्वशुर' से इञ् होता है। उपात्त (उच्चारित) विशिष्यार्थोपस्थापक पद को कार्य करने में ही परिभाषा प्रवृत्त होती है, अतः प्रातिपदिक पद के उपात्त आदि न होने से परिभाषा प्रवृत्त नहीं होगी, तो गौणार्थ में भी इञ् सिद्ध होता है। अतः इञ्-सूत्र में अनुवृत्त 'प्रातिपदिक' उपात्त आदि नहीं, आनुपूर्वी-विशेष-विशिष्ट होकर अर्थविशेष को नहीं कह रहा, किन्तु प्राति-

पदिक-संज्ञक शब्दरूप से उपस्थित होता है। यदि ऐसा है तो ओदन्त निपात में गोऽभवत् (गौ सदृश हो गया) यहाँ परिभाषा क्यों लगती है (जिससे गौणार्थ में प्रगृह्य संज्ञा रुक जाती है)। 'निपात' से उपात्त, विशिष्यार्थोपस्थापकपद कैसे लिया जाता है ? **चादयोऽसत्त्वे** (१।४।५७) से चकारादियों की निपात संज्ञा की है। चकार आदि स्वरूप से पढ़े हैं। अतः निपात-पद चादिगणपठित होने से जो चादि हैं उनका उपस्थापक है। अतः परिभाषा की प्रवृत्ति होती है।

अग्नीषोमौ (देवते) इस प्रसिद्ध देवता द्वन्द्व में ईत्व और षत्व हो जाने के पीछे 'माणवक' के साथ सम्बन्ध होने पर गौणार्थता की प्रतीति होती है। पर इससे पूर्व ही समास से पूर्व प्रातिपदिक अवस्था में अन्तरङ्ग होने से जो ईत्व और षत्व हो चुके हैं उन्हें गौणार्थता की प्रतीति होने पर अब इस परिभाषा से हटाया नहीं जा सकता। प्रातिपदिक कार्य की कर्तव्यता में सर्वत्र निर्विशेषरूप से यह परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती, ऐसा नहीं समझना चाहिए। कार्यप्रवृत्ति-काल में जहाँ गौणार्थता की प्रतीति होती है वहाँ प्रवृत्त होती है और जहाँ नहीं होती, वहाँ नहीं।

पर यदि सदृश-लाक्षणिक अग्नि तथा सोम पदों का द्वन्द्व समास करें अथवा अग्नि नामक व सोमनामक अग्नि व सोम का द्वन्द्व करें तो ईत्व, और षत्व नहीं होंगे। पूर्वत्र 'अग्नि देवता, सोम देवता के साथ गुणों से सदृश' अग्नि और सोम का अर्थ है। उत्तरत्र अप्रसिद्धि के कारण आरोपवश अग्नि सोमनामक को अग्नि वा सोम कहा गया है, अतः प्रातिपदिक अवस्था में ही गौणता की प्रतीति होने से प्रकृत परिभाषा की प्रवृत्ति होती है जिससे मुख्य अग्नि को विधान किया हुआ दीर्घ तथा सोम को विधान किया हुआ षत्व यहाँ नहीं होते। अग्निसोमौ माणवकौ।

'गां पाठय' में प्रयोक्ता को गो-शब्द से द्वितीया विभक्ति लाते समय ही गो-प्रातिपदिक गौण अर्थ में प्रयोग कर रहा हूँ इसकी स्पष्ट प्रतीति है, कारण कि 'पाठय' क्रिया के साथ मुख्यार्थ में अन्वय उपपन्न नहीं होता, गो जो पशु, उसे पढ़ाओ—यह असंगत वचन ठहरता है। ऐसी अवस्था में प्रकृत परिभाषा को प्रवृत्त होना चाहिए, और उसकी प्रवृत्ति से 'गो' को आत्व रुक जाना चाहिए। इसका उत्तर नागेशभट्ट इस प्रकार देते हैं—प्रयोक्ता की अपनी बुद्धि में गौणता की उपस्थिति होने पर भी श्रोता को तो परिनिष्ठित पद ही गौणार्थ के प्रत्यायक हो सकते हैं क्योंकि वाक्य में परिनिष्ठित पद ही प्रयुक्त

होते हैं। इस कारण और इस कारण भी कि भाष्यकार ने अत्वं त्वं सम्पद्यते त्वद् भवति, अमहान्महान् भूतः इत्यादि प्रयोगों में गौणत्व होने पर भी पदकार्य न होने से परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं की है। जिससे युष्मद् के मपर्यन्त भाग को 'त्व' आदेश हो गया है और महत् के 'अ' को 'आ'। त्वम् तथा महत् यहाँ स्पष्ट ही गौणार्थ के बोधक हैं।

वस्तुतः प्रयोक्ता को भी गौणार्थता की प्रतीति परिनिष्ठित पद से ही होती है जब वह द्वितीयान्त गो (गाम्) का अन्वय 'पाठय' क्रिया के साथ करता है। न कि जब गो शब्द से अभी द्वितीया करने को है। वक्ष्यमाण भाष्यग्रन्थ इस बात को विस्पष्ट करता है—अर्थवत्-सूत्र भाष्य में कहा है—'शुक्लाम्' ऐसा कहने पर विशिष्ट कर्म का ही निर्देश होता है, कर्तृविशेष, क्रिया-विशेष अनिर्दिष्ट रहते हैं। 'गामभ्याज शुक्लां देवदत्त' ऐसा कहने से सभी विशेषरूपेण निर्दिष्ट हो जाते हैं—गो ही कर्म (गो शब्दवाच्य ही कर्म), देवदत्त पदवाच्य ही कर्ता, अभ्याज (हाँको) पदवाच्य ही क्रिया। इस भाष्य का यह तात्पर्य है कि जब अकेले कारक विभक्त्यन्त नाम-शब्द का प्रयोग होता है, तो सभी योग्य क्रियाओं का अध्याहार प्रसक्त होता है, तब क्रिया-विशेष-वाचकादि का प्रयोग विवक्षा के नियमन के लिए होता है। इससे हम यह जानते हैं कि जब हम क्रियामात्र-जन्य फल के आश्रय को कहने के लिए प्रातिपदिक से द्वितीया विभक्ति लाते हैं तब हम साध्वन्वाख्यान कर रहे हैं। इसमें कुछ भी दोष नहीं। अतः 'गो' शब्द से द्वितीया पहले आ जाती है, 'गाम्' रूप पहले सिद्ध हो जाता है, पीछे विशेष-क्रियावाचक 'पाठय' के साथ अन्वय होता है, अर्थात् इससे पहले कि प्रयोक्ता को गो शब्द के गौण अर्थ का बोध हो।

जैसे यह परिभाषा वैसे ही इस परिभाषा पर आधृत यह श्लोक—

अभिव्यक्तपदार्था ये प्रसिद्धा लोकविश्रुताः।
शास्त्रार्थस्तेषु कर्तव्यः शब्देषु न तदुक्तिषु॥

भी पदकार्य-विषयक ही है। श्लोकार्थ है—शास्त्र कार्य शब्दों को तब होता है जब उनका अर्थ अभिव्यक्त (=स्पष्ट) हो=जब वे अभिधा अर्थ में प्रयुक्त हों (जैसे गो शब्द जब वह पशु विशेष-वाची हो), प्रसिद्ध हों (जैसे रघुनाथ शब्द दाशरथि राम के नाम-रूप से प्रसिद्ध है) और इस रूप में लोक में प्रसिद्ध (विदित) हों, न कि जब वे केवल संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हुए हों।

इस परिभाषा की प्रवृत्ति पदकार्य के विषय में ही होती है—यह **सर्वादीनि सर्वनामानि** (१।१।२७) सूत्र पर **'संज्ञोपसर्जनप्रतिषेधः'** इस वार्तिक से

संज्ञाभूत सर्वनामों की सर्वनामता का निषेध करने से और **पूर्वपरावर—** (१।१।३४) सूत्र में **असंज्ञायाम्** ऐसा पढ़ने से ध्वनित होती है। यदि प्रातिपदिक कार्य के विषय में भी यह परिभाषा लगती हो तो यह वचन व्यर्थ हो जाते हैं, परिभाषा से ही संज्ञाभूत सर्वनामो की सर्वनामता का निषेध हो जाता।

ओत्(१।१।१५)सूत्र पर पढ़े **अर्थाश्रय एतदेवं भवति शब्दाश्रये च वृद्ध्यात्वे** इस भाष्य का अर्थ है—लौकिक अर्थ को कहने की योग्यता वाले पद के विषय में ही यह न्याय (परिभाषा) लगता है। वृद्धि (जैसे गौः—यहाँ), तथा आत्व (जैसे गाम्—यहाँ) शब्दाश्रय हैं, प्रातिपदिक-रूप शब्द को हो रहे हैं जो अभी लौकिक (=लोकप्रसिद्ध) अर्थ को कहने की योग्यता से शून्य है। **गोतः** (७।१।९०) में विशिष्ट रूप 'गो' का उपादान होने से प्रकृत भाष्य का यही व्याख्यान युक्त है ॥१५॥

सीरदेवीय—

यत्नपूर्वक साधित अर्थ गौण होता है, श्रवण मात्र से प्रतीयमान (बुद्ध्युपस्थित) मुख्य। इन दो में से मुख्य को शास्त्रीय कार्य होता है। यथा **अग्नेर्ढक्** ४।२।३३) से मुख्य अग्नि शब्द से ढक् प्रत्यय होता है। **अग्निर्माणवकः**। यहाँ उपचरित गौण अग्नि शब्द (अग्नि की तरह तेजस्वी) से नहीं। इसी प्रकार **विभाषाऽञ्चेरदिक् स्त्रियाम्** (५।४।८)—यहां प्राची, अवाची दिक्-रूप मुख्य अर्थ में ख प्रत्यय का निषेध किया है, पर **'प्राचीना ब्राह्मणी'**—यहां दिगर्थ के उपसर्जनीभूत होने पर 'ख' का निषेध नहीं होता। कहीं-कहीं लक्ष्य के अनुरोध से गौण अर्थ में भी शास्त्रकार्य देखा जाता है यथा **शीतोष्णाभ्यां कारिणि** (५।२।७२)। यहां शीतकः उष्णकः में। शीतं मन्दं करोति प्रवर्तते शीतकोऽलसः। उष्णं सोत्साहं करोति प्रवर्तत उष्णकः=उद्युक्तः ॥१५॥

'अर्थवद् ग्रहणे' इस परिभाषा का अपवाद कहते हैं—

अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति। (१६)

अर्थ—जब अन्, इन्, अस्, मन्—तदन्त विधि से अन्नन्त आदि के बोधक होते हैं, तब अन्नन्त आदि वर्णसमुदायों में वर्तमान वे सार्थक भी हो सकते हैं और अनर्थक भी। यह परिभाषा **येन विधिस्तदन्तस्य** (१।१।७२) में साक्षात् भाष्य में वार्तिकरूप में पढ़ी है। **न मपूर्वोऽपत्येऽवर्मणः** (६।४।१७०) में 'अवर्मणः' यह प्रतिषेध भी एकदेश की अनुमति द्वारा इस परिभाषा का ज्ञापक है। अन्यथा वर्मन् शब्द के अन्भाग के अनर्थक होने से (सार्थक मन् प्रत्यय के एक-

देश अन् के अनर्थक होने से) इस परिभाषा के न होने पर अर्थवत् परिभाषा से 'न मपूर्वः' यह निषेध व्यर्थ हो जाता है। सार्थक अन् के न होने से निषेध की प्राप्ति ही नहीं थी। इस परिभाषा के होने से जैसे—**राज्ञा** (राजन्+टा) में **अल्लोपोऽनः** (६।४।१३४) की प्रवृत्ति होती है (यहां अन् तदन्त विधि से अन्नन्त का बोधक है), वैसे ही **साम्ना** (सामन्+टा) में, जहां कि अन् मन् का एकदेश होने से अनर्थक है। **दण्डी** (दण्डिन्—सु) में सार्थक इन् होने पर (**सौ च** (६।४।१३) से उपधादीर्घ होता है वैसे ही **वाग्मी** (वाग्मिन्—सु) में ग्मिन् प्रत्यय का एकदेश होने से अनर्थक इन् होने पर भी। तदन्तविधि से **इन्-हन्-पूषार्यम्णां शौ** (६।४।१२) सूत्र में इन् से इन्नन्त लिया जाता है। **सुपयाः** (शोभनं पयो यत्र देशे स सुपयाः) में अस् सार्थक है। **सुस्रोताः** (शोभनानि स्रोतांसि यत्र स देशः सुस्रोताः) में अस् अनर्थक है। अस् औणादिक प्रत्यय है। उसे 'त्' आगम हुआ है। यह न्याय है—**आगमसमभिव्याहारे आगमविशिष्टस्यैवार्थवत्त्वम्**, अर्थात् आगम के सहोच्चरित होने पर आगमविशिष्ट समुदाय ही अर्थवान् होता है। अतः 'तस्' अर्थवान् है और अकेला अस् प्रत्यय अनर्थक है। तो भी दोनों उदाहरणों में **अत्वसन्तस्य चाधातोः** (६।४।१४) से एकसमान उपधादीर्घ हुआ है। इसी प्रकार 'सुशर्मन्' से जैसे **मनः** (४।१।११) से ङीप् निषेध होता है, वैसे 'सुप्रथिमन्' से भी। पूर्वत्र मन् सार्थक है, उत्तरत्र अनर्थक है, कारण कि वह यहाँ इमनिच् प्रत्यय का एकदेश है।

कुछ लोगों का कहना है और हम उनसे सहमत हैं कि, **इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात्** (८।३।७८) में आचार्य ने जो 'अङ्गात्' ऐसा पढ़ा है वह 'परिवेविषीध्वम्' (परिपूर्वक विष्लृ व्याप्तौ—विधिलिङ्—सीयुट् ध्वम्) में ध् को ढत्व वारण के लिये किया है। इणन्त अङ्ग से षीध्वम् नहीं, अतः ध् को ढ् नहीं होता। वह ज्ञापक है कि अर्थवत् परिभाषा अनित्य है और उसकी अनित्यता इस परिभाषा का मूल है। यदि अर्थवत् परिभाषा नित्य होती तो '**परिवेविषीध्वम्**' में षीध्वम् के अनर्थक होने से (षीध्वम् में ष् धातु का है और ईध्वम् प्रत्यय है) ही ध को ढ् न हो सकता, अङ्ग ग्रहण व्यर्थ होता। **च्योषीढ्वम्**—आदि में 'षीध्वम्' सार्थक है, क्योंकि यहां षीध्वम् प्रत्ययमात्र है।

दूसरे लोग (८।३।७८) में **अङ्गात्** के ग्रहण को अर्थवत् परिभाषा की अनित्यता में ज्ञापक नहीं मानते। उनका कहना है कि इस अङ्गात्-ग्रहण का प्रयोजन है और सति प्रयोजने ज्ञापकं न भवति। **विभाषेटः** (८।३।७९) में इषीध्वम् का अनुवृत्तिलभ्य, एकदेश षीध्वम् अनर्थक ही हो सकता है। ऐसे ही अन-

र्थक षीध्वम् का (८।३।७८) में ग्रहण है इस भ्रान्ति के वारण के लिये अङ्ग से परे षीध्वम् के 'ष्' को ढ् हो, ऐसा कहा है। अङ्ग से प्रत्यय-रूप षीध्वम् सार्थक ही होगा। अतः अर्थवत् परिभाषा के नित्य होने से साम्ना आदि की सिद्धि के लिये इस (१६) परिभाषा को अवश्य मानना होगा।

कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि परिभाषा (१४) से 'षीध्वम्' की अनुवृत्ति **विभाषेटः** (८।३।७६) में नहीं लायेंगे, वहाँ के 'इषीध्वम्' के लिये 'षीध्वम्' अनर्थक रहेगा। ऐसी अवस्था में (८।३।७८) में अङ्गात्-ग्रहण का जो प्रयोजन परे (दूसरे लोग) मानते हैं, वह नहीं होगा, तो अङ्गात्—ग्रहण ज्ञापक ही होगा। यह विचार सदोष है, कारण कि परिभाषा (१७) से अन्वितार्थक पदों की अनुवृत्ति अथवा निवृत्ति एकसाथ होती है। लुङ्, लिट् के साथ द्वन्द्व समास से निर्दिष्ट 'षीध्वम्' की निवृत्ति हो जाय, शेष लुङ् लिट् की ही अनुवृत्ति रहे यह नहीं हो सकता ॥१६॥

सीरदेवीय—

इस परिभाषा की मूलभूत अर्थवत्परिभाषा की अनित्यता में यह ज्ञापक कहते हैं—**अप्तृन्तृच्** (६।४।११) सूत्र में तृन्तृच् इन दो प्रत्ययों को जुदा-जुदा पढ़ना (**भेदेनोपादानम्**) अर्थवत्-परिभाषा की अनित्यता का ज्ञापक है। इन प्रत्ययों का भेदेनोपादन **अर्वणस्त्रसावनञः** (६।४।१२७) सूत्र में पढ़े हुए 'तृ' आदेश का ग्रहण न हो इसलिये किया है। यह 'तृ' अनर्थक है, प्रत्यय तृन् तृच् सार्थक हैं। यदि अर्थवत् परिभाषा नित्य होती तो अर्वन् के अन्तादेश 'तृ' का परित्याग अपने आप सिद्ध होता, उसके लिये तृन् तृच् का भेदेनोपादान अनर्थक होता। किया है अतः अनित्यता का ज्ञापक है। यदि कहो अनर्थक 'तृ' ग्रहण होने पर भी कुछ क्षति नहीं। **अर्वन्तौ**। **अर्वन्तः**—यहां उपधा—दीर्घ हो जायगा—यह शङ्का व्यर्थ है। कारण कि नुम् के नित्य होने से उपधा विहत हो जायगी। (नकार उपधा हो जायगा), तो दीर्घ होगा ही नहीं। **वा षपूर्वस्य निगमे** (६।४।६)—इस सूत्र से पूर्व-ग्रहण की अनुवृत्ति होने से नुम् से पूर्व उपधा-दीर्घत्व होगा। ऐसा अवश्य मानना होगा, अन्यथा **बह्वाम्पि तडागानि**, यहां भी नुम् करने पर उपधा-दीर्घ न हो सकेगा ॥१६॥

यहां यह शङ्का होती है कि **लिङ्सिचावात्मनेपदेषु** (१।२।११) से 'उश्च' सूत्र में अनन्तर होने से (अव्यवहितोत्तर उच्चारित होने से) 'आत्मनेपदेषु' की ही अनुवृत्ति हो और लिङ् सिच् निवृत्त हो जायें। इसका उत्तर पढ़ते हैं—

एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः। (१७)

अर्थ—वा शब्द एवार्थक है। **वा स्याद्विकल्पोपमयोरेवार्थेऽपि समुच्चये**—ऐसा कोष है। योग=सम्बन्ध। इसका यहाँ 'सूत्र' अर्थ नहीं। परस्पर सम्बद्धार्थक पदों की एकसाथ ही अनुवृत्ति होती है और एकसाथ ही निवृत्ति। ऐसे पद या तो सबके सब अनुवृत्त होते हैं, या सबके सब निवृत्त हो जाते हैं। यद्यपि परस्पर सम्बद्धार्थता एक सूत्रनिर्दिष्टों की ही हो सकती है तो भी ऐसा व्याख्यान नहीं होता। यदि योग का अर्थ सूत्र हो तो परिभाषा का यह अनिष्टार्थ होगा—सूत्र में अन्वितार्थक अथवा अनन्वितार्थक सभी पद सूत्रान्तर में या तो अनुवृत्त होते हैं या निवृत्त हो जाते हैं।

यह परिभाषा लौकिक न्याय पर आधृत है। हम देखते हैं लोक में ऐसा प्रसिद्ध व्यवहार है कि एक कार्य के सम्पादन में नियुक्त किये हुए एकसाथ काम करते हैं और एकसाथ निवृत्त होते हैं। सीरदेव आदि इस परिभाषा में भी ज्ञापक मानते हैं। इस परिभाषा के अभाव में यदि **लिङ्सिचावात्मनेपदेषु** (१।२।११) सूत्र में एकदेश सिच् की अनुवृत्ति **हनः सिच्** (१।२।१४) में हो जाती, तो सिच् ग्रहण व्यर्थ होता। परिभाषा के अस्तित्व में यह संभव नहीं है, अतः सिच् ग्रहण चरितार्थ होता है।

कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि यह परिभाषा (प्रकारान्तर से भी) ज्ञापित होती है। **नेड्वशि कृति** (७।२।८) में इट् पढ़ा है। **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (७।२।३५) में भी इट् पढ़ा है। जब अनुवृत्ति से (७।२।३५) में इट् लभ्य था तो दोबारा क्यों पढ़ा गया ? वह इसलिये कि इसमें 'न' की अनुवृत्ति न हो। इसका अर्थ यह है कि इट् के साथ प्रतिषेधार्थक 'न' की भी अनुवृत्ति प्राप्त थी, जिसे रोकने के लिए ऐसा किया गया है। दूसरे शब्दों में अन्वितार्थक पदों की अनुवृत्ति होती है यह परिभाषा ज्ञापित होती है। पर यह ठीक नहीं। **दीधीवेवीटाम्** (१।१।६) के भाष्य के साथ विरोध पड़ता है, वहां दीधीवेवीटाम् में इट्-ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं यह बताने के लिये भाष्यकार आर्धधातुकस्येड्वलादेः में पुनः इट्-ग्रहण का यह प्रयोजन बताते हैं कि इट् इट्-रूप ही रहे, इसे गुण-रूप विकार न हो। अतः आर्धधातुकस्य—सूत्र में इट् ग्रहण ज्ञापक नहीं। **सति प्रयोजने ज्ञापकं न भवति**। रही नञ् की निवृत्ति, वह कहीं-कहीं एकदेश की भी अनुवृत्ति होती है, इस वचन से हो जायगी।

वस्तुतः दीधीवेवीटाम् सूत्र का भाष्य एकदेशी (जिसका आंशिक ज्ञान है) की उक्ति है। आर्धधातुकस्येट् इस सूत्र में इट्-ग्रहण का **नेड्वशि कृति** सूत्र के

भाष्य में प्रत्याख्यान कर दिया है। दीधीवेवीटाम् में इट्-ग्रहण का प्रत्याख्यान नहीं किया। गुणाभाव-रूप-कल्पना-रूपी गुरुतर प्रयत्न से इसका प्रत्याख्यान करना अयुक्त है ॥१७॥

सीरदेवीय—

एकयोगनिर्दिष्ट पदों की प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति एकसाथ ही होती है, ऐसा नहीं कि एक की प्रवृत्ति हो और दूसरे की निवृत्ति। इसलिये **उश्च** (१।२।१२)—यहां **लिङ्सिचावात्मनेपदेषु** (१।२।११) इस सूत्र के सारे पदों की अनुवृत्ति होती है। तब यह अर्थ होता है—ऋवर्णान्त धातु से परे लिङ् और सिच् कित् होते हैं आत्मनेपद परे होने पर। यहां 'ऋ' से ऋवर्णान्त धातु का ग्रहण होता है, 'ऋ गतौ' इस धातु का नहीं। न्यासकार कहते हैं कि आचार्य की यह शैली है कि जहां ऋ धातु का ग्रहण चाहता है वहां इसका अवश्य श्तिप् से निर्देश करता है, जैसे **अर्तिपिपर्त्योश्च** (७।४।७७), अथवा **सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च** (३।१।५६) में। न्यासकार के इस वचन में 'सन्देहविच्छेदाय' ऐसा अधिक पढ़ना चाहिये। तब इस वचन का यह अर्थ होगा—जहां सन्देह होता है वहाँ सन्देह को दूर करने के लिये अवश्य श्तिप् से निर्देश करता है और जहां सन्देह नहीं होता वहां श्तिप् से निर्देश करता भी है और नहीं भी। इसीलिये **स्मिपूङ्रञ्ज्वशां सनि** (७।२।७५) में दृङ् धृङ् के ग्रहण से यह स्पष्ट है। अन्यथा स्मिपूङ्—सूत्र में ऋकारान्त धातु का ग्रहण होने से ही दृङ्, धृङ् का भी ग्रहण हो जाता, तो यहां इन्हें क्यों पढ़ते ॥१७॥

अब यहां यह शङ्का होती है कि एकयोगनिर्दिष्टानाम्—इस परिभाषा को यदि नित्य सर्वत्र स्वीकार किया जाय, तो यह कहना अयुक्त हो जायगा कि **अलुगुत्तरपदे** (६।३।१) के अलुक् पद की अनुवृत्ति आनङ् ऋतो द्वन्द्वे (६।३।२५) से पूर्व तक है और उत्तरपद की अनुवृत्ति अङ्गाधिकार (अङ्गस्य ६।४।१) से पूर्व तक है, कारण कि 'अलुक्' तथा 'उत्तरपदे' परस्पर अन्वितार्थक हैं। इसी प्रकार **दामहायनान्ताच्च** (४।१।२७) में पूर्वसूत्र (संख्याव्ययादेः (४।१।२६) से संख्यादेः' की ही अनुवृत्ति होती है, 'अव्ययादेः' की नहीं—यह कहना भी अयुक्त होगा। इसके समाधान के लिये यह परिभाषा पढ़ते हैं—

एकयोगनिर्दिष्टानामेकदेशोप्यनुवर्तते। (१८)

अर्थ—(कहीं-कहीं) एक अर्थ में सम्बद्ध पदों में से किसी एक भी अनुवृत्ति होती है। **एकस्मिन्योगः=एकयोगः। एकयोगेन निर्दिष्टानाम् उच्चरितानाम्। एकयोगेन इति प्रकृत्यादित्वात् तृतीया।** यह न्याय 'स्वरितत्व' से लभ्य है। लक्ष्या-

नुरोध से जहाँ समास अथवा असमास में सूत्र के एकदेश की सूत्रान्तर में अनुवृत्ति इष्ट है वहाँ आचार्य स्वरित चिह्न कर देते हैं, अर्थात् उसे स्वरित स्वर-सहित पढ़ते हैं। द्वन्द्व समास में एकार्थीभाव होने से परस्परान्वित दो पदों में से किसी एक की अनुवृत्ति होनी नहीं चाहिये, पर कहीं अपेक्षावश होती ही है यही इस परिभाषा का अर्थ है। असमास में भी एकदेश की अनुवृत्ति होती है। **औतोम्शसोः** (६।१।९३) इस सूत्र में **वा सुप्यापिशलेः** (६।१।९२।) से सुप् की अनुवृत्ति आती है, 'वा' की निवृत्ति हो गई है ऐसा भाष्य में स्पष्ट कहा है।

त्यदादीनामः (७।२।१०२) से त्यद् आदि के अन्त्य दकारादिवर्ण के स्थान में विभक्ति परे रहते अकार आदेश विधान किया है। **अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः** (१।१।६९) से 'अ' अपने आपका ग्राहक (बोधक) होता है, अपने सवर्णों का भी, अतः सानुनासिक 'अ' का भी। **स्थानेऽन्तरतमः** (१।१।५०) आदेश स्थानी के अन्तरतम होता है। अतः (७।२।१०२) की इदम् के विषय में प्रवृत्ति होने पर इमम् (इदम् पुं० द्वितीया एक०) की सिद्धि में 'इदम्' के अन्त्य 'म्' के स्थान में अनुनासिक 'अ' होने से 'इमम्' की उपधा अनुनासिक 'अ' होनी चाहिये। इसके उत्तर में परिभाषा पढ़ते हैं—

भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न (१९)

अर्थ—विधीयमान (प्रत्ययादि) अपने सवर्णों का ग्रहण नहीं कराता। **प्रतीयते विधीयते भाव्यते इति प्रत्ययः। न प्रत्ययः=अप्रत्ययः।** इस व्युत्पत्ति से प्रत्यय शब्द न केवल प्रत्यय का वाचक है, आदेश तथा आगम का भी है। 'अणुदित्सवर्णस्य' से जो सवर्णग्रहण प्राप्त होता है, जो जातिपक्ष में 'अ' आदि से अत्वाक्रान्त अकारमात्र का ग्रहण होने से सवर्ण ग्रहण प्राप्त होता है, और जो व्यक्तिपक्ष में **गुणा अभेदकाः** (उदात्तत्व आदि तथा अनुनासिकत्वादि धर्मों के भेद से वर्णभेद नहीं हो जाता) सवर्णग्रहण प्राप्त होता है वह सब अणुदित् सूत्र में 'अप्रत्यय' ग्रहण से रुक जाता है। यही इस परिभाषा का अर्थ है।

भाष्यकार **अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः** के भाष्य में लिखते हैं—**अप्रत्यय इति किमर्थम्। सनाशंसभिक्ष उः** (३।२।१६८)। **अ साम्प्रतिके** (४।३।९) (यहां जिज्ञासुः आदि में दीर्घ ऊ नहीं होता, तथा **मध्यं काष्ठम्** (मध्य) में दीर्घ आकार नहीं होता)। **अत्यल्पमिदमुच्यतेऽप्रत्यय इति।** (यह बहुत थोड़ा कहा है)। **अप्रत्ययादेशटित्किन्मित इति वक्तव्यम्।** (प्रत्यय, आदेश, तथा टित्, कित् मित् आगमों में भी सवर्णों का ग्रहण नहीं होता, ऐसा कहना

चाहिए)। **प्रत्यय उदाहृतः** (प्रत्यय का उदाहरण दिया जा चुका हैं)। **आदेशे-इदम इश्** (५।३।३)। इतः। इह। टिति—लविता। लवितुम्। किति—बभूव। मिति—हे अनड्वन्। **टितः परिहारः।** (टित् आगम के ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं) **आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न टिता सवर्णानां ग्रहणं भवतीति यदयं ग्रहोऽलिटि दीर्घत्वं शास्ति** (७।२।३७)।...(**अथवा**) **यत्तर्हि वृतो वा** (७।२।३८) **इति विभाषां शास्ति** (ऋकारान्त, वङ्वृञ् से इट् को वैकल्पिक दीर्घ विधान करने से इ (ट्) सवर्णों का ग्राहक नहीं होता, यह ज्ञापित होता है)। **सर्वेषामेष परिहारो भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं नेत्येवं न भविष्यति।** (प्रत्यय, कित्, मित् आगमों के सवर्णों को न ग्रहण कराने में एक ही परिहार है—भाव्यमानेन इत्यादि)। **प्रत्यये भूयान्परिहारः।** (प्रत्यय के विषय में तो और भी परिहार बताया जा सकता है)। **अनभिधानात्प्रत्ययः सवर्णान्न गृह्णाति। यान्हि प्रत्ययः सवर्णान्गृह्णीयान्न तैरर्थस्याभिधानं स्यात्। अनभिधानान्न भविष्यति** (प्रत्ययरूप वर्ण जिस रूप में पढ़ा है उसी रूप में अर्थाभिधायक है, वह सवर्ण का ग्राहक नहीं हो सकता, कारण कि सावर्ण्य से गृहीत 'ऊ' दीर्घ प्रत्ययार्थ को नहीं कहेगा। जिज्ञासु आदि प्रयोगों में ह्रस्व 'उ' ही ताच्छीलिक कर्ता को कहता है, दीर्घ नहीं, प्रयोग न होने से।...इस प्रकार 'अप्रत्ययः' निषेध के बिना ही इस निषेध से जो साध्य है उसके सिद्ध हो जाने पर भी आचार्य पाणिनि जो सूत्र में 'अप्रत्ययः' ग्रहण करते हैं उससे यही ज्ञापित करना चाहते हैं—भवत्येषा परिभाषा भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं नेति।

इस परिभाषा की सत्ता में एक और भी ज्ञापक है—**ज्यादाद् ईयसः** (६।४।१६०) सूत्र में **ज्याद ईयसः** ऐसा न्यास करने से भी इष्टसिद्धि हो जाती। यदि यह परिभाषा न होती तो आत् ग्रहण व्यर्थ होता। कारण कि ह्रस्व 'अ' भी सवर्ण-ग्राहक होता और अन्तरतम होने से दीर्घ ई के स्थान में हो जाता। परिभाषा के ज्ञापित होने पर 'आत्' ग्रहण चरितार्थ होता है।

चोः कुः (८।२।३०) इत्यादि में जो क् आदि आदेश विधान किये हैं वे अपने सवर्णों के ग्राहक होते ही हैं। उनमें 'उ' अनुबन्ध इसीलिये लगाया गया है। यदि क् आदि के ही ग्राहक होते, तो 'उ' अनुबन्ध व्यर्थ होता। इसीलिये अर्वाचीन वैयाकरण इस परिभाषा को **भाव्यमानोऽण् सवर्णान् न गृह्णाति** इस रूप में पढ़ते हैं। क् आदि के अण् न होने से सवर्ण ग्रहण नहीं होगा॥१९॥

यदि ऐसी परिभाषा है तो **अदसोऽसेर्दादु दो मः** (८।२।८०) में ह्रस्व 'उ' को ह्रस्व 'उ' का ही बोधक होना चाहिये। अतः 'अमू' आदि की सिद्धि में

'ग्रों' ग्रादि के स्थान में दीर्घ ऊ नहीं होना चाहिये। इस शङ्का का उत्तर पढ़ते हैं—

भाव्यमानोप्युकारः सवर्णान् गृह्णाति। (२०)

ग्रर्थ—उकार विधीयमान होता हुग्रा भी ग्रपने सवर्णों का ग्राहक होता है। **दिव उत्** (६।१।१३१) में तथा **ऋत उत्** (६।१।१११) में भाव्यमान (विधीयमान) उ को जो तपर किया है इससे ज्ञापित होता है कि 'भाव्यमानोप्युकारः' ऐसी परिभाषा है। यदि यह परिभाषा न होती तो तपरकरण व्यर्थ था, पूर्व परिभाषा से सवर्ण-ग्रहण न होने से दीर्घ ऊ का विधान न हो सकता। इस परिभाषा के होने पर तपरकरण चरितार्थ हो जाता है, यह प्राप्त सवर्णदीर्घ को रोकता है।

ग्रनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति (६।४।१५) से **च्छ्वोः शूडनुनासिके च** (६।४।१९) में क्ङिति की ग्रनुवृत्ति ग्राती है यह एक पक्ष है, नहीं ग्राती है यह दूसरा। यदि नहीं ग्राती तो तृतीया द्वि०, बहु० ग्रादि में दिव् को ऊठ् हो नहीं सकता, ह्रस्व उ का विधान (६।१।१३१) से किया जाता है। जिसके लिये 'उ' को तपर करना ग्रावश्यक है। ग्रतः यह तपरकरण परिभाषा का ज्ञापक नहीं हो सकता। ग्रतः नागेशभट्ट 'ऋत उत्' यह दूसरा ज्ञापक पढ़ते हैं।

तित्स्वरितम्—(६।१।१८५) के भाष्य में भाष्यकार ने भाव्यमान परिभाषा की प्रवृत्ति से 'ग्रमूभ्याम्' में दीर्घ न हो सकेगा इस शङ्का का 'भाव्यमानोप्युकारः' इस परिभाषा से समाधान किया है ग्रौर दिव उत् सूत्र में 'उ' को तपर करना इसका ज्ञापक माना है ॥२९॥

गवे हितम्। यहाँ प्रत्यय का लुक् होने पर **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** (१।१।६२) से प्रत्यय का लुक् होने पर भी प्रत्यय-निमित्तक कार्य हो जाना चाहिये। गो ङे हित सु में 'ए' का लुक् होने पर भी 'ए' को मानकर 'गो' के 'ग्रो' को ग्रव् ग्रादेश हो जाना चाहिये। इस शङ्का के समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम्। (२१)

ग्रर्थ—**वर्ण ग्राश्रयो यस्य स विधिः** (कार्यम्) **वर्णाश्रयः** (बहुव्रीहिः)। वर्णनिमित्तक कार्य (प्रत्यय के वर्ण को निमित्त मानकर जो कार्य हुग्रा है) के विषय में प्रत्यय के लोप होने पर प्रत्ययलक्षण कार्य नहीं होता। लक्षण= निमित्त। यहां कोई कहते हैं कि गवे हितं गोहितम् में ग्रवादेशाभाव की शङ्का

की है वह शङ्का ही न उठनी चाहिये, कारण कि यहाँ **सुपो धातुप्रातिपदिकयोः** (२।४।७१) से सुप् प्रत्यय ङे का लुक् होता है और प्रत्यय का लुक् होने पर **न लुमताङ्गस्य** (१।१।६३) से प्रत्यय लक्षण कार्य का निषेध हो जाता है। तो 'ओ' को 'अव्' (अवादेश) होने का प्रसङ्ग ही नहीं। जो पहले ही अङ्ग-संज्ञक है, उसे कोई और कार्य विधातव्य हो तो न लुमताङ्गस्य सूत्र से प्रत्यय-लक्षण कार्य का निषेध होता है। अङ्ग-संज्ञा अङ्ग-कार्य नहीं। लुप्त प्रत्यय परे होने पर जो पूर्वावस्थित प्रत्यय का प्रकृतिभूत अङ्गसंज्ञक शब्द उसको उद्देश्य करके जो कार्य प्राप्त होता है वह लुमान् शब्द से प्रत्यय के लुप्त होने पर नहीं होता। प्रकृत में गो के 'ओ' को जो अव् आदेश प्राप्त होता है वह अङ्गोद्देश्यक कार्य नहीं। अङ्ग के अवयव 'ओ' को सांहितिक कार्य है।

जहाँ वर्ण मानकर (चाहे वह प्रत्यय रूप हो) कार्य प्राप्त होता है, प्रत्यय मानकर नहीं, वहाँ वर्ण की प्रधानता होने से इस परिभाषा की प्रवृति होती है। **प्रत्ययलोपे** (१।१।६२) सूत्र में (१।१।५६) से 'स्थानिवत्' की अनुवृत्ति से प्रत्यय लक्षण कार्य प्रत्यय-लोप होने पर भी हो जाता, तो 'प्रत्यय लक्षण' ऐसा क्यों पढ़ा है। इसलिये पढ़ा है कि जहां प्रत्यय प्रधान हो, अर्थात् प्रत्यय दूसरे का विशेषण न हो, वहीं इस सूत्र की प्रवृत्ति हो। वर्ण-प्राधान्य का तात्पर्य है वर्ण का दूसरे का विशेषण न होना और प्रत्यय के प्रति विशेष्य होना। इसी कारण 'गोहितम्' में 'ओ' को अव् आदेश नहीं हुआ है। अच्-प्रत्याहारान्तर्गत प्रत्यय ङे का 'ए' वर्ण जो दूसरे किसी का विशेषण नहीं, सांहितिक अवादेश का निमित्त है, ङे प्रत्यय-रूप निमित्त नहीं। **चित्रायां नक्षत्रे जाता चित्रा।** यहां **'तत्र जातः'** अर्थ में (४।३।१६) से पहले अण् होता है। (४।३।३४) पर पढ़े हुए **चित्रारेवतीरोहिणीभ्यः स्त्रियामुपसंख्यानम्** इस वार्तिक से अण् का लुक् हो जाता है। लुक् होने पर **लुक् तद्धितलुकि** (१।२।४६) से स्त्रीप्रत्यय टाप् का भी लुक् हो जाता है। अब अण् प्रत्यय के लोप होने पर तन्निमित्तक कार्य ङीप् प्राप्त होता है। पर इस कार्य में 'अ' का अण् के विशेष्य के रूप में ग्रहण होता है। **टिड्ढाणञ्** (४।१।१५) सूत्र अदन्त प्रातिपदिक से ङीप् विधान करता है जब अन्त्य 'अ' प्रत्यय का हो। यहां स्पष्ट ही 'अ' वर्ण को आश्रित करके विधि है जो 'अ' अण् प्रत्यय रूप होता है। 'अ' प्रत्यय के प्रति विशेषण नहीं, विशेष्य है। अतः वर्ण प्राधान्य होने से परिभाषा की प्रवृत्ति होने से प्रत्ययलक्षण के अभाव में ङीप् नहीं होता।

यह परिभाषा अल्विधि में स्थानिवद्भाव की अप्राप्ति होने से प्रत्यय-लक्षण

से जिस कार्य की प्राप्ति होती है उसकी निषेधिका है।

भाष्यकार के मत में **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** (१।१।६२) नियम सूत्र है, जिसका अर्थ है कि प्रत्ययलोप होने पर तन्निमित्तक कार्य तभी होते हैं जब वे कार्य प्रत्यय पर ही निर्भर हों। प्रत्यय के वर्ण व वर्णों पर निर्भर कार्य प्रत्यय के लोप होने पर नहीं हो सकते। इस पक्ष में प्रकृत परिभाषा की आवश्यकता नहीं। वार्तिककार प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् सूत्र को विधिसूत्र मानते हैं। अल्विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध होने से प्रत्यय-लोप होने पर वर्णाश्रय कार्य रुक जाता, यदि यह सूत्र न पढ़ा जाता, जैसे '**अतृणेट्**' में इम् न हो सकता। **तृणह इम्** (७।३।९२) में हलादि पित् परे होने पर यह विधि कही है। वर्ण का यहाँ विशेषण रूप से ग्रहण होने से 'वर्णाश्रये' यह परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती ॥२१॥

सीरदेवीय—

प्रत्यय परे रहते दो प्रकार का कार्य होता है—एक प्रत्यय-निमित्तक, दूसरा अप्रत्यय-निमित्तक (जिसमें प्रत्यय निमित्त नहीं)। प्रत्ययलोपे प्रत्यय-लक्षणम् सूत्र में द्वितीय प्रत्यय ग्रहण इसलिये किया है कि प्रत्यय का लोप होने पर प्रत्यय-निमित्तक ही कार्य हो दूसरा नहीं, अतः गोहितम् इत्यादि में वर्णाश्रय कार्य **एचोऽयवायावः** (६।१।७८) से एच् (ओ) के स्थान में अव् आदेश नहीं होता। **अतृणेट्** में इम् आगम तो अङ्गाधिकारीय होने से प्रत्यय का आक्षेप होने से प्रत्ययनिमित्तक है, अतः प्रत्ययलोप होने पर भी होगा। **श्रिये इदम्=श्र्यर्थम्**—यहाँ अजादि प्रत्यय परे रहते इयङ् हो जाना चाहिये—वह क्यों नहीं होता। 'न लुमताङ्गस्य' इस निषेध के कारण नहीं होता ॥२१॥

अतः कृकमिकंस—(८।३।४६) सूत्र से अकार से उत्तर वर्तमान अनव्यय-सम्बन्धी विसर्ग को 'स्' आदेश विधान किया है। सूत्र में 'कम्' धातु का ग्रहण किया है और कम्' से औणादिक 'स' प्रत्यय करके व्युत्पन्न हुए 'कंस' का भी। **अयस्कामः। अयस्कंसः।** 'कम्' के ग्रहण से ही 'कंस' परे रहते भी विसर्जनीय को 'स्' हो जाता, कंसग्रहण व्यर्थ है। इस शङ्का के समाधान के लिये परि-भाषा पढ़ते हैं—

उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि। (२२)

अर्थ—(१) उण् आदि प्रत्ययान्त उणादि (२) अथवा उणादि–प्रत्ययान्त रूप से कल्पित (संभावित) प्रातिपदिक अव्युत्पन्न हैं, व्युत्पत्तिनिमित्तक कार्याभाववान् हैं (उन्हें व्युत्पत्ति निमित्त कार्य नहीं होता) अथवा व्युत्पत्ति-रहित हैं।

अतः कृकमिकंस—सूत्र में कंसग्रहण ही इसका ज्ञापक है ऐसा कैयट आदि मानते हैं। कंस् धातु से 'कंस' व्युत्पन्न होता है, न कि 'कम्' से, ऐसा मानना (और इससे ज्ञापक को विघटित करना) ठीक नहीं, कारण कि कंस् धातु से व्युत्पन्न 'कंस' के प्रसिद्ध अर्थ को नहीं कह सकता। **सर्पिषा, यजुषा** आदि में प्रत्यय का स् न होने से षत्व कैसे हो गया? उणादयो बहुलम् (३।३।१) में बहुलग्रहण से ही। इस परिभाषा का **प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः** (१।१।६१) के भाष्य में आश्रयण किया गया है।

ण्वुल्तृचौ (३।१।१३३) के भाष्य में उणादियों को व्युत्पन्न भी माना है। वहाँ हम देखते हैं कि उणादि प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों को भी व्युत्पत्त्याश्रित कार्य होता है। ण्वुल्तृचौ में तृच् में जो चकार अनुबन्ध लगाया है इसका प्रयोजन मातृ (माता) के 'तृ' से इसे विभिन्न करना है। यदि आचार्य पाणिनि ण्वुल्तृचौ में तथा **अप्तृन्तृच्**—(६।४।११) में उसी कारण ग्रहण किये गये तृच् के स्थान में 'तृ' पढ़ते तो कर्तृ से कर्तारौ के समान मातृ से 'मातारौ' यह अनिष्ट रूप निष्पन्न होता। इससे ज्ञापित होता है कि 'मातृ' जो औणादिक प्रत्यय से सिद्ध होता है पाणिनि उसे व्युत्पन्न मानते हैं। अन्यथा अप्तृन्तृच् की प्रवृत्ति यहाँ न हो सकती, और तृच् में च् ग्रहण व्यर्थ होता। पर नागेश के अनुसार यह सिद्धान्त नहीं है। शाकटायनादि की रीति से ऐसा कहा गया है। पाणिनि का 'उणादयोऽव्युत्पन्नान्येव' यह अभीष्ट मत है इसे शब्देन्दुशेखर में उसने दिखाया है। **आयनेयीनीयियः**—(७।१।२) के भाष्य में भी यह स्पष्ट है॥२२॥

सीरदेवीय—

कॄगॄकुटिविभिदिभ्यश्च इः कित्—इस औणादिकसूत्र से इ प्रत्ययान्त किरि, गिरि शब्दों से ओस् प्रत्यय परे होने पर यण् आदेश होने पर किर् योस्, गिर् योस् में किर्, गिर् के रेफान्त धातु न होने से **हलि च** (८।२।७७) से दीर्घ नहीं होता। यह उणादिप्रत्ययान्त की अव्युत्पन्नता में ज्ञापक है ऐसा कुछ लोग मानते हैं, सो ठीक नहीं। व्युत्पन्नता मानने पर भी यहां दीर्घत्व का प्रसङ्ग नहीं। **अचः परस्मिन्पूर्वविधौ** (१।१।५७) से स्थानिवद्भाव नहीं होता।

ऐसा कहना भी ठीक नहीं। **स्वर-दीर्घ-यलोपेषु लोपाजादेश एव न स्थानिवत्**—ऐसा नियम है। यहां 'इ' के स्थान में यण् लोप-रूप अजादेश (=अच् के स्थान में यण् लोप-रूप अजादेश नहीं है। अतः स्थानिवद्भाव निर्बाध होगा। अतः **जिव्रि**—यह अव्युत्पन्नता का निर्दोष उदाहरण है। जॄ धातु से **जीर्यतेः क्रिन् रश्च वः** इस औणादिकसूत्र से क्रिन् (रि) प्रत्यय होने पर धातु के ॠ को इत्व, रपरत्व होने पर और इस रेफ को वकार आदेश होने पर वकारान्त धातु की उपधा को 'हलि च' से दीर्घ नहीं होता। प्रकृति-प्रत्यय-विभाग द्वारा व्युत्पत्ति मानने पर तो दीर्घत्व दुर्वार होता ॥२२॥

अब यहां यह शङ्का होती है कि **देवदत्तश्चिकीर्षति** (देवदत्त करना चाहता है) में **सनाद्यन्ता धातवः** (३।१।३२) से 'देवदत्तश्चिकीर्ष' इस समुदाय की धातु संज्ञा हो जानी चाहिये और **सुपो धातुप्रातिपदिकयोः** (२।४।७१) से देवदत्त के सुप् (स् प्रत्यय) का लुक् हो जाना चाहिये, कारण कि इस समुदाय के अन्त में सन् (प्रत्यय) है। इस शङ्का के समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्। (२३)

अर्थ—सूत्र में प्रत्यय-ग्रहण होने पर वह प्रत्यय ऐसे शब्द-रूप का ग्राहक होता है जिसका आदि वह होता है जिससे प्रत्यय विधान किया गया है और जिसका अन्त वह प्रत्यय स्वयम् होता है।

इस परिभाषा की सिद्धि इस प्रकार की जाती है—**यस्मात् प्रत्ययविधिः**—(१।४।१३) इस सूत्र का योगविभाग किया जाता हैं। यस्मात् प्रत्यय-विधिस्तदादि प्रत्यये इतना जुदा सूत्र बन जाता है। इसमें **'गृह्यमाणे उपतिष्ठते'** इतना और अध्याहृत किया जाता है। ऐसा करने से प्रत्यय-ग्रहण होने पर जिससे प्रत्यय विधि है, वह है आदि जिसका इस अर्थ का लाभ हो जाता है। परिभाषा में जो 'तदन्तस्य' पढ़ा है, उसके अर्थ का **येन विधिस्तदन्तस्य** (१।१।७२) सूत्र से लाभ हो जाता है। इस तरह यह परिभाषा सिद्ध होती है। तदन्त (बहुव्रीहि) का अन्य पदार्थ 'शब्दरूप' ही विशेष्य है, विशेष्यान्तर न होने से।

जो यह कहा जाता है कि प्रत्यय ऐसे समुदाय का आक्षेपक (अनुमापक) होता है जिसमें प्रत्यय की प्रकृति अवयव होती है, वह आक्षेपक होने से उस समुदाय का विशेषण बनता है और विशेषण से तदन्तविधि हो जाने से प्रकृत परिभाषा व्यर्थ है, वह ठीक नहीं है। प्रत्यय ऐसे समुदाय का आक्षेपक हो

यह नियम नहीं। प्रत्यय का ऐसे समुदाय के साथ व्यभिचार भी देखा जाता है, जिससे आक्षेप असंभव हो जाता है। **इयान्**।[1] यह प्रत्ययमात्र ही अवशिष्ट रहा है, प्रकृति का सर्वापहारी लोप हो गया है। यहां आक्षेप संभव ही नहीं। इसी प्रकार अस्यापत्यम् 'इः', ('अ'=विष्णु का अपत्य), यहां प्रत्ययमात्र अवशिष्ट है।

जहाँ प्रत्यय विधि (कार्य) का निमित्त होता है वहां परिभाषा का 'तदादेः' यही अंश लागू होता है, अर्थात् प्रत्ययमात्र लिया जाता है प्रत्ययान्त नहीं और कार्य केवल उसे होता है, जिससे प्रत्यय आया है। कार्यी यहां षष्ठी-निर्दिष्ट होता है।[2] और जब पञ्चम्यन्त से परे निर्दिष्ट हुआ प्रत्यय कार्य का कथंचित् निमित्त होता है, वहां भी तदादि अंश की ही उपस्थिति होती है, पर यहां जिससे प्रत्यय आता है उसका पञ्चमी से निर्देश होता है। यहां प्रत्यय मात्र ही लिया जाता है, प्रत्ययान्त नहीं। पञ्चम्यन्त उसका विशेषण होता है जिससे प्रत्यय आता है। **'अतो भिस ऐस्** (७।१।९) इत्यादि में अकारान्त अङ्ग से परे भिसन्त दुर्लभ है, अतः तदादि अंशमात्र की उपस्थिति होती है। **एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः** (६।१।६९) जिसमें सम्बुद्धि (सम्बोधन एक० विभक्ति) पञ्चम्यन्त से परे है (पञ्चम्यन्त से विशिष्ट है) का यह अर्थ है—सम्बुद्धि प्रत्यय के हल् का लोप हो जाता है, जब वह सम्बुद्धि प्रत्यय एङन्त से परे हो। पर जहां प्रत्यय स्वयम् कार्यी है। जिसे विधिशास्त्र में कार्यविधान किया है, वहां समुदित (समग्र) परिभाषा लागू होती है। **कृत्तद्धितसमासाश्च** (१।१।४६), **बहुगणवतुडति संख्या** (१।१।२३), **डतरडतमौ** (सर्वादिगण में पढ़े हुए), इत्यादि में उभयांश की उपस्थिति होती है। कृत् प्रत्यय से तदादि तदन्त कारक आदि लिये जाते हैं। यहां कृत् प्रत्यय को प्रातिपदिक-संज्ञा-रूप कार्यविधान किया है। इसी प्रकार 'वतु' से **यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्** (५।२।२३) से तदादि तदन्त यावत् तावत् आदि का बोध होता है। **बहुगणवतुडति संख्या** (१।१।२३) से वतु की संख्या संज्ञा विधान की है। डतर, डतम, से 'किम्' आदि से परे विहित होने से तदादि तदन्त कतर, कतम आदि का वोध होता है। यहाँ सर्वनाम संज्ञा-रूप कार्य डतर डतम प्रत्ययों को विधान किया है।

---

१. इदम्+वतुप्। इदम्+घत् (५।२।४०)। इदम्+इयत् (७।१।२)। ई+इयत् (६।३।९०)। इयत् (६।४।१४८)।

२. जैसे केऽणः (७।४।१३) तथा लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः (६।४।७१)।

इस समग्र परिभाषा के स्वीकार के विषय में भाष्यस्थ एक और प्रमाण भी है—**यञञोश्च** (४।१।१०१) से यञन्त से फक् प्रत्यय होकर परमगार्ग्यस्यापत्यं **'परमगार्ग्यायणः'** ऐसा रूप सिद्ध होता है। यहां प्रत्यय (यञन्त) गार्ग्य से हुआ है, 'परमगार्ग्य' से नहीं। यह क्योंकर हुआ? इसी परिभाषा से। कारण कि (४।१।१०१) के यञ् से गर्ग+यञ् ही तदादि तदन्त हो सकता है, उसी का ग्रहण होगा। यद्यपि परमगार्ग्य+फक् में फक् के अर्थ का सीधा अन्वय निष्कृष्ट (पृथग्भूत) केवल गार्ग्य अर्थ के साथ नहीं प्रत्युत समुदित 'परमगार्ग्य' के साथ है। तो भी निःसन्देह तद्धित प्रत्यय फक् निष्कृष्ट गार्ग्य से ही किया गया है।

यह परिभाषा वहीं लागू होती है जहां उपात्त शब्दरूप प्रत्यय ही हो, अप्रत्यय न हो। जो शब्दरूप प्रत्यय भी हो और प्रत्ययेतर भी हो उसके उपादान में इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती। **उगितश्च** (४।१।६)। **उगित्। उक् इत् यस्य।** अब उगित् शब्दरूप वर्ण भी हो सकता है, प्रत्यय भी और प्रातिपदिक भी हो सकता है। अतः **निर्गोमान्, निर्यवमान्** (**गोमतो निष्क्रान्तः, यवमतो निष्क्रान्तः**)। यहाँ परिभाषा की प्रवृत्ति न होने से जैसे गोमत् उगिदन्त है वैसे ही निर्गोमत् भी। अतः निर्गोमत् से भी ङीप् होता है। **निर्गोमती**। यद्यपि उगित् प्रत्यय मतुप् 'गो' से विधान किया है, 'निर्गो' से नहीं ॥२३॥

सीरदेवीय—

इस परिभाषा का प्रयोजन यह है कि धातु प्रत्यय प्रातिपदिक तद्धित आदि संज्ञाएं तदादि तदन्त शब्द स्वरूप की होती हैं। **सनाद्यन्ता धातवः** (३।१।३२), जिससे सन् विहित हुआ है तदादि तथा तदन्त (वह सन् प्रत्यय है अन्त जिसका उसकी) धातु संज्ञा होती है। चिकीर्षति। कृ+सन् की धातु संज्ञा है। प्राचिकीर्षत्। **प्रकृ+सन्** इस सङ्घात की नहीं, अतः लावस्था में ही अट् आने के पश्चात् प्र उपसर्ग योग होता है। **कृत्तद्धित-समासाश्च** (१।२।४६)। कृत्तद्धितान्त प्रातिपदिक संज्ञा तदादि तदन्त की ही होती है—**कारको गार्ग्यः**। संघात की नहीं—**विप्रः कारको विप्रो गार्ग्यः**। **सुप आत्मनः क्यच्** (३।१।८)। **पुत्रमात्मन इच्छति पुत्रीयति**। संघात से क्यच् न होगा—**महान्तं पुत्रमिच्छति**। तद्धित-विधि में **यञिञोश्च** (४।१।१०१) में यञ्, इञ् प्रत्ययों का ग्रहण है। जिससे ये विहित हैं तदादि से ही फक् होता है—**गार्ग्यायणः**। संघात से नहीं होता —**विप्रो गार्ग्यायणः**। **सुप्सुपा** (२।१।४) समास संघात का नहीं होता—**ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः** ॥२३॥

येन विधिः सूत्र के भाष्य में इस परिभाषा के 'तदन्तस्य' अंश का अपवाद पढ़ा है—

प्रत्ययग्रहणे चापञ्चम्याः । (२४)

अर्थ—यहां पञ्चम्यन्त से परे कार्यान्तर विधान के लिये (न कि अपने ही विधान के लिये) प्रत्यय का ग्रहण किया है वहां तदन्त विधि नहीं होती। अर्थात् तादृश प्रत्यय बोधक पद तदन्त का बोधक नहीं होता। भाष्य में इसे वार्तिक रूप में पढ़ा है—**प्रत्ययग्रहणं चापञ्चम्याः**, जिसका अर्थ है—पञ्चम्यन्त से परे जहां प्रत्यय कार्यान्तर विधान के लिये पढ़ा जाता है (जो स्वयम् पहले शास्त्रान्तर से विहित हो चुका है), उससे भिन्न स्थल में प्रत्यय ग्रहण तदन्त विधि का प्रयोजक होता है। **रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः** (८।२।४२)— यहां पञ्चम्यन्त 'रदाभ्याम्' से परे निष्ठा (प्रत्यय) पढ़ा है (जिसका यहाँ विधान नहीं, उसे कार्यान्तर विधान करने के लिये उसका अनुवाद है, अतः तदन्तविधि न होने से तदादि अंश के होने से दृषद् तॄ+ता (दृषद् तर् ता) में निष्ठा के त् को 'न्' होता है धातु के 'त्' को नहीं। और न हीं पूर्ववर्ती दृषद् के द् को। यद्यपि परिभाषा का 'तदन्तस्य' अंश यहां उपस्थित नहीं होता, 'तदादेः' अंश के उपस्थित होने से सूत्रार्थ होगा—निष्ठा प्रत्यय 'त' के 'त्' को 'न्' होता है जब यह उस शब्द-रूप से परे हो जिससे 'त' प्रत्यय विधान किया गया है, यदि वह शब्द-रूप रेफान्त हो अथवा दकारान्त हो (जैसे 'त' तॄ (=तीर् से परे आता है)। अतः **'दृषत्तीर्णा'** साधु रूप है, पर यदि 'तदन्तस्य' इस अंश की भी यहाँ उपस्थिति हो (और तदादेः अंश की भी, जिसकी अनुपस्थिति में कोई प्रमाण नहीं), तो दोनों अंशों से तदादि तदन्त 'तीर् त' इस एक शब्द-रूप का बोध होगा। इस अवस्था में 'दृपत्तीर्णा' निश्चय ही असाधु होगा। इस अवस्था में रदाभ्याम्—सूत्र का अर्थ होगा—र् द् से परे जो तदादि निष्ठान्त उसके तकार को 'न्' होता है और उससे (अर्थात् उस तदादि तदन्त यथा तीर्त से) पूर्व द् को भी। **आदेः परस्य** (१।१।५४) से तीर् त के आदि त् (जो धातु का तकार है) को नत्व हो जाएगा और तीर् त से पूर्व दृषद् के द् को भी, जिससे **'दृषन्नीर्ता'** यह अनिष्टरूप प्रसक्त होगा।

स्यतासी लृलुटो : (३।१।३३) में प्रत्यय के पञ्चम्यन्त से परे न होने से अथवा पञ्चम्यन्त से विशिष्ट न होने से 'लृ लुडन्त तदादि' ऐसा अर्थ होना चाहिये। नहीं। 'लृ लुट् परे होने पर' इस अर्थ में नियम से अवधि की आकाङ्क्षा होने से **धातोः** (३।१।२२) यह उपस्थित होता है और इसे ही अवधि

माना जाता है, अतः परिभाषा की प्रवृत्ति होने से तदन्त विधि नहीं होती।

हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् (६।१।६८) इस सूत्र के ङी, आप् अंश में यह परिभाषा नहीं लगती। ङी तथा आप् तदन्तविधि से ङ्यन्त तथा आबन्त के ग्राहक होते ही हैं (सु ति सि अंश में तो यह परिभाषा लगती है)। कारण कि यहां स्यतासी लृलुटोः की तरह परत्व विवक्षित न होने से 'किसी अवधि की आकाङ्क्षा नहीं होती अतः पञ्चम्यन्त प्रत्ययों (ङी, आप्) का विशेषण नहीं बनता। इसलिये तदन्तविधि का प्रतिषेध नहीं होता।

अंङ्ग-संज्ञा सूत्र **यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्** (१।४।१३) में भी प्रत्यय परे इष्ट अर्थ में अवधि की नियम से आकाङ्क्षा होने से तदादि का ही अवधित्वेन अन्वय होने से प्रत्यय पञ्चम्यन्त से परे अथवा पञ्चम्यन्त से विहित है, अतः प्रकृत परिभाषा की प्रवृत्ति होने से तदन्त विधि नहीं होती। और प्रत्यय से प्रत्ययमात्र का ही ग्रहण होता है, प्रत्ययान्त का नहीं। ऐसा होने से ही **उत्तमैकाभ्याम्** (५।४।९०) आदि निर्देश संगत होते हैं। प्रत्यय यदि प्रत्ययान्त का ग्राहक हो प्रत्ययान्त के परे होने पर पूर्व की अंग संज्ञा न होने से (७।३।१०२) से दीर्घ भी न हो सकेगा ॥२४॥

यदि यह स्थिति है कि प्रत्यय-ग्रहणे—परिभाषा का **'प्रत्ययग्रहणे चापञ्चम्याः'** यह परिभाषा ही संकोचक है, **घ-रूप-कल्प-चेलड्-ब्रुव-गोत्र-मत-हतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः** (६।३।४३) में पढ़े हुए रूपप् प्रत्ययान्त **ब्राह्मणिरूपा** आदि का ग्रहण होना चाहिये। **ब्राह्मणिरूपा** के साथ कुमारी का समानाधिकरण समास होने पर कुमारी को जो **तसिलादिष्वा कृत्वसुचः** (६।३।३५) से पुंवद्भाव प्राप्त होता है उसे बाधकर परविप्रतिषेध से (६।३।४३) से कुमारी के 'ई' को ह्रस्व हो जाना चाहिये। इस शङ्का के समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे न तदन्तग्रहणम्। (२५)

अर्थ—जब उत्तरपदाधिकार (जो ६।४।१ से प्रारम्भ होता है) में विधिवाक्य में प्रत्यय का ग्रहण होता है तब तदन्त विधि नहीं होती। आचार्य पाणिनि का **हृदयस्य हृल्लेख-यदण्-लासेषु**(६।३।५०) में अण् से पृथक् 'लेख' शब्द का ग्रहण ज्ञापक है। यदि यह परिभाषा न होती तो अण् प्रत्यय से ही सभी अणण्न्तों का ग्रहण हो जाता, अणन्त लेख का जुदा ग्रहण व्यर्थ होता। लेख के जुदा ग्रहण से यह ज्ञापित होता है कि अण् से अणन्त का ग्रहण नहीं होता, अतः लेख ग्रहण चरितार्थ हो जाता है। 'लेख' के घञन्त होने पर इसकी ज्ञापकता विघटित हो जाती है, पर 'लेख' यहां घञन्त नहीं, कारण कि **हृल्लेखः**

(हृदयं लिखतीति) के अर्थ की प्रतीति घञन्त लेख से नहीं होगी। भाष्य-प्रामाण्य से भी लेख अणन्त ही लिया जाता है।

उत्तरपदाधिकार में पढ़े हुए प्रत्ययमात्र के कारण यह निषेध नहीं होता, यदि ऐसा हो तो **घ-रूप-कल्प**—सूत्र (६।३।४३) में ही ङी-ग्रहण से ही तदन्त ग्रहण न होगा। इसी प्रकार **इको ह्रस्वो-ऽङ्यो गालवस्य** (६।३।६१), **ङ्यापोः संज्ञाच्छन्दसोर्बहुलम्** (६।३।६३), **खित्यनव्ययस्य** (६।३।६६) इत्यादि में भी तदन्तविधि का निषेध हो जाएगा। ज्ञापक सजातीयापेक्षक होता है। अण् प्रत्यय है, वह विध्यन्तर (कार्यान्तर) विधान के लिये है, उस के निमित्त से 'हृदय' को 'हृद्' आदेश होता है। ऐसे ही अन्यत्र भी जहाँ प्रत्यय निमित्त-रूप से इष्ट है और उपात्त है अर्थात् आनुपूर्वीविशेष-विशिष्ट रूप से पढ़ा है वहीं तदन्त विधि का निषेध होता है। ङ्यः, ङ्यापोः में ङी तथा आप् निमित्त नहीं, षष्ठी-निर्दिष्ट होने से (निमित्तवाची का निर्देश पञ्चमी अथवा सप्तमी से होता है)। 'खिति' में प्रत्यय का बहुव्रीहि से बोध होता है, साक्षात् आनुपूर्वी-विशिष्ट प्रत्यय का उपादान नहीं ॥२५॥

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि (२४) और (२५) परिभाषाओं से (२३) परिभाषा का विषय-संकोच होने पर भी **परमकारीषगन्धीपुत्रः** (उत्तम कारीषगन्ध्या का पुत्र) की तरह **अतिकारीषगन्ध्यापुत्रः** (कारीषगन्ध्या से जो बढ़ गई है उसका पुत्र) में भी **ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे** (६।१।१३) इस सूत्र से ष्यङ् को सम्प्रसारण (य् को इ) होना चाहिये। इसके समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जनेन। (२६)

अर्थ—**अनुपसर्जने स्त्रीप्रत्यये**—यह विषय-सप्तमी है। अनुपसर्जन विषय में जो स्त्रीप्रत्यय, तद्बोधक पद से घटित शास्त्र में तदादि अंश की उपस्थिति नहीं होती। जो स्त्रीप्रत्यय स्त्रीत्व को प्राधान्य से कहता है वहाँ तदादिनियम नहीं। वहाँ आवश्यक नहीं कि स्त्रीप्रत्यय जिस शब्दरूप से विहित हुआ है वह शब्द-रूप तदन्त (स्त्रीप्रत्ययान्त) समुदाय का आदि भी हो। जो अप्राधान्य से स्त्रीत्व को कहता है वहाँ तदादि नियम होता ही है। वहाँ वह स्त्रीप्रत्यय ऐसे समुदाय का बोध कराता है जो तदन्त=स्त्रीप्रत्ययान्त है और साथ ही तदादि, जिसका आदि वह शब्द-रूप है जिससे वह स्त्रीप्रत्यय विहित हुआ है। प्रत्यासत्ति-सम्बन्ध से जो समुदाय (२३) से स्त्रीप्रत्ययान्त है, उसी के अर्थ की, तदादि अंश की प्रवृत्ति न होने से जो स्त्रीप्रत्ययान्त समुदाय बनता है उसके अर्थ के

प्रति, अनुपसर्जनता (प्राधान्य) होने पर ही इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है।

करीषस्य (=शुष्क गोमयस्य) गन्ध इव गन्धोऽस्येति करीषगन्धिः (बहुव्रीहि)। **उपमानाच्च** (५।४।१३७) से इकारादेश समासान्त होता है। **करीषगन्धेर् अपत्यं पुमान्=कारीषगन्धः**। अण्। स्त्रीत्वविवक्षा में **अणिञोरनार्षयोर्गुरूपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे** (४।१।७८) से अण् के स्थान में ष्यङ् आदेश होता है। यह आदेश स्थानिवद्भाव से प्रत्यय है। ष्यङ् होने पर तथा **यङश्चाप्** (४।१।७४) से आप् स्त्रीप्रत्यय आने पर 'कारीषगन्ध्या' रूप निष्पन्न होता है। **कारीषगन्ध्यायाः पुत्रः=कारीषगन्धीपुत्रः**। यहाँ **ष्यङः सम्प्रासारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे** (६।१।१३) से ष्यङ् को सम्प्रसारण होता है और **सम्प्रसारणस्य** (६।३।१३९) से सम्प्रसारण 'इ' को दीर्घ। चूंकि कारीषगन्ध से ष्यङ् आया है अतः परि० २३ से तदादि तदन्त 'कारीषगन्ध्या' का ही बोध करायेगा, पर इस परिभाषा से '**परमकारीषगन्ध्या**' का भी, कारण कि यहां स्त्रीप्रत्ययान्त 'कारीषगन्ध्या' परमकारीषगन्ध्या के अर्थ के प्रति अनुपसर्जन प्रधान है, **परमा चासौ कारीषगन्ध्या चेति परमकारीषगन्ध्या**—यह समानाधिकरण तत्पुरुष समास है। उत्तरपद प्रधान होने से 'कारीषगन्ध्या' प्रधान है। अतः तदादि नियम न होने से परमकारीषगन्ध्या ष्यङन्त है और पुत्र उत्तरपद होने पर सम्प्रसारण होगा—**कारीषगन्धीपुत्रः**। पर 'अतिकारीषगन्ध्या' में ष्यङन्त कारीषगन्ध्या' उपसर्जन है, अतः यहाँ तदादि नियम होने से 'अतिकारीषगन्ध्या' ष्यङन्त होने पर भी तदादि नहीं, अतः **अतिकारीषगन्ध्यायाः पुत्रः अतिकारीषगन्ध्यापुत्रः**—यहाँ सम्प्रसारण नहीं होता है।

अतिराजकुमारिः (अतिक्रान्तो राजकुमारीम् (प्रादिसमास)। यहाँ **राज्ञः कुमारी=राजकुमारी** इस षष्ठीसमास में कुमारी अनुपसर्जन (प्रधान) है। अतः तदादि नियम न होने से स्त्री (प्रत्यय) न केवल कुमारी का बोधक है, राजकुमारी का भी, अतः राजकुमारी के स्त्रीप्रत्ययान्त होने से **गोस्त्रियोः**—से 'अतिराजकुमारिः' में कुमारी के दीर्घ 'ई' के स्थान में ह्रस्व 'इ' आदेश होता है। यद्यपि 'राजकुमारी' का अर्थ 'अति' के प्रति उपसर्जन (अप्रधान) है, 'कुमारी' का अर्थ 'राजकुमारी' के अर्थ के प्रति उपसर्जन नहीं। '**अतिराजकुमारि**' में '**राजकुमारी**' (१।२।४४) से उपसर्जन है, पर 'कुमारी' राजकुमारी के प्रति परिभाषा में गृहीत अर्थ के अनुसार उपसर्जन नहीं।

यह परिभाषा प्रत्ययग्रहण परिभाषा का अपवाद है इसलिए, और इसलिये भी कि इसकी उस परिभाषा के साथ एकवाक्यता (=वाक्यैकवाक्यता) होती

है, अर्थात् दोनों मिलकर एक वाक्य बनाती हैं,[1] 'ग्रहणे' पद का इस परिभाषा के साथ सम्बन्ध होने पर इस परिभाषा की प्रवृत्ति वहीं होती है जहाँ स्त्री-प्रत्यय का सामान्य रूप से ग्रहण है, जैसे गोस्त्रियो:—में स्त्रीशब्द से अथवा विशेष रूप से जैसे ष्यङः सम्प्रसारणम्—में, न कि जब ऐसे शब्द से ग्रहण हो जो स्त्रीप्रत्यय भी हो और स्त्री-प्रत्यय से भिन्न भी हो।

सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ(१।२।६४) की एक यह व्याख्या भी है—सरूपसमुदाय से विहित एकविभक्ति परे होने पर एकशेष होता है—भिक्षा भिक्षा भिक्षा–आम्=भिक्षाणाम्। यदि यहाँ प्रकृत परिभाषा लगे तो भिक्षा भिक्षा भिक्षा समुदाय आबन्त (आप्—अन्त) हो जाएगा और 'अप्रत्ययः' निषेध के कारण प्रातिपदिक न हो सकेगा, जिससे आम् न हो सकेगा। विभक्ति के अभाव में एकशेष न हो सकेगा। आप् स्त्रीप्रत्यय भी है, जैसे टाप्, डाप्, चाप् में सामाण्य रूप आप्। प्रत्यय-भिन्न धातु भी है, आप्लृ व्याप्तौ। ऐसे स्त्रीप्रत्यय के ग्रहण में प्रकृत परिभाषा नहीं लगती इसीलिये आबन्त समुदाय के अप्रत्ययान्त होने से प्रातिपदिकत्व होने पर आम् आने पर भिक्षा भिक्षा भिक्षा आम् +अण् (समूहार्थ में तद्धित) **सर्वविधिभ्यो लुग्विधिर्बलीयान्** इस न्याय से सबसे पहले आम् का लुक् हो जाने से परे विभक्ति के न रहने से एकशेष न हो सकेगा एतदर्थक भाष्य संगत होता है ॥२६॥

सीरदेवीय—

अनुपसर्जन स्त्रीप्रत्यय के ग्रहण होने पर प्रत्यय-ग्रहण-परिभाषा तदादि तदन्त का ग्रहण नहीं कराती। स्त्र्यधिकार में विहित प्रत्यय के ग्रहण में संघात का भी ग्रहण होता है, न कि जिससे स्त्रीप्रत्यय विधान किया है, तदादि का ही, ऐसा परिभाषार्थ है। **टिड्ढाणञ्**—(४।१।१५)। जिससे अण् प्रत्यय आया है (कृ+अण्) उस 'कार' शब्द से ङीप् स्त्रीप्रत्यय होता है। पर तदादि तदन्त 'कार' से ढक् नहीं आता, संघात 'कुम्भकारी' से आता है—**कौम्भकारेयः। कुम्भकार्या अपत्यं पुमान् कौम्भकारेयः।** अन्यथा इस परिभाषा के न होने पर प्रत्यय ग्रहण परिभाषा से 'कारी' शब्द से ढक् होगा, जिससे

---

१. एकवाक्यता होने पर परिभाषा का अर्थ होगा—**गृह्यमाणे स्त्री-प्रत्यये सत्यनुपसर्जनविषये तदादिनियमो न, अन्यत्र तु तत्रैवास्त्येव (पायगुण्ड)**।

अवयव 'कारी' के आ को वृद्धि होगी (न कि 'कुम्भ' के 'उ' को) और कितः (६।१।१६५) से तद्धित अन्तोदात्त होगा।

शङ्का—अण्णन्त से विधीयमान ङीप् कृद्ग्रहण परिभाषा से समुदाय 'कुम्भकार' से ही हो जाएगा। नहीं। टिड्ढाणञ्। (४।१।१५) में गृहीत अण् कृत् भी है और अकृत् (कृद्भिन्न) भी। ऐसे प्रत्यय के ग्रहण में कृद्ग्रहण परिभाषा लगती नहीं ॥२६॥

प्रत्ययग्रहण परिभाषा का २४-२६ परिभाषाओं से संकोच होने पर भी **तरप्तमपौ घः** (१।१।२२) में (२३) से तरप्, तमप् से तरबन्त, तमबन्त का ग्रहण क्यों न हो, अर्थात् तरबन्त, तमबन्त की 'घ' संज्ञा क्यों न हो। इस शङ्का के समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति। (२७)

अर्थ—संज्ञाविधायक शास्त्र में प्रत्ययग्रहण तदन्त का ग्राहक नहीं होता। **सुप्तिङन्तं पदम्** (१।४।१४) इस संज्ञा विधायक सूत्र में अन्त-ग्रहण इस परिभाषा का ज्ञापक है। यदि यह परिभाषा न होती तो (२३) से ही तदन्त सुबन्त, तिङन्त का ग्रहण हो जाता, अन्त ग्रहण व्यर्थ होता है। इस परिभाषा के ज्ञापित होने पर अन्त-ग्रहण चरितार्थ हो जाता है। यह कहना ठीक न होगा कि यदि सुप्तिङन्तं पदम् में सुप् व तिङ् की पद संज्ञा हो, तो भी प्रत्यय ग्रहण परिभाषा से ऐसे शब्दरूप का बोध हो जाता जिसके अन्त में पद है अर्थात् जिसके अन्त में सुप् व तिङ् हैं। और इस परिभाषा से तदन्तविधि के अभाव के ज्ञापित होने पर भी अन्तग्रहण व्यर्थ रहता, स्वार्थ में चरितार्थ न होने से। नहीं। ऐसा नहीं हो सकता। प्रत्ययग्रहण परिभाषा की प्रवृत्ति के लिये प्रत्ययमात्र ही लिया जाता है, जो प्रत्यय हो और प्रत्यय से इतर भी हो, वह नहीं। अब 'पद' ऐसे प्रत्ययत्वमात्र का बोधक नहीं, कारण कि **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१।४।१७) में 'पद' प्रकृतिनिष्ठ (प्रकृति का बोधक होने से) प्रत्ययमात्र-परक नहीं, अतः प्रत्ययग्रहण परिभाषाका विषय नहीं। अतः अन्त-ग्रहण प्रकृतपरिभाषा को ज्ञापित करता है और स्वार्थ में चरितार्थ है।

यदि तरबन्त, तमबन्त की घ-संज्ञा हो जाय, तो **'कुमारगौरितरा'** सिद्ध नहीं होगा, कारण कि उत्तरपद परे होने पर पर होने से पुंवद्भाव को बाध कर कुमारी शब्द के ङी को ह्रस्व प्रसक्त होगा, तरप् परे रहते 'गौरी' को नहीं होगा, जिससे **कुमारीगौरतरा**—यह अनिष्ट रूप निष्पन्न होगा ॥२७॥

सीरदेवीय—

इसलिये तरप् मात्र की 'घ' संज्ञा होने से **घ-रूप कल्प**—(६।३।४३) सूत्र से 'घ' परे रहते जो ह्रस्व विधान किया है वह तरप् परे रहते होता है, तरबन्त परे रहते नहीं। **गौरी ब्राह्मणितरा**। यहाँ तरबन्त ब्राह्मणितरा परे रहते गौरी को ह्रस्व नहीं हुआ, तरप् परे रहते ब्राह्मणी को ह्रस्व हुआ है।

शङ्का—संज्ञा-विधि में प्रत्यय ग्रहण परिभाषा मत हो। ह्रस्वविधि में तो घान्त उत्तरपद परे रहते पूर्व को ह्रस्व हो जाना चाहिये। नहीं। तदन्तविधि का निषेध संज्ञाविधि में ही नहीं। **हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु** (६।३।५०) में अण् ग्रहण करके जो लेख (अण्णन्त) का ग्रहण किया है वह ज्ञापित करता है कि उत्तरपदाधिकार में तदन्त विधि नहीं होती। यदि संज्ञा विधि में तदन्त-विधि प्रतिषेध का तरप्तमप् विधि में ही प्रयोजन हो तो **सुप्तिङन्तं पदम्**—यहां अन्तग्रहण न करके 'संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिर्नास्ति' इसे ज्ञापन किये बिना **तरप्तमपौ पितौ घः** ऐसा सूत्र पढ़ा जाय। इसका अर्थ होगा—पित् तरप्, तमप् घ-संज्ञक होते हैं। अब सुप्तिङन्तम् में अन्तग्रहण से संज्ञाविधौ इत्यादि परिभाषांश का अन्य भी विषय है यह अनुमित होता है। ॥२७॥

क्षेपे (२।१।४७) से निन्दा के गम्यमान होने पर सप्तम्यन्त का क्तान्त के साथ समास होता है। प्रत्ययग्रहण परिभाषा से 'स्थित' क्तान्त है, स्था से क्त प्रत्यय हुआ है। (२३) से तदादि तदन्त 'स्थित' क्तान्त है। पर **अवतप्तेनकुलस्थितम्**(=तपे हुए स्थान पर न्योले का ठहरना) में नकुल-स्थित क्तान्त नहीं, तो 'अवतप्ते' (सप्तम्यन्त) का 'नकुलस्थित' के साथ समास कैसे हो गया? इस शङ्का के उत्तर में परिभाषा पढ़ते हैं—

कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्। (२८)

अर्थ—शास्त्र में कृत् प्रत्यय के ग्रहण से (२३) परिभाषा से कृदन्त शब्द का बोध होता है, जैसे क्त से क्तान्त 'स्थित' का बोध होता है अर्थात् तदादि तदन्त शब्दरूप का बोध होता है। यदि ऐसे कृदन्त शब्द से पूर्व 'गति' हो अथवा 'कारक' हो तो गति-कारक विशिष्ट समुदाय का भी कृत् प्रत्यय से बोध होगा। इस अवस्था में प्रस्थित क्तान्त होगा, और नकुल-स्थित भी क्तान्त। इतना ही नहीं। समुदाय ही क्तान्त होगा, तदेकदेश 'स्थित' नहीं। **गतिरनन्तरः** (६।२।४९)। इस सूत्र का अर्थ है—कर्मवाची क्तान्त उत्तरपद परे रहते अन-

न्तर 'गति' प्रकृतिस्वर होता है, गति समास से पूर्व जो अपना स्वर होता है वही रहता है। इस सूत्र में 'अनन्तर' ग्रहण इस परिभाषा का ज्ञापक है। यदि यह परिभाषा न हो तो क्तान्त उत्तरपद परे रहते 'गति' का जो स्वर विधान किया जा रहा है वह व्यवहित गति (प्रकृत में 'अभि') को नहीं होगा, तो उसकी निवृत्ति के लिये अनन्तर-ग्रहण का कुछ प्रयोजन नहीं। अनन्तर शब्द का ग्रहण इसलिये किया है कि 'अभ्युद्धृत' में 'अभि' प्रकृति-स्वर न हो जाय। परिभाषा (२३) से 'हृत' क्तान्त है, न कि उद्धृत। अतः गति 'अभि' के परे उत्तरपद क्तान्त न होने से ही प्रकृतिस्वरता की प्राप्ति नहीं, तो अनन्तर ग्रहण व्यर्थ रहता है। व्यर्थ होकर इस परिभाषा को ज्ञापित करता है। इस क्तान्त से अनन्तर पूर्व 'अभि' है। अब 'अभि' को इस सूत्र (६।२।४९) से 'प्रकृतिस्वर' हो जाना चाहिये। 'अभि' का अपना स्वर अन्तोदात्त है। **निपाता आद्युदात्ता उपसर्गाश्चाभिवर्जम्**। नहीं। ऐसा नहीं हो सकता। सूत्र में अनन्तर शब्द के प्रयोगबल से वही आनन्तर्य बोधित किया जा सकता है जो गति का धातु के साथ हो, जो उस गति से आक्षिप्त हो। अतः (६।२।४९) की प्रवृत्ति के लिये अभ्युद्धृत का 'हृत' भाग क्तान्त समझा जा सकता है, अतः ठीक ही है कि 'उद्' प्रकृतिस्वर हो, और 'अभि' नहीं।

अभ्युद्धृत में **गतिर्गतौ** (८।१।७०) से 'अभि' अनुदात्त हो जाएगा, कारण कि पर हो जाने से यह सूत्र **गतिरनन्तरः** (६।२।४९) को बाध लेगा। अतः सूत्र में पढ़ा हुआ 'अनन्तर' शब्द परिभाषा का ज्ञापक होने पर भी व्यर्थ रहेगा, स्वार्थ में चरितार्थ नहीं होगा, अतः परिभाषा को ज्ञापित नहीं कर सकेगा—इस शङ्का का नागेश भट्ट यह उत्तर देते हैं कि (८।१।७०) का 'अभ्युद्धृत' के 'अभि के स्वर के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं, कारण कि 'अभ्यु-द्धृत' पाद के आदि में है और (८।१।७०) स्वरविधि उस 'गति' के विषय में होती है जो पाद के आदि में न हो। (**अनुदात्तं सर्वमपादादौ** (८।१।१८) यह अधिकार सूत्र है) और जो 'गति' पद से परे हो (**पदात्** ८।१ १७ ऐसा अधिकार सूत्र है, और यह गति पद से परे नहीं)। यहां 'पदात्परत्वाभावेन च'—यह हेतु देने में नागेश भट्ट को भ्रान्ति हो गई। जैसे राघवेन्द्र टीकाकार ने कहा है 'पदात्' यह अधिकार **कुत्सने च सुप्यगोत्रादौ** (८।१।६९) में ही निवृत्त हो गया है।

'उद्धृत' में इस प्रकार स्वरक्रम प्राप्त होता है। (६।१।२२३) से समासान्तो-दात्तत्व प्राप्त होता है। इसे बाधकर (६।२।२) से अव्यय पूर्वपद प्रकृतिस्वर,

इसे बाध कर (६।२।१३९) से गति से परे कृत् प्रत्यय का प्रकृतिस्वरत्व, इसे बाधकर (६।२।१३९) से गति से कृत् प्रत्यय का प्रकृतिस्वरत्व, इसे बाधकर (६।२।१४४) से गति से परे क्तान्त उत्तरपद का अन्तोदात्तत्व, इसे बाधकर (६।२।४९) से अभ्युद्धृत में उद् का प्रकृति-स्वरत्व।

अतः उद्धृत शब्द आद्युदात्त है। इसका 'अभि' के साथ समास होने पर (अभि—उद्धृत में उद् पूर्वपद नहीं है। **बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्** (६।२।१) से पूर्वपद की अनुवृत्ति आ रही है। (६।२।४९) में 'अनन्तर' इसलिये ग्रहण किया है कि पूर्वपद न होने पर भी उद् गतिस्वर हो, अर्थात् उदात्त हो। ऐसा होने पर अनन्तर ग्रहण प्रयोजनवान् होने से इस परिभाषा का ज्ञापक नहीं हो सकता। ऐसा कहना भी ठीक नहीं। **थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्** (६।२।१४४) की प्रवृत्ति होगी नहीं। **कारकाद् दत्तश्रुतयोरेवाशिषि** (६।२।१४८) का योग-विभाग करके (६।२।१३९) से गति की अनुवृत्ति करके, **सूपमानात्क्तः** (६।२।१४५) से 'क्त' की अनुवृत्ति आने से **कारकाद् गतेः क्तः** ऐसा नियामक सूत्र थाथादि सूत्र के अर्थ को नियमित कर देगा। अब यह वहीं प्रवृत्त होगा जहां क्तान्त शब्द समास का उत्तरपद है जैसे उद्धृत में और पूर्वपद 'गति' है, जब यह गति-समास एक दूसरे समास का उत्तरपद बनता है और कारक से ही परे होता है, गति से नहीं। और इसकी प्रवृत्ति न होने से यह **गतिकारकोपपदात्कृत्** (६।२।१३९) की प्रवृत्ति को रोकेगा नहीं। उद् का 'अभ्युद्धृत' में वही स्वर रहेगा जो 'उद्धृत' में इसे (६।२।४९) से बिना 'अनन्तरः के ग्रहण से प्राप्त हो चुका है, कारण कि 'उद्धृत' इस परिभाषा से 'कृत्' है, और 'अभि' गति है। 'अनन्तरः' बिल्कुल व्यर्थ रहता है। अतः (६।२।४९) में 'अनन्तर' शब्द का प्रयोग धातु से व्यवहित गति के स्वर को रोकने के लिये किया गया है। अतः अवश्य इस परिभाषा का ज्ञापक मानना होगा।

इस परिभाषा का अर्थ यह है—जहाँ ऐसे शब्दरूप का ग्रहण है (जो (२३) परिभाषा से कृदन्त माना जायगा) जो गति-कारक के साथ व्यवहृत है वहां कृत् प्रत्यय गतिकारकविशिष्ट का ही ग्रहण कराता है, और जो गति-कारक समभिव्याहृत (एकसाथ व्यवहृत) नहीं, वहां केवल **कृदन्त**[1] का भी। यदि

---

१. **समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्** (७।१।३७) में अनञ्पूर्व यह ग्रहण बताता है कि इस सूत्र में परिभाषा (२३) ही प्रवृत्त होती है। (२८) नहीं। कारण कि यदि परि० (२८) प्रवृत्त हो तो अनञ्पूर्वे—ग्रहण व्यर्थ

परिभाषा में 'अपि' शब्द के श्रवण से लभ्य यह अर्थ न हो यह परिभाषा पर[1] होने से प्रत्यय ग्रहण परिभाषा को सर्वत्र निर्विशेष रूप से बाध लेगी। अतः अपि-शब्द-घटित परिभाषा के होने से 'साङ्कूटिनम्' में संकूटिन् इणुनन्त कृदन्त है, न कि 'कूटिन्'। **गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः** (७५) परिभाषा से सम् का समास कूटिन् के साथ होने पर प्रातिपदिक संज्ञा

हो जाय। यदि हम यहाँ दोनों परिभाषाओं की प्रवृत्ति करें और सूत्र को 'अनञ्पूर्वे' के बिना इसप्रकार पढ़ें—समासे क्त्वो ल्यप्, हम इसे 'कृत्वा' आदि में लगा सकते हैं क्योंकि सूत्र में 'समासे' समास होने पर यह विधि कही है अतः परि० (२३) को छोड़कर परि० (२८) की प्रवृत्ति करनी चाहिये। इस परिभाषा से क्त्वा गति-पूर्वक क्त्वान्त का बोधक होगा, नञ्पूर्वक का नहीं। 'समासे क्त्वो ल्यप्' प्रकृत्वा आदि में क्त्वा को ल्यप् आदेश करेगा, पर अकृत्वा में यह ल्यप् आदेश नहीं करेगा। यही आचार्य पाणिनि को इष्ट है। इस प्रकार सूत्र में 'अनञ्पूर्वे' बिल्कुल अनर्थक रहता है। पर आचार्य सूत्र में इसका निवेश करते हैं। वे जानते हैं कि परिभाषा (२३) ही (७।१।३७) के क्त्वा के विषय में लगेगी। ज्यों ही हम परिभाषा (२३) की ही प्रवृत्ति करते हैं, अनञ्पूर्वे-ग्रहण अर्थवान् आवश्यक हो जाता है, तब (७।१।३७) का अर्थ होता है— **नञ्सदृशादव्ययात्पदात्प्रत्यासत्तिन्यायात् समासावयवात्परस्य धात्वादेः क्त्वान्तस्य समासे क्त्वो ल्यप्।**

१. (७।१।३७) सूत्र पर कैयट का कहना है कि परिभाषा (२८) परिभाषा (२३) की अपेक्षा पर है, कारण कि अनन्तरोक्त परिभाषा अङ्ग-संज्ञा सूत्र का योग-विभाग करके व्यवस्थापित की गई है। यह परत्व यथोद्देश पक्ष के अनुसार सिद्ध होता है। और पूर्वोक्त (२८) परिभाषा (६।२।४६) से ज्ञापित हुई है। (२८) परि० (२३) परि० का अपवाद नहीं है। कैयट का कहना है कि **व्यावक्रोशी** आदि की सिद्धि में **णच् स्त्रियाम्** (५।४।१४) के णच् के विषय में परि० (२३) नहीं लगती, कारण कि परि० (२६) इसकी प्रवृत्ति को रोक देती है। वहां परि० (२८) ही प्रवृत्त होती है, पर यह अपने ही सामर्थ्य से (२३) की प्रवृत्ति को नहीं रोकती।

होकर संकूटिन् (गतिविशिष्ट) से अण् तद्धित की उत्पत्ति होती है और इष्ट रूप 'साङ्कूटिनम्' सिद्ध होता है। 'अपि' शब्द के अभाव में केवल 'कूटिन्' कृदन्त नहीं होगा। एवं कृदन्त न होने से गतिकारकोपपदानाम्—इस वचन की प्रवृत्ति न होने से समास नहीं हो सकेगा। यदि यह कृद्-ग्रहण परिभाषा ही न हो तो सङ्कूटिन् के इणुनन्त न होने से इससे परे तद्धित अण् प्रत्यय नहीं होगा। यदि प्रत्ययग्रहण परिभाषा (२३) और यह कृद्-ग्रहण परिभाषा एकस्थान में प्रवृत्त हों तो संकूटिन् में कूटिन् जो परिभाषा (२३) से कृदन्त (इणुनन्त) है उससे भी अण् तद्धित होने लगेगा। जिससे 'सङ्कौटिनम्' यह अनिष्ट रूप दुर्वार हो जायगा।

गतिरनन्तरः (६।२।४९) में 'क्तान्त' से गति-रहित शब्द रूप का ही ग्रहण है, यद्यपि क्तान्त यहां गतिसमभिव्याहृत है, कारण कि यह सूत्र 'गति' के विषय में स्वरविधान करता है जब गति पूर्वपद है और क्तान्त उत्तरपद है।

यह परिभाषा वहां प्रवृत्त होती है जहां सामान्य रूप से कृत्प्रत्यय का उपादान है अथवा कृत्प्रत्यय-विशेष का, (सामान्य का जैसे **कर्तृकरणे कृता बहुलम्** (२।१३२) में **विष्णु-सुकृतम्** इस समास में 'सुकृत' के कृदन्त होने से **गतिकारकोप—**(६।२।१३९) से उत्तरपद प्रकृतिस्वर हो जायगा। कृत्-प्रत्यय-विशेष का फल 'साङ्कूटिन' में दिखाया जा चुका है), न कि जहां ऐसे शब्दरूप का ग्रहण है जो कृत् भी हो और कृद्भिन्न भी। 'कुम्भकार' अनुपसर्जनात् (४।१।१४) से ज्ञापित तदन्तविधि से अण्णन्त होता है, जिससे इससे परे ङीप् सिद्ध होता है। अण् प्रत्यय कृत् भी है और अकृत् (तद्धित) भी। अतः इस परिभाषा से 'कुम्भकार' अण्णन्त न हो सकता था। अतः तदन्तविधि के ज्ञापन के लिये **अनुपसर्जनात्** सूत्र पढ़ना आवश्यक हुआ ॥२८॥

पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च। (२९)

अर्थ—पदाधिकार (८।१।१६) तथा **अङ्गाधिकार** (६।४।१) में विधि-शास्त्र में पढ़े हुए पद वा अङ्ग न केवल उस पद वा अङ्ग के बोधक होते हैं, तदन्त के भी। पद शब्द से **उत्तरपदाधिकार** (६।३।१) भी लिया जाता है, केवल पदाधिकार भी। यहां पद और अङ्ग विशेष्य हैं। उत्तरपद के सामर्थ्य से आक्षिप्त पूर्वपद इष्टका आदि से विशिष्ट होता है, जिससे विशेषण इष्टका के तदन्त-विधि होने से **पक्वेष्टका** आदि को भी **इष्टकेषीकामालानां चिततूलभारिषु** (६।३।६५) से ह्रस्व हो जाता है—**इष्टकचितम्**। **पक्वेष्टकचितम्** (पक्की ईंटों

से चिना हुआ)। **इष्टकेषीकामालानां**—यह उत्तरपदाधिकारीय है। जैसे महान् में **सान्तमहतः संयोगस्य** (६।४।१०) से महत् के न् की उपधा को दीर्घ 'आ होता है वैसे ही तदन्त अतिमहत्, परमातिमहत् के न् की उपधा को भी—**अतिमहान्। परमातिमहान्।** सान्तमहतः—यह अङ्गाधिकारीय सूत्र है।

परिभाषा में तदन्तस्य के स्थान में '**तदुत्तरपदस्य च**' पाठ अयुक्त है, कारण कि **परमातिमहान्** न तो महत् ही है और न यह ऐसा समास है जिसका उत्तरपद महत् है, कारण कि उत्तरपद अतिमहत् है।

पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु (६।३।५२) यह उत्तरपदाधिकारीय सूत्र है, इसमें तदन्तविधि नहीं होती, पादान्त को 'पद' आदि आदेश नहीं होते। ऐसे ही **हिमकाषिहतिषु च** (६।३।३४) में जो 'पाद' को पद् आदेश विधान किया है, वह भी 'पादान्त' को नहीं होता। इसमें लक्ष्यानुरोध ही कारण है। **पत्काषी** कहेंगे, और **परमपादकाषी**।

केवल पदाधिकार में भी तदन्तविधि होने से **वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः** (८।२।७२) से जहां **अनडुद्भ्याम्** साधु होगा, वहाँ **परमानडुद्भ्याम्** भी। दोनों अवस्थाओं में अनडुह् के ह् को द् होता है। ॥२६॥

सीरदेवीय—

युजेरसमासे (७।१।७१) इस सूत्र में असमास ग्रहण इस परिभाषा का ज्ञापक है। असमास ग्रहण इसलिये किया है कि अश्वयुक् में नुम् न हो। यदि अङ्गाधिकार में उस (साक्षात् पठित शब्द के अतिरिक्त) तदुत्तरपद (साक्षात् पठित शब्द है उत्तरपद जिस शब्द-स्वरूप में) को नुम्विधि नहीं होती तो युज् को विधीयमान नुम् तदुत्तरपद अश्वयुज् में प्रसक्त ही न होगा, तो असमास-ग्रहण से क्या प्रयोजन ? निषेधार्थ असमासग्रहण व्यर्थ रहता है। तदन्तविधि होने पर असमास-ग्रहण चरितार्थ हो जाता है ॥२६॥

अत इञ् (४।१।९५) सूत्र न पदाधिकारीय है और न अङ्गाधिकारीय है। अतः **येन विधिस्तदन्तस्य** (१।१।७२) से तदन्तविधि होकर अदन्त प्रातिपदिक से अपत्यार्थ में इञ् आना चाहिए, केवल 'अ'-रूप प्रातिपदिक से नहीं। इस शङ्का के समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

व्यपदेशिवदेकस्मिन्। (३०)

अर्थ—विशिष्टोऽपदेशः (नाम)=**व्यपदेशः, मुख्यो व्यवहारः।** मुख्यता-सम्पादक निमित्त के होने पर जो शब्द मुख्य व्यवहार वाला है, वह '**व्यपदेशी**' है, व्यप-

देशिना तुल्यं व्यपदेशिवत्, उसके समान असहाय अकेले वर्ण को भी कार्य हो जाता है। जो व्यपदेश के हेतु के न होने से व्यपदेश-रहित अहाय वर्णमात्र है, उसे भी व्यपदेशी के तुल्य समझा जाता है कार्य करने के लिये। व्यपदेशी को प्राप्त कार्य असहाय एक को भी होता है। अतः जैसे **दक्षस्यापत्यं दाक्षिः**—यहां दक्ष मुख्य-रूप से अदन्तत्व-व्यपदेशवान् होने से व्यपदेशी है, इससे **अत इञ्** से इञ् हुआ, इसी प्रकार **अः=विष्णुः, तस्यापत्यम्** 'इः'—यहां असहाय 'अ' को भी व्यपदेशिवत् तदन्त मानकर सूत्र की प्रवृत्ति होती है। यदि यह परिभाषा न हो तो असहाय 'अकार' 'अकारान्त' इस व्यपदेश का भागी नहीं हो सकता (**सत्यन्यस्मिन्यस्मात्परं नास्ति पूर्वमस्ति सोऽन्तः**—भाष्य) और इससे इञ् प्रत्यय नहीं आ सकता।

परिभाषा में 'एकस्मिन्'-ग्रहण करने से असहाय (अकेले) का ग्रहण होता है, अतः 'सभासन्नयन' में आ (एकमात्र) असहाय नहीं (वर्णान्तरों के साथ उच्चारित है), अतः सभासन्नयन का आदि नहीं, अतः सभासन्नयन के 'वृद्ध' न होने से 'तत्र भवः' अर्थ में 'छ' प्रत्यय नहीं होता, अण् होता है—**साभासन्नयनः**। इसीलिये दरिद्रा धातु के 'इ' मात्र का पृथक् ग्रहण करके असहाय न होने से इसे (दरिद्रा धातु को) इकारान्त नहीं माना जा सकता और इससे **एरच्** (३।३।५६) से इकारान्त-लक्षण अच् प्रत्यय नहीं होता। आकारान्त लक्षण 'क' होता है—**दरिद्रः**। हरिषु में सुप् (सु) के असहाय न होने से सुबन्त न होने से 'स्' की पदसंज्ञा नहीं होती, यदि पदसंज्ञा हो जाती तो पद के आदि 'स्' को **सात्पदाद्योः** (८।३।१११) से षत्व का निषेध हो जाता। यह लौकिक न्याय है। लोक में जब किसी के बहुत पुत्र होते हैं तब वह किसी एक को ही यह मेरा ज्येष्ठ पुत्र है, यह कनिष्ठ है और यह मध्यम है ऐसा नहीं कहता। हाँ यदि उसका एक ही पुत्र है, तो वह उसी को यह मेरा ज्येष्ठ पुत्र है। यही कनिष्ठ है, यही मध्यम है, ऐसा कहते देखा जाता है।

इस परिभाषा से अशास्त्रीय (=अनुपदिष्ट) कार्य भी एक असहाय को अतिदेश से प्राप्त हो जाता है। **एकाचो द्वे प्रथमस्य** (६।१।१।) एकाच् (बहुव्रीहि) (एकोऽच् यस्मिन्)। यह सूत्र धातु के प्रथम एकाच् अवयव को द्वित्व विधान करता है। इण् गतौ—यहां केवल अच्-रूप धातु है। अन्यपदार्थ कुछ भी नहीं जिसका एक अच् घटक हो। इस परिभाषा से ही असहाय 'इ' को 'इयाय' इत्यादि में द्वित्व होता है। इस प्रकार 'भवति' में 'ति' के प्रति 'भव' अङ्ग है, कारण कि जिससे 'ति' प्रत्यय विधान किया गया है वह 'भू' इस

'भव' का आदि है, पर 'भू शप् ति' में शप् के प्रति 'भू' इसी परिभाषा से अङ्ग बनता है यद्यपि 'भू' 'भू' से अतिरिक्त कुछ नहीं, तदादि (अर्थात् भू आदि) नहीं। तो भी इसे तदादि मान लिया जाता है। इयान् जो प्रकृति के विपरि-लोप से तद्धित प्रत्यय मात्र अवशिष्ट रूप है, यह तद्धितान्त माना जाने पर प्रातिपदिक-संज्ञक हो जाता है।

अर्थवान् 'इ' धातु जिसका 'इ' वर्णरूप एक अच् है, ऐसा अर्थ करने पर एकाच् व्यपदेश बन जाता है और 'इ' **व्यपदेशी** बन जाती है। इस अवस्था में मुख्य व्यवहार होने से प्रकृत परिभाषा की प्रवृत्ति अनावश्यक हो जाती है। भाष्य में **एकपदा ऋक्। अर्थेन युक्तो व्यपदेशः** ऐसा कहा है। उसका आशय यह है—ऋक् अर्थ भी है और शब्द भी। उसका शब्दमात्ररूप पद एक अव-यव है।

यदि इस परिभाषा की प्रवृत्ति असहाय के विषय में ही होती है तो 'भवति' में 'भू' के ससहाय होने से (शप् के साथ पढ़े होने से) कैसे हो गई, अर्थात् भू को तदादि मानकर अङ्गसंज्ञा कैसे हो गई? उत्तर—शप् भू की अङ्ग-संज्ञा का कारण है, शप् के प्रति तदादि होने के लिये असहाय ही है, शप् के साथ अभिव्याहृत नहीं है। अतः परिभाषा की प्रवृत्ति होकर 'भू' का अङ्गत्व सिद्ध होता है। **'असहाय' से सजातीय सहायरहित लिया जाता है।** 'भू' यहाँ किसी सजातीय शब्द से समभिव्याहृत नहीं। 'भू' कार्यी है। शप् जो इसके साथ पढ़ा है अङ्ग संज्ञा का निमित्त है, अतः विजातीय है। विजातीय की स्थिति में भी असहायता बनी रहती है। लोक में भी देखा जाता है कि विजातीय कन्याओं के होने पर भी एक पुत्रवाला पुरुष ऐसा व्यवहार करता है—अयमेव मे ज्येष्ठ इत्यादि।

भाष्यकार **अर्थवता व्यपदेशिवद्भावः** ऐसा वचन पढ़ते हैं। इससे भी जो अर्थवान् होता है वह असहाय होता है यह अर्थ भासित होता है। अर्थबोधक शब्द व्यपदेशी के सदृश भाव (=कार्य) को प्राप्त होता है, यह इस वचन का अर्थ है। अर्थवान् **प्रायः** असहाय होता है ऐसा समझना चाहिये, कारण कि अधीङ् में ससहाय इङ् भी अर्थवान् देखा जाता है, उपसर्ग के द्योतक होने से।

'कुरुते' इत्यादि में 'त' शब्द का अकार अचाम् अन्त्यः इस व्यवहार के लिये तथा 'स आदिर्यस्य' इस बहुव्रीहि अर्थ के लिये असहाय ही है। 'त'—यहां विजातीय तकार के होने पर भी अकार असहाय ही है, दूसरा सजातीय अकार न होने से, अतः 'अ' की टि-संज्ञा सिद्ध होती है ॥३०॥

अब यहां यह शङ्का होती है कि **गर्गादिभ्यो यञ्**(४।१।१०५)से गर्ग आदि प्रातिपदिकों से गोत्रापत्य में जो यञ् विधान किया है वह **येन विधिस्तदन्तस्य** (१।१।७२) से **परमगर्ग** आदि से भी हो जाना चाहिये। गर्गादि अनुवृत्त 'प्रातिपदिकात्' के विशेषण हैं, और विशेषण से तदन्त विधि होती है। सूत्रार्थ होगा —गर्गाद्यन्त प्रातिपदिकों से यञ् होता है। इस शङ्का के समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति । (३१)

अर्थ—जिस प्रातिपदिक का विशिष्ट रूप से विधायक सूत्र में ग्रहण=उपादान =उच्चारण किया है वह विशेषण होने से तदन्त=आत्मान्त प्रातिपदिक का ग्राहक=बोधक नहीं होता (अपने आपका ही बोधक होता है)। अतः सूत्र में गर्गादि पढ़कर जो यञ् विधान किया है वह गर्गाद्यन्त से नहीं होगा। यह परिभाषा भाष्यस्थ वार्तिक **समास-प्रत्यय-विधौ प्रतिषेध उगिद्वर्णग्रहणवर्जम्** के 'समास' को छोड़कर शेष 'प्रत्यय-विधौ' इत्यादि अंश का अनुवादमात्र है। उसी के अर्थ को शब्दान्तरों द्वारा कहती है। अतः यह परिभाषा वहीं लगती है जहाँ प्रत्यय का विधान है। अत एव 'येन विधिः'—सूत्र के भाष्य में **अप्तृन्तृच्** (६।४।११) सूत्र में (जो प्रत्यय-विधि नहीं है) गृह्यमाण प्रातिपदिक से भी तदन्तविधि मानी है। **स्वसा, परमस्वसा** आदि दिये हुए उदाहरण संगत होते हैं। उस वार्तिक का अनुवाद होने से ही (१।१।७२) के भाष्य में समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः इस निषेध की तरह इस परिभाषा-रूप-निषेध का उपन्यास नहीं किया। वार्तिकस्थ निषेध भी वहीं लगता है जहां प्रातिपदिक का विशिष्ट रूप से ग्रहण=उपादान=उच्चारण किया है। यह बात (५।१।२०) के भाष्य में स्पष्ट है।[1]

---

१. **असमासे निष्कादिभ्यः** (५।१।२०) के भाष्य में कहा गया है कि 'असमासे का इसलिये ग्रहण किया है कि पूर्वसूत्र **प्राग्वतेष्ठञ्** (५।१।१८) में तदन्तविधि होती है, अतः जैसे 'निष्क' से ठञ् होता है वैसे ही 'परमनिष्क' से भी हो सके। **परमनिष्केण क्रीतं परमनैष्किकम्**। पर इसका निराकरण कर दिया है, यह कहकर कि तदन्तविधिप्रतिषेध (५।१।१८) में लागू नहीं, कारण कि उस सूत्र में किसी विशिष्ट प्रातिपदिक का ग्रहण नहीं हुआ जिससे प्रत्यय विधि की हो, इस कारण (५।१।२०) में असमास-ग्रहण न होने पर

सपूर्वाच्च (५।२।८७)—यह सूत्र इस परिभाषा का ज्ञापक है। यह सूत्र विद्यमानपूर्व-पद 'पूर्व' पद से 'इनि' प्रत्यय विधान करता है। पूर्व सूत्र 'पूर्व' प्रातिपदिक से 'इनि' विधान करता है। **पूर्वमनेन कृतं पूर्वी—पूर्वमनेन श्रुतं पूर्वी, पूर्वमनेन भाषितं पूर्वी** इत्यादि। 'सपूर्वाच्च' से इनि होकर कृतपूर्वी, श्रुतपूर्वी, भूतपूर्वी, आदि रूप निष्पन्न होते हैं। यदि **ग्रहणवता**—यह परिभाषा न हो तो तदन्तविधि से **'पूर्वादिनिः'** सूत्र से ही कृतपूर्वी आदि की सिद्धि हो जाती, 'सपूर्वाच्च' सूत्र व्यर्थ होता ॥३१॥

सीरदेवीय—

प्रत्यय-विधि में ज्ञापित होने से यह परिभाषा (और अगली **व्यपदेशिवद्-भावोऽप्रातिपदिकेन**—यह भी) प्रत्यय-विधि-विषयक हैं। **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (१।२।४८) में प्रत्ययविधि न होने से तदन्तविधि से गोशब्दान्त का ग्रहण होता है।

दूसरे लोग प्रत्ययविधि तथा अप्रत्ययविधि—दोनों में **ग्रहणवता**—परिभाषा की प्रवृत्ति होती है ऐसा मानते हैं। इसीलिये **शेषो घ्यसखि** (१।४।७) के प्रत्यय-विधि के न होने पर भी केवल **'सखि'** की 'घि' संज्ञा का निषेध है, तदन्त **'अतिसखि'** का नहीं। भाष्य में **ग्रहणवता प्रातिपदिकेन—व्यपदेशिवद्भावो-ऽप्रातिपदिकेन**—इन दोनों परिभाषाओं का प्रत्याख्यान किया है (और प्रत्यय-विधि में तथा प्रत्ययविधि से अन्यत्र तदन्तविधि को स्वीकार करने से किया है)। ग्रहणवता—इसका प्रत्याख्यान इस प्रकार किया है—विशेषण-विशेष्य-भाव के प्रति कामचार होता है, विशेषण से ही तदन्तविधि होती है, विशेष्य से नहीं। समासविधि (जो प्रत्ययविधि नहीं है) में **द्वितीया श्रितातीत**—(२।१।२४) में प्रकृत जो सुप्सुपा उसे हम श्रितादियों का विशेषण बनायेंगे। अर्थ होगा—सुबन्त श्रित आदि के साथ द्वितीयान्त का समास होता है। श्रित आदि के विशेषण न होने से तदन्तविधि न होने से **कष्टं परमश्रितः**, यहां समास नहीं होगा। प्रत्ययविधि में भी तदन्तविधि हो जाती है, जिससे ग्रहणवता—परिभाषा व्यर्थ हो जाती है। **नडादिभ्यः फक्** (४।१।९९)। यहां 'प्राति-पदिकात्' ऐसा प्रकृत (अनुवृत्त) है, उसे हमें नडादि का विशेषण बनायेंगे।

भी (५।१।१८) में तदन्तविधि हो जाती है। यदि ग्रहणवता—यह निषेध उभयत्र=जहां विशिष्टरूप प्रातिपदिक का ग्रहण हुआ है और जहां नहीं हुआ है समानरूप से लगे, तो भाष्य ग्रन्थ असङ्गत हो जाय।

अर्थ होगा—नडादि प्रातिपदिकों से फक् होता है। इससे **सूत्रनडस्यापत्यं सौत्रनाडिः**—यहाँ फक् नहीं होता। पर जहां कामचार से सूत्र में 'गृह्यमाण' (उच्चार्यमाण) को प्रकृत (अनुवृत्त) का विशेषण बनायेंगे, वहां तदन्तविधि होगी। जैसे उपपद प्रकृत है, 'भय' ग्रहण से तथा आढ्यादि से विशिष्ट होता है इसलिये तदन्तविधि से **अभयंकरः, अनाढ्यंभविष्णुः**—साधु होंगे ॥३१॥

अब यहां यह शङ्का होती है कि **ग्रहणवता**—यह परिभाषा (१।१।७२) से विहित तदन्तविधि की निषेधिका नहीं है तो **क्रतूक्थादि-सूत्रान्ताट्ठक्** (४।२।६०), **दशान्ताड्डः** (५।२।४५), **एक-गो पूर्वाट्ठञ् नित्यम्** (५।२।११८) से जो सूत्रान्त से ठक्, दशान्त से ड, तथा एक-गो-पूर्वक प्रातिपदिक से ठञ् प्रत्यय विधान किये हैं वे व्यपदेशिवद्भाव से (परिभाषा ३० के आश्रयण से) केवल सूत्र से, केवल दशन् से तथा केवल एक अथवा गो से क्यों न हो जायें। इस शङ्का के समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन। (३२)

अर्थ—जो प्रातिपदिक व्यपदेशी नहीं, उसे व्यपदेशी के तुल्य मानकर कार्य नहीं होता। अतः केवल सूत्र को सूत्रान्त मानकर ठक् नहीं होगा—**वार्तिक-सूत्रमधीते वार्तिकसूत्रिकः।** पर **सूत्रमधीते सौत्रः। एकशतमस्यास्ति ऐकशतिकः। एकसहस्रमस्यास्ति ऐकसहस्रिकः।** केवल शत, सहस्र से—**शती। शतिकः। सहस्री। सहस्रिकः।** इनिठनौ। गोशतम् (गवां शतम्) अस्यास्ति इति **गौशतिकः।** ठञ्। केवल गो से मतुप् होगा—**गोमान्।**

पूर्वात् सपूर्वादिनिः—ऐसा एकयोग पढ़ने से कार्य हो जाता, पृथक् योग-विभाग से जो पूर्वादिनिः सपूर्वाच्च इस प्रकार पढ़ा है—यही इस परिभाषा का ज्ञापक है। यदि यह परिभाषा न होती पूर्वात्सपूर्वादिनिः इस एकयोग से कृत-पूर्वी आदि की सिद्धि तो होती ही, पर व्यपदेशिवद्भाव से केवल 'पूर्व' को सपूर्व मानकर 'पूर्वी' की सिद्धि भी हो जाती। आचार्य जानते हैं कि उपात्त प्राति-पदिक के विषय में व्यपदेशिवद्भाव होता नहीं, अतः सपूर्वाच्च के साथ पूर्वा-दिनिः भी पढ़ते हैं।

यदि यह कहा जाय कि यह योगविभाग इसलिये किया है कि उत्तरसूत्र **इष्टादिभ्यः** (५।२।८८) में 'सपूर्वाच्च' की अनुवृत्ति हो (यदि एतदर्थ योग-विभाग हो तो इसकी ज्ञापकता खण्डित हो जाती है, **सति प्रयोजने ज्ञापकं न**), जिससे **इष्टी** के साथ-साथ **अनिष्टी** की भी सिद्धि हो। यह मान्य नहीं। भाष्य प्रामाण्य से हम जानते हैं कि अनिष्टी आदि प्रयोग होते ही नहीं। रही अनुवृत्ति की बात,

एकयोग होने पर भी 'सपूर्वात्' इस एकदेश की अनुवृत्ति में भी कोई बाधा नहीं। **क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते**—ऐसा न्याय है।

इस परिभाषा के होने पर ही (व्यपदेशिवद्भावका निषेध होने से ही) **नान्तादसङ्ख्यादेर्मट्** (५।२।४९) सूत्र चरितार्थ रहता है। यह असंख्यादि (असङ्ख्यापूर्व, जिससे पूर्व समासावयव कोई दूसरी संख्या न हो) नान्त प्रातिपदिक से परे पूरणार्थक डट् को मट् का आगम विधान करता है। यदि यह परिभाषा न हो तो पञ्चन् को व्यपदेशिवद्भाव से संख्यादि मानने पर डट् को मट् का आगम न हो सकेगा, तो सूत्र व्यर्थ हो जायगा।

इस परिभाषा की प्रवृत्ति प्रातिपदिक ग्रहण में अर्थात् ऐसे शब्दरूप के ग्रहण में होती है जो केवल प्रातिपदिक हो, जो प्रातिपदिक और अप्रातिपदिक भी हो उसके ग्रहण में नहीं, वहां व्यपदेशिवद्भाव हो जाता है। उगित् प्रातिपदिक भी होता है, और नहीं भी। उगितश्च (४।१।६) सूत्र में उगित् (उक् इत्) यस्य (शब्दस्वरूपस्य) ऐसी व्याख्या प्रमाणित की गई है, अतः प्रातिपदिक का ग्रहण न होने से व्यपदेशिवद्भाव होता है जिससे ङीप् होकर **'अतिभवती'** तथा **'भवती'** दोनों साधु होते हैं।

यह परिभाषा तथा ग्रहणवता—यह परिभाषा प्रत्ययविधि'[1] में ही लागू होती हैं। **अहन्** (८।२।६५)—यह अहन् को 'रु' आदेश विधान करता है, सो यह प्रत्यय-विधि नहीं, अतः तदन्तविधि से **परमाहन्** में रुत्व होगा और व्यपदेशिवद्भाव से केवल **अहन्** में भी ॥३२॥

वान्तो यि प्रत्यये (६।१।७९) सूत्र में 'यकारादिप्रत्यय परे होने पर' यह अर्थ कैसे प्राप्त होता है। इस प्रश्न के उत्तर के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे। (३३)

अर्थ—**'यस्मिन्'** यह सप्तम्यन्त का अनुकरण है। **'तदादौ'** यह बहुव्रीहि है। **तद् अल्रूपम् आदिर्यस्य तत् तदादि, तस्मिन्।** अल्ग्रहणे अलो ग्रहणे ऐसा अर्थ नहीं। **गृह्यते इतरभिन्नत्वेन ज्ञायते येन तद् ग्रहणं विशेषणम्।** ग्रहण का अर्थ 'विशेषण' है। **अल्ग्रहणे**—यह कर्मधारयसमास है। विशेषण 'ग्रहण' पद का परनिपात हुआ है, पूर्वनिपात प्रकरण के अनित्य होने से। अल्-ग्रहण

---

१. कैयटादि भाष्यमर्मज्ञों का विचार है कि व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन—परिभाषा वहीं प्रवृत्त होती है जहां विधायक शास्त्र में 'अन्त' शब्द पढ़ा है, जैसे **दशान्ताड्डः**, यहां। (८।२।६८) सूत्र में इसकी प्रवृत्ति का संभव नहीं। परिभाषेन्दुशेखर के टीकाकार राघवेन्द्र का भी ऐसा ही विचार है।

=विशेषण रूप अल्। अल्ग्रहणे के अनन्तर 'गृह्यमाणे' यह अध्याहार करना चाहिये। समान-विभक्तिक विशेषण-विशेष्य वाचक पदों के सन्निधान में यह परिभाषा प्रवृत्त होती है। वाक्यार्थ यह होगा—इतरभेदजनकज्ञान के विषयभूत अल्रूप विशेषण के सप्तम्यन्त पद से गृह्यमाण होने पर जो विधि (कार्य) आरम्भ की जाती है, वह अलादि (अल् आदि है जिसका) विशेष्य परे होने पर होती है। विशेषण से तदन्त-विधि कही है, अतः यह 'येन विधिः—' का अपवाद है। **'वान्तो यि प्रत्यये'** में विशेषण रूप अल् सप्तमी-निर्दिष्ट है। इसका विशेष्य 'प्रत्यये' भी सप्तमीनिर्दिष्ट है अब यहां अल्(=य्) प्रत्यय को आदित्वेन विशिष्ट करता है (अन्तत्वेन नहीं), अतः 'यकारादि प्रत्यय' ऐसा अर्थ होता है।

इस परिभाषा का **स्वरूप-सती सप्तमी** (श्रूयमाण सप्तमी) निमित्त है, सप्तम्यर्थ निमित्त नहीं। इसीलिये **नेड् वशि कृति** (७।२।८) में वशादि कृत् को इट्-निषेध से इस अर्थ का लाभ होता है।

आर्धधातुकस्येड् वलादेः (७।२।३५) में इट्-ग्रहण के सामर्थ्य से यह परिभाषा वहीं प्रवृत्त होती है जहां विशेषण विशेष्य दोनों सप्तम्यन्त हों। सूत्र में दोनों विशेषण और विशेष्य षष्ठीनिर्दिष्ट हैं, अतः तदादिविधि की प्राप्ति न होने से 'वलि' न कहकर 'वलादि' कहा है। अतः **डः सि धुट्** (८।३।२९) में सादि पद का ग्रहण नहीं होता। कारण कि 'सि' किसी सप्तम्यन्त पद का विशेषण नहीं।

तीषसहलुभरुषरिषः (७।२।४८) तथा **सेऽसिचि कृत-चृत-तृद-छृद-नृतः** (७।२।५७) में 'तादेः' ऐसा अर्थ लाभ कैसे हुआ? यहां 'ति' यद्यपि सप्तम्यन्त है, पर वस्तुतः यहां प्रथमार्थ में सप्तमी हुई है, उसका 'वलादि' पदार्थ के एकदेश वल् के साथ अभेदान्वय है—**तकाराभिन्नो यो वल् तदादेः** ऐसा अर्थ होने से परिभाषा के बिना भी 'तदादि' अर्थ का लाभ हो जाता है। ऐसे ही सेऽसिचि के विषय में जानो ॥३३॥

सीरदेवीय—

यस्मिन्—यह सप्तमी का अनुकरण है। सप्तमी विभक्ति से अल् (वर्णमात्र का उच्चारण होने पर जो विधि होती है वह तदादि (वह वर्ण आदि है जिसका) समुदाय परे होने पर होती है, तदन्त समुदाय परे होने पर नहीं। पा पीना के लिट् प्र० पु० एश् परे होने पर **पाघ्रा**—(७।३।७८) से पा को

पिव आदेश नहीं होता। '**शित्**' परे होने पर यह आदेश कहा है। शित्—यह कर्मधारय है। शकारो य इत्। अतः सप्तमीनिर्दिष्ट अल्ग्रहण् होने से शकारादि इत्संज्ञक प्रत्यय परे होने पर यह आदेश होता है। लिट् 'त' के स्थान में एश् प्रत्यय, ऐसा नहीं। 'अचि'—अजादि प्रत्यय परे होने पर इयङ्, उवङ् होते हैं—**श्रियः। श्रियौ। लुलुवतुः। लुलुवुः। लुलुव**—यहां व्यपदेशिवद्भाव से 'औ' और 'अ' को औकारादि तथा अकारादि मानकर इयङ् उवङ् सिद्ध होते हैं। यद्यपि **येन विधिस्तदन्तस्य**—यहां पढ़े हुए **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे**—इस वार्तिक को ही परिभाषा-रूप में पढ़ा गया है तो भी वृत्तिकार वामन **गुणोऽपृक्ते** (७।३।९१) में पढ़े हुए 'अपृक्ते' शब्द को इसका ज्ञापक मानते हैं। उनका कहना है कि **उतो वृद्धिर्लुकि हलि** (७।३।८९) सूत्र से 'हलि' की अनुवृत्ति आने से हलादि प्रत्यय परे गुण की प्राप्ति होने पर अपृक्त ग्रहण इसलिये किया है कि हल् मात्र परे होने पर गुण हो, हलादि परे होने पर मत हो। इससे ज्ञापित होता है कि **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे**—ऐसी परिभाषा है। इस परिभाषा के होते हुए '**हलि**' की अनुवृत्ति होने पर हलादि परे होने पर गुण होगा, अपृक्त ग्रहण करने से वर्ण मात्र परे होने पर गुण होता है—**और्णोत्** ॥३३॥

घटपटम्, घटपटौ—ये दो प्रकार के द्वन्द्व समास कैसे सिद्ध होते है इसे बताने के लिये परिभाषा पढ़ते है—

सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद् भवति। (३४)

अर्थ—सभी द्वन्द्वसमास विकल्प से एकवचनान्त होते हैं। परिभाषा में **द्वन्द्वश्च प्राणि-तूर्य-सेनाङ्गानाम्** (२।४।२) इस प्रकरण से वहिर्भत सब द्वन्द्व अभिप्रेत हैं। **चार्थे द्वन्द्वः** (२।२।२९) इस सूत्र से समाहार तथा इतरेतरयोग में निर्विशेष रूप से द्वन्द्व विधान किया है, अतः यह परिभाषा न्यायसिद्ध है। समाहार=एकत्व के वाच्य होने पर द्वन्द्व से एक-वचन हो तथा इतरेतरयोग (=परस्पर सम्बन्ध) के वाच्य होने पर समास-घटक अवयवों के दो वा दो से अधिक होने पर द्वन्द्व से द्विवचन अथवा बहुवचन हो—यह युक्त ही है।

तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे बहुवचनस्य द्विवचनं नित्यम् (१।२।६३)। इस सूत्र में 'वहुवचनस्य' का ग्रहण इस परिभाषा का ज्ञापक है। **तिष्य एकः। पुनर्वसू द्वौ। तेषां द्वन्द्वो बह्वर्थः।** तिष्य एक नक्षत्र है। पुनर्वसु नाम के दो नक्षत्र हैं। इनका द्वन्द्व वहुत्ववाची है। इससे वहुवचन प्राप्त है पर वहुत्व के वाच्य होते हुए भी द्विवचनान्त प्रयोग होता है। सूत्र में 'बहुवचनस्य द्विवचनम्' कहा

हैं, सो एकवचन के प्रसङ्ग में द्विवचन नहीं होगा—**तिष्यपुनर्वसु इदम्**। पर प्रश्न यह है कि बह्वर्थता के होने पर एकवचनान्तता कैसे प्रसक्त होती है ? वह तभी हो सकती है जब यह माना जाय कि सभी द्वन्द्व समास विभाषा (=विकल्प से) एकवचनान्त होते हैं।

नक्षत्रों के अप्राणी होने से **जातिरप्राणिनाम्** (२।४।६) से नक्षत्रवाची द्वन्द्व नित्य एकवचनान्त होगा, इससे बहुवचन आयेगा नहीं, अतः सूत्र में बहुवचन व्यर्थ है अथवा समग्र सूत्र ही व्यर्थ है (तो यह बहुवचन ग्रहण परिभाषा का ज्ञापक कैसे हो सकता है ?) नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। **यावता विनाऽनुपपत्तिस्तावन्मात्रस्य ज्ञाप्यत्वात्**—इस न्याय के अनुसार बहुवचन-ग्रहण 'जातिरप्राणिनाम्' सूत्र की वैकल्पिकता को भी ज्ञापित करता है जिससे अप्राणिवाची द्वन्द्व भी पक्ष में बहुवचनान्त भी होता है। समास-घटक अवयवों के जातिपरक होने पर एकवचन होगा, व्यक्तिवाची होने पर द्विवचन तथा बहुवचन भी यथाप्राप्त होंगे। इह **कुण्डे कतिचिद् बदरामलकानि तिष्ठन्ति**।

यदि कहा जाय कि नक्षत्र प्राणी हैं, इसलिये नक्षत्र द्वन्द्व अप्राणिवाची द्वन्द्व नहीं, अतः 'तिष्यपुनर्वस्वोः—' सूत्र में बहुवचन-ग्रहण से जातिरप्राणिनाम् सूत्र की वैकल्पिकता ज्ञापित नहीं होती, तो बहुवचन ग्रहण की परिभाषा-ज्ञापकता भी विघटित हो जाती है, तो हमें इसमें यह कहना है कि '**आपोमयः प्राणः**' इस श्रुति के आधार पर वेही प्राणी कहलाते हैं जिनके प्राण जल के बिना क्षीण हो जाते हैं, अतः नक्षत्र प्राणी नहीं हैं। तिष्यपुनर्वस्वोः—सूत्र से ज्ञापित सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद्भवति इस परिभाषा के होने पर ही 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्'—इस सूत्र में प्राण्यङ्गादिकों का ही द्वन्द्व समाहार अर्थ में होता है ऐसे विपरीत नियम की कल्पना नहीं की जा सकती ॥३४॥

सीरदेवीय—

सर्वो द्वन्द्वः=इतरेतरयोग-लक्षण तथा समाहार द्वन्द्व। यदि ऐसा है तो **विभाषा वृक्षमृगादि** (२।४।१२)—यह सूत्र अनर्थक हो जायगा। इस परिभाषा से **बाभ्रवशालङ्कायनं बाभ्रवशालङ्कायनाः** की तरह **प्लक्षन्यग्रोधं प्लक्षन्यग्रोधाः** इत्यादि की सिद्धि हो जाने से सूत्र व्यर्थ हो जायगा। परिभाषा से विभाषा एकत्व के सिद्ध होने पर वृक्षादिकों का सजातीयों के साथ ही द्वन्द्व समास एकत्व का वाचक होता है, जो विजातीयों के साथ द्वन्द्व हो वह नहीं, इसलिये सूत्र में विभाषा एकवद् विधान किया है। अतः भट्टिका प्रयोग—**नर-वानर-रक्षसाम्**—में पश्वादिकों का विजातीय नरों तथा राक्षसों के साथ समास इतरेतर योग

में ही होता है, समाहार में नहीं ॥३४॥

सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते । (३५)

अर्थ—वेद में सब विधियां (विहित शास्त्र कार्य) विकल्प से होते हैं। **व्यत्ययो बहुलम्** (३।१।८५) के भाष्य में 'बहुलम्' को जुदा सूत्र बनाने से जब पूर्व सूत्र से अनुवृत्त 'छन्दसि' इसके साथ पढ़ा जाता है 'बहुलं छन्दसि' ऐसा सूत्र बनाने से, अथवा **षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा** (१।४।६) के 'वा' को पृथक् योग बनाने से जिसके साथ इसी सूत्र में पढ़ा हुआ 'छन्दसि' शब्द जोड़ा जाता है, प्रकृत परिभाषा की सिद्धि की जाती है। जिसका अर्थ होता है—छन्दस् (वेद) में सब विधियां वा (=विकल्प से) होती हैं। इससे '**प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति**' में युध्यति—यहां परस्मैपद साधु होता है ॥३५॥

अब यह शङ्का होती है कि **क्षियः** (६।४।५९) तथा **क्षियो दीर्घात्** (८।२।४६) में 'क्षि' को **अचि श्नु-धातु-भ्रुवां**—(६।४।७७) से इयङ् कैसे हो गया, जबकि सूत्र में 'क्षि' पढ़ा हुआ नहीं, धातु भी नहीं (क्रिया-वाची न होने से) किन्तु धातु का अनुकरण है। इसके उत्तर के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

प्रकृतिवदनुकरणं भवति । (३६)

अर्थ—अनुकरण प्रकृतिवत्=अनुकार्य के धर्म वाला होता है अर्थात् अनुकरण 'क्षि' में धातु क्षि जो अनुकार्य है तद्वृत्ति धर्म (धातुत्व) का अतिदेश हो जाता है, जिससे 'क्षियः' इस निर्देश में इयङ् सिद्ध होता है। यह परिभाषा अनित्य है। अनुकरण में अनुकार्य के धर्म का अतिदेश नहीं भी होता। अतः क्षियः—यहां 'क्षि' को प्रातिपदिक मानकर सुब्विभक्ति की उत्पत्ति हुई है। 'क्षि' के धातु होने पर प्रातिपदिक संज्ञा में अर्थवदधातुः—धातु का पर्युदास होने से प्रातिपदिक संज्ञा न होती।

अब यहां यह शङ्का होती है कि राम+औ=रामौ—यहां वृद्धि एकादेश होने पर कार्यकाल पक्ष में पदत्व कैसे होगा। यहां वृद्धि एकादेश राम के 'अ' तथा औट् प्रत्यय के 'औ' के स्थान में हुआ है। **सुप्तिङन्तं, पदम्** यह पद-संज्ञा-विधायक शास्त्र है। पदसंज्ञा उस शब्दरूप समुदाय की होगी जो तदादि (वह है आदि जिसका) तथा तदन्त (सुप् प्रत्यय अन्त है जिसका) हो। 'रामौ' में एकादेश 'औ' को यदि पूर्व ('राम') का अन्तवत् मानते हैं तो परे (अन्त में) सुप् (औ) नहीं रहता। यदि प्रत्यय का आदि मानते हैं तो पूर्व प्रकृति राम (जिससे परे औ प्रत्यय आया है, नहीं रहती। 'अ' के एकादेश से अपहृत

हो जाने से प्रकृति मान्त (राम्) हो जाती है। एकादेश पूर्व के अन्त की तरह हो और साथ ही पर के आदि की तरह हो ऐसा होता नहीं—**उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्** ऐसा न्याय है।

कार्यकाल पक्ष में (कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्) इस पक्ष में संज्ञा शास्त्र **सुप्तिङन्तं पदम्** (१।४।१४) विधिशास्त्र **तिङ्ङतिङः** (८।१।२८) में उपस्थित हो कर एक वाक्यतापन्न हो जायगा, तब इसकी स्वतन्त्र प्रवृत्ति न होने से वृद्धि एकादेश होकर निष्पन्न हुए 'रामौ' का 'पश्य' आदि के साथ अन्वय होकर रामौ पश्य इत्यादि में विधिशास्त्र (जिसका अर्थ है—अतिङन्त पद से परे तिङन्त पद निघात होता है) के प्रवृत्त होने पर ही संज्ञाशास्त्र (१।४।१४) की प्रवृत्ति होती है। उससे पहले नहीं। यदि 'रामौ' पद है तो 'पश्य' निहत (अनुदात्त) होगा। अतः प्रकृत विचार प्रक्रान्त हुआ है।

यदि यथोद्देश पक्ष कैयट के अनुसार उन लोगों के लिये स्वीकृत किया गया है जो यथाश्रुतग्राही हैं जो संज्ञा अथवा परिभाषा-वाक्यार्थ के बोधमात्र से सन्तुष्ट हैं, इन संज्ञाओं तथा परिभाषाओं का कुछ प्रयोजन होगा, शास्त्र अनर्थक नहीं हो सकता, ऐसा मानते हैं, तो 'राम+औ' इस अवस्था में ही वृद्धि एकादेश किये बिना ही सुबन्त होने से पद-संज्ञा हो जायगी और तदादि-तदन्त-त्वाभाव-रूप अनुपपत्ति नहीं होगी ॥३६॥

सीरदेवीय—

कोई कहता है—(वह) **द्विः पठति** (वह दो बार पढ़ता है)। उसका अनुकरण करते हुए कोई दूसरा कहता है—**'द्विः पठति' इत्याह**, ऐसा कहता है। यहां प्रकृतिवद्भाव होने से **तिङ्ङतिङः** (८।१।२८) से अतिङन्त पद से परे तिङन्त पद को निघात सिद्ध होता है। 'द्विः' भी अनुकरण है 'पठति' भी अनुकरण है। सार्थक न होने से (केवल शब्द परक होने से) 'द्विः' पद नहीं है, न ही 'पठति' पद है, पर इस परिभाषा से अनुकार्य द्विः पठति पदों के पदत्व-धर्म का अनुकरणभूत द्विः तथा पठति शब्दों में अतिदेश हो जाने से ये भी पद माने जाते हैं जिससे 'पठति' निघात (अनुदात्त) हो जाता है।

परिव्यवेभ्यः क्रियः (१।३।१८) इत्यादि निर्देश में 'क्री' इस अनुकरण शब्द से विभक्त-उत्पत्ति के लिये प्रातिपदिक संज्ञा मानने पर भी धातुत्व-निमित्तक इयङ् आदेश का करना ज्ञापक है। शङ्का—यदि प्रकृतिवद्भाव से धातु कार्य इयङ् आदेश होता है, तब अधातुः (प्रातिपदिक सूत्र में पढ़ा हुआ) इस निषेध

से प्रातिपदिक संज्ञा का निषेध हो जाना चाहिये। 'क्रियः' इत्यादि में पञ्चमी विभक्ति नहीं होनी चाहिये। उत्तर—'अधातुः' यह प्रसज्य-प्रतिषेध नहीं—**धातोर्न भवतीति,** किन्तर्हि पर्युदास है—**धातोरन्यत्र भवतीति** (जहां धातुत्व न हो वहां प्रातिपदिक संज्ञा होती है)। 'क्री' आदि शब्द अनुकरण होने से अधातु हैं और प्रकृतिवद्भाव से धातु हैं। इस तरह **उभयरूप होने से धातु से भिन्न ही हैं।**

शङ्का—अनुकरण शब्द के अनर्थक होने से प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होनी चाहिये। यदि कहो अनुकार्य शब्द ही इसका अर्थ है तो ठीक नहीं। भेद न होने से, भेद होने पर वाच्यवाचक सम्बन्ध होता है। अनुकरण शब्द का अनुकार्य शब्द से कोई भेद नहीं जाना जाता। अच्छा तो बौद्ध भेद हो सकता है। ऐसा होने पर भी अनुकार्य वाच्य के शब्दात्मक होने से अनुकरण उसका वाचक नहीं हो सकता। शब्द का दूसरा शब्द वाच्य नहीं होता। अर्थ ही वाच्य होता है। नहीं। ऐसा कोई नियम नहीं। शब्द भी शब्द का वाच्य देखा जाता है। यथा भू शब्द धातु शब्द का वाच्य है। पर यह तो इसलिये युक्त है क्योंकि आचार्य ने 'भू' आदि की धातु संज्ञा की है। तो अनुकरण भी अनुकार्य का वाचक हो यह युक्त ही है, कारण कि आचार्य का ऐसा व्यवहार है, और व्यवहार ही वाच्य-वाचक-भाव में एकमात्र कारण है।

शङ्का—अनुकार्य शब्द-रूप अर्थ के होते हुए भी अनुकरण शब्दों से विभक्ति की उत्पत्ति नहीं हो सकती, कारण कि वह संख्या में विधान की है। अनुकरण शब्दों में द्रव्य में समवाय-सम्बन्ध से रहने वाली संख्या हो ही नहीं सकती। अनुकरण के शब्दात्मक होने से और शब्द आकाश का गुण है इसलिये शब्द द्रव्य नहीं है। संख्या भी गुण है और वह शब्द में हो नहीं सकती। **निर्गुणा गुणाः,** गुणों में गुण नहीं होते ऐसा वैशेषिकों का कृतान्त है। उत्तर—शब्द का इदम्, तद् आदि सर्वनामों से परामर्श (संकेत) देखा जाता है और व्याकरण शास्त्र में यही द्रव्य का लक्षण माना गया है। भर्तृहरि का यह सिद्धान्त है—

> **वस्तूपलक्षणं यत्र सर्वनाम प्रयुज्यते।**
> **द्रव्यमित्युच्यते सोर्थो भेद्यत्वेन विवक्षितः** (वा० प० ३।४।३) ॥३६॥

उक्त शङ्का के निरास के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

एकदेशविकृतमनन्यवत्। (३७)

अर्थ—**एकदेशविकृतम्**—यह बहुव्रीहि समास है। **सामान्ये नपुंसकम्। एकदेशो विकृतोऽस्य।** आहिताग्नि आदि होने से 'क्तान्त' का परनिपात हुआ है। कैयट कर्मणि क्तान्त के साथ तृतीया समास मानता है—**एकदेशेन विकृतम्** हुआ है। अनन्यवत् का अर्थ है—अन्यवत् न। **अनन्यवत्** में कुछ लोग 'वति' प्रत्यय मानते हैं, दूसरे मतुप्। मतुप् मानने पर 'अन्य' अन्यत्व (धर्ममात्र) का वाचक होगा। वाक्यार्थ है—जो एकदेश (एक अंश, एक अवयव) विकार होने से विकृत हो गया है वह विकार से पहले जो था वही रहता है उससे भिन्न नहीं हो जाता। **स्वावयव-विकार-विशिष्टं स्ववद् भवति** ऐसा तात्पर्य है।

इस न्याय के बल पर एकदेश विकृत से भी वही अर्थबोध होता है जो अविकृत से होता था। वर्णानुपूर्वी के किञ्चित् विकृत होने पर भी पद में पूर्ववत् शक्तता अवस्थित रहती है। अतः मान्त 'राम्' भी सुप् प्रत्यय औ के लिये तदादि 'राम' ही है और 'औ' यह परादिवद्भाव से सुप् है अतः तदादि तदन्त होकर सुबन्त होने से 'रामौ' यह पद है।

यह परिभाषा लोकन्याय सिद्ध है। लोक में छिन्नपुच्छ श्वा को भी (कुत्ता जिसकी पूंछ कट गई है, उसे भी) श्वा (कुत्ता) नाम से पुकारते हैं, उसे घोड़ा या गधा नहीं कहते। (कारण कि बहुत से अवयव जाति के व्यञ्जक होते हैं, किसी एक के न रहने पर भी यह व्यक्ति किस जाति का है बोध हो ही जाता है)। तो प्रकृत में मान्त राम् (जिसके एकदेश=एक अवयव का अपहार हो गया है) अकारान्त राम ही है, उससे भिन्न नहीं।

प्राग्दीव्यतोऽण् (४।१।८३) सूत्र भाष्य में दीव्यतिशब्द के एकदेश 'दीव्यत्' शब्द का यह अनुकरण है ऐसा कहकर विकृत निर्देश क्यों किया ? इसलिये कि ऐसा करने से आचार्य ज्ञापित करना चाहते हैं कि एकदेश विकृतमनन्यवत् ऐसी परिभाषा है। इसी भाष्यग्रन्थ से प्रकृत न्याय शास्त्रीय विकार (शास्त्रोपदिष्ट आदेश) अथवा शास्त्रीय कार्य में ही प्रवृत्त होता है यह बात स्वयम् खण्डित हो जाती है, कारण कि 'दीव्यति' के 'इ' का लोप (अनुच्चारण) न तो शास्त्रीय विकार्य (आदेश) है और न शास्त्रीय कार्य, पर भाष्यकार इस न्याय से इसका समाधान कर रहे हैं।

यदि विकृत (अपहृत) अवयव के निमित्त से कोई कार्य विधान होगा तो वहाँ यह न्याय प्रवृत्त नहीं होगा। छिन्नपुच्छ (दुमकटे) कुत्ते के विषय में यह पुच्छवान् (दुम वाला) है ऐसा व्यवहार नहीं होता, ऐसे ही शास्त्र में शब्द का जो अवयव चला गया है उसे अब भी है ऐसा जानकर शास्त्रकार्य नहीं

होता। विद्यमान बहुत से अवयव नहीं बता सकते कि जो एक अवयव चला गया है वह कैसा था।

इसीलिये जहां **अक्त-परिमाण** (अक्त=परिच्छिन्न=नियत) वाची शब्दों का प्रयोग हो वहां भी इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती। संख्या-परिमाण-वाची शब्द **'अक्त-परिमाण'** होते हैं। ये एक, द्वि, त्रि, (संख्यावाचक), खारी, द्रोण आदि (परिमाणवाची) स्वार्थ से अधिक वा न्यून को नहीं कहते।

इस न्याय की विकार होने पर यदि सर्वत्र प्रवृत्ति होगी तो स्थानिवत् सूत्र व्यर्थ हो जायगा। जहां विकार शब्द के अर्ध भाग को, अथवा अर्ध भाग से अधिक को हुआ हो वहां यह न्याय प्रवृत्त नहीं होता, कारण कि वहां जाति के व्यञ्जक बहुत से अवयव नहीं होते। उस अवस्था में स्थानिवत्सूत्र की प्रवृत्ति होती है। विकृत अवयव की प्रतीति के लिये भी स्थानिवत् सूत्र आवश्यक है। विकृत (=आदिष्ट, लुप्त) अवयव अब भी स्थानी का अवयव है इस अर्थ की प्रतीति के लिये।

कहीं-कहीं लक्ष्यानुरोध से प्रकृत परिभाषा का आश्रयण नहीं होता। **'अभीयात्'** में अभि+ईयात् (=अभि+इण् आशीर्लिङ्—त्) में एकादेश होने पर पूर्व अभि के 'इ' का अपहार होने से पूर्व में अभ् रह जाता है। अब यहां यदि इस अभ् को प्रकृत परिभाषा से 'अभि' की तरह पद मान लिया जाय तो **झलां जशोऽन्ते** (८।२।३९) से 'भ्' को जश्त्व से ब् हो जाय।

यह परिभाषा भगवान् भाष्यकार को भी अभिमत है ऐसा हम (१।१।५७) सूत्र के भाष्य से जानते हैं। **श्रेयसि भवं श्रायसम्।** यहां श्रेयस् से अण् आने पर श्रेयस् के 'ए' को (७।३।१) से 'आ' आदेश हो जाता है। सर्वनामस्थान औ विभक्ति आने पर एकादेश द्वारा पूर्व 'अ' का अपहार होने से पूर्व में श्रायस् ऐसा सकारान्त शब्दरूप रहता है जो उगित् है। इसे (७।१।७०) से नुम् प्राप्त होता है, जिसे **अचः परस्मिन्पूर्वविधौ** (१।१।५७) से भाष्यकार रोकते हैं। पर यदि यह परिभाषा न हो तो श्रायस् के अङ्ग न होने से नुम् की प्राप्ति ही न थी तो उसके वारण के लिये यह प्रयास क्यों किया जाता?

सीरदेवीय

अभवत्—यहाँ **इतश्च** (३।४।१००) से इकार लोप होने पर भी तिङ्-आश्रित सार्वधातुक संज्ञा तथा पदसंज्ञा सिद्ध होती है। **हिनुमीना** (८।४।१५) **'प्रहिणोति'** में एकदेश के विकृत होने पर भी णत्व होता है।

अब बाध्यबाधकभाव निरूपण प्रकरण प्रारम्भ होता है।

पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः। (३८)

अर्थ—पूर्व से पर बलवान् है, पर से नित्य, नित्य से अन्तरङ्ग, और अन्तरङ्ग से अपवाद। पूर्व से पर के बलवान् होने में हेतु विप्रतिषेध शास्त्र है। पर शास्त्र तुल्यबल विरोध होने पर पूर्व को बाधता है। इस परिभाषा में पढ़े हुए पूर्व पर शब्द अष्टाध्यायी क्रम के संकेतक हैं। 'नित्य' का अर्थ परिभाषा (४२) में कहा गया है, अन्तरङ्ग का (५०) में और अपवाद का (५७) में। परिभाषा में पूर्व, पर शब्दों से पूर्व पर शास्त्र भी लिये जाते हैं, तद्विहित कार्य भी।

अब यहां शङ्का होती है कि भिद् के लोट् म० पु० एक० में भिन्द्धि रूप दुर्लभ होगा, कारण कि **हु-झल्भ्यो हेर्धिः** (६।४।१०१), जो 'हि' को 'धि' आदेश विधान करता है वह पूर्व सूत्र है और **तुह्योस्तातङ् ङाशिष्यन्यतरस्याम्** (७।१।३५) पर सूत्र है, यह 'हि' को वैकल्पिक तातङ् विधान करता है। परिभाषा (३८) से यदि पूर्व को पर शास्त्र सर्वत्र बाधे, तो 'हि' को 'धि' का प्रसङ्ग ही नहीं। इसके समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धम्। (३९)

अर्थ—(कभी-कभी) किसी शब्द रूप की सिद्धि में पूर्वशास्त्र से बाधित होने पर भी पूर्व सूत्र की पुनः प्रसङ्ग (प्रवृत्ति) मानी जाती है। 'सिद्धम्' यह सामान्ये नपुंसक है। अर्थ है—**लक्ष्य सिद्धं भवति।**

प्रसङ्ग—यह लुप्तसप्तमीक पद है। **प्रसङ्गे=प्राप्तौ सत्याम्। विज्ञानम्—शास्त्र-प्रवृत्तिः।**

कैयट के अनुसार इस परिभाषा की प्रवृत्ति वहीं होती है जहां पूर्व शास्त्र की प्रवृत्ति से परशास्त्र की प्रवृत्ति असंभव नहीं हो जाती है। इस कथन के अनुसार शङ्का-स्थल में दिया हुआ **'भिन्द्धि'** इस परिभाषा का युक्त उदाहरण नहीं। **'भिन्द्धकि'**—यह युक्त उदाहरण है। यह टि (अन्त्य इ) से पूर्व (५।३। ७१) से विधीयमान अकच् आगम (६।४।१०१) से विधीयमान धि-भाव को रोकता नहीं। दूसरे लोग कैयट के इस मत को स्वीकार नहीं करते। अन्यत्र स्वयम् कैयट अपने इस मत का अर्थतः प्रतिवाद करता है। (७।१।७७) सूत्र अक्षि के 'इ' को दीर्घ ईकार आदेश विधान करता है। यह सूत्र पर होने से नुम्-विधायक **इकोऽचि विभक्तौ** (७।१।७३) को बाधता है। पर सूत्र से एक बार

बाधित हो जाने से पूर्वसूत्र की पुनः प्रवृत्ति नहीं होती (परिभाषा ४०)। **नपुं-सकाच्च** (७।१।१६) से विभक्ति 'औ' के स्थान में शी (ई) आदेश होता है। अन्ततः अङ्ग के 'ई' तथा विभक्ति के 'ई' के स्थान सवर्ण दीर्घ एकादेश 'ई' होता हैं।

इस परिभाषा का ऐसा अवतरण भी पढ़ा जाता है—**नन्वेवं भिन्द्धकीत्यत्र परत्वाद्धिना बाधितोऽकच् न स्यात्**। इस अवतरण में 'धि' के अन्तरङ्ग होने से और अकच् के नित्य होने से अतुल्य-बल-विरोध के कारण परत्व होने से ही बाध न हो सकेगा, अतः कहा है—**धित्वेऽकज् न स्यात्**।

यदि प्रसङ्ग = प्राप्ति होने पर पूर्व बाधित पूर्वशास्त्र की पुनः प्रवृत्ति हो जाती है तो 'त्रि' के स्थान में जो आम् (षष्ठी बहु०) परे **त्रेस्त्रयः** (७।१।५३) से 'त्रय' आदेश विधान किया है इसे बाधकर स्त्रीत्वविवक्षा में **त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ** (७।२।६६) से तिसृ आदेश होता है, (जो स्थानिवद्भाव से 'त्रि' ही है) इसे पुनः 'त्रय' आदेश हो जाना चाहिये। इसके समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेव। (४०)

अर्थ—विप्रतिषेध होने पर जो शास्त्र एक बार बाधित हो जाता है वह प्राप्ति होने पर भी बाधित ही रहता है, पुनः प्रवृत्त नहीं होता। **गतौ=प्राप्तौ। सकृद् का अन्वय 'बाधित' के साथ है।**

जब किसी शब्द-रूप लक्ष्य की सिद्धि में दो भिन्न-भिन्न कार्य जो किसी और शब्द-रूप (लक्ष्य) की सिद्धि में सफल हो चुके हैं, एक साथ प्राप्त होते हैं, पर एक साथ प्रवृत्ति असंभव है, अतः उनके विधायक शास्त्रों की प्रवृत्ति पर्याय से (एक के पीछे दूसरे की) होगी, जैसे ण्वुल, तृच् कर्त्रर्थ में धातुमात्र से पर्याय से होते हैं (कर्तृ—कृ+तृच्, कारक—कृ+ण्वुल्), क्योंकि उन दोनों की प्रवृत्ति की कोई रोकथाम नहीं। ऐसा प्रसङ्ग होने पर विप्रतिषेध शास्त्र (वि-प्रतिषेधे परं कार्यम् १।४।२) नियम करता है, पर ही हो, पूर्व न हो। इससे सकृद् गतौ—न्याय की सिद्धि होती है।

पूर्वोक्त परिभाषा पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धम् की सिद्धि इस प्रकार होती है—समानबल वाले दो पुरुषों का प्रेष्य (नौकर जो काम पर भेजा जाता है) उन दोनों का पर्याय से कार्य करता है। पर जब वे दोनों उसे एक ही समय में (युगपत्) ऐसे कार्य पर भेजते हैं जो भिन्न-भिन्न दिशाओं में करना होता

है, वह एक ही समय दोनों को करने में असमर्थ होने से किसी एक का भी कार्य नहीं करता। इसी प्रकार दो शास्त्रों का अपना-अपना विषय होने पर, जहां एक प्रवृत्त होता है, वहां दूसरा प्रवृत्त, नहीं होता। किसी एक लक्ष्य में दोनों की एकसाथ प्राप्ति होने पर प्रवृत्ति न हो सकेगी (अप्रतिपत्ति= अननुष्ठान, कार्य न करना)। अतः अप्रतिपत्ति के वारण के लिये (शास्त्र की अचरितार्थता को रोकने के लिये), विप्रतिषेध सूत्र पर विधि के लिये है, पर-शास्त्र प्रवृत्त हो इस विधान के लिये है। विधिरत्यन्तमप्राप्तौ इत्यादि— यह कुमारिलीय कारिका विधि का लक्षण करती है। परशास्त्र की प्रवृत्ति के पश्चात् यदि पूर्व शास्त्र का प्रसङ्ग हो तो वह भी प्रवृत्त होता है। यह सब विप्रतिषेधे परं कार्यम् सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

परन्तु कैयट और उसके अनुगामी सीरदेवादि पद का वाच्यार्थ व्यक्ति है इस पक्ष में प्रतिलक्ष्य लक्षण का भेद होने से (जितने लक्ष्य=साध्य रूप उतने ही साधक शास्त्र=सूत्रों के होने से) तद्तद्-व्यक्ति-विषयक नव-कल्पित दो सूत्रों के पूर्वत्र अपने विषय में अचरितार्थ होने से एक ही लक्ष्य में इदम्प्रथमतया प्रसक्त होने से पर्याय से प्राप्ति हो सकती है। ऐसी स्थिति में विप्रतिषेधे परम् —यह शास्त्र नियामक हो जाता है, पर शास्त्र ही प्रवृत्त हो, पूर्व न हो, ऐसा नियम करता है, इससे सकृद्गतौ—न्याय की सिद्धि होती है। इस पक्ष में ऐसा नियम होने से ही पूर्व शास्त्र का उपप्लव (भेद, आवृत्ति) नहीं होता, पर की ही प्रवृत्ति होने से तद्व्यक्तिविषयक कल्पित पूर्वशास्त्र व्यर्थ हो जाता है, ऐसी शङ्का नहीं होती।

जातिपक्ष में (जब पद का वाच्यार्थ जाति है) जात्यङ्गभूत किसी एक वा दो व्यक्तियों (लक्ष्यों) में दो शास्त्रों के चरितार्थ होने से किसी एक लक्ष्य (जो शास्त्रविहित कार्य का उद्देश्य है) में युगपत् (एकसाथ) दोनों कार्यों का असम्भव होने से दोनों की अप्रवृत्ति प्रसक्त होती है[1] (जिससे शास्त्र की प्रवृत्ति न होने से इष्टरूपाऽसिद्धि का प्रसङ्ग हो जाता है)। इस पक्ष में विप्रतिषेधे परम्—शास्त्र परशास्त्र की प्रवृत्ति हो इस प्रकार विधिशास्त्र बन जाता है (पूवशास्त्र का निषेध नहीं करता, पर शास्त्र के प्रवृत्त होने पर यदि पूर्व शास्त्र

१. जैसे सत्प्रतिपक्ष स्थल में परस्पर प्रतिबन्धक हेतु होने से किसी एक साध्य की भी अनुमिति नहीं होती। **विरुद्धसाध्य-साधक-हेतुमान् पक्षः सत्प्रति-पक्षः।**

की प्रवृत्ति का अवसर हो तो वह भी हो सकता है)। इससे **पुनः प्रसङ्गविज्ञानात्** —इस परिभाषा की सिद्धि होती है।

उपर्युक्त सन्दर्भ में कैयट **प्रतिलक्ष्यं लक्षणभेदात्**, एक-एक लक्ष्य के लिये लक्षण-भेद स्वीकार करने से व्यक्तिपक्ष में शास्त्र सभी लक्ष्यों को व्याप्त करता है, अपना विषय बनाता है, जातिपक्ष में किसी एक दो लक्ष्यों में चरितार्थ होने से अव्यापक रह जाता है ऐसा अभिप्राय प्रकट करता है। नागेश इसका प्रत्याख्यान करता है। नागेश का कहना है कि शास्त्र व्यक्तिपक्ष में लक्ष्य मात्र को व्याप्त करता है, जातिपक्ष में नहीं—इसमें कोई प्रमाण नहीं। **ब्राह्मणं न हन्यात्** (ब्राह्मण को न मारे)—यह निषेध जात्याश्रित सभी ब्राह्मण व्यक्तियों में लागू हो इसलिये जातिपक्ष का आश्रयण भाष्य में किया है।

जातिपक्ष में शास्त्र लक्ष्यमात्र का व्यापक होता है ऐसा मानने से ही **सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ** (१।२।६४) सूत्र के भाष्य में भाष्यकार का यह कहना सङ्गत होता है—जाति के पदार्थ होने पर (जात्याश्रित) सकल व्यक्तियों में शास्त्र प्रवृत्ति का प्रसङ्ग होने से **गौरनुबन्ध्यः** (बैल को बांधे) इस शास्त्रविधि में सकलगोव्यक्तियों के अनुबन्धन का असंभव होने से शास्त्रीय कार्य विकलाङ्ग रह जायगा। व्यक्ति के पदार्थ होने पर सकल गोव्यक्तियों का बुद्ध्या ग्रहण न होने से गौरनुबन्ध्यः इस विधि के अनुष्ठान में एक गौ (बैल) का अनुबन्धन तो शास्त्रविहित अनुष्ठान होगा, और तदतिरिक्त अन्य गौ (बैल) का अनुबन्धन अशास्त्रविहित अनुष्ठान ठहरेगा। ऐसा भी कहा है। इससे व्यक्तिपक्ष में शास्त्र अव्यापक रहता है यह अत्यन्त स्पष्ट है।

अन्यथा भी व्यक्तिपक्ष में शास्त्र की सर्वलक्ष्याव्यापकता सिद्ध की जा सकती है। व्यक्तिपक्ष में भी ऐसी कल्पना की जा सकती है कि कोई एक व्यक्ति अन्य व्यक्तिरूप विषय को प्राप्त करके चरितार्थ हुए दो शास्त्रों का अपने आपको विषय न बनाये जब वे उस एक व्यक्ति में प्रवृत्तिकाल में परस्पर विरोधी हो जाते हैं। जातिपक्ष में उस जाति के आश्रय-भूत किसी एक व्यक्ति में (किन्हीं व्यक्तिविशेषों में) शास्त्र की प्रवृत्ति हो और किसी दूसरी तज्जात्याश्रय व्यक्ति अथवा व्यक्तियों में न हो इसमें कोई **विनिगमना** (एकतरपक्षपातिनी युक्ति) नहीं।

सार यह है कि लक्ष्यानुरोध से कहीं शास्त्रीय दृष्टान्त (यथा **ण्वुल्तृचौ धातुमात्रात्पर्यायेण भवतः**) का आश्रयण होता है, और कहीं लौकिक दृष्टान्त

(प्रेष्यस्य स्वामिभ्यां नानादिक्स्थे कार्ये युगपत्प्रेषणम्) का आश्रयण होता है, यही भाष्यसम्मत मार्ग है। अर्थात् उभय-दृष्टान्त-समर्थित दोनों परिभाषाएं मान्य हैं।

विप्रतिषेध दो प्रकार का कहा है—**द्विकार्ययोगः, असम्भवश्च**। (१) एक ही स्थान में युगपत् कार्य-द्वय की प्राप्ति, (२) दो विरोधी कार्यों का एक स्थल में एक साथ न हो सकना। **विप्रतिषेधे परं कार्यम्**—इस शास्त्र की प्रवृत्ति के लिये असम्भवरूप विप्रतिषेध ही उपयोगी है। इसके कुछ एक उदाहरण दिये जाते हैं—शिष्टात् (लोट् म० पु० ए०) की सिद्धि में **तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्** (७।१।३५) से 'हि' के स्थान में तातङ् आदेश होता है और **शा हौ** (६।४।३५) से 'हि' परे रहते शास् को 'शा' आदेश होता है। जब ये आदेश युगपन् (एक साथ) प्रवृत्त होने लगते हैं तो इनका अपने अपने निमित्त के साथ आनन्तर्य नहीं रह सकता (तातङ् करते हैं तो **'शा'** आदेश का निमित्त 'हि' चला जाता है, यदि शास् को 'शा' करते हैं तो तातङ् के लिये शास्-रूप अङ्ग जो तातङ्रूप आदेश का एक निमित्त है, नहीं रहता)। यद्यपि 'हि' को तातङ् आदेश होने के पीछे स्थानिवद्भाव से 'हि' मानकर अपने निमित्त के साथ आनन्तर्य बना रहने से 'शा' किया जा सकता है, पर आदेश-प्रवृत्ति काल में स्व-स्व-निमित्तानन्तर्य का असंभव ही रहता है। **'प्रियक्रोष्टूनि'** की सिद्धि में प्रियक्रोष्टु शि(इ)—इस अवस्था में नुम् और तृज्वद्भाव का युगपत् असंभव है। यदि नुम् करते हैं (**इकोऽचि विभक्तौ** ७।१।७३), तो अङ्ग 'क्रोष्टुन्' हो जाता है और तृज्वद्भाव क्रोष्टु' को कहा है (**तृज्वत् क्रोष्टुः** ७।१।९५), क्रोष्टुन् को नहीं। नुम् आगम होने के पीछे यदागमपरिभाषा से क्रोष्टुन् को क्रोष्टु मानकर यद्यपि तृज्वद्भाव प्राप्त होता है, पर नुम्-प्रवृत्ति काल में नहीं। इसी प्रकार 'भिन्द्धि' रूप की सिद्धि में तातङ् और धि आदेशों की युगपत् प्रवृत्ति में इनका एक ही स्थानी के साथ युगपत् सम्बन्ध तथा अङ्ग रूप निमित्त के साथ आनन्तर्य नहीं हो सकता। यहां एक ही स्थानी 'हि' को दो आदेश 'तातङ्' और 'धि' एक-साथ नहीं हो सकते। और दोनों आदेशों के साथ अङ्ग (जो आदेश के निमित्तों में से एक है) का आनन्तर्य (अनन्तरपूर्वत्व) भी नहीं हो सकता। वारि+आम् (ष० बहु०)—यहां इकोचि विभक्तौ (७।१।७३) से नुम् तथा ह्रस्वनद्यापो नुट् (७।१।५४) से नुट् युगपत् नहीं हो सकते। वे एक दूसरे को रोकते हैं। यदि नुम् करते हैं तो अङ्ग अजन्त नहीं रहता। यदि नुट् करते हैं तो अजादि विभक्ति परे न रहने से नुम् की प्राप्ति नहीं रहती।

कहीं-कहीं इष्टरूप की सिद्धि के लिये पूर्व शास्त्र में विधेय में स्वरित चिह्न करने से उसमें अधिक बल हो जाने से पूर्व शास्त्र भी परशास्त्र को बाध लेता है। विप्रतिषेध सूत्र में **परशब्द को इष्टवाची मानने से** शास्त्र में जो भी पूर्व-विप्रतिषेध कहे हैं वे सभी संगृहीत हो जाते हैं ॥४०॥

सीरदेवीय—

सकृद्गतौ विप्रतिषेधे—,तथा **पुनः प्रसङ्गविज्ञानात्**—यह दो वचन **विप्रतिषेधे-परं कार्यम्** (१।४।२) सूत्र में व्यक्ति-जाति-पक्षद्वय का फलस्वरूप परिभाषा के रूप में पढ़े गये हैं। व्यक्ति पदार्थ मानने पर प्रतिलक्ष्य लक्षण के व्यापार के भेद से पर्याय से दोनों विधियां प्राप्त होती हैं। जैसे देवदत्त यज्ञ-दत्त एक भाजन (पात्र) में क्रम से भोजन करते हैं। व्यक्तिपक्ष में जितनी बार लक्ष्य उपस्थित होता है उतनी बार लक्षण का व्यापार होता है, मानों प्रति बार नया लक्षण प्रवृत्त होता है जो पहले कभी प्रवृत्त नहीं हुआ, अर्थात् वह कहीं भी चरितार्थ नहीं हो चुका है। ऐसे दो शास्त्रों की जब एक लक्ष्य में युगपत् प्राप्ति होती है तब क्रमिक प्राप्ति संभव होने पर यह नियम किया जाता है, कि उन दो में से जो **पर** शास्त्र है, वही प्रवृत्त हो, **पूर्व** नहीं। **पर** से **पूर्व** का बाध हो। इससे पूर्व-शास्त्र अनर्थक नहीं हो जाता। विप्रतिषेध सूत्र उसकी असत्ता को नहीं कहता। विप्रतिषेध से अन्यत्र वह चरितार्थ रहता है। गतौ विप्रतिषेधे ऐसा अन्वय इष्ट है। प्राप्ति होने पर विप्रतिषेध में (तुल्यवल विरोध होने पर)। यथा—**आज्जसेरसुक्** (७।१।५०) इसके **पर** होने से जस्स्थानिक 'शी' को बाध कर असुक् आगम होने पर फिर 'शी' नहीं होता। विप्रतिषेध विषय में जब एक शास्त्र (पूर्वशास्त्र) बाधा जाता है, वह बाधित ही रहता है। यथा वा—**स्तात् त्वम्**—यहां 'हि' को तातङ् **पर** होने से बाधता है, तातङ् को स्थानिवद्भाव से 'हि' मानकर 'धि' नहीं होता।

जातिपक्ष में लक्षण एक बार ही सभी लक्ष्यों में प्रवृत्त हो जाता है। विप्र-तिषेध होने पर ऐसे दो लक्षणों (शास्त्रों) की प्रवृत्ति एक ही लक्ष्य में प्राप्त नहीं होती, कारण कि दोनों अन्यत्र अपने-अपने विषय में चरितार्थ हैं। इस स्थिति में अप्रवृत्ति ही प्राप्त होती है। जिससे इष्ट-रूप-निष्पत्ति रुक जाएगी। तिस पर विप्रतिषेध-शास्त्र विधायक होता है—विप्रतिषेध के विषय में **पर** हो, यह विधान करता है। **पर** के विधान में इस सूत्र का व्यापार है, पूर्व की

निवृत्ति में व्यापार नहीं। तो यदि परविधि होने पर पूर्व का अवसर हो, तो वह भी प्रवृत्त होती है। इसे पुनः प्रसङ्ग विज्ञान कहते हैं।

जहां पूर्व शास्त्र की प्रवृत्ति से **पर** का बाध हो वह सकृत् गति परिभाषा का विषय है, पर जहां पूर्वशास्त्र की प्रवृत्ति से **पर** का बाध न होता हो, वह पुनः प्रसङ्ग विज्ञान का विषय है ऐसा किन्हीं लोगों का मत है। यह अयुक्त है। यदि ऐसा हो **अक्षी त इन्द्र पिङ्गले कपेरिव**—यहां **पर** होने से **ई च द्विवचने** (७।१।७७) से दीर्घ ईकार होने पर पूर्व शास्त्र **इकोचि विभक्तौ** (७।१।७३) से विहित नुम् हो जायगा ॥४०॥

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि एधते इत्यादि में 'ल्' के स्थान में सामान्य रूप से तिवादि होने पर **कर्तरि शप्** (३।१।६८) विकरण शास्त्र के **पर** होने से पहले शप् होने पर शप् के व्यवधान के कारण **अनुदात्तङित आत्मनेपदम्** (१।३।१२) इस **नियम** की प्रवृत्ति न हो सकेगी, जिससे विहितपूर्व परस्मैपद की व्यावृत्ति न होगी। इस शङ्का के निवारण के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

विकरणेभ्यो नियमो बलीयान्। (४१)

अर्थ—विकरण शास्त्र के **पर** होने पर भी अनुदात्तङित आत्मनेपदम् इत्यादि नियम शास्त्र उससे बलवत्तर माने जाते हैं।

इस परिभाषा के अस्तित्व में **वृद्भ्यः स्यसनोः** (१।३।९२)से स्य परे होने पर वृत आदि धातुओं से परस्मैपद का जो वैकल्पिक विधान किया है, वह ज्ञापक है। यदि **पर** होने से नियम की प्रवृत्ति से पहले 'स्य' विकरण हो जाय तो 'स्य' के व्यवधान के कारण नियमशास्त्र की प्रवृत्ति रुक जायगी और सामान्य शास्त्र से 'ल्' के स्थान में जो तिवादि हुए हैं, उन्हीं से दोनों रूप सिद्ध हो जायेंगे, वृद्भ्यः स्यसनोः से पाक्षिक परस्मैपद विधान व्यर्थ हो जायगा। परिभाषा के ज्ञापित होने पर **'स्ये'** में विषयसप्तमी समझी जायगी। स्य के विषय में, अर्थात् जहाँ 'स्य' विकरण वृत् आदि धातुओं से होना है। इस अर्थान्तर में विकरण से पूर्व आत्मनेपद का होना ही कारण है। विकरण रूप व्यवधान होने पर भी अनुदात्तङितः आदि नियम शास्त्रों की प्रवृत्ति होती है इसमें यही उक्त ज्ञापक है। इसकी शदेःशितः (१।३।६०) के भाष्य में ध्वनि मिलती है।[1]

---

१. इस सूत्र के भाष्य में कैयट का कथन है—**अन्यथापि तज्ज्ञापकं**

वस्तुतः वृद्भ्यः स्यसनोः इस ज्ञापक से यह सिद्ध होता है कि अनुदात्तङित आत्मनेपदम् इत्यादि प्रकरण लस्य (३।४।७७), तिप् तस्झि—(३।४।७८) के साथ एकवाक्यता को प्राप्त होकर विधायक शास्त्र बनता है, नियामक नहीं, जैसा कि पहले कह चुके हैं। धातोः (३।१।९१) से पञ्चम्यन्त 'धातोः' की अनुवृत्ति आ रही है। यह पञ्चमी विहितपञ्चमी है (धातु से जो विहित)। 'स्यसनोः' परसप्तमी नहीं है। अनुदात्तङितः आदि भी पञ्चम्यन्त हैं। यह पञ्चमी भी विहितपञ्चमी है। इन दोनों शास्त्रों की एकवाक्यता (जो यहाँ वाक्यैकवाक्यता ही है) इस प्रकार होगी—धातु से विहित ल् के स्थान में तिबादि होते हैं, वे अनुदात्तङित् धातु से 'ल्' के स्थान में ऐसे होते हैं कि जिनके होने पर उनकी आत्मनेपद संज्ञा होती है। यह एकवाक्यता कार्यकाल-पक्ष में ही होती है, यथोद्देशपक्ष में नहीं, वहाँ वाक्यभेद ही रहता है। इस प्रकार विहित विशेषण मानकर एकवाक्यता करने पर लावस्था में ही 'स्य' प्रत्यय होने से तत्कृत व्यवधान न होने पर आत्मनेपद हो जायगा।

समर्थयितुं शक्यते। कृतोऽपि विकरणो न व्यवधायक इति। यहाँ उपसर्गपूर्व-नियमेऽड्व्यवायेऽप्युपसंख्यानम्—यह वार्तिक पढ़ा है। न्यविशत। व्यक्रीणीत। पायगुण्ड के अनुसार यह वार्तिक व्यर्थ हो जाता है यदि प्रकृत परिभाषा मानी जाती है, कारण कि उस अवस्था में नि+विश्+लङ् तिङ् की सिद्धि में जहाँ नेर्विशः (१।३।१७), तुदादिभ्यः शः (३।१।७७), लुङ् लङ् लृङ्क्ष्वडुदात्तः (६।४।७१)—तीन शास्त्रों की प्राप्ति होती है, वहाँ नेर्विशः (१।३।१७) की प्रवृत्ति पहले होगी, तब विकरणशास्त्र (३।१।७७) की, क्योंकि वह नित्य है, इसके पीछे अडागमशास्त्र (६।४।७१) की। अब उक्त ज्ञापक (१।३।९२) से प्रकृत परिभाषा की सिद्धि न करके यह ज्ञापित करने का यत्न है कि विकरण के धातु को तिङ् से व्यवहित करने पर भी आत्मनेपद-नियम प्रवृत्त होता है। इसके अनुसार विकरणशास्त्र पर और नित्य होने से पहले प्रवृत्त होता है, तदनन्तर अडागमशास्त्र, क्योंकि यह नित्य हैं। इसके पीछे नियमशास्त्र (नेर्विशः) की प्रवृत्ति होगी, यद्यपि विकरण 'श' धातु को तिङ् से व्यवहित करता है, यदि अट् आगम धातु विश् को 'नि' उपसर्ग से जुदा न करे। इस प्रकार अड्-व्यवाय (अटा व्यवधानम्) होने पर नेर्विशः से आत्मनेपद हो, इसके लिये उक्त वार्तिक आवश्यक होता है।

शप् आदि सार्वधातुक प्रत्ययापेक्ष हैं, अतः नियम शास्त्र (जिसे अभी विधायक सिद्ध किया है) की प्रवृत्ति हो चुकने पर सार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर शप् आदि होंगे ।

यदि कैयट के अनुरोध से यह माना जाय कि ल् मात्र के स्थान में होने से तिबादि आदेश अन्तरङ्ग हैं और लकार विशेष लृट् आदि के स्थान में होने से 'स्य' आदि बहिरङ्ग हैं, तो बहिरङ्ग स्यादि के लादेश तिबादि के प्रति असिद्ध होने से व्यवधायक न होने से **'धातोः'** और **अनुदात्तङ्कितः धातोः** में दिग्योगलक्षणा पञ्चमी मानने में भी कोई दोष नहीं । इस पक्ष में **'स्ये'** (सप्तम्यन्त) का स्यविषये (जहाँ 'स्य' होगा) ऐसा अर्थ करना चाहिये । आत्मनेपद आदि ऐसे प्रत्ययों के बोधक होंगे जिनकी ल् के स्थान में तिबादि आदेश होने पर आत्मनेपद संज्ञा होगी ।

यदि लस्य तिबादयः यह सामान्य शास्त्र तथा अनुदात्तङ्कितः इत्यादि नियमशास्त्र भिन्न-भिन्न वाक्य हैं, तथा नियम शास्त्र सामान्य शास्त्र का नियम (संकोच) करते हैं तो यह मानना पड़ेगा कि सामान्य शास्त्र से विहित तिबादि आदेश जो हो चुके हैं उनकी निवृत्ति ऐसे हो जाती है जैसे लुक् आदि से पूर्व उत्पन्न प्रत्ययादि की निवृत्ति होती है । रहा **'यो हि भुक्तवन्तं प्रति ब्रूयान्मा भुक्था इति, किं तेन कृतं स्यात्'**—यह न्याय, इस न्याय का शास्त्र में आश्रयण युक्त नहीं, न्यायाश्रयण होने पर नियमादि शास्त्र व्यर्थ हो जायेंगे । और शास्त्र व्यर्थ होना नहीं चाहिये यह (१।१।१) के भाष्य में **प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः**—इत्यादि ग्रन्थ से स्पष्ट किया है । एक ही प्रकृति से अव्यवहित परत्वेन अनेक प्रत्यय उत्पन्न ही नहीं हो सकते, उत्पन्न हुए प्रत्ययों की **नियम** से निवृत्ति कैसे हो सकती है ? इस का उत्तर यह है कि **सरूपाणामेकशेषः**—इस सूत्र में प्रदर्शित कैयट की रीति से जब अठारह प्रत्यय ल् के स्थान में आदेश होते हैं, और वे सभी एक ही प्रकृति से आनन्तर्य न होने से हो नहीं सकते, तो यह आवश्यक हो जाता है कि उतनी ही प्रकृतियाँ हों, एक प्रत्यय के लिये एक प्रकृति की कल्पना की जाती है और जब किसी एक प्रत्यय की नियमशास्त्र से निवृत्ति होती है तो उसके कारण कल्पित प्रकृति की भी निवृत्ति हो जाती है । प्रधान (विधेय प्रत्यय) के अनुसार गुण (गौण प्रकृति) की कल्पना होती है । यथा 'गर्ग के बहुत से अपत्य' इस अर्थ में गर्ग से यञ् की उत्पत्ति बार-बार होगी, और जितनी बार यञ् की उत्पत्ति होगी उतनी ही गर्ग-रूप प्रकृतियों की कल्पना होगी । गर्ग से यञ् का विधान होने से तथा

गर्ग प्रातिपदिकार्थ के विशेषण होने से यञ् प्रधान है, गर्ग प्रकृति गुण (अप्रधान) है। इस प्रकार जातनिवृत्ति आदि तीन दोषों के यत्न-साध्य समाधान के कारण यह पक्ष गौरवदोषयुक्त है ॥४१॥

सीरदेवीय—

शप् आदि विकरण से पूर्व **अनुदात्तङित आत्मनेपदम्** (१।३।१२) इत्यादि नियम शास्त्रों की प्रवृत्ति होती है, तब विकरण प्रत्यय आते हैं। विकरण नित्य और **पर** है तो भी नियम (आत्मनेपद) होगा। अब नियम प्रवृत्ति के समय धातु से पूर्व अडागम (अट् आगम) प्राप्त होता है, नियम की प्रवृत्ति अडागम को रोक नहीं सकती, विकरण की अपेक्षा ही नियम को बलवान् कहा है। विकरण भी अट् को रोक नहीं सकता, नियम की प्रवृत्ति के समय विकरण के न होने से। **कथं बाधितः सन्नन्यं बाधेत**। इस प्रकार नियम और अडागम की युगपत् प्राप्ति होने पर **पर** होने से अडागम पहले होगा, पीछे नियम शास्त्र की प्रवृत्ति होगी। इसीलिये वृत्तिकार ने ठीक ही कहा है—अडागम धातु का अवयव है अतः धातु ग्रहण से इस का भी ग्रहण होता है। **नेर्विशः** (१।३।१७)। यह निपूर्वक विश् से आत्मनेपद का नियम करता है। अट् होने पर भी यदागमपरिभाषा से अट्-पूर्वक विश् भी विश् ही है, सो अट् 'नि' से विश् का व्यवधान नहीं करता। **नहि स्वमङ्गमङ्गिनं व्यवधत्ते**।

यदि कहो नियमशास्त्र की प्रवृत्ति होने से विकरण के बाधित हो जाने पर भी नियम शास्त्र के **बाधक** अडागम शास्त्र की प्रवृत्ति के समय नित्य विकरण अडागम से पूर्व क्यों नहीं हो जाता? **देवदत्त-हन्तृहत-न्याय** इसका विरोधी है। (देवदत्त को किसी ने मार डाला, देवदत्त के उस घातक को किसी और ने मार डाला, उससे देवदत्त उज्जीवित नहीं हो जाता।)

इस परिभाषा के अस्तित्व में **वृद्भ्यः स्यसनोः** (१।३।९२) सूत्र में परस्मैपद विधान ज्ञापक है। अन्यथा वृतु वर्तने इत्यादि के 'स्य' से **व्यवहित** होने से **अनुदात्तङित आत्मनेपदम्** (१।३।१२) यह नियम न होगा। सामान्यतः तिप् आदि के होने से **वर्त्स्यति, वर्तिष्यते**—दोनों रूप सिद्ध हो जायेंगे, सूत्र द्वारा वैकल्पिक परस्मैपद के विधान से कुछ काम नहीं। व्यर्थ हुआ यह परस्मैपद-विधान इस अर्थ का ज्ञापक है।

दूसरे लोग इस ज्ञापक से विकरण के किये जाने पर, तद्द्वारा व्यवधान के होने पर भी नियमशास्त्र की प्रवृत्ति होती है ऐसा परिभाषार्थ मानते हैं।

इसी अर्थ को स्वीकार करने से 'एधिष्यते'—यहाँ अन्तरङ्ग होने से लावस्था में ही स्य-प्रत्यय हो जाएगा। और इसी अर्थ की स्वीकृति होने पर **औप्यत** (वप्—कर्मणि लङ् त), **औह्यत** (वह्—कर्मणि लङ्—त)—यहाँ अजादि होने से **आडजादीनाम्** (६।४।७२) से आट् आगम होता है। अन्यथा विकरण की अपेक्षा नियम के बलवान् होने से, नियम और अट् आगम की सम्प्रधारणा (तुल्यातुल्यबल विचार) में **पर** होने से अडागम होगा। अडागम की प्रवृत्ति के समय नित्य विकरण आ नहीं सकता, वह नियम से पहले ही अपसारित हो चुका है। आडागम तो नियम द्वारा अपसारित नहीं होता, सो **पर** होने से बाधक प्राप्त होता है। इस प्रकार हलादि होने से अट् किये जाने पर **आटश्च** (६।१।६०) से वृद्धि न हो सकेगी तो 'औह्यत' रूप सिद्ध न होगा। इसी प्रकार **समो गम्यृच्छिभ्याम्** (१।३।२६) सूत्र में **ऋच्छेरनादेशस्य ग्रहणम्** यह वृत्तिग्रन्थ उपपन्न होता है। विकरण की अपेक्षा नियम के बलवान् होने पर तो शित् विकरण परे रहते विधीयमान 'ऋ' को ऋच्छ् आदेश आत्मनेपद प्रत्यय आने से पूर्व होगा नहीं। तथा इसी परिभाषार्थ के आश्रय **नेर्गदनद—** (८।४।१७) सूत्र में विकरणान्त को अडागम कहा है, अन्यथा विकरण से नियम के बलवत्तर होने से, नियम से भी पूर्व अडागम होने से विकरणान्त को अडागम कैसे उपपन्न होता ?

परान्नित्यं बलवत् । (४२)

अर्थ—**पर** शास्त्र से नित्य बलवत्तर होता है (जब **पर** नित्य न हो)। अन्य शास्त्र के किये जाने और न किये जाने पर जिस शास्त्र का प्रसङ्ग रहे, वह नित्य होता है। पर तथा नित्य में से जिस शास्त्र का अभाव (अप्रवृत्ति) बनता ही नहीं (जब तक हम उसे यत्नपूर्वक न बनायें) उसकी अप्रवृत्ति की कल्पना की अपेक्षा उस शास्त्र की अप्रवृत्ति करनी उचित है जिसका अभाव (अप्रवृत्ति) किसी अवस्थाविशेष में स्वतः सिद्ध है। यही **पर** से नित्य के बलवत्तर होने में लाघवरूप अनुकूल तर्क है। कहा भी है—**कृताकृत-प्रसङ्गि नित्यम्, तद्विपरीत-मनित्यम्**। इसीलिये 'तुदति' आदि में 'तिप्' को मानकर जो लघूपध गुण प्राप्त होता है वह श (विकरण) से **पर** है, पर 'श' नित्य है, गुण होने पर भी इस 'श' का प्रसङ्ग है और गुण होने से पहले भी। अतः श-विकरण पूर्व हो जाने से लघूपधगुण रुक जाता है। 'श' अपित् सार्वधातुक प्रत्यय है। **सार्वधातुकमपित् ङिद् वद् भवति**।

कृताकृतप्रसङ्गी विधिर्नित्यः—इसे स्पष्ट करते हुए नागेशभट्ट का कहना है कि यह नित्यता वहीं मानी जाती है जहाँ जिस शब्दरूप के विषय में यह (नित्य) शास्त्र कुछ विधान करता है, ठीक उसी शब्दरूप के विषय में इसका दुबारा प्रसङ्ग होता है जब दूसरा शास्त्र प्रवृत्त हो चुका है, जो शब्द रूप पहले था जब दूसरा शास्त्र प्रवृत्त नहीं हुआ था और जब यह पहली बार प्रवृत्त हुआ था। अतः

शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन्विधिरनित्यो भवति। (४३)

अर्थ—(कृताकृतप्रसङ्गी होने पर भी) यदि अन्य शास्त्र की प्रवृत्ति से पूर्व जिस शब्दरूप में जिस शास्त्र का प्रसङ्ग था, अन्य शास्त्र की प्रवृत्ति होने पर किसी अन्य शब्दरूप में प्रसङ्ग होता है तो वह शास्त्र नित्य नहीं। यह **शदेः शितः** (१।३।६०) सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। वहाँ कहा है कि इस परिभाषा से अट् आगम नित्य नहीं। कारण कि विकरण 'श' के आने के पीछे यह आगम विकरणान्त 'विश' से पूर्व होगा और विकरण आने से पहले केवल धातु विश् से पूर्व।

इसी प्रकार इष् से सन् परे रहते इट् भी प्राप्त होता है, द्वित्व भी। जब इट् पहले हो जाता है तो 'षि' को द्वित्व प्राप्त होता है और जब इट् नहीं करते तो 'ष' शब्द को द्वित्व प्राप्त होता है, इस प्रकार व्यक्तिभेद के कारण द्वित्व अनित्य है, अतः पूर्व इट् करके 'षि' को द्वित्व होता है।

यद्व्यक्तिसम्बन्धितया पूर्वं प्रवृत्तिः इत्यादि पूर्वोक्त न्याय के आश्रित एक और परिभाषा पढ़ते हैं—

शब्दान्तरात्प्राप्नुवतः शब्दान्तरे प्राप्नुवतश्चानित्यत्वम्। (४४)

अर्थ—शब्दान्तर (जो शब्दरूप समकाल-प्राप्त द्वितीय शास्त्र की प्रवृत्ति से भिन्न रूप हो गया है) से परे प्राप्त होता हुआ अथवा ऐसे शब्दान्तर के परे रहते प्राप्त होता हुआ पूर्वशास्त्र अनित्य होता है। **मा भवान् उजिहत्।** उजिहत्—यह (ऊह्, णिच्, चङ् लुङ् त्) लुङ् प्र० पु० ए० माङ् योग के कारण आट्-रहित रूप है। यहाँ चङि (६।१।११) से 'हि' को द्वित्व प्राप्त होता है। **णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः** (७।४।१) की प्रवृत्ति से पूर्व, 'ऊ' से परे 'हि' को द्वित्व होगा, पर (७।४।१) की प्रवृत्ति के अनन्तर 'द्वित्व' 'उ' से परे होगा। (७।४।१) (उपधा-ह्रस्व) की प्रवृत्ति पहले होती है, पर होने से।

'च्यवन्ते'—यहाँ च्यु अ अन्ते—यहाँ गुण (७।३।८४) न होने पर 'च्यु' से परे '**अतो गुणे**' (६।१।९७) से पररूप एकादेश प्राप्त होता है, और शप्— निमित्तक 'च्यु' के 'उ' को गुण (ओ) होने पर 'च्यो' रूप से परे। इस परिभाषा से एकादेश अनित्य है, अतः पर होने से पूर्व गुण हो जाता है। इस परिभाषा के अभाव में यदि एकादेश के नित्य होने से पहले एकादेश हो जाय, 'अन्ते' के ङित् होने से 'च्यु' को सार्वधातुकलक्षण गुण न हो सकेगा।

करिष्यते—कृञ्+लृट् यहाँ **स्वरितञितः** (१।३।७२) से कर्त्रभिप्रायफल-विवक्षा में लृट् को आत्मनेपद प्रत्यय तङ् आदेश होता है। **स्यतासी लृलुटोः** (३।१।३३)—यह लृट् परे रहते 'स्य' विकरण का विधान करता है। अब परिभाषा से यह स्य-विधायक शास्त्र अनित्य है, कारण कि जब तक लृट् को तङ् आदेश नहीं होता तब तक लृट् परे रहते इसकी प्राप्ति है और जब आदेश हो जाता है तो 'ते' परे रहते। (१।३।७२) की प्रवृत्ति पहले होती है। इस विषय में यह परिभाषा (४१वीं) परिभाषा से गतार्थ हो जाती है।

पूर्व परिभाषाद्वय आश्रित एक और परिभाषा पढ़ते हैं—

लक्षणान्तरेण प्राप्नुवन् विधिरनित्यः। (४५)

अर्थ—कृताकृत प्रसङ्ग में जो विधि (कार्य) प्राप्त होता है यदि अकृत प्रसङ्ग में जिस लक्षण से प्राप्त होता है, कृतप्रसङ्ग में लक्षणान्तर—शास्त्रान्तर (किसी दूसरे शास्त्र) से प्राप्त होता हो वह कार्य अनित्य होता है। **कुर्उ वः**— यहाँ आर्धधातुक प्रत्यय 'उ' को मानकर लघूपध गुण (७।३।८४) से प्राप्त होता है, उकारलोप भी (६।४।१०८) से प्राप्त होता है। यहाँ गुण अनित्य है कारण कि 'उ' रहते तो (७।३।८४) से प्राप्त होता है, 'उ' का लोप होने पर **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** (१।१।६२) से। अतः पहले 'उ'-लोप होता है।

अजरांसि दैवतकुलानि—यहाँ इस परिभाषा के न होने पर कृताकृत-प्रसङ्गी विधि नित्य होती है इस न्याय से नित्य होने से 'नुम्' होगा (**इकोऽचि विभक्तौ** ७।१।७३)। नुम् होने पर नुम्रूप व्यवधान के कारण जरा को (७। २।१०१) से जरस् आदेश न हो सकेगा। इस परिभाषा को स्वीकार करते हैं तो जरस् आदेश होने से पूर्व अजन्तलक्षण नुम् होता है (**नपुंसकस्य झलचः** के अचः इस योग-विभाग से) और जरस् आदेश होने पर झलन्त-लक्षण (सूत्र के झलः इस अंश से)। अतः नुम् की कृतप्रसङ्ग में लक्षणान्तर से प्राप्ति होती है। अतः इस परिभाषा से नुम् अनित्य है। अतएव भाष्य में परत्वात् जर-सादेश कहा है।

पर जब परिभाषाकार शास्त्रव्यतिरेकेण (विधिशास्त्रे व्यतिरिच्य=अनादृत्य) विधिशास्त्रों की चिन्ता किये बिना केवल इस बात का विचार करता है कि इन विधि शास्त्रों से विहित दो कार्य नित्य हैं अथवा अनित्य, और इसका भी विचार नहीं करता कि समान-काल-प्राप्तिक अन्य कार्य के होने से पूर्व, और होने के पश्चात् शब्दरूपविशेष अभिन्न रहते हैं वा नहीं, तब वह कहता है—

क्वचित्कृताकृतप्रसङ्गमात्रेणापि नित्यता । (४६)

अर्थ—कहीं-कहीं वह कार्य भी नित्य कहा जाता है जिसका प्रसङ्ग तब होगा जब अन्य तत्काल-प्राप्तिक कार्य हो सकता था, और जो तब प्रवृत्त होता है जब वह अन्य कार्य न हुआ हो । तथ्य यह है कि यदि अन्य तत्काल-प्राप्तिक कार्य के होने पर जिस कार्य को हम नित्य समझना चाहते हैं उसकी पुनः प्रवृत्ति होती है, इसी से उसे 'नित्य' कहना न्याय्य है । पर इस नित्यताव्यवहार के लिये यह आवश्यक नहीं कि जब उसकी पुनः प्रवृत्ति होती है उसे कोई बाधक कार्य न बाधे और यह भी आवश्यक नहीं कि उसकी वह द्वितीय प्रवृत्ति सफल हो ।

इसे इस परिभाषा के रूप में भी पढ़ा जाता है—

यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते न तदनित्यम् ।

अर्थ—जिस कार्य का निमित्त तत्काल-प्राप्तिक कार्यान्तर के होने पर किसी अन्य (तृतीय) विधि-शास्त्र के द्वारा नष्ट हो जाता है, वह इस कारण अनित्य नहीं माना जाता ।

वह् + क्त (ऊढ) यहां **वचिस्वपियजादीनां किति** (६।१।१५) से व् को 'उ' सम्प्रसारण प्राप्त होता है और उसी समय **सहिवहोरोदवर्णस्य** (६।३।११२) से 'व' के 'अ' के स्थान में 'ओ' । (६।१।१५) से सम्प्रसारण होने पर 'ओ' के निमित्त 'अ' का **सम्प्रसारणाच्च** (६।१।१०८) से विघात हो जायगा, क्योंकि वह शास्त्र सम्प्रसारण और सम्प्रसारण से परे अच् के स्थान में सम्प्रसारणरूप आदेश विधान करता है, जिससे प्रकृत संप्रसारण 'उ' तथा परे के 'अ' के स्थान में 'उ' आदेश हो जाता है और 'ओ' के निमित्त 'अ' का विघात हो जाता है, तो भी 'अ' के स्थान में 'ओ' आदेश अनित्य नहीं, नित्य ही है ।

कहीं-कहीं कार्य को 'नित्य' कहने के लिये यह आवश्यक समझा जाता है

कि जब वह कार्य पुनः प्रवृत्त हो तो किसी बाधक कार्यान्तर से बाधित न हो और इसकी पुनः प्रवृत्ति भी फलवती हो।

इसे परिभाषाकार इस रूप में पढ़ते हैं—

यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते तदप्यनित्यम्। (४८)

अर्थ—जिस कार्य का निमित्त तत्काल-प्राप्तिक कार्यान्तर के हो जाने पर किसी अन्य (तृतीय) विधि शास्त्र के द्वारा नष्ट हो जाता है, वह भी (कभी-कभी) अनित्य माना जाता है।

सिव्+न। (६।४।१६) से व् के स्थान में ऊठ् (ऊ) होता है। (७।३।८६) से 'इ' के स्थान में गुण प्राप्त होता है। यहां गुण कार्य अनित्य है, कारण कि व् के स्थान में ऊठ् होने पर (सि ऊ न) **इको यणचि** (६।१।७७) से गुण के निमित्त 'इ' का अपहार हो जाता है, 'इ' के स्थान में यण् होने से।

इन दो परिभाषाओं (४७, ४८) (जो वाचनिकी नहीं हैं) की न्याय-सिद्धता दिखाने के लिये कैयट ने दो लौकिक दृष्टान्त दिये हैं—

लोक व्यवहार ऐसा है कि जब वाली और सुग्रीव युद्ध कर रहे थे, भगवान् राम ने वाली को मार दिया, ऐसा होने पर सुग्रीव को वाली से बलवत्तर नहीं कहते, पर कुरु-पाण्डव-युद्ध में भगवान् कृष्ण की सहायता से जय को प्राप्त हुए पाण्डवों को कौरवों से बलवत्तर कहते हैं। दोनों का जय समानाकार है। इसी प्रकार प्रकृत में किसी अन्य (तृतीय शास्त्र) के द्वारा निमित्त-विघात के एकसमान (अविशिष्ट, निर्विशेष) होने पर एक स्थल में पूर्व शास्त्र की नित्यता (अतएव बलवत्तरता) मान ली जाती है, दूसरे स्थल में नहीं ॥४८॥

लुटः प्रथमस्य डारौरसः (२।४।८५) सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा पढ़ी है—

स्वरभिन्नस्य प्राप्नुवन्विधिरनित्यो भवति। (४९)

अर्थ—स्वरेण भिन्नः=स्वरभिन्नः, तस्य स्वरभिन्नस्य। स्वरभेद से भेद को प्राप्त हुए शब्दरूप को प्राप्त हो रहा विधि (कार्य) अनित्य होता है। स्वर भी शब्दान्तरत्व का संपादक है, भिन्न स्वर भी नया शब्द बना देता है। इस परिभाषा का 'दध्युदकम्'—यह उदाहरण है। **'नब्विषयस्यानिसन्तस्य'** इस फिट् सूत्र से 'दधि' आद्युदात्त है। अतः अनुदात्त 'इ' के स्थान में यण् प्राप्त होता है। पर **उदकेऽकेवले** (६।२।९६) से मिश्रवाची समास (दधिमिश्रमुदकं=दध्युदकम्)

में उदक शब्द उत्तरपद होने पर पूर्वपद अन्तोदात्त होता है। अब यण् स्वर-भिन्न शब्दरूप को प्राप्त होने से अनित्य है। अतः 'उदकेऽकेवले' की पूर्व प्रवृत्ति होने से अन्तोदात्त 'इ' को यण् होगा, जिससे **उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य** (८।२।४) से 'उदकम्' का 'उ' स्वरित होगा। यही इष्ट है।

जहां (जिस स्थल में) एक ही कार्य पर भी हो और नित्य भी हो, वहाँ उनमें से किसी एक (परत्व, अथवा नित्यत्व) को मानकर अथवा दोनों (परत्व तथा नित्यत्व) को मानकर तदाश्रय बलवत्व जानना चाहिये, इसीलिये भाष्य में कहीं-कहीं **परत्वात्, नित्यत्वाच्च**—ऐसा कहा है।

वस्तुतः नागेशभट्ट का यह विचार ठीक है कि 'परत्वात्' यह उक्ति एकदेशी (जिसे भाष्य का आंशिक ज्ञान है, सम्पूर्ण ज्ञान नहीं) की है। भाष्य में **णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः** (७।४।१)—यहां ह्रस्व की अपेक्षा द्वित्व के नित्य और अन्तरङ्ग होने पर भी (उपधा-ह्रस्व होने से पूर्व तथा पश्चात् द्वित्व की प्राप्ति होने से द्वित्व नित्य है और उपधाह्रस्व के चङ्परक णि की अपेक्षा करने से और द्वित्व के चङ्मात्र की अपेक्षा करने से अन्तर्गत-निमित्तक होने पर द्वित्व अन्तरङ्ग है। नित्यता के कारण प्रथम प्रवृत्ति होती है इतना ही कहा है।

यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि नित्य अथवा अन्तरङ्ग शास्त्र तभी बलवत्तर होते हैं और शास्त्रान्तर को बाधकर पूर्व प्रवृत्त होते हैं जब उनका दूसरे शास्त्र के साथ युगपत् प्रवृत्ति का सम्भव नहीं।४९॥

नित्य (शास्त्र) से अन्तरङ्ग (शास्त्र) बलवत्तर है, अन्तरङ्ग की कर्तव्यता में बहिरङ्ग के असिद्ध होने से (बहिरङ्ग शास्त्र के असिद्ध माने जाने से अथवा प्रवृत्त ही नहीं हुआ, ऐसा मानने से)। इस अर्थ को परिभाषारूप में इस प्रकार पढ़ते हैं—

असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे। (५०)

अर्थ—अन्तरङ्ग शास्त्र की कर्तव्यता में बहिरङ्ग शास्त्र असिद्ध होता है। अन्तरङ्ग का अर्थ है—**अन्तर्=मध्ये=बहिरङ्ग-शास्त्रीय-निमित्त-समुदाय-मध्ये** जिसे (जिसे बहिरङ्ग शास्त्र मानना है उसके निमित्त-समुदाय के अन्दर वर्तमान)। **अन्तर्भूतान्यङ्गानि=निमित्तानि यस्य तदन्तरङ्गम्**। इसी प्रकार अन्तरंग के निमित्त-समुदाय से बहिर्भूत हैं अंग (निमित्त) जिसके वह बहिरंग है। अन्तरंग व बहिरंग—दोनों बहुव्रीहि समास हैं। अतः ये शास्त्र के विशेषण हैं अथवा शास्त्रविहित कार्य के। **अङ्ग=उपकारक=निमित्त।**

उदाहरण—स्योन (सिव्+न) की रूप रचना में (६।४।१९) से व् को ऊठ् (ऊ) आदेश होता है। सि ऊ न—इस स्थिति में 'इ' को (६।१।७७) से यण् प्राप्त होता है और साथ ही (७।३।८६) से 'इ' को लघूपध गुण। अब लघूपध गुण का निमित्त 'न' है, इसके भीतर 'ऊ' यण् का निमित्त है, अतः यण् कार्य तथा यण् विधायक शास्त्र (६।१।७७) अन्तरङ्ग हैं। गुण का निमित्त 'न' यण्-निमित्त के 'ऊ' से बाहिर (परे) है, अतः गुण तथा गुण-विधायक शास्त्र बहिरङ्ग हैं, अतः अन्तरङ्ग यण् होगा, कारण कि इसकी दृष्टि में गुण बहिरङ्ग होने से असिद्ध है (है ही नहीं)। दूसरा उदाहरण **नृपतेरपत्यं पुमान् नार्पत्यः**। यहां अपत्यार्थ में 'नृपति' से **दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः** (४।१।८५) से ण्य प्रत्यय होता है। इस ण्य (जो णित् है) के कारण **तद्धितेष्वचामादेः** (७।२।११७) से आदि वृद्धि 'ऋ' को आर् होती है, पश्चात् (वृद्धि होने पर) **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (८।३।१५) से 'नार्' के 'र्' को विसर्जनीय होना चाहिये। अब विसर्जनीय का निमित्त पति शब्द का 'प्' है जो वृद्धि के निमित्त 'ण्य' से पूर्ववर्ती (अन्तर्गत) है, अतः अन्तरङ्ग है और वृद्धि (आर्) का निमित्त (ण्य) इस निमित्त से बहिर्भूत है, परे है, अतः बहिरङ्ग है। अन्तरङ्ग कार्य विसर्जनीय की दृष्टि में हुआ बहिरङ्ग कार्य (=जातबहिरङ्ग) वृद्धि आर् असिद्ध है (है ही नहीं) तो विसर्जनीय किसे हो? अतः 'नार्पत्य' यह इष्ट रूप सिद्ध होता है।

इस शास्त्र में जो शब्दों का अनुशासन है, शब्द प्रधान है, अतः 'अङ्ग' शब्द से शब्दरूप निमित्त ही लिया जाता है। यदि कोई शास्त्रीय कार्य अर्थ को आश्रित करके हुआ है, वह इस कारण बहिरङ्ग नहीं होता। ऐसा मानने से ही न तिसृचतसृ (६।४।४) यह निषेध शास्त्र (जो तिसृ चतसृ के अन्त्य अच् को नाम् परे रहते दीर्घत्व का निषेध करता है) चरितार्थ रहता है (कार्यकारी होता है)। यदि अर्थसापेक्षता से भी बहिरङ्गता अभिमत हो, तो स्त्रीत्व अर्थ की अपेक्षा करके जो **त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ** (७।२।९९) से त्रि को तिसृ आदेश होता है उसके बहिरङ्ग होने से असिद्ध होने से षष्ठी बहु० स्त्री० में भी **त्रेस्त्रयः** (७।१।५३) से 'त्रय' आदेश प्रसक्त होगा, क्योंकि यह अन्तरङ्ग है। स्त्रीलिङ्ग ष० बहु० में भी तिसृ न होने से 'न तिसृचतसृ' यह दीर्घत्व का निषेध व्यर्थ हो जायगा। इसी कारण (१।१।५६) पर पढ़ा हुआ **त्रयादेशे स्रन्तप्रतिषेधः** यह वार्तिक संगत होता है। यह वार्तिक स्थानिवद्भाव का निषेध करता है। अर्थ है—'त्रि' को त्रय आदेश की कर्तव्यता में तिसृ ('त्रि'

का आदेश) स्थानिवत् नहीं होता। यदि अर्थापेक्ष बहिरङ्गता हो तो तिसृ (आदेश) के असिद्ध होने पर (उस के अभाव में) स्थानिवद्भाव का निषेध करना व्यर्थ हो जाता।

जैसे पहले कह चुके हैं कि प्रकृत परिभाषा में 'अङ्ग' का अर्थ शब्दरूप निमित्त है। पर कुछ लोग गौधेरः, पचेत् आदि की निष्पत्ति में **गोधाया ढ्रक्** (४।१।१२९) से अपत्यार्थ में ढ्रक् प्रत्यय होता है। इस ढ्रक् प्रत्यय के आदि 'ढ्' को **आयनेयीनीयियः**—(७।१।२) से 'एय्' आदेश हो जाता है। 'गौधेय्र' इस अवस्था में **लोपो व्योर्वलि** (६।१।६६) से य् का लोप होता है। पर यह 'एय्' आदेश अङ्ग संज्ञक शब्द की पूर्वता की अपेक्षा करता है, अतः बहिरङ्ग है, असिद्ध होने से 'लोपो व्योर्वलि' से 'य्'-लोप का प्रसङ्ग ही नहीं। ऐसा आक्षेप करते हैं। यह आक्षेप निःसार है कारण कि अङ्ग-संज्ञा-सापेक्षता को शब्दरूप-निमित्त नहीं कह सकते। किं च। प्रत्ययादि ढ् आदि को जो एय् विधान किया है वह अन्तरङ्ग है (बहिरङ्ग नहीं) कारण कि यह आदेश अपरनिमित्तक है (निमित्त के परभावी न होने से), अतः आक्षेप का अवसर ही नहीं।

कैयट-मत-निरास

येन विधिस्तदन्तस्य (१।१।७२) के भाष्य में कहा है कि यह इष्ट है कि स्योन (सि+ऊ+न) की सिद्धि में अन्तरङ्ग होने से (६।१।७७) से 'इ' के स्थान में 'यण्' (७।३।८६) से विहित लघूपधगुण को बाधे, पर यदि **इको यणचि** (६।१।७७) आदि में भी तदन्तविधि हो (**इगन्तस्य यण् स्यात् अजादौ**), तो इष्टापत्ति नहीं होगी, कारण कि ऐसा होने पर यणादेश का निमित्त 'ऊन' होगा और गुण का निमित्त 'न' जो 'ऊन' के अन्तर्भूत है, जिससे गुण अन्तरङ्ग हो जायगा और यणादेश बहिरङ्ग। यणादेश बहिरङ्ग के असिद्ध होने से (लघूपध) गुण होगा जिससे 'सयोन' ऐसा अनिष्ट रूप प्रसक्त होगा।

इस पर कैयट का कहना है—सिव् धातु से बाहुलक से औणादिक 'न' प्रत्यय होने पर तीन कार्य एक साथ प्राप्त होते हैं—गुण, व-लोप, ऊठ्। गुण (७।३।८६) से, व-लोप **लोपो व्योर्वलि** (६।१।६६) से और 'व्' को अनुनासिक-निमित्तक ऊठ् च्छ्वोः शूडनुनासिके च (६।४।१९) से। ऊठ् वलोप का अपवाद है, अतः 'सिव् न' में वलोप को बाधकर ऊठ् हो जाता है (सि ऊ न)। 'व्' को ऊठ् हो अथवा उपधा-गुण (सि के 'इ' को 'ए') हो इस सम्प्रधारणा में

ऊठ् अन्तरङ्ग होने से गुण को बाधता है। ऊठ् अन्तरङ्ग कैसे है और गुण बहिरङ्ग कैसे है इसे स्पष्ट करते हुए कैयट कहता है—गुण अङ्ग-सम्बन्धिनी इग्-लक्षणा लघ्वी उपधा तथा आर्धधातुक प्रत्यय का आश्रयण करता है। अतः बह्वपेक्ष है और इसलिये बहिरङ्ग है। परन्तु ऊठ् वकारान्त अङ्ग और अनुनासिकादि प्रत्यय का आश्रयण करता है, अतः अल्पापेक्ष है और इसलिये अन्तरङ्ग है। ऊठ् होने पर यण् और गुण प्राप्त होते हैं। यहां कैयट न केवल बह्वपेक्ष होने से बहिरङ्गता मानता है, संज्ञा (अङ्गादि) के आश्रित कार्य को भी बहिरङ्ग स्वीकार करता है—यह अत्यन्त स्पष्ट है। नागेश इसका इस प्रकार प्रत्याख्यान करता है—कैयट का ऐसा मानना ठीक नहीं। यदि कैयटाभिमत मत (**अल्पापेक्षत्वमन्तरङ्गत्वम्, बह्वपेक्षत्वं बहिरङ्गत्वम्, संज्ञाकृतं च बहिरङ्गम्**) ठीक हो तो प्रकृत में तदन्त-विधि में भी गुण के बह्वपेक्ष होकर बहिरङ्ग होने से भाष्य में प्रदर्शित अनिष्ट अन्तरङ्गताप्रसक्ति कैसे संगत होगी? वैसे भी बहिरङ्ग अन्तरङ्ग शब्दों से कैयटस्वीकृत अर्थ शब्दमर्यादा से लभ्य नहीं। बहिस् तथा अन्तर् शब्द बहुत्व तथा अल्पत्व को कैसे कह सकते हैं? यदि ऐसा अर्थ इष्ट हो तो परिभाषाकार असन्दिग्ध रूप से बह्वपेक्ष तथा अल्पापेक्ष शब्दों का ही उच्चारण क्यों न करे? चूंकि अन्तरङ्ग बहिरङ्ग शब्द अल्पापेक्ष व बह्वपेक्ष के समानार्थक नहीं हैं और चूंकि संज्ञाश्रित कार्य बहिरङ्ग नहीं होता, इसलिये **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** (१।४।२) सूत्र के भाष्य में गुण की अपेक्षा यण् आदेश पहले होता है, अन्तरङ्ग होने से, इस का 'स्योन' यह उदाहरण दिया है। गुणापेक्षया ऊठ् अन्तरङ्ग है ऐसा नहीं कहा (सिद्धान्त पक्ष में ऊठ् अन्तरङ्ग नहीं है)। कैयट मतानुसार ऐसा भी कहना चाहिये था, गुण के बह्वपेक्ष होने से, तथा अनेक-संज्ञा-कृत होने से। बल्कि यही कहना चाहिये था, कारण कि गुण और ऊठ् के बलाबल का विचार प्रथम उपस्थित होता है, पश्चात् (ऊठ् होने पर) गुण और यण् के बलाबल का। नागेश के मत में 'सिव् न', यहां गुण भी न-निमित्तक है, और ऊठ् भी, तथा संज्ञाकृत बहिरङ्गता होती नहीं, अतः ऊठ् की अन्तरङ्गता बनती नहीं। अतएव ऊठ् की कर्तव्यता में अन्तरङ्ग परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती, ऊठ् तो गुणापेक्षया नित्य होने से होता है। अतः भाष्य-कार का गुणापेक्षया ऊठ् की अन्तरङ्गता न कहना नागेशमत की समर्थना करना है। सिव् न[1]—यहां नित्य होने से गुण से पूर्व ऊठ् होने पर गुण

१. वस्तुतः गुण की अपेक्षा ऊठ् पहले होता है, इसलिये नहीं कि ऊठ्

अनित्य है, (६।१।७७) से विधीयमान यण् गुण के निमित्त 'इ' का विधातक होने से। अतः गुण को बाधकर यण् होने से 'स्योनः' इष्ट रूप निष्पन्न होता है।

'येन विधिस्तदन्तस्य' के भाष्य में **ऊनशब्दमाश्रित्य** इत्यादि भाष्योक्ति से यह स्पष्ट है कि परिभाषा में अङ्ग शब्द सप्तम्यादि विभक्त्यन्त रूप से उपात्त शब्दरूप निमित्त ही लिया जाता है।

प्रसङ्गवश नागेश यहाँ एक भ्रान्ति का निवारण करता है। कुछ लोगों द्वारा किये गये 'गौधेर' (गौधेय्+र) यहां अन्तरङ्ग परिभाषा की प्रवृत्ति से 'य्' के असिद्ध होने से **लोपो व्योर्वलि** (६।१।६६) से 'य्' का लोप नहीं होना चाहिये'—इस आक्षेप का दूसरे लोग यह समाधान देते हैं कि अन्तरङ्ग परिभाषा अनित्य है और वलि लोप की कर्तव्यता में यह प्रवृत्त नहीं होती। यह समाधान भ्रममूलक है। भाष्यकार व्रश्चनः, व्रीहिः, व्रणः आदि में वलि-लोप के अतिप्रसङ्ग की शङ्का करके उपदेशसामर्थ्य से उसका वारण करते हैं (यदि ऐसे स्थलों में भी वलि लोप होने लगे तो ऐसे प्रातिपदिकों को वकारादि पढ़ना व्यर्थ हो जाय, कहीं भी वकार का श्रवण न होने से)। यदि कोई कहे वृश्चति आदि में वकारादि उपदेश चरितार्थ रहेगा क्योंकि इनमें श-प्रत्यय-निमित्तक सम्प्रसारण (ऋ) होने से 'व्' से परे वल् न होने से लोप का प्रसङ्ग नहीं। यह भी ठीक नहीं। यहां **'लोपो व्योर्वलि'** की प्रवृत्ति नहीं होती, ऐसा नहीं। सम्प्रसारण (६।१।१६) श-प्रत्यय-निमित्तक बहिरङ्ग है। इसके असिद्ध होने से व्-लोप अवश्य प्राप्त होता है, पर उपदेश-सामर्थ्य से रुकता है। गत्यन्तरं नास्ति।

नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति (८।२।२) सूत्र की व्याख्या में कैयट एक मतान्तर का उद्धरण करता है—पञ्च ब्राह्मण्यः इत्यादि में **न षट्स्वस्रादिभ्यः** (४।१।१०) यह सूत्र स्त्रीप्रत्यय टाप् (जो **अजाद्यतष्टाप्** (४।१।४) से प्राप्त होता है) का निषेध करता है, कारण कि षट् संज्ञा (१।१।२४) की दृष्टि में **नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (८।२।७), से न-लोप अन्तरङ्ग परिभाषा से असिद्ध है, अतः 'पञ्च' षट्-संज्ञक है, अतः **न षट्स्वस्रादिभ्यः** (४।१।१०) के निषेध का विषय है। यह चिन्त्य है, दोषयुक्त है। न-लोप की असिद्धता तभी

अन्तरङ्ग है और गुण, बहिरङ्ग, परन्तु इसलिए कि ऊठ् (कृताकृत प्रसङ्गी होने से) नित्य है और गुण ('इ' के स्थान में) अनित्य है।

मानी जा सकती है जब यह स्वीकार किया जाय कि संज्ञा-सापेक्ष कार्य बहिरङ्ग होता है। प्रकृत में न-लोप पद-संज्ञा का आश्रयण करता है, 'पञ्चन्' की पद-संज्ञा होने पर ही होता है। **वस्तुस्थिति यह है कि संज्ञा-कृत बहिरङ्गता नहीं मानी जाती।**

पर यदि उक्त मत असाधु है (विपक्ष में यदि न-लोप बहिरङ्ग न होने से सिद्ध ही है), 'पञ्च' से टाप् आ जाना चाहिये। (८।२।२) में भाष्य के अनुसार संज्ञा-ग्रहण अप्रयोजक है, निष्फल है और इसलिये संज्ञा-विधि में न-लोप असिद्ध नहीं ठहरता। इस परिभाषा से न-लोप असिद्ध नहीं। इसके उत्तर में नागेश भट्ट कहता है—'पञ्च' से टाप् का निषेध **षट्स्वस्रादिभ्यः** (४।१।१०) से ही होता है। **'न षट्-स्वस्रादिभ्यः' का विद्वत्संमत ऐसा अर्थ होता है**—स्त्रीत्वविवक्षा में जो भी प्रत्यय प्राप्त होता है वह षट्-संज्ञकों से नहीं होता, चाहे वे संख्यावाचक शब्द अब षकारान्त नकारान्त न हों और इसीलिये षट्-संज्ञक न हों, पर जो पहले षकारान्त नकारान्त रह चुके हों और इसीलिये षट्संज्ञक भी रहे हों, जैसे पञ्च।

इसीलिये (अर्थात् संज्ञा-कृत बहिरङ्गता नहीं मानी जाती इस कारण) न-लोपः सुप्—सूत्र में कृति तुग्ग्रहण चरितार्थ होता है, अर्थात् **ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्** (६।१।७१) से विधीयमान तुक् आगम की दृष्टि में न-लोप असिद्ध होता है—यह वचन प्रयोजनवान् होता है। यदि कार्य के संज्ञाश्रित होने से बहिरङ्गता हो जाती है तो वृत्रहन्-क्विप्-भ्याम्—यहां तुक् (आगम अन्तरङ्ग होगा, क्विप्-निमित्तक होने से, और न-लोप 'वृत्रहन्' की पद संज्ञा होने पर होता है, अतः बहिरङ्ग होगा, तो प्रकृत परिभाषा से तुक् की कर्तव्यता में असिद्ध होगा, तो सूत्र में कृति तुक्-ग्रहण व्यर्थ रहता है। इसी से वृत्रहभ्याम्—इत्यादि में न-लोप के पद-संज्ञा-निमित्तक होने पर भी न-लोप की बहिरङ्गता नहीं होती—यह बात सुष्ठु समर्थित होती है। वृत्रहन्-भ्याम्। यहां (१।४।१७) से भ्याम् 'वृत्रहन्' की पदसंज्ञा का निमित्त अवश्य है पर पदसंज्ञा-श्रित न-लोप का निमित्त नहीं। परम्परा से यद्यपि 'भ्याम्' पद-संज्ञा का निमित्त होने से न-लोप का भी निमित्त हो जाता है पर साक्षात् न-लोप का निमित्त नहीं और **बहिरङ्गता के लिये परम्परा-प्राप्त निमित्त भी लिया जाता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं।**

समग्र परिभाषार्थ

अन्तरङ्ग शास्त्र व कार्य की कर्तव्यता में जो बहिरङ्ग शास्त्र व कार्य हो

चुका है वह असिद्ध (अप्रवृत्त अथवा अविद्यमान) होता है और जो बहिरङ्ग कार्य अन्तरङ्ग कार्य की प्राप्ति के समान-काल में प्राप्त होता है वह भी असिद्ध होता है। 'वृश्चति' आदि में अन्तरङ्ग वलि लोप तथा बहिरङ्ग संप्रसारण कार्यों की समानकालिकता होने पर बहिरङ्ग सम्प्रसारण असिद्ध होता है (जिससे व्-लोप प्राप्त होता है और उपदेश-सामर्थ्य से रोका जाता है), यह तभी हो सकता है कि **जब पद के घटक अवयवों को पाणिनि सूत्रों की प्रवृत्ति से पूर्व एक दूसरे के साथ-साथ रखा जाता है जैसे व्रश्च्+श+ति। यही पदसंस्कार पक्ष है।** यदि ऐसा न हो तो वृश्चति की सिद्धि में परिभाषा प्रवृत्त नहीं होगी, कारण कि व्रश्च् के व् का लोप सम्प्रसारण की प्राप्ति से पहले ही हो जायगा, यह तिप् तथा विकरण श के आने से पहले ही हो जायगा, अतः व्-लोप तथा सम्प्रसारण के बलाबल का विचार ही उत्पन्न नहीं होगा। इस अर्थ का आश्रयण करने से **अन्तरङ्गं बहिरङ्गाद् बलीयः** ऐसी स्वतन्त्र परिभाषा का स्वीकार अनावश्यक हो जाता है, कारण कि इसका अर्थ प्रकृत परिभाषा के अन्तर्गत हो जाता है। इसीलिये विप्रतिषेध सूत्र में प्रकृत परिभाषा का आश्रयण करके उसका प्रत्याख्यान किया है।

इस परिभाषा का लिंग (=उपस्थिति-चिह्न) अन्तरङ्ग शास्त्र है। जहां भी अन्तरङ्ग शास्त्र होगा वहां यह परिभाषा उपस्थित होगी।

त्रिपादी अन्तरङ्ग सूत्रों में इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती। यदि अन्तरङ्ग शास्त्र त्रिपादीस्थ हो (अष्टाध्यायी के अन्त्य तीन पदों में से हो) तो इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती। **पूर्वत्रासिद्धम्** (८।२।१) से सपाद सप्ताध्यायी के सूत्रों के प्रति त्रिपादी सूत्र असिद्ध होते हैं। यह परिभाषा सपाद-सप्ताध्यायीस्थ है। **वाह ऊठ्** (६।२।१३२) में ऊठ् ग्रहण से ज्ञापित होती है, अतः इसका वही उद्देश=प्रदेश है जो 'वाह ऊठ्' का। इस सूत्र में ऊठ् ग्रहण से यह परिभाषा इस प्रकार ज्ञापित होती है—**वसोः सम्प्रसारणम्**(६।४।१३१) —इस पूर्व सूत्र से सम्प्रसारण की अनुवृत्ति आ रही थी। यदि यह परिभाषा न हो तो ण्वि-प्रत्ययान्त भ-संज्ञक वाह् को सम्प्रसारण (तथा पूर्व रूप) होकर (प्रष्ठवाह् शस् प्रष्ठ उह् अस्—प्रष्ठ ओह् अस् (ण्वि प्रत्यय-निमित्तक उपधा-गुण)—प्रष्ठौहः—**वृद्धिरेचि**)। उपधा-गुण और वृद्धि होकर इष्ट रूप 'प्रष्ठौहः' सिद्ध हो जायगा, तो सूत्र में ऊठ् ग्रहण व्यर्थ पड़ता है। व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' ऐसी परिभाषा होती है। अब इस परिभाषा के होने पर ऊठ् ग्रहण चरितार्थ (सफल) हो जाता है।

अन्तर्भूत णिच् प्रत्यय को मानकर होने वाला गुण अन्तरङ्ग है, बहिर्भूत शस् को मानकर होने वाला सम्प्रसारण बहिरङ्ग है। बहिरङ्ग सम्प्रसारण के असिद्ध होने से (उ के अभाव में) लघूपध गुण नहीं हो सकेगा। सम्प्रसारण ऊठ् होने पर इग्लक्षण लघ्वी उपधा न होने से गुण की प्राप्ति ही नहीं, अतः **एत्येधत्यूठ्सु** (६।१।८९) से वृद्धि एकादेश होकर 'प्रष्ठौहः' यह इष्ट रूप सिद्ध होता है।

ज्ञापकता के विघटन में प्रयास और उसकी विफलता

पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६) में सार्वधातुक प्रत्यय उपधागुण का निमित्त है। यह निमित्त गुणविधि में उपस्थित इक् का विशेषण है। तब सूत्रार्थ यह होगा—**सार्वधातुकार्धधातुक-प्रत्यय-पराया इग्रूपाया लघ्व्या उपधाया गुणः**, अर्थात् ऐसी इक्-रूप लघु उपधा को गुण होता है जिससे परे (अनन्तर) सार्वधातुक अथवा आर्धधातुक प्रत्यय हो। इसी अर्थ के आश्रयण से 'भिनत्ति' आदि में जहाँ 'इ' के अनन्तर उत्तर 'ति' नहीं है, 'इ' को गुण नहीं होता। इस अर्थ के आश्रयण से प्रष्ठ उह् अस् में गुण प्राप्त होता है, और वह प्रकृत परिभाषा से रुक नहीं सकता, कारण कि **नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः** (परिभाषा ५१) इस परिभाषा का अपवाद है, जिसका अर्थ है—जब अन्तरङ्ग कार्य का अच् (जैसे प्रष्ठ उह् अस् में 'उ') और किसी अन्य (जैसे आर्धधातुक प्रत्यय ण्वि) का आनन्तर्य निमित्त हो तो जो सम्प्रसारणादि कार्य हो चुका है वह बहिरङ्ग असिद्ध नहीं होता। (जिससे उपधागुण हो जाने पर वृद्धिरेचि से वृद्धि होकर 'प्रष्ठौहः' रूप सिद्ध हो जायगा, ऊठ् ग्रहण व्यर्थ रहेगा स्वार्थांश में चरितार्थ न होने से और **स्वार्थ में अचरितार्थ ज्ञापक विघटित हो जाता है**)।

उपर्युक्त ज्ञापक-विघटन-प्रयास व्यर्थ है। प्रत्यय (सार्वधातुक आर्धधातुक आदि) स्वभाव से ही स्वार्थ परिपूरणार्थ अङ्गसंज्ञक शब्दरूप की आकाङ्क्षा करता है, अतः अङ्ग से व्यतिरिक्त किसी अन्य का विशेषण नहीं बन सकता। ऐसा होने पर **पुगन्त**—सूत्र का यह अर्थ होगा—प्रत्यय-परक जो अङ्ग उसकी अवयव-भूत लघु उपधा इक् को गुण होता है। इस व्याख्यान के अनुसार 'गुण' लघ्वी उपधा इक् तथा प्रत्यय (आर्धधातुक ण्वि) के आनन्तर्य पर आधृत नहीं है, अतः प्रष्ठ उह् अस् में नाजानन्तर्ये—परिभाषा से असिद्ध परिभाषा की प्रवृत्ति रोकी नहीं जा सकती, जिससे सम्प्रसारण 'उ' के असिद्ध

होने से गुण न हो सकने से ऊठ् ग्रहण चरितार्थ रहता है और ज्ञापकता बनी रहती है।

ऐसा अर्थ मानने से 'भिनत्ति' आदि में भी कोई दोष नहीं आता। भाष्य का अनुसरण करते हुए हम पुगन्तलघूपधस्य च—सूत्र में 'लघूपध' को अङ्ग का विशेषण बहुव्रीहि समास नहीं मानते, (**लघ्वी उपधा यस्य तदङ्गं लघूपधम्**) प्रत्युत कर्मधारय मानते हैं (**लघ्वी चासावुपधा च लघूपधा**)। प्रत्ययपरक जो अङ्ग उसकी लघ्वी उपधा इक् को गुण होता है। 'भिनद् ति' में ति प्रत्यय-परक जो भिनद् अङ्ग उसकी लघु उपधा 'अ' है, 'इ' नहीं, अतः गुण की प्राप्ति नहीं।

पर ऊठ् ग्रहण का कोई और प्रयोजन भी हो सकता है। प्रयोजन होने पर ज्ञापकता नहीं बनती (**सति प्रयोजने ज्ञापकं न**)। प्रौहः (प्र ऊहः) शाल्यूहः (शालि ऊहः)—इन रूपों की सिद्धि के लिये ऊठ् विधान आवश्यक है ताकि **एत्येधत्यूठ्सु** से प्रौहः में वृद्धि एकादेश हो सके और 'शाल्यूहः' में दीर्घ ऊ का श्रवण हो सके, अन्यथा ऊठ् के अभाव में सम्प्रसारण 'उ' होकर गुण 'ओ' हो जाने पर **एङि पररूपम्** (६।१।९४) से पररूप होकर प्रोहः यह अनिष्ट रूप प्रसक्त होगा, प्रौहः—यह इष्टरूप न सिद्ध हो सकेगा। शाल्यूहः के स्थान में 'शाल्योहः' यह अनिष्ट रूप प्रसक्त होगा, दीर्घ 'ऊ' का श्रवण नहीं होगा। यह उक्ति व्यवहारानवबोध-मूलक है। अकारान्त उपसर्ग उपपद होने पर तथा अनकारान्त उपसर्ग-भिन्न उपपद होने पर वह् से 'ण्वि' अथवा वाह् से 'विच्' प्रत्यय होता ही नहीं, अर्थात् **वह्-प्रकृतिक ण्वि-प्रत्ययान्त अथवा वाह्-प्रकृतिक विच्प्रत्ययान्त प्रयोग होता ही नहीं**। जब प्रयोग ही नहीं, तो ऊठ् विधान इन शब्दों की सिद्धि के लिये प्रयोजनवान् है, अतः परिभाषा का ज्ञापक नहीं, यह युक्ति निःसार है।

यदि अनकारान्त उपपद होने पर वह् से ण्वि अथवा वाह् से विच् प्रत्यय नहीं होता तो '**वार्यूहः**' कैसे सिद्ध होगा ? 'वार्यूहः' यह 'वारि' उपपद होने पर ऊह् से क्विप् प्रत्यय करके शस्-प्रत्ययान्त रूप है। रही अर्थ की संगति। ऊह् का वह् धातु के अर्थ में प्रयोग कैसे हो गया ? यहाँ कुछ भी असङ्गत नहीं। धातुओं के अनेकार्थ माने जाते हैं—यह वैयाकरण-कृतान्त (=सिद्धान्त) है।

'प्रोहः' तो असाधु ही है। ऊठ् के अभाव में वृद्धि दुर्लभ है। **प्रादूहोढोढ्-येषैष्येषु** (वा०) से भी वृद्धि दुर्लभ है कारण कि वार्तिक में 'ऊह' अदन्त समु-

दाय का ग्रहण है। प्रकृत में 'ऊह' शसन्त का एकदेश होने से अनर्थक है। **अर्थवद् ग्रहणे नानर्थकस्य** ।

कार्यकालपक्ष में त्रिपादी में इस परिभाषा की दुर्वारता का खण्डन

कैयट आदि व्याख्याकारों का मत है कि यथोद्देशपक्ष में इस परिभाषा की प्रवृत्ति त्रिपादी में भले ही न हो, पर कार्यकाल पक्ष में अवश्य होती है। कार्य-कालपक्ष में परिभाषा त्रिपादीस्थ अन्तरङ्ग शास्त्र में संनिहित हो जाती है, तब अन्तरङ्ग शास्त्र परिभाषा की दृष्टि में असिद्ध नहीं होता। नागेश इसका प्रत्याख्यान करता है। **पूर्वत्रासिद्धम्** (८।२।१) से पूर्व शास्त्र के प्रति पर शास्त्र असिद्ध होता है, अतः पर अन्तरङ्ग शास्त्र (८।२।१) से असिद्ध हो जाता है। इसके असिद्ध होने पर इसके प्रति पूर्व शास्त्र बहिरङ्ग नहीं हो सकता और इसी कारण अन्तरङ्ग परिभाषा से असिद्ध भी नहीं जाना जा सकता (**अन्त-रङ्ग और बहिरङ्ग सापेक्ष प्रतिद्वन्द्वी पदार्थ हैं,** एक अन्तरङ्ग हो तो दूसरा उसके प्रति बहिरङ्ग हो, निरपेक्ष रूप से न कोई अन्तरङ्ग है, न बहिरङ्ग, यहाँ अन्तरङ्ग नहीं है वहाँ बहिरङ्ग भी नहीं, ऐसा मानना होगा)।

और ऐसा मानना भी युक्त न होगा कि अन्तरङ्ग परिभाषा से पूर्व बहिरङ्ग शास्त्र के असिद्ध होने से और इसलिये न रहने से इसके प्रति पर शास्त्र (८।२।१) से असिद्ध नहीं कहा जा सकता। कारण कि इस प्रकार मिथः प्रवृत्ति-प्रतिबन्धक होने से पूर्वत्रासिद्धम् अन्तरङ्ग परिभाषा की प्रवृत्ति को रोकेगा और अन्तरङ्ग परिभाषा पूर्वत्रासिद्धम् की प्रवृत्ति को, और विनिग-मना (=एकपक्षपातिनी निर्णायिका युक्ति) के अभाव में दोनों की प्रवृत्ति रुक जाएगी। इस हेतु से तथा इस (वक्ष्यमाण) हेतु से भी कि पूर्वत्रासिद्धम्— यह साक्षात् अष्टाध्यायी-पठित है और अन्तरङ्ग परिभाषा (६।४।१३२) में ऊठ् ग्रहण से ज्ञापित होने से आनुमानिकी है, अतः यही उचित है कि 'पूर्वत्रासिद्धम्' इसका बाधक हो। अतएव **त्रिपादी सूत्रों में का ॱकालपक्ष में भी यह परिभाषा उपस्थित नहीं होती** यही निश्चित होता है।

इसी हेतु **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (८।३।१५) के भाष्य में भगवान् भाष्य-कार ने कार्यकाल पक्ष का आश्रयण करके यहाँ उपरिनिर्दिष्ट युक्तियों का विचार करके यह सिद्धान्त निश्चित किया है कि **'नार्पत्यः'** आदि में रकारस्थानीय विसर्जनीय को रोकने के लिये **विसर्जनीयोऽनुत्तरपदे** यह वार्तिक पढ़ना आवश्यक है। वृद्धि आर् के बहिरङ्ग होने से असिद्ध होने से अन्तरङ्ग विसर्जनीय नहीं

होता, यह परिहार अयुक्त है। उपक्रम और उपसंहार की एकता की सिद्धि के लिए यही मानना होगा कि '**अयुक्तोऽयं परिहारः**' यह कार्यकाल पक्ष के विषय में ही कहा है। भाष्य का आशय यह है कि जहाँ कहीं (जैसे **संयोगान्तस्य लोपः** (८।२।२३, **रदाभ्यां निष्ठातो नः** ८।२।४२ में) त्रिपादीस्थ अन्तरङ्ग कार्य की कर्तव्यता में अन्तरङ्ग परिभाषा का आश्रयण किया गया है वह सभी अयुक्त है, उसके स्थान में निर्दिष्ट वार्तिक रूप वचन अवश्य पढ़ना होगा।

इसीलिये (त्रिपादीस्थ अन्तरङ्ग शास्त्र में अन्तरङ्ग परिभाषा की उपस्थिति कार्यकाल पक्ष में भी नहीं होती इसलिये) निगाल्यते, निगार्यते—इत्यादि में वैकल्पिक लत्व के लिये **पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानिवत्** इसका प्रतिषेध वचन **तस्य दोषः संयोगादिलोप-लत्व-णत्वेषु**—यह वार्तिक पढ़ा है। यदि यहाँ 'निगारि' (नि-गॄ-णिच्) य ते (कर्मणि लट्) में अन्तरङ्ग परिभाषा लगे तो **अचि विभाषा** (८।२।२१) से र् को ल् पहले हो जाएगा, अन्तरङ्ग होने से (णि=इ सापेक्ष होने से) और **णेरनिटि** (६।४।५१) से इ (णिच्) का लोप पीछे होगा यक्-सापेक्ष होने से बहिरङ्ग होने से तो तस्य दोषः इत्यादि वचनारम्भ व्यर्थ हो जाता है।

जो कोई लक्ष्य को देखकर उसे शास्त्र-निष्पाद्य दिखाने के लिये तदनुकूलतया आनुमानिकी इस अन्तरङ्ग परिभाषा द्वारा प्रत्यक्षपठित 'पूर्वत्रासिद्धम्' का बाध स्वीकार करते हैं और इसलिये त्रिपादीस्थ सूत्रों में भी इस परिभाषा की उपस्थिति मानते हैं उनके विचार का लक्षणैकचक्षुष्क (जो लक्षण=सूत्रमात्र प्रामाण्य से लक्ष्य के साधुत्व असाधुत्व का निर्णय करते हैं) लोगों का आदर नहीं करना चाहिये।

समकाल-प्राप्तिक बहिरङ्ग की असिद्धता

वाह ऊठ्—यहाँ ऊठ् के ज्ञापक से जातवहिरङ्ग (जो वहिरङ्ग कार्य हो चुका है) की असिद्धता होती है, इस अर्थ का लाभ हो जाता है, पर अन्तरङ्ग के साथ समान-काल-प्राप्तिक बहिरङ्ग की असिद्धता भी होती है इस अर्थ की लब्धि कैसे हुई ? यह असिद्धता निर्मूल मालूम पड़ती है। इस शङ्का के निवारणार्थ कहते हैं—नहीं, यह निर्मूल नहीं। ऐसा मानने से **ओमाङोश्च** (६।१।९५) में आङ् ग्रहण आवश्यक और सार्थक होता है। और वह ऐसे है—

'खट्वोढा' का जब हम 'खट्वा आङ् ऊढा' इस प्रकार विभागपूर्वक अन्वाख्यान करते हैं तब आ+ऊढा यहाँ गुण प्राप्त होता है और साथ ही

(उसी समय) खट्वा+आ—यहाँ सवर्ण दीर्घ भी। गुण का निमित्त प्रथम उपस्थित होता है अतः गुण अन्तरङ्ग है और सवर्ण दीर्घ बहिरङ्ग। यद्यपि सवर्ण दीर्घ गुण का अपवाद है तो भी अन्यत्र चरितार्थ होने से अन्तरङ्ग से बाधित हो जाता है। **अपवादो यद्यन्यत्र चरितार्थः** (यथा दैत्यारिरित्यादौ) **तदान्तरङ्गेण बाध्यते**—यह न्याय है। अतः अन्तरङ्ग होने से आ+ऊढा =ओढा रूप होने पर खट्वा+ओढा—यहाँ वृद्धि प्राप्त होती है, वह न हो, किन्तु पररूप एकादेश हो, इस कारण सूत्र में आङ् पढ़ा है। 'ओढा' में **अन्तादिवच्च** (६।१।८५) से एकादेश को पूर्व का अन्तवद्भाव होने से (अर्थात् 'ओ' को आङ् समझने से) खट्वा+ओढा—यहाँ (६।१।९५) से पररूप एकादेश होता है। 'गुण' अन्तरङ्ग कैसे है और सवर्ण दीर्घ बहिरङ्ग कैसे है इसे स्पष्ट करते हैं—वह् से साधन-बोधक प्रत्यय (प्रकृत में कर्मकारकवाची क्त) की उत्पत्ति के अनन्तर धातु का उपसर्ग (प्रकृत में आङ्) के साथ योग होता है, पश्चात् उपसर्ग-सहित समुदाय 'ओढा' का खट्वा के साथ, अतः गुण अन्तरङ्ग है (निमित्त के प्रथम उपस्थित होने से) और सवर्ण दीर्घ बहिरङ्ग है (निमित्त के पश्चात् उपस्थित होने से)। सवर्ण दीर्घ के बहिरङ्गत्व-हेतु से असिद्ध होने से अन्तरङ्ग गुण होता है।

यदि समकालप्राप्तिक बहिरङ्ग असिद्ध न हो, तो सवर्ण दीर्घ के पर होने से खट्वा+आ—यहाँ पहले सवर्ण दीर्घ एकादेश 'खट्वा' हो जायगा, तब खट्वा के 'आ' तथा ऊढा के 'ऊ' के स्थान में गुण होकर 'खट्वोढा' इष्ट रूप सिद्ध हो जायगा और सूत्र में आङ् ग्रहण व्यर्थ हो जायगा।

आङ्ग्रहण की ज्ञापकता के विघटन का प्रयास और उसकी विफलता

यदि कोई कहे कि आङ्ग्रहण का अन्य प्रयोजन है (और प्रयोजन होने पर ज्ञापक होता नहीं, **सति प्रयोजने ज्ञापकं न**)—शिव एहि (हे शिव 'एहि' यह शब्द कहो)। यहां शिव सम्बोधन है और 'एहि' (अनुकार्य आङ्पूर्वक इण् लोट् म० ए०) 'एहि' का अनुकरण है। अनुकार्य 'एहि' (आङ् इहि) अन्तवद्भाव से आङ् आदि है और **प्रकृतिवदनुकरणं भवति**, यह न्याय है। इस न्याय से अनुकरण 'एहि' भी आङादि है, अतिदेश से आङ् की लब्धि होने से, तो शिव एहि में वृद्धि वारणार्थ पररूप के लिये सूत्र में आङ् ग्रहण आवश्यक तथा सार्थक होता है, तो इसकी ज्ञापकता कैसे? उत्तर—**सम्प्रसारणाच्च** (६।१।१०८) सूत्र-भाष्य में इस (प्रकृतिवदनुकरणं भवति) न्याय को अनित्य माना है, अतः

आतिदेशिक आङ्त्व नहीं आयेगा। और आङ्त्व के अभाव में ओमाङोश्च (६।१।९५) सूत्र का विषय ही नहीं रहता।

अभिव्यक्तपदार्था ये स्वतन्त्रा लोकविश्रुताः।
शास्त्रार्थस्तेषु कर्तव्यः शब्देषु न तदुक्तिषु॥

इस न्याय से भी शास्त्र-कार्य लोक-प्रसिद्ध विज्ञातार्थक शब्दों में होता है समान-श्रुति अनुकरण अप्रसिद्ध शब्दों में नहीं।

वह् धातु से 'क्त' करने पर 'ऊढ' शब्दरूप निष्पन्न होने पर इस के साथ आङ् तथा खट्वा का युगपत् सम्बन्ध होने पर ही भाष्यस्थ गुण और सवर्ण दीर्घ विषयक सम्प्रधारणा (मिथः बलाबल-विचार) संगत हो सकती है, पर धातु और उपसर्ग का कार्य अन्तरङ्ग होता है, **धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्, पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन**—ऐसा **सुट् कात्पूर्वः** (६।१।१३५) तथा **गतिर्गतौ** (८।१।७०) सूत्रों के भाष्य में कहा है। इसके अनुसार आङ् का वह् के साथ पहले योग होकर पीछे साधन (=कर्म)-वाची 'क्त' आने से सम्प्रसारणादि होने से 'ओढ' रूप निष्पन्न होता है। अब यदि हम इसका 'खट्वा' के साथ योग करते हैं तो खट्वा+ओढ में वृद्धि वारण के लिये सूत्र में आङ् ग्रहण आवश्यक हो जाता है, व्यर्थ नहीं रहता अतः ज्ञापक नहीं रहता। धातु तथा उपसर्ग के कार्य के अन्तरङ्ग होने से ही 'अनुभूयते' इत्यादि में अकर्मक भू धातु के साथ उपसर्ग-योग होने से 'भू' सकर्मक हो गई है, इसीलिये 'अनुभूयते' में कर्मणि लट् उत्पन्न होता है।

नागेश इस मत का विरोध करता है। उसका कहना है कि क्रिया साध्या होती है यह उसका सामान्य रूप से बोध है। साध्य साधन (जो कर्तृ कर्मादि कारक क्रिया सिद्धि का निमित्त है) की आकाङ्क्षा करता है यह नियम है। धातु का साधन के साथ सम्बन्ध होने के पीछे ही वास्तव में क्रिया है इसका बोध होता है। इस साधन के साथ योग के पीछे क्रियास्वरूप की निष्पत्ति होने पर धातु से उपसर्गसंज्ञक शब्द आना चाहिये जिसमें क्रियायोग ही एकमात्र निमित्त है। उससे पहले नहीं। अतएव **सुट्कात्पूर्वः** (६।१।१३५) सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते—यह जो पूर्व कहा गया है, ठीक नहीं। पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण—ऐसा कहना चाहिये। अन्त में **साधनं हि क्रियां निर्वर्तयति** (=साधयति) इत्यादि वचन द्वारा अनन्तरोक्त मत ही युक्त है ऐसा अभिप्राय प्रकट करते हैं।

शङ्का—यदि साधन-योग के पश्चात् (अर्थात् धातु से साधनवाचक=कर्मादिवाची प्रत्यय के आने के पश्चात्) उपसर्ग-संज्ञक शब्द का धातु के साथ योग होता है तो 'अनुभूयते' इत्यादि में कर्मणि लकार की सिद्धि कैसे होगी, अनुपसर्गक धातु के अकर्मक होने से? उत्तर—वक्ता (प्रयोक्ता) अनु उपसर्ग-द्वारा द्योत्य अर्थ=अनुभव को धात्वर्थ के अन्तर्भूत करके धात्वर्थों के नाना होने से अपने लिये भूयते (=अनुभूयते) का प्रयोग करता है, पर श्रोता को 'अनु' के विना अनु-द्वारा-द्योत्य इस अनुभव-रूप अर्थ की प्रतीति सर्वत्र होती नहीं, अतः उसके बोध के लिये 'अनु' द्योतक उपसर्ग का प्रयोग करता है।

इस प्रकार उपसर्ग द्योत्यार्थ के धात्वन्तर्भूत होने से कर्तृवाची 'ति' प्रत्यय आने से पूर्व धातु के विद्यमान होने से और उसके भीतर उपसर्गार्थ के विद्यमान होने से उपसर्ग **अन्तरङ्गतर** है, इसीलिये उपसर्ग-निमित्तक सुट् पहले होता है और द्वित्वादि कार्य (६।१।८) जो 'ति' प्रत्यय-सापेक्ष है, अतः बहिरङ्ग है, पीछे होता है।

सं कृ ति—इस अवस्था में **संपरिभ्यां करोतौ भूषणे** (६।१।१३७) से सुट् पहले होता है। ऐसा होने से **सुट्कात्पूर्वः** (६।१।१३५) में जो 'कात्पूर्वः' कहा है इसकी आवश्यकता नहीं रहती। पीछे होने वाला द्वित्व ससुट्क (सुट्-सहित) कृ को ही होगा।

धातु का साधन के साथ पहले योग होता है, पीछे उपसर्ग के साथ, तभी तो **भाष्य** में प्रनिदापि ('दा' से हेतुमण्णिच् होने पर और तन्निमित्तक पुक् आगम होने पर) में उपसर्गस्थ निमित्त ('प्र' में र्) से 'नि' उपसर्ग को णत्व होना चाहिये अथवा नहीं इस शङ्का का यदागमाः—परिभाषा (११) से सागमक दाप् को 'दा' मानकर समाधान किया है, अन्यथा धातु का उपसर्ग के साथ पूर्व योग होने पर 'प्रनिदा' में णत्व की शङ्का ही नहीं होती और अज्ञान से हो भी तो धातूपसर्ग-कार्य के अन्तरङ्ग होने से अन्तरङ्ग परिभाषा से उसका निरास हो जाता।

साधन के साथ पूर्वयोग होने से ही 'प्रत्येति', 'प्रत्यय' आदि की सिद्धि होती है। अन्यथा यदि उपसर्ग के साथ पूर्व योग हो तो धातु उपसर्ग कार्य के अन्तरङ्ग होने से प्रति इण् ति, प्रति इण् अच् में सवर्ण दीर्घ होकर क्रम से प्रतीति—**प्रतेति** (सार्वधातुक लक्षण गुण), प्रतीअ—प्रतेअ (सार्व० लक्षण-गुण)—**प्रतय** (अयादि सन्धि से) अनिष्ट रूप प्रसक्त होंगे।

जो कार्य उपसर्ग-निमित्तक हो, उपसर्गार्थ के आश्रित हो, जहाँ समुदित उपसर्ग निमित्त हो वह अन्तरङ्ग होता है। जो उपसर्गीय-वर्ण-सम्बन्धी कार्य है, उपसर्गाश्रित न होने से बिल्कुल उपसर्गार्थ के आश्रित नहीं है, वह अन्तरङ्ग नहीं होता, वहाँ पहले आया हुआ साधन-वाचक-प्रत्यय-निमित्तक कार्य ही अन्तरङ्ग होता है। इसीलिये '**न धातुलोप आर्धधातुके**' (१।१।४) सूत्र के भाष्य में 'प्रेद्धः' यहाँ गुण को बहिरङ्ग कहा है। यहाँ इन्ध्+क्त में धात्ववयव न् का लोप होने से (१।१।४) से गुण-निषेध अन्तरङ्ग है। उपसर्गसम्बन्धी ('प्र' के) 'अ' के निमित्त से जो गुण होता है वह बहिरङ्ग है। कारण कि प्रत्यय 'क्त' पहले आता है और उपसर्ग-योग पीछे।

धातु का उपसर्ग के साथ पूर्वयोग होने पर और भी दोष प्रसक्त होता है—इस अवस्था में धातु और उपसर्ग का समास प्रसक्त होगा। **सह सुपा** (२।१।४) के 'सह' को स्वतन्त्रयोग मानकर अथवा **कुगतिप्रादयः** (२।२।१८) से उपसर्ग (सुवन्त) का असुवन्त धातु के साथ समास हो जायगा, जिस से दोनों का ऐकपद्य (एकपदता) तथा ऐकस्वर्य (एकस्वरता) हो जायगी।

शङ्का—साधनार्थक प्रत्यय की उत्पत्ति प्रथम होती है (उपसर्गयोग पीछे) ऐसा कहा है, पर 'भाव' तो साधन नहीं है, भावार्थक कृत् प्रत्यय की उत्पत्ति प्रथम कैसे होती है? **णेरध्ययने वृत्तम्** (७।२।२६) सूत्र में स्पष्ट रूप से इङ् से भावार्थक ल्युट् प्रत्यय पहले किया गया है। इङ् ल्युट् (अन)। प्रत्यय-निमित्तक कार्य गुण होने पर, संहिता कार्य 'ए' को अय् होने पर पश्चात् अधि उपसर्ग का योग किया है, और यण् होकर 'अध्ययन' रूप सिद्ध हुआ है। यह शङ्का ठीक है, पर आचार्य का निर्देश इसकी साधुता में प्रमाण है। इसी से ज्ञापित होता है कि भावार्थक प्रत्यय की भी पहले उत्पत्ति होती है। यदि भाव-बोधक कृत् प्रत्यय ल्युट् (अन) आने से पहले धातूपसर्गयोग हो जाय, तो सवर्ण दीर्घ (अधि इ=अधी) होकर पश्चात् गुण और अय् होकर 'अधयन' ऐसा अनिष्ट रूप होगा।

यह ज्ञापक सामान्यापेक्ष है, भावार्थक **कृत्** प्रत्यय के विषय में ही नहीं, भावार्थक तिङ् प्रत्यय भी उपसर्ग-संज्ञक-शब्दयोग से पहले उत्पन्न होता है, यह भी इसी से ज्ञापित होता है। धातूपसर्गयोग पहले होने पर यहाँ भी समास का प्रसंग होगा। तिङ् प्रत्यय की पूर्व उत्पत्ति होने पर दोष नहीं होगा। पर ज्ञापक की सामान्यापेक्षता स्वीकार करने की तभी आवश्यकता है यदि भाव-तिङन्त के साथ उपसर्गयोग हो।

विशेषापेक्ष (शास्त्र व कार्य) की बहिरङ्गता का खण्डन

नव्यवैयाकरण भट्टोजिदीक्षितादि का यह मत है कि विशेषापेक्ष कार्य की अपेक्षा सामान्यापेक्ष कार्य अन्तरङ्ग होता है कारण कि विशेषापेक्ष में विशेष धर्म तो निमित्त होता ही है, पर उस विशेष का जो सामान्य धर्म है वह भी निमित्त होता है, सो विशेषापेक्ष के विशेषधर्मरूप अधिक-निमित्तक होने से विशेषापेक्ष कार्य बहिरङ्ग होता है। (विशेष जो व्याप्य धर्म होता है उसके ज्ञान से सामान्य व्यापक का ज्ञान होता है जैसे धूम से अग्नि का अनुमान होता है (विशेष धर्म का ज्ञान सामान्य धर्म के ज्ञान के अधीन है, अतः उसके ज्ञान के लिए सामान्य धर्म का ज्ञान आवश्यक है), अतः विशेष धर्म के श्रुत होने से और सामान्य धर्म के अनुमित होने से दोनों उपस्थित होकर कार्य में निमित्त होते हैं। रुद्-लिङ्—रुद्+त्—यहाँ एक साथ **यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च** (३।४।१०३) से 'त्' को यासुट् आगम प्राप्त होता है, **रुदादिभ्यः सार्वधातुके** (७।२।७६) से सार्वधातुक त् को इट् आगम, **रुदश्च पञ्चभ्यः** (७।३।९८) से अपृक्त 'त्' को ईट्, तथा **अड् गार्ग्यगालवयोः** (७।३।९९) से अपृक्त 'त्' को अट् आगम प्राप्त होता है। रुदादिभ्यः सार्वधातुके इससे इट् आगम के विधान के लिए रुदादित्व (रुद् आदि में से एक होना) और सार्वधातुकत्व (सार्वधातुक का होना)—ये निमित्त हैं। सार्वधातुक क्या पदार्थ है इसके बोध के लिए प्रकृति धातु है यह जानना, त् प्रत्यय है यह जानना आवश्यक है। इसके विपरीत यासुट् धात्वधिकारीय होने से धातु-मात्र-निमित्तक होने से अन्तरङ्ग है। अतः इट्, ईट्, अट् के असिद्ध होने से यासुट् होता है (रुद्यात्)। **अनुदात्तङित आत्मनेपदम्** (१।३।१२) की व्याख्या में कैयट ने जो कहा है कि ल्मात्रापेक्ष होने से तिप् आदि आदेश अन्तरङ्ग हैं, लकारविशेष लृट्, लृङ्, लुट् की अपेक्षा करने वाले 'स्य' आदि बहिरङ्ग हैं, वह अयुक्त ठहरता है, कारण कि यद्यपि 'स्य' आदि विशेष-धर्मापेक्ष हैं उनकी उत्पत्ति में विशेषान्तर्गत सामान्य धर्म (लृत्व) निमित्त न होने से वे बहिरङ्ग नहीं कहे जा सकते। (वस्तुतः वे बहिरङ्ग इसलिए हैं कि उनका निमित्त (लृट् आदि) परे पड़ा है अर्थात् वे परनिमित्तक हैं)।

यह सब कुछ अनुपपन्न है। यह ठीक है कि विशेष व्याप्य होने से सामान्य व्यापक का अनुमान कराता है जिससे सामान्य धर्म भी उपस्थित हो जाता है। पर उपस्थित हुआ भी वह विशेषापेक्ष कार्य में अवश्य निमित्त हो, इसमें कुछ प्रमाण नहीं। यदि ऐसा है तो 'रुद्यात्' में अट्, ईट् को बाधकर

यासुट् कैसे हुआ ? यासुट् नित्य है और अट् व ईट् अनित्य हैं। यासुट् होने से पर 'त्' के अपृक्त न रहने से इनकी प्राप्ति न होने से ये अनित्य हैं।

भाष्य में इस प्रकार के बहिरङ्-अन्तरङ्ग-भाव का कहीं भी निर्देश वा संकेत नहीं। अतः यह मान्य नहीं। जहाँ कहीं ऐसा संकेत है वह **एकदेशी की उक्ति है।**

अब यहाँ यह कहा जा सकता है कि **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्** (५।२।९४) के भाष्य में अन्तरङ्ग बहिरङ्ग शब्दों का सामान्यापेक्ष अन्तरङ्ग होता है, विशेषापेक्ष बहिरङ्ग—यह अर्थ किया गया है। ऐसा मानना भ्रम-मूलक है, भाष्यकार का सिद्धान्त पक्ष नहीं है।

प्रकृतसूत्र के भाष्य में कहा है—पञ्च गावो यस्य सन्ति स पञ्चगुः—यहाँ मतुप् प्रत्यय की प्राप्ति की शंका को सुनकर सिद्धान्ती उसका इस प्रकार निरास करता है—पञ्चन् और गो से जुदा-जुदा एक-एक से मतुप् हो नहीं सकता, कारण कि एक-एक का मतुबर्थ के साथ योग (=सामर्थ्य) नहीं, समुदाय 'पञ्चन्गो' से नहीं हो सकता कारण कि समुदाय प्रातिपदिक नहीं, 'पञ्चगु' समास से नहीं हो सकता, कारण कि समास से तद्धितार्थ (मतुप् का अर्थ) पहले ही कहा जा चुका है (तद्धितार्थ में समास होने से)। इस पर पूर्वपक्षी कहता है—यह ठीक नहीं—प्रत्ययार्थ के उक्त होने पर ('तद्धितार्थे विषये' ऐसा न मानकर 'तद्धितार्थे वाच्ये' ऐसा मान रहा है) द्विगु से तद्धित की उत्पत्ति देखी जाती है जैसे पञ्चानां नापितानामपत्यं पाञ्चनापितिः—यहाँ समास द्वारा अपत्यार्थ के उक्त होने पर भी अपत्यार्थक इञ् तद्धित हुआ है। **द्विगोर्लुगनपत्ये** (४।१।८८) में जो अनपत्यार्थक तद्धित प्रत्यय का लुक् विधान किया है वह इस बात का ज्ञापक है कि समास से प्रत्ययार्थ के उक्त होने पर भी प्रत्यय उत्पन्न होता है, अन्यथा लुक् विधान व्यर्थ हो जाय। 'पञ्चगु' शब्द तद्धितार्थ में द्विगु है ऐसा पूर्वपक्षी का मत है। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि 'पञ्चगुः' द्विगु नहीं है, यह बहुव्रीहि है। द्वैमातुरः, द्वयोर्मात्रोरपत्यम् (स्कन्दः), पाञ्चनापितिः, पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः पुरोडाशः इत्यादि में द्विगु सावकाश है। (प्रथमान्तों का बहुव्रीहि होता है, अतः यह बहुव्रीहि का विषय नहीं)। प्रकृत 'पञ्चगुः' में बहुव्रीहि समास (२।२।२४) के पर होने से संख्यापूर्वो द्विगुः—शास्त्र बाधित हो जाता है। पूर्व प्रदर्शित सावकाशता को न जानता हुआ पूर्वपक्षी फिर कहता है—विशेषविहित होने से द्विगु बहुव्रीहि का अपवाद है, अतः 'पञ्चगुः'

द्विगु है। और वह विशेषविहित इस तरह से है—किसी एक अन्य पदार्थ के वाच्य होने पर सभी सुवन्तों का समास बहुव्रीहि समास होता है। अन्य पदार्थ विशेष=तद्धितार्थ के **वाच्य** होने पर (पूर्वपक्षी की यह भ्रान्ति ऊपर प्रदर्शित कर चुके हैं) संख्या पूर्वपद समास द्विगु समास होता है। इसका सिद्धान्त्येकदेशी यह उत्तर देता है—अन्तरङ्ग होने से 'पञ्चगुः' बहुव्रीहि है। यह कैसे अन्तरङ्ग है? अन्य पदार्थ में बहुव्रीहि का विधान है। विशिष्ट अन्य पदार्थ में द्विगु का। मतुप्-विधायक सूत्र में 'अस्यास्ति' ऐसा पढ़ा है। मतुवर्थ में 'पञ्चगुः' यह समास है, अतः अधिक अस्त्यर्थ की अपेक्षा करने वाला द्विगु बहिरङ्ग है, केवल 'अस्य' की अपेक्षा करने वाला बहुव्रीहि समास अन्तरङ्ग है।

यह उक्ति सिद्धान्ती की नहीं हो सकती (जैसे पहले कह चुके हैं सिद्धान्त्येक-देशी की है) कारण कि इससे अनिष्ट-निवारण और इष्ट-साधन नहीं होता। उक्त प्रकार से बहिरङ्ग मानने पर द्विगु-विधायक-शास्त्र **'संख्यापूर्वो द्विगुः'** अपवाद शास्त्र ही रहेगा और बहुव्रीहित्व का बाधक होगा। हम देखते हैं कि **इको यणचि** (६।१।७७) में अच्-सामान्यापेक्ष यण् विधान किया है, पर इसका **'अकः सवर्णे दीर्घः'** अपवाद है, सावर्ण्य-रूप अधिक धर्म से विशिष्ट अच् की अपेक्षा से होने वाला दीर्घ यण् को बाधता है। वस्तुतः द्विगु के अन्यत्र सावकाश होने से 'पञ्चगुः' में पर होने से बहुव्रीहित्व द्विगुत्व का बाधक है।

एकदेशी के अनुसार भी अधिकापेक्ष होने से बहिरङ्ग होता है, केवल विशेषापेक्ष होने से नहीं। अतः **सामान्यापेक्षं विशेषापेक्षादन्तरङ्गम्—यह मत भाष्यारूढ** नहीं है। इसीलिये सुवन्त-सामान्यापेक्ष बहुव्रीहि होता है और सुवन्त विशेषापेक्ष द्विगु—ऐसा भाष्य में नहीं कहा।

शङ्का—**विशिष्टेऽन्यपदार्थे** द्विगुः—यह कैसे मान लिया गया, जबकि सिद्धान्त में अर्थकृत् बहिरङ्गता होती ही नहीं। उत्तर—यह एकदेशी की उक्ति है, इसकी व्याख्या में प्रवृत्त व्याख्याकार दोषी नहीं हो जाता। वस्तुतः अधिक अस्त्यर्थ की अपेक्षा होने से जो द्विगु की बहिरङ्गता एकदेशी को अभि-मत है, वह भी नहीं है। **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्** (५।२।९४) सूत्र में 'अस्ति' अस्य, अस्मिन् की उपाधि (विशेषण) नहीं, किन्तु 'अस्ति' शब्द से मतुप् विधान के लिये इसका सूत्र में पाठ किया है। **अस्तिमान्**=धनवान्। अतः सिद्धान्ती (भाष्यकार) ने **'मत्वर्थे द्विगोः प्रतिषेधो वक्तव्यः'** इस वचन से द्विगु का निषेध करके 'पञ्चगुः' बहुव्रीहि है, यह स्थापित किया है (न कि बहिरङ्गता का आश्रयण करके)।

क्योंकि अन्तरङ्ग परिभाषा में अन्तरङ्ग का अर्थ सामान्यापेक्ष नहीं तथा बहिरङ्ग का विशेषापेक्ष नहीं (जैसाकि भट्टोजिदीक्षितादि मानते हैं), इसलिये **तदोः सः सावनन्त्ययोः** (७।२।१०६) में 'अनन्त्य' ग्रहण आवश्यक होता है। त्यद्-सु—यहाँ **तदोः सः सावनन्त्ययोः** (७।२।१०६) से अनन्त्य त्, द् को सु विभक्ति परे होने पर सकारादेश विधान किया है। **त्यदादीनामः** (७।२।१०) से त्यद् आदि के अन्त्य 'द्' को विभक्ति मात्र परे रहते 'अ' आदेश विधान किया है। यदि भट्टोजिदीक्षित आदि के अनुसार अन्तरङ्ग का सामान्यापेक्ष अर्थ हो और बहिरङ्ग का विशेषापेक्ष, तो '**त्यदादीनामः**' सामान्यापेक्ष होने से अन्तरङ्ग होगा और 'तदोः सः'—बहिरङ्ग। अन्तरङ्ग की कर्तव्यता में बहिरङ्ग के असिद्ध होने से पूर्व अन्तरङ्ग कार्य 'द्' को 'अ' हो जायगा। अब अन्त्य 'द्' के चले जाने से सकारादेश अनन्त्य 'त्' को ही होगा, सूत्र में सूत्रकार अनन्त्य ग्रहण न भी करते। अनन्त्य-ग्रहण किया है इससे हम जानते हैं भगवान् सूत्रकार को दीक्षिताद्यभिमत अर्थ अभीष्ट नहीं।

यदि **अन्तर्भूतनिमित्तकमन्तरङ्गम्, बहिर्भूतनिमित्तकं बहिरङ्गम्,** अथवा **पूर्वोपस्थितनिमित्तकमन्तरङ्गं पश्चादुपस्थितनिमित्तकं बहिरङ्गम्**—यह सिद्धान्त है तो असुस्रुवत् (स्रु-लुङ्- असुस्रु अ=चङ्—त) में उवङ् के किसी प्रकार से भी अन्तरङ्ग न होने से धातु के 'उ' को उवङ् नहीं होना चाहिये, प्रत्युत प्रक्रियाक्रम में त् प्रत्यय के पूर्व उपस्थित होने से तन्निमित्तक गुण अन्तरङ्ग होना चाहिये और उवङ् को बाधकर पहले गुण होना चाहिये। किन्हीं लोगों द्वारा स्वीकृत 'अल्पापेक्ष अन्तरङ्ग होता है और बह्वपेक्ष बहिरङ्ग' मत के अनुसार भी यहां उवङ् को अल्पापेक्ष नहीं कहा जा सकता, कारण कि उवङ् चङ् (अ) की अपेक्षा करता है, गुण 'त्' प्रत्यय की, दोनों में एक निमित्त है।

अन्तरङ्ग का 'अन्तः कार्यं' रूप अर्थ स्वीकार करने से उवङ् की अन्तरङ्गता बनी रहती है। 'अन्तः कार्यं' वह होता है जिसका निमित्त पूर्वोपस्थित हो, उच्चारण क्रम मे प्रथम हो, अर्थात् पूर्वोच्चारित हो। अङ्ग शब्द निमित्तपरक है—यह असकृत् कहा जा चुका है। (प्रायः संभव होने पर अर्थकृत (अर्थनिमित्तक) पूर्वोपस्थिति ली जाती है, उसके सम्भव न होने पर उच्चारण-कृत उपस्थिति—ऐसी व्यवस्था जाननी चाहिये)। इस प्रकार की अन्तरङ्गता लोकव्यवहार से सिद्ध है। यह देखा जाता है कि मनुष्य प्रातः उठ कर सर्वापेक्षया प्रथम उपस्थित होने से अपने शरीरसम्बन्धी कार्यों को करता है,

फिर मित्रों के, फिर सम्बन्धियों के। इसी प्रकार शब्द श्रवण के अनन्तर सर्व-प्रथम जाति बुद्ध्युपारूढ होती है, तब जाति की आश्रयभूत व्यक्ति, तब जाति-विशिष्ट व्यक्ति में विशेष के चिन्तन से लिङ्ग, तब सजातीय पदार्थान्तर में सापेक्ष अपेक्षा-बुद्धि द्वारा संख्या, तब विजातीय क्रिया में सापेक्ष कारकत्व बुद्ध्युपारूढ होता है। इसी क्रम से उस-उस अर्थ के बोधक शब्द का प्रादुर्भाव होता है। **शब्दप्रादुर्भाव के क्रम से शब्द को कार्य होते हैं।** पटु+ई+आ (=टा)—इस पद के **विभज्यान्वाख्यान** में उ, तथा ई को युगपत् यण् की प्राप्ति होने पर 'अन्तःकार्य' रूप अन्तरङ्गता मानी जाती है। इस अन्तरङ्गता से पूर्वोपस्थित-निमित्तक (प्रकृत में पटु के 'उ' के स्थान में यण्) कार्य पहले होता है ऐसा नियम किया जाता है। पर यह अन्तरङ्गता पहले से हुए बहिरङ्ग कार्य को इस प्रकार के अन्तरङ्ग कार्य की कर्तव्यता में असिद्ध नहीं करती—यह अर्थ उक्त लोकन्याय से ही प्राप्त होता है।

इसमें भाष्य भी प्रमाण है। भाष्य में **वाय्वोः** (वायु+ओस्) में **लोपो व्योर्वलि** (६।१।६६) से प्राप्त 'य्' के लोप को 'उ' के स्थान में जो यण् हुआ है उसे स्थानिवत् मानकर रोका है। पूर्वोपस्थित निमित्तक-वलि लोप अन्तरङ्ग है, पश्चादुपस्थित-निमित्तक होने से यण् बहिरङ्ग है। अन्तरङ्ग से पहले बहिरङ्ग यण् हो चुका है। यदि अन्तरङ्ग परिभाषा यहां भी प्रवृत्त हो तो उसी से जातबहिरङ्ग की असिद्धि होने से अन्तरङ्ग 'य्' का लोप रुक जाता, तो स्थानिवद्भाव के आश्रयण की आवश्यकता न होती।

पर 'पट्व्या' यहां जब हम क्रम से अन्वाख्यान करते हैं अर्थात् इस पद के वाचक (सार्थक) घटक अवयवों को क्रम से रखकर व्याख्यान करते हैं तब पूर्वप्रवृत्ति का होना भी अन्तरङ्गता है। पटु ई=पट्वी। यहां अन्तरङ्ग यण् हो गया। बहिरङ्ग यण् (टा-निमित्तक) की अभी प्राप्ति नहीं, टा-निमित्त के अभी न होने से। 'पट्वी' रूप की सिद्धि के पश्चात् 'टा' आने से 'पट्व्या' रूप सिद्ध होता है।

उच्चारण क्रमेण पूर्वोपस्थित-निमित्तक कार्य को अन्तरङ्ग कहा है, पूर्व-स्थानिक कार्य को नहीं। यदि उसे भी अन्तरङ्ग माना जाय, तो 'स्रजिष्ठः' (स्रज्विन् इष्ठन्-सु) इत्यादि में (**टेः** ६।४।१५५) से टि-लोप इन्मात्र का लोप प्राप्त होता है, उसका **विन्मतोर्लुक्** (५।३।६५) से बाध हो जाता है, अर्थात् विन्मतोर्लुक् टि-लोप का अपवाद है। 'स्रज् विन्' में विन् का लुक् होने पर स्रज् के 'टि' (अज्) का लोप क्यों नहीं होता ? विषयभेद से टि-लोप के भिन्न

होने से (पूर्व टि-लोप इन्-मात्र को प्राप्त होता है, दूसरा 'अज्' मात्र को)। पूर्व टि लोप का विन्मतोर्लुक् से बाध होने पर भी अपर टि-लोप का बाध क्यों-कर हो ? इस आपत्ति के वारण के लिये भाष्यकार यहां जातिपक्ष का आश्रयण करते हैं। **जो भी टि-लोप जब-जब प्राप्त होता है, वह विन्मतोर्लुक् से विहित लुक् से बाधा जाता है।** यदि 'पूर्वस्थानिकत्वम् अन्तरङ्गत्वम्' ऐसा मानें तो अनायास से ही (सहज में ही) टि-लोप के अन्तरङ्ग होने से और **विन्मतोः**—(५।३।६५) के वहिरङ्ग होने से अन्तङ्रग परिभाषा से ही पुनः टि-लोप न हो सकता। किं च। परिभाषा में अङ्ग शब्द निमित्तवाची है यह निर्विवाद है, अतः पूर्वस्थानिकत्व को अन्तरङ्गत्व मानना ठीक नहीं। भाष्य में भी कहीं ऐसा माना नहीं है।

यह परिभाषा उत्तरपदाधिकारस्थ वहिरङ्ग कार्य की असिद्धता की बोधक नहीं (उत्तरपदाधिकार अलुगुत्तरपदे ६।३।१ से प्रारम्भ होता है और तृतीय पाद के अन्त तक चलता है)। यह **इच एकाचोऽम्प्रत्ययवच्च** (६।३।६८) इस सूत्र के भाष्य में पूर्वपक्षी की उक्ति है, यह मान्य नहीं। पर+तापि+खच् यहां **द्विषत्परयोस्तापेः** (३।२।३९) से खच् प्रत्यय होता है। **खचि** (६।४।९४) से 'तापि' की उपधा को ह्रस्व, **अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्** (६।३।६७) से मुम् आगम और इस मुम् (म्) को **मोऽनुस्वारः** (८।३।२३) से अनुस्वार होता है। अनु-स्वार अन्तरङ्ग कार्य है, पर यह त्रैपादिक है। इसकी अपेक्षा मुम् वहिरङ्ग है, पर अन्तरङ्ग परिभाषा त्रैपादिक अन्तरङ्ग कार्यों की कर्तव्यता के विषय में प्रवृत्त नहीं होती, अर्थात् मुम् असिद्ध नहीं होता। नव्य वैयाकरण दीक्षिता-दि जो यथोद्देशपक्ष में अन्तरङ्गपरिभाषा की प्रवृत्ति त्रैपादिक अन्तरङ्ग कार्यों के विषय में नहीं मानते (कार्यकाल पक्ष में तो मानते हैं) उनके अनुसार यह उपरिनिर्दिष्ट उक्ति एकदेशी की ही जाननी चाहिये।

आभीय (६।४।२२—१७५) अन्तरङ्ग कार्य की कर्तव्यता में समानाश्रय वहिरङ्ग आभीय कार्य की अन्तरंग परिभाषा से असिद्धता नहीं होती, कारण कि आभीय प्रकरण में जो भी कार्य विधान किया है वह दूसरे कृतपूर्व आभीय कार्य के प्रति असिद्ध है और प्रकृत परिभाषा भी वाह ऊठ् (६।४।१३२) से ज्ञापित होने से आभीय है और असिद्ध है। (**असिद्धवदत्राभात्**) (६।४।२२)। प पा वस् अस्—यहां **वसोः सम्प्रसारणम्** (६।४।१३१) से सम्प्रसारण और पूर्वरूप होकर पपा उस् अस्—इस स्थिति में 'उस्' के अच् को निमित्त मानकर **आतो लोप इटि च** (६।४।६४) से आ-लोप हो जाता है दोनों कार्य

आभीय हैं। सम्प्रसारण परस्थित-निमित्तक होने से बहिरङ्ग है, आ-लोप पूर्व-स्थित-निमित्तक होने से अन्तरङ्ग है। बहिरङ्ग सम्प्रसारण के असिद्ध होने से आ-लोप नहीं होना चाहिये। इसका यह उत्तर दिया गया है कि अन्तरंग परिभाषा स्वयम् असिद्ध है, अतः इसकी यहां प्रवृत्ति न होने से सम्प्रसारण असिद्ध नहीं होगा, तो आ-लोप हो जायगा। पर यह शंका होती है कि यहां अन्तरङ्ग परिभाषा से असिद्धता मत हो, आभीयत्वेन जो असिद्धता है वह भी नहीं बनती, कारण दोनों आभीय कार्यों के समानाश्रय होने पर पहले किये हुए आभीय कार्य की असिद्धता होती है। प्रकृत में सम्प्रसारण अस् (=शस्) को मानकर हुआ है और आ-लोप सम्प्रसारण 'उ' के आश्रित है, अतः दोनों कार्य व्याश्रय हैं, समानाश्रय नहीं।

इको गुणवृद्धी (१।१।३) के भाष्य से स्पष्ट है कि **सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु** (७।२।१) इत्यादि शास्त्र से विधीयमान वृद्धि की अपेक्षा **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (७।३।८४) से विधीयमान गुण अन्तरङ्ग नहीं होता। इसके लिये भाष्य में **सिच्यन्तरङ्गं नास्ति**—यह वचन पढ़ा है। गुण अन्तरङ्ग है केवल सार्वधातुक अथवा आर्धधातुक प्रत्यय की अपेक्षा करने से (अर्थात् अल्पनिमित्तक होने से)। वृद्धि बहिरङ्ग है कारण कि इसे सिच् की अपेक्षा है जिस सिच् से परे परस्मैपद प्रत्यय हों। इस तरह वृद्धि बहिरङ्ग है। पर अन्तरङ्ग गुण की प्राप्ति होने पर ही वृद्धि का विधान होने से **'येन नाप्राप्ति-न्यायेन'** वृद्धि अन्तरङ्ग गुण का अपवाद है, और अपवाद अन्तरङ्ग से भी बलवान् होता है। अतः भाष्यस्थ **'न सिच्यन्तरङ्गमस्ति'** यह वचन कोई अपूर्व वचन नहीं है। अन्तरङ्ग का अपवाद से बाध हो जाता है—यह इसका मूल है।

सिचि वृद्धि की अपेक्षा गुण अन्तरंग नहीं होता इसमें पायगुण्ड ज्ञापक भी उपस्थित करता है। **अतो हलादेर्लघोः** (७।२।७) में अत् ग्रहण तथा **ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम्** (७।२।५) में णि-श्वि प्रतिषेध ज्ञापक है। यदि अन्तरङ्ग होने से वृद्धि से पूर्व गुण हो जाय तो अकोषीत् (कुष्-सिच्-त्) आदि में उपधा के लघु न होने से ('ओ' होने से) सिच् परे वैकल्पिकी वृद्धि नहीं होगी तो सूत्र में अत् ग्रहण व्यर्थ रहता है। इसी प्रकार अश्वयीत् (श्वि-सिच्-त्) की प्रक्रिया में यदि वृद्धि की अपेक्षा गुण अन्तरङ्ग हो तो यहाँ गुण होकर अय् आदेश होने से धातु यकारान्त बन जायगी तो (७।२।५) से यान्त को वृद्धि का निषेध होने से सूत्र में 'श्वि' का निषेध व्यर्थ हो जायगा। चूंकि गुण सिचि वृद्धि की अपेक्षा अन्तरङ्ग नहीं है, वृद्धि पहले होगी, यदि उस का

सूत्र में शिव-ग्रहण से निषेध न किया जाय ।।५०।।

सीरदेवीय—

असिद्धं वहिरङ्गमन्तरङ्गे—यह परिभाषा अनित्य है। इसमें **नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति** (८।२।२) में तुग्विधि में न-लोप की असिद्धता का वचन ज्ञापक है। (यदि यह नित्य हो तो इसी से वृत्रहभ्याम्—यहां अन्तरंग तुक् की कर्तव्यता में न-लोप की असिद्धता सिद्ध ही है तो इस की असिद्धता का पुनः इस सूत्र में विधान क्यों किया ? यदि कहो **सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः** यह विधान नियमार्थ रहेगा। न-लोप कृत्प्रत्यय-निमित्तक तुक् करने में ही असिद्ध होता है, छ-निमित्तक तुक् करने में नहीं। इसलिये वृत्रहच्छत्रम्—यहां तुक् की कर्तव्यता में असिद्धं वहिरङ्गमन्तरङ्गे यह परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती। विधि और नियम का सम्भव होने पर विधि वलवती मानी जाती है और इसलिये विधि का आश्रयण होना चाहिये, यह कहना भी युक्त न होगा, कारण कि प्रकृत में विधि और नियम दोनों को एकसमान दो पदार्थों की अपेक्षा है—तुक् और कृत् प्रत्यय। उत्तर—वृत्रहच्छत्रम्—यहां न-लोप वहिरङ्ग नहीं, तुक् ही वहिरङ्ग है, तुक् दो पदों को आश्रित करता है। वृत्रहभ्याम्—यहां तो विभक्ति को निमित्त मानकर न-लोप होता है, अतः वह वहिरङ्ग है। वहिरङ्गत्वेन असिद्ध होने से प्रत्यय-लक्षण से क्विप् मानकर प्राप्त हुआ तुक् नहीं होता। अमू (अद+औ) यह परिभाषा की अनित्यता का उदाहरण है। यहां विभक्ति का आश्रयण करने से एकादेश (औ) अन्तरङ्ग उत्व, मत्व की कर्तव्यता में असिद्ध नहीं होता ।।५०।।

यदि अन्तरङ्ग परिभाषा उपरिनिर्दिष्ट तीन विषयों (त्रिपादी, आभीय, सिचिवृद्धि) को छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र निर्बाध प्रवृत्त हो तो अक्ष-दिव्-क्विप्—यहां (अक्षद्यू की सिद्धि में) **च्छ्वोः शूडनुनासिके च** (६।४।१९) से जो 'व्' को ऊठ् विधान किया है वह परस्थित निमित्त के कारण होने से वहिरङ्ग है। ऊठ् होने पर जो (६।१।७७) से 'इ' को यण् होता है वह पूर्वस्थित निमित्त (ऊ) के कारण होने से अन्तरङ्ग है। यदि वहिरङ्ग ऊठ् असिद्ध हो जाय तो अन्तरङ्ग यण् न हो सकेगा, जिससे 'अक्षद्यूः' (अक्षैर्दीव्यति अक्षान्वा दीव्यति) निष्पन्न नहीं होगा। इसके समाधान के लिए अन्तरङ्ग परिभाषा की अपवाद-भूत परिभाषा पढ़ते हैं—

नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः । (५१)

अर्थ—'अजानन्तर्ये' यह पूर्व परिभाषा के 'अन्तरङ्गे' का विशेषण है। अच् का किसी दूसरे के साथ आनन्तर्य (अव्यवहित परत्व) अन्तरंग कार्य का निमित्त हो तो उस अन्तरङ्ग कार्य की कर्त्तव्यता में पहले हुआ (जात) बहिरङ्ग कार्य असिद्ध नहीं होता। बहिस् शब्द बहिरङ्ग का वाचक है। बहिर्भावो बहिष्ट्वम्=बहिरङ्गत्वम्। बहिरङ्गता से तत्प्रयुक्त कार्य असिद्धता अभिप्रेत है। प्रक्लृप्तिः=प्राप्तिः। 'अजानन्तर्ये' में अच् एकवचनान्त विवक्षित है। **षत्वतुकोरसिद्धः** (६।१।८६) सूत्र में तुक्-ग्रहण इस परिभाषा का ज्ञापक है। सूत्र का अर्थ है—षत्व तथा तुक् की कर्तव्यता में एकादेश असिद्ध होता है। अधि इ (ङ्) क्त्वा (त्वा) इस अवस्था में समास होने पर क्त्वा के स्थान में (ल्यप् आदेश का निमित्त समास है, इसलिये), समास में संहिता के नित्य होने से अधि इ के स्थान में एकादेश 'अधी' पहले हो जाता है, क्त्वा को होने वाले ल्यप् आदेश की प्रतीक्षा नहीं करता। (६।१।८६) से एकादेश के असिद्ध होने से **ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्** (६।१।७१) से तुक् हो जाता है। यदि यह परिभाषा न हो तो अन्तरङ्ग परिभाषा से एकादेश के बहिरङ्ग होने से असिद्ध होने से तुक् हो जाता, तो सूत्र में तुक् ग्रहण व्यर्थ रहता है। अब प्रकृत परिभाषा के ज्ञापित होने पर बहिरङ्ग एकादेश अन्तरङ्ग कार्य तुक् की कर्तव्यता में असिद्ध नहीं होगा, जिससे सूत्र में तुक्-ग्रहण चरितार्थ हो जाता है। अच् (दीर्घ एकादेश ई) तथा प्रत्यय ल्यप् का आनन्तर्य अन्तरङ्ग तुक् विधि का निमित्त है। अतः प्रकृत परिभाषा का विषय है। वर्ण-मात्र (ह्रस्व) जिससे अनन्तर पर ल्यप् (पित् कृत्) उसकी अपेक्षा करने वाला तुक् अन्तरङ्ग है, और पदद्वय-सम्बन्धी वर्णद्वय की अपेक्षा करने वाला एकादेश बहिरङ्ग है। पदद्वय-सम्बन्धी वर्णद्वय की अपेक्षा करने वाला एकादेश बहिरङ्ग होता है इसमें भाष्य में प्रेद्धः (प्र + इद्धः) आदि में 'गुण बहिरङ्ग है'—यह कथन प्रमाण है।

कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि **षत्व-तुकोरसिद्धः** (६।१।८६) में केवल तुक् ग्रहण ही नहीं, षत्व ग्रहण भी ज्ञापक है। उनका कहना है कि पदद्वय-सम्बन्धी वर्णद्वय की अपेक्षा करने वाला एकादेश (ओ और अ के स्थान में प्रवृत्त ओ) अन्तरङ्ग परिभाषा से ही असिद्ध है तो कोऽसिचत् इत्यादि में **इण्कोः । आदेश-प्रत्यययोः** (८।३।५९) से षत्व की प्रवृत्ति नहीं होगी, फिर जो षत्व विधि की कर्तव्यता में भी एकादेश की असिद्धता कही है वह प्रकृत परिभाषा की ज्ञापिका ही माननी चाहिये। नहीं। षत्व ग्रहण ज्ञापक नहीं हो सकता जैसे एकादेश पदद्वय सम्बन्धी वर्णद्वय की अपेक्षा रखता है, वैसे ही षत्व भी इण् के पूर्वपद-

सम्बन्धी होने से पदद्वय-सम्बन्धी-वर्णद्वयापेक्षी है, अतः दोनों समान हैं। एकादेश-के अन्तादिवच्च (६।१।८५) से परादिवत् होने से कोऽसिचत् में 'ओसिचत्' पद होगा (एक-देश-विकृत न्याय से 'सिचत्' नहीं) और स्' के पदादि (पद का आदि) न होने से सात्पदाद्योः (८।३।१११) से षत्व का निषेध न हो सकेगा। अतः सूत्र में एकादेश की असिद्धता के लिये षत्व ग्रहण अत्यन्त आवश्यक है, व्यर्थ नहीं। अतएव प्रकृतपरिभाषा का ज्ञापक नहीं।

ऊपर जो परिभाषार्थ दिया है उसमें अच् का अन्य के साथ आनन्तर्य जिस अन्तरङ्ग कार्य में निमित्त हो उसकी कर्तव्यता में—ऐसा कहा है। अतः पचाव (पच् लोट् उ० द्वि)+इदम्=पचावेदम्—यहां एकादेश 'ए' होने पर इस 'ए' को एत ऐ (३।४।९३) से लोट् सम्बन्धी उत्तम पुरुष 'ए' को 'ऐ' नहीं होता, क्योंकि इस 'ऐ' आदेश को अन्य आनन्तर्य की अपेक्षा नहीं, अतः प्रकृत परिभाषा का विषय नहीं। आद् गुणः से निष्पन्न एकादेश (परि० ५०) से असिद्ध रहता है।

परिभाषार्थ में यह भी कहा है कि जात बहिरङ्ग कार्य (वह बहिरङ्ग कार्य जो अन्तरङ्ग से पहले हो चुका है वह अन्तरङ्ग की अपेक्षा असिद्ध नहीं होता। इसलिये अयज इ इन्द्रम् (अयजे इन्द्रम्), धि अ ति (धियति) आदि में इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती। यहां पूर्व उदाहरण में अन्तरङ्ग गुण (अ+इ=ए) तथा सवर्ण दीर्घ एकादेश (इ+इ=ई) एकसाथ ही प्राप्त होते हैं। द्वितीय उदाहरण में अन्तरङ्ग इयङ् ('धि' के 'इ' को) तथा तिप् सार्वधातुक प्रत्यय-निमित्तक बहिरङ्ग गुण एकसाथ प्राप्त होते हैं। अतः यह प्रकृत परिभाषा का विषय नहीं। अन्तरङ्ग परिभाषा (५०) की ही प्रवृत्ति होती है और बहिरङ्ग के असिद्ध होने से पूर्वत्र गुण होता है और उत्तरत्र इयङ् होता है।

इसी हेतु भाष्य में अयज इ (इट्) इन्द्रम्, वन इ (ङि) इह, सर्व इ (शि) इह, इस प्रकार विभज्यान्वाख्यान में अ तथा इ के स्थान में गुण (ए) अन्तरङ्ग है और इ+इ के स्थान में दीर्घ एकादेश बहिरङ्ग होने से असिद्ध है ऐसा कहा है। जात बहिरङ्ग न होने से प्रकृत परिभाषा का विषय न होने से भाष्य ग्रन्थ सङ्गत होता है। यदि यहां भी प्रकृत परिभाषा लगे तो बहिरङ्ग दीर्घ एकादेश के असिद्ध न होने से अन्तरङ्ग गुण उसे बाधेगा नहीं तो पर होने से सवर्ण दीर्घ पहले हो जायगा, पीछे गुण, जिससे अयजेन्द्रम् इत्यादि अनिष्ट रूप प्रसक्त होंगे। धियति (धि+अ=(श) ति) तथा अदुद्रुवत् (अदुद्रु+अ=चङ्-त्) में

भी अ(श, चङ्) को निमित्त मानकर इयङ्, उवङ् अन्तरङ्ग हैं, और परस्थित ति, त् को मानकर गुण वहिरङ्ग है। इयङ् व उवङ् तथा गुण एकसाथ प्राप्त होते हैं। यहां भी पूर्व परिभाषा (५०) से गुण वहिरङ्ग के असिद्ध होने से इयङ् व उवङ् पहले होते हैं। यद्यपि गुण विधायक शास्त्र **पुगन्तलघूपधस्य च** (७।३।८६) पर है।

ओमाङोश्च (६।१।९५) सूत्र में आङ् ग्रहण उक्त हेतु से ही चरितार्थ होता है। शिव आ इहि (हे शिव आओ)। धातु उपसर्ग का कार्य अन्तरङ्ग होता है अतः पर सवर्ण दीर्घ (शिव+आ=शिवा) जो वहिरङ्ग है उसे बाधकर अन्तरङ्ग गुण (ए) हो जाता है। अब शिव एहि (=आ+इहि) में 'एहि' **अन्तादिवच्च** (६।१।८५) सूत्र से आङादि है। अतः वृद्धि बाधन के लिये सूत्र में आङ् पढ़ा, जिससे पररूप हो गया और 'शिवेहि' रूप निष्पन्न हुआ। यदि यहां भी जात वहिरङ्ग न होने पर भी नाजानन्तर्ये—परिभाषा की प्रवृत्ति हो तो शिव आ इहि में सवर्ण दीर्घ सिद्ध होगा और पर होने से पहले होगा। पीछे शिवा के आ और इहि के 'इ' के स्थान में गुण एकादेश 'ए' हो जायगा तो इष्ट रूप 'शिवेहि' सिद्ध हो जायगा। उस अवस्था में सूत्र में आङ् ग्रहण व्यर्थ रहेगा।

शङ्का—'अक्षद्यूः' (अक्ष+दिव्+क्विप्) की सिद्धि में **च्छ्वोः शूडनुनासिके च** (६।४।१९) से व् के स्थान में ऊठ् हो जाने पर जब धातु के 'इ' को यण् हो जाता है, तो **लोपो व्योर्वलि** (६।१।६६) से 'य्' का लोप हो जाना चाहिये। ऊठ् (व् के स्थान में 'ऊ') न केवल यण् ('इ' के स्थान में य्) के प्रति असिद्ध है, **वलि लोपः** (६।१।६६) से 'य्'-लोप के प्रति भी असिद्ध है। क्विप् परस्थित निमित्त है और इसे निमित्त मानकर ऊठ् विधान किया है। अतः ऊठ् पूर्वस्थित-निमित्तक यण् और वलिलोप के प्रति असिद्ध है। यद्यपि प्रकृत परिभाषा से ऊठ् अन्तरङ्ग यण् कार्य (जो 'इ' तथा 'अ' के आनन्तर्य की अपेक्षा करता है) के प्रति असिद्ध नहीं, वलिलोप के प्रति तो असिद्ध ही है, कारण कि वलि लोप में अच् का किसी अन्य के साथ आनन्तर्य निमित्त नहीं है। उत्तर—यह शंका अनवसर-ग्रस्त है। प्रकृत परिभाषा का असन्दिग्ध सम्पूर्ण अर्थ यह है—जातवहिरङ्ग असिद्ध नहीं होता जब अज्निष्ठ(=अच् में रहने वाला) अन्यनिरूपित (किसी दूसरे का, अर्थात् किसी दूसरे के साथ) आनन्तर्य कर्तव्य अन्तरङ्ग कार्य में निमित्त हो और जब प्रथम अन्तरङ्ग कार्य के हो जाने के पीछे कोई दूसरा अन्तरङ्ग कार्य प्राप्त होता हो। इस परिभाषार्थ के अनुसार

यण् के प्रति ऊठ् असिद्ध नहीं (अर्थात् सिद्ध है), दूसरे अन्तरङ्ग कार्य (वलिलोप) के प्रति भी असिद्ध नहीं (अर्थात् सिद्ध है, 'ऊ' ही पड़ा है), अतः परे वल् न होने से लोप की प्राप्ति नहीं।

यदि अन्तरङ्ग परिभाषा को अनित्य मानकर वलि लोप का वारण करें, तो प्रकृत परिभाषा व्यर्थ होगी, अन्तरङ्ग परिभाषा की अनित्यता से ही निर्वाह हो जायगा।

प्रकृत परिभाषा के होने पर ही **न-लोपः सुप्स्वर**—(८।२।२) में कृति तुक्—ग्रहण अर्थ रखता है। अन्यथा (परिभाषा के अभाव में) ये पद (कृति तुक्) बिल्कुल व्यर्थ होंगे। वृत्रहभ्याम् (वृत्रहन्)+क्विप्+भ्याम्)—यहां न् -लोप बहिरङ्ग है, बहिर्भूत भ्याम् के कारण जो वृत्रहन् में पदत्व आता है, उसका आश्रयण करने से, और उससे (भ्याम् से) पूर्ववर्तमान क्विप् को मान कर जो तुक् प्राप्त है वह अन्तरङ्ग है। अन्तरङ्ग परिभाषा (५०) से बहिरङ्ग न्-लोप के असिद्ध होने से तुक् नहीं होगा, तो **न-लोपः सुप्स्वर**—सूत्र में कृति तुक्-ग्रहण व्यर्थ रहता है।

इस परिभाषा की स्वीकृति होने पर अन्तरङ्ग तुक् कार्य में अजिनष्ठ अन्य निरूपित आनन्तर्य के निमित्त होने से न्-लोप बहिरङ्ग असिद्ध नहीं होगा, इसे जानते हुए आचार्य ने तुक् की कर्तव्यता में न्-लोप को असिद्ध पढ़ दिया।

पर **ह्रस्वस्य पिति**—सूत्र (६।१।७१) के भाष्य में 'ग्रामणिपुत्रः' आदि में **इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य** (६।३।६१) से ग्रामणी (क्विप्प्रत्ययान्त) के ई को ह्रस्व हो जाने पर प्रत्ययलक्षणेन तुक् आगम की शङ्का करके ह्रस्व बहिरङ्ग (उत्तरपद के निमित्त से होने के कारण) है, और अन्तरङ्ग परिभाषा से असिद्ध है, अतः क्विप् को मानकर अन्तरङ्ग तुक् नहीं होता—यह समाधान दिया है। प्रकृत परिभाषा (अजानन्तर्य) के होने पर यह समाधान कैसे संगत हो सकता है? इसका उत्तर यही है कि इस भाष्य-ग्रन्थ से यह ज्ञापित होता है कि नाजानन्तर्य—परिभाषा अनावश्यक है। इस ज्ञापक से अन्तरङ्ग परिभाषा की अनित्यता का बोध कराया गया है यही मानना ठीक है। **इसलिये (६।१।८६) में तुक्-ग्रहण एक नई परिभाषा के ज्ञापन की अपेक्षा अन्तरङ्ग परिभाषा की अनित्यता को ही ज्ञापित करे—यह अधिक सरल है।**

चूंकि नाजानन्तर्य परिभाषा (५८) अनावश्यक होने से निराकृत है, इसलिये **अचः परस्मिन्**—(१।१।५७) के भाष्य में पटु ई आ—यहां पर यणादेश के अन्तरङ्ग परिभाषा के द्वारा असिद्ध होने से पूर्व यण् की सिद्धि की गई है।

यदि नाजानन्तर्य परिभाषा भाष्यकार द्वारा स्वीकृत होती तो ऐसा न करते। यह परिभाषा भाष्य में केवल(१।४।२)सूत्र भाष्य में पढ़ी गई है, अन्यत्र कहीं नहीं। इसी कारण (इस परिभाषा के न होने से ही) **सम्प्रसारणाच्च** (६।१।१०८) सूत्र के भाष्य में अन्तरङ्ग परिभाषा का उपक्रम करके कहा है—'**विप्रतिषेध-सूत्र** (१।४।२) में इसके अनेक प्रयोजन बताये गये हैं, उन प्रयोजनों के लिये यह परिभाषा स्वीकार करनी चाहिये और यदि इसकी स्वीकृति से कहीं अनिष्ट-रूप-निष्पत्ति प्रसक्त हो, तो उसका प्रतिविधान करना चाहिये। वहां (१।४।२) में प्रतिविधान कह दिये गये हैं' ऐसा नहीं कहा। **दोषेषु प्रतिविधेयम्**—ऐसा कहा है, इससे यह ध्वनित होता है कि सभी दोषों के वारणार्थ एक ही प्रतिविधान अभीष्ट है और वह परिभाषा को अनित्य मानना है ॥५१॥

सीरदेवीय—

दो अचों के अनन्तर होने पर जहां दोनों अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग कार्य प्राप्त होते हैं, अर्थात् जहां बहिरङ्ग प्रवृत्त हुआ है और अन्तरङ्ग प्राप्त होता है अथवा जहां अन्तरङ्ग प्रवृत्त हुआ है और बहिरङ्ग प्राप्त होता है वहाँ असिद्ध परिभाषा का निषेध होता है। संहिताधिकारीय कार्य की कर्तव्यता में असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे परिभाषा का इस प्रकृत परिभाषा से बोध हो जाता है, ऐसा न्यासकार कहता है। अतः बहवः (बहो+जस्, विभक्ति-निमित्तक बहिरङ्ग गुण)—यहां अन्तरङ्ग संहिता कार्य अवादेश की कर्तव्यता में बहि-रङ्ग गुण असिद्ध नहीं होता। अक्षद्यू यहां क्विप् प्रत्यय को मानकर हुआ बहिरङ्ग ऊठ् असिद्ध नहीं होता जिससे अन्तरङ्ग संहिता कार्य यण् हो जाता है। यूनः (यु उ नः), मघोनः (मघ उ नः)—यहां भ-संज्ञा के निमित्त-भूत शस् को मान कर हुआ बहिरङ्ग सम्प्रसारण अन्तरङ्ग संहिता कार्य **अकः सवर्णे दीर्घः** से सवर्ण दीर्घ तथा **आद् गुणः** से गुण एकादेश की कर्तव्यता में असिद्ध नहीं होता।

पचावेदम् (पचाव—लोट् उ० द्वि+इदम्)—यहां एकादेश 'ए' के पूर्वा-न्तवत् होने से लोट् सम्बन्धी 'ए' है। इसे **एत ऐ** (३।४।६३) से 'ऐ' क्यों नहीं होता? अचों अ, इ का आनन्तर्य है। बहिरङ्ग आद्गुण प्रवृत्त हुआ है। इस परिभाषा से वह असिद्ध नहीं होगा, किन्तु सिद्ध ही रहेगा। नहीं, ऐसा नहीं। नाजानन्तर्य परिभाषा द्वारा असिद्ध परिभाषा का वहीं बाध होता है जहां दो अचों के होने पर दोनों प्राप्त हों अन्तरङ्ग भी और बहिरङ्ग भी। यहां तो बहिरङ्ग होने पर ही अचों के आनन्तर्य के निवृत्त हो जाने से अन्तरङ्ग की

प्राप्ति होती है अतः असिद्ध परिभाषा के बाध का प्रसङ्ग ही नहीं। असिद्ध परिभाषा से एकादेश 'ए' असिद्ध रहता है, सो 'एत ऐ' की प्राप्ति नहीं ॥५१॥

यदि कुछ एक परिगणित विषयों को छोड़कर अन्तरङ्ग परिभाषा सर्वत्र लागू होती है तो गोमत्प्रियः (गोमान् प्रियोऽस्य—बहुव्रीहि), यहाँ **हल्-ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्** ६।१।६८) से गोमत्—सु, प्रिय-सु इस विग्रह वाक्य में सु (स्) का लोप प्राप्त होता है और 'गोमत्प्रियः' के समास होने से समास के पद-द्वयाश्रित होने से **सुपो धातुप्रातिपदिकयोः** (२।४।७१) से जो 'सु' का लुक् प्राप्त होता है वह भी परम्परया पद-द्वयाश्रित है, अतः बहिरङ्ग है। **हल्ङ्याप्**—(६।१।६८) से जो सु-लोप होता है, वह अपर-निमित्तक है (उसका कोई पर-स्थित निमित्त नहीं है) अतः वह अन्तरङ्ग है। बहिरङ्ग के असिद्ध होने से अन्तरङ्ग का लोप होगा, पर लोप होने पर प्रत्यय-लक्षण से 'सु' को मानकर **उगिदचां सर्वनामस्थाने** (७।१।७०) से नुम् होना चाहिये, जिससे समास का पूर्वपद भी गोमान् होगा। इस आपत्ति के वारण के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग् बाधते। (५२)

अर्थ—अन्तरङ्ग विधियों को भी बहिरङ्ग लुक् बाधता है। इस परिभाषा की सत्ता में **प्रत्ययोत्तरपदयोश्च** (७।२।९८) यह सूत्र ज्ञापक है। त्वत्कृतम् (= त्वया कृतम्)—यहां पूर्वसूत्र **त्वमावेकवचने** (७।२।९७) से विभक्ति परे रहते एकार्थाभिधायी (एकत्व को कहने वाले) युष्मद् अस्मद् के मपर्यन्त भाग को त्व, म आदेश होते हैं। लुक् बहिरङ्ग है और ये आदेश अन्तरङ्ग हैं। लुक् होने से पूर्व आदेश हो जायेंगे, तो फिर 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' सूत्र क्यों पढ़ा? यह ज्ञापन करने के लिये कि बहिरङ्ग लुक् भी अन्तरङ्ग कार्यों को बाध लेता है। अब समासान्तर्वर्तिनी विभक्ति का लुक् पहले हो जायगा, **'न लुमताङ्गस्य'** से प्रत्यय-लक्षण का निषेध होने से परे विभक्ति न होने से पूर्व सूत्र से त्व, म आदेश न हो सकेंगे, अतः प्रत्ययोत्तरपदयोश्च सूत्र चरितार्थ हो जाता है।

यदि यह कहा जाय कि इस परिभाषा के न होने पर भी तव पुत्रः= त्वत्पुत्रः इत्यादि में **तवममौ ङसि** (७।२।९६) से ङस् परे रहते जो युष्मद्, अस्मद् के मपर्यन्त भाग को तव, मम आदेश विधान किये हैं उनके बाधन के लिये **प्रत्ययोत्तरपदयोश्च** (७।२।९८) आवश्यक है। अतः व्यर्थ न होने से ज्ञापक नहीं। इसका भाष्यकारीय उत्तर यह है कि इस सूत्र में मपर्यन्त की अनुवृत्ति ही ज्ञापक है। यदि यह परिभाषा न हो, तो त्वत्पुत्रः (युष्मद्+ङस्+पुत्र—सु)

की सिद्धि में तवममौ ङसि (७।२।९६) की प्राप्ति होती है और **सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (२।४।७१) जो ङस् का लुक् विधान करता है उस की भी। तवममौ—अन्तरङ्ग है और लुक् समासाश्रित होने से बहिरङ्ग। अन्तरङ्ग परिभाषा (५०) से बहिरङ्ग के असिद्ध होने से युष्मद् के मपर्यन्त भाग 'युष्म' के स्थान में 'तव' आदेश हो जाना चाहिये। पर **प्रत्ययोत्तरपदयोश्च** (७।२।९८) **तवममौ ङसि** का अपवाद है। यह उत्सर्गशास्त्र विहित तव, मम को बाधकर त्व, म का विधान करता है। यह बतलाना अनावश्यक है कि ये त्व, म किसके स्थान में हों, कारण कि **अपवादा उत्सर्गैः समानदेशा भवन्ति**, अर्थात् अपवाद शास्त्र में जो कार्य विधान किया जाता है वह शब्द के उसी भाग को होता है, जिसको अपवाद के न होने पर उत्सर्गशास्त्र से विहित कार्य होता। अतः 'मपर्यन्तस्य' की अनुवृत्ति के बिना भी त्व, म मपर्यन्त युष्मद् अस्मद् को ही होते। तो फिर जो यहां 'मपर्यन्तस्य' की अनुवृत्ति स्वीकार की है वह ज्ञापिका है कि बहिरङ्ग लुक् भी अन्तरङ्ग विधियों को बाधता है। यदि लुक् पहले हो जाता है तो तव, मम आदेशों की प्राप्ति ही नहीं होती, ङस् परे न होने से। ऐसा होने से '**प्रत्ययोत्तरपदयोश्च**' '**तवममौ ङसि**' का अपवाद नहीं रहता। अपवाद न रहने से अपवादा उत्सर्गैः समानदेशा भवन्ति इस न्यायका प्रसङ्ग भी नहीं रहता। अब त्व, म किस के स्थान में हों इसके बतलाने के लिये 'मपर्यन्तस्य' की अनुवृत्ति चरितार्थ हो जाती है।

यदि यह कहा जाय (जैसा कि प्राचीनों का मत है) कि इस परिभाषा का '**प्रत्ययोत्तरपदयोश्च**' सूत्र में उत्तरपदग्रहण ज्ञापक है, सम्पूर्ण सूत्र नहीं, कारण कि सूत्र में प्रत्ययग्रहण युष्मद् अस्मद् प्रातिपदिकों से आचार अर्थ में क्विप् करने पर मपर्यन्त भाग को त्व, म हों—इसके लिये अत्यन्तावश्यक है, अतः ज्ञापक नहीं हो सकता। इस का यह उत्तर है कि युष्मद् अस्मद् से आचारार्थक क्विप् नहीं होता। भाष्य में सम्पूर्ण सूत्र को ज्ञापक माना है इस प्रामाण्य से भी यह पक्ष मान्य नहीं। **ह्रस्वनद्यापो नुट्** (७।१।५४) इस सूत्र के भाष्य के अनुसार हलन्तप्रातिपदिकों से आचार अर्थ में क्विप् होता ही नहीं।

सम्पूर्ण सूत्र के ज्ञापक होने से ही युष्मद् अस्मद् से '**तत्करोति तदाचष्टे**' इस अर्थ में णिच् नहीं आता, अतः इस णिच् के परे रहते त्व, म आदेश करने के लिये प्रत्यय-ग्रहण सार्थक है—यह भी कहना अनुचित है।

रहा 'मपर्यन्त' की अनुवृत्ति को ज्ञापक मानना—यह भी ठीक नहीं है।

यह अनुवृत्ति युष्मद् अस्मद् के मपर्यन्त भाग को त्व, म हों, सर्वादेश न हों (अनेकाल् होने से सारे युष्मद् अस्मद् के स्थान में न हों), इसके लिये प्रयोजनवती है, अतः ज्ञापक नहीं हो सकती। यदि कहो कि अपवाद उत्सर्ग के साथ समानदेश होते हैं, इस भाष्य-संमत न्याय से तवममौ ङसि—तव और मम जैसे मपर्यन्त युष्मद् अस्मद् को होते हैं उसी तरह प्रत्ययोत्तरपदयोश्च (जो अपवाद है) से त्व, म भी मपर्यन्त युष्मद् अस्मद् के स्थान में ही होंगे तो 'मपर्यन्तस्य' की अनुवृत्ति व्यर्थ रह कर ज्ञापिका ही होती है, तो **पूर्वपक्षी** का उत्तर है—इस न्याय का व्यभिचार देखा जाता है। यथा शप् का अपवाद श्नम् शप् की तरह प्रकृति से परे नहीं होता किन्तु प्रकृति के अन्त्य अच् से परे होता है। प्रत्यय पर होता है, पर अकच् टिभाग से पूर्व होता है, और बहुच् (तद्धित) सुवन्त से पूर्व होता है। इस पर **सिद्धान्ती** कहता है कि उक्त न्याय अव्यभिचारी है, नित्य है, श्नम् अकच् आदि में इसका बाध अवश्य होता है और उस बाध का कारण विधायक सूत्रों में विद्यमान है—**मिदचोऽन्त्यात्परः,** (१।१।४७) जो मित् (जैसे श्नम्) होता है वह अन्त्य अच् से परे होता है। अकच् के लिये **अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः** (५।३।७१) में 'प्राक् टेः' कहा है। पर प्रकृत में वह न्याय (जो अन्यत्र निर्बाध प्रवृत्त होता है) क्यों न हो, इसमें कोई युक्ति वा प्रमाण नहीं।

यह न्याय सार्वत्रिक है अतः भगवान् पाणिनि **तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ** (४।३।२) से युष्मद् अस्मद् के स्थान में युष्माक, अस्माक आदेश विधान करते हैं, अन्यथा अकङ् विधान करते, जो ङित् होने से अनेकाल् होने पर भी युष्मद् अस्मद् के अन्त्य 'द्' को होता। पर ऐसा करने से इस सूत्र के अपवाद **तवकममकावेकवचने** (४।३।३) से तवक, ममक भी अन्त के स्थान में होते—**उत्सर्गसमानदेशा अपवादाः**। आचार्य द्वारा युष्माक, अस्माक आदेश विधान करने से यह न्याय सार्वत्रिक है यह ज्ञापित होता है।

यद्यपि वार्तिककार के मत से विरोध होने पर उत्सर्ग और अपवाद की समानदेशता होने पर बाधकता होती है, भाष्यकार के मत से उत्सर्ग और अपवाद की समान-देशता न होने पर भी बाधकता होती है (जैसे भवेत्—भव यास् त् में उत्सर्ग व अपवाद की समानदेशता न होने पर भी **अतो दीर्घो यञि** (७।३।१०१) से विहित दीर्घ को **अतो येयः** (७।२।८०) यह आदेश बाधता है)। उत्सर्गापवाद की समानदेशता ही हो यह नियम नहीं। तो भी यह प्रायिक है और सूत्रकार द्वारा युष्माक, अस्माक आदेश विधान से ज्ञापित है अतः प्रकृत

में इसे स्वीकार करने में कोई दोष नहीं। भाष्यकार ने भी 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' के भाष्य में इसे स्वीकार किया है।

पदमञ्जरीकार हरदत्त मिश्र ने जो यह कहा है कि इस परिभाषा के अभाव में त्वत्पुत्रः आदि में अन्तर्वर्तिनी विभक्ति ङस् के लुक् से पूर्व अन्तरङ्ग होने से मपर्यन्त भाग को 'तव' आदेश हो जाने से उत्तरपद परे रहते मपर्यन्त भाग के न रहने से 'मपर्यन्तस्य' की अनुवृत्ति व्यर्थ हो जाती है, व्यर्थ होकर यह परिभाषा की ज्ञापिका होती है—यह ठीक नहीं, कारण कि अन्तरङ्ग विधि को भी अपवाद बाधता है और 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च'—यह 'तवममौ ङसि' का अपवाद है। अपवाद के विषय में अन्तरङ्ग की प्रवृत्ति नहीं होती। अतः अपवाद प्रत्ययोत्तरपदयोः के विषय में 'तव' आदि की प्राप्ति न होने से मपर्यन्त भाग के संभव होने से अधिक के स्थान में आदेश न हो इसके लिये मपर्यन्त की अनुवृत्ति सफल रहती है, अतः परिभाषा की ज्ञापिका नहीं हो सकती। अतः **उत्सर्गसमानदेशा अपवादा** इस न्याय के आश्रयण से ही 'मपर्यन्तस्य' की अनुवृत्ति व्यर्थ होकर ज्ञापिका बन सकती है, जैसे पूर्व दिखा चुके हैं।

इस परिभाषा का **सुपो धातुप्रातिपदिकयोः** (४।२।७१) से विहित लुक् ही विषय नहीं, किन्तर्हि सभी लुक् इसका विषय है। **एङ् ह्रस्वात्सम्बुद्धेः** (६।१।६९) तथा **न यासयोः** (७।३।४५) का भाष्य तथा कैयट इसमें प्रमाण हैं। पूर्वत्र यदि लोप होता है तो प्रत्ययलक्षण द्वारा **ह्रस्वस्य गुणः** (७।३।१०८) से 'त्रपु' से 'त्रपो'—यहाँ सम्बुद्धि परक गुण होगा। यदि इस परिभाषा के अनुसार **स्वमोर्नपुंसकात्** (७।१।२३) से 'सु' का लुक् करते हैं तो परे सम्बुद्धि न होने से गुण नहीं होगा—'त्रपु' यह रूप होगा। यहां लुक् लोप को बाधता है, यह भाष्य में स्पष्ट कहा है। यह अकिञ्चित्कर है कि यहां लोप व लुक् अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग नहीं है, कारण कि परिभाषा के अनुसार लुक् अपवाद शास्त्र की तरह न केवल अन्तरङ्ग को बाधता है, पूर्व, पर और नित्य को भी। उत्तरत्र सूत्र में कैयट ने कहा है कि सब प्रकार का लुक् अन्तरङ्ग विधियों का बाधक होता है, सुब्लुक् ही नहीं। इसीलिये सनीस्रंस् यङ् अच्—यहां **अनिदितां हल उपधायाः** (६।४।२४) से अन्तरङ्ग न्-लोप को बाधकर **यङोऽचि च** (२।४।७४) से बहिरङ्ग लुक् (यङ् प्रत्यय का) हो जाता है। लुक् हो जाने पर ङित् आर्धधातुक परे रहता नहीं, अतः अब स्रन्स् के न् का लोप नहीं हो सकता। **सनीस्रंसः**। इसी प्रकार पञ्चभिः खट्वाभिः क्रीतः पञ्चखट्वः।

'पञ्चखट्वः' तद्धितार्थ में द्विगु है। पञ्चन्+खट्व+टाप्—ठक्—यहां ठक् प्रत्यय का **अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्** (५।१।२८) से लुक् हो जाता है। लुक् हो जाने पर **लुक् तद्धितलुकि** (१।२।४९) से स्त्रीप्रत्यय का भी लुक् होता है। यह लुक् खट्व के अ तथा टाप् के 'आ' के स्थान में अन्तरङ्ग एकादेश 'आ' होने से पूर्व हो जाता है। लुक् बहिरङ्ग है, बहिर्भूत तद्धित लुक् के आश्रित होने से। यदि एकादेश पूर्व हो, एकादेश के परादिवद्भाव से यह 'आ' टाप् ही है, उसका लुक् हो जाने पर पञ्चखट्व में अकार का श्रवण न होगा, अर्थात् 'पञ्चखट्व्' ऐसा हलन्त रूप प्रसक्त होगा।

पर कैयट स्वयम् अपने इस मत का विरोध करता है। **तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्** (२।४।६२) के भाष्य में अङ्गानतिक्रान्तोऽत्यङ्गः (अति अङ्ग +अण्+शस्+सु)—यहां सुप् शस् का लुक् हो जाने पर बहुवचन परे न रहने से तद्राज अण् (**द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण्**) (४।१।१७०) का २।४।६२) से लुक् न हो सकेगा, इस शङ्का के समाधान के लिये कहा है—यह लुक् (तद्राजलुक्) इस परिभाषा से सुब्लुक् का बाधक हो जायगा—ऐसी शङ्का करके यह उत्तर दिया है कि भाष्य-शङ्का-ग्रन्थ इसी बात का बोधक है कि दूसरे लुक् की अपेक्षा सुब्लुक् बलवत्तर होता है। यह उसका अभिमानमात्र है। एक लुक् दूसरे लुक् की अपेक्षा बलवत्तर है, यह कहना असंभव है, यह शङ्का का समाधान कहना चहिये था। यद्यपि परिभाषास्थ लुक् शब्द से लुक्-सामान्य अभिप्रेत है तो भी अन्तरङ्ग नित्य, पर आदि विधियों के निमित्तों का विनाशक लुक् अन्तरङ्गादि विधियों से प्रबल होता है—यह भी इसी परिभाषा से ज्ञापित होता है।

सोमेन्द्रौ देवते अस्य सौमेन्द्रं हविः। सोम+इन्द्र+अण्—यहां अन्तरङ्ग परिभाषा से वृद्धि को बाधकर **आद् गुणः** (६।१।८७) से गुण होने से (सोम के 'म' के 'अ' तथा 'इन्द्र' के 'इ' के स्थान में 'ए' एकादेश होने से) पूर्वपद 'सोम' नहीं रहता, परे उत्तरपद 'इन्द्र' नहीं रहता, तो पूर्वपद से परे इन्द्र शब्द को वृद्धि न हो इस अर्थवाले **नेन्द्रस्य परस्य** (७।३।२२) से वृद्धि निषेध करना व्यर्थ रहता है। जहां पूर्व और पर दोनों का कार्य होता है वहां अन्तादिवद्भाव नहीं होता। ऐसा होना संभव नहीं। पूर्व पर शब्दों से तथा अन्त आदि शब्दों से विरोध के अत्यन्त स्पष्ट होने से दो विरुद्ध अतिदेश एक स्थल में एक ही सभय कैसे हो सकते हैं, अतः एकादेश 'ए' होने पर एकसाथ पूर्वपद **सोमे** और उत्तरपद **एन्द्र** नहीं माना जा सकता।

अच्छा उभयतः आश्रयण में अन्तादिवद्भाव मत हो, हम एकादेश 'ए' को केवल पूर्व का अन्तवत् मानते हैं, पूर्वपद सोमे एसा हो जाता है। 'न्द्र' शब्द को एकदेश-विकृत-न्याय से उत्तरपद मानते हैं। इस प्रकार उत्तरपदत्व होने पर भी उत्तरपद अनच्क (स्वररहित रह जाता है)। आद्य 'इ' का एकादेश से अपहार हो जाने से और अन्त्य 'अ' का **यस्येति च** (६।४।१४८) से। अतः वृद्धि की प्राप्ति नहीं, तो निषेध व्यर्थ ही रहता है।

यदि कहो एकादेश (ए) को परादिवद्भाव मानने से एकादेश-विशिष्ट 'एन्द्र' उत्तरपद हो जायगा और पूर्वपद सोम् एकदेश विकृत न्याय से 'सोम' मान लिया जायगा, तो वृद्धि का सम्भव होने से निषेध सफल रहता है, यह भी ठीक नहीं। **अन्तादिवच्च** (६।१।८५) **ताद्रूप्यातिदेश का विधायक नहीं। यह तो केवल व्यपदेशातिदेश विधायक है।** पृथगवस्थित पूर्व व पर जैसे प्रत्यय, प्रातिपदिक सुबन्त आदि होते हैं वैसे ही एकादेश होने पर भी व्यपदिष्ट होते हैं। वर्णमात्रवृत्ति धर्म (वर्णमात्र में रहने वाला धर्म, जैसे 'ए' में एत्व) का अतिदेश संभव नहीं (उसका 'इ' में लाना सम्भव नहीं)। **देवता-द्वन्द्वे च** (६।२।१४१) का, समास से पूर्व जो देवता-वाचक शब्द हैं उन का द्वन्द्व होने पर पूर्वोत्तर पदों के आद्य अवयव अच् को वृद्धि होती है, यह अर्थ है। प्रकृत में एन्द्र उत्तरपद है, पर अतिदेश से 'ए' 'इ' नहीं, अतः वृद्धि नहीं हो सकती, तो निषेध व्यर्थ ही है।

यदि ताद्रूप्यातिदेश हो, तो खट्व+आ (टाप्) भिस्—यहां एकादेश 'आ' के पूर्वान्तवत् होने से (अ+आ=अ) पूर्वपद अदन्त हो जायगा तो **अतो भिस ऐस्** (७।१।९) से भिस् को ऐस् आदेश प्रसक्त होगा। अतः भाष्य में **पूर्वेषु-कामशमः**, यहाँ पूर्व+इषुकामशमी+अण् (पूर्वस्याम् इषुकामशम्यां भवः) में पहले अन्तरङ्ग होने से गुण एकादेश हो जाने पर एकार (एकादेश) उत्तरपद का आदि अच् (इ) न होने से **प्राचो ग्रामनगराणाम्** (७।३।१४) से वृद्धि न हो सकेगी ऐसी शङ्का करके प्रकृत परिभाषा से समाधान किया है।

यदि कहो कि एकदेशविकृत न्याय से एकादेश 'ए' होने पर 'सोम्' शब्द पूर्वपद मान लिया जायगा और 'एन्द्र' शब्द को उत्तरपद, तो वृद्धि प्राप्त होती है, अतः निषेध चरितार्थ हो जाता है। तो हमारा उत्तर यह है कि एकार-रूप विकार (गुण) के दोनों पूर्व और पर के स्थान में होने से उत्तरपद के एकदेशमात्र का विकार न होने से यहां इस न्याय की प्रवृत्ति का विषय नहीं। **एकदेशविकृत न्याय का अर्थ है**—'कोई एक अवयवी एकदेश में विकृत होने पर

अन्य नहीं हो जाता। जब कोई अवयवी एकदेश में विकृत होता है तब अखण्डित, अविकल अवयवी के वाचक शब्द की प्रवृत्ति खण्डित विकल अवयवी के लिये भी होती है'। प्रकृत में गुण रूप विकार के दो (पूर्व और पर) स्थानी होने से एकादेश-विशिष्ट 'एन्द्र' में उत्तरपदत्व का अतिदेश नहीं हो सकता।

यदि कहो मरुत् आदि शब्दों का इन्द्र शब्द के साथ समास होने पर (मरुत् इन्द्र+अण् तद्धित) एकादेश का अनवकाश होने से वृद्धि प्राप्त होती है, उसको रोकने के लिये निषेध चरितार्थ हो जायगा, तो हमें यह कहना है कि अजादि अदन्त होने से इन्द्र शब्द का पूर्व निपात होगा। विष्णु और इन्द्र शब्द के द्वन्द्व समास में भी इन्द्र के सर्वदेवताधिष्ठाता होने से अभ्यर्हित होने के कारण पूर्व निपात होगा, तो 'नेन्द्रस्य परस्य' इस निषेध का विषय नहीं ॥५२॥

सीरदेवीय—

अन्तरङ्ग नुम् आदि को बाधकर बहिरङ्ग लुक् हो होता है। गोमान् प्रियोऽस्य गोमत्प्रियः। गोमानिवाचरति गोमत्यते—यहां सुप् का लुक् हो जाने पर सर्वनाम-स्थान परे न रहने से नुम् नहीं होता। **न लुमताङ्गस्य** (१।१।३) से प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जाने से परे सुप् विद्यमान नहीं है।

यह परिभाषा **प्रत्ययोत्तरपदयोश्च** (७।२।९८) इस सूत्र में भाष्यकार ने ज्ञापित की है। वहां कहा है—तवायं त्वदीयः, ममायं मदीयः इत्यादि में छ-प्रत्यय होने पर, तव पुत्रस्त्वत्पुत्रः, मम पुत्रः मत्पुत्रः इत्यादि में उत्तरपद परे होने पर विभक्त्याश्रित त्व, म—ये आदेश **त्वमावेकवचने** (७।२।९७) से हो जायेंगे। समासोत्तर काल में होने वाला सुब्लुक् बहिरङ्ग है, वह पीछे हो जायगा। **निमित्तापाय**-परिभाषा से त्व, म की निवृत्ति नहीं होगी, कारण कि बहिरङ्ग लुक् के असिद्ध होने से निमित्ती (नैमित्तिक) विद्यमान ही है। तो पूर्व सूत्र **त्वमावेकवचने** (७।२।९७) से त्व, म हो जायेंगे, 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' किस लिये पढ़ा? यदि प्रकृत परिभाषा न हो, तो यह व्यर्थ रहता है। परिभाषा के होने पर तो त्व, म को बाधकर विभक्ति का लुक् होने पर परे विभक्ति न रहने से पूर्व शास्त्र 'त्वमावेकवचने' से त्व, म आदेश प्राप्त नहीं होते, अतः प्रत्ययोत्तरपदयोश्च—यह वचन सार्थक हो जाता है।

शङ्का—प्रत्ययग्रहण से यह परिभाषा ज्ञापित नहीं होती। त्वत्तरः, मत्तरः—यहां परिभाषा के अभाव में भी तरप् प्रत्यय परे त्व, म आदेश हो जायें इसलिये प्रत्यय-ग्रहण किया है। प्रातिपदिक मात्र से तरप् आदि स्वार्थिक प्रत्ययों का विधान किया है, सुबन्त से नहीं; समर्थाधिकार के निवृत्त हो जाने

से। **'समर्थानां प्रथमाद्वा'** (४।१।८२) सूत्र की व्याख्या में कहा भी है—यह अधिकार स्वार्थिक प्रत्ययावधिक है। उत्तरपद ग्रहण करना भी आवश्यक है। इस से भी परिभाषा ज्ञापित नहीं होती। तव पुत्रस्त्वत्पुत्रः, तुभ्यं हितं त्वद्धितम् —यहां **तवममौ ङसि** (७।२।९६) **तुभ्यमह्यौ ङयि** (७।२।९५)—इन्हें बाधकर त्व, म आदेश हो सकें इसलिये उत्तरपदग्रहण किया है। अन्यथा तव, तुभ्यम् —यहां जैसे तव, और तुभ्य आदेश होते हैं वैसे ही तव पुत्रस्त्वत्पुत्रः आदि में भी होंगे। 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' के होने पर उनके अपवाद त्व, म ही होंगे, तो ज्ञापकता नहीं बनती। **सति प्रयोजने ज्ञापकं न।** उत्तर—यह जो कहा है कि प्रातिपदिक से स्वार्थिक प्रत्यय होते हैं—यह ठीक नहीं। समर्थाधिकार के निवृत्त हो जाने पर भी अन्तरङ्ग होने से सुप् के आने के पीछे **सुबन्त से ही स्वार्थिक होते हैं यह व्यवस्थित है।** इसमें **कुत्सिते** (५।३।७४) सूत्र का भाष्य प्रमाण है।

स्वार्थमभिधाय शब्दो निरपेक्षो द्रव्यमाह तत्समवेतं
समवेतस्य च वचने लिङ्गं संख्यां विभक्तिं च॥
अभिधाय तान्विशेषानपेक्षमाणश्च कृत्स्नमात्मानम्।
प्रियकुत्सनादिषु पुनः प्रवर्ततेऽसौ विभक्त्यन्तः।

इस भाष्य ग्रन्थ से स्पष्ट विदित है कि प्रियकुत्सनादि अर्थ सुबन्त के ही विशेषण होते हैं। अतः सुबन्त से तरप् आदि होते हैं। अतः प्रत्ययग्रहण ज्ञापक ही है।

उत्तरपदग्रहण भी ज्ञापक ही है। यदि तव, तुभ्य आदेश को बाधकर 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च'—इस शास्त्र से 'त्व', 'म' हों तो **उत्सर्गसमानदेशा अपवादा भवन्ति,** इस न्याय से वे मपर्यन्त भाग के स्थान में ही होंगे, सारे युष्मद्, अस्मद् के स्थान में नहीं, तो सूत्र में जो म-पर्यन्त के अनुकर्षण के लिये चकार पढ़ा है, वह व्यर्थ हो जाता है ॥५२॥

निरुक्त शङ्का के समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

पूर्वोत्तरपदनिमित्तकार्यात् पूर्वमन्तरङ्गोऽप्येकादेशो न। (५३)

अर्थ स्पष्ट है। इस परिभाषा में **नेन्द्रस्य परस्य** (७।३।२२) यह निषेध ही ज्ञापक है। यह **अन्तादिवच्च** (६।१।८५) तथा **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** (१।४।२) इन दो सूत्रों के भाष्य में स्पष्ट है।

प्र+धा+क्त्वा, प्र+स्था+क्त्वा—यहां ल्यप् आदेश होने से पूर्व क्त्वा अवस्था में ही **दधातेर्हिः** (७।४।४२) से 'धा' को 'हि', तथा **द्यतिस्यतिमास्थामित्ति**

किति (७।४।४०) से 'स्था' को 'स्थि' हो जाना चाहिये, कारण कि एकपदाश्रित होने से यह आदेश अन्तरङ्ग है और (क्त्वा के स्थान में) ल्यप् पदद्वयाश्रित होने से बहिरङ्ग है, इस शङ्का के समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो ल्यब् बाधते । (५४)

अर्थ स्पष्ट है । **अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति** (२।४।३६) इस सूत्र में ल्यप् ग्रहण इस परिभाषा का ज्ञापक है। सूत्र में ति किति (तादि कित् प्रत्यय परे होने पर) पढ़ा है, उसी से क्त्वा अवस्था में ही अन्तरङ्ग होने से अद् को जग्ध् आदेश हो जाता, तो 'ल्यपि' (ल्यप् परे होने पर) (भी) ऐसा क्यों पढ़ा । यह इसलिये कि आचार्य जानते हैं कि ल्यप् बहिरङ्ग होता हुआ भी अन्तरङ्ग विधि (ति किति जग्ध् आदेश) को वाध लेता है, जिसके होने से तादि कित् न रहने से अद् को जग्ध् आदेश न हो सकता, यदि ल्यप् का पृथक् ग्रहण सूत्र में न करते ।।५४।।

सीरदेवीय—

यहां यह शङ्का होती है—जैसे जग्ध्यादेश अन्तरङ्ग है, वैसे ही ल्यप् आदेश नित्य है । कृताकृतप्रसङ्गी होने से । जग्ध्यादेश होने पर भी ल्यप् प्राप्त होता है, न होने पर भी । नित्य और अन्तरङ्ग में जो पर है, अर्थात् ल्यप्, वह होगा । ल्यप् होने पर जग्ध्यादेश हो जाय, इस लिये ल्यप् ग्रहण किया है, तो यह ज्ञापक कैसे है ? नहीं, जग्ध्यादेश भी नित्य है, ल्यप् आदेश से पूर्व क्त्वा अवस्था में तादि कित् होने से प्राप्त है, ल्यप् आदेश होने पर उसके असिद्ध परिभाषा से असिद्ध होने से भी प्राप्त है ।।५४।।

इ इ णल्—इस अवस्था में सवर्ण दीर्घ प्राप्त होता है, और **अचो ञ्णिति** (७।२।११५) से द्वितीय 'इ' को वृद्धि प्राप्त होती है । सवर्ण दीर्घ अन्तरङ्ग है, और बहिर्भूत-निमित्तक (णल् को मानकर हुई) वृद्धि बहिरङ्ग है । अन्तरङ्ग परिभाषा से वृद्धि के असिद्ध होने से पूर्व सवर्णदीर्घ होना चाहिये । यदि ऐसा हो तो 'इयाय' रूप की सिद्धि नहीं होगी । इसके स्थान में 'आय' यह अनिष्ट रूप ही सिद्ध होगा । इस शङ्का के समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

वर्णादाङ्गं बलीयः । (५५)

अर्थ—वर्ण-सम्बन्धी कार्य से अङ्ग-सम्बन्धी कार्य बलवत्तर होता है । **वर्णस्येदं वार्णम् । अङ्गस्येदम् आङ्गम्=अङ्गाधिकारीयम् ।** इस परिभाषा के अस्तित्व में **अभ्यासस्यासवर्णे** (६।४।७८) सूत्र में (जो इयङ् उवङ् का विधायक

है) असवर्ण-ग्रहण ज्ञापक है। यह (असवर्ण ग्रहण) ईषतुः (इ इष् अतुस्) आदि में इयङ् न हो, इसलिये किया है। अतुस् के कित् होने से गुण न होने से अभ्यास से परे सवर्ण अच् 'इ' है। यदि यह परिभाषा न हो तो 'ईषतुः' इत्यादि में अन्तरङ्ग सवर्ण दीर्घ (जो वार्ण कार्य है) से बहिरङ्ग आङ्ग कार्य इयङ् का बाध होने से असवर्ण ग्रहण व्यर्थ रहता है। इयङ् उवङ् अभ्यास संज्ञा का आश्रयण करने से बहिरङ्ग हैं (यहां निरुक्त संज्ञाकृत बहिरङ्गत्व नहीं होता—इसका आश्रयण नहीं किया गया)।

अपवाद अन्तरङ्ग से बलवत्तर होता है, इसलिये अन्तरङ्ग सवर्ण दीर्घ का पहले से ही बाध होने से इयङ् आदि की प्रवृत्ति होने पर इयङ् आदि के वारणार्थ असवर्ण-ग्रहण चरितार्थ रहता है, अतः ज्ञापक नहीं। तो इसमें प्राचीन सीरदेवादि ऐसा कहते हैं—इयर्ति (इ अर् ति) आदि सकल लक्ष्यों में जहां-जहां यण् प्राप्त होता है वहां-वहां 'अभ्यासस्यासवर्णे' से इयङ् का विधान होने से यह सूत्र (अभ्यासस्य)—**इको यणचि** (६।१।७७) का अपवाद है, अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।१०१) का नहीं। अतः असवर्ण-ग्रहण की ज्ञापकता विघटित नहीं होती।

दूसरे लोग (नागेश के अनुसार सिद्धान्ती) ऐसा मानते हैं कि अभ्यासस्यासवर्णे—यह समग्र सूत्र इस परिभाषा में ज्ञापक है। **यदि यह परिभाषा न हो,** तो यह सूत्र व्यर्थ हो जाय। यदि कहो नहीं, इयेष (इ+इष्+अ), इयाय (इ+इ+अ) की सिद्धि के लिये आवश्यक है (अतः परिभाषा का ज्ञापक नहीं हो सकता) तो हमारा इसमें यह कहना है कि परिभाषा के अभाव में इन रूपों की सिद्धि में यह सूत्र बिल्कुल व्यर्थ रहता है। पहले हुए गुण (इ+एष्+अ) और पहले हुई वृद्धि (इ+ऐ+अ) का **द्विर्वचनेऽचि** (१।१।५६) से **रूपातिदेश** द्वारा अपहार हो जाने पर (जब तक द्वित्व नहीं होता तब तक गुण और वृद्धि के स्थानी का रूप अवस्थित रहता है), द्वित्व (इष् को तथा इ को) करने पर पुनः गुण व वृद्धि प्राप्त होते हैं उन्हें अन्तरङ्ग होने से सवर्ण-दीर्घ बाध लेगा। गुण व वृद्धि के न होने से असवर्ण अच् न मिलने से यह सूत्र (अभ्यासस्य)—भी नहीं लगेगा।

यदि कहो इयर्ति (इयृतः आदि) की सिद्धि के लिये सूत्र आवश्यक है, तो यह भी ठीक नहीं। इतना ही प्रयोजन होता तो अभ्यासस्यासवर्णे इतना दीर्घ सूत्र न पढ़ते, केवल 'उः' (ऋ का षष्ठ्यन्त) इतना ही पढ़ देते। **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** (६।४।७७) से यहां इ, उ की अनुवृत्ति आ जायगी।

इणो यण् (६।४।८१) के साथ साहचर्य (सामीप्य) होने से 'ऋ' धातु ही लिया जायगा। अचिश्नु—में एकदेश (धातु) में स्वरितत्व की प्रतिज्ञा करके भी धातुपद की अनुवृत्ति आ जायगी। विशेषण-विशेष्य-भाव में कामचार होने से धातु को ऋकार का विशेषण बनायेंगे—**धातोर् उः**। तब अर्थ होगा—ऋ धातु के 'इ' को इयङ् होता है।

यदि कहो कि ए, ऐ, ओ, औ शब्दों से आचार अर्थ में क्विप् करने पर लिट् परे इयङ् आदि के लिये सूत्र आवश्यक है, और ओणृ अपनयने (ओण् दूर करना) धातु से ण्वुल् करके ओणक शब्द से इच्छा अर्थ में क्यच् करके, क्यजन्त 'ओणकीय' नामधातु से इच्छा अर्थ में सन् करके उवोणकीयिषति इत्यादि में उवङ् आदि के लिये भी। इसका उत्तर यही है कि षष्ठाध्याय के प्रथमाह्निक के अन्त में यह स्पष्ट है कि **भाष्यकार ऐसे नामधातुज शब्दों का व्यवहार नहीं मानते** और व्यवहृत शब्दों के अन्वाख्यान के लिये पाणिनीय शास्त्र प्रवृत्त हुआ है। उवोणकीयिषति—तो असाधु ही है। कारण कि 'ओणकीय' से सन् परे रहते द्वितीय एकाच् को द्वित्व होगा, प्रथम एकाच् (ओ) को नहीं। **अतः सम्पूर्ण सूत्र ज्ञापक है यही मानना होगा।**

यद्यपि (६।१।१२) के भाष्य में **यदयमभ्यासस्यासवर्णे इत्यसवर्णग्रहणं करोति** (जो यह आचार्य पाणिनि अभ्यासस्यासवर्णे सूत्र में असवर्ण का ग्रहण करता है) इन शब्दों से असवर्ण ग्रहण की ज्ञापकता झलकती है, तो भी **न ह्यन्तरेण गुणवृद्धी असवर्णपरोऽभ्यासो भवति** (गुण वृद्धि को छोड़कर अभ्यास से परे दूसरा कोई असवर्ण हो ही न सकता) इस उपपादक ग्रन्थ से सम्पूर्ण सूत्र की ही ज्ञापकता सिद्ध होती है।

यदि कहो कि इयेष (इ+इष्+अ), इयाय (इ+इ+अ) की सिद्धि **अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः** (५६)—इस परिभाषा से अन्तरङ्ग सवर्ण दीर्घ नहीं होगा। परिभाषा की प्रवृत्ति—'यदि यहां दीर्घ न हो तो बहिरङ्ग गुण (अथवा वृद्धि) हो जायगी ऐसी संभावना के होने से होती है। परिभाषा (५६) अन्तरङ्ग कार्य की प्रतिबन्धक है, अन्तरङ्ग कार्य की प्रवृत्ति से पूर्व जहां बहिरङ्ग कार्य की प्रवृत्ति से अन्तरङ्ग के निमित्त के विनाश की संभावना है, वहां इसकी प्रवृत्ति होती है। अतः इस परिभाषा से बहिरङ्ग गुण, वृद्धि होने पर इ+एष्+अ, इ+ऐ+अ—इस अवस्था में अभ्यासस्यावर्णे (६।४।७८) की प्रवृत्ति होगी, इस प्रकार चरितार्थ होने से सम्पूर्ण सूत्र कैसे ज्ञापक हो सकता है? **उत्तर—अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः—यह कोई परिभाषा नहीं, भाष्यानारूढ**

होने से। यदि कैयट के अनुसार इसका अस्तित्व मानें तो भी इसकी प्रवृत्ति वहीं होती है जहां अन्तरङ्ग कार्य की प्रवृत्ति के योग्य काल के पीछे (जब अन्तरङ्ग कार्य होना चाहिये उसके पीछे) अन्तरङ्ग कार्य-निमित्त-विनाशक बहिरङ्ग-विधि की प्राप्ति होती है। प्रकृत में अन्तरङ्ग बहिरङ्ग कार्यों की युगपत् प्राप्ति होने से परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती।

यदि कहो 'इयाय' (इ+इ+अ) में अन्तरङ्गत्व-हेतुक सवर्ण दीर्घ एकादेश होने पर भी उस सवर्ण दीर्घ एकादेश (ई) को पूर्व का अन्तवत् मानकर ई के अभ्यास होने से और इ वर्ण होने पर असवर्ण अ (णल्) होने से इयङ् विधान के लिये सूत्र चरितार्थ हो जायगा और ऐसे भी चरितार्थ हो जायगा—प्रकृत में जो **अभ्यासस्यासवर्णे** (६।४।७८) की प्रवृत्ति से इयङ् हुआ वह **अचि श्नुधातु**—(६।४।७७) से नहीं हो सकता था, कारण कि **अभ्यासस्यासवर्णे** (६।४।७८) सूत्र वृद्धि (णल्-निमित्तक) के बाधन के लिये है, जो वृद्धि इसके (अभ्यासस्यासवर्णे) अभाव में अचि श्नु—सूत्र-विहित इयङ् को बाध लेती। तो हम कहेंगे कि तुम्हारा विचार निःसार है। सूत्र में प्रत्यासत्ति-(सामीप्य, साहचर्य) नियम से 'असवर्ण' शब्द से ऐसा असवर्ण अच् लिया जाता है जो अभ्यास के उत्तरखण्ड धातु का अच् है, यहाँ तो आतिदेशिक अभ्यास (ई) से परे णल् प्रत्यय का अच् है (**जिस को मानकर पूर्व की अभ्यास संज्ञा है उसी के परे होने पर**—ऐसा साहचर्य नियम से अर्थ लाभ होता है)। तो यहां इयङ् की प्राप्ति ही नहीं। यह सूत्र वृद्धिबाधन के लिये है (जो वृद्धि कुछ एक लक्ष्यों में प्राप्त होती है) इस कल्पना की अपेक्षा परिभाषा ज्ञापन के लिये है—यह मानना अधिक उचित है।

यह परिभाषा जो सूत्र से इस प्रकार ज्ञापित हुई है, सूत्र प्रवृत्ति-विषय के आलोचन से हम जानते हैं कि यह वहीं प्रवृत्त होती है जहां जिस एक को अङ्गाधिकारीय कार्य प्राप्त होता हो उसी को वार्ण (वर्णसम्बन्धी सन्धि कार्य) प्राप्त होता हो। ऐसा स्वीकार होने पर ही **सार्वधातुकमपित्** (१।२।४) सूत्र के भाष्य में च्यवन्ते (च्यु+अ+अन्ते), प्लवन्ते (प्लु+अ+अन्ते) इत्यादि में नित्य होने से और वर्णमात्रापेक्षी होने से अन्तरङ्ग होने से भी **अतो गुणे** (६।१।९७) से पररूप एकादेश करने पर शित् (शप्) और अपित् (अन्ते का अ) के एकादेश को परादिवद्भाव से अपित् मानकर गुणाभाव की आपत्ति दिखाई है। यहाँ आङ्गकार्य गुण तथा वार्ण कार्य **अतो गुणे** से पररूप समानकार्यिक (समानस्थानिक) नहीं हैं यह स्पष्ट है। यदि ऐसा नियम न हो तो

आङ्ग होने से पररूप से पूर्व ही गुण की प्रवृत्ति से इष्ट रूप की सिद्धि सुलभ होने से गुणाभावापत्ति प्रदर्शन असङ्गत होता।

गाते, गाथे, गाताम्, गाथाम्—यहां गा अ आताम् इत्यादि स्थिति में सवर्ण दीर्घ की प्राप्ति होती है और **आतो ङितः** (७।२।८१) से इय् आदेश की भी। वार्ण कार्य अन्तरङ्ग दीर्घ होता है, आङ्ग कार्य इय् आदेश नहीं। कारण कि सवर्ण दीर्घ का स्थानी गा का आ और अ (शप्) हैं। इय् आदेश का स्थानी प्रत्यय का 'आ' है। सामान्यतः इस परिभाषा की प्रवृत्ति होने पर आङ्ग इय् आदेश पूर्व होने पर इष्ट रूप की सिद्धि नहीं होगी।

यह मानना कि यह परिभाषा वार्ण और आङ्ग कार्यों के समाननिमित्तक होने पर ही प्रवृत्त होती है भ्रममात्र है। परिभाषा के ज्ञापित होने पर भी इयाय, इयेष आदि की सिद्धि न हो सकेगी। यहां सवर्णदीर्घ का निमित्त और है (धातु का इ निमित्त है) और गुण व वृद्धि का प्रत्यय अ (णल्)। परिभाषा की प्रवृत्ति न होने से पूर्व अन्तरङ्ग सवर्ण दीर्घ हो जायगा। और तब अभ्या-सस्या—सूत्र की प्रवृत्ति का विषय नहीं रहेगा और इसलिये सूत्र व्यर्थ हो जायगा।

स्योनः (सि उ न) में परिभाषा के अनित्य होने से अन्तरङ्ग यण् पहले हो जाता है, पीछे गुण।

यदि कहो परिभाषा के ज्ञापित होने पर भी 'इयाय' आदि में इयङ् दुर्लभ है। इयङ् की कर्तव्यता में **अचः परस्मिन्पूर्वविधौ** (१।१।५७) से वृद्धि (ऐ) के स्थानिवद्भाव से 'इ' ही पड़ा है, असवर्ण अच् न मिलेगा। उत्तर—स्थानि-वद्भाव मानने से कहीं भी असवर्ण अच् नहीं मिलेगा, तब सूत्र निर्विषय होकर व्यर्थ हो जायगा। अतः सूत्र व्यर्थ मत हो, इसलिये यहां स्थानिवद्भाव नहीं होता, ऐसा माना जाता है।

यह सूत्र सामान्यापेक्ष ज्ञापक है—जब अभ्यास को कार्य करना हो, तो अभ्यास का जो उत्तरखण्ड उसको जो आदेश, वह आदेश स्थानिवत् नहीं होता, यदि उसके स्थानिवद्भाव से अभ्यास को कार्य रुक जाय। ऐसा मानने से ही 'आरति' (ऋ का लट् प्र० पु० बहु० में यङ्लुगन्त रूप) की सिद्धि होती है, जिसकी प्रक्रिया ऐसे है—ऋ ऋ अति—अर् ऋ अति (उरदत्व, रुक् आगम)—अर् र् अति (यण्)—अर् अति (रोरि ८।३।१४ से र्-लोप)—आ र् अति (ढ्लोपे **पूर्वस्य दीर्घोऽणः** ६।३।१११ से रेफ का लोप होने पर पूर्व अण्='अ' को दीर्घ)। ऋ के स्थान में हुआ यण् 'र्' स्थानिवद्भाव से 'ऋ' है, अतः रेफ-लोपाभाव

में दीर्घ नहीं होना चाहिये था। यहाँ स्थानिवद्भाव होने से अभ्यास-कार्य दीर्घत्व रुकता है, अतः स्थानिवद्भाव नहीं होगा। आगे जो यहां नागेश भट्ट ने कहा कि दीर्घविधि होने से भी स्थानिवद्भाव नहीं होगा, यह उसकी भ्रान्ति है। **न पदान्त-वरेयलोप**—(१।१।५८) से जो दीर्घ-विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध किया है, उसका नियम कर दिया गया है—**स्वर-दीर्घ-यलोपेषु लोपाजादेश एव न स्थानिवत्**, अर्थात्, स्वरविधि, दीर्घ-विधि, यलोप-विधि में अच् के स्थान में लोप-रूप आदेश ही स्थानिवत् नहीं होंता।

अरियियात् (ऋ+यङ्+यासुट्+त्)। यहां अभ्यास को उरत् (७।४।६६) से अर् आदेश करके हलादिः शेष से 'र्' का लोप हो जाने पर रिक् (=रि) आगम होता है। अभ्यासोत्तरखण्ड ऋ को **रिङ्शयग्लिङ्क्षु** (७।४।२८) से रि (ङ) आदेश होता है। अरि रियात् इस 'रि' के स्थानिवद्भाव से 'ऋ' होने से अभ्यास के 'इ' को इयङ् आदेश होता है। यहां स्थानिवद्भाव से प्राप्त 'ऋ' अभ्यास-कार्य इयङ् को नहीं रोकता अतः स्थानिवद्भाव हो जाता है।

यह परिभाषा अङ्गाधिकारीय आङ्ग कार्य की कर्तव्यता में ही प्रवृत्त होती है यह **स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ** (८।२।६) के सूत्र भाष्य में स्पष्ट है। इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार यह नहीं कहते कि कुमारी+ङे (ए) में आट् आगम (आण्नद्याः) करने से पहले 'ई' को यण् हो जाता है। पर उनका यह सम्प्रधारण (=विचार करना) कि कुमार्य्+ए में **उदात्तयणो हल्पूर्वात्** (६।१।१७४) से प्राप्त 'ए' को स्वर पहले करें अथवा 'ए' को आट् आगम पहले करें—यह सूचित करता है कि उनके मत में 'ई' के स्थान में यण् पहले होता है और आट् पीछे। अब यदि ई के स्थान में यण् पहले होता है यद्यपि 'ए' को आट् आगम अङ्गाधिकारीय है, तो इससे यही विदित होता है कि यह परिभाषा यहाँ नहीं लगती। क्यों नहीं लगती? इसलिये कि 'ए' को आट् आगम अङ्गाधिकारीय तो है, पर अङ्ग 'कुमारी' को उद्दिष्ट करके विधान नहीं किया है।

यह परिभाषा अनित्य है इसमें **च्छ्वोः शूडनुनासिके च** (६।४।१९) सूत्र में तुक्सहित च्छ् का ग्रहण ज्ञापक है। तुक् (त् का आगम) सन्धि कार्य है। **छे च** (६।१।७३) से 'छ्' परे ह्रस्व को तुक् का आगम विधान किया है। यदि परिभाषा नित्य होती, तो तुक् होने से पूर्व अङ्गाधिकारीय कार्य छ् को श् हो जाता, श् होने पर तुक् का प्रसङ्ग ही न रहता। आचार्य ने जो तुक् सहित छ् (च्छ्) का ग्रहण करके उसे 'श्' आदेश विधान किया है उससे ज्ञापित होता है

कि वार्ण कार्य (सन्धि कार्य) भी कहीं-कहीं अन्तरङ्ग होने के कारण पहले हो जाता है ।।५५।।

सीरदेवीय—

वर्णसम्बन्धी कार्य से अङ्गाधिकारीय कार्य बलवान् होता है यदि दोनों कार्य समानाश्रय हों। भू अ ति । यहां यण् को बाधकर गुण होता है । व्याश्रय में दोनों कार्यों के भिन्न-निमित्तक होने पर इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती । यदि हो, तो विश्नः (विछ् + नः) छकार-निमित्तक तुक् को बाधकर अनुनासिक-निमित्तक अङ्गाधिकारीय छ् को श् होने पर तुक् का निमित्त न रहने से ही तुक् नहीं होगा, सूत्र में सतुक् छकार का उपादान व्यर्थ होगा ।

न्यासकार ने **'सार्वधातुकमपित्'** (१।२।४) की व्याख्या में व्याश्रय में भी इसकी प्रवृत्ति होती है ऐसा माना है । **यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्** (३।३।९०)—यहां नङ् को जो गुण प्रतिषेध के लिये ङित् किया है वह इसमें ज्ञापक दिया है । अन्यथा विछ् को तुक् होने पर गुण का प्रसङ्ग ही नहीं, तो ङित्करण अनर्थक हो जाय ।।५५।।

सेदुषः (एत्वाभ्यास-लोप होने पर सेद् + इ + वस् + अस्)— यहां क्वसु (लिट् का आदेश) बलादि आर्धधातुक प्रत्यय है, इसे निमित्त मान कर **वस्वेकाजाद्घसाम्** (७।२।६७) से इट् होता है, जो अन्तरङ्ग है (पूर्वोपस्थित-निमित्तक होने से) । शस् को निमित्त मानकर हुआ सम्प्रसारण बहिरङ्ग है । असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे—इस परिभाषा से बहिरङ्ग सम्प्रसारण के असिद्ध होने से इट् का श्रवण प्रसक्त होता है । इस आपत्ति के वारणार्थ परिभाषा पढ़ते हैं—

अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः । (५६)

अर्थ—अकृतव्यूहाः—यह बहुव्रीहिगर्भित नञ्तत्पुरुष है । **कृतो व्यूहो यैस्ते कृतव्यूहाः । ते न भवन्ति=अकृतव्यूहाः । विशिष्ट ऊहो व्यूहः । ऊहो निश्चयः।** कार्यम्प्रति भाविनिमित्तविनाशे—इतना शेष अध्याहार्य है । **पाणिनिना प्रोक्तं शास्त्रमधीयते पाणिनीयाः, पाणिनिशिष्याः।** भगवत्पाणिनि के शिष्यों का ऐसा निश्चित मत है कि बहिरङ्ग कार्य द्वारा अन्तरङ्ग कार्य के निमित्त के विनाश की संभावना होने पर अन्तरङ्ग कार्य नहीं करते । इस परिभाषा के अस्तित्व में **समर्थानां प्रथमाद्वा** (४।१।८२) सूत्र में समर्थानाम् इस शब्द का ग्रहण ज्ञापक है । समर्थानाम् में समर्थ शब्द का अर्थ कृतसन्धि-कार्य (जिसे सन्धि कार्य हो चुका है) है । समर्थ=सम्बद्धार्थ—यह अर्थ यहां विवक्षित नहीं । इस अर्थ की अनुवृत्ति **समर्थः पदविधिः** (२।१।१) से आ रही है । **सूत्थितस्यापत्यं**

पुमान् इस अर्थ में सु+उत्थित+इञ् में दीर्घ एकादेश करके सूत्थित रूप से प्रत्यय की उत्पत्ति हो इस लिये सूत्र में 'समर्थानाम्' यह पढ़ा है। अन्यथा (परिभाषा के अभाव में) अन्तरङ्ग होने से दीर्घ होने पर ही प्रत्यय (इञ्) की उत्पत्ति होगी, तो समर्थ-ग्रहण व्यर्थ रहता है। यहां भाविनी इञ्-निमित्तक बहिरङ्ग वृद्धि से अन्तरङ्ग दीर्घ के निमित्त सवर्ण अचों के आनन्तर्य का विनाश स्पष्ट है।

यदि कहो कि एकादेश दीर्घ 'ऊ' के निमित्त उ+उ का वृद्धि से नाश नहीं होता, कारण कि यद्यपि दीर्घ एकादेश होने पर और इञ् तद्धित आने पर वृद्धि से इस एकादेश के निमित्त-विनाश की संभावना है, पर एकादेश-प्रवृत्ति काल में वृद्धि का कोई अवसर नहीं, क्योंकि वृद्धि का निमित्त इञ् अभी आया नहीं। यह आक्षेप हमारे पूर्व कथन को अनुपपन्न नहीं करता। वृद्धि हो जाय तो एकादेश नहीं होता, इतने से परम्परया एकादेश के निमित्त उ+उ का भी विनाश हो जाता है। इसमें कुछ भी अनुपपन्न नहीं।

यह कहना कि 'सौत्थिति' में एकादेश 'ऊ' के निमित्तों का वृद्धि से विनाश नहीं होता, कारण कि वृद्धि बहिरङ्ग है और अन्तरङ्ग परिभाषा (५०) से असिद्ध है, भी निर्दोष नहीं। कारण कि सूत्र में 'समर्थानाम्' के ग्रहण से यह भी ज्ञापित होता है कि जहां कहीं वर्तमान परिभाषा की प्रवृत्ति होती है, वहां अन्तरङ्ग परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती। यदि ऐसा हो तो 'समर्थानाम्' का ग्रहण व्यर्थ हो जाय। **यावता विना यदनुपपन्नं तत्सर्वं तेन ज्ञाप्यम्**—यह न्याय है।

यह मानना कि सूत्र में 'समर्थानाम्' के ग्रहण से अन्तरङ्ग परिभाषा अनित्य है यही ज्ञापित होता है, भ्रान्ति है। अन्तरङ्ग परिभाषा अन्तरङ्ग कार्य की कर्तव्यता में समकाल-प्राप्तिक तथा पूर्वजात बहिरङ्ग कार्य की असिद्धता की बोधिका है, न कि अन्तरङ्ग होने पर (भावी) बहिरङ्ग की असिद्धता की। ऐसा होने पर 'सूत्थित' में उ+उ के स्थान में एकादेश 'ऊ' अन्तरङ्ग परिभाषा की प्रवृत्ति के कारण नहीं होता, तो 'समर्थानाम्' का ग्रहण इस परिभाषा की अनित्यता का ज्ञापन कैसे कर सकता है ?

'अकृतव्यूहा:'—के स्वीकार में अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग्बाधते इत्यादि परिभाषाओं का उच्छेद हो जायगा यह शङ्का अनवबोधमूलक है, उनका भी इसी परिभाषा में अन्तर्भाव हो जाता है। इसे सिद्ध करने के लिये यह बतलाना आवश्यक है कि **इस परिभाषा की प्रवृत्ति न केवल वहां होती है जहां**

भावी बहिरङ्ग कार्य से अन्तरङ्ग के निमित्त का वस्तुगत्या विनाश होता हो, किन्तु वहां भी जहां बहिरङ्ग की प्रवृत्ति से अन्तरङ्ग-निमित्त-विनाश की संभावनामात्र हो। (यदि एकादेश न हो तो वृद्धि हो ही जायगी इस प्रकार की संभावना होने पर)। इसीलिये गोमत्+सु+दण्डी (गोमद्-दण्डी—कर्मधारय) इत्यादि में हल्ङ्यादिलोप (**हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** (६।१।६८) से सु-लोप नहीं होता, **सुपो धातु०**—(२।४।७१) से सु-लुक् होता है। यदि संभावना को भी निमित्त न माना जाय, जिसकारण इस परिभाषा की यहां प्रवृत्ति होगी तो जिस काल में गोमत्-सु—यहां 'सु' का लोप होने लगेगा, उसमें सु-लुक् की प्राप्ति नहीं, जिसका प्रसङ्ग तभी होता है जब गोमत् और दण्डिन् का समास हो। लोप होने के पश्चात् लुक् कहो तो उस लुक् का अपहार्य (जिसे लुक् ने अपहृत करना है, हटाना है), होगा ही नहीं, लोप के द्वारा पहले से ही उसका ('सु' का) अपहार हो जाने से। अतः लोप ही होगा। **पर यदि लोप न हो तो लुक् हो जायगा—ऐसी संभावना है।** इस संभावना के होने से प्रकृत परिभाषा यहां गोमत्+सु+दण्डिन्+सु में प्रवृत्त होगी, तथा सु-लोप न होकर सुलुक् होगा, जिससे इष्ट रूप सिद्ध हो जायगा।

यह परिभाषा (५६) अनित्य है। इसमें कुछ लोग ज्ञापक कहते हैं—**अल्लोपोऽनः** (६।४।१३४) में अल्लोप में 'अ' को जो तपर किया है वह इस में ज्ञापक है, अन्यथा यह व्यर्थ रहता है। 'आनः' में आ-लोप के वारण के लिये सूत्र में तपर किया है। यदि यह परिभाषा नित्य होती तो 'आनः' (अन् प्राणने धातु से क्विप् करके शस्प्रत्ययान्तरूप) में अवश्य प्रवृत्त होती, क्योंकि यदि यहां **अनुनासिकस्य क्विझलोः** (६।४।१५) से अन्+क्विप्+शस् में दीर्घ न हो तो **अल्लोपोऽनः** (६।४।१३४) से अ-लोप हो जाय, ऐसी सम्भावना है। संभावना-रूप निमित्त के होने पर परिभाषा की प्रवृत्ति होने से 'अ' को कभी भी दीर्घ न होगा, जिससे सूत्र में तपरकरण व्यर्थ हो जायगा। और क्विवन्त 'आन्' रूप सिद्ध न होगा।

कैयटमत

समर्थानां प्रथमाद्वा (४।१।८२) इस सूत्र के भाष्यप्रदीप में कैयट इस परिभाषा का अन्यार्थ समझता है। सूत्र में 'समर्थानाम्' के ग्रहण से यह ज्ञापित होती है इसे वह स्वीकार करता है, पर इसका ऐसा अर्थ समझता है—पपा वस् अस् (पपुषः) यहां पहले अन्तरङ्ग होने से इट् हो जाता है, पीछे यह निवृत्त

हो जाता है। अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः—पाणिनीय लोगों का निमित्त कारण के विनाश होने पर भी कार्य स्थित रहे ऐसा व्यूह (विशिष्ट ऊह = तर्क = निश्चय) नहीं है। अर्थात् निमित्त के चले जाने पर नैमित्तिक भी चला जाता है यह परिभाषा-तात्पर्यार्थ है।

'समर्थानां प्रथमाद्वा' सूत्र में 'समर्थ' ग्रहण इस लिये किया है कि 'सूत्थित' से इञ् प्रत्यय होने पर इञ्निमित्तक वृद्धि द्वारा दीर्घ एकादेश 'ऊ' की निवृत्ति हो जाने पर 'सावुत्थिति' रूप न हो। भाव यह है—सवर्ण दीर्घ स्थानी की निवृत्ति करता है। 'सौत्थिति'—यहाँ सवर्ण दीर्घ ऊकार जो उकारद्वय (उ+उ) की निवृत्ति का निमित्त है, उसका आदि वृद्धि द्वारा अपहार हो जाने से नैमित्तिक (=स्थानिरूप उकार-द्वय-निवृत्ति) का अपहार हो जाता है, अर्थात् उकार द्वय (उ+उ) की सत्ता सम्पन्न हो जाती है। अब आद्य उकार को वृद्धि औकार हो जाने पर सौ+उत्थित+इ—इस अवस्था में आव् आदेश होकर 'सावुत्थिति' मत हो इसलिये समर्थ-ग्रहण किया है।

निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः—यह भी ज्ञापक सिद्ध है, पर **निमित्त-विनाशे भाविनि नैमित्तिकस्यानुत्पत्तिः** यह परिभाषार्थ ज्ञापक-सिद्ध है। इस कैयट-सम्मत परिभाषार्थ में ज्ञापक की अपेक्षा भी नहीं। अतः इसमें लाघव है। यह लोक न्याय-सिद्ध है। निमित्त दो प्रकार का माना जाता है। एक निमित्त कार्य की स्थिति का नियामक होता है, अर्थात् जब तक निमित्त रहे, तब तक नैमित्तिक (कार्य) रहता है, निमित्त के नाश होने पर नैमित्तिक नष्ट हो जाता है। दूसरा ऐसा जो कार्य-स्थिति का नियामक नहीं होता। निमित्त के नाश के साथ नैमित्तिक का नाश नहीं भी होता। प्रथम के दो उदाहरण दिये जाते हैं—न्यायशास्त्र में अपेक्षाबुद्धि को द्वित्व संख्या के प्रति हेतु (निमित्त) माना है। जब तक यह अपेक्षाबुद्धि रहती है तब तक द्वित्व-संख्या का बोध रहता है। अपेक्षा बुद्धि के नाश होने पर द्वित्व-संख्या नहीं रहती। वेदान्त शास्त्र में प्रारब्ध कर्म अविद्या की विक्षेपनामक शक्ति का नियामक माना गया है। अविद्या की दो शक्तियां हैं—**विक्षेप व आवरण**। विक्षेप शक्ति संसार की कल्पना करती है। **कृत, क्रियमाण और प्रारब्ध**—तीन प्रकार का कर्म है। **कृत का ही दूसरा नाम सञ्चित है और क्रियमाण का सञ्चीयमान।** जिन कर्मों के भोगने के लिये वर्तमान शरीर की उत्पत्ति हुई है उन्हें प्रारब्ध कहते हैं। प्रारब्ध भोग से ही नष्ट होता है। जब यह प्रारब्ध कर्म भोग से क्षीण हो जाता है तो अविद्या की विक्षेप शक्ति भी क्षीण हो जाती है। इसके

विपरीत कुलाल के दण्डचक्रादि से उत्पन्न हुआ घड़ा दण्डादि के नाश होने पर भी अवस्थित रहता है। व्याकरण शास्त्र में लक्ष्यानुसार व्यवस्था की जाती है। कहीं कारण की निवृत्ति में कार्य की निवृत्ति देखी जाती है यथा सेदुषः—यहां सम्प्रसारण द्वारा इट् के निमित्त वलादित्व के चले जाने पर तन्निमित्तक (पहले से किया हुआ) इट् भी चला जाता है। कहीं कारण की निवृत्ति में कार्य की निवृत्ति नहीं भी होती—पट्व्या। मृद्व्या—यहां (पटु + ई + आ)। मृदु + ई + आ) परयण् द्वारा पूर्वयण् का निमित्त ईकार नष्ट हो जाता है, पर पूर्वयण् निवृत्त नहीं होता। **भावी निमित्त-विनाश के कारण पहले से ही तन्निमित्तिक कार्य न हो इसमें न तो कोई युक्ति है और न वादि-प्रातिवादि-स्वीकृत दृष्टान्त।** जब सूत्र में समर्थानाम्-ग्रहण लोकसिद्ध अर्थ को ज्ञापित करके चरितार्थ हो सकता है, तो लोक में असिद्ध अनोखा ऊपर कहा हुआ भावि-निमित्त-विनाश इत्यादि निष्प्रमाण परिभाषार्थ क्यों माना जाय—यह कैयट का आशय है।

दूसरे लोग (जिनके साथ नागेश सहमत है) इस परिभाषा (अकृतव्यूह-परिभाषा) को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि 'सेद्वस् अस्' इस प्रकार पद-विभागपूर्वक संस्थापन करके साधुत्व का अन्वाख्यान करने में अस् (शस्) को मानकर सम्प्रसारण (वस् के व् को उ) तथा वस् को वलादि होने से इट् आगम प्राप्त होता है, सम्प्रसारण **प्रतिपदोक्त** है,[1] षष्ठ्यन्त वसु शब्द-विशेष को उच्चारण करके विधान किया है। अतः पूर्व सम्प्रसारण होगा। सम्प्रसारण होने पर परे वलादि प्रत्यय न रहने से इट् की प्राप्ति ही नहीं। इसी से 'सेदुषः' की सिद्धि हो जायगी (और अकृतव्यूह परिभाषा की कोई आवश्यकता न होगी) ऐसा समर्थानाम्—इस सूत्र में तथा **असिद्धवदत्राभात्**

---

१. यहां यह शङ्का होती है कि **वस्वेकाजाद्-घसाम्** (७।२।६७) इस इट्-विधायक शास्त्र में भी 'वसु' शब्द का साक्षात् उपादान किया है। तो इट्-विधि भी प्रतिपदविधि है। नहीं। वह सूत्र इट् विधायक नहीं। नियमार्थ है, इतर व्यावृत्ति में तात्पर्य है। इट्विधायक तो **आर्धधातुकस्येड्वलादेः** (७।३।८४)—यह शास्त्र है। **नियमशास्त्राणां विधिमुखेन प्रवृत्तिः**, ऐसा मानने पर भी वस्वेकाच् से इट् द्वित्व होने पर एकाच् की अपेक्षा करता है, द्वित्व से पहले नहीं होता, अतः इसकी उपस्थिति विलम्ब से होती है। सम्प्रसारण द्वित्वादि की अपेक्षा नहीं करता, अतः इसकी उपस्थिति शीघ्रता से होती है। अतः सम्प्रसारण पूर्व होता है।

(६।४।२२) इस सूत्र के प्रदीप में भी कैयट का आशय स्पष्ट है।

यद्यपि प्रतिपदविधि की बाधकता इसी में है कि वह जब तक दूसरी विधि को बाधती नहीं, तब तक अनवकाश रहती है, उसे स्वप्रवृत्ति का अवसर ही नहीं मिलता, तो भी प्रतिपदविधि होने से ही यह विधि पूर्व प्रवृत्त हो जाती है, जब विध्यन्तर को बाधे बिना भी यह सावकाश हो।

यदि 'समर्थानाम्'—ग्रहण परिभाषा का ज्ञापक नहीं, तो यह व्यर्थ रह जायगा। नहीं। समर्थ-ग्रहण सिद्धार्थानुवाद-मात्र है, अर्थात् जो हम अन्तरङ्ग परिभाषा से पहले ही जानते हैं, उसे ही कहता है। दूसरे यह इसलिये सूत्र में पढ़ा है कि 'विष्वक्' से जैसे सन्धि कार्य करने से पूर्व 'न' प्रत्यय होने पर उत्तरपद का लुक् हो जाता है। (**विष्वगित्युत्तरपदलोपश्चाकृतसन्धेः**—यह वार्तिक है), वैसे ही अन्यत्र तद्धित की उत्पत्ति सन्धि-कार्य किये बिना हो जायगी, ऐसा न हो।

इस परिभाषा के प्रत्याख्यान का **विप्रतिषेध** सूत्र में संकेत मिलता है। वहां '**वैक्षमाणि**'—यह अन्तरङ्ग परिभाषा (अन्तरङ्ग-बहिरङ्गयोरन्तरङ्गं बलीयः) का उदाहरण दिया है। यहां 'वि+ईक्षमाण' में दीर्घ एकादेश होने पर इञ् तद्धित किया है। ऐसा भाष्य ग्रन्थ है—**वृद्धिश्च प्राप्नोत्येकादेशश्च। परत्वात् वृद्धिः स्यात् एकादेशो भवत्यन्तरङ्गतः।**

किं च **समर्थानां प्रथमाद्वा** (४।१।८२) सूत्र के प्रदीप में भी यह स्पष्ट है कि जब पद -विभाग-पूर्वक पदघटक अवयवों को एक साथ स्थापन करके सौत्थिति आदि का अन्वाख्यान किया जाता है जैसे सु उत्थित—इ (इञ्) तो **वार्णादाङ्गं बलीयः** (परि० ५५) से प्राप्त वृद्धि के वारण के लिये समर्थग्रहण किया है। सो यह प्रयोजनवान् होने से अकृतव्यूह परिभाषा का ज्ञापक नहीं हो सकता। यदि (४।१।८२) में 'समर्थानाम्' न पढ़ा हो और यदि वार्ण परिभाषा अन्तरङ्ग परिभाषा की बाधिका है तो वार्ण परिभाषा से सु उत्थित इ —यहाँ सु के 'उ' को वृद्धि हो जायगी, कारण कि वृद्धि अङ्गाधिकारीय है। अब यदि वार्ण-परिभाषा अनित्य होने से नहीं प्रवृत्त होती, तो समर्थानाम्-ग्रहण से वही कार्य सिद्ध होता है जो अन्तरङ्ग परिभाषा से। यदि वार्णपरिभाषा की प्रवृत्ति होती है तो समर्थानाम्-ग्रहण वृद्धि को वारण करता है जो उस परिभाषा के अनुसार पहले होती है। अतः किसी एक कल्प में भी समर्थानाम्-ग्रहण सार्थक होने के कारण परिभाषा का ज्ञापक नहीं।

इसीलिये (अकृतव्यूह परिभाषा के न होने से) भाष्य में **असिद्धवदत्राभात्**

(६।४।२२) सूत्र में वार्तिक पढ़ा है—**वसुसम्प्रसारणमज्विधौ सिद्धं वक्तव्यम्** (अर्थात् वसु प्रत्यय को जो सम्प्रसारण हो वह अच् को आश्रित करके जो विधि कर्तव्य है, उसके लिये (किया हुआ सम्प्रसारण) सिद्ध है, यह कहना चाहिए), ताकि 'पपुषः' (पपा+वस्+अस्) इत्यादि में सम्प्रसारण (उ) हो जाने पर **आतो लोप इटि च** (६।४।६४) से 'आ' का लोप हो जाय'—यह उस पर भाष्य है। पद के विभाग पूर्वक साधुत्वान्वाख्यान में पहले सम्प्रसारण होने पर इट् की प्राप्ति न रहने से उस्-निमित्तक ही 'आ' का लोप होगा। यह भाष्याशय है। यदि सम्प्रसारण के आभीय होने से **आतो लोपः** के प्रति (जो आभीय है), **असिद्धवदत्राभात्** (६।४।२२) से सम्प्रसारण असिद्ध होता, तो सम्प्रसारण होने पर भी **आतो लोपः** न हो सकता, परे अजादि प्रत्यय न होने से। अतः सम्प्रसारण की सिद्धता के लिये विशेष वचन (वार्तिकरूप) पढ़ा है। यदि कैयट रीति (प्रतिपदविधि होने से पूर्व सम्प्रसारण) का आश्रयण न करें तो अन्तरङ्ग होने से इट् पहले होगा और 'आतो लोपः' इट् के आश्रित होगा, सम्प्रसारण-निमित्तक (उस्-निमित्तक) नहीं। ऐसा होने से निरुक्त भाष्य असङ्गत हो जायगा।[1]

अकृतव्यूह-परिभाषा नहीं है इसीलिये (६।३।१३८) सूत्र पर वार्तिककार वार्तिक पढ़ते हैं—**चौ प्रत्यङ्गस्य प्रतिषेधः** (चु=अञ्चु परे होने पर अन्तरङ्ग कार्य नहीं होता)। इस वार्तिक का भाष्यकार प्रत्याख्यान नहीं करते। 'प्रतीचः'—यहां प्रति+अच्+अस् इस स्थिति में अन्तरङ्ग यण् का वार्तिक से प्रतिषेध होने से अ-लोप और दीर्घ होने पर 'प्रतीचः' यह सिद्ध होता है। यदि

---

१. यदि हम कैयटमत के अनुसार प्रतिपदविधित्व होने से पूर्व सम्प्रसारण नहीं करते तो **वसुसम्प्रसारणमज्विधौ सिद्धं वक्तव्यम्** इस वार्तिक का कुछ अर्थ नहीं रहता, कारण कि उस अवस्था में हमें पहले इट् करना होगा क्योंकि वह अन्तरङ्ग है। अब यदि आ-लोप के पश्चात् सम्प्रसारण करें, तो सम्प्रसारण आलोप का कारण न होने से आ-लोप के प्रति असिद्ध नहीं हो सकता, **समानाश्रय कृत आभीय कर्तव्य आभीय के प्रति असिद्ध होता है**। और यदि सम्प्रसारण आ-लोप से पूर्व होता है, सम्प्रसारण के असिद्ध होने पर भी, इट् के होने से आ-लोप इट् के कारण होगा। वार्तिक की सार्थकता के लिये हमें प्रतिपदविधि होने से सम्प्रसारण पहले करना होगा, जिसके होने पर इट् अनवकाश हो जाता है। अन्यथा इष्ट-रूप-सिद्धि होने से अकृत व्यूह-परिभाषा की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

अकृतव्यूह परिभाषा हो, तो इस से 'इ' के स्थान में यण् न हो सकेगा, क्योंकि यण् का निमित्त 'अ' **अचः** (६।४।१३८) से नष्ट हो जायगा, और प्रकृत वार्तिक का कुछ भी अर्थ न होगा।

अकृतव्यूह परिभाषा के न होने से ही **च्छ्वोः शूडनुनासिके च** (६।४।१९) के भाष्य में कहा है—'प्रष्टा' इत्यादि में तुक् के अभाव के लिये अवश्य यत्न करना चाहिये, अन्तरङ्ग होने से तुक् प्राप्त होता है। (यहां अवश्य कर्तव्य यत्न सूत्र में सतुक् छ् का ग्रहण है)। प्रच्छ् + ता—यहाँ छकारमात्र को श् आदेश होने पर अन्तरङ्गत्व-हेतुक तुक् का श्रवण होगा। यदि अकृतपरिभाषा हो तो निमित्त छ् के अपाय से (शकारादेश से निवृत्त हो जाने से) नैमित्तिक तुक् का भी अपाय हो जाता, अथवा निमित्त को विनाशोन्मुख देखकर अन्तरङ्ग तुक् न होता, तो भाष्यस्थ यत्न की अवश्य कर्तव्यता का कथन असङ्गत हो जाता। इस भाष्य-वचन का अभिप्राय इस परिभाषा की अनित्यतामात्र को ज्ञापन करना है—यह ठीक न होगा, कारण कि 'अवश्यमत्र' (अवश्य ही ऐसे लक्ष्यों में) इन शब्दों का स्वाभाविक अर्थ छिन जायगा।

किंच। यदि अकृतव्यूह-परिभाषा वस्तुतः हो, तो इसके होने से ही **प्रत्ययोत्तरपदयोश्च** (७।२।९८) में 'मपर्यन्तस्य' की अनुवृत्ति और **अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति** (२।४।३६) में ल्यप्-ग्रहण चरितार्थ हो जायगा और भाष्यकार का यह कथन कि उक्त अनुवृत्ति तथा ल्यप्-ग्रहण इस बात के ज्ञापक हैं कि लुक् व ल्यप् आदेश अन्तरङ्ग विधियों के बाधक होते हैं, कट जाता है। त्व म के आदेश तथा जग्धि आदेश के निमित्त-भूत विभक्ति और तादित्व के लुक् तथा ल्यप् द्वारा विनाश की संभावना होने से इस परिभाषा से ये आदेश पहले नहीं होंगे, अतः प्रत्ययोत्तरपदयोश्च सूत्र तथा ल्यप् ग्रहण सार्थक रहते हैं।

यह परिभाषा इसलिये भी स्वीकार्य नहीं कि यह भाष्य में कहीं भी नहीं दीखती। कैयट ने भी **असिद्धवदत्राभात्** सूत्र में '**निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः**—इस परिभाषा का भाष्यकार ने आश्रयण नहीं किया है, ऐसा कहा है।

इस परिभाषा को माने बिना हरिर्गच्छति में र् की सिद्धि नहीं होगी यह कहना ठीक न होगा। हरिस् के स् को रुत्व करने पर **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (८।३।१५) से अवसान में रेफ को विसर्ग होता है। 'गच्छति' के साथ सम्बन्ध होने से अवसान का भङ्ग हो जाता है, और तन्निमित्तक विसर्जनीय भी

चला जाता है। अथवा गच्छति इत्यादि के साथ सम्बन्ध होने पर अवसान-भङ्ग हो जायगा, इस प्रकार निमित्त अवसान के विनाशोन्मुख होने पर पूर्व विसर्ग नहीं होता। इस प्रकार पदसंस्कार पक्ष मे यह परिभाषा फलवती है, अतः फल के बल पर इसकी कल्पना कर लेनी चाहिये, यद्यपि यह भाष्यस्थ नहीं।

परिभाषा के अभाव में यद्यपि वाक्यसंस्कार पक्ष में हरिस् गच्छति (इस प्रकार वाक्यरचना में) हरिर्गच्छति—यह इष्टरूप सिद्ध हो जायगा। पद-संस्कार पक्ष में (जब पदान्तर-निरपेक्षतया पदसिद्धि की जाती है) तो हरिः गच्छति ऐसी अनिष्टापत्ति होगी। नागेश के मत में यह भी इष्ट ही है। **परन्तु व्यवहार इसका समर्थन नहीं करता।** अतः नागेश स्वयम् पक्षान्तर स्वीकार करता है—ऐसे स्थलों में (पदान्तर-सम्बद्ध पद के विसर्ग के विषय में) पद-सस्कार का आश्रयण नहीं किया जाता ॥५६॥

सीरदेवीय—

शङ्का—पपि वस्+शस्— यहां सम्प्रसारण से पूर्व अन्तरङ्ग वलादिलक्षण इट् होने पर तब सम्प्रसारण (उ) होने पर इट् को यण् हो जायगा और सम्प्रसारण के बहिरङ्ग होने से असिद्ध होने पर 'लोपो व्योर्वलि' से य् का लोप हो जायगा, जिससे इष्टरूप 'पपुषः' सिद्ध हो जायगा, अतः अकृतव्यूह परिभाषा की कोई आवश्यकता नहीं। वलि लोप असांहितिक है, इसका दो अचों के आनन्तर्य को आश्रित करके विधान न होने से नाजानन्तर्ये—परिभाषा की प्रवृत्ति का विषय नहीं। यदि कहो बहिरङ्ग परिभाषा से सम्प्रसारण के असिद्ध होने से यण् आदेश ही न हो सकेगा, तो यह कहना ठीक न होगा। नाजानन्तर्यपरिभाषा बहिरङ्ग परिभाषा का अपवाद पढ़ा है, अतः असिद्धता नहीं होगी। उत्तर—अन्तरङ्ग वलिलोप की कर्तव्यता में बहिरङ्ग यणादेश के असिद्ध होने से यण् ही नहीं, तो वलि लोप कहां से होगा ॥५६॥

अन्तरङ्गादप्यपवादो बलवान्। (५७)

अर्थ स्पष्ट है। अपवाद क्या पदार्थ है इसे कहते हैं[1]—**येन नाऽप्राप्ते यो**

---

१. अभी तक **नित्यादन्तरङ्गं बलीयः** इस अंश का सप्रपञ्च वर्णन हुआ है, अब अवशिष्ट अंश **अन्तरङ्गादपवादो बलीयान्**—का सप्रपञ्च वर्णन करना है। अपवाद पदार्थ के बिना वह संभव नहीं, अतः प्रथम अपवाद पदार्थ को कहते हैं।

विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति । 'प्राप्त' में भाव में 'क्त' है । **प्राप्त**= प्राप्ति । **येन**—यह कर्तरि तृतीयान्त है । **येन**=यत्कर्तृक अवश्य प्राप्ति होने पर=जो अवश्य प्राप्त होता हो । **अवश्य**=अवश्यम् (मकारान्त अव्यय) । अवश्य शब्द भी स्वतन्त्र प्रकृति है, इसमें **आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः** (३।३।१७०) सूत्र में वुञ्-प्रत्ययान्त आवश्यक शब्द ज्ञापक है । **नाप्राप्ते**—यहां नञ्द्वय का प्रयोग दृढ़ता के लिये किया है । इसीलिये इसका 'अवश्य प्राप्ति' अर्थ किया है । **अक्षरार्थ**—जिसकी प्राप्ति होने पर ही जो शास्त्र आरम्भ किया जाता है वह (आरम्भ किये जाने वाला) शास्त्र अवश्य प्राप्त शास्त्र का बाधक होता है । नागेश के शब्दों में इसे ऐसे कहा गया है—विशेषशास्त्रोद्देश्य-विशेषधर्मावच्छिन्न-वृत्ति-सामान्य-धर्मा-वच्छिन्नोद्देश्यक-शास्त्रस्य विशेषशास्त्रेण बाधः, अर्थात् विशेष शास्त्र का जो विशेषधर्मावच्छिन्न (अवच्छिन्न=विशिष्ट) उद्देश्य (जिसे कार्य करना है), उसमें रहने वाला जो सामान्य धर्म उससे विशिष्ट जो उद्देश्य ऐसे उद्देश्य वाले शास्त्र का विशेष शास्त्र से बाध हो जाता है ।

व्यापकत्व बाध्यता का बीज है यह कह चुके हैं । व्याप्यता बाधकता का बीज है इसे कहते हैं—सामान्य (उत्सर्ग) शास्त्र की अप्राप्ति के योग्य विषय में विशेष (अपवाद) शास्त्र की अचरितार्थता उसकी बाधकता का बीज है । **हो ढः** (८।२।३१) सामान्यशास्त्र है । यह झल् परे रहते तथा पदान्त विषय में धातु के 'ह्' को ढ् आदेश विधान करता है । दादेर्धातोर्घः (८।२।३२) —यह विशेषशास्त्र है । यह दकारादि धातु के 'ह्' को झल् परे रहते अथवा पदान्त विषय में 'घ्' आदेश विधान करता है । यह हो ढः से व्याप्य विषय में ही प्रवृत्त हो सकता है, इससे अव्याप्त में कहीं नहीं, अतः इसे 'हो ढः' को अवश्य बाधना है, नहीं तो इसके लिये कोई अवकाश नहीं होगा और यह व्यर्थ हो जायगा । यदि दकारादि धातुओं के विषय में भी हो ढः (उत्सर्गशास्त्र) प्रवृत्त हो जाय तो दादेर्धातोर्घः (अनवकाश) निर्विषय हो जाय, इसीसे इसे हो ढः को अवश्य बाधना है यह विदित हो जाता है, यह परिभाषा द्वारा प्रवेदन करने की कोई आवश्यकता नहीं । यह ठीक है, पर प्रकृत परिभाषा (येन नाप्राप्ते) से हम यह भी जानते हैं कि जहां उत्सर्ग शास्त्र की प्रवृत्ति के पीछे विशेष-शास्त्र की प्रवृत्ति हो सकती है वहां भी उत्सर्गशास्त्र को विशेष बाधता ही है । **एकाचो द्वे प्रथमस्य** (६।१।१)—यह सामान्यशास्त्र धातु के प्रथम एकाच्क (एकाच्वाले) अवयव को द्वित्व विधान करता है । **अजादेर्द्वितीयस्य** (६।१।२)

यह विशेषशास्त्र अजादि धातु के द्वितीय एकाच् को द्वित्व विधान करता है। यद्यपि (६।१।१) की प्रवृत्ति के पश्चात् भी (६।१।२) की प्रवृत्ति संभविनी है, तो भी प्रकृत न्याय से हम जानते हैं कि (६।१।२) को (६।१।१) का अवश्य बाधक होना चाहिये, कारण कि (६।१।१) के व्याप्य विषय में ही (६।१।२) की प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार **अलोन्त्यस्य** (१।१।५२) का **आदेः परस्य** (१।१।५४) अपवाद है। **उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य** (८।४।६१) में पूर्व अलोऽन्त्यस्य की प्रवृत्ति होने पर भी आदेः परस्य की प्रवृत्तिका संभव है, तो भी अपवाद उत्सर्ग को बाधता ही है। यदि ऐसा न माना जाय, तो 'येन नाप्राप्ते'—न्याय व्यर्थ रहता है और साथ ही इसके समर्थन में उद्धृत तक्रकौण्डिन्य—न्याय भी व्यर्थ हो जाता है। **ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्याय**––यह **तक्रकौण्डिन्य न्याय है** (ब्राह्मणों को दही दिया जाय और कौण्डिन्य (कुण्डिनगोत्रज ब्राह्मण) को तक्र (मठा) दिया जाय। यहां ब्राह्मण मात्र को दधि-दानविधि सामान्य है। कुण्डिनगोत्रज ब्राह्मण को तक्र-दान-विधि विशेष है। विशेष विधि सामान्य की बाधक होती है, जिससे ब्राह्मण होने पर भी कौण्डिन्य को दधि नहीं दिया जाता। इतना ही नहीं। यद्यपि दधि दान के पूर्व प्रवृत्त होने पर भी तक्रदान का संभव है, तो भी तक्रदान दधिदान को बाधता है और कौण्डिन्य को दधि नहीं दिया जाता। इसीलिये (अचारितार्थ्य होने से ही अपवाद बाधक माना गया है इसीलिये) (३।१।३१) सूत्र के भाष्य में 'गोपायिष्यति' आदि में पहले यह शङ्का की गई है कि **स्यतासी लृलुटोः** (३।१।३३) के पर होने से स्य आदि **आयादय आर्धधातुके वा** (३।१।३१) से विहित आयादि प्रत्ययों को बाधेंगे ऐसी शङ्का करके आयादि अनवकाश हैं, स्य आदि से अव्याप्त इनका कोई विषय नहीं, अतः अपनी चरितार्थता के लिये स्य आदि को अवश्य बाधेंगे ऐसा कहा है। 'गोपायति' आदि में शप् (जो स्यादि में एक है) प्राप्त होता है। शप् के होने न होने से कोई भेद नहीं होता, यह बात और है। **पर्जन्यवल्लक्षणं प्रवर्तते** इस न्याय से शप् होता ही है। स्यादियों से अव्याप्त आयादि का विषय नहीं, अतः आयादि अनवकाश रहेंगे यदि स्यादि को न बाधें। आयादियों की यह अपवादता **आयादयो वा, सार्वधातुके नित्यम्** ऐसे सूत्र-न्यास-भेद के आश्रित है।

क्योंकि अपवाद उत्सर्ग का तब भी बाधक होता है जब दोनों (उत्सर्ग तथा अपवाद) की प्रवृत्ति का संभव है, इसलिये विषय-भेद में भी (जब उत्सर्ग व अपवाद के एकशब्द के भिन्न अवयव विषय हैं) अपवाद उत्सर्ग का बाधक

होता है। तिसृ + आम्—यहां **ह्रस्वनद्यापो नुट्** (७।१।५४) से ह्रस्व से परे आम् को नुट् विधान किया है। **अचि र ऋतः** (७।२।१००) तिसृ के ऋ को र् आदेश विधान करता है अजादि प्रत्यय परे होने पर। यह पूर्व का अपवाद है। विषय-भेद होने पर भी र् आदेश को नुट् का बाधक होना चाहिये। इस शङ्का का **तृज्वत्** (७।१।९५) सूत्र के भाष्य में **न तिसृ चतसृ** (६।४।४) के ज्ञापक से समाधान किया है। इस सूत्र में 'नाम्' परे होने पर दीर्घ का निषेध किया है। यदि र् आदेश हो जाय तो नुट् की प्राप्ति ही नहीं रहती, तो नाम् नहीं होगा। इससे ज्ञापित होता है कि **अचि र ऋतः** (७।२।१००) को बाधकर नुट् होता है।

किसी का यह मानना कि **न तिसृ चतसृ** (६।४।४) से 'विषय-भेद में अपवाद उत्सर्ग को नहीं बाधता'—'यह ज्ञापित होता है, ठीक नहीं। यदि ऐसा माना जाय तो **विन्मतोर्लुक्** (५।३।६५) यह शास्त्र, **टेः** (६।४।१५५) यह जिस-जिस टि-संज्ञक अंश का लोप विधान करता है, उस सबका बाध नहीं कर सकेगा। स्रजिष्ठ (स्रग्विन् + इष्ठन्) में 'टेः (६।४।१५५) से टि (इन्) का लोप प्राप्त होता है। इसे **विन्मतोर्लुक्** अपवाद होने से बाधता है, विन् का लुक् होता है, टि (इन्) का लोप नहीं। स्रज् + इष्ठन्—यहां फिर टि (स्रज् का अज्-भाग) का लोप प्राप्त होता है। उसे फिर यही अपवाद बाधता है।

दयतेर्दिगि लिटि (७।४।९) सूत्र के प्रदीप में कैयट का यह कहना कि द्वित्व होने के पश्चात् 'देङ्' को 'दिगि' आदेश चरितार्थ है—मिथ्या कल्पना है। वस्तुतः दिगि आदेश अनवकाश है, जहां **लिटि धातोरनभ्यासस्य** (६।१।८) इस द्वित्व-विधायक शास्त्र का विषय है वहीं इसकी प्रवृत्ति होती है, अन्यत्र नहीं, अतः यह द्वित्व का बाधक है। कैयट आगे चलकर स्वयम् इस मत को स्वीकार करता है—**इदानीं तु सामान्यविशेषाश्रयेण नाप्राप्ते द्विर्वचने आरभ्यमाणस्य दिग्यादेशस्यापवादत्वमुच्यते।**

वार्तिककार का यह मत है—'अपवाद उत्सर्ग का तभी बाधक होता है जब दोनों की एकसाथ प्रवृत्ति नहीं हो सकती, कारण कि विरोध ही बाधकता का बीज है' यह भाष्यकार को अभिमत नहीं। भाष्यकार तो **सत्यपि सम्भवे बाधनं भवति**—इस मत को मानते हैं। **उत्सर्ग से अव्याप्त विषय में अचारितार्थ्य (अप्रवृत्ति) ही अपवाद की बाधकता का बीज है।**

येन नाप्राप्ते इस न्याय तथा **तक्रन्याय** की एकता पहले कही जा चुकी है, इसे और दृढ़ करने के लिये कहते हैं—सामान्यविधि की जहां प्राप्ति न हो,

वहां यह न्याय (तक्र कौण्डिन्य न्याय) प्रवृत्त नहीं होता, तथा वहीं प्रवृत्त होता है जहां कुछ विधान किया जाता है। दधिदान की प्राप्ति होने पर ही तक्र-दान विधान किया जाता है, वह दधिदान (जो तक्रदान से पूर्व व पश्चात् भी संभव है) तक्रदान से बाधित (=निवृत्त) हो जाता है। इसीलिये **अत उप-धायाः** (७।२।११६) का **तद्धितेष्वचामादेः** (७।२।११७) अपवाद नहीं। यह दूसरी विधि (आदि वृद्धि) वहां भी होती है जहां उपधावृद्धि का विषय नहीं, जैसे सुश्रुत् में आदिवृद्धि होती है (सौश्रुत), उपधावृद्धि का (अत् उपधा न होने से) विषय नहीं। अपवाद न होने पर भी **क्रौष्टुः**, **जागतः** में आदि वृद्धि ही होती है। इसमें अनुशतिकादिगण में पुष्करसद् शब्द का पाठ ज्ञापक है। यदि आदि वृद्धि के विषय में उपधावृद्धि (अन्त्य वृद्धि) होती, तो उभयपदवृद्धि के लिये अनुशतिकादि में 'पुष्करसद्' क्यों पढ़ते ? तक्रन्याय का भी विधेय विषय है। इस न्याय के अनुसार यह नहीं माना जा सकता है कि **विधेय-सम्बन्धी एक विशेषानुवाद** (एक विशेष कथन) **सामान्यानुवाद का बाधक होता है,** कारण कि इसमें लौकिक दृष्टान्त नहीं। (विशेष-विहित सामान्य-विहित का बाधक होता है उत्सर्गापवाद स्थल में)। **सामान्यानुवाद की प्राप्ति होने पर ही विशेषानुवाद की प्राप्ति हो, इसमें नियम नहीं। धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्** (३।१।२२) से धातुवाच्य क्रियासमभिहार (भृशार्थ, पौनः पुन्य) के द्योतन के लिये यङ् का विधान है (सो यह सिद्धार्था-नुवाद है)। **नित्यं कौटिल्ये गतौ** (३।१।२३) भी कुटिलगति वाचक धातुओं से कौटिल्य के द्योतन के लिये यङ् का विधान करता है। (यह भी सिद्धार्था-नुवाद है)। अब यहां तक्रकौण्डिन्य न्याय के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि 'वाव्रज्यते' का अर्थ 'पुनः पुनर् व्रजति' नहीं हो सकता, अर्थात् यहां क्रियासमभिहार अर्थ में यङ् नहीं। 'वाव्रज्यते' का ऐसा अर्थ नहीं, यह न्याय की प्रवृत्ति के कारण नहीं, किन्तु इसलिये कि लोक में यङन्त 'वाव्रज्यते' से क्रियासमभिहार का सम्प्रत्यय (प्रतीति) होता नहीं। नित्यं कौटिल्ये गतौ (३।१।२३) सूत्र भाष्य में **विशेषासम्प्रत्ययात्, क्रियासमभिहारे च नैतेभ्यः—** इन दो वार्तिकों से पुनः पुनर्व्रजति, भृशं जपति आदि में क्रियासमभिहार अर्थ में यङ् का वारण किया है, न्यायाश्रयण से नहीं।

कहीं-कहीं सर्वथा अनवकाशत्व ही बाधकता में बीज है। (अर्थात् एक व्याप्य शास्त्र जब तक दूसरे व्यापक को बाधे नहीं, उसकी प्रवृत्ति के लिये कोई अवकाश (अवसर) ही नहीं, दूसरे शास्त्र की प्रवृत्ति होने पर भी जिसके लिये

अवकाश नहीं, ऐसा शास्त्र बाधक होता है) ।

रामा+ङि इत्यादि में **ङेराम्नद्याम्नीभ्यः** (७।३।११६) से आबन्त 'रामा' से परे 'ङि' को 'आम्' आदेश प्राप्त होता है । 'ङि' को **याडापः** (७।३।११३) से याट् आगम विधान किया है । अब यदि याट् आगम हो जाता है, तो निर्दिश्यमान 'ङि' याट् द्वारा आबन्त अङ्ग से व्यवहित हो जाता है, तो 'ङि' को आम् नहीं हो सकता । अतः आम् आदेश याट् को बाधता है । यह बाध इतना ही है कि पहले आम् आदेश हो जाता है । बाध के प्रवृत्त होने पर यदि उत्सर्ग की प्राप्ति हो वह भी हो जाया करता है । अतः यहां आम् में ङि बुद्धि करके याट् आदि हो जाते हैं । यदि उत्सर्ग की प्राप्ति न हो तो वह प्रवृत्त नहीं होता—जैसे पच् अ+या+त् में 'यास्' को 'इय्' आदेश होने पर (पच+इय्+त्=पच+इ+त्) **अतो दीर्घो यञि** (७।३।१०१) से दीर्घ की प्राप्ति नहीं रहती ।।५७।।

अपवाद की प्रवृत्ति के पश्चात् भी क्वचित् उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है यह जो यहां कहा गया है उसे आधुनिक वैयाकरण परिभाषारूप में इस प्रकार पढ़ते हैं—

क्वचिदपवादविषयेऽप्युत्सर्गोऽभिनिविशते ।। (५८)

अर्थ—कहीं अपवाद के विषय में भी उत्सर्ग प्रवेश कर जाता है । अर्थात् अपवाद की प्रवृत्ति के पश्चात् भी उत्सर्ग की प्रवृत्ति देखी जाती है । **'अभिनिविशते'** में **नेर्विशः** (१।३।१७) से आत्मनेपद हुआ है । **अभिनिविशश्च** (१।४।४७) से अधिकरण की कर्मसंज्ञा होने से 'अपवादविषयम्' ऐसा कहना चाहिये था । ठीक है, पर या या संज्ञा यस्मिन्यस्मिन्संज्ञिन्यभिनिविशते इस भाष्य-प्रयोग-प्रामाण्य से अथवा **परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्** (१।४।४४) से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति कर ली जायगी और व्यवस्थित विभाषा मान ली जायगी, जिससे 'अपवाद विषये' यह भी साधु होगा । परिभाषा में अपवाद शब्द बाधक-परक है ।

अपवाद दो प्रकार का होता है—एक वह जो विध्यन्तर को बिना बाधे अनवकाश रहता है और दूसरा, जो उत्सर्ग की प्रवृत्ति के साथ अथवा तदुत्तर भी चरितार्थ होकर उत्सर्ग को बाधता है । यहां हम ऐसा कह सकते हैं कि अपवाद शास्त्र अपवाद होने से बाधता है और पहले प्रकार के विषय में कह सकते हैं कि अपवाद अनवकाश होने से बाधता है । अपवाद-विधि उत्सर्ग-विधि को अत्यन्ताय बाध लेती है, अनवकाश अपवाद उत्सर्ग को इतना ही

बाधता है कि उत्सर्ग की प्रवृत्ति से पूर्व प्रवृत्त होता है और इस की प्रवृत्ति के पीछे यदि उत्सर्ग की प्रवृत्ति का संभव हो, तो वह भी प्रवृत्त हो जाता है।

अपवाद और अनवकाश अपवाद के इस भेद में **गुणो यङ्लुकोः** (७।४।८२) सूत्र का भाष्यग्रन्थ विनिगमक है। वहां **अभ्यासविकारेष्वपवादा उत्सर्गान्न बाधन्ते,** अर्थात् अपवाद उत्सर्गों के बाधक नहीं होते जब दोनों अभ्यास के विकारों (ह्रस्व, दीर्घ, गुण, हलादि शेष आदि) का विधान करते हैं, यह परिभाषा पढ़ी है। इस परिभाषा की प्रवृत्ति का उदाहरण 'अजीगणत्' दिया है। यहां भाष्यकार कहते हैं—'**ई च गणः** (७।४।९७) जो गण्-रूप अभ्यास के अन्त्य ण् को 'ई' आदेश विधान करता है, **अपवाद होने से हलादिः शेषः** (७।४।६०) को जो ण् का लोप (अन्त्य हल् का लोप) विधान करता है, बाधता है, ऐसा नहीं। किन्तु इसलिये कि 'ई च गणः' अनवकाश है, इसकी प्रवृत्ति के लिये कोई अवकाश (अवसर) ही नहीं होगा यदि यह हलादि शेष को न बाधे। **'ई च गणः' का अर्थ है**—अभ्यास-रूप गण् के अन्त्य 'ण्' को 'ई' आदेश होता है, पर यदि 'हलादिःशेषः' के द्वारा ण् की निवृत्ति हो जाय, तो वह (ई च गणः) अनवकाश हो जायगा। पर यदि हम ण् के स्थान में 'ई' आदेश पहले करते हैं, तो हलादिः शेष की प्रवृत्ति का कोई अवसर नहीं रहता, कारण कि उस अवस्था में अन्त्य हल् नहीं रहता। अतः परिभाषा (५७) के अनुसार (उत्सर्ग की प्रवृत्ति के साथ अथवा तदुत्तर अपवाद की प्रवृत्ति न हो सकने से) ई च गणः हलादिः शेषः का अपवाद नहीं हो सकता।

अपवादत्व अनवकाशत्व—यह एक पदार्थ नहीं। इसीलिये अभ्यास-विकारेषु—(अभ्यास-विकार-विधियों का परस्पर बाध्य-बाधक-भाव नहीं होता) इस परिभाषा से अजीगणत् की सिद्धि भाष्य में की गई है। ऐसी व्यवस्था को मानने से पहले हलादिः शेषः से गण् के ण् का लोप हो जाता है पश्चात् 'ई च गणः से' शिष्ट 'ग' के 'अ' को 'ई' आदेश होता है। ऐसा करने से ही ईत्वविधायक सूत्र सार्थक रहता है।

यदि कहो **येन नाप्राप्ति-न्याय** से 'ई च गणः' 'हलादिः शेषः' का अपवाद माना जा सकता है (क्योंकि हलादिः शेषः की प्राप्ति होने पर ही इसका आरम्भ हुआ है), तो यह ठीक नहीं। परिभाषा (५७) के अनुसार उत्सर्ग की प्रवृत्ति के पश्चात् भी अपवाद की प्रवृत्ति हो सके (और वह प्रवृत्त होकर उत्सर्ग को बाधे) तो वह अपवाद होता है, ई च गणः ऐसा है नहीं, अतः अपवाद नहीं।

यह अपवाद का लक्षण भाष्यकार को भी अभिमत है इसका संकेत **इको झल्** (१।२।९) सूत्र के भाष्य में मिलता है। वहां यह शङ्का की है कि इको झल् सूत्र मत हो, चिचीषति (चि+चि+स+अ+ति) की सिद्धि में **अज्झन-गमां सनि** (६।४।१६) से धातु को दीर्घ प्राप्त होता है और **सार्वधातुकार्ध-धातुकयोः** (७।३।८४) से गुण। दीर्घ पहले होता है, कारण कि गुण करने के पश्चात् यदि दीर्घ हो तो उसका कोई फल नहीं होगा (गुण 'ए' दीर्घ ही होगा) और इसलिये भी कि दीर्घ के लिये कोई अवकाश नहीं होगा, यदि यह गुण को न बाधे। अतः अनवकाश होने से दीर्घ गुण को बाधता है। दीर्घ होने से 'चिचीषति' रूप सिद्ध हो जायगा। पर दीर्घ होने के पीछे गुण हो सकता है, उसके रोकने के लिये **इको झल्** (१।२।९) जो झलादि सन् को कित्त्व विधान करता है, आवश्यक है। दीर्घोत्तर यदि गुण हो जाय तो अजन्त को दीर्घ-विधान व्यर्थ हो जाय, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये। दीर्घाभाव में ह्रस्वान्त 'मि' धातु का सन् परे सनि मीमा—सूत्र में 'मी'—ग्रहण से ग्रहण न होने से 'मित्सति' रूप की असिद्धि रहेगी, अतः दीर्घ विधान सार्थक रहता है। भाष्य में अनवकाशत्व के हेतु दीर्घ द्वारा गुण का बाध कहा है और दीर्घोत्तर गुण को संभव कहा है। दीर्घ को (परिभाषा ५७) के अनुसार **अपवाद मानने पर** तो उसके विषय में उत्सर्ग (गुण) की प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती थी, तो सूत्र और भाष्य दोनों असंगत हो जाते।

जो **काञ्चनी वासयष्टिः** इत्यादि में अपवाद सूत्र **नित्यं वृद्धशरादिभ्यः** (४।३।१४४) से विहित मयट् के विषय में **क्वचिदपवादविषयेपि**—इस न्याय से अण् (प्राग्दीव्यतीय अण्) उत्सर्ग की 'प्रवृत्ति' मानते हैं वे भ्रान्त हैं। ऐसा मानने से **अण् कर्मणि च** (३।३।१२) सूत्र के भाष्य के साथ विरोध पड़ता है। वहाँ यह कहा है कि कर्मण्यण् (३।२।१) से सामान्य-विहित अण् यदि क्रियार्था-क्रिया के उपपद होने पर भी हो जाता, तो इस सूत्र में पुनः अण् क्यों पढ़ा है? इसका उत्तर यह दिया है कि अपवाद विषय में भी अण् की **अनिवृत्ति** रहे, अर्थात् अपवाद 'क' से बाधित न हो, जैसे 'गोदायो व्रजति' में 'क' अप-वाद के विषय में अण् हुआ है। यदि प्रकृत न्याय होता तो इसी से उत्सर्ग की प्रवृत्ति कहते और **'अणः पुनर्वचनं क्रियतेऽपवादविषयेऽनिवृत्तिर्यथा स्यात्'** ऐसा यत्न क्यों करते।

काञ्चनी वासयष्टिः में 'काञ्चनी' की सिद्धि कैसे होगी? 'काञ्चन' से निर्मित अर्थ में शैषिक अण् (शेषे इस विधि सूत्र से) समझना चाहिये।

येन नाऽप्राप्ते—इस परिभाषा के विषय में यह जानना आवश्यक है—यदि 'येन' पद का अर्थ 'स्वेतरेण=अपवाद से इतर (भिन्न) द्वारा' है, तो स्वविषय में (अपवाद के विषय में) जो-जो अपवाद से भिन्न प्राप्त होता है, उसे अपवाद ने बाधना है, कारण कि अपवाद का ऐसा कोई विषय नहीं है, जहां किसी दूसरी विधि की प्राप्ति न हो। (**अन्यो विधिः=विध्यन्तरम्, अप्राप्तं विध्यन्तरं यत्र सोऽप्राप्तविध्यन्तरो विषयः**, आहिताग्नि होने से निष्ठा का पर निपात)। इसे ही **बाध्य-सामान्य-चिन्ता** कहते हैं (जो भी बाध्य हो उस सबका चिन्तन)। जहां अनवकाशत्वेन बाधकता हो वहाँ भी बाध्य सामान्य चिन्ता का विषय है, यदि उदाहरण मिल जाय), कारण कि यह बाध्य सामान्य चिन्ता परिभाषा (५७) द्वारा **तत्प्रवृत्त्युत्तरं चारितार्थ्येऽपि**—इस प्रकार निरूपित अपवाद के विषय में ही होती है इसमें कोई विनिगमना नहीं। **जब 'येन' से विधि (=विधायक शास्त्र) अथवा कार्य लिया जाता है तो हमें यह विचार करना होता है कि किस विशेष विधि अथवा कार्य का बाध करना चाहिये—इसे बाध्य-विशेष-चिन्ता कहते हैं।** यदि उदाहरण मिल सके तो अनवकाशत्वेन बाध होने पर भी किस विशेष विधि वा कार्य को बाधने से विधिशास्त्र सार्थक रहता है यह चिन्ता होती है ॥५८॥

सीरदेवीय—

काञ्चनी वासयष्टिः यहां **नित्यं वृद्धशरादिभ्यः** (४।३।१४४) से मयट् के विषय में **अनुदात्तादेश्च** (४।३।१४०) से अञ् हो जाता है। प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली—यहां अत इञ् (४।१।९५) के विषय में प्राग्दीव्यतोऽण् (४।१।८३) से अण् हो जाता है।

समर्थानां प्रथमाद्वा (४।१।८२) इससे 'वा' की अनुवृत्ति आने पर इञ् के अभाव पक्ष में तस्यापत्यम् (४।१।९२) से अण् होकर 'दाशरथाय' यह सिद्ध हो जायगा, ऐसा मानना अयुक्त है। **जहां उत्सर्ग विभाषा (विकल्प से) होता है और अपवाद भी विभाषा होता है, वहां अपवाद से छोड़े हुए विषय में उत्सर्ग की प्रवृत्ति नहीं होती। इसमें पीलाया वा** (४।१।११८) सूत्र ज्ञापक है ॥५८॥

येन नाप्राप्ते—यहां 'येन' के तीन अर्थों में से जब 'कार्येण' अर्थ लिया जाता है और जब यह निर्धारित हो जाता है कि जहां-जहां पररूप विधान किया है वहीं **एत्येधत्यूठ्सु** (६।१।८९) से वृद्धि विधान की है, सो वृद्धि अन-

वकाश होने से पररूप को बाधेगी । प्रश्न यह है—किस-किस शास्त्र-विशेष से विहित पररूप को यह वृद्धि बाधेगी । उत्तर में परिभाषा पढ़ते हैं—

पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन्बाधन्ते नोत्तरान् । (५६)

अर्थ—पहले पढ़े हुए अपवाद शास्त्र अनन्तर (अव्यवहित उत्तर) पढ़े हुए (अपवाद-बाध्य-विषयक) विधि शास्त्रों को ही बाधते हैं, उससे अगले शास्त्रों को नहीं। इस न्याय की उपपत्ति यह है—जब एक शास्त्र को अपनी चरितार्थता के लिए अपने से दूसरे को अवश्य बाधना है, तो जो शास्त्र अत्यन्त निकट होने से पूर्व उपस्थित होगा उसे बाधकर वह चरितार्थ हो जायगा, तो उससे अगले शास्त्र को नहीं बाधेगा । उसे बाध्य की आकाङ्क्षा ही नहीं रहती । अपवाद शास्त्र के इस प्रकार चरितार्थ हो जाने पर **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** से पर (उत्तरशास्त्र) क्यों न प्रवृत्त हो ॥५६॥

जब यह निश्चित हो जाता कि **नासिकोदरौष्ठ-जङ्घा-दन्तकर्णशृङ्गाच्च** (४।१।५५) सूत्र ओष्ठ आदि अंश में जो-जो ङीष् निषेध विधान किया गया है, उस सबका बाधक है, तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि किस-किस शास्त्र-विशेष से विहित ङीष्-निषेध का वह बाधक है। इसके उत्तर के रूप में परिभाषा पढ़ते हैं—

मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् । (६०)

अर्थ स्पष्ट है । सूत्र में ओष्ठ आदि पाँच के विषय में **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्** (४।१।५४) में संयोगोपध (बहुव्रीहि) के विषय में जो ङीष् का निषेध विधान किया है, उसी का बाध होता है, आगे पढ़े हुए **सहनञ्-विद्यमानपूर्वाच्च** (४।१।५७) से निषिद्ध ङीष् का बाध नहीं होता। यद्यपि परिभाषा (५७) से **नासिकोदर**—(यह) (४।१।५५) तथा (४।१।५७) दोनों का अपवाद है । इस प्रकृत न्याय में भी पूर्वोपस्थित के बाध से निराकाङ्क्षता बाध्यान्तर आकाङ्क्षाऽभाव ही बीज है ॥६०॥

सीरदेवीय—

जैसे—**कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु** (३।२।२०)—यह पूर्व अण् (कर्मण्यण्) को बाधता है । विद्या **यशस्करी** । पर ताच्छीलिक णिनि को नहीं । **श्राद्धकारी** । इसी प्रकार **इणो यण्** (६।४।८१) पूर्व इयङ् (अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ) को बाधता है, पर वृद्धि व गुण को नहीं—**आयकम्** । **अयनम्** ।

इस परिभाषा में **बहुव्रीहेरूधसो ङीष्** (४।१।२५) ङीष् को स्वरित करना ज्ञापक है। स्वरितत्व के बल पर **अन उपधा-लोपिनोऽन्यतरस्याम्** (४।१।२८) में ङीष् की अनुवृत्ति है जिससे पर विधि 'अन उपधा-लोपिनः'—को बाधकर 'बहुव्रीहेरूधसो ङीष्'—यह शास्त्र प्रवृत्त होता है। घटोध्नी। अन्यथा ङीष् 'मध्येऽपवाद' होने से पूर्व डाप्, तथा प्रतिषेध का ही बाधक होगा। ङीष्, ङीप् का स्वर में भेद है। ङीप् अनुदात्त है। जैसे कहा गया है—शब्द का तीन तरह से भेद होता है—रूप से, अर्थ से, स्वर से ।।६०।।

अब यहाँ यह शङ्का होती है—**वा च्छन्दसि** (३।४।८८) जैसे **सेह्र्यंपिच्च** (३।४।८७) इस अनन्तरोक्त अपित्व का विकल्प करता है, वैसे ही सिप्स्थानिक 'हि' का भी विकल्प क्यों न करे? तथा **'नेटि'** (७।२।४) जैसे अनन्तरोक्त हलन्त-लक्षणा वृद्धि (**वदव्रजहलन्तस्याचः**' से विहित वृद्धि) का प्रतिषेध करता है वैसे ही **सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु** (७।२।१) का तथा **मृजेर्वृद्धिः** (७।२।११४) से विहित वृद्धि का निषेध क्यों नहीं करता? इसका उत्तर पढ़ते हैं—

अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा। (६१)

अर्थ—विधि और प्रतिषेध अनन्तर (अव्यवहित पूर्व व पर) को ही होते हैं। वा शब्द यहाँ समुच्चय अर्थ में है। 'वा विकल्पसमुच्चययोः'। **यह परिभाषा भी प्रत्यासत्तिन्यायमूलक ही है।** इस परिभाषा के होने से ही **संख्याव्ययादेर्ङीप्** (४।१।२६) में ङीप् ग्रहण चरितार्थ है। वह **बहुव्रीहेरूधसो ङीष्** (४।१।२५) इस अनन्तरोक्त ङीष्-विधि के प्रतिषेध के लिये किया है। यदि यहाँ ङीप् न पढ़ते तो इस परिभाषा से **बहुव्रीहेः**—सूत्र में पठित ङीष् के इस सूत्र के प्रत्यासन्न (समीप) होने से संख्याऽव्ययादि ऊधः शब्दान्त बहुव्रीहि से ङीष् हो जाता। **न क्तिचि** (६।४।३९) सूत्र में दीर्घग्रहण चरितार्थ है। वह **अनुदात्तोपदेश**—(६।४।३७) इस अनन्तरोक्त न-लोप के निषेध के लिये ही नहीं किया गया है। इसलिए भी किया है कि यह सूत्र (६।४।३९) व्यवहित उत्तर **अनुनासिकस्य क्वि-झलोः** (६।४।१५) से विहित दीर्घ को भी बाधे।

मध्येऽपवाद आदि न्यायों की अपेक्षा प्रकृत न्याय प्रबल है यह **अष्टाभ्य औश्** (७।१।२१) के प्रदीप में स्पष्ट है।

लक्ष्य के अनुरोध से भी व्यवस्था की जाती है—यह भी एक पक्ष है। कभी-कभी स्वरितत्व प्रतिज्ञा से भी (सूत्र के किसी एकदेश पर स्वरित कर दिया जाता है ताकि उसकी अनुवृत्ति उत्तरत्र हो) इस न्याय का बाध हो

जाता है । जैसे टिड्ढाणञ्—(४।१।१५) से ङीप् का विधान होता है, यद्यपि ङीप् विधायक शास्त्र ऋन्नेभ्यो ङीप् (४।१।५) डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम् (४।१।१३) से व्यवहित है । न षट्-स्वस्रादिभ्यः (४।१।१०) से केवल अनन्तर विहित टाप् (टावृचि ४।१।६) का ही प्रतिषेध नहीं होता, व्यवहित पूर्व ऋन्नेभ्यो ङीप् (४।१।५) का भी ।

यह परिभाषा शि सर्वनामस्थानम् (१।१।४२) सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है ॥६१॥

सीरदेवीय—

विधि अथवा प्रतिषेध अनन्तर (अव्यवहित) को होता है । **वा च्छन्दसि** (३।४।८८) यह अनन्तर-विहित अपित्व **सेह्यर्पिच्च** (३।४।८७) का विकल्प करता है, व्यवहित 'हि' आदेश का नहीं —युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः । (ऋ० १।१६६।१) **नेटि** (७।२।४)—यह अनन्तर (अव्यवहित) पूर्व सूत्र **वदव्रजहलन्तस्याचः** (७।२।३) से विहित वृद्धि का प्रतिषेध करता है । अदेवीत् । **सिचि वृद्धिः** (७।२।१) व्यवहितपूर्व अथवा **मृजेर्वृद्धिः** (७।२।११४) व्यवहित पर होने से इनका नहीं—अनैषीत् । अलावीत् । अकार्षीत् । अहार्षीत् । अमार्जीत् । **इसमें ज्ञापक कहते हैं—संख्याव्ययादेर्ङीप्** (४।१।२६) । इस सूत्र में ङीप् विधान ज्ञापक है । अनुवृत्त ङीप् **बहुव्रीहेरूधसो ङीष्** (४।१।२५) इस ङीष्-विधान से व्यवहित हो गया है, अतः पुनः विधान किया है । यदि न करते तो प्रत्याक्षन्न ङीष् यहाँ भी हो जाता । प्रतिषेध भी अनन्तर का ही होता है । **न क्तिचि दीर्घश्च** (६।४।३९) इसमें दीर्घ ग्रहण ज्ञापक है । यह सूत्र न-लोप तथा दीर्घ का निषेध करता है । यदि दीर्घ का निषेध न किया जाता इस परिभाषा के होने पर 'यन्ति' 'सन्ति' 'तन्ति' में अनन्तर सूत्र **अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम्**—(६।४।३७) से विहित अनुनासिक-लोप का ही निषेध होता, व्यवहित सूत्र **अनुनासिकस्य क्विझलोः** (६।४।१५) से विहित उपधा दीर्घ का नहीं । उसका भी निषेध हो इसलिये सूत्र में दीर्घ ग्रहण किया है ॥६१॥

अब यहाँ यह शङ्का होती है—दधति इत्यादि में अन्तरङ्ग होने से झ् के स्थान में 'अन्त्' आदेश होने पर (धा+झि=धा+अन्ति) 'झ्' के स्थान में 'अन्त्' आदेश अल्विधि (अलो विधिः) है, अतः द्विर्वचन होने पर 'दधा अन्ति' इस अवस्था में परे झ् न होने से अदभ्यस्तात् (७।१।४) से झ् को अत् आदेश नहीं हो सकेगा, तो अत् आदेश विधान व्यर्थ हो जायगा । इस शङ्का के शमन के लिए परिभाषा पढ़ते हैं—

पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पश्चादुत्सर्गाः । (६२)

अर्थ— पहले अपवाद बुद्ध्यारूढ़ होते हैं, बुद्धि का विषय बनते हैं, पश्चात् उत्सर्ग । भाव यह है कि पहले यह विचार होता है कि अपवाद का कौन-कौन सा विषय है । जब यह निश्चित हो जाता है कि यह अपवाद का विषय नहीं, तब उस विषय में उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है, एवं पश्चात् बुद्धि-विषय-भूत उत्सर्ग लक्ष्य का संस्कार करता है ।

नागेशभट्ट इस परिभाषा का ऐसा अर्थ करता है—जो पुरुष **लक्षणैक-चक्षुष्क** है, (**लक्षणं शास्त्रमेव एकं चक्षुर्यस्य सः**), जो लक्षण द्वारा ही शब्द के साधुत्व को जानता है, वह पहले अपवाद-विषय का पर्यालोचन करता है, जब उसे यह निश्चय हो जाता है कि यह लक्ष्य अपवाद का विषय नहीं, तो उस लक्ष्य को उत्सर्गशास्त्र की प्रवृत्ति से साधता है । अन्यथा दोनों उत्सर्ग और अपवाद शास्त्रों के तुल्य-प्रमाण होने से क्रमिक प्राप्ति का प्रसङ्ग होगा । **अपवादो यद्यन्यत्र चरितार्थः** (परि० ६५) 'दधति' आदि के विषय में लागू नहीं होती, कारण कि अपवाद **अदभ्यस्तात्** (७।१।४) का ऐसा कोई विषय नहीं जहाँ (७।१।३) की प्राप्ति न हो ।

पर जो लक्ष्यैकचक्षुष्क हैं, जो लक्षण के बिना लक्ष्य-साधुत्व को जानता है, वह अपवाद विषय का विचार किये बिना, उन सब लक्ष्यों की साधना उत्सर्गशास्त्र से करता है, जो अपवाद विषय के अन्तर्गत नहीं हैं, क्योंकि उसे भी शास्त्रप्रक्रिया-ज्ञान-पूर्वक शब्द-प्रयोग से धर्म-लाभ होता है ॥६२॥

इसे ही दूसरे शब्दों में परिभाषाकार ऐसे पढ़ता है—

प्रकल्प्य वाऽपवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते । (६३)

अर्थ—**प्रकल्प्य**=परित्यज्य । अथवा हम ऐसा कह सकते हैं कि अपवाद शास्त्रपर्यालोचन से पहले ही उत्सर्गशास्त्र बुद्ध्यारूढ हो जाता है, अर्थात् देवदत्त आदि संस्कर्ता अपवाद शास्त्र विषय को स्वयम् छोड़कर उत्सर्ग द्वारा लक्ष्य का संस्कार (साधना) करता है । पहले ही अपवाद विषय से भिन्न-विषयक उत्सर्ग का निर्णय कर लेता है ।

पूर्व मत और इस मत में यह विशेष (भेद) है—पूर्व मत में सर्वत्र प्राप्त उत्सर्ग की विषय-विशेष में बुद्ध्यारूढ हुए अपवाद से निवृत्ति होती है, इस मत के अनुसार पहले ही ॥६३॥

अतएव **प्रातिपदिकार्थ सूत्र** (२।३।४६) के भाष्य में इन दोनों परिभाषाओं

को पढ़कर ऐसा कहा गया है कि उत्सर्ग शास्त्र सहसा प्रवृत्त नहीं होता, किन्तु अपवाद की प्रतीक्षा करता है। इस वचन पर आधृत परिभाषा आधुनिक वैयाकरण पढ़ते हैं—

उपसञ्जनिष्यमाण-निमित्तोऽप्यपवाद उपसञ्जातनिमित्तमप्युत्सर्गं बाधते इति। (६४)

अर्थ—वह अपवाद जिसका निमित्त अभी उत्पन्न होने वाला है, उस उत्सर्ग को भी बाधता है जिसका निमित्त पहले उत्पन्न हो चुका है। भाव यह है—जहाँ उत्सर्ग शास्त्र की अप्रवृत्ति की संभावना के कारण अपवाद की प्रवृत्ति की सम्भावना हो वहाँ पूर्व उत्सर्ग की प्रवृत्ति नहीं होती। इस न्याय से भविष्यत् अपवाद विषय को छोड़कर शेष में उत्सर्ग शास्त्र की प्रवृत्ति संकुचित हो जाती है, इसलिये 'दधति' यहाँ भविष्यत् अपवाद विषय होने से '**झोऽन्तः**' की प्रवृत्ति नहीं होती।

जहाँ कहीं उत्सर्ग व अपवाद की एकसाथ (समकाल) प्राप्ति हो वहाँ यह न्याय नहीं प्रवृत्त होता ऐसा भी मत है। अतएव गविष्ठिरः (गवि स्थिरः) —यहाँ 'गवि' इस वचन से (**गवियुधिभ्यां स्थिरः** ८।३।९५ इस सूत्र में 'गवि' इस पाठ से) सप्तमी अलुक् जानना चाहिये यह भाष्य वचन संगत होता है। अन्यथा 'गो इ' इस अवस्था में यदि लुक् न हो तो अवादेश होने पर हलन्त से परे होने पर **हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्** (६।३।९) से सप्तमी का अलुक् हो जायगा इस सम्भावना के होने पर पूर्व अलुक् की सिद्धि होने से 'गवि' इस वचन से अलुक् होता है यह भाष्य कथन असंगत हो जायगा।

इस नूतन-कल्पित न्याय के मूलभूत **प्रकल्प्य वापवादविषयमुत्सर्गः प्रवर्तते** इस न्याय के विषय में अधिक विचार प्रस्तुत किया जाता है—

अभ्यस्तसंज्ञासूत्र (**उभे अभ्यस्तम्** ६।१।५) के प्रदीप में कैयट ने प्रकल्प्य वा इस प्रतीक को धरकर जो यह कहा है 'जैसे **न सम्प्रसारणे** इस सूत्र से परयण् को पहले सम्प्रसारण होता है, पूर्वयण् को उस सम्प्रसारण के निमित्त से (उसके हो जाने पर) सम्प्रसारण-निषेध रहता है, वह परिभाषा में पढ़े हुए 'तत उत्सर्गः' इत्यादि पदों के अनुकूल नहीं। उत्तरकालिकत्व की प्रतीति तो प्रकल्प्य (ल्यबन्त) से ही सिद्ध है।

अपवाद वाक्यार्थ के बुद्धिस्थ हुए बिना उत्सर्ग वाक्यार्थ का बोध नहीं

होता—ऐसा इस परिभाषा का अर्थ है, यह कहना उचित नहीं। ऐसा मानने से 'अभिनिविशन्ते, अपवाद विषयम्' इत्यादि पदों के उचितार्थ का परित्याग मानना पड़ेगा। इस व्याख्यान में लक्ष्य-ज्ञान की अनपेक्षा होने से लक्ष्य-बोधक 'अपवाद विषय' शब्द का उपादान कुछ अर्थ न रखेगा। किंच। पर जन्य-पदार्थ की उपस्थिति होने पर वाक्यार्थ का बोध न हो इसमें कोई कारण प्रतीत नहीं होता। जहां अपवाद का निषेध कहा है वहाँ अपवाद के निषेधा-भाव में जो उसका विषय होता है, वहाँ उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती ही है। वृक्ष+औ—यहाँ **वृद्धिरेचि** (६।१।८८) सामान्य शास्त्र (उत्सर्गशास्त्र) से वृद्धि एकादेश होता है। **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** (६।१।१०२) अपवाद शास्त्र इसे बाधता नहीं, कारण कि इसका अपना बाध (निषेध) **नादिचि** (६।१।१०४) से हो चुका है। इसी कारण **तौ सत्** (३।२।१२७) इत्यादि में **'तौ'** निर्देश साधु होता है (जहाँ उत्सर्ग अपवाद के विषय में अपवाद का निषेध होने पर पुनः प्रवृत्त होता है)। यही निर्देश ज्ञापित करता है कि व्याकरण शास्त्र में **भ्रष्टावसर न्याय (यस्यावसरो भ्रष्टस्तन्न)** लागू नहीं होता। यदि होता तो वृद्धि के पूर्वसवर्णदीर्घ से एकबार बाधित होने पर पुनः प्रवृत्ति न होती, जिससे 'तौ' रूप सिद्ध न होता। यह बात **इको गुण वृद्धी** (१।१।३) सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। वहाँ **सिचि वृद्धिः** (७।२।१) का हलन्तलक्षणा वृद्धि (**वदव्रज-हलन्तस्याचः** ७।२।३) से बाध कहा है और इसका **नेटि** (७।२।४) से बाध होता है। यहाँ भाष्यकार कहते हैं कि 'नेटि' न केवल हलन्तलक्षणा वृद्धि को बाधता है, सिचि वृद्धि को भी। यदि भ्रष्टावसर न्याय व्याकरण शास्त्र में प्रवृत्त होता तो सिचि वृद्धि का हलन्तलक्षणा वृद्धि से एकबार बाघ सदा के लिए बाध हो जाता, 'नेटि' से उसके बाध की अपेक्षा ही न होती। यह शङ्का कि निषिद्ध अपवाद के विषय में उत्सर्ग की प्रवृत्ति मानने से **देवदत्त हन्तृहत-न्याय** से विरोध आता है अज्ञानमूलक है। इस न्याय का यह विषय नहीं। देवदत्त को मारने वाले के मारे जाने पर देवदत्त का उन्मज्जन (पुनः जी उठना) नहीं होता, पर वह जीवित-संशय से अवश्य बच निकलता है जब उसके प्राणहरण की चेष्टा करने वाले का हनन हो जाता है। प्रकृत में भी पूर्वसवर्णदीर्घ (औत्सर्गिक) वृद्धि का हनन (परि-समाप्ति) नहीं करता किन्तु केवल प्रसक्त होता है जो हननोद्यम के सदृश कर्म है, जो वृद्धि को परिसमाप्त करने की चेष्टा-मात्र है। **'नादिचि'** भी इस प्रसक्त (न कि वस्तुतः प्रवृत्त हुए) पूर्व सवर्ण-दीर्घ का निषेध करता है।

प्रतिपद विधि भी (सूत्र में पढ़े हुए पदविशेष को उद्देश्य कर कार्य विधान करती हैं) केवल प्रतिपदविधि होने से बाधक नहीं होती, किन्तु तभी बाधक होती है जब वह अनवकाश हो। **शेषाद् विभाषा** (५।४।१५४) सूत्र के भाष्य में पहले शङ्का की है कि 'शेष' ग्रहण व्यर्थ है, क्योंकि सूत्रों में उपात्त एक-एक पद को उद्देश्य करके जो समासान्त प्रत्यय विधान किये हैं, वे शेषात् के बिना भी (५।४।१५४) से विहित कप् के बाधक होंगे। इस का पीछे ऐसे समाधान किया है कि प्रतिपदविधियां भी अनवकाश होने पर बाधक होती हैं। समासान्त विधियां (५।४।१५४) से विहित वैकल्पिक कप् के अभाव में सावकाश हैं।

कहीं-कहीं अनवकाश न होने पर भी प्रतिपद विधि सबल होती है। इसकी सबलता इसी में है कि बुद्धि में शीघ्रतर उपस्थित होने से **पर नित्य** आदि की युगपत् प्राप्ति होने पर यह (प्रतिपद विधि) पूर्व प्रवृत्त होती है। इसमें कैयट का—**परनित्यान्तरङ्ग-प्रतिपद-विधयो विरोधिसन्निपाते तेषां मिथः प्रसक्तौ परबलीयस्त्वम्**—यह प्रत्ययोत्तरपदयोश्च (७।२।९८) में पढ़ा हुआ वचन प्रमाण है। **विरोधिसन्निपाते = विरोधिनोः शास्त्रयोः सन्निपात एकत्र लक्ष्ये युगपत्प्राप्तौ** परादिक्रमेण ते भवन्ति इति शेषः।

निरवकाशत्व के अभाव में भी प्रतिपदविधि बाधक होती है, इस कारण रमा+सु (सम्बुद्धि सु) में प्रथम **सम्बुद्धौ च** (७।३।१०६) जो प्रतिपद विधि है (सम्बुद्धिपद को उच्चारण करके कार्य विधान होने से) रमा के आ (आप्) को 'ए' होता है, **हल्ङ्याब्भ्यः** (६।१।६८) से अपृक्त हल् स् का लोप प्रथम नहीं। एत्व होने के पश्चात् सूत्र में पठित आप् में 'आ' का प्रश्लेष होने से (आप् = आ आप्) आकार-रूप आप् से परे स् का लोप विधान किया है, उसको 'ए' हो जाने से स्-लोप की प्राप्ति नहीं रहती। सो **एङ्-ह्रस्वात् सम्बुद्धेः** (६।१।६९) से स्-लोप किया जाता है ॥६४॥

सीरदेवीय—

धा+झि। यहां धा अङ्ग को आश्रित करके झि के अवयव झ् को 'अन्त्' आदेश प्राप्त होता है, जो अपर-निमित्तक होने से अन्तरङ्ग है। द्विर्वचन होने पर धातु के अभ्यस्त हो जाने पर **अदभ्यस्तात्** (७।१।४) से 'झि' के अवयव झ् को अत् आदेश होता है। यह 'झोऽन्तः' का अपवाद है। इसका निमित्त द्विर्वचन के पीछे उत्पन्न होता है, तो भी यह अपवाद पूर्वोत्पन्न-निमित्तक उत्सर्ग झोऽन्तः को बाधता है।

इस परिभाषा का शीङः सार्वधातुके गुणः (७।४।२१) में 'एकार' विधान न करके जो गुण विधान किया है, यह ज्ञापक है। इसका प्रयोजन यह है कि गुण के श्रवण से इक् परिभाषा (इको गुणवृद्धी) के उपस्थित होने से इक् के ही स्थान में गुण हो, अन्यथा शीङ् के ङकार की इत्संज्ञा को बाधकर 'ए' हो जायगा। यदि इत्संज्ञा अन्तरङ्ग है तो ङकार का लोप होने पर 'ई' के स्थान में ही 'ए' होगा। इक् परिभाषा की उपस्थिति की अपेक्षा न होगी, जिससे गुणग्रहण अनर्थक होगा, इसीलिये शीङः सार्वधातुके गुणः इसे हटाकर 'सार्वधातुकमपिदशीङः' ऐसा नहीं पढ़ा। (अर्थ—अपित् सार्वधातुक ङित्-वत् होता है, शीङ् से परे ऐसा नहीं होता)। ऐसा न्यास करने से 'अधिशय्येते' में ङित्व का प्रतिषेध होने से **आतो ङितः** (७।२।८१) से 'इय्' आदेश नहीं होगा ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये। कारण कि 'अशीङः' यह पञ्चमीनिर्देश है। शीङ् से अव्यवहित उत्तर को ङित्व का प्रतिषेध होगा (प्रकृत में अपित् सार्वधातुक 'आते' यक् द्वारा शीङ् से व्यवहित है)।

मैत्रेय रक्षित ऋच्छत्यृताम् (७।४।११) यहां ऋकार के प्रश्लेष को परिभाषा का ज्ञापक मानता है। यदि यह परिभाषा न हो तो 'ऋ अतुस्' इस स्थिति में ऋ को यण् होने पर स्थानिवद्भाव से 'ऋ' को द्विर्वचन होने पर, अभ्यास को अत्, अत आदेः (७।४।७०) से अभ्यास को दीर्घ होने से 'आरतुः', (आरुः भी) सिद्ध हो जायगा। इस परिभाषा के होने पर यण् आदेश नहीं होता (निमित्त के पूर्व विद्यमान होने पर भी), द्विर्वचन होने पर (ऋ ऋ अतुस्) सवर्ण दीर्घ (जिसका निमित्त द्विर्वचन होने पर पीछे उत्पन्न हुआ है) यण् को बाध लेता है। (**इको यणचि उत्सर्ग है और अकः सवर्णे दीर्घः अपवाद है**)। ऋ गतौ—इसके ग्रहण में तो गुण होकर आरतुः आरुः ये सिद्ध होते हैं ॥६४॥

अब यहां यह शङ्का होती है कि अयज इन्द्रम् (अयज् अ इ इन्द्रम्) में जो अ+इ के स्थान में (६।१।८७) से गुण प्राप्त होता है वह अन्तरङ्ग है, पर इ+इ के स्थान में जो **अकः सवर्णे दीर्घः** (६।१।१०१) से सवर्ण दीर्घ एकादेश प्राप्त होता है वह अपवाद है, गुण अन्तरङ्ग को बाधकर अपवाद दीर्घ हो जाना चाहिये। इसके समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

अपवादो यद्यन्यत्र चरितार्थस्तर्ह्यन्तरङ्गेण बाध्यते। (६५)

अर्थ स्पष्ट है। अन्तरङ्ग उत्सर्ग द्वारा अपवाद के बाध में हेतु यही है कि अप-

बाद निरवकाश न होने से (अन्यत्र चरितार्थ होने से) बाधकता-बीज से शून्य हो जाता है। अतः प्रकृत में समानाश्रय (समान-निमित्तक) सवर्ण दीर्घ एका-देश (इ+इ के स्थान में अयज—इ+इन्द्रम् में (अ+इ के स्थान में) अन्तरङ्ग गुण से बाधा जाता है, यद्यपि यण् तथा गुण का सवर्ण दीर्घ अपवाद है। सवर्ण दीर्घ अपवाद अन्यत्र श्री+ईशः=श्रीशः में यण् को और दण्ड+अग्रम् =दण्डाग्रम् में आद् गुणः से गुण को बाधने से चरितार्थ है। सवर्ण-दीर्घ-विधि यण् और गुण-विधि के साथ समानाश्रय भी है। **आश्रय=स्थानी व निमित्त।** जिन वर्णों को मानकर सवर्ण दीर्घ प्राप्त होता है उन्हीं को मानकर यण तथा गुण प्राप्त होते हैं। इस परिभाषा का ऐसा अन्तरङ्ग-विधि विषय है जिसके निमित्त बहिरङ्ग अपवाद की अपेक्षा में उच्चारण-क्रम से पूर्व उप-स्थित होते हैं। जहां स्थानी और निमित्त की एकता होने पर भी पूर्वोपस्थिति-निमित्तक अन्तरङ्गता नहीं, वहां अपवाद ही अन्तरङ्ग को बाधता है।

कैयट ने **च्छ्वोः शूडनुनासिके च** (६।४।१९) में यह कहा है कि 'आगम और आदेश का बाध्य-बाधक भाव नहीं होता, क्योंकि आगम का फल और होता है, आगम आगमी की अङ्गवृद्धि करता है और आदेश स्थानी का अपहार करता है।[1] यही कारण है कि जब हम कहते हैं **ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां कम्बलः कौण्डिन्याय,** ब्राह्मणों को दही दिया जाय, और कुण्डिनगोत्रज ब्राह्मण को कम्बल, तो कम्बल-दान से दधि-दान का बाध नहीं होता। दधिदान तो भोजन-पाकार्थ (ओदन-संस्कारार्थ) है, कम्बल-दान शीत-परित्राण के लिये है।' यह भाष्य-विरुद्ध होने से ग्राह्य नहीं। **दीर्घोऽकितः** (७।४।८३) के भाष्य में नुक् दीर्घत्व का अपवाद है—ऐसा कहा है (दीर्घत्व के प्राप्त होने पर ही नुक्-विधि आरम्भ की गई है) ॥६५॥

अब यहा यह शङ्का होती है कि अजीगणत् (गण्-लुङ्-तिप्) में **ई च गणः** (७।४।९७) से विहित अभ्यास के अन्त्य को ईकारादेश निरवकाश होने के कारण (हलादिः शेष : की प्राप्ति होने पर ही ई च गणः का आरम्भ हुआ है, यदि यह उसे न बाधे तो निरवकाश होकर व्यर्थ हो जाय) हलादिः शेष को बाधेगा, इसके समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

अभ्यासविकारेषु बाध्यबाधकभावो नास्ति। (६६)

---

१. मित्रवदागमः। शत्रुवदादेशः।

अभ्यासविकार—ह्रस्व, दीर्घ, गुण, हलादिशेष आदि अभ्यास में होने वाले विकार। शिष्ट स्पष्ट है।

दीर्घोऽकितः (७।४।८३) में अकित्-ग्रहण इसका ज्ञापक है। अन्यथा (इस परिभाषा के अभाव में) यम् धातु के यङन्त रूप 'यंयम्यते' में अपवाद होने से (दीर्घत्व की प्राप्ति होने पर ही विधान होने से) नुक् दीर्घत्व को बाधकर पूर्व होगा, और नुक् होने पर अभ्यास अजन्त नहीं रहेगा, तो दीर्घ होगा ही नहीं, तब अकित् ग्रहण व्यर्थ रहेगा। व्यर्थ होकर यह प्रकृत परिभाषा को ज्ञापित करता है। अब यदि नुक् करते हैं तो अभ्यास कित् हो जाता है, कित् होने से दीर्घत्व की प्राप्ति नहीं रहती। सो सूत्र में अकित् ग्रहण चरितार्थ हो जाता है। यह परिभाषा यह भी बोधन करती है कि पर, नित्य, अन्तरङ्ग जो पूर्व आदि विधियों की बाधिका कहीं हैं वे अभ्यास-विकारों में बाधक नहीं होतीं। ऐसा मानने से ही 'अचीकरत्' (कृ+णिच्+लुङ्—तिप्) तथा 'मीमांसते' (मान्+सन्+ते) की सिद्धि होती है। यदि **पर** आदि की यहां भी बाधकता मानी जाय तो 'अचीकरत्' में **सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे** (७।४।९३) से विहित अभ्यास को सन्वद्भाव को **पर** शास्त्र होने से **दीर्घो लघोः** (७।४।९४) बाध लेगा और 'मीमांसते' **मान्वधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य** (३।१।६) से विहित दीर्घत्व अन्तरङ्ग होने से **सन्यतः** (७।४।७९) से विहित इत्व का बाधक हो जायगा। सन्प्रत्यय और अभ्यास-दीर्घत्व संनियोगशिष्ट हैं अतः अभ्यास-दीर्घत्व अन्तरङ्ग है। इत्व बहिरङ्ग है **पर** सन् प्रत्यय का अपेक्षी होने से।

पर जब कैयट (६।४।१२०) के विवरण में यह कहता है कि यह परिभाषा वहीं प्रवृत्त होती है कि जहाँ उत्सर्ग की प्रवृत्ति के पश्चात् अपवाद की प्रवृत्ति संभव है और अपवाद की प्रवृत्ति के पश्चात् उत्सर्ग की प्रवृत्ति संभव है,[1] तब वह असाधुदर्शी है ऐसा कहना पड़ता है, कारण कि (उदाहरण के लिये) 'यंयम्यते' में नुक् आगम होने पर अभ्यास-दीर्घ नहीं हो सकेगा, **धर्मिग्राहक मान**=परिभाषा के साधक प्रमाण (दीर्घोऽकितः सूत्र में अकित् ग्रहण) के साथ विरोध भी होगा। कैयट का यह कथन (७।४।८२) सूत्र के भाष्य में दिये इस परिभाषा के उदाहरण **मीमांसते** (जिसमें इत्व होकर दीर्घ

---

१. यथा **नर्नर्ति** में उरत् (७।४।६६) की प्रवृत्ति होने पर रुक्, रीक् आगम प्राप्त होते हैं और रुक् आदि की प्राप्ति होने पर उरत् की प्राप्ति होती है।

हुआ है) के भी विरुद्ध है, कारण कि मान्बधदान्शान्भ्यः (सूत्र) से दीर्घ हो जाने के पश्चात् इत्व हो ही नहीं सकता। यदि इस परिभाषा का कैयटाभिमत अर्थ हो तो 'यंयम्यते' आदि की सिद्धि में इसकी प्रवृत्ति नहीं होगी, जिससे सूत्र में अकित्-ग्रहण अत्यन्त निरर्थक रहेगा ॥६६॥

सीरदेवीय—

अभ्याससम्बन्धी विकारों में अपवादत्व, अन्तरङ्गत्व, परत्व आदि हेतुओं से बाधक बाध्य विधियों को नहीं बाधते। अतः 'मीमांसते' यहां **मान्बधदान्-शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य** (३।१।६) से विहित दीर्घ **सन्यतः** (७।४।७९) से विहित इत्व को नहीं बाधता। 'अचिक्षणत्' यहां सन्यतः सूत्र-विहित इत्व सावकाश होने पर भी 'अचीकरत्' यहां **दीर्घो लघोः** (७।४।७९) से बाधित नहीं होता ॥६६॥

अब यहां यह शङ्का होती है कि '**आ क्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु**' (३।२।१३४) इस अधिकार में तृन् प्रत्यय विधान किया है (३।२।१३५)। '**ण्वुल्तृचौ**' (३।१।१३३) से सामान्यतः कर्तरि ण्वुल् तथा तृच् का विधान किया गया है। यह सामान्य विहित ण्वुल् 'तृन्' के अर्थ में भी हो जाय। तृन् ण्वुल् का अपवाद है, अतः तृन् से बाधित हो जायगा—ऐसा कहना भी अप-रीक्षितरमणीय है, कारण कि **वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्** (३।१।९४) से असमानरूप अपवाद उत्सर्ग का विकल्प से बाधक होता है। इसपर परिभाषाकार कहते हैं—

ताच्छीलिकेषु वाऽसरूपविधिर्नास्ति। (६७)

अर्थ—तच्छीलादि अर्थों में विहित अपवाद रूप तृन् आदि प्रत्ययों के विषय में वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् की प्रवृत्ति नहीं होती। अर्थात् तच्छीलादि अर्थों में विहित ये अपवाद रूप प्रत्यय अतच्छीलादि अर्थों में विहित उत्सर्ग-भूत प्रत्ययों को नित्य बाधते हैं।

निन्दहिंसक्लिश—(३।२।१४६) में यगन्त असुञ् को छोड़कर एकाच् धातुओं से वुञ् विधान इस परिभाषा का ज्ञापक है, कारण कि यदि परिभाषा न होती तो सामान्य विहित ण्वुल् से ही निन्दक आदि शब्द सिद्ध हो जाते। न केवल रूप भेद नहीं होता, स्वर भेद भी नहीं होता। एकाच् धातु से चाहे वुञ् हो, चाहे ण्वुल् हो, स्वर में कोई भेद नहीं आता। वुञ् होने पर **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (६।१।१९७) से निन्दक आदि आद्युदात्त रहेंगे और ण्वुल् होने पर **लिति**

(६।१।६३) से प्रत्यय से पूर्व उदात्त होता है, इस तरह से भी निन्दक आदि आद्युदात्त ही होते हैं। अतः ण्वुल् से इष्टरूप सिद्धि होने पर जो वुञ् विधान किया है वह इस बात का ज्ञापक है कि तृच् (ण्वुल् के साथ पढ़ा हुआ) आदि प्रत्यय वाऽसरूप विधि से वुञ् आदि के विषय में नहीं होते। अतः निन्दक (निन्दन-शील) के स्थान में तृच् करके 'निन्दिता' नहीं कह सकते। इस प्रकार हिंसक (हिंसनशील) के स्थान में 'हिंसिता' नहीं कह सकते।

परिभाषा में 'ताच्छीलिकेषु'—यह विषय-सप्तमी है। इससे हम यह जानते हैं कि जो कोई भी ताच्छीलिक प्रत्यय हैं उनके विषय में वाऽसरूप-विधि प्रवृत्त नहीं होती। वे अपवाद रूप असरूप प्रत्यय ताच्छीलिक उत्सर्ग प्रत्ययों को ही नित्य बाधते हैं ऐसा नहीं। अताच्छीलिकों को भी नित्य ही बाधते हैं।

पर यदि ताच्छीलिक प्रत्ययों के विषय में असरूप अपवाद नित्य ही उत्सर्गों को बाधते हैं तो **कम्रा, कमना** ये दो रूप कैसे सिद्ध होते हैं। यहां **नमिकम्पि**—(३।२।१६७) से जो 'र' प्रत्यय विधान किया है वह विशेष-विहित होने से अपवाद है और **अनुदात्तेतश्च हलादेः** (३।२।१४९) से विहित युच् उत्सर्ग है, अपवाद उत्सर्ग के साथ असरूप भी है। तो 'र' प्रत्यय से युच् का नित्य बाध होना चाहिये, तो 'कमना' रूप ही नहीं बनना चाहिये।

पर बनता है, इसलिये कि यह परिभाषा अनित्य है। इसमें **सूददीपदीक्षश्च** (३।२।१५३) सूत्र में जो दीप् से युच् का निषेध किया है यह ज्ञापक है। यदि यह परिभाषा नित्य होती तो **नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः** (३।२।१६७) से विहित 'र' 'अनुदात्तेतश्च' से सामान्य-प्राप्त युच् का नित्य बाध हो जाता, तो युच् के निषेध के लिये (अनुदात्तेत् हलादि) दीप् धातु को सूददीपदीक्षश्च (३।२।१५३) सूत्र में क्यों पढ़ते। चूंकि यह परिभाषा अनित्य है, अतः विकल्प से बाध होगा, नित्य बाध इष्ट है, अतः तदर्थ सूत्र में दीप् का ग्रहण किया है ॥६७॥

सीरदेवीय—

अतः **अलंकृञ्**—(३।२।१३६) से ताच्छीलिक इष्णुच् होकर 'अलंकरिष्णुः' रूप होता है। सामान्यविहित ण्वुल् द्वारा 'अलङ्कारकः' नहीं होता। इस परिभाषा में तृच्-बाधन के लिये **निन्द-हिंस**—(३।२।१४६) से वुञ्-विधान ज्ञापक है। यदि वाऽसरूप विधि द्वारा ण्वुल् आदि ताच्छीलिक प्रत्ययों के विषय में हो जायें, तब ण्वुल्तृचौ (३।१।१३३) से ण्वुल् पर होने पर निन्दकः, हिंसकः सिद्ध

हो जायें, वुञ् विधान व्यर्थ हो जाय। व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि ताच्छीलिक प्रत्ययों के विषय में सामान्यतः विहित अताच्छीलिक तृच् आदि प्रत्यय वाऽसरूपविधि से नहीं होते।

ताच्छीलिक प्रत्ययों में परस्पर भी वाऽसरूप विधि नहीं होती, इसमें **जु-चङ्क्रम्यदन्द्रम्य-सृ-गृधि-ज्वल-शुच-लष-पत-पदः** (३।२।१५०) सूत्र में पद् धातु से युच् प्रत्यय के लिये पद् का ग्रहण अनर्थक है। **अनुदात्तेतश्च हलादेः** (३।२।१४९) से युच् सिद्ध है। **पदनः**। अनर्थक होकर यह उक्त परिभाषा को ज्ञापित करता है। यदि वाऽसरूप विधि होती तो **लषपतपद**—(३।२।१५४) से विशेष-विहित उकञ् के साथ सामान्यविहित युच् (**अनुदात्तेतश्च** सूत्र से विहित) का समावेश हो जाता, तो इस सूत्र में 'पद्' से युच् विधान क्यों करते? ज्ञापन के लिये पुनः विधान किया है। अतः अलंकृ से तृन् नहीं होता। 'अलंकरिष्णु' के अर्थ में 'अलंकर्ता' नहीं कह सकते ॥६७॥

अब यहां यह शङ्का होती है कि यदि ताच्छीलिक प्रत्ययों में ही वाऽसरूप-विधि का निषेध है तो छात्रस्य हसितम्, छात्रस्य हसनम्—यहां **नपुंसके भावे क्तः** (३।३।११४) से अपवाद 'क्त', तथा ल्युट् च (३।३।११५) से अपवाद ल्युट् के विषय में **भावे** (३।३।१८) से विहित उत्सर्ग घञ् भी हो जाना चाहिये, इच्छति भोक्तुम्—यहां **समानकर्तृकेषु तुमुन्** (३।३।१५८) से विहित अपवाद तुमुन् के विषय में **इच्छार्थेषु लिङ्लोटौ** (३।३।१५७) से विहित उत्सर्ग लिङ् व लोट् भी हो जाने चाहियें, **ईषत्पानः सोमो भवता** (आप सहज में ही सोम पी सकते हैं)—यहां **आतो युच्** (३।३।१२८) से विहित अपवाद युच् के विषय में **ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्** (३।३।१२६) से विहित उत्सर्ग प्रत्यय खल् भी हो जाना चाहिये। इस शङ्का के समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

क्त-ल्युट्-तुमुन्-खलर्थेषु वाऽसरूपविधिर्नास्ति। (६८)

अर्थ—अपवाद-भूत क्त, ल्युट्, तुमुन्, तथा खल् अर्थ में विहित खल् आदि प्रत्ययों के विषय में वाऽसरूप विधि नही होती, अर्थात् ये अपवाद प्रत्यय उत्सर्ग को नित्य बाधते हैं।

यह परिभाषा 'वाऽसरूपविधि' की अनित्यता से सिद्ध है। और उसकी अनित्यता इस प्रकार सिद्ध होती है—**अर्हे कृत्यतृचश्च** (३।३।१६९) में चकार से लिङ् का विधान है। विशेषविहित लिङ् से कृत्य व तृच् का बाध न हो जाय, इसलिये सूत्र में कृत्य व तृच् का ग्रहण किया है। यदि वाऽसरूप-विधि

नित्य हो, तो सामान्य विहित कृत्य व तृच् 'अर्हे कर्तरि' अर्थ में भी हो जायेंगे अर्थात् इनका लिङ् के साथ समावेश हो जायगा, तो कृत्य तृच् का ग्रहण व्यर्थ रहता है। वाऽसरूप विधि के अनित्य होने से (असरूप अपवाद प्रत्यय द्वारा उत्सर्ग के नित्य बाध होने से कृत्य तृच् का ग्रहण चरितार्थ हो जाता है)।

सीरदेवीय—

अपवाद-भूत—क्त, ल्युट्, तुमुन् तथा खलर्थक प्रत्ययों के विषय में वाऽस-रूपविधि नहीं होती, अर्थात् क्त आदि असमानरूप अपवाद प्रत्यय नित्य बाधक होते हैं। अतः नपुंसक-भाव में क्त और ल्युट् भाव में घञ् को नित्य बाधते हैं। हसितम्। हसनम्। पर हासः (घञन्त) नहीं होता। **समानकर्तृकेषु तुमुन्** (३।३।१५८)—यह इच्छार्थेषु लिङ्लोटौ (३।३।१५७) को नित्य बाधता है। इच्छति भोक्तुम्। ऐसे कह सकते हैं। इच्छति भुञ्जीय, इच्छानि भुनजै—ऐसा नहीं। **आतो युच्** (३।३।१२८)—इससे खल् के अर्थ में अपवाद युच् खल् को नित्य बाधता है। ईषत्पानः सोमो भवता (आप सोम आसानी से पी सकते हैं)।

जो क्तादि स्वयम् अपोद्य हैं अर्थात् अपवाद के योग्य उत्सर्ग हैं, और अन्य अच् आदि प्रत्यय अपवाद हैं और स्त्र्यधिकार से पूर्व पठित हैं, वहां वाऽस-रूपविधि होती ही है। यथा **अज्विधौ भयादीनामुपसंख्यानम्**—इससे अच् के विषय में वाऽसरूपविधि से पक्षे ल्युट् भी होता है—**भयं भयनम्**। **वर्षं वर्षणम्**। इस दूसरे उदाहरण में भाष्यकार का अपना प्रयोग भी प्रमाण है—**वृषभो वर्षणात्**।

अतः **आशिते भुवः करणभावयोः** (३।२।४५) से विहित खच् सारूप्य के कारण घञ् को बाधता है, पर ल्युट् वाऽसरूप विधि से होता ही है—आशितं-भवम्। आशितंभवनम्।

प्रत्ययः (३।१।१) इस सूत्र में अनुन्यासकार ने कहा है—प्रतियन्त्यनेना-र्थान् इति प्रत्ययः। **एरच्** (३।३।५६) से अच्। अथवा **पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण** (३।३।११८) इससे घ प्रत्यय। पर मैत्रेय का कहना है—'पुंसि संज्ञायां घः' से घ प्रत्यय ही हो सकता है, एरच् से अच् नहीं। करण अर्थ में ल्युट् से बाधित होने से अच् प्रत्यय नहीं किया जा सकता। वाऽसरूपविधि है नहीं। यहां मैत्रेय का अभिप्राय यह है—क्त-ल्युट्-तुमुन्खलर्थेषु में जो क्त ग्रहण किया है वह नपुंसके भावे 'क्त' है, क्योंकि इस 'क्त' का ल्युट् के साथ साहचर्य है—**नपुंसके भावे क्तः** (३।३।११४) **ल्युट् च** (३।३।११५)। इसलिये भी कि **तदधीते तद्वेद**

(४।२।५६) में **मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च** (३।२।१८८) से प्राप्त वर्तमान अर्थ में 'क्त' के विषय में आचार्य ने लट् का प्रयोग किया है। अन्यथा **ञीतः क्तः**(३।२।१८७) से वर्तमान अर्थ में विहित 'क्त' यदि लट् का बाधक हो तो 'मेद्यति'—यह (ञिमिदा स्नेहने से लट्) प्रयोग ही न हो सकेगा। लट् का बाध इसलिये नहीं होगा। **मिदेर्गुणः** (७।३।८२) व्यर्थ हो जायगा, ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि यह गुणविधि 'अमेद्यत्' (लङ्) में कृतार्थ हो जाती है ॥६८॥

अब यहां यह शङ्का होती है कि यदि उक्त प्रत्ययों के विषय में ही वाऽसरूप विधि अनित्य है तो श्वः पक्ता (पच्-ल्युट्-तास्-डा) के विषय में वाऽसरूप विधि से लृट् भी हो जाना चाहिये, आदेश होने पर लुट् (अपवाद) तथा लृट् (उत्सर्ग) असरूप ही हैं। इसके समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

लादेशेषु वाऽसरूपविधिर्नास्ति। (६९)

अर्थ—(अनुबन्ध-कृत असरूपता के न होने से) आदेश द्वारा असरूपता को प्राप्त हुए अपवाद लकारों के विषय में वाऽसरूप विधि नहीं होती। 'लादेशेषु' यह कर्मधारय समास है। '**कडाराः कर्मधारये**' से 'ल' का पूर्वनिपात हुआ है। **आदेश शब्द स्वनिष्ठ वैरूप्य** (अपने में विद्यमान (विरूपता) में **लाक्षणिक है।** इस परिभाषा में **ह-शश्वतोर्लङ् च** (३।२।११६) में लङ् विधान ज्ञापक है। अन्यथा (वाऽसरूप विधि के नित्य होने पर) **अनद्यतने लङ्** (३।२।१११) से विहित उत्सर्ग लङ् **परोक्षे लिट्** (३।२।११५) से विहित अपवाद लिट्के विषय में भी विकल्प से हो जाता, अर्थात् लिट् के साथ लङ् का समावेश हो जाता, तो हशश्वतोर्लङ् में लङ्-ग्रहण व्यर्थ रहता। **लटः शतृशानचावप्रथमासमाना-धिकरणे** (३।२।१२४) में तिङ् के साथ समावेश के लिये 'वा' की अनुवृत्ति की जाती है। लादेशों में वाऽसरूपविधि होती तो शतृ शानच् प्रत्ययों के साथ तिङ् प्रत्यय का समावेश रहता, तो 'वा' की अनुवृत्ति क्यों करते ? ऐसे ही **लिटः कानज्वा** (३।२।१०६) में वा-ग्रहण ज्ञापक है। कैयट के प्रदीप से यह ध्वनित होता है कि **वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्** (३।१।९४) में 'अपवाद' से ऐसा प्रत्यय लिया जाता है जो आदेशरूप न हो। इसका फल यह है कि भूत सामान्य अर्थ में सद् आदि धातुओं से विहित लिट् के स्थान में क्वसु आदेश ही होता है और क्वसु के स्थान में पाक्षिक तिङ् आदेश नहीं हो सकता ॥६९॥

अब यहां यह शङ्का होती है कि **ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्** (८।३।३२) सूत्र में ङमुट् का आगम किसे विधान किया है। क्या ङम् से परे अच् को ङमुट् होता है। अथवा अच् परे होने पर ङम् को। इसके समाधान के लिये

परिभाषा पढ़ते हैं—

उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान् । (७०)

अर्थ—जब किसी विधायक शास्त्र में दोनों सप्तमी और पञ्चमी विभक्तियों से पदों का निर्देश किया है तब पञ्चमीनिर्देश (पञ्चम्या निर्देशः) सप्तमी-निर्देश (सप्तम्या निर्देशः) से सबल होता है। **ङमो ह्रस्वात्** (८।३।३२) में **तस्मादित्युत्तरस्य** (१।१।६७) पञ्चमीनिर्देश से विधीयमान कार्य उत्तर (पर) को होता है, इसकी ही प्रवृत्ति होती है, कारण कि पञ्चमी-निर्देश 'ङमः' अनवकाश है, अन्यत्र कहीं भी चरितार्थ नहीं, और 'अचि' (सप्तमी-निर्देश) अगले सूत्र (८।३।३३) 'मय उञो वो वा' में सावकाश है। डः सि धुट् (८।३।२९)—यहाँ पढ़े हुए पञ्चमी निर्दिष्ट 'डः' तथा सप्तमीनिर्दिष्ट 'सि' अन्यत्र किसी भी विधायक शास्त्र में चरितार्थ नहीं हैं। अष्टाध्यायी पाठ क्रम के अनुसार जो **पर** है उससे शास्त्र प्रवृत्ति का निर्णय किया जायगा। तस्मादित्युत्तरस्य (१।१।६७)—यह तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य (१।१।६६) की अपेक्षा **पर** है, अतः तस्मादित्युत्तरस्य की प्रवृत्ति होगी और पञ्चमी-निर्दिष्ट से उत्तरवर्ती को धुट् आगम होगा। जहां पञ्चमी-निर्दिष्ट तथा सप्तमी-निर्दिष्ट दोनों ही अन्यत्र चरितार्थ हैं जैसे **आमि सर्वनाम्नः सुट्** (७।१।५२) में सप्तमी-निर्दिष्ट 'आमि' तो **त्रेस्त्रयः** (७।१।५३) में चरितार्थ है (सूत्रार्थ है—आम् को अवर्णान्त सर्वनाम अङ्ग से परे सुट् आगम होता है)। (त्रेस्त्रयः का अर्थ है—आम् परे रहते 'त्रि' को 'त्रय' आदेश होता है)। 'आमि सर्वनाम्नः' में अनुवृत्त 'आत्' आज्जसेरसुक् (७।१।५०) में चरितार्थ है। आमि सर्वनाम्नः से विहित सुट् **पर** सूत्र 'तस्मादित्युत्तरस्य की प्रवृत्ति से उत्तर 'आम्' को होता है ॥७०॥

सीरदेवीय—

जहां पञ्चमी-निर्देश हो और सप्तमी-निर्देश भी (चाहे अनुवृत्त हो चाहे उपात्त), वहां पञ्चमी निर्देश के बलवत्तर होने से **तस्मादित्युत्तरस्य** (१।१।६७) की प्रवृत्ति होगी अतः **आमि सर्वनाम्नः सुट्** (७।१।५२)—यहां अतः पञ्चम्यन्त की अनुवृत्ति होने से अवर्णान्त सर्वनाम से परे आम् को सुट् होता है। 'आमि' इस सप्तमी को षष्ठी में बदल दिया जाता है। विप्रतिषेधे परं कार्यम् इस सूत्र के अर्थ को ही परिभाषारूप से यहां पढ़ा गया है। **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** (१।१।६६)—यह सप्तमी-निर्देश **इको यणचि** (६।१।७७) यहां दध्यत्र, मध्वत्र में सावकाश (चरितार्थ) है। **तस्मादित्युत्तरस्य** (१।१।६७)—यह पञ्चमी निर्देश **रषाभ्यां नो णः** (८।४।१) यहां सावकाश है। आस्तीर्णम्।

पर जहां सप्तमी निर्देश तथा पञ्चमी-निर्देश दोनों चरितार्थ हैं वहां **पर** होने से तस्मादित्युत्तरस्य की प्रवृत्ति होती है। यथा 'आमि सर्वनाम्नः सुट्'—यहां अतः यह पञ्चमी अन्यत्र **आज्जसेरसुक्** (७।१।५०) यहां चरितार्थ है। 'आमि' यह सप्तमी **त्रेस्त्रयः** (७।१।५३) यहाँ चरितार्थ है। आमि सर्वनाम्नः सुट् में दोनों का तुल्य बल विरोध होने से **पर** होने के कारण 'अतः' पञ्चमी 'आमि' इस सप्तमी को षष्ठी में बदल देती है।

पर जहां सप्तमी अनवकाश होगी, वहां सप्तमी-निर्देश ही पञ्चमी को षष्ठी में बदल देगा। यथा **आने मुक्** (७।२।८२) सूत्र में 'आने' यह सप्तमी निरवकाश है, अनुवृत्त 'अतः' यह पञ्चमी **अतो येयः** (७।२।८०) में सावकाश है, इसलिये निरवकाश सप्तमी सावकाश पञ्चमी को षष्ठी में बदल देती है, जिससे 'आन' परे रहते अकारान्त अङ्ग को मुक् आगम होता है। यदि निरवकाशा सप्तमी पञ्चमी को षष्ठी में बदल देती है, तो **ङः सि धुट्** (८।३।२९)—यहां सकारादि **पर** को कार्य कैसे होता है? 'सि' यह सप्तमी अन्यत्र कहीं भी कृतार्थ नहीं। उत्तर—जैसे 'सि' यह निरवकाशा सप्तमी है वैसे ही ङः—यह पञ्चमी भी। दोनों के निरवकाश होने से **पर** 'तस्माद् इत्युत्तरस्य' की प्रवृत्ति होगी, जिस से 'सि' सप्तमी को षष्ठी में बदल दिया जायगा। जब दोनों पञ्चमी और सप्तमी निरवकाश होने से तुल्यबल होने से विरुद्ध हों तो ऐसा क्यों नहीं होता कि पञ्चमी सप्तमी को षष्ठी में बदल दे और सप्तमी पञ्चमी को। नहीं, ऐसा नहीं होता—**न हि युगपदुभे पञ्चमीसप्तम्यौ प्रकल्पिके भवतः।** **एकः पूर्वपरयोः** (६।१।८४) सूत्र में पूर्व और पर दोनों का ग्रहण इसका ज्ञापक है। **आद् गुणः**, **वृद्धिरेचि** आदि में यदि युगपत् षष्ठी प्रकल्पन हो, तो पूर्व और पर-ग्रहण व्यर्थ हो जाय।

दीर्घात्पदान्ताद्वा (६।१।७६)—यहां यद्यपि **'छे'** (६।१।७३)—यह सप्तमी कृतार्थ है, तो भी स्वरित करने से इस सूत्र में अनुवृत्त हुई वह सप्तमी निरवकाश होने से 'दीर्घात्' इस पञ्चमी को षष्ठी में बदल देती है। पञ्चमी तो पौर्वापर्य को बनाकर स्वयम् निवृत्त हो जाती है। अतः ऐसा सूत्रार्थ होता है—दीर्घ से उत्तर जो छकार उसके परे रहते पूर्व जो दीर्घ उसको तुक् आगम होता है। पञ्चमी निर्देश होने पर भी यहां इस परिभाषा का कुछ व्यापार नहीं ॥७०॥

अब यहां यह शङ्का होती है कि **अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य** (८।३।४६) सूत्र से अकारान्त से परे कृ आदि उत्तरपद होने पर अन-

व्यय विसर्जनीय को 'स्' आदेश विधान किया है। कुम्भ उत्तरपद होने पर विसर्जनीय को स् होगा क्योंकि 'कुम्भ' कृ आदियों में पढ़ा है। अयस्कुम्भः। पर अयस्कुम्भी में विसर्जनीय को सत्व कैसे होता है? वह (कुम्भी—'कुम्भ' से गौरादित्व होने से ङीष्) तो सूत्र में पढ़ा नहीं। इस शङ्का के शमन के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्। (७१)

अर्थ—सामान्य रूप से प्रातिपदिक बोधक शब्द (अर्थात् प्रातिपदिक शब्द) तथा विशेष-रूप से प्रातिपदिक बोधक शब्द (आनुपूर्वी-विशेष-विशिष्ट प्रातिपदिक संज्ञक शब्द यथा कुम्भ, पात्र इत्यादि) सूत्र में कार्यार्थ पढ़े हुए लिङ्ग-बोधक-प्रत्यय-विशिष्ट प्रातिपदिक के भी बोधक होते हैं, और केवल प्रातिपदिक के भी।

समानाधिकरण समास के अधिकार में पढ़े हुए **कुमारः श्रमणादिभिः** (२।१।७०) सूत्र में स्त्रीलिङ्ग श्रमणा आदि शब्दों का पाठ इस परिभाषा का ज्ञापक है। श्रमणा आदि गणपठित स्त्रीलिङ्ग शब्दों का सामानाधिकरण्य स्त्रीत्वविशिष्ट कुमार शब्द अर्थात् 'कुमारी' शब्द के साथ ही हो सकता है, 'कुमार' के साथ नहीं। अतः सूत्र में कुमार शब्द से कुमारी शब्द का भी ग्रहण होगा। कुमारी चासौ श्रमणा च=कुमारश्रमणा (जो कौमर में ही तापसी बन गई है)। कुमारी चासौ पण्डिता च कुमारपण्डिता। यहां 'कुमारी' को पुंवद्भाव हुआ है। कुमारी चासौ प्रव्रजिता च=कुमारप्रव्रजिता (जिसने कौमार अवस्था में ही संन्यास ले लिया है)।

यह परिभाषा द्विषत्परयोस्तापेः[1] (३।२।३९) इत्यादि उपपद विधि में, समासान्त विधि में[2], महत् पूर्वपद को आकार आदेश करने में,[3] ञ्नित्स्वर-विधि में,[4] कर्मधारय समास में, ब्राह्मण तथा कुमार उत्तरपद होने पर पूर्वपद

१. द्विषन्तपः। यहां द्विषत् उपपद होने पर 'तापि' से खच् होता है, पर स्त्रीलिङ्ग द्विषती उपपद होने पर नहीं—द्विषतीतापः (अण्)।

२. मद्राणां राजा=मद्रराजः (टच् समासान्त)। मद्राणां राज्ञी=मद्र-राज्ञी। राज्ञी से टच् नहीं हुआ यदि होता तो पुंवद्भाव और टि-लोप होकर 'मद्रराजी' ऐसा अनिष्ट रूप होता।

३. महान्प्रियोऽस्य महाप्रियः, पर महती प्रियाऽस्य महतीप्रिया (यहां महती को आकार अन्तादेश नहीं हुआ)।

४. (६।१।१९७) से ञिदन्त 'दाक्षि' (दक्षस्यापत्यं पुमान्) आद्युदात्त होता है, पर ङीषन्त 'दाक्षी' नहीं।

राजन् की स्वरविधि में,[1] बहोर्नञ्वदुत्तरपदभूम्नि[2] (६।२।१७५) इत्यादि समास-संघात-विषयक (जहां संघात रूप समास कार्यी है) स्वरविधि में नहीं प्रवृत्त होती है यह ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१) सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। विभक्ति निमित्तक कार्य की कर्तव्यता में भी यह प्रवृत्त नहीं होती यह भी उसी भाष्य में स्पष्ट है।[3]

यह जो ऊपर कहा है कि समासान्त विधि में लिङ्गविशिष्ट परिभाषा नहीं लगती, समास के अवयव को ग्रहण करके जहां समासान्त विधान किया है, वहीं नहीं लगती, जैसे **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (५।४।९१) में समासान्त विधान में समासावयव राजन्, अहन्, सखि का ग्रहण किया है, पर जहां समास का ग्रहण है वहां इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती ही है, जैसे शेषाद् विभाषा सूत्र में महायशस्कः (महद् यशो यस्य सः) में कप् होता है वैसे ही बहुमालकः, बहुमालिका (बह्व्यो माला यस्याः सा) यहां टावन्त 'बहुमाला' से भी। समास-सङ्घातों के ग्रहण में इस परिभाषा की प्रवृत्ति तभी नहीं होती, जब स्वर-विधि में उनका ग्रहण है। इन्हीं विषयों में लिङ्ग विशिष्ट परिभाषा के अनित्य होने से इसकी प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि (४।१।१) के भाष्य में कहा है— **दोषाः खल्वपि साकल्येन परिगणिताः,** (इस परिभाषा की) अनिष्ट विषय में प्रवृत्ति के कारण जो दोष प्रसक्त होते हैं वे सभी कह दिये गये हैं।

अब यह शङ्का होती है यदि इस परिभाषा का 'प्रातिपदिक का सामान्य-रूपेण (प्रातिपदिक शब्द से) ग्रहण होने पर तथा विशेषरूपेण (आनुपूर्वी-विशिष्ट प्रातिपदिक संज्ञक शब्द से) ग्रहण होने पर लिङ्गविशिष्ट का भी ग्रहण होता है,' यह निर्दुष्ट अर्थ है, तो **बहुव्रीहेरूधसो ङीष्** (४।१।२५) का भाष्य असंगत हो जाता है। वहां यह आपत्ति दिखाई गई है कि 'कुण्डोध्नी' से

---

१. (६।२।५९) मे राजन्पूर्वपद विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है, कुमार व ब्राह्मण शब्द उत्तरपद परे होने पर, पर यह स्वर राजकुमारी, राजब्राह्मणी में नहीं होता।

२. (६।२।१७५) से बहुगोमत् समास (बहवो गोमन्तोऽस्मिन्नगरे तद् बहुगोमत्) अन्तोदात्त होता है। 'बहुगोमती' का यह स्वर नहीं होता।

३. उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (७।१।७०) से सर्वनाम-स्थान विभक्ति-निमित्तक कार्य (नुम्) गोमत् को होता है, स्त्री-प्रत्यय-विशिष्ट गोमती को नहीं।

नद्यृतश्च (५।४।१५३) से कप् समासान्त होना चाहिये, जब सूत्र का यह अर्थ लिया जाय कि बहुव्रीहि समास से कप् समासान्त होता है यदि वह बहुव्रीहि नद्यन्त हो (यू स्त्र्याख्यौ नदी)। यह इसलिये असङ्गत हो जाता है कि उक्त अर्थ के अनुसार कुण्डोध्नी शब्द जो नद्यन्त (ङीष्प्रत्ययान्त होने से), इस परिभाषा से बहुव्रीहि[1] शब्द से बोधित (गृहीत) न होगा। यह भी नहीं कहा जा सकता कि कुण्डोध्नी को नद्यन्त बहुव्रीहि मानकर कप् की आपत्ति दिखाना पूर्वपक्षी का मत है, कारण कि कप् का परिहार 'कुण्डोध्नी बहुव्रीहि नहीं है' ऐसा कहकर नहीं किया गया, किन्तु (नद्यृतश्च) सूत्र का अर्थान्तर—'बहुव्रीहि समास से कप् प्रत्यय आता है जब उत्तरपद ऐसा सुबन्त हो जिसकी प्रकृति नद्यन्त हो,' करने से। इस शङ्का में कुछ सार नहीं। **निरुक्त भाष्य ग्रन्थ का आशय यह है**—जब स्त्रीप्रत्यय आ चुका है तब जो प्रातिपदिकत्व और प्रातिपदिकत्व-व्याप्य धर्म जो स्त्री-प्रत्यय-रहित प्रातिपदिक में देखे जाते हैं वे सभी इस परिभाषा से पूर्णतया स्त्री-प्रत्यय-विशिष्ट प्रातिपदिक में अतिदिष्ट हो जाते हैं। कुण्डोघस् बहुव्रीहि होने से प्रातिपदिक है, स्त्रीप्रत्ययान्त कुण्डोध्नी भी इस परिभाषा से प्रातिपदिक और बहुव्रीहि समास है। इस प्रकार भाष्य में कुछ भी असंगत नहीं ॥७१॥

सीरदेवीय—

जहां शास्त्र में प्रातिपदिक का ग्रहण किया है वहां लिङ्ग-विशिष्ट-ङ्याबन्त प्रातिपदिक का भी ग्रहण होता है। परिभाषा में जो लिङ्ग ग्रहण किया है उससे लिङ्ग की अभिव्यक्ति के हेतु-भूत टाप् आदि लिये जाते हैं। **अभिधान के अर्थ में अभिधेय का गौण प्रयोग है।** अतः जैसे **लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्** (३।१।१३) से लोहित शब्द से क्यष् होता है—लोहितायते। वैसे ही लोहिनी शब्द से भी—लोहिनीयते। इसी प्रकार **सर्वनाम्नस्तृतीया च** (२।३।७२) से 'भवता हेतुना' में 'भवत्' से तृतीया हुई है, वैसे ही भवत्या हेतुना में 'भवती' से भी।

कुछ लोग **अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्** (४।२।४७) से समूहार्थ में जैसे हस्तिनां **समूहो हास्तिकम्,** यहां 'हस्तिन्' से ठक् होता है, वैसे ही हस्तिनीनां समूहो

---

१. नद्यृतश्च सूत्र में अनुवृत्त बहुव्रीहि शब्द न तो प्रातिपदिक शब्दाभिन्न है, और न प्रातिपदिकविशेष रूप है, आनुपूर्वी-विशेष-रूपेण पठित है। समाधान में प्रातिपदिक शब्द प्रातिपदिकत्व-व्याप्य-अर्थ परक है।

हास्तिकम्—यहां 'हस्तिनी' शब्द से भी ठक् मानते हैं। यह उदाहरण उचित नहीं। ठक् प्रत्यय की उत्पत्ति से पूर्व **'भस्याढे तद्धिते'** इस वचन से पुंवद्भाव हो जायगा। यदि कहो **जातेश्च** (६।३।४१) से पुंवद्भाव का निषेध हो जायगा, यह भी भ्रम-विलसितमात्र है। इस सूत्र से औपसंख्यानिक (उपसंख्यान= वार्तिक, तत्कृत) पुंवद्भाव का प्रतिषेध नहीं होता, ऐसा वृत्ति ग्रन्थ है और उसका न्यास-कृत व्याख्यान।

यदि कहो 'भस्याऽढे तद्धिते' में अढे तद्धिते—यह पर सप्तमी है, विषय-सप्तमी नहीं, तो यह भी मान्य नहीं। भिक्षादिभ्योऽण् (४।२।३८) पर यह वार्तिक पढ़ा है। इसका ऐसा ही व्याख्यान किया गया है। भिक्षादिगण में जो 'युवति' शब्द पढ़ा है वह 'भस्याढे तद्धिते' इस पुंवद्भाव प्रतिषेध के लिये है ऐसा कहना संगत होता है—**युवतीनां समूहो यौवतम्**। यदि ऐसा न हो तो तिप्रत्ययान्त युवति शब्द के अनुदात्तादि होने से अनुदात्तादेरञ् (४।२।४४) से प्राप्त अञ् के बाधन के लिये कहना चाहिये था।

कुछ लोग भस्याढे तद्धिते में परसप्तमी मानते हैं। उनके मत में अनु-दात्तादेरञ् (४।२।४४) से विधीयमान अञ् के बाधन के लिये ही भिक्षादि में 'युवति' शब्द का पाठ है, उनके अनुसार पुंवद्भाव का निषेध न होने से **युवतीनां समूहो यौवनम्** ऐसा साधु होगा। भागवृत्तिकार ने भी ऐसा स्वीकार किया है और ऐसा प्रयोग भी मिलता है—

> **रूपलावण्यसम्पन्नं कलाकुशलयौवनम्।**
> **यस्य पुण्यकृतः प्रेष्यं सफलं तस्य जीवितम्॥**

इन लोगों के मत से हस्तिनीनां समूहो हास्तिकम्—यह परिभाषा का उदाहरण ही है।

भाष्यकार ने इस परिभाषा का ज्ञापक **युवा खलतिपलितवलिनजरतीभिः** (२।१।६७)—यहां समानाधिकरण के अधिकार में युवन् और जरती का समासविधान बतलाया है। यदि यह परिभाषा न हो तो युवन् और जरती का सामानाधिकरण्य न होने से समास न हो सकेगा।

अब यहां यह शङ्का होती है कि परिभाषा के होने पर भी युवति तथा जरती के विरुद्धार्थक होने से समानाधिकरण समास अनुपपन्न है। द्वितीय वय-वाली युवति कहलाती है, जरती बुढ़िया को कहते हैं। युवति भी हो और जरती भी—यह कैसे संभव है? उत्तर—वह युवति जो चञ्चलता-शून्य है

जरती के सदृश है। जो जरती चञ्चलस्वभाव की है, वह युवति के सदृश है। इस तरह दोनों का सामानाधिकरण्य बन जाता है।

पर ऐसे सामानाधिकरण्य का तो युवा और जरती में भी सम्भव है। युवा जरती के सदृश है बढ़े हुए स्तनों के कारण। जरती युवा के सदृश है, प्रगल्भ होने से। इस प्रकार सामानाधिकरण्य के उपपन्न होने से परिभाषा का ज्ञापन कैसे होगा ? उत्तर—जब युवन् तथा जरती का समास होता है—युवजरती, तब कथितपूर्व उपचरित सामानाधिकरण्य की प्रतीति नहीं होती, यह स्वाभाविक है, जैसे पञ्चभिर्भुक्तमस्य—इसका अर्थ पञ्चभुक्तः से नहीं प्रतीत होता।

शङ्का—यदि सामानाधिकरण्य की अनुपपत्ति परिभाषा का ज्ञापक है, तो विपरीत अर्थ क्यों नहीं ज्ञापित होता ? लिङ्गविशिष्ट के ग्रहण में केवल प्रातिपदिक का भी ग्रहण हो जाना चाहिये। और यह ज्ञापना प्रयोजनवती भी है—**रेवतीजगतीहविष्याभ्यः प्रशस्ये** (४।४।१२२)—यहां जगती-ग्रहण से जगत्-ग्रहण हो जायगा। इसी प्रकार एण्या ढञ् (४।३।१५९)—यहां एणी-ग्रहण से 'एण' का भी ग्रहण हो जायगा[१]। समाधान—यदि विपरीत अर्थ ज्ञापित हो तो **कुमारः श्रमणादिभिः** (२।२।१७०)—यहां स्त्रीलिङ्ग 'श्रमणा' आदि निर्देश व्यर्थ हो जाय।

परिभाषा के होते हुए भी जरत् के साथ समास नहीं होना चाहिये, सूत्र में 'जरती' पाठ होने से। ठीक है। पर समास हो जायगा, कारण कि वृत्त्यन्तर में 'जरद्भिः' ऐसा पाठ है। **उभयथा ह्याचार्य्येण शिष्याः प्रतिपादिताः** ॥७२॥

अब यहां यह शङ्का होती है कि यदि लिङ्गविशिष्ट परिभाषा को स्वीकार किया जाता है तो **श्व-युव-मघोनामतद्धिते** (६।४।१३३) में युवन् से युवति का भी ग्रहण हो जाना चाहिये और जैसे यूनः पश्य—यहां सम्प्रसारण होता है वैसे ही युवतीः पश्य में भी होना चाहिये। इसके उत्तर के रूप में परिभाषा पढ़ते हैं—

विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणम्। (७२)

अर्थ—विभक्तौ—यह विषय-सप्तमी है। विभक्ति के विषय में अर्थात् विभक्त्युद्देश्यक तथा विभक्तिनिमित्तक, विभक्ति-सम्बन्धी सभी कार्यों की कर्तव्यता

---

१. वृत्तिकार ऐसा नहीं मानता। पुंसस्त्वञेव भवति (न तु ढञ्)। एणस्य मांसमैणम्—यह वृत्तिग्रन्थ है।

में प्रातिपदिक ग्रहण से लिङ्गविशिष्ट का ग्रहण नहीं होता। इस परिभाषा के विषय में कैयट (७।१।१) सूत्र के प्रदीप में यह कहता है—**विभक्तौ यत्कार्यं विधीयते, लिङ्गविशिष्टस्य तन्न भवतीत्यर्थः। विभक्तेर्यत्कार्यं यच्च विभक्तौ परतः कार्यं तत् सर्वं विभक्तौ कार्यम्।** अतः शुन्या (शुनी+टा), शुन्यै (शुनी+ङे) में गौरादिङीष् के स्थान में जो यण् हुआ है वह उदात्त के स्थान में यण् है। **उदात्तयणो हल्पूर्वात्** (६।१।१७४) से अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति उदात्त होती है। **गोश्वन्सावर्ण**—(६।१।१८२) से श्वन् शब्द से इस स्वर का निषेध किया है। प्रकृत परिभाषा से शुनी शब्द से यह निषेध नहीं होगा। यह कार्य भी विभक्ति-उद्देश्यक है। सख्यौ (सखी+औ)—यहां **सख्युरसम्बुद्धौ** (७।१।९२) से सखी को णिद्वद्भाव नहीं होता। दीर्घाह्णी प्रावृट्—यहां ङीवन्त अह्नी शब्द में लिङ्ग-विशिष्ट परिभाषा से अहन्शब्दत्व को लाकर **अहन्** (८।२।६८) से 'न्' को 'रु' नहीं होता। कारण कि 'रुत्व' पदत्व-द्वारा विभक्ति-निमित्तक कार्य है, अतः प्रकृत परिभाषा से 'रुत्व' विधि में लिङ्गविशिष्ट 'अह्नी' का ग्रहण नहीं होता। **हरतेरनुद्यमनेऽच्** (३।२।९) सूत्र पर पढ़े हुए '**अच् प्रकरणे शक्ति-लाङ्गूलाङ्कुश-यष्टि-तोमर-घट-घटी-धनुष्षु ग्रहेरुपसंख्यानम्**' इस वार्तिक में घट के साथ घटी शब्द के पाठ से लिङ्ग-विशिष्ट परिभाषा अनित्य है। उसकी अनित्यता से यह (प्रकृत) परिभाषा लिङ्ग-विशिष्ट-परिभाषा-मूलक ही है, कोई अतिस्वतन्त्र परिभाषा नहीं, ऐसा कुछ लोग मानते हैं। वस्तुतः उनका ऐसा मानना ठीक नहीं। भाष्यकार ने **युवोरनाकौ** (७।१।१) सूत्र के भाष्य में इसे स्वतन्त्र परिभाषा स्वीकार किया है और इसके प्रयोजन बताये हैं ॥७२॥

सीरदेवीय—

विभक्त्याश्रित कार्यों में लिङ्गविशिष्ट का ग्रहण नहीं होता। अतः 'गोमती' यहां **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** (७।१।७०) से नुम् जो (सर्वनामस्थान विभक्ति-निमित्तक है) नहीं होता। इसी प्रकार सुपुंसी—यहां (शोभनाः पुमांसोऽत्र नगर्याम्) **पुंसोऽसुङ्** (७।१।८९) से असुङ् नहीं होता। **युवतीः पश्य**—यहां **श्वयुवमघोनामतद्धिते** (६।४।१३३) से सम्प्रसारण नहीं होता। दूसरे लोग यह कहते हैं—**अल्लोपोऽनः** (६।४।१३४)—इस सूत्र में 'अन्' ऐसा योगविभाग करके उसका श्वयुवमघोनाम्—यहां सम्बन्ध करके अन्नन्त श्वन् आदि को सम्प्रसारण होता है, ऐसा अर्थ होता है। अतः यह परिभाषा का उदाहरण नहीं ॥७२॥

अब यहां यह शङ्का होती है—तस्यापत्यम् (५।१।९२) सूत्र में अपत्य शब्द नपुंसकलिङ्ग एकवचनान्त पढ़ा है, इस निर्देश के अनुसार गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः, गर्गस्य गोत्रापत्ये गार्ग्यौ—यह प्रयोग नहीं बनने चाहियें। इसके उत्तर के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम् । (७३)

अर्थ—सूत्र में लिङ्ग व वचन अतन्त्र (अविवक्षित) होते हैं। **अर्धं नपुंसकम्** (२।२।२) इस सूत्र में नपुंसकग्रहण इस परिभाषा का ज्ञापक है। लिङ्ग के अविवक्षित होने से विशेष-विवक्षा में नपुंसक शब्द चरितार्थ हो जाता है, अन्यथा अर्धम् के नपुंसकलिङ्ग में पाठ से ही नपुंसक लिङ्ग 'अर्ध' शब्द का अवयविवाची के साथ तत्पुरुषसमास हो जाता, नपुंसकग्रहण व्यर्थ होता। यदि कहो नित्य नपुंसकलिङ्ग के बोध के लिये नपुंसकग्रहण किया है ताकि समांशवाची अर्ध शब्द लिया जाय, तो यह कथन भी ठीक नहीं। ए ओङ् सूत्र में समांश अर्थ में भी 'अर्ध एकारः', 'अर्ध ओकारः' में भाष्यकार ने समांशवाची अर्द्ध शब्द का पुंल्लिङ्ग में प्रयोग किया है। इस **समांशवाची अर्ध शब्द की नित्यनपुंसकता अप्रामाणिक है। धान्यपलालन्याय** से (धान्यार्थी अनिच्छया पलाल=धान्यकाण्ड का भी ग्रहण करता है, उससे जुदा धान्य के न होने से) प्रातिपदिकार्थ का निर्देश बिना लिङ्ग व संख्या के हो ही नहीं सकता, अतः सूत्र में किसी न किसी लिङ्ग वा वचन का उपादान करना ही होता है, वहां उपात्त लिङ्ग व वचन की विवक्षा नहीं होती। विवक्षा-विशेष होने पर **आकडारादेका संज्ञा** (१।४।१) आदि में 'एका' चरितार्थ होता है ॥७३॥

सीरदेवीय

अतः **कर्मणा यमभिप्रैति** (१।४।३२)—यहां जो 'यम्' यह पुँल्लिङ्ग एकवचन से निर्देश किया है उसके अतन्त्र (अविवक्षित) होने से लिङ्गान्तर तथा वचनान्तर की भी सम्प्रदान संज्ञा होती है—ब्राह्मण्यै ददाति। ब्राह्मणेभ्यो ददाति।

इसमें—आ कडारादेका संज्ञा (१।४।१)—इस सूत्र में 'एका'-ग्रहण ज्ञापक है। **अर्धं नपुंसकम्** (२।२।२) यहां नपुंसक ग्रहण भी। **द्युद्भ्यो लुङि** (१।३।९१)—यहां एकवचन से निर्देश करने के स्थान में जो बहुवचन से निर्देश किया है उसके वल से यह परिभाषा यहां प्रवृत्त नहीं होती ॥७३॥

अब यहां यह शङ्का होती है कि **भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः** (३।१।१२) से भृश आदि शब्दों से, जब वे च्व्यन्त न हों, पर 'च्वि' का अर्थ हो,

'भवति' अर्थ में क्यङ् प्रत्यय होता है—अभृशो भृशो भवति भृशायते, तो क्व दिवा भृशा भवन्ति (=ये रात्रौ भृशा नक्षत्रादयस्ते दिवा क्व भवन्ति)—यहां भृश से क्यङ् हो जाना चाहिये। इस शङ्का के समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः। (७४)

अर्थ—निषेधार्थक नञ् से युक्त और उपमार्थक इव से युक्त पद से उस पदार्थ (द्रव्य) का बोध होता है जो उससे भिन्न होने पर उसके सदृश भी हो, क्योंकि लोक में ऐसे शब्दों में ऐसे अर्थ का बोध देखा जाता है। **नञ् च इवश्च नञिवौ। नञ्-इवाभ्यां युक्तं नञिवयुक्तम्। अन्यच्च तत् सदृशं च=अन्य-सदृशम्। अन्यसदृशं च तदधिकरणं च=अन्य सदृशाधिकरणम्। तस्मिन्। हि=यतः। तथा=**ऐसे ही। **अर्थगतिः=अर्थस्य गतिरवगतिः। भवतीति** शेषः। नञ्युक्त जो पद, इवयुक्त जो पद वह अपने से भिन्न तथापि सदृश अर्थ का बोधक होता है, उसी को शास्त्रीय-कार्य होता है। किसी को जब यह कहा जाय—**अब्राह्मणमानय** (अब्राह्मण को लाओ) तो वह यदि लोष्ट (मिट्टी का ढेला) को ले आता है तो यह नहीं समझा जाता कि उसे जो कार्य करने को कहा गया था, वह उसने कर दिया है, कारण कि लोष्ट यद्यपि ब्राह्मण से भिन्न है, पर तत्सदृश नहीं, क्षत्रिय आदि तद्भिन्न और तत्सदृश है। प्रकृत में (क्व दिवा भृशा भवन्ति) 'भृश' च्व्यन्त-भिन्न है, पर 'अभूततद्भाव' न होने से च्व्यन्त-सदृश नहीं है, अतः क्यङ् का प्रसङ्ग नहीं। **ओषधेश्च विभक्तावप्रथमायाम्** (६।३।१३२)—यहां 'विभक्तौ' का ग्रहण परिभाषा की अनित्यता का ज्ञापक नहीं, किन्तु परिभाषा द्वारा प्रतिष्ठापित अर्थ का अनुवादमात्र है। यह परिभाषा नित्य है इसीलिये भाष्य में **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** (३।३।१९) में 'कारके' का ग्रहण व्यर्थ बतलाया है, 'अकर्तरि' कहने से कर्तृभिन्न कारक ही लिया जा सकता है। **अकर्ता हो और कर्ता के सदृश हो वह कारक के अतिरिक्त और क्या हो सकता है?**

परिभाषा में सादृश्य और भेद का पृथक्तया ग्रहण किया है। यहां सादृश्य भेदाघटित सादृश्य है, कारण कि यहां 'अन्य-सदृश' पढ़ा है। यदि ऐसा न माना जाय तो 'अन्य' व्यर्थ रहता है, कारण कि नैयायिक सादृश्य का ऐसा लक्षण करते हैं—**तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वं सादृश्यम्**, जिससे सादृश्य कथन से ही भेद का लाभ हो जाता है ॥७४॥

सीरदेवीय—

इस परिभाषा को सीरदेव इस प्रकार पढ़ता है—**नञिवयुक्तमन्यत् सदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थः** । इस परिभाषा के अनुसार **अञ्चेश्छन्दस्यसर्वनामस्थानम्** (६।१।१७०)—यहां सर्वनाम-स्थान-सदृश असर्वनाम स्थान विभक्ति का ग्रहण होता है । इस परिभाषा का अर्थ भाष्य में ऐसे वर्णित किया है—नञिवयुक्तमन्यस्मिन्सदृशाधिकरणे वर्तते । इस से हम जानते हैं कि यहां 'अन्यत्' 'अन्यस्मिन्' के अर्थ में निपात है ।

इस परिभाषा का ऐसा अर्थ भी किया जाता है—नञ् तथा इव से युक्त शब्द सदृश पदार्थ को कहता है । ऐसा क्यों है ? इसलिये कि मुख्यार्थवाची शब्द-रूप से दूसरा (अन्य) शब्द भिन्न होता है । नञ् तथा इव—ये शब्द को मुख्यार्थ से जुदा कर गौण अर्थ में व्यवस्थापित कर देते हैं । तथा ह्यर्थः—ऐसे ही अर्थ की प्रतीति होती है, यह सबके अनुभव का विषय है । क्षत्रिय के अर्थ में उपचरित जो ब्राह्मण शब्द उसके साथ नञ् समस्त होता है— न ब्राह्मणोऽब्राह्मणः ।

केवल प्रयुक्त हुआ ब्राह्मण शब्द प्रसिद्धिवश मुख्यार्थ को ही कहता है, नञ् के संनिकर्ष से गौण को । ऐसा नञ् पर्युदास अर्थ में माना जाता है । इसी लिये 'अब्राह्मणः' यहां तत्पुरुष की उत्तरपदार्थप्रधानता सिद्ध होती है । इस प्रधानता के कारण ही **अनेकमन्यपदार्थे** (२।२।२४) यहां 'अनेकम्' यह एकवचन उपपन्न होता है ॥७४॥

अब यहां यह शङ्का होती है कि व्याघ्री, कच्छपी आदि में सुबन्त उत्तरपद के साथ समास की कर्तव्यता में अन्तरङ्ग[1] होने से सुप् से पूर्व टाप् होना चाहिये और यदि टाप् हो जाता है तो अदन्तता नहीं रहती, अतः जाति-लक्षण ङीष् की प्राप्ति नहीं रहती (जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् ४।१।६३ इस ङीष्-विधायक शास्त्र में अजाद्यतष्टाप् ४।१।४ से 'अतः' की अनुवृत्ति आती है) । इस

---

१. स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् अन्तरङ्ग है इसमें यह युक्ति है—शब्द के उच्चारण होने पर क्रम से स्वार्थ (जाति), द्रव्य (व्यक्ति), लिङ्ग, संख्या (वचन) और कारक बुद्धि में उपस्थित होते हैं । जिस क्रम से उपस्थित होते हैं, उसी क्रम से उस-उस अर्थ (जात्यादि) के निमित्त से कार्यों की उत्पत्ति होती है । इसके अनुसार सुब्उत्पत्ति से पूर्व ही स्त्रीत्व-निमित्तक टाप्, तब सुप्, तब समास होता है ।

शङ्का के वारणार्थ परिभाषा पढ़ते हैं—

गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः । (७५)

अर्थ—गतिश्च कारकं चोपपदं चेति गतिकारकोपपदानि, तेषाम् । गति, कारक, उपपद इनका कृदन्त के साथ समास सुप् उत्पत्ति से पहले हो जाता है । परिभाषा में 'सुबुत्पत्तेः प्राक्' का अर्थ 'उत्तरपद से सुप् की उत्पत्ति से पूर्व'[1] है । सुप्-ग्रहण स्त्री-प्रत्यय का भी उपलक्षण है । **उपपदमतिङ्** (२।२।१९) सूत्र में जो अतिङ्-ग्रहण किया है उसे पूर्वसूत्र कुगतिप्रादयः (२।२।१८) के 'गति' के साथ पीछे खींचकर सम्बद्ध किया जाता है, तब इन दो सूत्रों का अर्थ होता है—उपपद तथा गति समास तिङन्त नहीं होता, अर्थात् इसके अन्त में तिङ् प्रत्यय नहीं होता । इससे यह अनुमित होता है कि **सह सुपा** (२।१।४) सूत्र के 'सुपा' की अनुवृत्ति इन दो सूत्रों में नहीं आ रही है, कारण कि यदि 'सुपा' की अनुवृत्ति आती हो तो अतिङ् ग्रहण व्यर्थ हो जाय । उपपद और गति-सम्बन्धी परिभाषा का अंश इस प्रकार सिद्ध हो जाता है । एकदेश के अनुमति से कारकांश में भी यह परिभाषा सिद्ध समझनी चाहिये । इससे 'अश्वक्रीती' में **क्रीतात् करणपूर्वात्** (४।१।५०) से ङीष् होता है । स्त्री-प्रत्यय की उत्पत्ति से पूर्व अश्व+टा+क्रीत का समास होता है, पीछे अदन्त होने से ङीष् आता है । अन्यथा पहले टाप् होकर अदन्त न रहने से ङीष् की प्राप्ति ही नहीं रहती ।

कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि यह परिभाषा अनित्य है,[2] अतः कभी-

---

१. तृतीयान्त 'सुपा' की ही निवृत्ति होती है, प्रथमान्त सुप् की नहीं । यदि प्रथमान्त सुप् की भी निवृत्ति हो तो चर्मच्छेदः इत्यादि में 'चर्मन्' का सुप् आने से पहले समास होने पर पदत्वाभाव के कारण न्-लोप न हो सकेगा ।

२. इसकी अनित्यता में यह ज्ञापक कहा जाता है—अम्बाम्ब-गो-भूमि-(८।३।९७) सूत्र में गोभूमि ग्रहण ज्ञापक है । यदि यह परिभाषा नित्य हो तो सुप् उत्पत्ति से पूर्व समास होने पर सात्पदाद्योः (८।३।१११) इस निषेध के न लगने से आदेशप्रत्यययोः से ही षत्व सिद्ध था तो सूत्र में इनका ग्रहण स्पष्ट ही व्यर्थ हो जाय । इसपर दूसरे लोग कहते हैं सूत्र में गोभूम्यादि का ग्रहण नियमार्थ है । नियम ऐसा है—पूर्वपदान्त इण् से परे स्थ-सम्बन्धी 'स्' को यदि मूर्धन्य आदेश हो तो गो भूमि आदि से परे को ही हो । ऐसा नियम होने से 'हृदिस्थः' यहां षत्व नहीं होता ।

कभी सुबुत्पत्ति के पीछे भी समास देखा जाता है, जैसे **सा हि तस्य धनक्रीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी**—इस वाक्य में 'धनक्रीता' शब्द में। दूसरे लोग इस परिभाषा को अनित्य नहीं मानते, प्रमाणाभावात्। 'अश्वक्रीत' शब्द का अजादिगण में पाठ करके उससे सुबुत्पत्ति से पूर्व **अजाद्यतष्टाप्** (४।१।४) से टाप् हो जायगा, परिभाषा को अनित्य मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

परिभाषा के नित्य होने से ही 'कुम्भकार' इत्यादि षष्ठीसमास भी उत्तरपद से सुप् की उत्पत्ति से पहले हो जाता है। (कुम्भ+अस्+कार)। षष्ठीसमास के अभाव में पदों का एकार्थीभाव उपपदसमास से होगा (जो नित्य विधि है) अतः षष्ठीसमास के अभाव में भी वाक्य नहीं होगा। यहां भाष्य में दो वार्तिक पढ़े हैं—**षष्ठीसमासादुपपदसमासो विप्रतिषेधेन** (१)। **न वा षष्ठीसमासाभावादुपपदसमासः** (२)। पूर्ववार्तिक से वार्तिककार यह कहना चाहता है कि जहां षष्ठीसमास और उपपद समास दोनों हो सकते हों वहाँ **पर** होने से उपपदसमास होगा। द्वितीय वार्तिक में उसका यह अभिप्राय है कि षष्ठीसमास जिस में 'सुपा' तृतीयान्त की अपेक्षा है, की अपेक्षा उपपद-समास अन्तरङ्ग है जिसमें ऐसी अपेक्षा नहीं। अतः षष्ठीसमास नहीं होगा। भाष्यकार इन दोनों का प्रत्याख्यान करते हैं—**अथवा विभाषा षष्ठीसमासो यदा न षष्ठीसमासस्तदोपपदसमासः**। इससे उपपदसमास के विषय में यह षष्ठीसमास 'कुम्भ+अस्+कार' भी नित्य है, ऐसा अर्थ फलित होता है।

परिभाषा में कारकशब्द सामान्य रूप से पढ़ा है, इससे परिभाषा का यह अर्थ निश्चित होता है कि कारकमात्र के अर्थ में उत्पन्न हुई जो-जो विभक्ति तदन्त का कृदन्त के साथ सुबुत्पत्ति से पूर्व समास हो जाता है। कारक शब्द से कारकविभक्ति अभिप्रेत है। कारकपद के उपादान से कहीं भी समास विधान नहीं किया है। कारक के सामान्यतः ग्रहण से ही 'यह परिभाषा वहीं प्रवृत्त होती है जहां कारक अथवा तद्विशेष (कारक-विशेष, कर्ता, करण आदि) का ग्रहण हो' यह मत कट जाता है। कारण कि इस परिभाषा की अन्य परि-भाषा की तरह विधिवाक्यों के साथ एकवाक्यता नहीं होती, यह केवल विप्रति-षेधादि शास्त्र की तरह 'यह कार्य दूसरे कार्य से पूर्व हो' ऐसी व्यवस्था करती है। कारक और कारकविशेष के ग्रहण में ही इसकी प्रवृत्ति होती है—यह अर्थ परिभाषा से उपलब्ध नहीं होता ॥७५॥

सीरदेवीय—

सुप्सुपा (२।१।४) इस अधिकार में भी **कुगतिप्रादयः** (२।२।१८), **कर्तृ-**

करणे कृता बहुलम् (२।१।३२), **उपपदमतिङ्** (२।२।१६)—यहां गति, कारक, उपपदों का जो समास है वह सुबुत्पत्ति से पूर्व हो जाता है, ऐसा जानना चाहिये । अतः प्रशब्द जो गतिसंज्ञक है, इसका असुबन्त 'स्थ' शब्द जो **आतश्चोपसर्गे** (३।३।१०६) से निष्पन्न हुआ है, के साथ **कुगतिप्रादयः** (२।२।१८) से समास हो जाता है। यदि सुबन्त के साथ समास हो तो अन्तरङ्ग होने से पहले टाप् होगा । एवं अदन्त न रहने से **पुंयोगादाख्यायाम्** (४।१।४८) से ङीष् न हो सकेगा । **प्रतिष्ठत इति प्रष्ठः । प्रष्ठस्य स्त्री प्रष्ठी** । 'प्रष्ठ'=अग्रगामी । अश्वक्रीती । धनक्रीती । कच्छपी (जातिलक्षण ङीष्) ऐसे अन्य अनेक उदाहरण हैं ।

यद्यपि सुबुत्पत्तेः प्राक् (सुप् उत्पत्ति से पूर्व) यह यहां सामान्य रूप से कहा है तो भी गति, कारक और उपपद—इन सुबन्तों का असुबन्त के साथ समास होता है, इसीलिये 'चर्मक्रीती', 'चर्मकारी'—यहां चर्मन् सुबन्त होने से पदनिबन्धन न-लोप होता है । 'वैयाकरणः'—यहां य् के पदान्त होने से ऐच् आगम होता है ।

अब यहां यह शङ्का होती है—यदि उत्तरपद से विभक्ति न होगी, असुबन्त के साथ समास होने से, तो उत्तरपद 'पद' नहीं होगा । तब उत्तरपद परे रहते विधीयमान विभक्ति का अलुक् जैसे सरसिज (कमल) में हुआ है, वह नहीं हो सकेगा । नहीं । **उत्तरपद शब्द समासचरमावयव में रूढ है** । अवश्य ऐसा मानना होगा । अन्यथा सुबन्तों का समास होने पर भी **उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ**—इस वचन से प्रत्ययलक्षण का निषेध होने से कहीं भी उत्तरपदत्व नहीं होगा ।

न्यासकार ने गतिकारकोपपदात् कृत् (६।२।१३६) सूत्र में इस परिभाषा के दो अर्थ कहे हैं—गति, कारक और उपपदों का कृत्प्रत्ययान्तों के साथ ही समास होता है । और वह सुप्-उत्पत्ति से पूर्व—यह एक अर्थ है । गति, कारक और उपपदों का अविशेषेण समास होता है कृत्प्रत्ययान्तों के साथ सुप्-उत्पत्ति से पूर्व—यह दूसरा अर्थ है । दूसरे अर्थ को मानते हैं तो **प्रपचतितराम्**—यहां भी गतिसमास होता है ॥७५॥

अब यहां यह शङ्का होती है—**उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** (७।१।७०) में अञ्च् धातु का ग्रहण नियमार्थ माना गया है, धातु को यदि उगित्-कार्य (उक् अनुबन्ध-निमित्तक कार्य) हो तो अञ्च् को ही हो । इस नियम से

अधातु को नुम् सिद्ध हो जाता है, तो सूत्र में 'अधातोः' ग्रहण व्यर्थ हो जाता है। इस शङ्का के समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

साम्प्रतिकाभावे भूतपूर्वगतिः। (७६)

अर्थ—जब कोई शब्द उस अर्थ को नहीं कह सकता जो उसका वाच्यार्थ है तो वह उस अर्थ को कहता है जो उसका पहले था। भाव यह है कि शास्त्रकार्य की प्रवृत्ति के समय उस-उस निमित्त के न होने से उस-उस शास्त्र-पठित शब्द की सार्थकता के लिये (कहीं वह अनर्थक न हो जाय) भूतपूर्व तादृशधर्म को भी आश्रित करके वह-वह शास्त्र-कार्य होता है। यह परिभाषा लोकव्यवहार सिद्ध है।[1]

उगिदचां—सूत्र में 'अधातोः' का ग्रहण व्यर्थ मत हो, अतः जो अब कार्य-प्रवृत्ति के समय अधातु नहीं, पर जो पहले अधातु था, उसे भी शास्त्र-कार्य नुम् हो जाता है। **गोमन्तमिच्छति गोमत्यति**। (बहुत सी गौओं के स्वामी को चाहता है)। यहां गोमत् (मतुबन्त) से क्यच् हुआ है। और गोमत्य (क्यजन्त) धातु हो गई। इससे कर्तरि क्विप् आने पर लोपो व्योर्वलि (६।१।६६) से 'य्' का लोप होने पर 'गोमत्' रूप सिद्ध होता है। प्रथमा एक० गोमान्। नुम्। क्विवन्त 'गोमत्' क्यजन्त की तरह धातु है, अधातु नहीं, **क्विबन्ता धातुत्वं न जहति**, क्विवन्त कृदन्त होने पर भी धातु ही हैं, तो भी भूतपूर्वगत्या यह अधातु था, अतः नुम् होता है। 'नामि' इस सूत्र के भाष्य में इस न्याय का आश्रयण किया है ॥७६॥

सीरदेवीय—

वर्तमान के अभाव में जो शब्द-रूप पूर्व विद्यमान था, उसका आश्रयण होता है (अर्थात् उसको आश्रित करके शास्त्रीय कार्य किये जाते हैं) यथा वृक्षैः—यहां **बहुवचने झल्येत्** (७।३।१०२) इससे एत्व होने पर भूतपूर्व अदन्तताको लेकर **अतो भिस ऐस्** (७।१।६) से भिस् को ऐस् हो जाता है। श्लोकवार्तिक

---

१. लोक में जैसे देवदत्त के घर के ऊपर स्थित काक के उड़ने पर काक-वद् देवदत्तस्य गृहम् (देवदत्त का वह घर है जहां कौआ था) ऐसा कहा जाता है। अथवा जैसे देवदत्त जब अपने घर को बेच देता है और दूसरा कोई उसे खरीद लेता है, तब भी यह देवदत्त का गृह है ऐसा कहने में आता है।

भी है—**कृतेऽप्येत्वे भौतपूर्व्याद् ऐस् तु नित्यस्तथा सति।** इसी प्रकार आञ्छि आयामे (भ्वा० प०) से लिट् आने पर द्वित्व होकर अभ्यास-ह्रस्वत्व होने पर भूतपूर्व गति से ह्रस्व हुआ 'अ' भी द्विमात्र आकार ही है, अतः **'अत आदेः'** (७।४।७०) में 'अतः' इस तपरकरण से दीर्घ नहीं होता। इसीलिये आञ्छ। आञ्छतुः। आञ्छुः—यहां **तस्मान्नुड् द्विहलः** (७।४।७१) से नुट् नहीं होता (तस्मात्=दीर्घीभूतादकारात्)।

यदि भूतपूर्वगति का इस प्रकार आश्रयण होता है तो यहाँ **पिपासति** में पा पाने से सन्, द्विर्वचन, अभ्यास ह्रस्व होने पर भूतपूर्व गति से 'अ' द्विमात्र आकार ही है, तो **सन्यतः** में 'अतः' इस तपरकरण से अभ्यास को इत्व नहीं होना चाहिये। नहीं। यङ्लुगन्त पापठ् से सन् करने पर 'पापठिषति'—यहां साम्प्रतिक द्विमात्र 'आ' की व्यावृत्ति में तपरकरण चरितार्थ हो चुका है। साम्प्रतिक के अभाव में ही भूतपूर्व गति का आश्रयण होता है। इसीलिये हे गौः—यहां भूतपूर्व गति से एङन्त मानकर **एङ् ह्रस्वात्सम्बुद्धेः** (६।१।६९) से सम्बुद्धि लोप नहीं होता। हे वटो—यहां साम्प्रतिक एङ् के विद्यमान होने से सम्बुद्धि-लोप चरितार्थ है।

अचो यत् (३।१।९७) सूत्र में अच्-ग्रहण इस परिभाषा का ज्ञापक है। यहां अच् क्यों पढ़ा है? **ऋहलोर्ण्यत्** (३।१।१२४) से हलन्त धातुओं से ण्यत् का विधान होगा, पारिशेष्यात् (अजन्त ही बचा रहता है) अजन्त धातुओं से ही यत् हो सकता है, तो अच् (अजन्त) क्यों पढ़ा। 'अचः' यह व्यर्थ रहता है। व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि जो भूतपूर्व अजन्त धातु है (अब अजन्त नहीं रही) उससे भी यत् हो जाय। अतः धित्स्यम्, दित्स्यम् (धा+सन्+यत्, दा+सन्+यत्) में 'आर्धधातुके' इसे विषयसप्तमी मानकर आर्धधातुक प्रत्यय आने से पूर्व अतो लोपः (६।४।४८) से 'अ' का लोप होने से हलन्त हो जाने पर भी भूतपूर्व गति से अजन्त होने से यत् प्रत्यय होता है (ण्यत् नहीं)॥७६॥

बहुव्रीहौ तद्गुणसंविज्ञानमपि। (७७)

अर्थ—बहुव्रीहि समास में विशेषण-भूत अवयव—पदार्थों (वर्तिपदार्थों) का भी संविज्ञान (=कार्यान्वयि रूप से भी बोध) होता है, उसे तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि कहते हैं। **तद् शब्द से बहुव्रीहि का परामर्श है। गुण** शब्द विशेषण-वाची, समास घटक अवयव, वर्तिपदार्थपरक है। **'अपि'** शब्द से वर्तिपदार्थों का कार्यान्वितया बोध नहीं भी होता है ऐसी विवक्षा है। ऐसे बहुव्रीहि समास को

अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि कहते हैं। **जहां अन्यपदार्थ समवाय-सम्बन्ध से सम्बद्ध है, वहां प्रायः 'तद्गुण-संविज्ञान' होता है, अन्यत्र प्रायः 'अतद्गुण-संविज्ञान'। लम्बकर्णमानय।** यहां अन्य पदार्थ देवदत्तादि के साथ लम्बकर्ण (लम्बाकान) का अवयवावयवि-भाव होने से समवाय सम्बन्ध है। लम्बकर्ण देवदत्त को जब लाया जाता है तो लम्बा कान भी साथ ही आ जाता है। **चित्रगुमानय।** (चितकबरी गौओं वाले को लाओ)। यहां अन्य पदार्थ चित्रगु पुरुष लाया जाता है, चितकबरी गौएं नहीं लाई जातीं। यहां चितकबरी गौओं का चित्रगु पुरुष के साथ स्व-स्वामि-भाव रूप सम्बन्ध है, समवाय नहीं। अतः यह अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि है। 'प्रायः' ग्रहण से **लम्बकर्णो भोज्यताम्**—यहां कर्ण का अन्यपदार्थ देवदत्तादि के साथ समवाय सम्बन्ध होने पर भी तद्गुण संविज्ञान नहीं, भोजन क्रिया में कर्ण का अन्वय न होने से। एवं चित्रवाससमानय—यहां वासस् का देवदत्तादि के साथ संयोग सम्बन्ध होने पर भी तद्गुणसंविज्ञान है, वासस् का क्रिया में अन्वय होने से। पर चित्रवासा बोध्यताम्—यहां संयोग-सम्बन्ध होने पर अतद्गुण संविज्ञान ही है, कारण कि यहां बोधन क्रिया में वासस् का कुछ भी अन्वय नहीं। शास्त्रीय उदाहरण—सर्वादीनि सर्वनामानि। यहां सर्वादीनि में आदि शब्द आद्य अवयवपरक है, अतः अवयवावयवि-भाव होने से यह तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि है, इससे 'सर्व' शब्द की भी सर्वनाम संज्ञा सिद्ध होती है। **जक्षित्यादयः षट्** (६।१।६)—यहां **'इत्यादयः'** इस बहुव्रीहि में आदि शब्द व्यवस्था-वाचक पूर्वपरक है। यहां न समवाय सम्बन्ध है, न संयोग, किन्तु पौर्वापर्य सम्बन्ध है। सो यह अतद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि है। सूत्रार्थ है—जक्ष् धातु है आदि (पूर्व) जिन छः का, वे सात अभ्यस्त संज्ञक होती हैं। ७७॥

सीरदेवीय—

गुण=विशेषण=उपलक्षण। चित्रगवादि गुण (विशेषण, उपलक्षण) है जिसका वह 'तद्गुण' कहलाता है। बहुव्रीहि समास में विशेषणसहित का ही शास्त्र में संविज्ञान (बोध) होता है ॥७७॥

अब यहां यह शङ्का होती है कि **वदः सुपि क्यप् च** (३।१।१०६) में चकार से अनुकृष्ट यत् प्रत्यय की उत्तरसूत्र **भुवो भावे** (३।१।१०७) में भी अनुवृत्ति होनी चाहिये। इसके समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

चानुकृष्टं नोत्तरत्र। (७८)

अर्थ—चकार से अनुकृष्ट (आगे को खींचे हुए प्रत्यय आदि) की अनुवृत्ति उत्तर-सूत्र में नहीं होती। इस परिभाषा का, णमुल् की अनुवृत्ति होने पर अव्यये यथाभि प्रेताख्याने कृञः क्त्वाणमुलौ (३।४।५९) में णमुल्-ग्रहण ज्ञापक है। यदि यह परिभाषा न हो तो 'अव्यये यथाभिप्रेताख्याने कृञः क्त्वा च' ऐसा न्यास करते। परिभाषा के ज्ञापित होने पर चकार पढने पर उत्तर सूत्रों में णमुल् की अनुवृत्ति न होती। इष्ट यही है कि क्त्वा और णमुल् दोनों की समकक्ष-तया उत्तरत्र अनुवृत्ति हो। अतः सूत्र में णमुल्ग्रहण चरितार्थ हो जाता है।

यह परिभाषा अनित्य है। कहीं प्रवृत्त होती है, कहीं नहीं भी। प्रवृत्ति निवृत्ति व्यवस्थित हैं। दो प्रकार का चकार है—एक जो विधेय-घटित सूत्र से अव्यवहित सूत्र में पढ़ा है, दूसरा जो व्यवहित सूत्र में पढ़ा है। दूसरे प्रकार के चकार के होने पर इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है, प्रथम प्रकार के चकार में नहीं। **तृतीया च होश्छन्दसि** (२।३।३) यह सूत्र **कर्मणि द्वितीया** (२।३।२) इस विधेयघटित सूत्र (जिसमें द्वितीया का विधान किया गया है) से अव्यवहित अनन्तर है और इसमें चकार पढ़ा है। इस चकार से अनुकृष्ट द्वितीया उत्तर सूत्र **अन्तरान्तरेण-युक्ते** (२।३।४) में सम्बद्ध होती ही है। यहां परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं हुई। पर यत्प्रत्यय रूप विधेय घटित (जिसमें यत्प्रत्यय का विधान किया है) **अचो यत्** (३।१।९७) इस सूत्र से दूर व्यवहित **वदः सुपि क्यप च** (३।१।१०६) में पढ़े हुए चकार से अनुकृष्ट यत् प्रत्यय **भुवो भावे** (३।१।१०७) में अनुवृत्त नहीं होता। यहां प्रकृत परिभाषा की प्रवृत्ति होती है। **लुटि च क्लृपः** (१।३।९३) के भाष्य में अनुवृत्त्यर्थ सभी चकारों का प्रत्याख्यान किया है, जिसका भाव यह है कि भाष्यकार आदि के व्याख्यान से ही किसी सूत्र में किसी पद की अनुवृत्ति आ रही है अथवा वह पद निवृत्त हो गया है, इसका पता चलता है। **कुलिजाल्लुक्खौ च** (५।१।५५) के भाष्य के साथ विरोध होने से भी यह परिभाषा मान्य नहीं। वहां भाष्यकार 'लुक्खौ' को व्यर्थ मानते हैं। वे **द्विगोःष्ठंश्च** (५।१।५४) से ष्ठन् की अनुवृत्ति इस सूत्र में मानते हैं और **आढकाचितपात्रात्खोऽन्यन्तरस्याम्** (५।१।५३) से खोऽन्यतरस्याम् की अनुवृत्ति भी, यद्यपि खोऽन्यतरस्याम् **द्विगोः ष्ठंश्च** (५।१।५४) में सूत्र-पठित चकार से अनुकृष्ट है।।७८।।

सीरदेवीय—

चकार द्वारा अनुकृष्ट का अगले सूत्रों में सम्बन्ध नहीं होता। अतः **वदः सुपि क्यप् च** (३।१।१०६) सूत्र में चकार से अनुकृष्ट 'यत्' की अनुवृत्ति भुवो

भावे (३।१।१०७) यहां नहीं होती, क्यप् की अनुवृत्ति तो होती है—ब्रह्म-भूयम् ।

जहां स्वरित चिह्न के आसञ्जन (लगाने) से अनुवृत्ति के सिद्ध होने पर चकार द्वारा पूर्व सूत्र से प्रत्ययादिका अनुकर्षण होता है, वहां यह परिभाषा प्रवृत्त होती है । पर जहां प्रतियोगी को देखकर निवृत्ति प्राप्त होती है और चकार से अनुवृत्ति की जाती है, वहां यह परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती । अतः **तृतीया च होश्छन्दसि** (२।३।३) यहां प्रतियोगी तृतीया को देखकर द्वितीया निवृत्त होने लगती है, उसे 'च' से अनुकृष्ट किया जाता है । इस द्वितीया की अनुवृत्ति उत्तर सूत्र **अन्तरान्तरेणयुक्ते** (२।३।४) में होती है, प्रकृत परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती ॥७८॥

अब यह शङ्का होती है कि जो कार्य अनुदात्तादि से परे को अथवा अन्तोदात्त से परे को कहा है वह लक्ष्य के व्यञ्जनादि अथवा व्यञ्जनान्त होने पर नहीं प्राप्त होता (अनुदात्त आदि के स्वर का धर्म होने से) । इस शङ्का के वारणार्थ परिभाषा पढ़ते हैं—

स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत् । (७९)

अर्थ—स्वरोद्देश्यक विधि[1] में व्यञ्जन अविद्यमान की तरह समझा जाता है । **नोत्तरपदेऽनुदात्तादावपृथिवीरुद्रपूषमन्थिषु** (६।२।१४२) में **देवता द्वन्द्वे च** (६।२।१४१) से प्राप्त देवतावाचियों के द्वन्द्व में जो पूर्वोत्तर पदों का प्रकृतिस्वर विधान किया है उसका निषेध किया है । यह निषेध तभी होता है जब पृथिवी आदि वर्जित अनुदात्तादि उत्तरपद हो । यदि यह परिभाषा न हो तो पृथिवी आदि के स्वरादि न होने से अनुदात्तादि न होने से इनका पर्युदास व्यर्थ हो जाय । परिभाषा के ज्ञापित होने पर पकारादि व्यञ्जनों के अविद्यमानवत् होने से पृथिवी आदि अनुदात्तादि हैं, अतः पर्युदास युक्त ही है । **धर्मिग्राहक-**

---

१. 'स्वरविधौ' में स्वर शब्द में शेषे षष्ठी है, कर्म्मणि षष्ठी नहीं । षष्ठी का यहां अर्थ सम्बन्ध है, वह सम्बन्ध 'स्वर का अनुवादक शास्त्र से विहित होना' यही है । 'उद्देश्यकत्व भी स्वरानुवादक शास्त्र से बोधित होना ही है' । जिस शास्त्र (सूत्र) में अन्यत्र विहित स्वर का अनुवाद करके कुछ विधान किया है वहां इस परिभाषा की प्रवृत्ति से व्यञ्जन अविद्यमानवत् होता है, जहां स्वरानुवाद किये विना स्वर का विधान है वहां यह परिभाषा नहीं लगती ।

मान से (धर्मी परिभाषा, उसके ग्राहक=ज्ञापक प्रमाण=सूत्र में पृथिवी आदि का पर्युदास, उससे) यह परिभाषा जैसे इस सूत्र में स्वरोद्देश्यक-विधि विषय में लगती है, वैसे ही अन्यत्र। यही कारण है कि **शतुरनुमो नद्यजादी** (६।१।१७३) में नुम्-रहित अन्तोदात्त शतृप्रत्ययान्त से परे अजादि विभक्ति को उदात्तत्व विधान किया है। **यह स्वरोद्देश्यक विधि नहीं**। यह उदात्तत्व स्वरानुवादक शास्त्र से विहित नहीं। यहां भी यदि परिभाषा की प्रवृत्ति हो तो व्यञ्जन के अविद्यमानवत् होने से सभी विभक्तियां अजादि हो जायेंगी, तो अजादि (विशेषण का) ग्रहण व्यर्थ हो जायगा। **अचः कर्तृयकि** (६।१।१९५), यह उपदेश में अजन्त धातुओं का आदि उदात्त होता है कर्तृवाची यक् परे होने पर, ऐसा विधान करता है। **यह भी स्पष्ट ही स्वरोद्देश्यक विधि नहीं है**। यहाँ भी यदि परिभाषा लगे तो व्यंजन के अविद्यमानवत् होने से सभी धातुएं अजन्त हो जायेंगी तो 'अचः'-ग्रहण व्यर्थ हो जायेगा।

परिभाषा के इस अर्थ को मानकर ही भाष्यकार ने 'राजवती' में **अन्तोऽवत्याः** (६।१।२२०) से अन्तोदात्त नहीं होता, कारण कि इस स्वरविधि के प्रति **न-लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (८।२।७) से विहित न् का लोप **न-लोपः सुप्स्वर-संज्ञातुग्विधिषु कृति** (८।२।२) से असिद्ध है ऐसा कहा है। न्-लोप के असिद्ध होने से 'राजवती' के अन्त में 'अन्वती' है, 'अवती' नहीं। यदि यह परिभाषा यहाँ भी प्रवृत्त होती तो व्यञ्जन के अविद्यमानवत् होने से 'अवती' अन्तोदात्त प्रसक्त होता। इसी प्रकार 'उदश्वित्वान्' में **ह्रस्व-नुड्भ्यां-मतुप्** (६।१।१७६) से वत् उदात्त नहीं होता ऐसा भाष्य में कहा है। स्वरोद्देश्यक विधि न होने से व्यञ्जन 'त्' के विद्यमान होने से ह्रस्व से परे (अव्यवहित उत्तर) मतुप् नहीं है ॥७९॥

सीरदेवीय—

उदात्त आदि स्वर विधि में व्यञ्जन अविद्यमान की तरह समझा जाता है। तव्य आदि प्रत्यय के तकार के अविद्यमानवत् होने से प्रत्यय आद्युदात्त होता है, इससे तकारोत्तरवर्ती 'अ' उदात्त होता है। राजदृषद्—यहाँ हलन्त होने पर भी **'समासस्य'** (६।१।२२३) से 'ष' अन्तोदात्त होता है।

उदश्वित्वान् घटः (छासवाला घड़ा), मरुत्वान् (=इन्द्र)—यहाँ इस परिभाषा का आश्रयण नहीं किया जाता। तकार के व्यवधान से **ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप्** (६।१।१७६) से मतुप् उदात्त नहीं होता। इस परिभाषा के यहाँ

अनाश्रयण में ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप् सूत्र में नुड्ग्रहण ज्ञापक है। यदि यहाँ परिभाषा की प्रवृत्ति हो तो 'अक्षण्वता' यहाँ व्यञ्जन के अविद्यमानवत् होने (अर्थात् तत्कृतव्यवधान न होने) से ही मतुप् उदात्त हो जाता। नुट् ग्रहण व्यर्थ रहता।

अनुदात्तादेश्च (४।३।१४०) से विधीयमान अञ् के बाधन के लिये **बिल्वादिभ्योऽण्** (४।३।१३६)—यह अण्-विधान इस परिभाषा का ज्ञापक है। यदि व्यञ्जन विद्यमानवत् हो तो बिल्वादि अनुदात्तादि नहीं हो सकते। बिल्व आदि में ब् आदि है। अनुदात्त धर्म अ का है, ब् (हल्) को अनुदात्तत्व की प्राप्ति ही नहीं। यह वचन मयट् के बाधन के लिए हो सकता है, ऐसा भी नहीं कह सकते। यदि मयट् के बाधन के लिए बिल्वादि से अण् का ग्रहण किया है, तो अण्ग्रहण व्यर्थ रहता है। अण् का प्रयोजन यह है कि बिल्वादिगण में 'पाटलिपुत्र' शब्द पढ़ा है, उससे अण् हो। यथाप्राप्त 'अनुदात्तादेश्च' से अञ् न हो।

इमनिच् आदि का चित्करण भी परिभाषा का ज्ञापक है। अन्यथा इमनिच् के हलन्त होने से इमनिजन्त को स्वर की प्राप्ति न होने से इमनिच् का चित्करण अनर्थक हो जाता।

पूर्वार्द्धे भवम् पौर्वार्द्धिकम्। दक्षिणार्द्धे भवं दाक्षिणार्द्धिकम्। यहाँ **दिक्पूर्वपदाट्ठञ् च** (४।३।६) से शैषिक ठञ् प्रत्यय होता है। **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (६।१।१९७) से आद्युदात्त होता है। 'प्' को अविद्यमान मानकर 'औ' उदात्त होता है। इसी प्रकार दाक्षिणार्द्धिकम् में दकारोत्तरवर्ती आकार।

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि स्वरविधौ परिभाषा के होने पर भी राजदृषद् का षकारोत्तरवर्ती 'अ' समासस्य (६।१।२२३) से उदात्त नहीं हो सकता, कारण कि वह सूत्र समास के अन्त को उदात्त विधान करता है और समास का अन्त यहां द् व्यञ्जन है। इस शङ्का के शमन के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

हल्स्वर-प्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्। (८०)

अर्थ—जब हल् को स्वर का प्रसङ्ग हो, तो व्यञ्जन अविद्यमानवत् समझना चाहिये। **यतोऽनावः** (६।१।२१३) में नौ-प्रतिषेध इस परिभाषा का ज्ञापक है। यत्प्रत्ययान्त द्व्यच् का आदि उदात्त होता है, यदि 'यत्' प्रत्यय 'नौ' शब्द से परे न हो—यह सूत्रार्थ है। नाव्यम्—यहाँ आदि नकार स्वरयोग्य नहीं है (व्यञ्जन होने से) और जो स्वरयोग्य आकार है, वह आदि

नहीं है, अतः नौ शब्द का प्रतिषेध अनर्थक ठहरता है। यदि कहो कि 'नाव्य' का प्रतिषेध आवश्यक है, इसलिये कि इस प्रतिषेध के न होने पर आदि नकार के स्थान में अन्तरतम (सदृशतम) अच् (लृ) हो जायगा जो उदात्त-गुण-विशिष्ट होगा। नहीं। तब भी नौप्रतिषेध न होने पर भी, 'नाव्य' आद्युदात्त नहीं होगा, कारण कि 'लृ' आदेश होने से आद्युदात्तत्व के निमित्तभूत द्व्यच्कत्व का विनाश हो जाता है, जो उपजीव्यविरोध है। अतः नौ-प्रतिषेध परिभाषा का ज्ञापक ही है ॥८०॥

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि यदि **पूरण-गुण-सुहितार्थ-सदव्ययतव्य**—(२।२।११) सूत्र में तव्य से तव्यत् का भी ग्रहण हो, तो तव्यत्प्रत्ययान्त के साथ भी षष्ठी समास का निषेध प्राप्त होता है। **दिव औत्** (७।१।८४) सूत्र में यदि दिव् से क्विबन्त दिव् धातु का भी ग्रहण हो, तो अक्षदिव् से भी सु परे रहते दिव् को 'औ' अन्तादेश प्राप्त होता है। यदि **यतोऽनावः** (६।१।२१३) में यत् से ण्यत् का भी ग्रहण हो, ण्यत् प्रत्ययान्त को भी आद्युदात्त स्वर प्राप्त होता है। **ऋदृशोऽङि गुणः** (७।४।१६) से अनुवृत्त अङ् परे होने पर जैसे **श्वयतेरः** (७।४।१८) से 'श्वि' को अकार अन्तादेश होता है वैसे ही चङ् परे होने पर भी प्राप्त होता है, कारण कि तव्य, तव्यत् आदि में अनुबन्धकृत भेद है, प्रयोगस्थ प्रत्यय तो एकसमान है। इस शङ्का के समाधान के लिए परिभाषा पढ़ते हैं—

निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य। (८१)
तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुबन्धकस्य। (८२)

अर्थ—सूत्र में जब अनुबन्धरहित प्रत्यय का पाठ है, तो वह सानुबन्धक प्रत्यय का बोधक नहीं होता। (८१)

सूत्र में जब कोई प्रत्यय अथवा अप्रत्यय एक वा दो अनुबन्धों के साथ पढ़ा गया है तो वह उस एक वा दो अनुबन्धों से अतिरिक्त अनुबन्ध वाले प्रत्यय आदि का बोध नहीं कराता। (८२)

वामदेवाड् ड्यड् ड्यौ (४।२।९) इस सूत्र में ड्य और ड्यत् प्रत्ययों का डित्करण इन दो परिभाषाओं का ज्ञापक है। यह डित् इसलिये किया है कि **ययतोश्चातदर्थे** (६।२।१५६) में ड्य, ड्यत् का ग्रहण न हो। यदि य और यत् से ड्य, ड्यत् का भी ग्रहण हो जाय, तो डित्करण व्यर्थ हो जाय। ड्य और ड्यत् में डित्व **'टेः'** (६।४।१४३) से टि-लोप के लिए है, यदि ऐसा कहो

तो यह ठीक नहीं, कारण कि टि-लोप तो **'यस्येति च'** (६।४।१४८) से सिद्ध है। अतः परिभाषा के ज्ञापन के अतिरिक्त इसका कोई प्रयोजन नहीं। ययतोश्चातदर्थे के निरनुबन्धक 'य' से सानुबन्धक ड्य का ग्रहण नहीं हो सकता और एकानुबन्धक यत् से द्व्यनुबन्धक ड्यत् का बोध नहीं हो सकता। भाष्य में श्लोकवार्तिक भी पढ़ा है—

> **सिद्धे यस्येतिलोपेन किमर्थं ययतौ डितौ।**
> **ग्रहणं माऽतदर्थे भूद् वामदेव्यस्य नञ्स्वरे॥**

अतः 'अवामदेव्यम्'—यहां ययतोश्चातदर्थे में य और यत् से ड्य और ड्यत् का ग्रहण न होने से नञ् से परे उत्तरपद को अन्तोदात्त नहीं होता, किन्तु **तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया**—(६।२।२) से अव्यय पूर्वपद-प्रकृति-स्वर होता है। ये दोनों परिभाषाएं प्रत्यय और अप्रत्यय विषय में समान रूप से प्रवृत्त होती हैं। **दिव औत्** में दिव् प्रातिपदिक अव्युत्पन्न होने से निरनुबन्धक है। अक्षदिव् में दिव् धातु सानुबन्धक (दिवु) है। इसे 'औ' अन्तादेश नहीं होता, परिभाषा के यहां संचारित होने से। **औङ आपः** (७।१।१८) के भाष्य से विदित होता है कि इन परिभाषाओं की वर्णग्रहण में प्रवृत्ति नहीं होती। यहां औङ् में ङ् अनुबन्ध नहीं है, मुखसुखार्थ ङकार पढ़ा है। **अथवा वर्णग्रहणमिदं भवति, न चैतद् वर्णग्रहणेषु भवत्यननुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्येति**—यह भाष्य ग्रंथ है। **धर्मिग्राहकमान** से (सूत्र में ड्य ड्यत् के डित्करण रूप प्रमाण से) प्रथम परिभाषा, जिस एक अनुबन्ध से अथवा दो अनुबन्धों से प्रत्ययादि सानुबन्धक होते हैं उसके अथवा उनके अनुच्चारण में प्रवृत्त होती है, अतः **जश्शसोः शिः** (७।१।२०) में शस् (जो सानुबन्धक है) से **बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम्** (५।४।४२) इत्यादि से विहित निरनुबन्धक तद्धित शस् का ग्रहण होना चाहिये, यह शङ्का व्यर्थ है। यहां श् अनुबन्ध का तद्धित शस् में अनुच्चारण नहीं, किन्तु उच्चारण है। दूसरी परिभाषा दो में से एक, अथवा तीन अनुबन्धों में से दो के उच्चारण होने पर ही प्रवृत्त होती है। अतः **वनो र च** (४।१।७) में किसी एक भी अनुबन्ध के उच्चारण न होने से परिभाषा की प्रवृत्ति न होने से वनिप्, क्वनिप्—दोनों का ग्रहण हो जायगा।

दूसरी परिभाषा का जो यह अर्थ कुछ लोग करते हैं कि 'एकानुबन्धक का ग्रहण संभव होने पर द्व्यनुबन्धक का ग्रहण नहीं होता'—यह भाष्यसम्मत नहीं। यदि ऐसा स्वीकार किया जाय तो **अण् इनुणः** (५।४।१५) में एकानुबन्धक

का ग्रहण असंभव होने से परिभाषा की प्रवृत्ति न होने से घिनुण् का भी ग्रहण होने लगेगा ॥८२॥

सीरदेवीय—

अतः **सदव्ययतव्य**—(२।२।११) इस षष्ठी समास के निषेध में निरनुबन्धक तव्य का ग्रहण है। सानुबन्धक तव्यत् का नहीं। तथा **दिव उत्** (६।१।१३१) से दिवु क्रीडाविजिगीषा—आदि अर्थों में पढ़ी हुई दिव् धातु को उत्व नहीं होता। **अक्षद्यूः**।

कुछ लोग निरनुबन्धक परिभाषा प्रत्यय विषय में ही प्रवृत्त होती है ऐसा मानते हैं। 'जॄ व्रश्च्योः क्त्वि' (७।२।५५) सूत्र में **अनुन्यासकार** ने ऐसा कहा है। **न्यासकार** ने भी इस बात को स्वीकार किया है। **न कवतेर्यङि** (७।४।६३) इस सूत्र में न्यासकार ने जो यह कहा है—लुग्विकरणपरिभाषा से आदादिक 'कु' का अग्रहण सिद्ध होने पर सूत्र में 'कवतेः' यह श्तिप् से निर्देश तौदादिक 'कू' के निरास के लिये है, वह सर्वथा उपपन्न होता है। अन्यथा अन्तरङ्ग निरनुबन्धक-परिभाषा के विषय में लुग्विकरण-परिभाषा कैसे कही जाती? दूसरे लोग प्रत्यय अप्रत्यय विषय में सामान्य रूप से यह परिभाषा प्रवृत्त होती है ऐसा मानते हैं।

सीरदेव इसके साथ **'एकानुबन्धकग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य'** ऐसी दूसरी परिभाषा पढ़ता है यह परिभाषा **वसोः सम्प्रसारणम्** (६।४।१३१) यहां उपस्थित नहीं होती। 'वसु' को जो उगित् किया है उसके सामर्थ्य से। अतः वसु-ग्रहण में वसुक्वसु—दोनों का ग्रहण होता है। शङ्का—यदि 'वसु' को उगित् न किया जाय, 'वसः सम्प्रसारणम्' ऐसा पढ़ा जाय, तो 'वस आच्छादने' का ग्रहण हो जायगा, जिससे **वर्मवसः पश्य**—यहां भी सम्प्रसारण होने लगेगा ॥८१॥

सीरदेवीय—(८२)

स एवानुबन्धो यस्य स तदनुबन्धकः, वही है अनुबन्ध जिसका उसके ग्रहण में अन्य जो उस अनुबन्ध से शून्य है उसका ग्रहण नहीं होता। **चङि** (६।६।११) इस चकारानुबन्धक प्रत्यय के निमित्त से द्विर्वचन होता है, चकार अनुबन्ध से शून्य अङ् प्रत्यय-निमित्तक नहीं—अदर्शत् ॥८२॥

अब यहां यह शङ्का होती है कि कुटीर आदि शब्दों में स्वार्थ में 'र' आदि प्रत्यय विहित हुए हैं, ऐसे स्वार्थिक प्रत्ययों का वही लिङ्ग व वचन होना चाहिये जो उनकी प्रकृति (जिस से परे वे आये हैं) का। यही न्याय्य प्रतीत

होता है। तो कुटीर (=ह्रस्वा कुटी) पुँल्लिङ्ग कैसे हुआ? कुटी का लिङ्ग रहना चाहिये था। इस प्रकार ईषदसमाप्ता आपोऽप्कल्पम्--यहां स्वार्थिक कल्पप् प्रत्यय की प्रकृति अप् (जो नित्य स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनान्त है) के ही लिङ्ग वचन होने चाहियें थे। इस आक्षेप का उत्तर परिभाषारूप में पढ़ते हैं—

क्वचित्स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते। (८३)

अर्थ—कहीं-कहीं स्वार्थिक प्रत्यय अपनी प्रकृति लिङ्ग व वचन को छोड़ भी देते हैं। **प्रकृतितः**—यहां षष्ठयर्थ में 'तसि' प्रत्यय है। **प्रकृतितः=प्रकृतेः।** 'प्रत्यय'—यह महती संज्ञा है। इसे अर्थवती होना चाहिये। **स्वमर्थं प्रत्याययतीति प्रत्ययः।** जहाँ **शास्त्र प्रत्यय का विशिष्ट अर्थ नहीं कहता, वहां अर्थवत्त्व की जिज्ञासा में उपस्थित हुए प्रकृति के अर्थ से अर्थवत्ता लेनी होगी।** प्रकृत्यर्थ के विशेषण-रूप से उपस्थित हुए लिङ्ग संख्या द्वारा प्रकृति के लिङ्ग संख्या का अनुवर्तन औत्सर्गिक है। पर इसका व्यवहार-वश कहीं-कहीं अपवाद है, अतः परिभाषा में 'क्वचित्' पढ़ा है।

णचः स्त्रियामञ् (५।४।१४) में 'स्त्रियाम्'—ग्रहण इस का ज्ञापक है। यदि यह परिभाषा न हो, तो **कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम्** (३।३।४३) से स्त्री-लिङ्ग वाच्य होने पर णच् विधान किया है, तो स्वार्थ में अञ् भी स्त्रीलिङ्ग वाच्य होने पर ही होगा, तो प्रकृत सूत्र में स्त्रियाम्—यह वचन व्यर्थ हो जाता है ॥८३॥

सीरदेवीय—

कुटीरः—यहां लिङ्ग का अतिक्रम है। कुटी स्त्री है, कुटीर पुमान् है। अप्कल्पम्—यहां लिङ्ग तथा वचन दोनों का अतिक्रम है। **ईषदसमाप्ता आपः अप्कल्पम्। पचतोरूपम्। पचन्तिरूपम्**—यहां वचन का अतिक्रम है। परिभाषा में अपि शब्द के पाठ से कहीं अतिक्रम नहीं भी होता—कुत्सितोऽश्वः= अश्वकः।

णचः स्त्रियामञ् (५।४।१४) इस सूत्र में 'स्त्रियाम्' यह वचन इस परि-भाषा का ज्ञापक है। जब लिङ्ग का व्यतिक्रम होना नहीं, तो 'स्त्रियाम्' पढ़ना व्यर्थ है। **कर्मव्यतिहारे णचः स्त्रियाम्** (३।३।४३) से कर्मव्यतिहार अर्थ में स्त्रीत्व वाच्य होने पर ही तो णच् का विधान किया है।

इस परिभाषा का एक और उदाहरण दिया जाता है—द्विपदिका। द्विश-तिका। द्वौ द्वौ पादौ ददाति—**द्विपदिका**। द्वे द्वे शते ददाति—**द्विशतिका**। यहां

पादशतस्य संख्यादेर्वीप्सायां वुन् लोपश्च (५।४।१) से वुन् हुआ है और अन्त्य अकार का लोप। वृत्तिकार का कहना है कि—**स्वभावाद् वुन्प्रत्ययान्तं स्त्रियामेव वर्तते** ॥८३॥

अब यहां यह शङ्का होती है कि **युवोरनाकौ** (७।१।१) सूत्र के भाष्य में **सुपथी नगरी** (**शोभनाः पन्थानो यस्यां सा सुपथी**) ऐसा पढ़ा है। वहां **इनः स्त्रियाम्** (५।४।१५२) से कप् समासान्त होना चाहिये था। इस शङ्का के समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

समासान्तविधिरनित्यः। (८४)

अर्थ स्पष्ट है। **प्रतेरंश्वादयस्तत्पुरुषे** (६।२।१९३)। यह स्वरसूत्र तत्पुरुष समास में उत्तरपद को अन्तोदात्त विधान करता है जब 'प्रति' पूर्वपद हो और अंशु आदि (जिनमें 'राजन्' शब्द भी पढ़ा है) उत्तरपद हों। यदि यह परिभाषा न हो तो **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (५।४।९१) से राजन् के उत्तरपद होने पर तत्पुरुष समास में नित्य टच् समासान्त हो जाने से **चितः** (६।१।१६३) से 'प्रतिराजः' अन्तोदात्त हो जाता, तो अंशु आदि गण में 'राजन्' का पाठ व्यर्थ हो जाता। इससे ज्ञापित होता है कि टच् समासान्त कभी नहीं भी होता। **सामान्यापेक्षं ज्ञापकम्** इस वचन के अनुसार सभी समासान्त प्रत्यय अनित्य होते हैं ॥८४॥

सीरदेवीय—

अतः **भुवारण्याशंसाधृतधनुषमाहूय तृणवत्**—यहां **धनुषश्च** (५।४।१३२) से धनुष् से अनङ् समासान्त नहीं हुआ। **बह्वाम्पि तडागानि**—यहां 'बह्वप्' से अकार समासान्त नहीं हुआ।

इस परिभाषा का **स्फिगपूत-वीणाञ्जोऽध्वकुक्षिसीरनाम नाम च** (६।२। १८७) सूत्र में 'अध्वन्' का ग्रहण ज्ञापक है। **अपाच्च** (६।२।१८६) से अनुवृत्त 'अप' का सम्बन्ध अध्वन् के साथ है। ताकि अपपूर्वक अध्वन् अन्तोदात्त हो। पर यदि समासान्त नित्य हो तो **उपसर्गादध्वनः** (५।४।८५) से अच् समासान्त होने पर चित् स्वर सिद्ध ही है, तो यहां पुनर्विधान क्यों किया? इसलिये कि समासान्त नहीं भी होता। समासान्ताभाव पक्ष में अन्तोदात्तता के विधान के लिये अपपूर्वक अध्वन् से यह स्वर-विधि पढ़ी है।

द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु बहुव्रीहौ (६।२।१९७)—यहां अकृत-समासान्त मूर्धशब्द का पाठ भी इस परिभाषा का लिङ्ग है ॥८४॥

अब यहां यह शङ्का होती है कि शतानि—यहां शत+नुम् (न्)+शि इस अवस्था में शतन् अङ्ग के नकारान्त होने से **ष्णान्ता षट्** (१।१।२४) से

षट् सञ्ज्ञा होने से **षड्भ्यो लुक्** (७।१।२२) से जस्-शस्-स्थानिक 'शि' का लुक् प्राप्त होता है। इसी प्रकार उपपूर्वक दीङ् के लुङ् 'उपादास्त' में दीङ् को **मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च** (६।१।५०) से एच्-विषय में उपदेशावस्था में ही दीङ् के 'ई' को 'आ' हो जाने पर **स्था-घ्वोरिच्च** (१।२।२७) से इकार अन्तादेश हो जाना चाहिये और यदि इकार हो जायगा तो **ह्रस्वादङ्गात्** (८।२।२७) से सिच् का लोप हो जायगा। इस शङ्का के समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

सन्निपात-लक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य। (८५)

अर्थ—**सन्निपात** नाम सम्बन्ध (संश्लेष, आनन्तर्य) का है। **लक्षण** शब्द निमित्त-वाची है। **सन्निपातलक्षणः**—यह बहुव्रीहि है। **संनिपातो लक्षणं यस्य सः।** **विधिः**=विधायक शास्त्र। **तं संनिपातं विहन्तीति तद्विघातः।** कर्म उपपद होने पर हन् धातु से अण्। इसका विशेष्य 'विधेः' अध्याहार्य है। सन्निपात-निमित्तक विधि ऐसे दूसरे विधिशास्त्र का निमित्त नहीं बनती जो उस सन्नि-पात का विघातक=विघटक हो। **उपजीव्य** के साथ **उपजीवक** का विरोध अयुक्त है, यह लोक न्याय इस परिभाषा का मूल है। **उपजीव्य** में ण्यन्त जीव् धातु से बाहुलकात् कर्तरि यत् प्रत्यय समझना चाहिये—**उपजीवयतीत्युप-जीव्यः**। इस न्याय पर आधृत होने से **यह परिभाषा ज्ञापक-सिद्ध नहीं है**। यदि यह वस्तुतः ज्ञापक सिद्ध हो तो संनिपात से विशेष्य विशेषण-संनिपात का बोध नहीं होगा, कारण कि ऐसा संनिपात ज्ञापक रूप से माने हुए किसी सूत्र में भी विद्यमान नहीं। परिभाषा में संनिपात शब्द से पूर्वपद का सम्बन्धमात्र ही नहीं लिया जाता है, विशेष्य-विशेषण-संनिपात भी लिया जाता है। अतः विशेष्य का विशेषण के साथ संनिपात होने पर भी परिभाषा की प्रवृत्ति होती है। इस लिये ग्रामणि कुलम्—इन दो व्यस्त पदों में ग्रामणी (क्विबन्त) को **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** (१।२।४७) से ह्रस्व हुआ है। ह्रस्व होने पर पित् क्विप् परे रहते **ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्** (६।१।७१) से तुक् प्राप्त होता है। यदि तुक् हो जाय तो प्रातिपदिक का अजन्तत्वरूप विशेषण के साथ सम्बन्ध टूट जाय। ह्रस्वविधि को अपने उपजीव्य अजन्तत्व के विघातक तुक्-विधि का निमित्त नहीं होना चाहिये। तुक् आने से प्रातिपदिक अजन्त नहीं रहता। यदि कहो विशेष्य-विशेषण-संनिपात मानने की कोई आवश्यकता नहीं। ह्रस्वत्व नपुंसकत्व-रूप अर्थ का सापेक्ष है, अतः बहिरङ्ग है और बहिरङ्ग होने से असिद्ध

है, तो ह्रस्व के अभाव में **ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्** (६।१।७१) से तुक् होगा ही नहीं। ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि अर्थ का आश्रयण होने पर बहिरङ्गता नहीं होती। यह **असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे**—परिभाषा में दिखा चुके हैं।

अर्थापेक्ष बहिरङ्गता स्वीकार करने पर भी तुग्विधि में बहिरङ्गपरिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती इसमें प्रमाण दर्शाते हैं—**षत्वतुकोरसिद्धः** (६।१।८६)। इस सूत्र में तुग्-ग्रहण इसका ज्ञापक है। तुक्-ग्रहण का प्रयोजन यह है कि अधीत्य (अधि+इ+य), प्रेत्य (प्र+इ+य)—यहां यदि तुग्विधि में बहिरङ्ग परिभाषा प्रवृत्त हो तब अन्तरङ्ग तुक् की कर्तव्यता में पदद्वय सम्बन्धी वर्णद्वय-निमित्तक दीर्घ के बहिरङ्गतया असिद्ध होने से तुक् सुलभ ही है तो सूत्र में इसका ग्रहण व्यर्थ हो जाय। इसी प्रकार **न-लोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति** (८।२।२) में कृति तुक्-ग्रहण तुग्विधि में बहिरङ्ग-परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती इसका ज्ञापक है। वृत्रहन्+क्विप्+भ्याम्—यदि यहां बहिरङ्ग परिभाषा की प्रवृत्ति हो तो बहिःस्थनिमित्तक न्-लोप के बहिरङ्गतया असिद्ध होने से अन्त-रङ्ग तुक् की प्राप्ति न होगी, तो सूत्र में कृति तुग्ग्रहण व्यर्थ हो जायगा।

चूंकि उभयविध संनिपात (पूर्वपर सम्बन्ध, विशेष्यविशेषण संनिपात) शास्त्रकार को अभिमत है इसीलिये प्रकृत परिभाषा की अतिव्याप्ति रूप दोष दिखाते हुए सिद्धान्ती वार्तिककार ने कहा —**वर्णाश्रयः प्रत्ययो वर्णविचालस्या-निमित्तं स्यात्**, अर्थात् दाक्षिः, प्लाक्षिः—(यहां प्रातिपदिक विशेष्य का अदन्तत्व-रूप विशेषण के साथ संनिपात है) वर्णाश्रय (अकाराश्रित) इञ् प्रत्यय वर्ण-विनाशक विधि (=यस्येति च ६।४।१४८) का निमित्त नहीं होगा, (यदि संनिपात-परिभाषा नित्य हो)। इससे स्पष्ट है कि विशेष्य-विशेषण-संनिपात वार्त्तिककार को अभिमत है। यदि ऐसा न हो तो परिभाषा की प्रवृत्ति का अवसर ही नहीं, अतिव्याप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता।

भाष्य में जो यह कहा है—प्रत्यय पूर्वपर-सम्बन्ध-रूप संनिपात-निमित्तक नहीं। संनिपात शब्द से पूर्वपर सम्बन्ध ही लिया जाता है यह कल्पना कर स्वीकार किया जाता है कि प्रत्यय संनिपातलक्षण नहीं, अतः पूर्ववार्तिक को ऐसे पढ़ेंगे—**अङ्गसंज्ञा वर्णविचालस्यानिमित्तं स्यात्**, अर्थात् अङ्ग संज्ञा जो (पूर्वपर-संनिपात-लक्षण है) वह 'यस्येति च' से विधीयमान अलोप का निमित्त नहीं होगी—यह एकदेशी की उक्ति समझनी चाहिए।

यदि पूर्ववार्तिक इस वार्तिक के साथ वस्तुतः समानार्थक है तो शैवः, गार्ग्यः, वैनतेयः आदि में भी अङ्गसंज्ञा अलोप की अनिमित्त होगी यद्यपि शैव आदि में

अण्, यञ्, ढक् प्रत्यय वर्णाश्रय नहीं हैं, तो वार्तिक में वर्णाश्रय-ग्रहण व्यर्थ रहेगा।

ग्रामणि कुलम्, ग्रामणिपुत्रः आदि में उत्तरपद-निमित्तक ह्रस्वत्व होने पर तुक् का वारण जो **नाजानन्तर्ये**—परिभाषा का अनादर करके बहिरङ्ग-परिभाषा के आश्रयण से **कृन्मेजन्तः** (१।१।३९) तथा **ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्** (६।१।७१) सूत्रों के भाष्य में किया है यह एकदेशी का कथन है। अतः **कृन्मेजन्तः** (१।१।३९) में वार्तिककार ने ग्रामणिकुलम् इत्यादि में तुक् के अभाव को संनिपात-परिभाषा का फल बताया है।

लिङ्गवती परिभाषा होनी चाहिये, अतः परिभाषा-फल को कहकर परिभाषा-लिङ्ग को कहते हैं—सन्निपात-निमित्तक-विधि का सद्भाव इस परिभाषा का निमित्त है। जहां यह निमित्त है वहाँ यह परिभाषा प्रवृत्त होती है। परिभाषार्थ यह है—जिस संनिपात को निमित्त बनाकर जो कोई शास्त्र अथवा कार्य प्रवृत्त होता है, वह शास्त्र वा कार्य उस संनिपात के विघातक विधि का स्वयं निमित्त नहीं होता, जो संनिपात उस पूर्व शास्त्र व कार्य की प्रवृत्ति से पूर्व विद्यमान होकर उसकी प्रवृत्ति का निमित्त था।

अब यहां यह शङ्का होती है कि यदि यह परिभाषा नित्य है तो 'रामाय' इत्यादि में **सुपि च** (७।३।१०२) से दीर्घ नहीं होना चाहिये, कारण कि अदन्त अङ्ग तथा ङे के संनिपात से उत्पन्न हुए 'य' आदेश **ङेर्यः** (७।१।१३) को उस संनिपात के विघातक दीर्घ विधायक **सुपि च** (७।३।१०२) का निमित्त नहीं होना चाहिये। यह कहना कि दीर्घत्व के यञादि सुप् की अपेक्षा करने से इस परिभाषा की दृष्टि में बहिरङ्गतया असिद्ध होने से संनिपात का विघात ही नहीं, तो इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होगी, यह ठीक नहीं। **इस परिभाषा की प्रवृत्ति के लिये वास्तविक सिद्धता ली जाती है, आरोपित शास्त्र द्वारा कल्पित असिद्धता नहीं।** दीर्घविधि से संनिपात का विघात होगा यह वस्तु-स्थिति है। किं च। दीर्घत्व असिद्ध भी नहीं, कारण कि **अन्तरङ्ग कार्य की कर्तव्यता में कृत बहिरङ्ग कार्य असिद्ध होता है, अन्तरङ्ग कार्य के हो जाने पर बहिरङ्ग की असिद्धता में कोई प्रमाण नहीं।** **ङेर्यः** से 'य'-आदेश अन्तरङ्ग है, उसके होने पर 'सुपि च' से दीर्घ प्राप्त होता है जो बहिरङ्ग है।

गौरी+सु (सम्बुद्धि सु)—यहां **अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः** (७।३।१०७) से 'सु' को मानकर जो गौरी के 'ई' को ह्रस्व होता है उसे **एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः** (६।१।६९) इस सुलोप-विधायक शास्त्र का निमित्त नहीं होना चाहिये। इसके

उत्तर में जो यह कहा जाता है कि यहां संनिपात का आतिदेशिक विघाताभाव है, अर्थात् स्थानिवद्भाव से 'सु' विद्यमान है। तो सन्निपात का विघात हुआ ही नहीं, तो संनिपात-परिभाषा किस विघात को रोकने के लिये प्रवृत्त हो? ऐसा मानना भाष्यविरुद्ध है। **कृन्मेजन्तः** सूत्र में ऐसे स्थल में भी प्रवृत्ति मानते हुए अतिव्याप्ति-रूप दोष बताया है अर्थात् परिभाषा की अनित्यता से अनिष्ट-परिहार किया है। यदि कहो कि संनिपात के अशास्त्रीय होने से (अर्थात् **पूर्व-परसम्बन्धः संनिपातः** इत्यादि संज्ञा शास्त्र ने कहीं नहीं की) स्थानिवद्भाव नहीं हो सकता, तो यह भी तुम्हें दिखाना होगा कि असिद्धत्व कैसे होता है? **ईदूदेत्**—(१।१।११) के सूत्र के प्रदीप में कैयट ने स्पष्ट कहा है कि अशास्त्रीय पदार्थ के प्रति कोई शास्त्रीय कार्य असिद्ध नहीं होता। इसी कथन से यह भी सिद्ध होता है कि पूर्वत्रासिद्धीय कार्य (त्रिपादीस्थ कार्य) में भी इस परिभाषा की प्रवृत्ति हो सकती है जिससे त्रिपादीस्थ कार्यों का निषेध हो जायगा, कारण कि वे त्रिपादीस्थ कार्य इस परिभाषा की दृष्टि में असिद्ध नहीं। पर नहीं होती, क्योंकि यह परिभाषा अनित्य है।

'रामाय'-विषयक आक्षेप में वस्तुतः कुछ सार नहीं, कारण कि यह संनिपात परिभाषा अनित्य मानी गई है। इसकी अनित्यता में पाणिनि का **कष्टाय क्रमणे** (३।१।१४) सूत्र में 'कष्टाय' निर्देश ज्ञापक है।

इस परिभाषा की प्रवृत्ति के लिये यह अत्यावश्यक नहीं है कि जिन दो के संनिपात को संनिपात-विघातक विधि नष्ट करेगी, उन दो का संनिपात-निमित्तक विधि में उपादान हो।[1] इसीलिये **कृन्मेजन्तः** (१।१।३९) सूत्र के भाष्य में दाक्षिः—यहां (दक्ष—इञ्) अकारान्त प्रकृति दक्ष और इञ् प्रत्यय के संनिपात से जायमान अङ्ग संज्ञा इस परिभाषा से अलोप (यस्येति च (६।४।१४८) का निमित्त न होगी—यह शङ्का की है और परिभाषा को अनित्य मानकर समाधान किया है। यदि ऐसा न हो तो अङ्ग संज्ञा-विधायक-शास्त्र **यस्मात्प्रत्यय-विधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्** (१।४।१३) में अदन्त प्रकृति की इञ् प्रत्यय परे होने

---

१. यथा **घेर्ङिति** (७।३।१११) में। जिन दो के संनिपात का विघातक शास्त्र है, उन दो का (प्रकृत में घि तथा ङित् का) संनिपात-लक्षण विधि घेर्ङिति में उपादान किया है, सो यहां चिकीर्षु+ए इत्यादि में गुण होने पर एजन्त होने पर कृन्मेजन्तः से प्राप्त अव्यय संज्ञा को यह परिभाषा रोकेगी, जिससे 'ए' का लोप नहीं होगा।

पर अङ्ग संज्ञा होती है, ऐसा नहीं कहा। अतः 'दाक्षि' की सिद्धि में संनिपात-परिभाषा की प्रवृत्ति ही नहीं होगी।

यहाँ कोई कहते हैं कि 'कुम्भकारेभ्यः', 'आधये', 'चिकीर्षवे' आदि में 'कुम्भकारे' आदि की इस परिभाषा की प्रवृत्ति से अव्यय-संज्ञा नहीं होगी—यह भाष्यकार का कथन असंगत है, कारण कि इस परिभाषा की प्रवृत्ति से सुप् विभक्ति भ्यः, तथा ङे का लुक् नहीं होगा, क्योंकि **बहुवचने झल्येत्** (७।३।१०३) से अङ्ग का एजन्तत्व तथा **घेर्ङिति** से गुण द्वारा एजन्तत्व संनिपात लक्षण है, वह एतत्संनिपात विघातक लुक् का कारण नहीं बनेगा, पर 'कुम्भकारे', 'आधे', 'चिकीर्षौ' में अण्, कि, उ प्रत्ययों के कृत् होने से एत्व होने के पश्चात् 'कृन्मेजन्तः' से अव्यय संज्ञा क्यों न हो। संनिपात का विघात 'भ्यः', और 'ए' के लुक् से होगा, 'कुम्भकारे' आदि की अव्यय संज्ञा होने से नहीं। अव्यय संज्ञा निष्फल नहीं होगी, इस के फल स्वरूप अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः (५।३।७१) से अकच् स्वार्थ में हो सकेगा। भाष्यकार के उपर्युक्त वचन में कुछ भी असंगति नहीं। भाष्यकार जब परिभाषा की प्रवृत्ति से 'कुम्भकारे' आदि की अव्यय संज्ञा का वारण करते हैं, और अकच्-रहित 'कुम्भकारेभ्यः' आदि उदाहरण देते हैं, तो उदाहरण प्रामाण्य से इस परिभाषा का यह अर्थ होता है—साक्षात् अथवा परम्परा-द्वारा अपने निमित्त का जो विधि विघातक है उसका संनिपात-लक्षण विधि स्वयं निमित्त नहीं बनती। 'कुम्भकारेभ्यः' इत्यादि में झलादि बहुवचन सन्निपातनिमित्तक जो 'एत्व' उसका जो कार्य अव्ययत्व, वह चाहे साक्षात् उस संनिपात का विघातक नहीं, अव्यय-संज्ञा-फलभूत लुक् प्राप्ति द्वारा परम्परया अव्ययत्व भी तादृश संनिपात का विघातक ही है। अतः परिभाषा प्रवृत्ति द्वारा भाष्यकार कृत अव्यय-संज्ञा-वारण सर्वथा युक्त है।

कार्यकाल पक्ष में अव्यय-संज्ञा (**कृन्मेजन्तः** १।१।३९) लुक् विधि **अव्ययादाप्सुपः** (२।४।८२) में संनिहित होकर एकवाक्यतापन्न हो जाती है, तो लुक् के सन्निपातविघातक होने से इस परिभाषा से लुक् नहीं होगा। पर जब अव्यय संज्ञा अकच-विधायक शास्त्र **अव्यय-सर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः** (५।३।७१) में संनिहित होकर एकवाक्यतापन्न हो जाती है तो अकच् के टि से पूर्व निविष्ट होने से संनिपात-विघातक न होने के कारण 'कुम्भकारे' आदि की अव्यय संज्ञा होगी ही—ऐसा कहना ठीक न होगा। अकच के साथ एकवाक्यतापन्न अन्तरङ्ग अव्यय-संज्ञा के प्रति गुण ('आधे' आदि में 'ए') तथा कुम्भकारेभ्यः में एत्व के वहिरङ्गतया असिद्ध होने से अकच् नहीं होगा और इसके साथ

अन्वित अव्यय संज्ञा भी नहीं होगी। लुक्-विधि के साथ एकवाक्यतापन्न अव्यय-संज्ञा गुणादि से अन्तरङ्ग नहीं, कारण कि गुणादि (घेर्ङिति, बहुवचने झल्येत्) सुप् के आश्रित हैं और अव्यय-संज्ञा भी। **कृन्मेजन्तः** की लुक् विधायक शास्त्र **अव्ययादाप्सुपः** के साथ एकवाक्यता होने पर अर्थ होता है—'सुप् परे कृत् जो एजन्त (एच्+अन्त) तदन्त की अव्यय संज्ञा होती है और उससे परे सुप् का लुक् होता है।' अतः हम यहां बहिरङ्ग परिभाषा से 'कुम्भकारे' आदि में सुब्लुक् तथा अव्यय संज्ञा को रोक नहीं सकते, इसलिये तदर्थ संनिपात-परिभाषा का आश्रयण करना होगा।

कष्टाय क्रमणे (३।१।१४) से परिभाषा की अनित्यता ज्ञापित होती है और **न यासयोः** (७।३।४५) इस निर्देश से भी। या, सा—यहां यद्, तद् से, सु विभक्ति के निमित्त से **त्यदादीनामः** (७।२।१०२) से यद्, तद् के अन्त्य 'द्' के स्थान में 'अ' आदेश होता है, इस 'अ' को निमित्त मानकर स्त्रीत्व-विवक्षा में टाप् होता है जिससे 'अ' और विभक्ति 'सु' का संनिपात नष्ट हो जाता है, **अव्ययादाप्सुपः** (२।४।८२) से 'सु' का लुक् हो जाने से। यहां स्पष्ट ही उपजीव्य विरोध है।

यदि यत्र तत्र संकोचाभाव से इस परिभाषा की प्रवृत्ति हो तो नाना दोष प्रसक्त होते हैं। अतः भाष्य में इन्हें परिगणित किया है ताकि इष्ट विषय में इसकी प्रवृत्ति हो, अनिष्ट विषय में न हो।

१. यदि यह परिभाषा नित्य हो तो वर्णाश्रय प्रत्यय वर्णविनाशक विधि का निमित्त नहीं होगा। दक्ष+इञ्=दाक्षिः। यहां दक्ष के अन्त्य 'अ' का लोप न हो सकेगा।

२. **क्रीङ्जीनां णौ** (६।१।४८) से णिच् परे रहते जो आत्व विधान किया है वह **अर्तिह्रीव्लीरी०**—(७।३।३६) सूत्र से विधीयमान पुक् (जो संनिपात का विघातक होगा) का निमित्त न होगा, अर्थात् पुक् न हो सकेगा।

३. दा+णिच् के लुङ् अदीदपत् में पुक् 'दा' के ह्रस्वत्व का निमित्त न होगा, जिससे ह्रस्व न होने से इष्ट रूप निष्पन्न न होगा।

४. **त्यदादीनामः** (७।२।१०२) से विहित अत्व टाप् विधि का निमित्त न होगा। तो या, सा—रूपसिद्धि दुर्लभ हो जायगी।

५. पपिवान् (पा+क्वसु) में **वस्वेकाजाद्घसाम्** (७।२।६७) से आकारान्त 'पा' को निमित्त मानकर इट् आगम **आतो लोप इटि च** (६।१।६४) से

विधीयमान आ-लोप का निमित्त न होगा, अर्थात् आलोप न हो सकेगा।

६. **ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप्** (६।१।१७६)—यह अन्तोदात्त से परे मतुप् को उदात्त करता है। अग्निमान् आदि में मतुप् का उदात्तत्व अपने से पूर्व के उदात्तत्व का नाश न करेगा, उपजीव्य विरोध होने से।

७. अन्तोदात्त उत्तरपद से परे (६।१।१६९) से विधीयमान विभक्ति की उदात्तता पूर्व के निघात का निमित्त न बनेगी।

८. नदि, कुमारि आदि में 'सु' को मानकर **अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः** (७।३।१०७) से हुआ ह्रस्व **एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः** (६।१।६९) से प्राप्त सुलोप का निमित्त न होगा, उपजीव्य-विरोध-भयात्।

इन दोषों को दिखाकर भाष्यकार ने **'दोषाः खल्वपि साकल्येन परिगणिताः। बह्न्यस्याः परिभाषायाः प्रयोजनानि यदर्थमेषा कर्तव्या'** ऐसा कहा है॥८४॥

सीरदेवीय—

आनन्तर्यलक्षण विधि आनन्तर्य के विघात का निमित्त नहीं बनती। सन्निपात=आनन्तर्य। जिसके आनन्तर्य (अव्यवहित संनिकर्ष) से जिस का विधान हुआ है वह उस आनन्तर्य का स्वयम् विरोध नहीं करता। तद्यथा—ग्रामणि ब्राह्मणकुलम्—यहां ह्रस्व होने पर तुक् नहीं होता। यह कोई उदाहरण नहीं। असिद्ध परिभाषा से ही बहिरङ्ग ह्रस्वत्व के असिद्ध होने से तुक् नहीं होगा। वृत्तौ। पद्धतौ—यहां **अच्च घेः** (७।३।११९) से वृत्ति, पद्धति के 'इ' को 'अ' होता है वह विभक्ति ङि के निमित्त से है, वह टाप् का निमित्त नहीं बनता जिससे ङि का विघात हो। यह भी उदाहरण नहीं। 'अच्च' में 'अत्' यह तपर किया है, तपरकरण सामर्थ्य से ही टाप् नहीं होगा। शतानि सहस्राणि ये उदाहरण हैं। विभक्ति के संनिपात से जो नुम् हुआ वह विभक्ति के लुक् का निमित्त नहीं बनता, अतः **ष्णान्ता षट्** (१।१।२४) से षट् संज्ञा नहीं होती। यदि हो जाय, **षड्भ्यो लुक्** (७।१।२२) से विभक्ति का लुक् हो जाय।

यह परिभाषा भाष्यकार ने **कृन्मेजन्तः** (१।१।३९) यहाँ पढ़ी है। **न तिसृचतसृ** (६।४।४) यह दीर्घ-प्रतिषेधवचन इस परिभाषा का ज्ञापक है। इस परिभाषा के होते हुए विभक्ति-निमित्त से स्त्रीत्वविवक्षा में त्रि तथा चतुर् को तिसृ चतसृ आदेश होते हैं, वे आदेश **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (४।१।५) से व्यवधान द्वारा विभक्ति-

संनिपात के विघातक ङीप् का निमित्त नहीं होते । अर्थात् ङीप् नहीं होगा, जिससे **'नामि'** (६।४।३) से दीर्घ प्राप्त होने पर प्रतिषेध-वचन सार्थक हो जाता है। परिभाषा के न होने पर ङीप् के व्यवधायक होने से **'नामि'** से दीर्घ की प्राप्ति ही न होगी, तो दीर्घत्व-प्रतिषेध-वचन व्यर्थ हो जायगा ।

यह परिभाषा अनित्य है । **कष्टाय क्रमणे** (३।१।१४) सूत्र में 'कष्टाय' यह निर्देश इस अनित्यता का ज्ञापक है । अकारान्त-निमित्तक **ङेर्यः** (७।१।१३) से ङे को 'य' करने पर यकारादि सुप् परे होने पर **सुपि च** (७।३।१०१) से दीर्घ हुआ है। यहां स्पष्ट ही उपजीव्य अकारान्त-संनिपात का विघात हुआ है। अनित्य होने से ही 'दाक्षि' यहां यस्येति च (६।४।१४८) से इकार लोप सिद्ध होता है । या, सा—यहां टाप् प्रत्यय होता है ।

शङ्का—'कष्टाय'—यह ज्ञापक नहीं हो सकता । यदि यहां दीर्घ न हो तो **अतो दीर्घो यञि, सुपि च**—यहां यकार से प्रत्याहार-ग्रहण व्यर्थ हो जाय। उत्तर—प्वादीनां ह्रस्वः (७।३।८०)—यहाँ आगणान्ताः प्वादयः ऐसा भी मत है। इस मत के अनुसार 'जानाति'—यहां ज्ञाजनोर्जा (७।३।७९) से 'जा' आदेश होने पर प्वादि होने से ह्रस्वत्व प्राप्त होता है, उसको रोकने के लिये दीर्घान्त 'जा' आदेश विधान किया है। अन्यथा यदि 'जानाति' यहाँ प्वादीनां ह्रस्वः से ह्रस्व होता तो ज्ञाजनोर्जः ऐसा ह्रस्व आदेश पढ़ देते ।

यदि यह परिभाषा नित्य हो तो वृत्रहभ्याम्—यहां इस से ही तुक् न होगा, **नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति** (८।२।२) में तुग्-ग्रहण व्यर्थ हो जाय ॥८५॥

अब यहां यह शङ्का होती है कि पञ्च इन्द्राण्यो देवता अस्य पञ्चेन्द्रः (यागः)—यहां **द्विगोर्लुगनपत्ये** (४।१।८८) से द्विगु-निमित्तक तद्धित प्रत्यय अण् का लुक् होने पर **लुक् तद्धितलुकि** (१।२।४९) से स्त्रीप्रत्यय ङीष् का लुक् हो जाने पर आनुक् आगम का श्रवण प्राप्त होता है। इस शङ्का की समाधि के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

संनियोगशिष्टानामन्यतरापाये उभयोरप्यपायः । (८६)

अर्थ—**संनियोगशिष्टानाम्**—यह निर्धारण में षष्ठी है। **संनियोगेन शिष्टाः संनियोगशिष्टाः** । सुप्सुपा । अन्यतर शब्द दो में से एक को कहता है, तो संनियोगशिष्टानाम्—यहां बहुवचन कैसे हुआ ? **संनियोग-शिष्टौ च संनियोग-शिष्टौ च संनियोगशिष्टौ चेति संनियोगशिष्टाः, तेषां संनियोगशिष्टानाम्** ।

एकशेषः । जिन दो का एकसाथ विधान हुआ है उनमें से एक के चले जाने पर दूसरा भी चला जाता है ।

बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक् (६।४।१५३)—यह सूत्र तद्धित परे रहते 'छ' का लुक् विधान करता है । **नडादीनां कुक् च** (४।२।९१) यह नड आदि गण-स्थ शब्दों से चातुरर्थिक छप्रत्यय का विधान करता है और संनियोग-शिष्ट कुक् आगम का भी । नडादिगण में 'बिल्व' पढ़ा है । इसी बिल्व का कुक् आगम-सहित **बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक्** (६।४।१५३) में ग्रहण है । (क-प्रत्ययान्त बिल्वकादि का नहीं) प्रतिपदोक्त होने से शीघ्रोपस्थितिक होने से । (४।२।९१) से बिल्वादि शब्द का उच्चारण करके 'छ' प्रत्यय और तत्संनियोगशिष्ट कुक् आगम का विधान हुआ है जो प्रतिपदविधि है । इस सूत्र में 'छस्य' इस लिये पढ़ा है कि केवल छ प्रत्यय की ही निवृत्ति हो, तत्संनियोगशिष्ट कुक् आगम की न हो । यदि यह परिभाषा न हो तो 'छ' प्रत्यय का ही लुक् होता, कुक् के लुक् का कोई प्रसङ्ग ही नहीं था, बिल्वकादि से परे कुक् न होने से तो सूत्र में 'छस्य लुक्' कहना व्यर्थ होता । परिभाषा के ज्ञापित होने पर संनियोगशिष्ट कुक् का भी लुक् हो जाना चाहिये, अतः उसके वारण के लिये छ-ग्रहण चरितार्थ हो जाता है ।

परिभाषा में 'उभयोरप्यपायः' के स्थान में 'अपरस्याप्यपायः' ऐसा न्यास अधिक उचित होगा ।

शङ्का—पञ्चेन्द्राणी शब्द से अण् होने पर उसका लुक् हो जाने के पश्चात् स्त्रीप्रत्यय ङीष् का भी लुक् हो जाता है । स्त्रीप्रत्यय की निवृत्ति होने पर तत्संनियोग शिष्ट आनुक् का भी लुक् हो जाता है । आनुक् के 'आ' का पञ्चेन्द्र के अन्त्य 'अ' के स्थान में दीर्घ एकादेश 'आ' हुआ है। परादिवद्भाव से यह 'आ' आनुक् का आद्य अवयव है, अतः आनुक् का लुक् होने पर पञ्चेन्द्र हलन्त रह जायेगा, अर्थात् अन्त्य 'अ' का श्रवण न होगा । उत्तर—**अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग् बाधते** इस न्याय से लुक् का प्राबल्य ज्ञापित होने से एकादेश (अन्तरङ्ग कार्य) के होने से पूर्व लुक् हो जायगा, इससे कोई दोष नहीं आयेगा ।

शङ्का—पञ्चभिर् एनीभिः क्रीतः (पांच सफेद मृगियों से खरीदा गया)= **पञ्चैतः** में आर्हीय तद्धित प्रत्यय का लुक् होने पर स्त्रीप्रत्यय का लुक् होने पर 'न्' के चले जाने पर भी तकार का श्रवण नहीं होगा, देवदत्त हन्तृहत न्याय से । **नहि देवदत्तस्य** हन्तरि हते तस्य देवदत्तस्योन्मज्जनं भवति । तकार के विलोपक नकार के विघ्यन्तर से लोप हो जाने पर तकार कैसे पुनः

प्रादुर्भूत हो सकता है ? उत्तर—दो में से एक के अपाय की संभावना होने पर दोनों की अनुत्पत्ति रहती है—ऐसा परिभाषार्थ स्वीकार करने पर कोई दोष नहीं आता ।

आक्षेप—'बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक्' में छग्रहण परिभाषा का ज्ञापक नहीं हो सकता । परिभाषा के ज्ञापित होने पर भी छ-ग्रहण व्यर्थ रहता है, चरितार्थ नहीं होता । ज्ञापक को स्वांश में चरितार्थ होना चाहिए । छ-ग्रहण, कुक् की निवृत्ति न हो, इसके लिये व्यर्थ है, कारण कि कुक्-आगम-सहित बिल्वक आदि का सूत्र में पाठ होने से (पाठ-सामर्थ्य से ही) कुक् की निवृत्ति नहीं होगी, अन्यथा 'बिल्वादिभ्यः' ऐसा कुक्-रहित ही पढ़ देते । यदि कहो **बिल्वादिभ्यो लुक्** ऐसा न्यास होने पर **बिल्वादिभ्यः परस्य प्रत्ययस्य लुक्**, अर्थात् बिल्वादि से परे जिस किसी प्रत्यय का लुक् प्राप्त हो जायगा । नहीं । लक्षण-प्रतिपदोक्त परिभाषा से नडादियों में विशिष्यानुसन्धान द्वारा बिल्वादियों से विहित प्रत्यय का ही लुक् होगा, और वह प्रत्यय 'छ' ही है, अतः अतिप्रसङ्ग नहीं होगा, अतः छ-ग्रहण व्यर्थ ही रहता है । इस पर हमें यह कहना है कि उक्त न्यास होने पर नडादीनां कुक् च (४।२।९१) की अपेक्षा **बिल्वादिभ्योऽण्** (४।३।१३६) जो विकार आदि अर्थ में अण् विधान करता है, **प्रतिपदोक्ततर** है, कारण कि नडादि गण के भीतर विद्यमान (उच्चार्यमाण) होने से बिल्वादि से छ-विधि प्रतिपदोक्त है, पर बिल्वादिभ्योऽण् में साक्षात् श्रूयमाण बिल्वादि से अण् प्रत्यय का विधान प्रतिपदोक्ततर विधि है, वह शीघ्रतर बुद्धि में उपस्थित होगी, तो विकाराद्यर्थक अण् का लुक् भी प्राप्त होगा, जिसके वारण के लिये सूत्रकार ने बिल्वकादिभ्यः—यह कुक्-अनुवाद-सहित पढ़ा है । अतः इस परिभाषा से प्राप्त कुक् के अभाव (लुक्) की निवृत्ति के लिये छ-ग्रहण के चरितार्थ रहने से छ-ग्रहण इस परिभाषा का ज्ञापक है, यह सुस्थित रहा ।

जब शास्त्र में दो विधेयों (कार्यों) को समुच्चयार्थक 'च' से जोड़ा गया हो जैसे **वनो र च** (४।१।७) यहां, तो च-द्वारा समुच्चित दो कार्य एक ही समय में तथा एक ही देश में हो सकते हैं, तब यह परिभाषा लोक-न्याय (लोकाचार) से भी सिद्ध है । **वनो र च** (४।१।७)—यह ङीप् तथा अन्तादेश र् का एकसाथ विधान करता है । 'च' इस साहचर्य का ग्राहक पढ़ा है । **बहवो धीवानोऽस्यां नगर्याम्=बहुधीवरी । बहुधीवरीभिः क्रीतः**—इस अर्थ में विहित आर्हीय प्रत्यय ठक् का **अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्** (५।१।२८) से लुक् होने पर स्त्रीप्रत्यय का **लुक् तद्धितलुकि** से लुक् होने पर 'र्' की निवृत्ति हो जाती

है। **बहुधीवा**। लोक में भी देखा जाता है कि जब देवदत्त और यज्ञदत्त को मिलकर एककालावच्छेदेन तथा एकदेशावच्छेदेन कार्य करना होता है, तब एक (देवदत्त) के निवृत्त (कार्योपरत) हो जाने पर दूसरा (यज्ञदत्त) भी निवृत्त हो जाता है।

णाविष्ठवत् प्रातिपदिकस्य इस वार्तिक द्वारा णिच् परे रहते प्रातिपदिक को पुंवद् विधान इस परिभाषा की अनित्यता का ज्ञापक है, ऐसा कैयट मानता है। उसका यह कहना है कि यदि यह परिभाषा नित्य हो तो एनीमाचष्ट एतयति—यहां टि-लोप से ही ङीप् की निवृत्ति होने पर संनियोग-शिष्ट परिभाषा से नकार की भी निवृत्ति हो जाने पर 'एतयति' रूप सिद्ध हो जायगा, तो उक्त वार्तिक द्वारा पुंवद्भाव-विधान व्यर्थ हो जायगा—ठीक नहीं। परिभाषा के नित्य होने पर भी **इडविडमाचष्टे ऐडविडयति** आदि में पुंवद्भाव आवश्यक है। इडविड् हलन्त प्रातिपदिक से **इडविडोऽपत्यम्**—इस अर्थ में **जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्** (४।१।१६८) से अञ् का **अतश्च** (४।१।१७७) से स्त्रीत्वविवक्षा में लुक् होने से हलन्त इडविड् शब्द निष्पन्न होता है। इससे **प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च** से णिच् होने पर पुंवद्भाव द्वारा 'अतश्च' से विहित अञ्-लुक् की निवृत्ति होने पर ऐडविडयति रूप सिद्ध होता है, अन्यथा पुंवद्भाव न होने पर इडविडयति—यह रूप प्रसक्त होगा।

एन्या अपत्यम्=ऐनेयः, श्येन्या अपत्यम्=श्यैनेयः—यहां टि-लोप से हुए ङी-लोप को **अचः परस्मिन्पूर्वविधौ** (१।१।५७) से स्थानिवत् मानने पर संनियोग-शिष्ट नकार की निवृत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता ॥८६॥

सीरदेवीय—

'धीवरी' इत्यादि में **'वनो र च'** यहां रेफ आदेश ङीप्-संनियोग-शिष्ट है। **पञ्चभिर्धीवरीभिः क्रीता** इस अर्थ में आर्हीय ठक् का **अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्** (५।१।२८) से लुक् होने पर **लुक् तद्धित लुकि** (१।२।४९) से ङीप् की निवृत्ति होने पर संनियोग-शिष्ट रेफ की भी निवृत्ति हो जाती है।

यह परिभाषा लोकन्याय-सिद्ध है ऐसा भाष्यकार ने **छेदादिभ्यो नित्यम्** (५।१।६४) यहाँ कहा है।

यह परिभाषा अनित्य है। यह **'भस्याऽढे तद्धिते'** इस पुंवद्भाव प्रतिषेध से ज्ञापित है। 'अढे' ऐसा क्यों कहा इस प्रश्न के उत्तर में श्यैनेयः, रौहिणेयः ये प्रत्युदाहरण दिये हैं। यहां ढक् तद्धित परे होने पर पुंवद्भाव नहीं हुआ। यदि

यह संनियोग परिभाषा नित्य हो तो **यस्येति च** (६।४।१४८) से ङीप् (ई) का लोप होने पर (संनियोग परिभाषा से) नकार की भी निवृत्ति हो जायगी, तब पुंवद्भाव के अभाव में भी श्येत, रोहित शब्दों की लब्धि हो जायगी तो पुंवद्भाव का प्रतिषेध अनर्थक रहेगा। शङ्का—प्रतिषेध अनर्थक नहीं। लोप होने पर अचः परस्मिन्पूर्वविधौ (१।१।५७) से स्थानिवद्भाव से, प्रत्यय लक्षण से अथवा असिद्ध परिभाषा से ङीप्संनियोग विद्यमान ही है। ऐसा होने पर संनियोग परिभाषा के अनुपस्थान से नकारादेश निवृत्त नहीं होता। उत्तर—**स्थानिवद्भाव आदि से शास्त्रीय कार्य किया जाता है, लुप्त वर्ण का संनिधान नहीं हो जाता,** अतः इस हेतु संनियोग परिभाषा का अनुपस्थान नहीं होता। अपाय मात्र में इस परिभाषा की प्रवृत्ति मानी जाती है।

अब यहां यह शङ्का होती है कि **चुरा शीलमस्याः सा चौरी** (जिस स्त्री का स्वभाव चोरी करना है)—यहां **शीलम्** इस अर्थ में **छत्रादिभ्यो णः** (४।४।६२) से 'चुरा' से 'ण' प्रत्यय हुआ है। 'ण' प्रत्यय होने पर ङीप् कैसे हुआ ? इस प्रश्न के उत्तर में परिभाषा पढ़ते हैं—

ताच्छीलिके णेऽण्कृतानि भवन्ति। (८७)

अर्थ—**तदस्य शीलम्** इस अर्थ में विहित ण प्रत्यय के निमित्त से वे कार्य हो जाते हैं जो अण् के निमित्त से हुआ करते हैं।

अन्—(६।४।१६७) यह अण् परे रहते प्रकृतिभाव करता है। 'कर्मन्' शब्द छत्रादिगण (**छत्रादिभ्यो णः**) में पठित है। इससे ताच्छीलिक 'ण' प्रत्यय होता है। कार्मस्ताच्छील्ये (६।४।१७२)—यह णप्रत्ययान्त 'कार्म' शब्द प्रकृतिभाव को वारण करने के लिये निपातन किया है। प्रकृतिभाव अन् सूत्र से अण् प्रत्यय परे होने पर होता है। यदि यह परिभाषा न होती तो ण प्रत्यय परे रहते प्रकृतिभाव की प्राप्ति न होने से नस्तद्धिते (६।४।१४४) से टि-लोप हो जाने पर 'कार्म' रूप सिद्ध हो जाता, तो निपातन व्यर्थ होता।

नव्य वैयाकरण दीक्षित आदि इस परिभाषा का एक यह भी प्रयोजन बताते हैं कि ताच्छीलिक णान्त से अणो द्व्यचः (४।१।१५६) से अपत्यार्थक फिञ् हो जाता है। यह उनका भ्रम है। अण् सामान्य का तो अतिदेश 'ण' में हो जाता है, पर अपत्यार्थक अण् का नहीं होगा, **सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः**। परिभाषा में ताच्छीलिक 'ण' अण्निमित्तक कार्य का अतिदेश कहा

है, अतः **तदस्यां प्रहरणम्** (४।२।५७) इस सूत्र से विहित 'ण' को नहीं होगा **—दाण्डा** ।

ज्ञापक सिद्धं न सर्वत्र इस वचन के अनुसार ण-प्रत्ययान्त 'छात्र' को अण्-कार्य ङीप् नहीं होता—**छात्रा** । ऐसा भैरवमिश्र का कथन है ।

सीरदेवीय—

अणा कृतं कार्यम् अण्-कृतम् । अण्-निमित्तक कार्य णप्रत्यय के निमित्त से भी हो जाता है—**चुरा शीलमस्या इति चौरी तापसी** । छत्रादि होने से 'चुरा' शब्द से ताच्छीलिक 'ण' हुआ है । तदन्त से ङीप् । ताच्छीलिक 'ण' के विषय में ऐसा कहा गया है, अतः **शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो णो वक्तव्यः** । यहां मांसशीला । मांसभक्षा—में अण्-कृत ङीप् नहीं हुआ । **प्रज्ञाश्रद्धार्चाभ्यो णः** (५।२।१०१) । प्राज्ञा ब्राह्मणी । यहां अण् कृत ङीप् नहीं हुआ ।

कार्मस्ताच्छील्ये (६।४।१७२)—यहाँ यह ज्ञापित होती है ।८७।।

अब यहां यह शङ्का होती है कि कंसपरिमृड्भ्याम्[1]—इस में **मृजेर्वृद्धिः** (७।२।११४) से वृद्धि होनी चाहिये । इस शङ्का के समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

धातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये भवति । (८८)

अर्थ—धातु-सम्बन्धी प्रत्यय-निमित्तक कार्य उस प्रत्यय के परे रहते होता है जो धातु से परे विधान किया जा सकता है । **धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यये कार्यविज्ञानम्** यह वार्तिकोक्तपाठ (अर्थात् जब धातु विशेष का ग्रहण करके धातुसम्बन्धी कार्य विधान किया हो तो वह तभी होता है जब धातु से परे ऐसा प्रत्यय हो जो धातु से परे विधान किया जा सकता है)—ठीक नहीं, इसे (७।२।१४) के भाष्य में दूषित किया है, कारण कि इस पाठ के स्वीकार करने पर **अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्** (६।१।५९) से वैकल्पिक अमागम 'प्रसृड्भ्याम्' यहां भी होने लगेगा, क्योंकि अनुदात्तस्य—सूत्र में सृज् का स्व-रूपेण ग्रहण नहीं है, अतः भ्याम् परे रहते भी निर्बाध अम् होगा ।

---

१. क्विबन्त धातु ही होते हैं, सो यहां मृज् धातु पढ़ा है, उससे परे भ्याम् प्रत्यय है । अतः मृज् के 'ऋ' को वृद्धि प्राप्त होती है । इसी प्रकार रज्जुसृड्भ्याम्, देवदृग्भ्याम्, उदकमग्भ्याम्, प्रणङ्भ्याम्, वार्त्रघ्नः, देवगिरौ इत्यादि में अम्, नुम्, तत्व, लत्व आदि की आपत्ति होती है ।

दाण्डिनायन-हास्तिनायन—(६।४।१७४) सूत्र में **'भ्रौणहत्य'** में भ्रूणहन् के नकार के स्थान में तकार आदेश का निपातन करना इस परिभाषा का ज्ञापक है। भ्रूणहन् से भाव व कर्म में तद्धित ष्यञ् हुआ है। **भ्रूणघ्नो भावः कर्म वा भ्रौणहत्यम्। हनस्तोऽचिण्णलोः** (७।३।३२) से हन् के न् को त् होता है जब परे चिण् और णल् से भिन्न ञित् णित् प्रत्यय हो। यदि यह परिभाषा न होती तो **'नस्तद्धिते'** से विधीयमान टि-लोप को बाधकर इसी सूत्र से न् के स्थान में 'त्' हो जाता, निपातन व्यर्थ रहता।

जो कार्य प्रत्यय-निमित्तक है, वह कार्य हो अथवा न हो इसकी व्यवस्था यह परिभाषा करती है। सप्तम्यन्त-पद द्वारा जहां प्रत्यय का निमित्तत्व है वहां अनियम के प्रसङ्ग में यह परिभाषा नियम करती है। अतः प्रणग्भ्याम् (प्र+नश्+भ्याम्)—यहां **नशेर्वा** (८।२।६३) से कुत्व (श् को क्) हो ही जायगा, कारण कि यह कुत्व प्रत्यय-निमित्तक नहीं, किन्तु पदान्त-निमित्तक है। हाँ नुम् (मस्जिनशोर्झलि ७।१।६०) प्रत्ययापेक्षी होने से अधातु से परे जो 'भ्याम्' आता है, उससे पूर्व नहीं होगा—प्रणग्भ्याम्। प्रणङ्भ्याम्। धातु को इयङ् व यण् अधातु से विहित प्रत्यय (सुप्) के निमित्त होने पर भी हो जायेंगे, कारण कि **'न भूसुधियोः** (६।४।८५) में 'सुधी' का निषेध इस परिभाषा के अनित्यत्व का ज्ञापक है। **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य** (६।४।८२)—यहां यदि सुपि अचि यण् का विधान है, और यदि परिभाषा की प्रवृत्ति नित्य होती है, तो यण् का निषेध सिद्ध ही था, उसे **न भूसुधियोः** से पुनः क्यों कहते? अचि श्नुधातु—यहां भी यदि परिभाषा प्रवृत्त होती तो सूत्र में 'सुधियोः' यह निर्देश भी अनुपपन्न होता ॥८८॥

सीरदेवीय—

अतः **सृजिदृशोर्झल्यमकिति** (६।१।५८) इससे रज्जुसृड्भ्याम्—यहां **क्विबन्ता धातुत्वं न जहति** इस वचन के अनुसार क्विबन्त रज्जुसृज् के धातु होने पर प्रातिपदिक से परे आने योग्य सुप् प्रत्यय परे रहते सृज् को अम् आगम नहीं होता। **अचि विभाषा** (८।२।२१) से गिरौ, गिरः—यहां वैकल्पिक लत्व नहीं होता। तथा उदकमग्भ्याम्, प्रणग्भ्याम्—यहां **मस्जिनशोर्झलि** (७।१।६०) से नुम् नहीं होता।

शङ्का—यदि ऐसा है तो जैसे प्रणग्भ्याम्—यहां नुम् नहीं होता, वैसे ही नशेर्वा (८।२।६३) से नश्धात्वाश्रित कुत्व भी न होना चाहिये। उत्तर—

कुत्व पद को विधान किया गया है, अतः कुत्व धातुप्रत्ययाश्रित नहीं है। नुम् आगम तो धातुप्रत्ययाश्रित ही है।

श्रियौ। श्रियः। भ्रुवौ। भ्रुवः। यहां प्रातिपदिक प्रत्ययपरे होने पर इयङ् उवङ् होते हैं। अोः सुपि (६।४।८३), वर्षाभ्वश्च (६।४।८४) इन सूत्रों के आरम्भ-सामर्थ्य से।

वार्तिककार इस परिभाषा को इस रूप में पढ़ता है—

धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यय एव कार्यविज्ञानम्।

ऐसा पाठ स्वीकार करने पर दृग्भ्याम्, दृग्भिः—यहां सुप् प्रत्यय परे भी अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम् (६।१।५९) से 'अम्' आगम प्रसक्त होगा ॥८८॥

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि 'टि' से पूर्व अकच् प्रत्यय होने पर सर्वकः, उच्चकैः—यहां क्रम से सर्वनाम और अव्यय संज्ञा नहीं होनी चाहिये, शब्दान्तर होने से। सर्व आदि की सर्वनाम संज्ञा की है, उनमें 'सर्वक' नहीं पढ़ा। अतः प्रथमा बहु० में 'सर्वके' नहीं होना चाहिये। स्वरादि में 'उच्चैः' पढ़ा है, 'उच्चकैः' नहीं। इस शङ्का की निवृत्ति के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते। (८९)

अर्थ—व्याकरणशास्त्र में प्रयुक्त सर्व आदि शब्द न केवल अपने स्वरूप का बोध कराते हैं किन्तु उस शब्द-रूप का भी जो उनके एकदेश में निविष्ट अकच् आदि से निष्पन्न होता है।

नेदमदसोरकोः (७।१।११)—यह शास्त्र इदम् और अदस् से परे तृ० बहु० भिस् के स्थान में ऐस् आदेश का निषेध करता है जब इदम्, और अदस् ककार-रहित हों। ककारसहित इदकम्, अदकस् से यह निषेध नहीं होता। यदि यह परिभाषा न होती तो 'नेदमदसोः' इतना ही पढ़ते। शब्दान्तर होने से इदकम् और अदकस् से निषेध की प्राप्ति ही न होती, तो 'अकोः' पढ़ना व्यर्थ रहता। परिभाषा के ज्ञापित होने पर 'अकोः' यह निषेध चरितार्थ हो जाता है। **प्राप्तौ सत्यां निषेधः।**

वैद्यनाथ पायगुण्ड का कहना है कि यदि कोई यह कहे कि भाष्य में **इदमदसोः कात्**, ऐसा न्यास स्वीकार करके 'अकोः' का प्रत्याख्यान कर दिया है तो **एतत्तदोः सुलोपोऽको नञ्समासे हलि** (६।१।१३२) में पढ़ा 'अकोः' यह निषेध ज्ञापक जानना चाहिये।

भाष्य में इस परिभाषा को **तदेकदेशभूतं तद्ग्रहणेन गृह्यते** इस रूप से पढ़ा है ॥८९॥

सीरदेवीय—

जो जिसके मध्य में आ जाता है वह उसके ग्रहण से गृहीत हो जाता है। सर्वक (सर्व+अकच्) की भी सर्वनाम संज्ञा होने से **'जसः शी'** (७।१।१७) से जस् के स्थान में शी होकर 'सर्वके' रूप होगा। अकच् 'सर्व' के टि-भाग से पूर्व होता है, अतः तन्मध्यपाती है। 'वैयाकरणः'—यहां ऐजागम करने पर तद्धितान्त होने से ऐजागमसहित की प्रातिपदिक संज्ञा होती है।

यह परिभाषा लोकन्यायाश्रित है। भट्टग्रामः। जो अभट्ट भी हैं वे भी भट्टव्यपदेश को प्राप्त हो जाते हैं। मल्लग्रामः। जो अमल्ल भी हैं वे भी मल्ल-व्यपदेश को प्राप्त हो जोते हैं।

नेदमदसोरकोः (७।१।११)—यहां 'अकोः' यह प्रतिषेध इस परिभाषा का ज्ञापक है ॥८९॥

अब यहां यह शङ्का होती है कि **गाति-स्था-घु-पा-भूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु** (२।४।७७) से जो 'पा' से सिच् का लुक् विधान किया है वह पा पाने से ही नहीं, अपि तु पा रक्षणे से भी हो जाना चाहिये, सूत्र में विशिष्य एकतर का का ग्रहण न होने से। इस शङ्का की निवृत्ति के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्य। (९०)

अर्थ—जब यह सन्देह हो कि सूत्र में उपात्त धातु से लुग्विकरण (जिसका विकरण लुक् है, अर्थात् जो अदादिगण की है) का ग्रहण किया जाय अथवा जो अलुग्विकरण (जिसका लुक् विकरण नहीं, जो अदादि गण की नहीं, जिसका विकरण शप् आदि है), वहां यह व्यवस्था की जाती है कि अलुग्विकरण का ही ग्रहण हो। कैयट के अनुसार इस परिभाषा का **स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा** (७।२।४४) में आचार्य ने जो सूति (सू अदादि लुग्विकरण) के साथ सूयति (सू दिवादि श्यन्विकरण) का पृथक्त्वेन पाठ किया है—यह ज्ञापक है, जबकि ने दोनों के ग्रहण के लिये सूति-सूयति न कहकर केवल सूङ् कह सकते थे। सूङ् ग्रहण करने पर भी इस परिभाषा के होते हुए अलुग्विकरण 'सूयति' का ही ग्रहण होता। नागेशभट्ट का इसपर यह कहना है कि परिभाषा न होने पर भी 'स्वरतिसूति'—सूत्र में सूति, सूयति का पाठ अत्यन्त आवश्यक है (अतः

वह ज्ञापक नहीं हो सकता), कारण कि सूङ् पढ़ने पर भी साहचर्य ने अलुग्विकरण स्वरति (स्वृ) तथा धूञ् के पूर्वपर साहचर्य से अलुग्विकरण सूयति (सू दिवादि) का ही ग्रहण होता।

वस्तुतः **यस्य विभाषा** (७।२।१५) के भाष्य में इस परिभाषा का संकेत मिलता है। विदितः (विद ज्ञाने+क्त) यहां 'यस्य विभाषा' से इट् निषेध की शङ्का करके कहा है—यद्विशेषण-विशिष्ट से विभाषा (इट् आगम) कार्य विधान किया है, तद्विशेषण-विशिष्ट से ही इट् का निषेध होगा। **विभाषा गमहनविदविशाम्** (७।३।६८) सूत्र में शविकरणक विद् (विद्लृ लाभे) का ग्रहण है। उसी से निषेध होगा, 'विदितः' में विद ज्ञाने अदादि लुग्विकरण है। विभाषागमहनविदविशाम् सूत्र के भाष्य में ऐसा पाठ है—**शविकरणस्य ग्रहणं लुग्विकरणश्चायम्**। नागेश यहां 'च' को हेत्वर्थ में लेता है। उसके अनुसार इस भाष्य ग्रन्थ का आशय यह है—चूंकि यह ('विदित' में विद्) लुग्विकरण है, अतः विश् के साहचर्य से श-विकरण तुदादि विद् का ग्रहण होगा, हन् के साथ साहचर्य से लुग्विकरण अदादि विद् का नहीं, क्योंकि ऐसा होने से प्रकृत परिभाषा के साथ विरोध आता है। इस प्रकार भाष्य में इस परिभाषा का संकेत मिलता है। अतः भाष्यप्रामाण्य से यह वाचनिकी ही है। यद्यपि भाष्य में इस रूप से कहीं नहीं पढ़ी।

चूंकि यह परिभाषा ज्ञापक-सिद्ध नहीं इसलिये 'लुग्विकरणस्य' ऐसा नहीं कहा। यदि सूतिसूयति के पृथक् पाठ से ज्ञापित मानी जाय तो 'लुग्विकरणस्यैव' ऐसा ज्ञापन करने में भी सूतिसूयति का पृथक् पाठ सार्थक रहता।

कैयट इस परिभाषा को स्पष्ट रूप से स्वरति सूति—सूत्र में पढ़ता है ॥६०॥

सीरदेवीय—

गापोष्टक् (३।२।८)—यहां अलुग्विकरण भौवादिक पा पाने का ग्रहण होता है। सामगः। सोमपः। लुग्विकरण पा रक्षणे का ग्रहण नहीं होता। **सत्सूद्विष**—(३।२।६१)—यह यहाँ परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती। कारण कि सूत्र में युजविद—अकारान्त विद धातु पढ़ी है, इससे गण में जो भी विद अकारान्त पढ़ी है वह सब ली जाती है, जैसे विद ज्ञाने, विद विचारणे, विद सत्तायाम्।

इस परिभाषा का स्वरतिसूतिसूयति—(७।२।४४) में सूति सूयति का विकरण द्वारा निर्देश ज्ञापक है। षूङ् प्राणिगर्भविमोचने अदादि, षूङ् प्राणिप्रसवे दिवादि ऐसा धातु पाठ है। **सूङ्** ऐसा निर्देश कर देते, जिससे इन

दोनों का ग्रहण हो जाता। ऐसा क्यों नहीं किया ? इसलिये कि लुग्विकरणालुग्विकरणयोः—ऐसी परिभाषा है, जिससे अलुग्विकरण दिवादि 'सूयति' का ही ग्रहण होता। शङ्का—लुग्विकरणालुग्विकरणयोर्लुग्विकरणस्यैव—ऐसा विपरीत अर्थ क्यों नहीं ज्ञापित होता ? **न ह्यनिष्टार्था शास्त्रे प्रक्लृप्तिर्युज्यते,** शास्त्र में जो अर्थ प्रकल्पित किया जाता है वह अनिष्ट के लिये नहीं होना चाहिये। **वेत्तेर्विभाषा** (७।१।७) इस निर्देश से भी विपरीत अर्थ की ज्ञप्ति नहीं होती। यहां श्तिप् से जो निर्देश (वेत्तेः) किया है उसका प्रयोजन यह है कि श्नम्विकरणक रुधादि विद् का ग्रहण मत हो। यदि उक्त विपरीत अर्थ की ज्ञापना हो तो 'विदः' ऐसा न्यास होने पर भी विद ज्ञाने का ही ग्रहण होता, श्तिप् से निर्देश क्यों किया ? यदि कहो श्तिप् से निर्देश यङ्लुक् की निवृत्ति के लिये है, तो यह भी ठीक नहीं। **शीङो रुट्** (७।१।६)—शीङ् से अनुबन्ध निर्देश होने से यङ्लुक् में रुट् नहीं होगा। विद भी अनन्तर उत्तर सूत्र में पढ़ी है, अतः साहचर्य से ही यङ्लुक् में विकल्प से रुट् नहीं होगा।

अब यहां यह शङ्का होती है कि 'हि गतौ वृद्धौ च' के णिजन्त 'हायि' के सन्नन्त रूप 'प्रजिघाययिषति' (प्रहाययितुमिच्छति) में **हेरचङि** (७।३।५६) से अभ्यासोत्तर धातु के 'ह्' को कुत्व नहीं होना चाहिये। इस शङ्का के समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

प्रकृतिग्रहणे ण्यधिकस्यापि ग्रहणम्। (६१)

अर्थ—व्याकरण शास्त्र में स्वरूपेण उपात्त धातु न केवल अपने स्वरूप का बोधक होती है, णिच् प्रत्यय आने पर उसका जो रूप निष्पन्न होता है, उसका भी। हेरचङि सूत्र में 'अचङि' यह प्रतिषेध ही इसका ज्ञापक है। यदि यह परिभाषा न हो, तो 'अचङि' इस प्रतिषेध के न होने पर भी हि+णिच्+चङ् त्=अजीहयत् में 'हि' न होने से (हायि रूप होने से) अभ्यासोत्तर 'हि' के 'ह्' को कुत्व की प्राप्ति न होती, तो 'अचङि' निषेध व्यर्थ होता। परिभाषा के ज्ञापित होने पर 'हि' ण्यधिक 'हायि' का भी बोध कराता है, अतः कुत्व की प्राप्ति को रोकने के लिये 'अचङि' यह निषेध चरितार्थ हो जाता है॥६१॥

सीरदेवीय—

अतः **हेरचङि** (७।३।५६) से ण्यन्त हिनोति से भी सन् करने पर प्रजिघाययिषति—यहां अभ्यासोत्तर 'हि' को कुत्व होता है। अभिषावयति परिषावयति—यहां तो षुञ् अभिषवे स्वादि के प्रति उपसर्ग का योग है। न कि ण्यन्त

सावि के प्रति, अतः **उपसर्गात् सुनोति-सुवति**—(८।३।६५) से यहां षत्व होता है, ऐसा वृत्ति (काशिका) में कहा है।

हेरचङि में 'अचङि' यह प्रतिषेध इस परिभाषा का ज्ञापक है। यह परिभाषा अव्यापिका है इसमें न **भाभूपूकमिगमिप्यायीवेपाम्** (८।४।३४) सूत्र पर पढ़े हुए **'ण्यन्तानां भादीनामुपसंख्यानम्'** यह वार्तिक ज्ञापक है। **अर्हः** (३।२।१२)—यहां अच् प्रत्यय विधि में ण्यन्त अर्ह् का ग्रहण नहीं होता, ऐसा **रक्षित** ने कहा है ॥९१॥

अब यहां यह शङ्का होती है कि युष्मभ्यस्—यहां भ्यस् को (७।१।३०) से भ्यम् आदेश होने पर शेषे लोपः (७।२।९०) से युष्मद् के अन्त्य द् का लोप होने पर 'युष्मभ्यम्' रूप के निष्पन्न होने पर बहुवचने झल्येत् (७।३।१०३) से 'युष्म' के 'अ' को एकार प्राप्त होता है। इस शङ्का के समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिः। (९२)

अर्थ—अङ्ग=अङ्गाधिकार। वृत्त=निष्पन्न। अङ्गे वृत्तम् अङ्गवृत्तम्। सुप्सुपा समास। **वृत्तौ**—प्रवृत्ति होने पर। **अविधि**=अविधान। अङ्गाधिकार (६।४—७।४) में जो कार्य निष्पन्न हो चुका है, उसके होने पर पुनः अन्य अङ्गाधिकारीय कार्य की प्राप्ति होने पर भी वह नहीं होता।

यह परिभाषा **ज्ञाजनोर्जा** (७।३।७९) में आचार्य ने जो दीर्घ 'जा' पढ़ा है उससे ज्ञापित होती है। यदि यहां 'ज' पढ़ते तो भी **अतो दीर्घो यञि** (७।३।१०१) से दीर्घ हो जाता। पर आचार्य जानते हैं कि **अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिः** ऐसी परिभाषा होती है, जिससे एक अङ्गाधिकारीय ज्ञा व जन् के स्थान में 'ज' होने पर दूसरा अङ्गाधिकारीय कार्य दीर्घत्व न हो सकेगा, अतः 'ज्ञाजनोर्जा' में 'जा' दीर्घ पढ़ते हैं। इसके अतिरिक्त **ज्यादादीयसः** (६।४।१६०) में 'ज्य' से परे ईयस् के 'ई' को 'आ' आदेश विधान किया है, वह भी इस परिभाषा का ज्ञापक है। यदि यह परिभाषा न होती तो 'ई' के स्थान में आ (त्) विधान बिल्कुल व्यर्थ होता। **बहोर्लोपो भू च बहोः** (६।४।१५८) से लोप की अनुवृत्ति आ रही थी। ईयस् के 'ई' का लोप विधान कर देते और **अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः** (७।४।२५) से 'ज्य' के 'अ' को दीर्घ होकर इष्टरूप निष्पन्न हो जाता। परिभाषा के ज्ञापित होने पर लोप भी अङ्गाधिकारीय है, दीर्घत्व भी अङ्गाधिकारीय है। तो लोप होने पर दीर्घ न हो सकता।

इसी ज्ञापक से यह भी सिद्ध होता है कि जब शब्दरूप के घटक भिन्न-भिन्न अवयव कार्य के स्थानी हों तब भी यह परिभाषा प्रवृत्त होती है (जैसा कि ईयस् के 'ई' का लोप और 'ज्य' के 'अ' को दीर्घ)। **अस्मदो द्वयोश्च** (१।२।५९) तथा **किंयत्तदोर्निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच्** (५।३।९२) में 'द्वयोः' यह निर्देश ज्ञापक है।

यह परिभाषा अनित्य है। 'द्वयोः' की सिद्धि में **ओसि च** (७।३।१०४) से 'अ' को 'ए' होता है जब 'द्वि' के 'इ' को **त्यदादीनामः** (७।२।१०२) से 'अ' हो चुका है। ये दोनों कार्य अङ्गाधिकारीय हैं। इस परिभाषा के अनुसार 'अ' होने पर उसे 'ए' नहीं होना चाहिये था, पर परिभाषा अनित्य है, अतः हो जाता है। अनित्यत्व को मानकर ही **भ्यसो भ्यम्** (७।१।३०) सूत्र में भाष्यकार इस परिभाषा का **'अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिर्निष्ठितस्य'** ऐसा स्वरूप समझते हैं। **निष्ठित=परिसमाप्त, प्रयोगार्ह**। अर्थ यह है कि यदि अन्य अङ्गाधिकारीय कार्य के बिना ही शब्द रूप निष्ठित=प्रयोगार्ह बन जाता है तो परिभाषा की प्रवृत्ति होती है, पर यदि निष्ठित रूप नहीं बना, तो अन्य अङ्गाधिकारीय कार्य भी होगा। अर्थात् परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होगी। इससे यह परिभाषा अनित्य है यह स्पष्ट है।

कई लोगों का विचार है कि यह परिभाषा यदि स्वीकार की भी जाय, तो किसी एक भी लक्ष्य की सिद्धि में उपकारक नहीं। अर्थात् ऐसा कोई लक्ष्य नहीं जो इसके बिना ही सिद्ध न होता हो। चूँकि ऐसी वस्तुस्थिति है अतः **ज्ञाजनोर्जा** (७।३।७९) तथा **ज्यादादीयसः** (६।४।१६०) इन सूत्रों में यह प्रश्न उठाया गया है कि यदि 'जा' व 'आत्' ग्रहण से यह परिभाषा ज्ञापित होती है तो इसका प्रयोजन क्या है? उत्तर में केवल यह कहा गया है कि यह परिभाषा पा को जो पिब् आदेश होता है उसको **पुगन्त-लघूपधस्य च** (७।३।८६) से प्राप्त गुण का निषेध करेगी। जिससे सूत्र पर पढ़े गुण-प्रतिषेध वार्तिक की आवश्यकता न होगी। किसी लक्ष्य की सिद्धि प्रयोजन नहीं बतलाई गई। अर्थात् कोई ऐसा लक्ष्य नहीं बताया गया जो इसके विना सिद्ध न होता। 'पिबति' में गुण वारण भी प्रयोजन नहीं रहता। यदि 'पिब आदेश अदन्त माना जाय। सभी लक्ष्य अन्यथा सिद्ध हैं इसे दिखाने के लिये ही 'युष्मभ्यम्' की सिद्धि में **भ्यसो ऽभ्यम्** ऐसा सूत्र न्यास स्वीकार किया जाता है। **शेषे लोपः** से युष्मद् के अन्त्य 'द्' का लोप हो जाने पर युष्म+अभ्यम् में **अतो गुणे** से पररूप होकर इष्टरूप सिद्ध हो जाता है। इस रूप की सिद्धि के लिये ही तो परिभाषा

का अस्तित्व आवश्यक माना गया था। वह भी अन्यथा सिद्ध है ॥।९२॥

सीरदेवीय—

अङ्गवृत्तेः पुनरङ्गवृत्तावविधिर्निष्ठितस्य—ऐसा सीरदेवधृत पाठ है। **अङ्गकार्यस्य वृत्तिः=प्रवृत्तिः=अङ्गवृत्तिः, ततो हेतोः (अङ्गवृत्तेः)**। अङ्गाधिकारीय कार्य की प्रवृत्ति के कारण। **अङ्गवृत्तौ**—यह सप्तमी षष्ठी के अर्थ में है। दोवारा अङ्गकार्य की वृत्ति (प्रवृत्ति) की अविधि (अविधान=अनिष्पत्ति) होती है। अतः 'पिबति' यहां पा को पिब् आदेश होने पर लघूपधगुण नहीं होता।

ज्ञाजनोर्जा (७।३।७९)—यहां दीर्घ 'जा' आदेश-विधान इस परिभाषा का ज्ञापक है और **ज्यादादीयसः** (६।४।१६०) में ईयस् के 'ई' को आत्त्व-विधान भी।

पहले ज्ञापक के विषय में न्यासकार का वैमत्य है। उसका कहना है कि प्रतिपत्तिलाघव (बोध-सौकर्य) के लिये दीर्घान्त आदेश विधान किया है। 'प्वादीनां ह्रस्वः से ह्रस्व होने पर भी **अतो दीर्घो यञि** से दीर्घ हो जाने से 'जानाति' रूप सिद्ध हो जायगा ॥९२॥

कुछ वैयाकरण कहते हैं कि आचार्य पाणिनि को **ओर्गुणः** (६।४।१४६) न पढ़कर ओर् ओत् ऐसा पढ़ना चाहिये था, लघु होने से, ओर्गुणः ऐसा पढ़ने से यह परिभाषा ज्ञापित होती है—

संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः। (९३)

अर्थ—जिस शास्त्र में कोई कार्य संज्ञा से बोधित किया जाता है, वह शास्त्र अनित्य होता है। **ओर्गुणः** यहां भ-संज्ञक उकारान्त को गुण कहा है, सो यह शास्त्र नित्य प्रवृत्त नहीं होता। इसीलिये **धाम स्वायम्भुवं ययुः** (कु० सं०) में **स्वयम्भुव इदं स्वायम्भुवम्**—यहाँ गुण नहीं हुआ। यह परिभाषा तभी प्रवृत्त होती है जब सूत्र में उपात्त संज्ञा विधेय की बोधिका हो। अनित्य होने से ही तनादि क्षिणु को गुण होता है कुछ ऐसा मानते हैं, नहीं होता, ऐसा दूसरे मानते हैं—क्षेणोति। क्षिणोति ॥९३॥

सीरदेवीय—

अतः **धाम स्वायम्भुवं ययुः**—यहां **ओर्गुणः** (६।४।१४६) इसकी प्रवृत्ति न होने से उवङ् होता है। **ज्योतिरधिकृत्य कृतो ग्रन्थो ज्योतिषम्**—यहां अण् निमित्तक आदिवृद्धि नहीं होती। **पञ्चबाणः क्षिणोति**—यहां क्षिणु धातु को

उपधा-गुण नहीं होता। **उदश्वित्**—यहां क्विप्-निमित्तक 'श्वि' को सम्प्रसारण नहीं होता। 'ओर् ओत्' ऐसा न कह कर जो **'ओर्गुणः'** ऐसा कहा है, इससे, तथा **उतो वृद्धिर्लुकि हलि** (७।३।८९)—यहां 'औत्' न कहकर जो उतो वृद्धिः ऐसा कहा—इससे यह परिभाषा ज्ञापित होती है। इससे 'स्तुयात्' में वृद्धि नहीं होती है। संज्ञापूर्वक विधि अनित्य होती है, इसी हेतु **क्ङिति च** (१।१।५) सूत्र पर जो न्यासकार ने यह कहा है—**यासुटो ङिद्वचनं ज्ञापकं लकाराश्रयं ङित्त्वमादेशानां न भवतीति** (यासुट् को ङित् करना इस बात का ज्ञापक है कि लकाराश्रित ङित्व लकारदेश में अतिदेश से नहीं आता)—यह उपपन्न हो जाता है। अन्यथा संज्ञापूर्वक विधि के नित्य होने पर यासुट् को ङित्त्व करना स्तुयात्—यहां अनिग्लक्षण वृद्धि के प्रतिषेध में चरितार्थ हो जायगा, तो ज्ञापक न हो सकेगा, **सति प्रयोजने ज्ञापकं न।**

आनि लोट् (८।४।१६) में आचार्य आनि (आट् आगम+नि) न पढ़कर 'नि' पढ़ देते तो भी कार्य निर्वाह हो जाता, सागमक नि (आनि) के 'न्' को भी उपसर्गस्थ निमित्त से परे णत्व हो जाता। इससे हम जानते हैं कि यह परिभाषा होती है—

आगमशास्त्रमनित्यम्। (९४)

अर्थ—आगम विधायक शास्त्र अनित्य होता है। कभी-कभी जो आगम विधान किया जाता है, वह नहीं भी होता—पचानः (=पचमानः)—यहां मुक् आगम नहीं हुआ। **'अपि शाकं पचानस्य'** ऐसा प्रयोग है। सागरं तर्तुकामस्य, क्षुब्धो राजा इत्यादि जो क्वाचित्क प्रयोग मिलते हैं, वे हमारे विचार में अपभ्रंश ही हैं। क्षुब्ध-स्वान्तध्वान्तादि सूत्र में 'क्षुब्ध' 'मन्थ' अर्थ में निपातन किया है ॥९४॥

सीरदेवीय—

अतः शाकं पचानस्य—यहां मुक् नहीं हुआ। 'पचमान' के स्थान में 'पचान' का प्रयोग है। 'सागरं तर्तुमिच्छति—यहां तॄ से वलादि तुमुन् को इट् आगम नहीं हुआ। **आनि लोट्** (८।४।१६) में आनि आगम-सहित 'नि' का ग्रहण इस परिभाषा का ज्ञापक है। न्यासकार ने **घोर्लोपो लेटि वा** (७।३।७०) में वा-ग्रहण से भी इसे ज्ञापित किया है। कुछ लोग **स्तोश्चुना श्चुः** (८।४।४) में 'स्तोः' इस नुम्-आगम-रहित निर्देश को भी इस परिभाषा का ज्ञापक मानते हैं।

आचार्य पाणिनि **तनादिकृञ्भ्य उः** (३।१।७९) में जो कृञ् का पृथक् ग्रहण करते हैं, जबकि कृञ् तनादिगण के अन्तर्गत है, तनादि से 'उ' प्रत्यय विधान किया है, वह कृञ् से भी हो जाता। इससे हम यह जानते हैं कि सारे गण को कहा हुआ कार्य गणस्थ (गणान्तर्गत) किसी एक धातु के विषय में नहीं भी होता। इसे परिभाषा रूप से ऐसे पढ़ते हैं—

गणकार्यमनित्यम्। (९५)

अर्थ—गणेन प्रयुक्तं कार्यं गणकार्यम्। शेष स्पष्ट है। इस परिभाषा के होने से **न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्**—इत्यादि पञ्चतन्त्र आदि में विश्वसेत् में आदादिक शप्-लुक् नहीं हुआ ॥९५॥

सीरदेवीय—

अतः श्वस्, शीङ् से अदादित्व-हेतुक शप् का लुक् नहीं भी होता—**न विश्वसेत् पूर्वविरोधितस्य, मण्डपे शयामि किमतः परम्।** शयामि—**आत्मनेपद के अनित्य होने से पस्मैपद हुआ है।** आत्मदेपद की अनित्यता में फणादि-धातुओं में भ्राजृ भ्राशृ दीप्तौ इन्हें पढ़कर पुनः एजृ भ्रेजृ भ्राजृ दीप्तौ यहां भ्राजृ का दोबारा पाठ ज्ञापक है। कैसे? आत्मनेपदियों में दोबारा पाठ आत्मनेपद की अनित्यता के लिये है। यह तभी उपपन्न हो सकता है यदि कहीं आत्मनेपदी धातुएँ भी परस्मैपदी हो जाती हैं। दूसरे लोग चक्षिङ् के द्व्यनुवन्धक पाठ को इस परिभाषा का ज्ञापक मानते हैं।

गण-कार्य की अनित्यता में 'क्षमूष् सहने' इसका षित्त्व घटादि होने से ही (भ्वाद्यवान्तर गण घटादि में क्षम् का पाठ होने से ही) सिद्ध था, फिर जो इसे षित् किया है यह ज्ञापक है। यदि कहो यह षित्त्व **षिद्गौरादिभ्यश्च** (४।१।४१) से ङीष् विधान के लिये है, जैसे धेट् धातु का टित्त्व ङीप् के लिये है—**स्तनन्धयी शिशुः।** तो यह मान्य नहीं। **आगमेः क्षमायाम्**—यह टावन्त निर्देश से षित्करण ज्ञापक ही है, यह सिद्ध होता है।

आचार्य ने 'चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि' ऐसा धातुपाठ में पढ़ा है। चक्षिङ् को ङित् भी किया है, तथा अनुदात्तेत् भी। (इत्संज्ञक 'इ' अनुदात्त पढ़ा है)। अनु-दात्तेत् होने से ही **अनुदात्तङित आत्मनेपदम्** (१।३।१२) से चक्षि से आत्मनेपद सिद्ध था, ङित् किसलिये किया? इसलिये कि कहीं अनुदात्तेत् होने पर भी धातु से आत्मनेपद नहीं होता, ङित् करने से हो जायगा। इसी अर्थ को परि-भाषा रूप से पढ़ते हैं—

अनुदात्तेत्त्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम् । (९६)

लक्षण=निमित्त । शेष स्पष्ट है । **घनक्षये वर्धति जाठराग्निः**—यहाँ अनुदात्तेत् वृध् से आत्मनेपद नहीं हुआ । आत्मनेपद प्रायिक है, तदभाव क्वाचित्क । वह भी वस्तुतः प्रमादज । हो सकता है कि आचार्य का अभिप्राय चक्ष् को ङित् करने में ही हो, उच्चारण सौकर्य के लिये ङकार से पूर्व अच् 'इ' का उच्चारण किया हो ॥९६॥

विनार्थक नञ् का समास होने पर अनुदात्तं पदमनेकम्. ऐसा पढ़ देते, **अनुदात्तं पदमेकवर्जम्** (६।१।१५८), ऐसा न पढ़ते, तो भी अर्थ में कुछ भेद न होता, सूत्र में 'वर्ज' ग्रहण क्यों किया ? इसलिये कि यदि नञ्घटित अनेकम् ऐसे पढ़ते, तो यह नित्य विधि न होती, कभी एक (उदात्त अथवा स्वरित) को छोड़कर शेष अनुदात्त न भी होता । इसी अर्थ को परिभाषा रूप में ऐसे पढ़ते हैं—

नञ्घटितमनित्यम् । (९७)

अर्थ—जिस शास्त्र में नञ् का प्रयोग हो वह अनित्य होता है, अर्थात् तद्विहित कार्य नहीं भी होता । इससे **नेयङुवङ्स्थानावस्त्री** (१।४।४) इससे किया गया नदी-संज्ञा का निषेध नहीं भी होता, जिससे **हा पितः क्वासि हे सुभ्रु इत्येवं विललाप सः** (भट्टि) यहां सुभ्रू की नदी संज्ञा होने से **अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः** (७।३।१०७) से ह्रस्व हो गया ।

संज्ञापूर्वको विधिरनित्य इत्यादि उक्त पूर्व परिभाषायें भाष्यानुक्त होने से अप्रमाण हैं और भाष्यानुक्त ज्ञापक द्वारा लब्ध अर्थ की ग्राह्यता में कोई प्रमाण नहीं । जहां भाष्यकार ने सूत्राक्षरों के प्रयोजनों पर विचार नहीं किया है वहां तथाव्यवस्थित सूत्र पाठ से पारायणिक पुरुष को केवल अदृष्ट-लाभ होता है ऐसा मानना ही उचित है । 'स्वायम्भुवम्' का लोक में प्रयोग प्रामादिक ही है ।

आगम शास्त्रमनित्यम्—इस परिभाषा के ज्ञापित होने पर 'आनि' में 'आ' व्यर्थ ही रहता है । ऐसा लोडन्त रूप कोई प्रसिद्ध नहीं जहां 'आनि' न हो और 'नि' हो, जिसके परे रहते उपसर्गस्थ निमित्त से णत्व न हो सके । वस्तुतः सूत्र में आट्ग्रहण (आनि में 'आ' का ग्रहण) इतना ही व्यर्थ है, जितना कि लोट्ग्रहण, कारण कि 'नि' लोट् सम्बन्धी (लोट्-स्थानिक) ही है । दोनों का ग्रहण अदृष्टार्थ है ।

इस परिभाषा के न होने से ही भाष्यकार ने **घोर्लोपो लेटि वा** (७।३।७०) सूत्र में वा-ग्रहण का प्रत्याख्यान किया है। इस सूत्र से घु-संज्ञक धा के 'आ' का लोप होने पर भी **लेटोऽडाटौ** (३।४।९४) सूत्र से आट् होने पर **दधात्** में आकार का श्रवण होगा और अट् होने पर दधत् में 'अ' का। **दधद्रत्नानि दाशुषे** (ऋ० १।३५।८)। यदि आगम शास्त्र अनित्य हो तो आट् न होने पर 'दधात्' रूप के असिद्ध होने से उसकी सिद्धि के लिये उक्त सूत्र में 'वा' ग्रहण आवश्यक हो जाता है, तो उसका भाष्यकृत प्रत्याख्यान असङ्गत हो जाता है।

इसी सूत्र में वा-ग्रहण इस परिभाषा की अनित्यता का ज्ञापक है, ऐसा कुछ लोगों का मन्तव्य है—यह कैयट ने कहा है। यह भाष्य-विरुद्ध होने से स्वीकार्य नहीं, क्योंकि भाष्य में 'वा' का प्रत्याख्यान किया है।

तनादिकृञ्भ्य उः सूत्र में जो कृञ्-ग्रहण से गणकार्यमनित्यम् यह परिभाषा ज्ञापित मानी जाती है। वह भी मान्य नहीं, कारण कि भाष्यकार ने कृञ्-ग्रहण का प्रत्याख्यान किया है।

चक्षिङ् के ङित्करण को अनुदात्तेत्व-लक्षणमात्मनेपदमनित्यम् जो इस परिभाषा का ज्ञापक माना है, वह भी ठीक नहीं, कारण कि ङकार इसलिये लगाया है कि चक्ष् इदित् (=अन्तेदित्) न हो। **इदितो नुम् धातोः** (७।१।५८) से अन्तेदित् को नुम् होता है (जो अवयवशः इदित् हो उसे नहीं) ॥९७॥

इसी प्रकार अगली तीन परिभाषाएं[1] भी भाष्यानुक्त होने से अप्रमाण तथा निर्मूल हैं—

आतिदेशिकमनित्यम्। (९८)

अर्थ—अतिदेश-लभ्य कार्य नित्य नहीं होता। इसमें स्थानिवत्सूत्र से अतिदेश के सिद्ध होने पर जो **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्**—इस सूत्र का आरम्भ किया है, यह इस परिभाषा का ज्ञापक है। **लोटो लङ्वत्** (३।४।८५) यह अतिदेश-विधायक शास्त्र भी ज्ञापक है। अन्यथा ङ् लोट् ऐसा न्यास करने से ही ङित् निमित्तक कार्य हो जाता, **लोटो लङ्वत्**—यह व्यर्थ रहता। अनित्य होने से ही 'जुह्वतु' में **सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च** (३।४।१०९) से लोट् सम्बन्धी 'झि' को जुस् नहीं हुआ। उभ+तयप् (५।२।४४) से तयप् को अयच् आदेश होता है।

---

१. प्राचीनोक्त—क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं क्लीबत्वमेकत्वं च, प्रतिपदविधानाद्योगविभागो गरीयान् इत्यादि वचन भी भाष्यानुक्त होने के कारण अप्रमाण हैं।

स्थानिवद्भाव से तयप् मानकर (१।१।३३) से जस् परे रहते वैकल्पिकी सर्वनामसंज्ञा प्राप्त होती है, नित्यसर्वनामता इष्ट है। यह इस परिभाषा से ही लभ्य है। वस्तुतः 'उभय' के सर्वादिगण में पाठ होने से इसकी नित्य सर्वनाम संज्ञा है।

वस्तुतः सिच् के साहचर्य से अभ्यस्त से भी अनतिदिष्ट-ङित्त्व लकार के स्थान में 'झि' को 'जुस्' होता है, ऐसा अर्थ स्वीकार करने पर कुछ दोष नहीं आता और यह परिभाषा अनर्थक ठहरती है ॥९८॥

सर्वविधिभ्यो लोपविधिरिड्विधिश्च बलवान् (९९)

अर्थ स्पष्ट है। इस परिभाषा के प्रथमांश में प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् इस सूत्र का आरम्भ ही ज्ञापक है। **यावता विना यदनुपपन्नं तत्सर्वं ज्ञाप्यम्** इस न्याय से यह न केवल अतिदेश-विधि के विषय में ज्ञापक है, लोप-विधि के विषय में भी। यदि यह परिभाषा न हो तो प्रत्यय-निमित्तक कार्य करने के पश्चात् लोप करने से इष्टसिद्धि हो जाने से **प्रत्यय लोपे**—यह व्यर्थ रहता। इसीलिये 'कानि सन्ति'—यहां यण् से पूर्व अल्लोप होने से इष्टरूप-सिद्धि होती है। भाष्यकार ने **'वृद्धेर्लोपो बलीयान्'** इस विशेषांश की ज्ञापकता को स्वीकार किया है, **सर्वविधिभ्यो लोपस्य बलीयस्त्वे मानाभावात्**। सब विधियों से लोपविधि बलवान् है, इसमें कोई प्रमाण नहीं।

इड्-विधि के बलवत्त्व में यह ज्ञापक माना जाता है—**सनि ग्रहगुहोश्च** (७।२।१२) सूत्र में **श्र्युकः किति** (७।२।११) उक् के अनुकर्षण के लिये जो चकार पढ़ा है, वह इस परिभाषा का ज्ञापक है। यदि इड्विधि बलवान् न हो, तो बुभूषति, रुरूषति इत्यादि में इडागम से पूर्व सन् प्रत्यय के झलादि होने से **इको झल्** (१।२।९) इससे सन्प्रत्यय के कित् होने से 'श्र्युकः किति' इसी से इट्निषेध के सिद्ध होने से उक् के अनुकर्षण के लिये चकार-करण व्यर्थ हो जाय।

परिभाषा का फल—श्वयित्वा (श्वि+क्त्वा)। यदि परिभाषा न हो, तो पूर्व सम्प्रसारण होने पर यह रूप सिद्ध नहीं होगा। इडागम के पूर्व हो जाने पर **न क्त्वा सेट्** (१।२।१८) से कित्त्व का प्रतिषेध हो जाने से सम्प्रसारण नहीं होता।

वस्तुतः यह फल अन्यथा सिद्ध है—'श्वयित्वा'—यहां नित्य होने से पहले इट् होगा, इट् होने पर कित्त्व का निषेध हो जायगा, तो सम्प्रसारण नहीं होगा ॥९९॥

सीरदेवीय—

सीरदेव इस परिभाषा को दो स्वतन्त्र परिभाषाओं के रूप में पढ़ता है—

सर्वविधिभ्य इड्विधि र्बलवान् (८५)। **सर्वविधिभ्यो लोपविधिर्बलवान्** (११४)।

पूर्व परिभाषा के सीरदेवीय व्याख्यान का सार—

अतः श्वयित्वा—यहां सम्प्रसारण से पूर्व इट् आगम होता है। इसीलिये **न क्त्वा सेट्** (१।२।१८) इससे अकित्त्व होने से सम्प्रसारण नहीं हुआ।

सनि ग्रहगुहोश्च (७।२।१२) में उक् के अनुकर्षण के लिये चकार पढ़ना इस परिभाषा का ज्ञापक है। अन्यथा (परिभाषा के अभाव में) रुरूषति—यहाँ **इको झल्** (१।२।९) से झलादि सन् के कित् होने पर **श्र्युकः किति** (७।२।११) से इट्-प्रतिषेध सिद्ध था, उक् के अनुकर्षण के लिये चकार पढ़ना व्यर्थ हो जाता है। परिभाषा के होने पर प्रथम इट् होने पर झलादित्व न रहने से कित्त्व नहीं होता, अतः उक् का अनुकर्षण सार्थक रहता है।

दूसरी परिभाषा के सीरदेवीय व्याख्यान का सार—

अतः 'कानि सन्ति'—यहां यण् आदेश से पूर्व **श्नसोरल्लोपः** (६।४।१११) से अस् के 'अ' का लोप हो जाता है। इस परिभाषा का प्रत्ययलोपे प्रत्यय-लक्षणम्—यह सूत्र ज्ञापक है। यदि यह सूत्र न हो, तो लोप से पहले ही प्रत्ययनिमित्तक कार्य का सम्पादन कर पश्चात् प्रत्यय-लोप करने से इष्ट सिद्ध हो जायगा। तो सूत्र व्यर्थ हो जायगा। भाष्य में यह परिभाषा नहीं पढ़ी॥९९॥

अब यहां किन्हीं लोगों की शङ्का है कि यङ्लुगन्त हन् के आशीर्लिङ् में हन् को 'वध' आदेश नहीं होना चाहिये। इसका उत्तर परिभाषा के रूप में पढ़ते हैं—

प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणम्। (१००)

अर्थ—व्याकरण-शास्त्र में व्यवहृत धातु न केवल अपने स्वरूप का ही बोधक होती है अपितु उस धातु के यङ्लुगन्त-रूप धातु का भी। पाणिनीय शास्त्र का यह सिद्धान्त है कि **द्विष्प्रयोगो द्वित्वं षाष्ठम्**, अर्थात् षष्ठाध्याय में जिस द्वित्व का विधान किया है वह प्रकृति (धातु) का द्विः प्रयोगमात्र है, दो बार उच्चारण है, अतः द्वित्व होने पर जो शब्द-रूप समुदाय निष्पन्न होता है वह प्रकृतिरूप ही है। इससे इस परिभाषा का अर्थ न्यायसिद्ध है, कुछ अपूर्व नहीं।

इसीलिये 'जुहुधि' में 'हु' को द्वित्व होने पर हु हु होने पर हु हु हि—इस अवस्था में **हुझल्भ्यो हेर्धिः** (६।४।१०१) से 'हि' को 'धि' आदेश हो जाता है। पर यह परिभाषा भी भाष्य में उपलब्ध नहीं होती, अतः अप्रमाण है। किंच। 'द्विष्प्रयोगो द्वित्वं षाष्ठम्' इससे धातु और उसके अभ्यास को पृथक् पृथक् प्रकृति (धातु) से अभिन्न समझा जा सकता है, पर **इसमें कोई प्रमाण नहीं कि धातु और उसके अभ्यास के समुदाय को भी धातु माना जाय।** क्योंकि समुदाय के धातुत्व बोधन में कोई प्रमाण नहीं, अतः **दयतेर्दिगि लिटि** (७।४।९) सूत्र के भाष्य में अस् को पहले द्वित्व होना चाहिये, पीछे 'भू' आदेश, कारण कि द्वित्वविधायक शास्त्र **लिटि धातोरनभ्यासस्य** (६।१।८) **पर** है और **अस्तेर्भूः** (२।४।५२) अस् को 'भू' आदेशविधायक **पूर्व** है। अस् अस् लिट्—इस अवस्था में **पर** अस् को 'भू' होने पर पूर्व अभ्यास रूप अस् का श्रवण होगा, ऐसी शङ्का की है। और इस शङ्का का परिहार **अस्तेर्भूः** में जो अनुवृत्ति से लब्ध 'आर्धधातुके' यह सप्तमी है उसका अर्थ **'आर्धधातुके परे'** (आर्धधातुक-प्रत्यय यथा लिट् परे होने पर) ऐसा नहीं, किन्तु **'आर्धधातुके विषये'**। आर्ध-धातुके' यह विषयसप्तमी है, जिसका अर्थ यह होगा कि अस् को 'भू' होता है जब आर्धधातुक प्रत्यय (यथा लिट्) विषयभूत है, अभी आया नहीं, आने वाला है। इसके अनुसार अस् को 'भू' पहले हो जाता है, पीछे लिट् के आने पर द्वित्व होता है।

यदि द्विरुक्त अस् अस् भी प्रकृति अस् का बोधक हो, तो भू आदेश समु-दाय के स्थान में होगा, और ऊपर उद्धृत भाष्य के साथ स्पष्ट विरोध आयेगा। अतः अभ्यासोत्तर जो जो कार्य धातु को कहा जाता है वह उत्तर खण्ड को ही होता है।

भू-सुवोस्तिङि (७।३।८८) से बोभू को तिङ्परे रहते गुण-निषेध सिद्ध होने पर जो आचार्य ने **दाधर्ति-दर्धर्ति**—(७।४।६५) में 'बोभूतु' का निपातन किया है उसका कोई और प्रयोजन नहीं, केवल यही प्रयोजन है कि वेद में ही लोट् परे रहते गुणाभाव हो, अन्यत्र लोक में न हो। ऊपर कहा है कि अभ्या-सोत्तर खण्ड को ही कार्य होता है, उत्तरखण्ड के अङ्ग न होने से उत्तरखण्ड 'भू' को गुण निषेध कैसे कहा गया? ठीक है। 'भूसुवोस्तिङि' का ऐसा अर्थ है—तिङ् परे रहते अङ्ग के अवयव 'भू' को अथवा सामानाधिकरण्य का आश्र-यण करके अङ्गान्त 'भू' को गुण का निषेध होता है।

चूंकि यह परिभाषा निर्मूल है अतः यङ्लुगन्त 'वध्यात्[1] आदि रूप जिन्हें माधव आदि वैयाकरणों ने स्वीकार किया है, चिन्त्य हैं ॥१००॥

सीरदेवीय—

अतः **विदो लटो वा** (३।४।८३) इससे विधीयमान णल् आदि आदेश विकल्प से यङ्लुगन्त धातु के विषय में भी होते हैं। वेवेद । वेविदतुः । वेविदुः । वेवेत्ति । वेवित्तः । वेविदति ।

यह परिभाषा न्यायसिद्ध है इसे **निष्ठा शीङ्स्विदि-मिदि-क्ष्विदि-धृषः** (१।२।१९) सूत्र की व्याख्या में न्यासकार ने दर्शाया है। षाष्ठ द्विर्वचन के विषय में दो पक्ष हैं—स्थाने द्विर्वचन होता है यह एक पक्ष है। इस पक्ष में स्थानिवद्भाव से प्रकृतिव्यपदेश सिद्ध है। षाष्ठ द्विर्वचन द्विः प्रयोगमात्र है, उसी एक की आवृत्ति है, इस पक्ष में भी प्रकृतिव्यपदेश सिद्ध है। अतः युक्त ही है कि प्रकृति के ग्रहण में यङ्लुगन्त का भी ग्रहण हो ।

इस परिभाषा में ज्ञापक भी कहते हैं—**ऊदुपधाया गोहः** (६।४।८९)—यहाँ उपधा-ग्रहण ज्ञापक है। ऊद् ओ र्गोहः, ऐसा लाघव के लिये पढ़ना चाहिये था, ऐसा न पढ़कर जो उपधाग्रहण किया है वह यङ्लुक् 'जोगूहति' में जो अभ्यास का ओकार है उसे दीर्घ 'ऊ' मत हो, इसलिये किया है। यह तभी संभव है जब प्रकृति के ग्रहण में यङ्लुगन्त का भी ग्रहण हो ।

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि **वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्** (१।१।७३) —यहाँ **इको गुणवृद्धी** (१।१।३) इस परिभाषा की उपस्थिति होने पर शाला आदि की वृद्ध संज्ञा न होने से[2] 'शालीयः' आदि में **वृद्धाच्छः** (४।२।११४) से

---

१. **हनो वध लिङि** (२।४।४२) में अनुवृत्त आर्धधातुके और लिङि का सामानाधिकरण्य होने पर विषयसप्तम्यन्त स्वीकार करने पर द्वित्व से पूर्व वध आदेश होने पर **दीर्घोऽकितः** से दीर्घ होकर **'वावध्यात्'** ऐसा रूप होगा—यह एक मत है। **नुगतोऽनुनासिकान्तस्य** (७।४।८५) से अन्तरङ्ग नुक् होने पर **जंवध्यात्** होगा—यह दूसरा मत है। अनुनासिकान्त हन् को वध आदेश होने पर, अनुनासिकान्तत्व का विनाश होने वाला है अतः अकृतव्यूहपरिभाषा से नुक् न करके **दीर्घोऽकितः** (७।४।८३) से अभ्यास को दीर्घ करके **जावध्यात्** —यह रूप निष्पन्न होता है ऐसा भी मत है।

२. इको गुणवृद्धी इसका ऐसा अर्थ मानकर 'जहाँ गुण व वृद्धि पदों का श्रवण है वहाँ 'इकः' यह षष्ठ्यन्त पद उपस्थित हो जाता है। **वृद्धिर्यस्या-**

छ प्रत्यय न हो सकेगा। इस शङ्का के समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

विधौ परिभाषोपतिष्ठते नानुवादे। (१०१)

अर्थ—(अनूद्यमान) जो कुछ कहा जाता है (विधीयमान नहीं होता, विधीयमान अन्यत्र होता है) उसके विशेषण में (अनूद्यमानस्य विशेषणे) परिभाषा उपस्थित नहीं होती[1], यदि होती तो उस विशेषण का नियमन करती, यह परिभाषार्थ है। विधिशास्त्र की उपकारक परिभाषाएँ, विधेय के साथ सम्बन्ध के असंभव होने पर भी, क्योंकि विधेय अभी सिद्ध नहीं हुआ, **विधेय के विशेषण को व्यवस्थित करने में चरितार्थ हो जाती हैं,** यह स्वीकार्य है, **पर वे विधेयविशेषण के विशेषण को व्यवस्थित करें इस में कोई प्रमाण नहीं।** इस प्रकार यह परिभाषा तर्कमूला मानी जाती है। भाव यह है—परिभाषा का उपस्थापक लिङ्ग (यथा वृद्धि, गुण) प्रधान की अपेक्षा करता है, प्रधानाप्रधान-न्याय से प्राधान्य विधेय का ही होता है, अतः यथासंभव विधेयबोधक लिङ्ग का ग्रहण होता है, उद्देश्य-बोधक का नहीं। तथा च मृजेर्वृद्धिः—यहाँ इक्परिभाषा उपस्थित होती है, वृद्धिर्यस्याचाम्—यहाँ नहीं, कारण कि यहां वृद्धि पद उद्देश्य (अप्रधान) का बोधक है। विधेय का जो साक्षात् विशेषण होता है वह परम्परया विशेषण के प्रति प्रधान होता है। वहीं परिभाषा की प्रवृत्ति होती है, परम्परया विशेषणीभूत में नहीं।

उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः (७।३।४६) में स्थाने-ग्रहण इस परिभाषा का लिङ्ग है। अन्यथा (परिभाषा के न होने पर) **'षष्ठी स्थानेयोगा'** इस परिभाषा से ही स्थान सम्बन्ध की उपलब्धि हो जाने पर इस सूत्र में स्थाने-ग्रहण व्यर्थ रहता। सूत्रार्थ यह है—**आतः स्थाने योऽत् सूत्रान्तरेण विहितस्तस्याऽतः**

चामादिस्तद् वृद्धम् यहाँ वृद्धि पद के होने से 'इकः' की उपस्थिति होने पर **इक्स्थानिकवृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्** ऐसा अर्थ होने पर लैगवायनः (लिगोरपत्यं लैगवः, तस्यापत्यं लैगवायनः) यहीं वृद्ध संज्ञा होगी, शालीयः में 'शाला' शब्द की नहीं।

१. **वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्**—यहाँ 'वृद्धि' पद 'वृद्ध' का विशेषण है। 'वृद्ध' शब्द अनूद्यमान (अनुवाद्य, उद्देश्य) है, इसके विषय में कुछ कहा जा रहा है। 'वृद्ध' शब्द ऐसा होता है जिसके अचों में आदि अच् वृद्धिसंज्ञक होता है। इससे विस्पष्ट है कि 'वृद्धि' शब्द वृद्ध शब्द का विशेषण है। सो यहाँ प्रकृत परिभाषा उपस्थित नहीं होती।

स्थान इत्स्यात्, अर्थात् 'आ' के स्थान में जो सूत्रान्तर से 'अत्' विहित हुआ है, उस 'अत्' को 'इत्' होता है। यहाँ विधेय इत् है, उसका विशेषण 'अत्' है, इस विशेषण का विशेषण 'आत्' है। अत्स्थानिक इत्—यहाँ तो परिभाषा प्रवृत्त होती है। आत्स्थानिकोऽत्—यहाँ नहीं, अतः सूत्र में स्थानेग्रहण चरितार्थ हो जाता है।

यह सब असाधु है। **ष्यङः सम्प्रसारणम्** (६।१।१३) सूत्रभाष्योक्त रीति के अनुसार **उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य** (८।२।४) इत्यादि में तथा **अल्लोपोऽनः** (३।४।१३४) इत्यादि में इस परिभाषा का व्यभिचार देखा जाता है। यहां पूर्व सूत्र में यण् का स्थाने के साथ सम्बन्ध जोड़ना पड़ता है, यद्यपि यण् वहाँ विधीयमान नहीं, किन्तु अनूद्यमान है। उदात्तस्य स्वरितस्य च स्थाने यो यण्∴..ऐसा अर्थ होता है। उत्तर सूत्र में अन् के विषय में यह परिभाषा प्रवृत्त होती है, यद्यपि यह अन् अत् (=अ) का विशेषण है, जो अत् लोप का विशेषण है। इतना ही नहीं। यह परिभाषा भाष्यानुक्त है, इसलिये भी ग्राह्य नहीं।

स्थान-सम्बन्ध भी **षष्ठी स्थानेयोगा** (१।१।४९) इस परिभाषा द्वारा लभ्य नहीं। इस परिभाषा के न होने पर भी आनन्तर्य, सामीप्य आदि सम्बन्धों की अपेक्षा स्थानसम्बन्ध के अन्तरङ्ग होने से स्थानसम्बन्ध ही ले लिया जायगा। अतः आतः स्थाने—सूत्र में स्थानेग्रहण प्रकृत परिभाषा का ज्ञापक नहीं हो सकता। इस सूत्र में स्थानेग्रहण स्पष्टता के लिये ही है।

किं च। इस परिभाषा से कुछ भी साध्य नहीं। जो कुछ भी इसका फल है वह **इको गुणवृद्धी** (१।१।३) तथा **अचश्च** (१।२।२८) में 'विधीयते' का अध्याहार करने से सिद्ध हो जाता है। गुणवृद्धिशब्दाभ्यां ये गुणवृद्धी विधीयेते ते इकः स्थाने वेदितव्ये, अथवा यत्र गुणवृद्धी विधीयेते तत्रेक इत्युपस्थितं द्रष्टव्यम्—ऐसा अर्थ होता है, जिससे वृद्धिर्यस्याचाम्—में परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती, अर्थात् 'इकः' उपस्थित नहीं होता ॥१०१॥

सीरदेवीय—अतः **क्ङिति च** (१।१।५) इस सप्तम्यन्त पद का गुण वृद्धि

---

१. यहां अङ्ग—भ-संज्ञा से आक्षिप्त 'अचि' (सप्तम्यन्त) अन् का विशेषण है। विधेय लोप है। उसका विशेषण अत् है और उसका (अत् का) विशेषण अन् है। सो यह विधेय का परम्परया विशेषण है, तो भी इसमें **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** (१।१।६६) इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है। अतः 'तक्ष्णः' यहां तकारोत्तरवर्ती 'अ' का लोप नहीं होता।

(जो अन्यत्र विहित हैं) से सम्बन्ध होने पर अनूद्यमान का विशेषण होने से **तस्मिन्निति निर्दिष्टे (१।१।६६)** यह परिभाषा उपस्थित नहीं होती। जिससे क्ङिन्निमित्त प्रत्यय परे रहते निषेध होने पर 'भिन्नम्'—यहाँ भी निषेध सिद्ध होता है।

इस परिभाषा का अर्थ प्रधानाप्रधानन्याय से सिद्ध है। पर इसमें ज्ञापक भी है—**उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः (७।३।४६)** यहाँ स्थानी के बोध के लिये स्थानग्रहण इस का ज्ञापक माना जाता है।

यह परिभाषा अव्यापिका है, कहीं अनुवाद में भी यह उपस्थित होती है। **संख्याव्ययादेर्ङीप् (४।१।२६)** सूत्र में 'आदि' ग्रहण इसमें लिङ्ग है। 'संख्याव्ययादेः' यह **बहुव्रीहेरूधसो ङीष् (४।१।२५)** से अनुवर्तमान 'बहुव्रीहेः' का विशेषण है। यदि संख्याव्ययात् ऐसा कहा जाय, तो 'ऊधस्' का विशेषण होगा। तस्मादित्युत्तरस्य (१।१।६७) इस परिभाषा से अव्यवहित संख्या और अव्यय से परे के 'ऊधस्' का ही ग्रहण होगा। अतः पञ्चघटोध्नी— यहां ङीप् न होगा। इसलिये आदिग्रहण किया है।

यदि यह परिभाषा नित्य हो तो अनूद्यमान बहुव्रीहि का विशेषण जो 'ऊधस्' शब्द, उसका विशेषण जो संख्या, अव्यय उसकी **'तस्मादित्युत्तरस्य'** यह परिभाषा नियामिका नहीं होगी, इससे संख्यावाचक 'पञ्चन्' से व्यवहित पर 'ऊधस्' शब्द का भी ग्रहण होने से 'पञ्चघटोध्नी' सिद्ध हो जायगा, तो सूत्र में आदिग्रहण व्यर्थ हो जायगा।

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि **नमस्करोति देवान्, नमस्यति देवान्**— यहाँ **नमः स्वस्ति—(२।३।१६)** से चतुर्थी प्राप्त होती है, उसे कैसे रोका जाय? इस शङ्का के उत्तर में परिभाषा पढ़ते हैं—

उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी। (१०२)

अर्थ स्पष्ट है। जो पदार्थ क्रिया का जनक तद्वाचक शब्द से जो विभक्ति आती है उसे यहाँ कारकविभक्ति कहा है, कर्मादि में जो विभक्तियां विधान की हैं वे ही कारक विभक्तियाँ हैं ऐसा नहीं। अतः प्रथमा विभक्ति भी कारक विभक्ति है[1] क्योंकि यह भी क्रियाजनक पदार्थ से आती है इसका संकेत

---

१. **त्वां च मां चान्तरेण कमण्डलुः**। यहाँ अस्ति क्रिया के अनुषङ्ग से कमण्डलु की कर्तृता है। यह कर्तृता तिङ् से अभिहित है, अतः कारकविभक्ति है। यह अन्तरङ्ग है, क्रिया-कारक-सम्बन्ध के अन्तरङ्ग होने से। उपपदार्थ के

सहयुक्तेऽप्रधाने (२।३।१९) आदि सूत्रों के भाष्य में मिलता है। यह परिभाषा वाचनिकी है (वचनरूप से पढ़ी है), अन्तरङ्गादि न्याय सिद्ध नहीं। चूंकि यह परिभाषा एक स्वतन्त्र वचनोपन्यास है, अन्तरङ्ग न्याय पर आश्रित नहीं है, अतः **तत्र च दीयते कार्यं भववत्** (५।१।९६) जहां **तत्र भवः** (४।३।५३) से विहित प्रत्ययों का अतिदेश किया है, भाष्यकार ने संकेतरूप से और कैयट ने स्पष्ट रूप से **तत्र भवः** में 'तत्र' इस सप्तमी को औपश्लेषिक अधिकरण सप्तमी माना है और प्रकृत परिभाषा के आधार पर अधिकरण सप्तमी को भावलक्षणा सप्तमी से बलीयसी ध्वनित किया है। यदि यह परिभाषा अन्तरङ्ग न्याय पर आश्रित हो तो अधिकरणसप्तमी के भावलक्षणा सप्तमी के प्रति अन्तरङ्ग न होने से बलीयस्त्व होता नहीं, तो भाष्य-ध्वनित बलीयस्त्व अनुपपन्न रहता है। इसी से यह मत—**क्रियान्वितत्वं कारकत्वम्**, क्रिया में अन्वित होना ही कारकत्व है, निरस्त हो जाता है, कारण कि भाव-लक्षणा सप्तमी जिससे आती है वह भी क्रियान्वित ही होता है, तो भाव-लक्षणा सप्तमी कारकविभक्ति हो जायगी।

जो लोग यह मानते हैं कि कारकविभक्तियाँ इस लिये बलीयसी होती हैं क्योंकि वे पदान्तरापेक्षया प्रधानभूत क्रिया के साथ सम्बन्ध के कारण से आती हैं, वे भी भाष्यविरोधी हैं। सत्सप्तमी (भावलक्षणा सप्तमी) तथा अधिकरण सप्तमी—इन दोनों के क्रियासम्बन्ध-निमित्तक होने से अधिकरण सप्तमी को अधिक बलवती कैसे कहा जा सकता है? ऐसा मानने से उक्त भाष्य के साथ विरोध भी आता है, वहाँ तो प्रकृत परिभाषा से ही अधिकरण विभक्ति सप्तमी को बलवती कहा है। **नमो वरिवश्चित्रङः क्यच्** (३।१।१९) सूत्र के भाष्य के साथ भी विरोध आता है। वहाँ नमस्यति देवान्—यहाँ 'देव' से चतुर्थी को रोकने के लिये प्रकृत परिभाषा का उपयोग किया गया है।

कैयट आदि का यह कहना कि क्रिया तथा कारक का सम्बन्ध अन्तरङ्ग होता है, अतः तन्निमित्तक विभक्ति अन्तरङ्ग होती है। वाक्य में उपपद के निमित्त से जो विभक्ति दूसरे पद से आती है वह बहिरङ्ग है, कारण वह विभक्ति उन दोनों के मध्य में किसी सम्बन्ध के निमित्त से आती है, जो सम्बन्ध किसी न किसी क्रिया से निर्वृत्त हो चुका है (यथा राज्ञः पुरुषः में

साथ तो क्रिया द्वारा सम्बन्ध है, अतः उपपद-निमित्तक विभक्ति बहिरङ्ग है—कैयट।

राजन् और पुरुष का जो स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध है वह क्रयण पोषण आदि क्रिया से निष्पन्न हुआ है)—भी निरस्त हो जाता है, कारण कि नमस्यति देवान् में देवों और नमः के बीच में भी क्रियाकारकसम्बन्ध के अतिरिक्त कोई सम्बन्ध नहीं। नमः शब्द के अक्रियार्थक होने से क्रियाकारक सम्बन्ध कैसे है, यह शङ्का नहीं होनी चाहिए। जैसे णिजन्त मुण्डयति में तद्घटक मुण्ड भी क्रियार्थक है वैसे ही क्यजन्त 'नमस्यति' में तद्घटक नमः भी क्रियार्थक है।

किं च। **सहयुक्तेऽप्रधाने** (२।३।१९) के भाष्य में 'प्रधाने प्रथमा भवति' इस को सिद्ध करने के लिये प्रकृत परिभाषा का उपयोग किया गया है, इससे भी यही प्रमित होता है कि यह स्वतन्त्र न्याय है, जो अन्तरङ्ग न्याय के आश्रित नहीं ॥१०२॥

सीरदेवीय—अतः **'नमस्यति देवान्'**—यहाँ कर्म में द्वितीया होती है। नमः शब्द के योग से उपपदविभक्ति चतुर्थी नहीं होती। यहाँ कुछ लोग शङ्का करते हैं—प्रत्ययार्थ (करण) के प्रति गुणीभूत (अप्रधान) नमः शब्द का निष्कृष्य (जुदा करके) देव शब्द के साथ सम्बन्ध न होने से 'देव' से चतुर्थी का प्रसङ्ग ही नहीं। इसी प्रकार 'नमस्करोति देवान्' यहाँ 'नमः' शब्द 'कृ' के अर्थ को कह रहा है, 'कृ' के नमन रूप अर्थ का द्योतक होता हुआ **'साक्षात्-प्रभृतीनि च'** (१।४।७४) इस शास्त्र से क्रियायोग में गतिसंज्ञक होता है, तब वह 'कृ' के ही अर्थ को कहता है जैसे प्रादि जिस धातु के साथ युक्त होते हैं उसी के अर्थ को कहते हैं, तब उसका देव शब्द के साथ सम्बन्ध अनुप-पन्न रहता है, अतः देव शब्द से चतुर्थी का प्रसङ्ग नहीं। जैसे न्यासकार ने **सर्पिषोऽपि स्यात्**—यहाँ कर्मप्रवचनीय 'अपि' के योग में द्वितीया विभक्ति के अभाव का व्याख्यान करते हुए कहा है—'सर्पिस्' शब्द से द्वितीया क्यों नहीं हुई ? 'अपि' का सर्पिस्' के साथ योग न होने से। सर्पिस् की जो 'मात्रा' वह 'अपि' शब्द से युक्त है, सर्पिस् नहीं। तो इस अवस्था में प्रकृत परिभाषा का आश्रयण अनावश्यक है। यह ठीक है। अन्यथा जब 'नमः' शब्द का क्रिया के साथ योग नहीं भी है और 'नमः' शब्द विशेष प्रणाम अर्थ को कह रहा है, तब भी इस परिभाषा से चतुर्थी का बाध होकर द्वितीया हो जायगी, और यह इष्ट नहीं। भट्टि का प्रयोग भी है—**नमश्चकार देवेभ्यः पर्णशालां मुमोच च।** तथा **रावणाय नमः कुर्याः सीतेऽस्तु स्वस्ति ते ध्रुवम्।** दूसरे लोगों का यह कहना है— गुणीभूत क्रिया का साधन के साथ सम्बन्ध देखा जाता है, जैसे **कृतपूर्वी कटं देवदत्तः** में 'कृतपूर्वी' (कृतः पूर्वमनेन) तद्धितान्त

प्रयोग में कृ धातुवाच्य क्रिया साधन 'कट' के साथ सम्बद्ध होती है, इसी प्रकार नमः शब्द के अर्थ 'प्रणाम' का भी 'देव' के साथ सम्बन्ध होता है, अतः 'नमस्यति देवान्' यहाँ चतुर्थी हो ही जायगी, उसके रोकने के लिये प्रकृत परिभाषा का आश्रयण आवश्यक है। परन्तु ऐसा मानने पर **देवाय नमः करोति**—यहाँ द्वितीया ही होनी चाहिये। अतः प्रकृत परिभाषा का यह निर्दोष उदाहरण है—**कुतोऽध्यागच्छति। कुतः पर्यागच्छति। अधिपरी अनर्थकौ** (१।४।९३) इस शास्त्र से अधि परि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने पर भी 'कुतः'—यहाँ किम् शब्द से अपादान में पञ्चमी होती है, कर्मप्रवचनीय के योग से द्वितीया नहीं। यदि कहो कर्मप्रवचनीय संज्ञा किस लिये की ? गति संज्ञा के बाधन के लिये, जिससे गति र्गतौ (८।१।७०) से निघात नहीं होता ॥१०२॥

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि जब क्विन्प्रत्ययान्त अञ्च् परे होने पर अदस् के टि-भाग को 'अद्रि' आदेश हो जाता है, तब अदद्रि अञ्च् के दोनों दकारों को **अदसोऽसेर्दादु दो मः** (८।२।८०) से 'म्' हो जाना चाहिये और 'अदमुयङ्' ऐसा रूप नहीं होना चाहिये इस शङ्का के निवारण के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य। (१०३)

अर्थ—जब शास्त्र में अनन्त्य (जो अन्त्य नहीं) को विकार (आदेश) विधान किया हो तो वह आदेश अन्त्य के सदेश (समीपस्थ, अव्यवहित पूर्ववर्ती अनन्त्य) के स्थान में ही होता है। **समानो देशोऽस्येति सदेशः।** निपातन से समान को स-भाव। **दिशिरुच्चारणक्रियः।** जिसका एक साथ उच्चारण है, वह 'सदेश' है। नागेश के अनुसार परिभाषा का अर्थ है—जब एक ही प्रयोग में अन्त्य-सदेश और अनन्त्य-सदेश दोनों को एक साथ कार्य (आदेश) प्राप्त हो तो अन्त्य-सदेश को ही कार्य होता है (अतः अन्त्य सदेश 'द्र्' को मुत्व होकर 'अदमुयङ्' रूप साधु होता है)। यही परिभाषार्थ है। यदि ऐसा न माना जाय तो प्रकृत परिभाषा की प्रवृत्ति से 'नेता', 'सोता' इत्यादि में ही णोपदेश धातु णीञ् को नत्वादेश तथा षुञ् को सत्वादेश हो जायेंगे। **धात्वादेः षः सः** (६।१।६४) यह आदिभूत औपदेशिक ष् को स् आदेश विधान करता है, और **णो नः** (६।१।६५) आदि भूत ण् को न्। ये आदि (अनन्त्य) को आदेश कहे हैं, ण् तथा स् अन्त्य इ तथा 'उ' के सदेश भी हैं। पर 'नमति' तथा 'सिञ्चति'

आदि में नत्व और सत्व नहीं हो सकेंगे, कारण कि णम् तथा षिच् में ण् तथा ष् अनन्त्य तो हैं पर अन्त्यसदेश नहीं हैं, अन्त्य से अकार तथा इकार द्वारा व्यवहित हैं। परिभाषावाक्य में जो **'अनन्त्यविकारे' यह पढ़ा है, वह परिभाषा का लिङ्ग है।** अर्थात् जहाँ अनन्त्य को विकार कहा हो वहाँ 'अन्त्यसदेशस्य' यह उपस्थित होता है। इस परिभाषा के 'अन्त्यसदेश' का ऐसा अर्थ होने से 'विद्ध' आदि की सिद्धि के लिये **'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्** (६।१।३७) शास्त्र चरितार्थ होता है। व्यध् में 'य्' के अन्त्यसदेश (अन्त्य 'ध्' से अव्यवहित पूर्व) न होने से (अकार के व्यवधायक होने से) प्रकृत परिभाषा से 'य्' को सम्प्रसारण नहीं हो सकता था। यदि ऐसा अर्थ न होता तो परिभाषा से ही 'य्' को सम्प्रसारण हो जाता और 'न सम्प्रसारणे—' सूत्र व्यर्थ रहता।

इस परिभाषा की प्रवृत्ति से **'अनस्तक्ष्णा'** (शकट को कांट छांट कर बनाने वाले के द्वारा) आदि में प्रथम, द्वितीय, तृतीय—तीनों अकारों का **अल्लोपोऽनः** (६।४।१३४) से लोप नहीं होता, किन्तु तृतीय 'अ' का ही लोप होता है। अन्यथा तीनों अकारों का लोप हो जाता। चूंकि प्रत्यय स्वभावतः अपनी पूर्णता के लिये अङ्ग की आकाङ्क्षा करता है, 'अल्लोपोऽनः' सूत्र का यही निर्दोष अर्थ हो सकता है कि अन्नन्त अङ्ग के 'अ' का लोप हो जाता है यदि उस अन्नन्त अङ्ग से परे स्वादि यकारादि अजादि असर्वनामस्थान प्रत्यय हो। ऐसा अर्थ होने पर प्रथम, द्वितीय अकारों का लोप परिभाषा से ही रुक सकता है। अङ्ग का अवयव यजादि परक जो अन् उसके 'अ' का लोप होता है। इत्यादि अनेक क्लिष्ट कल्पनाओं के आश्रयण की अपेक्षा परिभाषा का आश्रयण सरल मार्ग है, अतः यही उचित है।

यह भ्रान्ति है कि भाष्यकार ने **ष्यङः सम्प्रसारणम्** (६।१।१३) सूत्र के भाष्य में इसका प्रत्याख्यान कर दिया है। वस्तुस्थिति ऐसी नहीं वार्तिककार-द्वारा कहे गये इस परिभाषा के अनेक फलों को अल्लोपोऽनः सूत्र विषयक अनेक क्लिष्ट कल्पनाओं से अन्यथासिद्ध दिखाकर अन्त में भाष्यकार कहते हैं **—यान्येतस्याः परिभाषायाः प्रयोजनानि तदर्थमेषा कर्तव्या प्रतिविधेयं दोषेषु,** अर्थात् जो इस परिभाषा के प्रयोजन हैं जहाँ इस परिभाषा के विना इष्टरूपसिद्धि नहीं हो सकती, तदर्थ इस परिभाषा की प्रवृत्ति करनी चाहिये और जहाँ इसकी प्रवृत्ति से अनिष्टरूप की प्रसक्ति हो वहाँ इसकी अप्रवृत्ति का उपाय चिन्तन करना चाहिये, इष्ट विषय में प्रवृत्ति के लिये अनन्त्यविकारबोधक शब्द को उदात्त पढ़ देना चाहिये, जैसे जहाँ **यथासंख्यमनुदेशः समानाम्**

(१।३।१०) की प्रवृत्ति इष्ट है वहाँ **'यथासंख्यम्'** को 'स्वरित' पढ़ दिया जाता है।

'मिमार्जिषति' रूप की सिद्धि के लिये भी इस परिभाषा को स्वीकार करना चाहिये। यहाँ द्वित्व अन्तरङ्ग है और उसकी अपेक्षा **'मृजेर्वृद्धिः'** (७।२।११४) से वृद्धि बहिरङ्ग है, कारण कि द्वित्व सन्नन्त को कहा है (**सन्यङोः**) यह अपर-निमित्तक (इसका निमित्त परे नहीं है), वृद्धि परनिमित्तक है, पर जो सन् प्रत्यय, उसकी अपेक्षा रखती है, अतः अन्तरङ्ग होने से पूर्व द्वित्व होगा, तब अभ्यास-कार्य होकर अभ्यास के **'इ'** को वृद्धि प्राप्त होती है, उसका वारण इस परिभाषा से ही किया जा सकता है। यदि कहो परिभाषा की प्रवृत्ति मत हो अभ्यास **'इ'** को वृद्धि होने पर **'ह्रस्वः'** शास्त्र से पुनः ह्रस्व हो जाने पर इष्ट-रूप सिद्ध हो जायगा। नहीं। ऐसा नहीं हो सकता। लक्ष्य में लक्षण की प्रवृत्ति एक बार ही होती है।

यदि यह परिभाषा हो तो **'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्'** इस सूत्र के भाष्य के साथ विरोध पड़ता है। वहाँ कहा है—**नैतस्याः परिभाषायाः प्रयोजनानि।** वस्तुतः यहाँ कुछ भी विरोध नहीं। भाष्य ग्रन्थ का यह अर्थ है—जिन प्रयो-जनों को उद्देश करके 'न सम्प्रसारणे' सूत्र की रचना हुई है वे परिभाषा के प्रयोजन नहीं हैं। कारण कि व्यध् आदि में अन्त्य-सदेश यण् नहीं है। कहीं-कहीं भाष्य पुस्तकों में **'नैतान्येतस्याः प्रयोजनानि'** ऐसा पाठ भी उपलब्ध होता है। यह पाठ ऊपर दिये हुए अर्थ को प्रमाणित करता है। भाष्यकार यह नहीं कहते कि यह परिभाषा नहीं है। यह परिभाषा **ष्यङः सम्प्रसारणम्** तथा **अदसोऽसेर्दादु दो मः** सूत्रों के भाष्य में वचनरूप से पढ़ी है, न्याय अथवा ज्ञापक-सिद्ध नहीं है ॥१०३॥

सीरदेवीय—सीरदेव परिभाषा को **'अनन्त्यविकारोऽन्त्यसदेशस्य'** ऐसे पढ़ता है और इसका ऐसा अर्थ करता है—अनन्त्य को जो विकार (आदेश) कहा है वह अन्त्यसदेश अर्थात् अन्त्य के समीपवर्ती के स्थान में होता है। अतः **न्यमार्ट्**, **मिमार्जिषति**—यहाँ अडागम तथा अभ्यास के इकार के स्थान में **मृजेर्वृद्धिः** से वृद्धि नहीं होती। तथा **अक्ष्णा, तक्ष्णा**—यहाँ **अल्लोपोऽनः** (६।४।१३४) से आदि अकार का लोप नहीं होता। **'वसोः सम्प्रसारणम्'** (६।४।१३१) से 'विदुषः' में विद् धातु के 'व्' को सम्प्रसारण नहीं होता।

यह परिभाषा **ष्यङः सम्प्रसारणम् पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे** (६।१।१३) सूत्र के भाष्य में पढ़ी है और वहीं अतिप्रसङ्ग दोष के भय से इस का प्रत्याख्यान भी

किया है। इस परिभाषा के होते हुए **धात्वादेः षः सः** (६।१।६४) तथा **णो नः** (६।१।६५)—इनकी सोता, नेता में ही प्रवृत्ति होगी, सिञ्चति नमति में नहीं। तथा **तदोः सः सावनन्त्ययोः** (७।२।१०६) की प्रवृत्ति तद् के प्रथमा एक० 'सः' में ही होगी, त्यद् के प्रथमा एक० 'स्यः' में नहीं। और भी बहुत से दूषण बताये हैं। वार्तिककारद्वारा कहे हुए प्रयोजनों को प्रकारान्तर से परिभाषा के साह्य के बिना सिद्ध किया है। '**न्यमार्ट्**' यहाँ अकार को वृद्धि नहीं होती, इक् परिभाषा के उपस्थित होने से इक् को ही वृद्धि होगी। **मिमार्जिषति**—यहाँ वृद्धि होने पर भी अभ्यास को ह्रस्व होने से इष्ट-रूप-सिद्धि हो जायगी। **अक्ष्णा, तक्ष्णा**—यहाँ **अल्लोपोऽनः** (६।४।१३४) में 'अन्' से अकार को विशिष्ट करेंगे, अर्थ होगा—अन् का जो अकार उसका लोप होता है। यदि कहो ऐसा करने पर भी अनसे, मनसे—यहाँ प्रथम अकार का भी लोप प्राप्त होता है, तो इस आपत्ति के वारण के लिये 'अन्' से अङ्ग को विशिष्ट करेंगे। अर्थ होगा—अन्कारान्त अङ्ग के अन् का जो अकार, उसका लोप होता है। यहाँ समाधान होने पर भी अनस्तक्ष्णा, मनस्तक्ष्णा—यहाँ प्रथम, द्वितीय अन्सम्बन्धी अकारों का लोप प्राप्त होता है। इसका परिहार ऐसे है—अल्लोपोऽनः—यहाँ 'भस्य' यह अधिकृत है। 'कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्' से विधि शास्त्र में संज्ञा शास्त्र **यचि भम्** (१।४।१८) उपस्थित हो जायगा, तब हम 'अन्' को यजादि परतया विशिष्ट करेंगे। तब सूत्रार्थ होगा—यजादि परक जो 'अन्' उसका जो अकार, उसका लोप होता है। इस प्रकार बहुविध (क्लिष्ट) व्याख्यान किया है। परन्तु नाना आक्षेपों के समाधान के लिये नाना व्याख्यानों की अपेक्षा परिभाषा का आश्रयण उचित है ॥१०३॥

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि '**अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ** (६।१।९८) यह शास्त्र अव्यक्त के अनुकरण का जो 'अत्' शब्द और उससे परे इति शब्द के 'इ' के स्थान में पररूप एकादेश विधान करता है। 'अतः' यह षष्ठीनिर्दिष्ट है, अतः '**अलोऽन्त्यस्य**' (१।१।५२) से अन्त्य अल् (त्) तथा 'इ' के स्थान में पररूप होना चाहिये, जिससे पटत् इति 'पटिति' न होकर 'पटेति' (तकार तथा इकार के स्थान में 'ई', पश्चात् आद् गुणः से गुण) होना चाहिये। इस अनिष्ट के वारण के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे। (१०४)

अर्थ—यदि षष्ठीनिर्दिष्ट जिसके स्थान में आदेश विधान किया गया है,

अनर्थक हो (जैसा कि प्रकृत में पटत् का अत् जो सूत्र में षष्ठी निर्दिष्ट है), तो 'अलोऽन्त्य' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती, अर्थात् षष्ठी निर्दिष्ट सारे के स्थान में आदेश होता, पर अभ्यास को आदेश की कर्तव्यता में अलोऽन्त्यविधि होती ही है। इसीलिये **भृञामित्** (७।४।७६) से **'बिभर्ति'** आदि में अभ्यास के अन्त्य को इकार आदेश होता है। अभ्यास अनर्थक होता है[1], धातु के द्विरुक्त होने पर भी अर्थ की द्विरुक्ति नहीं होती। अभ्यास का उत्तरखण्ड (जिसे द्वित्व होता है) ही अर्थवान् है। यह परिभाषा **अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा** (१।१।६५) सूत्र के भाष्य में पढ़ी है और वहीं इसके प्रयोजनों को अन्यथासिद्ध दिखाकर इसका प्रत्याख्यान भी किया है ॥१०४॥

सीरदेवीय—सीरदेव के अनुसार **'नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिः'** यह परिभाषा का स्वरूप है। यह परिभाषा भाष्यकार को अभिमत नहीं। इसके जो प्रयोजन कहे जाते हैं—**अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ**—यहाँ 'अत्' शब्द को पररूप, **हलि लोपः** (७।२।११३)—यहाँ इद् भाग का लोप, **घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च** (६।४।११९)—यहाँ अभ्यास का लोप, **अत्र लोपोऽभ्यासस्य** (७।४।५८)—यहां भी अभ्यास का लोप—इन में परिभाषा की प्रवृत्ति से अन्त्य को आदेश नहीं होता। ये सब अन्यथासिद्ध हैं। पटत् इति पटिति—यहाँ **नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा** (६।१।९९) इस ज्ञापक से अलोऽन्त्यविधि नहीं होती। अनर्थक में अलोऽन्त्यविधि नहीं होती तभी तो अन्त्य तकार को वैकल्पिक पररूप विधान किया चरितार्थ होता है। **हलि लोपः** सूत्र का ऐसा व्याख्यान करेंगे—पूर्व सूत्र 'अनाप्यकः' से अन् की अनुवृत्ति मानकर इद् के स्थान में जो अन् उसका लोप इस सूत्र से विहित है, इद् का नहीं। 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्त्य 'न्' का लोप हो जायगा। **देहि, धेहि** इत्यादि में समस्त अभ्यास के लोप के लिये **'लोपश्श्च'** ऐसा द्विशकार निर्देश माना जाता है, लोप को शित्

---

१. इस में हेतु यह है—केवल अभ्यास का प्रयोग नहीं होता, उससे लोक में अर्थ का बोध नहीं होता। अभ्यासोत्तर-खण्ड जो प्रत्यय से अव्यवहित-पूर्व विद्यमान होता है, वह अर्थवान् है क्योंकि उसका द्विर्वचन विषय से अन्यत्र केवलरूप से भी प्रयोग देखा जाता है और वह अर्थ का बोधक होता है। 'पेचतुः' इत्यादि में अभ्यास के न होने पर भी अर्थ का बोध होता है। अभ्यास का प्रयोग तो **रैपोषं पुष्णाति** इत्यादि की तरह साधुत्व बोधन के लिये किया जाता है।

कर दिया जाता है। शित् आदेश सारे के स्थान में होता है। **मित्सते, दित्सते, धित्सते** आदि में **'अत्र लोपोऽभ्यासस्य'** में 'अत्र' ग्रहण सर्वादेश के लिये माना गया है। इस प्रकार प्रकृत परिभाषा का कुछ प्रयोजन नहीं रहता। अनर्थक के विषय में भी अलोन्त्यविधि होती है, इसीलिये तो **तस्य लोपः** (१।३।९) में 'तस्य'—यह सर्वादेश के लिये पढ़ा है। जो लोग इस परिभाषा को स्वीकार करते हैं वे भी **'अनभ्यासविकारेषु'** यह इसका शेष पढ़ते हैं, जिससे 'अजीगणत्' यहाँ अभ्यास के अन्त्य अल् को 'ई' होता है ॥१०४॥

अब यहां यह शङ्का होती है **ब्राह्मणवत्सा च ब्राह्मणीवत्सश्च**—यहाँ 'पुमान् स्त्रिया' (१।२।६७) से एकशेष हो जाना चाहिये, अर्थात् **'ब्राह्मणवत्सौ** ऐसा शब्द रूप निष्पन्न होना चाहिये, कारण कि जैसे ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च ब्राह्मणौ अथवा वत्सश्च वत्सा च वत्सौ—यहाँ स्त्रीपुंस्त्वमात्रकृत विशेष (भेद) है, वैसा ही यहाँ (ब्राह्मणवत्सा तथा ब्राह्मणीवत्स में) है। इस आपत्ति के वारण के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः। (१०५)

अर्थ—जब दो पदार्थों में एक प्रधान है और दूसरा अप्रधान है तो जो कार्य उन दोनों के विषय में प्रवृत्त हो सकता है, वह प्रधान को होता है ऐसा समझना चाहिये।

ब्राह्मण वत्सा (ब्राह्मणस्य वत्सा) में ब्राह्मण (पुं०) अप्रधान है, वत्सा (स्त्री०) प्रधान है। ब्राह्मणीवत्सः (ब्राह्मण्या वत्सः)—में ब्राह्मणी (स्त्री०) अप्रधान है, वत्स (पुं०) प्रधान है। यहाँ एकशेष इसलिये नहीं हो सकता क्योंकि यहाँ न केवल प्रधान शब्द 'वत्स' एकत्र पुँल्लिङ्ग है और अन्यत्र स्त्रीलिङ्ग है इतना ही विशेष (भेद) नहीं है; किन्तु इसके अतिरिक्त यह भी विशेष है कि एकत्र अप्रधान शब्द पुँल्लिङ्ग है और अन्यत्र स्त्रीलिङ्ग। जहाँ केवल प्रधान स्त्री पुंस्त्व-कृत विशेष हो वहीं एकशेष होता है, यहाँ तो अप्रधान स्त्री पुंस्त्व-कृत विशेष भी है। प्रधान अन्तरङ्ग से तथा अपने उपजीव्य से भी प्रबल होता है—यह (३।१।२६) के भाष्य तथा कैयट में स्पष्ट है[1] ॥१०५॥

---

१. हेतुमति च (३।१।२६) सूत्र में 'हेतुमति' इसकी प्रकृत्यर्थ विशेषणता का खण्डन करके प्रत्ययार्थ-विशेषणता-पक्ष को स्वीकार करके पाचयत्योदनं देवदत्तो यज्ञदत्तेन इत्यादि में प्रयोज्य यज्ञदत्त के स्वव्यापार में स्वतन्त्र होने से,

सीरदेवीय—इसलिये **आकडारादेका संज्ञा** (१।४।१)—यहाँ **कडाराः कर्मधारये** (२।२।३८) यहाँ जो कडार शब्द पढ़ा है वह अवधि माना जाता है। **प्राक् कडारात्समासः** (२।१।३)—यहाँ पढ़ा हुआ 'कडार' शब्द नहीं। 'कडाराः कर्मधारये' में कडार अनुवाद्य है, अतः प्रधान है।

प्रकृत न्याय लौकिक न्याय है। लोक में ऐसा देखा जाता है—जब बहुत से जा रहे हों तब कोई एक किसी दूसरे से पूछता है—यह कौन जा रहा है? दूसरा उत्तर देता है—राजा (जा रहा है)। जो पूछता है और जो उत्तर देता है उन दोनों का प्रधान राजा में अभिप्राय है। न कि उसके समीपवर्ती किसी दूसरे पुरुष में।

यह न्याय कहीं अन्तरङ्ग न्याय को बाधता है और कहीं नहीं भी। लोक में भी ऐसी प्रवृत्ति देखी जाती है। लोग प्रातः उठकर पहले मुखशोधनादि अन्तरङ्ग कार्य करते हैं, पीछे राजदरबार-गमन आदि प्रधान कार्य। एवं शास्त्र में भी प्रधान तथा अन्तरङ्ग—दोनों न्यायों से व्यवहार होता है। प्रधान-न्याय के अनुसार **स्थानिवत्**—(१।१।५६) सूत्र में कार्यातिदेश माना गया है, शास्त्र की अपेक्षा कार्य प्रधान है, शास्त्र कार्य विधान के लिये ही तो प्रवृत्त होता है। पर **गाङ्कुटादि** (१।२।१) सूत्र में अन्तरङ्ग होने से शास्त्रातिदेश माना है। ऐसा होने से ही उत्पूर्वक कुट् धातु के सन्नन्त रूप **'उच्चुकुटिषति'** में 'सन्' के आतिदेशिक ङित्त्व के कारण प्राप्त आत्मनेपद का परिहार यह कह किया है कि यह ङित्त्व औपदेशिक नहीं। कार्यातिदेश होने पर तो जैसे 'अध्यगीष्ट' (इङादेश गाङ् का लुङ्) में स्थानिवद्भाव से आत्मनेपद होता है वैसे ही 'उच्चुकुटिषति'—यहां भी हो जाता। **कार्य की अपेक्षा शास्त्र अन्तरङ्ग है, प्रथम उपस्थित होने से** ॥१०५॥

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि स्वस्रादिगण में मातृ (=माता जननी) शब्द का पाठ होने से **न षट्स्वस्रादिभ्यः** (४।१।१०) से जो ङीप् का निषेध

पर होने से, अन्तरङ्ग होने से तथा उपजीव्य होने से कर्तृत्व की प्राप्ति होने पर प्रधानीभूत प्रयोजक (देवदत्त) की क्रिया की अपेक्षा से सर्वत्र कर्मता की प्राप्ति होने पर उसे 'गतिबुद्धि—' इस नियमद्वारा रोका है। लोक में सर्वत्र प्रधान की बलवत्ता देखी जाती है। अतः यह परिभाषा लोकन्याय-मूलिका है।

होता है वह परिच्छेत्तृवाची (नापने वाला) मातृ शब्द से क्यों न हो। इसके समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी। (१०६)

अर्थ—शब्द के घटक (कल्पित) अवयवों द्वारा जिस अर्थ की सिद्धि होती है उसकी अपेक्षा शब्द-समुदाय(प्रकृति-प्रत्ययादि विभाग-रहित) की जिस अर्थ में प्रसिद्धि (रूढि) होती है, वह बलवती है। अतः प्रकृत में शुद्ध-रूढ, (जिसमें योग =अवयवार्थ-सम्बन्ध कुछ भी नहीं) जननीवाचक मातृ शब्द का ही ग्रहण होता है, परिच्छेत्तृवाचक (जिसमें अवयवार्थ की कल्पना की जा सकती है) का नहीं। कारण कि योगज बोध (अवयवार्थ से उत्पन्न होने वाले बोध) में अवयवार्थ से सर्वथा शून्य रूढि से जो अर्थ की प्रथम उपस्थिति होती है, वह प्रतिबन्धक है। यह अर्थ व्युत्पत्तिलभ्य है और यह अव्युत्पत्तिलभ्य है—यह इस परिभाषा का मूल है। मीमांसा के रथकाराधिकरण में **'वर्षासु रथकारोऽग्नीनादधीत'** यहाँ रथं करोतीति रथकार इस व्युत्पत्त्यर्थ की उपेक्षा कर संकरजातीय 'करणी' में माहिष्य से उत्पन्न हुए का ही ग्रहण किया है।

प्रतिबन्ध्य प्रतिबन्धक भाव के स्वरूप को न जानने वाला कोई यथाश्रुतार्थ-ग्राही प्रकृत परिभाषा की प्रवृत्ति के कारण **दीधीवेवीटाम्** (१।१।६) सूत्र में समुदायरूप दीधीङ् तथा वेवीङ् का ग्रहण होता है, अवयव-भूत दी, धी, वे, वी—इन चार का नहीं—ऐसा कहता है। इस पर न्यासकारादि का कहना है कि यदि आचार्य पाणिनि को इन चार का ग्रहण इष्ट होता तो सन्देहाभाव के लिये सूत्र को दी-वे-धी-वी-टाम्, ऐसा पढ़ देते। वस्तुतः प्रकृत सूत्र में समुदाय-रूप दीधीङ् तथा वेवीङ् का ही ग्रहण इष्ट है, पर वह इस परिभाषा से नहीं, (इस परिभाषा का विषय न होने से) किन्तु भाष्यकार द्वारा किये गये सूत्रस्थ दीधीङ् वेवीङ्—इन दो धातुओं के प्रत्याख्यान से लभ्य है ॥१०६॥

सीरदेवीय—इस न्याय का प्रधानाप्रधान न्याय आधार है। समुदाय की सर्वानुग्राही (सर्वोपकारक) होने से प्रधानता है, अतः अवयवाश्रित कार्य को बाधकर समुदायाश्रित कार्य होता है। अतः **दीधीवेवीटाम्** (१।१।६) में दीधीङ् तथा वेवीङ् का ग्रहण होता है, दीङ् क्षये, धीङ् आधारे, वेञ् तन्तुसन्ताने, वी गत्यादिषु का नहीं। पर अवयवभूत इन धातुओं के ग्रहण की शङ्का ही कैसे उत्पन्न होती है? दीङ् तथा वेञ् का ग्रहण तो अनर्थक है, इसमें गुण का अवकाश न होने से प्रतिषेध व्यर्थ है। दीङ् को **मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च** (६।१।५०) से एज्विषय में आत्व हो जाने से तथा वेञ् में स्वभाव

से इक् न होने से गुण-निषेध अनर्थक है। नहीं। आत्व होने पर यत् प्रत्यय परे होने पर **ईद्यति** (६।४।६५) से ईकार अन्तादेश होने पर देयम्, वेयम्— यहाँ गुण-निषेध चरितार्थ है। तथापि वी-ग्रहण के होने पर वेञ्ग्रहण का कुछ प्रयोजन नहीं। नहीं। ऐसा नहीं। 'वी' से वेञ् का ग्रहण नहीं होगा, लक्षण द्वारा वी-रूप की निष्पत्ति होने से। अत एव न्यासकार ने कहा है— यदि दीङ् आदि का ग्रहण इष्ट होता तो आचार्य ऐसा सूत्र-न्यास '**वी वे धी दी टाम्**' कर देते। इस प्रकार का कुछ प्रयोजन नहीं दीखता। सर्वत्र असन्दिग्धपाठ करने से सर्वेष्टसिद्धि हो जाती है ॥१०६॥

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि 'गवाक्ष' (वातायन=खिड़की) में 'गो' के 'ओ' को अवङ् (अव) आदेश हुआ है। '**अवङ् स्फोटायनस्य**' (६।१।१२३) से अवङ् विधान वैकल्पिक है। अतः पक्ष में इसी अर्थ में 'गोक्ष' भी साधु होना चाहिये। इसके उत्तर के रूप में परिभाषा पढ़ते हैं—

व्यवस्थितविभाषयापि कार्याणि क्रियन्ते। (१०७)

अर्थ—विशिष्ट विषय में व्यवस्थित विभाषा (=विकल्प) से भी कार्य होते हैं। लक्ष्य के अनुरोध से व्यवस्था होती है। **शाच्छोरन्यतरस्याम्** (७।४।४१) के भाष्य में कहा है—

देवत्रातो गलो ग्राह इतियोगे च सद्विधिः।
मिथस्ते न विभाष्यन्ते गवाक्षः संशितव्रतः ॥

नुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम् (८।२।५६)—यह विकल्प से निष्ठा-नत्व विधान करता है। पर यह विकल्प निर्यन्त्रण नहीं, क्वचिद् व्यवस्थित है। संज्ञा में नहीं होता—देवत्रातः (देवैस्त्रातः)। भवत्रातः। क्रिया शब्द होने पर होता है—त्राणः। त्रातः। **अचि विभाषा** (८।२।२१)—यह 'गृ' को विकल्प से अजादि प्रत्यय परे होने पर लत्व विधान करता है, पर यह लत्व सर्वत्र विकल्प से नहीं होता। प्राण्यङ्ग अर्थ में नित्य लत्व होता है, विष अर्थ में 'गरः'—यहाँ लत्व होता ही नहीं। क्रिया-शब्द (निगलना अर्थ होने पर) तो गरः, गलः—दोनों होते हैं। **विभाषा ग्रहः** (३।१।१४३)—यहाँ विकल्प से विहित 'ण' प्रत्यय 'जलचरं' अर्थ में नित्य होता है—ग्राहः। ज्योतिः अर्थ में पचाद्यच् होकर 'ग्रहः' रूप सिद्ध होता है। **लक्षणहेत्वोः क्रियायाः** (३।२।१२६) —यह लट् के स्थान में शतृ शानच् (=सत्) आदेश विकल्प से विधान करता है, पर 'इति' शब्द के योग में यह विधि होती ही नहीं—हन्तीति पलायते।

कारिका में जो 'मिथो न विभाष्यन्ते'—ऐसा कहा है, उसका अभिप्राय यह है कि एक ही विषय में विकल्प नहीं होता, विषयभेद होने पर तो होता ही है ॥१०७॥

सीरदेवीय—यह परिभाषा जातिपक्षसमाश्रयण का अर्थमात्र है। **जातिः पदार्थः**—(सभी शब्दों का वाच्यार्थ जाति है)—यह एक पक्ष है। व्यक्तिः पदार्थः—यह दूसरा। जाति के पदार्थ होने पर लक्षण (शास्त्र, सूत्र) एक बार ही प्रवृत्त होता है। समुदित भाव व अभाव का ही तो 'विकल्प' नाम है। ऐसा होने पर लक्ष्य में जातिका आश्रयण करके एक लक्ष्य में शास्त्र की प्रवृत्ति होने पर लक्ष्यमात्र में प्रवृत्ति हो जाती है। जाति के एक होने से। इतने से ही विकल्प चरितार्थ हो जाता है। **विशिष्ट विषय में अवस्थित विकल्प को ही 'व्यवस्थित विभाषा' कहते हैं** ॥१०७॥

विधिनियमसंभवे विधिरेव ज्यायान्। (१०७)

अर्थ—जब यह संभव हो कि कोई एक शास्त्र कुछ अपूर्व विधान कर रहा है, अर्थात् (अपूर्व) विधि है और यह भी संभव हो कि वही शास्त्र अन्यत्र विहित का नियम कर रहा है, अर्थात् नियमविधि है, तो वहाँ विधि मानी जाती है, नियम नहीं। **इस शास्त्र (व्याकरण आगम) में परिसंख्या को भी नियम नाम से व्यवहृत किया गया है**। अतः परिभाषा में कुछ न्यूनता-रूप दोष नहीं है। **नियमशास्त्रों की विधिमुख से प्रवृत्ति होती है**, यह सिद्धान्त है, अतः नियमविधि मानने में तीन दोष प्रादुर्भूत होते हैं—नियम का स्वरूप ही ऐसा है कि हमें यह मानना पड़ता है कि जो कार्य विधान किया जाता है उसका अन्यत्र अभाव होता है, यद्यपि यह अभाव शब्दोक्त नहीं होता—यह एक दोष है। नियम में उक्तानुवाद होता है, अर्थात् जो पहले कहीं कहा जा चुका है, उसे पुनः कहा जाता है—यह दूसरा दोष है। नियम में अन्यत्र विहित (=प्राप्त) का बाध भी होता है—यह तीसरा दोष है। इस कारण **नियम विधि की अपेक्षा गौरवयुक्त है**। अतः लाघव के हेतु विधि का आश्रयण किया जाता है। विधि में न प्राप्त बाध होता है और न उक्तानुवाद। यही लाघव है। **उपसर्गात् खल्घञोः** (७।१।६७)—यह नियम विधि है। यह नियम करता है कि लभ् को खल् और घञ् परे होने पर तभी नुम् आगम होता है जब लभ् से पूर्व उपसर्ग हो। इससे यह अर्थापन्न होता है कि खल् और घञ् परे रहते लभ् को नुम् नहीं होता, जब लभ् से पूर्व उपसर्ग नहीं, यह अश्रुत अन्यार्थ की

निवृत्ति है । साथ ही यहां जो नुम् का विधान है वह पहले ही **लभेश्च** (७।१।६४) से कहा जा चुका है, अतः यह उक्तानुवाद भी है ।

इस परिभाषा की प्रवृत्ति (६।४।४९) के भाष्य में दिखाई गई है । **यस्य हलः** (६।४।४९) में जब संघात 'य' (य्+अ) का ग्रहण माना जाता है तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या यह अपूर्व विधि है, 'य' के लोप का विधान है जो पूर्व कहीं नहीं किया गया, अथवा 'य' के अन्त्य 'अ' का लोप जो पहले ही पूर्व सूत्र **अतो लोपः** (६।४।४८) से विहित हो चुका है, उसका नियामक है, नियम करता है कि वह लोप तभी हो जब 'य' से पूर्व हल् हो । इस सम्प्रधारणा में यही निश्चय किया गया है कि यह अपूर्व विधि है, नियम नहीं ॥१०८॥

सीरदेवीय—इस परिभाषा से **'ह्वावामश्च'** (३।२।२) यहाँ सोपसर्गक ह्वे आदि से अण् प्रत्यय सिद्ध होता है । इन्हीं सोपसर्गक ह्वे आदि धातुओं से अण् होता है औरों से नहीं; ऐसा नियम नहीं होता । तथा **आतोऽटि नित्यम्** (८।३।३) में नित्य ग्रहण स्पष्टता के लिये किया है यह वृत्तिकार का कथन उपपन्न होता है। नित्य ग्रहण न होने पर **अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा** (८।३।२) से विकल्प सिद्ध होने पर 'आ' को ही अट् परे होने पर अथवा अट् परे होने पर ही 'आ' को अनुनासिक होता है ऐसा उभयविध नियमशरीर हो सकता है ।

इस परिभाषा का अर्थ अन्तरङ्ग-न्याय से सिद्ध है । नियम पक्ष में अश्रुत प्रतिषेध वाक्य की कल्पना करनी होती है । ऐसा ही **श्लिष आलिङ्गने** (३।१।४६) सूत्र में अनुन्यासकार ने कहा है ।

नियम और ज्ञापक का परस्पर विरोध होने पर दोनों के द्व्यर्थावलम्बी होने से तुल्यता के कारण कौन सबल है, कौन दुर्बल—यह व्यवस्था नहीं की जा सकती ॥१०८॥

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि **आशंसायां भूतवच्च** (३।३।१३२) यह विधान करता है कि भूतकाल को कहने के लिये धातु से जो प्रत्यय होते हैं वे आशंसा (इच्छा) अर्थ के होने पर भी हों । अतः जैसे भूत काल को कहने के लिये लुङ् हो जायगा, वैसे ही लङ्, लिट् भी हो जाने चाहियें । इस शङ्का की समाधि के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः । (१०९)

अर्थ—सामान्य धर्मवान् का अतिदेश जब कहा जाता है तब विशेष धर्मवान् का अतिदेश नहीं होता । **सामान्यस्य सामान्यधर्मावच्छिन्नस्य अतिदेशः, सामान्यधर्मावच्छिन्न-निमित्तकोऽतिदेशः ।**

यदि यह सङ्घात ग्रहण है तो अन्त्य का लोप प्राप्त होता है। अन्त्य का लोप तो पूर्व से ही सिद्ध है। सूत्रारम्भ-सामर्थ्य से। यह सूत्र व्यर्थ मत हो, इसलिये सारे य (य्+अ) का लोप होगा। पर इस से अतिप्रसङ्ग होगा। इसके वारण के लिये 'यस्य हलः' को नियम मान लिया जायगा—अर्थ होगा —हल् से ही उत्तरवर्ती 'य' का लोप होगा, अच् से उत्तरवर्ती का नहीं— लोलूयिता। पोपूयिता। विधेय न होने से **सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः** इस न्याय से नियम होगा। पर विधेय नहीं है यह कहना ठीक नहीं। कारण कि अन्त्य का लोप प्राप्त है, और सारे का लोप विधेय है। अब यहाँ दोनों का संभव होने पर अपूर्व विधि होनी चाहिये, अथवा नियम। अपूर्व विधि ही होगी। **सामान्यधर्मावच्छिन्ननिमित्तके कार्येऽतिदिश्यमाने विशेषधर्मावच्छिन्ननिमित्तकं कार्यं नातिदिश्यते,** अर्थात् सामान्यधर्मवान् को निमित्त मानकर कार्य अतिदिष्ट किया जाता है, विशेषधर्मवान् को निमित्त मान कर नहीं होता। प्रकृत में भूतवत् कहा है। भूतसामान्य का अतिदेश किया है। भूतसामान्य में विहित लुङ् का ही अतिदेश होगा, अनद्यतन आदि धर्म विशेष-विशिष्ट लङ् लिट् का नहीं। **जब कोई पदार्थ हमारी बुद्धि में उपस्थित होता है उस समय सामान्य धर्म ही प्रथम उपस्थित होते हैं, विशेष धर्मों की उपस्थापक कारण-सामग्री के उपस्थित न होने से अभी हमें उन विशेष धर्मों का बोध नहीं होता—यही इस का बीज है।** अतः अनद्यतन भूत-रूप विशेष अर्थ में विहित लङ् व लिट् का अतिदेश नहीं होता। **ब्राह्मणवद् अस्मिन् क्षत्रिये वर्तितव्यम्** (इस क्षत्रिय के विषय में ऐसा व्यवहार करना चाहिये जैसा ब्राह्मण के विषय में), ऐसा कहने पर ब्राह्मण सामान्य-प्रयुक्त अभ्युत्थान आदि कार्य होता है, माठर-कौण्डिन्य-प्रयुक्त कार्य विशेष नहीं। ऐसी ही शास्त्र व्यवस्था है। इससे यह परिभाषा लोक न्याय-मूला है।

यह परिभाषा अनित्य है। इसकी अनित्यता में **'न ल्यपि'** (६।४।६९) सूत्र लिङ्ग है। यह सूत्र **घुमास्थागापाजहातिसां हलि** (६।४।६६) हलादि कित् प्रत्यय परे रहते घु-संज्ञक धातुओं तथा मा आदि धातुओं के 'आ' के स्थान में 'ई' आदेश करता है। **'न ल्यपि'** सूत्र इस ईत्व का निषेध करता है। जब तक ल्यप् कित् न हो, अर्थात् 'क्त्वा' का जो विशेष धर्म कित्त्व है, वह ल्यप् में अतिदिष्ट न हो तब तक ईत्व की प्राप्ति ही नहीं, तो निषेध कैसा? **प्राप्तौ सत्यां निषेधः।** अतः यहाँ विशेष धर्म का भी अतिदेश मानना होगा, अन्यथा निषेध व्यर्थ होगा। आचार्य क्त्वा के कित्त्व को विशेष धर्म मानते हैं इसमें न

क्त्वा सेट् (१।२।१८) यह सूत्र प्रमाण है। इसी हेतु स्थानिवत् सूत्र (१।१।५६) से विशेषातिदेश होता है ॥१०९॥

सीरदेवीय—तद्यथा **गाङ्कुटादिभ्यः** (१।२।१) से कुट् आदि धातुओं से परे वर्तमान प्रत्यय का जो सामान्य ङित् धर्म है उसका जो कार्य (तन्निमित्तक जो कार्य) है वहां **क्ङिति च** (१।१।५) द्वारा इक्स्थानिक गुण प्रतिषेधादि का अतिदेश होता है, पर विशेष धर्म जो यङ् आदि का ङित्त्व तन्निमित्तक जो द्विर्वचनादि कार्य उस का अतिदेश नहीं होता।

इस परिभाषा का अर्थ लोक सिद्ध है। लोक में **ब्राह्मणवदस्मिन्क्षत्रिये वर्तितव्यम्** ऐसा कहने पर ब्राह्मण सामान्य के प्रति जो वन्दनादि कार्य, उसका अतिदेश होता है, माठरादि विशेष से सम्बद्ध परिवेषण (परोसना) आदि का नहीं।

कहीं-कहीं विशेषण का भी अतिदेश देखा जाता है। इसमें **स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ** (१।१।५६) सूत्र में विधि-ग्रहण ज्ञापक है। यहाँ 'अनल्विधौ' के स्थान में 'अनल्' कहने से ही सर्वेष्टसिद्धि हो जाने से विधि ग्रहण इसलिये किया है कि अलाश्रयो विधिरल्विधिः ऐसा उत्तरपदलोपी समास समझा जाय, जिससे 'अनल्विधौ' यह प्रतिषेध जो भी सामान्याश्रय तथा विशेषाश्रय कार्य स्थानिवद्भाव से प्राप्त होता है उस के निरास के लिये होता है। इससे (अल्विधि होने से) 'प्रतिदीव्य'—यहाँ क्त्वा के वलादित्व के आश्रित जो इट् आगम (प्राप्त होता है), उसका निषेध हो जाता है। क्त्वा का वलादित्व विशेष धर्म है। अन्यथा विधिग्रहण के अभाव में **सामान्यस्यातिदेशे विशेषस्यानतिदेशः** इस न्याय से आर्धधातुकसामान्याश्रय जो प्रत्ययत्व आदि, उसी का ही अतिदेश होवे, वलादि विशेष के आश्रित कार्य का नहीं। 'प्रतिदीव्य'—यहाँ वलादित्व न होने से ही इट् नहीं होगा, तो विधिग्रहण अनर्थक रहता है। इस ज्ञापक का फल यह है कि **ग्रहोऽलिटि दीर्घः** से विहित ईट् के स्थानिवद्भाव से इट्रूप होने से **इट ईटि** (८।२।२८) से सिच् का लोप सिद्ध हो जाता है ॥१०९॥

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि **तित्स्वरितम्** (६।१।१८५) सूत्र जो तित् (त् जिसका इत् हो) हो उसको 'स्वरित' विधान करता है। **किरति** (कॄ+श ति) में 'कि' का 'इ' स्वरित हो जाना चाहिये, कारण कि **ॠत इद् धातोः** (७।१।१००) से जो ॠ को 'इ' आदेश विधान किया है वह तित् है ('इ' के

साथ 'त्' अनुबन्ध पढ़ा है)। इस शङ्का की समाधि के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्य ग्रहणम् । (११०)

अर्थ—जब शास्त्र में प्रयुक्त शब्दरूप प्रत्यय भी हो सकता है, और अप्रत्यय भी, तो प्रत्यय-रूप का ही ग्रहण करना चाहिये। **'तित् स्वरितम्'** में तित् जो प्रत्यय उसी का ग्रहण होने से 'किरति' के 'कि' को स्वरित न हो सका। **'अङ्गस्य'** (६।४।१) सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा पढ़ी है। वर्ण-ग्रहण में इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती ऐसा वहीं कैयट ने कहा है। इसीलिये 'दध्यशान'—यहाँ अप्रत्यय अच् (अ) परे रहते भी यण् होता है। **शुक्ली भवति**—यहाँ अ-प्रत्यय अकार को भी **'अस्य च्वौ'** (७।४।३२) से 'ई' हो जाता है। **सनाशंसभिक्ष उः** (३।२।१६८)—यहाँ, तथा **वले** (६।३।११८)—यहाँ सन् तथा वल् प्रत्ययों का ग्रहण होता है। पूर्वत्रसाहचर्य से सन् धातु का नहीं।

दूसरे लोगों का ऐसा विचार है और इस विचार के साथ नागेश भी सहमत है कि कैयट ने **'तित्स्वरितम्'** के प्रदीप में जो यह कहा है कि यह परिभाषा लक्ष्य-संस्कार के लिये भाष्य में कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुई, ठीक है। 'अङ्गस्य' इस अधिकार सूत्र के प्रत्याख्यान के लिये एकदेशी ने इसका प्रयोग किया है। इस लिये 'तित्स्वरितम्'—यहाँ **'प्रत्ययग्रहणं कर्तव्यम्'** ऐसा वार्तिक पढ़ा है। परिभाषा के होने पर परिभाषा से ही तित् प्रत्यय लिया जायगा, सो वार्तिक व्यर्थ हो जायगा। वस्तुतः 'अङ्गस्य' इस अधिकार सूत्र के पढ़ने में ही लाघव है। परिभाषा से सर्वेष्टसिद्धि के न होने से परिभाषा द्वारा 'अङ्गस्य' का प्रत्याख्यान नहीं हो सकता। परिभाषा के न होने से **अपृक्त एकाल्प्रत्ययः** (१।२।४१), **स्वाङ्गे तस्प्रत्यये कृभ्वोः** (३।४।६१) में प्रत्यय ग्रहण सार्थक रहता है। **विज इट्** (१।२।२) यहाँ प्रत्ययग्रहण का अभाव।

उक्त **सनाशंसभिक्ष उः**, तथा **वले** सूत्रों में व्यवस्था कैसे होगी? शिष्ट-व्याख्यान ही सन्देहमात्र में निर्णायक है, अतः व्याख्यान[1] से सन् और वल् प्रत्ययों का ही ग्रहण होगा ॥११०॥

---

१. ऐसा व्याख्यान निर्मूल नहीं है। **गर्गादिभ्यो यञ्** (४।१।१०५) यहाँ विजिगीषु' शब्द पढ़ा है। यहाँ सन्नन्त वि-जि से उ प्रत्यय हुआ है। यदि

सीरदेवीय—यद्यपि इस परिभाषा के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं, तथापि **'अङ्गस्य'** (६।४।१) सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार ने इस की व्याख्या की है और कैयट ने भी **'नामि'** (६।४।३) सूत्र की व्याख्या में इसे पढ़ा है। न्यासकारादि इसे स्वीकार करते हैं। **अपृक्त एकाल्प्रत्ययः** (१।२।४१) में प्रत्यय ग्रहण से जो अनुन्यासकार ने परिभाषा का अनङ्गीकार किया है, वह ठीक नहीं। कारण कि प्रत्ययग्रहण यहाँ विस्पष्टता के लिये किया है। स्वरूप-विधि विषय भिस् इत्यादि में इसकी प्रवृत्ति न्याय्या है, अस्वरूप विधिविषय में नहीं, यही प्रत्ययग्रहण से स्पष्टता अभिप्रेत है।

सनाशंसभिक्ष उः—यहाँ सन् से सन् प्रत्यय का ग्रहण इस परिभाषा का प्रयोजन है। पर यह भी गर्गादिगण में विजिगीषु शब्द के पाठरूप ज्ञापक से सिद्ध है। अतः परिभाषा का कुछ प्रयोजन नहीं। 'वले' सूत्र (६।३।११८)में वल् प्रत्यय का ग्रहण इस परिभाषा का दूसरा प्रयोजन कहा जाता है। वह भी अन्यथासिद्ध है। **मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम्** (६।३।११९) इस सूत्र में मतुप् प्रत्यय के साहचर्य से वल् प्रत्यय ही लिया जायगा। **वनगिर्योः संज्ञायां कोटरकिंशुलकादीनाम्** (६।३।११७) के साथ साहचर्य क्यों न लिया जाय। ऐसा साहचर्य होने पर वल् प्रातिपदिक का ग्रहण प्रसक्त होगा। नहीं। **शब्दपर-विप्रतिषेध** (जो आगे पढ़ा हुआ है उसके बलवत्तर होने से) **पर** मतुप् के साथ साहचर्य लिया जायगा जिससे वल् प्रत्यय का ही ग्रहण होगा। अतः परिभाषा निष्प्रयोजना है ॥११०॥

अब यहाँ यह शङ्का होती है **विपराभ्यां जेः** (१।३।१९) से 'परा सेना जयति' इस अर्थ में परा जयति सेना—यहाँ आत्मनेपद क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न के उत्तर में परिभाषा पढ़ते हैं—

सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम् । (१११)

अर्थ—व्याकरण शास्त्र में जब ऐसा शब्द प्रयुक्त किया जाता है जो जिसके साहचर्य में प्रयुक्त होता है, उसके सदृश भी हो सकता है और विसदृश भी, तो

'सनाशंसभिक्षः' में सन् प्रत्यय नहीं लिया जायगा, तो विजिगीषु में 'उ' प्रत्यय किस शास्त्र से होगा ? 'वले' इस सूत्र के अनन्तर **'मतौ बह्वचो ऽ नजिरा-दीनाम्'** (६।३।११९) यह सूत्र पढ़ा है। इसमें मतुप् प्रत्यय का ग्रहण है, इसके साहचर्य से वल् प्रत्यय का ग्रहण होगा।

सदृश का ग्रहण होता है, विसदृश का नहीं। प्रकृत में 'वि' शब्द (जो अव्यभिचार रूप से उपसर्ग है) के साहचर्य में पढ़ा हुआ परा शब्द (जो तत्सदृश उपसर्ग भी है, और विसदृश अनुपसर्ग भी है) विशब्द के सदृश उपसर्ग ही लिया जायगा, अतः **परा जयति सेना** (उत्कृष्ट सेना जीतती है)—यहाँ 'परा' के उपसर्ग न होने से 'जि' से आत्मनेपद नहीं हुआ। यदि कहो पक्षिवाचक 'वि' शब्द भी तो है, जो अनुपसर्ग है, उसके साथ पढ़ा हुआ 'परा' शब्द उपसर्ग ही कैसे लिया जायगा? 'जयति' के साथ सम्बद्ध 'वि' का कोई दूसरा अर्थ संभव नहीं। **बहुवि** (बहवो वयः पक्षिणोऽत्रेति) **जयति वनम्, विं जयति, वी जयतः** इत्यादि प्रयोग तो होते ही नहीं। सदृशों का ही साहचर्य से कथन हुआ करता है, अतः सहचरित शब्द सादृश्यवान् को कहता है। 'रामलक्ष्मणौ'—यहाँ भी राम लक्ष्मण का सादृश्य (दाशरथि होने में सादृश्य) ही राम शब्दाभिधेय अर्थ में नियामक है, कारण कि दो सदृश पदार्थों को ही एकसाथ कहने की इच्छा होती है और उन्हीं का शास्त्र में सहप्रयोग होता है—यह सामान्य नियम है।

इस परिभाषा का संकेत **कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया** (२।३।८) के भाष्य में मिलता है। वहाँ **लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः** (१।४।९०) से जो 'परि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा की है उसके योग में **पञ्चम्यपाङ्परिभिः** (२।३।१०) से पञ्चमी की शङ्का करके कहा है—यद्यपि 'परि' का अव्यभिचार से वर्जन अर्थ नहीं है, वर्जनातिरिक्त अर्थ भी देखा जाता है। पर कर्मप्रवचनीय 'अप' का तो वर्जन अर्थ को छोड़ कर दूसरा अर्थ नहीं। 'अप' का सहचरित (सहाय) वर्जनार्थक 'परि' को छोड़कर कौन सा 'परि' शब्द हो सकता है? जैसे जब यह कहा जाता है इसे गौ (बैल) का सहाय (साथी) चाहिये, तो गौ (बैल) ही लाया जाता है, घोड़ा अथवा गधा नहीं। इस भाष्यसन्दर्भ से सदृशों का ही प्रयोग (सूत्र) में सहायभाव (साहचर्य) होता है इसका बोधन किया है।

द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोर्थे (८।३।४३) सूत्र में 'कृत्वोर्थे' ग्रहण से यह परिभाषा अनित्य है। साहचर्य से ही सदृश सुजन्त 'चतुः' शब्द का ग्रहण सिद्ध था, तो 'कृत्वोर्थे' ग्रहण व्यर्थ हो जाता है। व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि कहीं सदृश का ग्रहण नहीं भी होता। **दीधीवेवीटाम्** (१।१।६) में धातु के साथ साहचर्य होने पर भी इट् आगम का ग्रहण होता है, इट (किट) गतौ—यहां पढ़ी हुई इट् धातु का नहीं। **आदृगमहनजनः**—(३।२।१७१) में गम् आदि धातुओं के साहचर्य में भी ऋ धातु का ग्रहण नहीं होता ॥१११॥

सीरदेवीय—इस परिभाषा के होने से ही **गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः** (३।१।२८) स्तुत्यर्थक पन् के साथ साहचर्य के कारण स्तुत्यर्थक पण् का ग्रहण होता है व्यवहारार्थक का नहीं। **पणायत्यनेन पाणिः** (जिस से स्तुति करता है)। **पञ्चम्यपाङ्परिभिः** (२।३।१०) में आङ् कृत व्यवधान होने पर भी 'अप' के साहचर्य से वर्जनार्थक 'परि' का ग्रहण होता है। जहां पूर्व के साथ साहचर्य है और पर के साथ भी वहाँ शब्दपरविप्रतिषेध से पर-साहचर्य ही लिया जाता है। अतः **सत्सूद्विष**—(३।२।६१) में द्विष् के साथ साहचर्य से षूङ् प्राणिप्रसवे अदादि का ग्रहण होता है, पूर्व पठित सद् के साहचर्य से तुदादि षू प्रेरणे का नहीं। यह परिभाषा अनित्य है, अतः **दीधीवेवीटाम्** (१।१।६) में दीधीङ्, वेवीङ् धातुओं के साहचर्य होने पर भी इट् (किट) गतौ का ग्रहण नहीं होता, इट् आगम का ही ग्रहण होता है। यदि कहो कि यहाँ धातु का ग्रहण मत हो, आगम इट् का ग्रहण कैसे होगा? अर्थवत् परिभाषा से अथवा प्रत्ययग्रहण परिभाषा से प्रत्यय का ही ग्रहण युक्त प्रतीत होता है। न्यासकार ने भी 'दीधीवेवीटाम्' में अल्पाच्तर इट् का जो पूर्व निपात नहीं किया वह शास्त्रान्तर के व्यभिचार का लक्षण है, साहचर्य से प्राप्त धातुग्रहण नहीं होता है, इस का ज्ञापक है। प्रकृत परिभाषा के अनित्य होने से धातु ग्रहण नहीं हुआ, ऐसा नहीं। वस्तुतः अर्थवत्परिभाषा अनित्य है, इस में **आनि लोट्** (८।४।१६) में लोट् ग्रहण ज्ञापक है। सार्थक 'आनि' तो लोट्-सम्बन्धी ही मिलेगा। परिभाषा के नित्य होने पर लोट्-सम्बन्धी सार्थक 'आनि' ही लिया जायगा, **प्रवपानि मांसानि** (प्रकृष्टा वपा यत्र तानि), यहाँ का अनर्थक 'आनि' नहीं लिया जायगा। प्रत्ययग्रहणपरिभाषा तो निष्प्रयोजन होने से मानी ही नहीं जाती ॥१११॥

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि 'प्रिये सक्थिनी अस्य ब्राह्मणस्य स प्रियसक्थिः, तेन प्रियसक्थ्ना—यहाँ 'प्रियसक्थि' अङ्ग पुँल्लिङ्ग है, अन्यपदार्थ 'ब्राह्मण' के पुँल्लिङ्ग होने से। **अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङ् उदात्तः** (७।१।७५) 'अस्थि' आदि को 'अन्' अन्तादेश विधान करता है। यह शास्त्र अङ्गाधिकारीय है, अतः **पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य च** (२६) परिभाषा से अस्थ्याद्यन्त अङ्ग को भी अनङ् होगा। **नपुंसकस्य झलचः** (७।१।७२) से इस सूत्र में 'नपुंसकस्य' की अनुवृत्ति आ रही है। प्रकृत में अङ्ग के पुँल्लिङ्ग होने से 'प्रियसक्थ्ना' आदि में अनङ् नहीं होना चाहिये। इस शङ्का के समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

श्रुतानुमितयोः श्रुतसम्बन्धो बलवान्। (११२)

अर्थ—श्रुत=साक्षात् पठित (सूत्र में गृहीत) के साथ जो सम्बन्ध (किसी विशेषण का अर्थसम्बन्ध) होता है वह अनुमित (=अधिकारस्थ शब्द से आक्षिप्त) के साथ जो सम्बन्ध होता है, उसकी अपेक्षा बलवान् होता है। 'नपुंसकस्य' इस विशेषण का सम्बन्ध साक्षात् श्रुत (सूत्रपठित) 'सक्थि' और 'अस्थि' के साथ होगा, जिससे अङ्ग के पुंल्लिङ्ग होने पर भी अनङ् हो जायगा। प्रकरणादि से जो सम्बन्ध प्राप्त होता है वह अनुमित है, वह श्रुतसम्बन्ध की अपेक्षा दुर्बल है। मीमांसा सूत्र भी है—**श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्** (३।३।७) श्रुति की अपेक्षा लिङ्ग के दुर्बल होने से अस्थ्यादि के श्रुत होने से प्रथम उपस्थित होने से नपुंसक पदार्थ का अस्थ्यादि के साथ अन्वय होगा। स्वरितादि लिङ्ग से पश्चात् उपस्थित हुए अङ्ग और तदन्त के साथ अन्वय नहीं होगा, नपुंसक पदार्थ के निराकाङ्क्ष हो जाने से।

पर **जश्शसोः शिः** (७।१।२०), **नपुंसकाच्च** (औङः शी ७।१।१९), **स्वमोर्नपुंसकात्** (७।१।२३) से सु और लुक्, तथा **नपुंसकस्य झलचः** (७।१।७२) से नुम्—इन विधियों में गृह्यमाण (शास्त्र में साक्षात् श्रुत) न होने से प्रकरण प्राप्त (अनुमित) अङ्ग के साथ 'नपुंसक' विशेषण का अन्वय होगा। इसीलिये **वा नपुंसकस्य** (७।१।७९) सूत्र को आचार्य ने '**वा शौ**' इस रूप में नहीं पढ़ा। आचार्य चाहते हैं कि गृह्यमाण (पूर्व सूत्र नाभ्यस्ताच्छतुः) से अनुवृत्त शतृ (शत्रन्त) के साथ 'नपुंसकस्य' का अन्वय हो, जिससे **बहूनि ददन्ति कुलानि येषु ते बहुददन्तो ग्रामाः (बहुददतो वा)**, यहाँ '**बहुददत्**' अङ्ग पुंल्लिङ्ग है, पर शत्रन्त 'ददत्' के नपुंसक होने से अङ्ग को नुम्-विकल्प होता है। और बहवो ददतो येषु तानि कुलानि बहुददति—यहाँ बहुददत् अङ्ग के नपुंसक होने पर मी शत्रन्त ददत् के नपुंसक लिङ्ग न होने से नुम्विकल्प नहीं होता। यदि आचार्य 'वा शौ' ऐसा सूत्रन्यास करते, तो सूत्रार्थ होता—**अभ्यस्तात्परो यः शतृप्रत्ययः, तदन्तः शब्दोऽन्तो यस्याङ्गस्य, तस्य शौ परे वा नुम्**, अर्थात् अभ्यस्त धातु से परे जो शतृप्रत्यय, तदन्तान्त जो अङ्ग उस को 'शि' परे रहते नुम् विकल्प से होता है, जिस से शि परे रहते नपुंसकलिङ्ग अङ्ग बहुददत् को विकल्प से नुम् हो जायगा। **बहवो ददतो येषु तानि कुलानि बहुददति बहुददन्ति वा**, जो अनिष्ट है।

सीरदेवादि जो इस परिभाषा को **श्रुतानुमितयोः श्रौतः सम्बन्धो बलीयान्** इस रूप में पढ़ते हैं प्रकृत परिभाषा का 'महाह्लद' आदि में हकार से परे

वर्तमान रेफ को द्वित्वाभाव फल मानते हैं। उनकी युक्ति यह है कि **अचो रहाभ्यां द्वे** (८।४।४६) में रेफ द्वित्व के निमित्त रूप से श्रुत है और यर् प्रत्याहारान्तर्गत होने से जो इस को अनुमित कार्यित्व प्राप्त होता है उस का श्रौत-सम्बन्ध के बलवत्तर होने से बाध हो जाता है। पर यह ठीक नहीं। तक्रकौण्डिन्य-न्याय स्थल में जो अनवकाशता-रूप युक्ति है, उसी से यह फल सिद्ध हो जाता है। जहाँ जहाँ रेफ की निमित्तता होगी वहाँ-वहाँ वाक्यान्तर से कार्यिता की भी प्रसक्ति होगी, जिससे निमित्तता अनवकाश होकर कार्यिता की बाधिका हो जायगी, जैसे तक्रदान अनवकाश होकर दधिदान का बाधक होता है ॥११२॥

सीरदेवीय—इस परिभाषा के होने से **अचो रहाभ्यां द्वे** (८।४।४६)—यहाँ 'रहाभ्याम्' में रेफ, हकार का निमित्त भाव साक्षात् श्रुत है, यर्प्रत्याहारान्तर्गत होने से अनुमित कार्यित्व बाधित हो जाता है। अतः 'मद्रह्लदः'—यहाँ हकार से परे रेफ को द्वित्व नहीं होता। यदि हो, तो दो रेफों का श्रवण प्राप्त होगा। यदि कहो **रो रि** (८।३।१४) से एक रेफ का लोप हो जायगा। हम कहते हैं, नहीं। लोप के प्रति द्विर्वचन असिद्ध है। अच्छा, **हलो यमां यमि लोपः** (८।४।६४) से एक रेफ का लोप हो जायगा। इस लोप के प्रति तो द्विर्वचन सिद्ध है। नहीं। ऐसा होने पर भी पक्ष में दो रेफों का श्रवण प्रसक्त होगा। हलो यमां यमि लोपः में **झयो होऽन्यतरस्याम्** (८।४।६२) से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति आती है। जातिपक्ष का आश्रयण करने से **अनचि च** (८।४।४७) से प्राप्त रेफ-परक हकार को द्वित्व नहीं होता।

यह परिभाषा लोकन्यायमूलक है। लोक में कहा जाता है—**प्रत्यक्षानुमितयोः प्रत्यक्षं बलीयः**, कारण कि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है, प्रथम प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, पश्चात् अनुमान ज्ञान। **ब्राह्मणा भोज्यन्ताम् माठरकौण्डिन्यौ परिवेविष्टाम्** (ब्राह्मणों को भोजन कराया जाय और मठर गोत्रज तथा कुण्डिन-गोत्रज ब्राह्मण भोजन परोसें। यहाँ एक ही वाक्य ब्राह्मणों के भोक्तृत्व और माठर कौण्डिन्य ब्राह्मणों के परिवेष्टृत्व का विधायक है। एकवाक्यता होने पर यहाँ बाध्य बाधकभाव कुछ भी नहीं। पर यदि वाक्यभेद माना जाय, जुदा-जुदा वाक्य माने जायें तो माठर कौण्डिन्य ब्राह्मणों का अनुमित भोक्तृत्व (ब्राह्मण होने से प्राप्त) जब तक बाधा न जाय, परिवेषण (परोसना) हो नहीं सकता। पर 'मद्रह्लदः'—यहाँ तो यर्प्रत्याहारान्तर्गत होने से प्राप्त हकार से परे रेफ को द्वित्व हो सकता है। अतः यहाँ सामान्यरूप से प्रतीयमान अर्थ का विशेष-

रूप से विहित द्वारा बाध होता है, अर्थात् तक्रकौण्डिन्य-न्याय से रेफ का द्वित्व बाधित हो जाता है ॥११२॥

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि **तत्पुरुषे तुल्यार्थ-तृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः** (६।२।२) से तृतीयान्त 'परमेण' के साथ 'कारकेण' का समास 'परमकारकेण' होने पर तृतीयान्त पूर्वपद परमेण को प्रकृतिस्वर प्राप्त होता है। तथा **गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु** (२।४।७७) से पै (ओवै) शोषणे को 'आत्व' हो जाने पर इससे परे भी सिच् का लुक् प्राप्त होता है। इसके समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम् (११३)

अर्थ—**लक्षणं च प्रतिपदं चेति द्वन्द्वः। लक्षणप्रतिपदम्।** इसका उक्त शब्द के साथ (जिसका यथा योग्य अर्थ लिया जाता है) तृतीयासमास है। **द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते**—इस न्याय से 'उक्त' का सम्बन्ध लक्षणम् तथा प्रतिपदम्—दोनों के साथ है। प्रतिपदोक्त के साथ समभिव्याहार (एक साथ उच्चारण) से 'लक्षण' से यहाँ सामान्यलक्षण अभिप्रेत है। उस-उस विभक्ति विशेष व प्रकृति विशेष का उपादान करके जो समासादि विधान किये गये हैं वे 'प्रतिपदोक्त' हैं। विशेष का अनुवाद करके प्रतिपादित किये जाना प्रतिपदोक्तत्व है, पद का उच्चारण पूर्व विहितत्व प्रतिपदोक्तत्व नहीं। 'प्रतिपदोक्त' वह भी होता है जो औपदेशिक है, शास्त्र से निष्पादित नहीं यथा पा पाने 'औपदेशिक है'। तब लक्षण=लाक्षणिक का अर्थ 'लक्षण से निष्पादित' होता है। प्रथम अर्थ के अनुसार परिभाषा का अर्थ होगा—शास्त्रकार कार्यार्थि जब किसी ऐसे शब्द-रूप का सूत्र में उपादान करता है जो दूसरे शास्त्र से संस्कृत होता है जिस दूसरे शास्त्र में उसका ग्रहण हुआ है और ऐसे शब्दरूप का भी जो सामान्य शास्त्र से संस्कृत होता है, तब प्रथम प्रकार के शब्दस्वरूप का ग्रहण होता है, द्वितीय प्रकार के शब्द-स्वरूप का नहीं। अतः 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया—यहाँ वही तृतीयातत्पुरुष लिया जायगा जो **तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन** (२।१।३०) से सिद्ध होता है जिसमें सूत्रकार ने 'तृतीया'—यह पद प्रयुक्त किया है। ऐसे समास का ग्रहण नहीं होगा जो सामान्य शास्त्र **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (२।१।५७) से सिद्ध होता है जिसमें तृतीया विभक्ति विशेष का उपादान नहीं यद्यपि पूर्वपद यहाँ तृतीयान्त है। और तत्पुरुष समास है। जैसे परमेण कारकेण=परमकारकेण—यह।

अतः यहाँ 'परम' का प्रकृतिस्वर नहीं होगा। जब उपात्त शब्दस्वरूप औपदेशिक भी हो सकता है और लाक्षणिक (लक्षण से निष्पादित भी) तो औपदेशिक का ही ग्रहण होता है। अतः **घुमास्था**—सूत्र में पा पाने का ही ग्रहण होगा, पै शोषणे, जिसको आत्व लक्षण (**आदेच उपदेशेऽशिति**) से होता है अर्थात् जिसका 'पा' रूप लाक्षणिक है, का नहीं। अतः उससे परे सिच् का लुक् नहीं होगा—अपासीत्। इसी प्रकार **सख्युरसम्बुद्धौ** (७।१।९२) में औपदेशिक 'सखि' का ग्रहण होता है, अतिसखिः (सखीमतिक्रान्तः) यहाँ लाक्षणिक सखि का नहीं। इसे सम्बुद्धि-भिन्न सर्वनामस्थान परे वृद्धि नहीं होती।

लाक्षणिक को छोड़कर प्रतिपदोक्त का ग्रहण क्यों होता है? इसलिये कि प्रतिपदोक्त अर्थ की शीघ्रतया बुद्धि में उपस्थिति होती है। लाक्षणिक की विलम्ब से। 'पै' का बोध उच्चारण समनन्तर (अथवा श्रवणसमनन्तर) होता है और इसके 'पा' रूप आत्वविधायक शास्त्र के स्मरण के पश्चात्। यही इस परिभाषा का बीज है।

इस परिभाषा की प्रवृत्ति वर्ण-ग्रहण के विषय में भी होती है। **ओत्** (१।१।१५) सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने इस परिभाषा के बल पर यह कहा कि इस सूत्र से ऐसे 'ओ' (ओदन्त) की प्रगृह्य संज्ञा होती है जो स्वतः सिद्ध 'ओ' हो जैसे 'अहो' निपात का 'ओ'। अनदोऽदोऽभवत् (जो वह नहीं था, वह हो गया)—यहाँ नहीं, कारण कि यहाँ अदस् का 'ओ' सांहितिक है, स्वतः सिद्ध नहीं। च्वि प्रत्ययान्त होने से निपात अवश्य है।

यह परिभाषा अनित्य है, इस में **भुवश्च महाव्याहृतेः** (८।२।७१) सूत्र में 'महाव्याहृति'—ग्रहण ज्ञापक है। सूत्रार्थ है—भुवस् के स् को 'रु' विकल्प से हो जब यह महाव्याहृति हो। 'महाव्याहृति'—ग्रहण इस लिये किया है कि जसन्त भुवः (भू—जस्) को यह विकल्प न हो। यदि परिभाषा नित्य हो, तो परिभाषा से लाक्षणिक 'भुवस्' का ग्रहण न होगा, महाव्याहृति ग्रहण व्यर्थ रह जायगा। अनित्य होने पर महाव्याहृति ग्रहण चरितार्थ हो जाता है॥[1] ११३॥

सीरदेवीय—लक्षण शब्द यहाँ लाक्षणिक अर्थ में उपचरित हुआ है।

---

१. अनित्य होने से क्षापयति, अध्यापयति में आत्व के लाक्षणिक होने पर भी पुक् आगम होता है।

विशेषेण प्रतिपादित (बोधित) प्रतिपदोक्त होता है। इन दोनों में से प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण होता है, खण्डशः व्युत्पादित लाक्षणिक का नहीं। तद्यथा—इङ् को **क्रीङ्जीनां णौ** (६।१।४८) से आत्व होने पर पुक् आगम करने पर 'आप्' रूप के सम्पन्न हो जाने से ल्यप् परे **विभाषाऽऽपः** (६।४।५७) से 'णि' को वैकल्पिक 'अय्' आदेश नहीं होता, क्योंकि यह आप् लाक्षणिक है। अध्याप्य गतः। प्रतिपदोक्त 'आपि' को तो होता है— प्राप्य। प्रापय्य। वस् से क्विप् करने पर सम्प्रसारण होकर 'उस्' रूप सिद्ध होता है। उषा (उस् का तृतीयान्त रूप) **चरति औषिकः**। **चरति** (४।४।८) से ठक् प्रत्यय होता है। 'उस्' के लाक्षणिक होने से **इसुसुक्तान्तात्कः** (७।३।५१) से ठक् को 'क' आदेश नहीं हुआ (सूत्र में इस्, उस् प्रतिपदोक्त का ग्रहण है, ऐसा वृत्तिकार का भी कथन है)। धानुष्क में 'उस्' प्रतिपदोक्त है, स्वयं लक्षण से सम्पन्न नहीं हुआ। हाँ धनुस् लाक्षणिक है।

इस परिभाषा के होने पर **ह्वावामश्च** (३।२।२) में मा ग्रहण से मेङ् का ग्रहण नहीं होना चाहिये। नहीं। **गामादाग्रहणेष्वविशेषः** (परि० ११४) से लाक्षणिक 'मा' का भी ग्रहण हो जायगा। पर इस तरह तो मा माने का भी ग्रहण हो जायगा। नहीं। यह इष्ट नहीं कि गामादा परिभाषा **लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्यैव**—इस परिभाषा को बाधे। इस से अलुग्विकरण मेङ् वा माङ् का ही ग्रहण होगा।

लाक्षणिक शब्द का खण्डशः व्युत्पन्न अर्थ सर्वसंमत नहीं। सामान्यशास्त्र से व्युत्पन्न ऐसा अर्थ भी है। अतः **विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ**। (१।१।२८) में **दिङ्नामान्यन्तराले** (२।२।२६) से विहित प्रतिपदोक्त बहुव्रीहि समास लिया जाता है। दक्षिणस्याः पूर्वस्याश्चान्तरालं दिक् दक्षिणपूर्वा, तस्यां दक्षिणपूर्वस्याम्। सामान्य शास्त्र **अनेकमन्यपदार्थे** (२।२।२४) से विहित बहुव्रीहि का नहीं। या पूर्वा सोत्तराऽस्या उन्मुग्धायाः, तस्यां पूर्वोत्तरायाम्।

यह परिभाषा अनित्य है। इस में **यावत्पुरानिपातयोर्लट्** (३।३।४) में 'निपात' विशेषण ज्ञापक है। यदि यह परिभाषा अव्यभिचारिणी होती तो पुर् शब्द के तृतीयान्त 'पुरा' का लाक्षणिक होने से ही ग्रहण न होता, निपात ग्रहण व्यर्थ होता ॥११४॥

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि इस परिभाषा के होने पर देङ् रक्षणे और दो अवखण्डने के आत्व के लाक्षणिक होने से घु-संज्ञा नहीं होनी चाहिये,

तथा मेङ् व्यतिहारे के आत्व के भी लाक्षणिक होने से **नेर्गदनद-घु-मा-स्यति—'** (८।४।१७) में गृहीत 'मा' से मेङ् का ग्रहण न होने से **प्रणिमाता** (प्र+नि+मेङ्+तृच्) इत्यादि में णत्व नहीं होना चाहिये। इसी प्रकार गै शब्दे के आत्व के लाक्षणिक होने से **घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि** (६।४।६६) में गृहीत 'गा' से लाक्षणिक होने के कारण ग्रहण न होने से 'गीयते' आदि में 'ई' नहीं होना चाहिये। इस शङ्का के समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

गामादाग्रहणेष्वविशेषः। (११४)

अर्थ—गा, मा, दा के ग्रहण में लाक्षणिक तथा प्रतिपदोक्त—दोनों प्रकार की धातुओं का निर्विशेष रूप से ग्रहण होता है। इस परिभाषा की सत्ता में दैप् शोधने धातु को धातुपाठ में पित् पढ़ना ही ज्ञापक है। वह पित् इसलिये किया है **दा-धा घ्वदाप्** सूत्र में 'अदाप्' यह जो निषेध है उससे दैप् का भी पित्करण-सामान्य से निषेध हो जाय। पर यदि लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा निरपवाद है, तो उसी से दैप् का निषेध सिद्ध था, दैप् के आत्व के लाक्षणिक होने से। फिर दैप् को सामान्य-ग्रहणार्थक पित्त्वकरण से क्या प्रयोजन? इस से हम जानते हैं कि लाक्षणिक दाप् का ग्रहण भी होता है, तभी निषेध चरितार्थ होता है। इस प्रकार परिभाषा का एकदेश (दा का अविशेषरूप से ग्रहण) से ज्ञापित होता है। **एकदेश की अनुमति से सम्पूर्ण परिभाषार्थ भी ज्ञापित हो जाता है। गाति-स्था-घु—**(२।४।७७) सूत्र में गा-ग्रहण से इण् का आदेश 'गा' ही गृहीत होता है, ऐसा भाष्यकार का वचन है।

यह गामादाग्रहण-परिभाषा **बाध्यसामान्य-चिन्ता** से लक्षणप्रतिपदोक्त-परिभाषा निरनुबन्धकपरिभाषा तथा अलुग्विकरणपरिभाषा—इन तीनों की बाधिका है। यह परिभाषा **दाधा घ्वदाप्** (१।१।२०) सूत्र के भाष्य में स्पष्ट-रूप से पढ़ी है ॥११४॥

सीरदेवीय—इस परिभाषा से **घुमास्थागा**—(६।४।६६) सूत्र में गा-ग्रहण से गै शब्दे, गाङ् स्तुतौ (अदादि), गा स्तुतौ (जुहोत्यादि) गाङ् लिटि (२।४।४६), **णौ च संश्चङोः** (२।४।५१), गाङ् गतौ—इन सबका निर्विशेष रूप से ग्रहण होता है। '**घु-मा-स्था**—सूत्र में मा-ग्रहण से मा माने, माङ् माने, मेङ् प्रणिदाने इन सब का ग्रहण होता है। **दाधा घ्वदाप्**—यहां दा ग्रहण से डुदाञ् दाने, देङ् रक्षणे, दो अवखण्डने, दाण् दाने—इन सबका। यदि ऐसा है तो

गापोष्टक् (३।२।८) में गाङ् का ग्रहण प्राप्त होता है। गा स्तुतौ का तो छान्दस होने से ग्रहण नहीं होता। **ह्वावामश्च** (३।२।२) यहां मा माने का ग्रहण प्राप्त होता है। **दाधा घ्वदाप्**—यहाँ दाशृ दाने के 'दा' शब्द की भी घु-संज्ञा प्राप्त होती है। जिस से 'प्रनिदाशते' यहाँ **नेर्गदनद**—(८।४।१७) से णत्व की प्रसक्ति होती है। उत्तर—गापोष्टक्—यहाँ परस्मैपदी पिब् के साथ साहचर्य के कारण गै शब्दे का ही ग्रहण होता है। इस परिभाषा से साहचर्य-परिभाषा का बाध नहीं होता। साहचर्यपरिभाषा से यदि यहाँ इष्ट सिद्धि होती है तो इसी परिभाषा से घु-मास्था—सूत्र में गै शब्दे का ग्रहण होगा, गाङ् का नहीं। **गाङ् कुटादि**—(१।२।१) सूत्र में गाङ् ग्रहण से ज्ञापित होता है कि यहाँ गाङ् का भी ग्रहण होता है। गाङ् का ग्रहण अध्यगीष्ट में प्रत्यय-ङित्त्व के लिये किया है और प्रत्यय ङित्त्व इत्व के लिये है। यदि यहाँ घु-मास्था—सूत्र में गाङ् का ग्रहण न हो, तो प्रत्यय-ङित्त्व के लिये गाङ् कुटादि सूत्र में गाङ् पढ़ना व्यर्थ हो जाय। **ह्वावामश्च**—यहाँ भी सानुबन्धक ञ् के साहचर्य से माङ् तथा मेङ्—इन सानुबन्धकों का ही ग्रहण होता है, निरनुबन्धक 'मा' का नहीं। 'दाश्' में अर्थवत्परिभाषा से अनर्थक 'दा' का ग्रहण नहीं होता।

इस परिभाषा का अर्थान्तर भी स्वीकार किया जाता है—**गामादा गृह्यन्ते यस्मिन्**, अर्थात् गा, अथवा दा जिस सूत्र में गृहीत हों वहाँ दूसरी पढ़ी हुई धातुओं का भी सामान्य रूप से (लाक्षणिक और प्रतिपदोक्त रूप से) ग्रहण होता है। इससे दा-धा घ्वदाप् सूत्र के दा-घटित होने से वहीं पढ़ी हुई धा धातु से लाक्षणिक धा (धेट् का कृतात्व रूप) का भी ग्रहण होता है, जो इष्ट है। पर इससे गा-घटित **गातिस्था-घु-पा-भूभ्यः**—सूत्र में 'पा' से लाक्षणिक पा (पै का कृतात्व रूप) का भी ग्रहण होजायगा, जो अनिष्ट है। इस आपत्ति के वारण के लिये गाश्च माश्च दाग्रहणं च (**दा गृह्यते स्मिन्निति दा-ग्रहणं सूत्रम्** व्यधिकरण बहुव्रीहि) **गामादाग्रहणानि**। इस प्रकार बहुव्रीह्युत्तरपद द्वन्द्व ग्रहण करने पर इष्ट संगृहीत हो जायगा, और अनिष्ट परिहृत हो जायगा।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि दाग्रहण से **मीनाति-मिनोतिदीङां ल्यपि च** (६।१।५०) से दीङ् क्षये को एज्विषय में आत्व होने पर उसका घुत्वेन ग्रहण प्रसक्त होता है, ठीक है, पर प्रयोजन न होने से नहीं होता। **उपसर्गे घोः किः** (३।३।९२)—यहाँ 'कि' प्रत्यय के कित् होने पर एज्विषय के अभाव में गुण न होने से (गुण-निमित्तक एच् के सम्पन्न न होने से) आत्व की

प्राप्ति ही नहीं। तो दीङ् की घु-संज्ञा होने पर कुछ क्षति नहीं, और कुछ अर्थ-सिद्धि भी नहीं। **दो दद् घोः** (७।४।४६)—यहाँ भी क्त प्रत्यय के कित् होने से आत्व नहीं होगा। तो घु-संज्ञा-कृत धातु को दद् आदेश भी नहीं होगा। **घुमास्था**—(६।४।६६)—यहाँ भी कित् प्रत्यय परे धातु को ईत्व विधान किया है। एज्-विषय न होने से आत्व नहीं होगा, तो दीङ् को घु-संज्ञाकृत ईत्व भी नहीं होगा। ऐसे ही **सनि मीमा-घु**—(७।४।५४) में भी यदि दीङ् का ग्रहण हो जाय तो भी कोई क्षति नहीं। **इको झल्** (१।२।६) से सन् के कित् होने से आत्व होगा नहीं। यदि हो भी जाय तो भी 'दा' को इस् हो जायगा। शङ्का—प्रनि दीङ्+तृच्—यहाँ एज्विषय में आत्व होने पर घु-संज्ञा-निमित्तक **नेर्गदनदघु०** से णत्व प्राप्ति घु-संज्ञा का फल स्पष्ट विद्यमान है। उत्तर—**नेर्गदनद-घु०** सूत्र में घ्यन्त घु-शब्द का परनिपात लक्षण-व्यभिचार-चिह्न है। प्राप्त णत्व भी नहीं होगा। शङ्का—यह मान लिया, पर लुङ् में सिच् परे रहते एज्विषय होने पर दीङ् को आत्व होने पर घु-संज्ञा हो जायगी, उससे **स्था-घ्वोरिच्च** (१।२।१७) से धातु (दीङ्—दा) को इकारान्तादेश तथा सिच् को कित्त्व—इस प्रयोजन का सम्भव है। इस कारण उपादास्त (उप+आङ्+दीङ्+सिच्+लुङ्—त) नहीं बन सकेगा। इस दोष का भाष्यकार ने संनिपात परिभाषा से परिहार किया है। भाव यह है कि अकित्त्व-संनिपात से (सिच् के अकित् होने से एज्विषयता के उत्पन्न हो जाने से) दीङ् को आत्व हुआ है, अर्थात् 'आ' का जन्म हुआ है। यदि यहां **स्थाघ्वोरिच्च** से कित्त्व हो जाय, तो अकित्त्व का व्याघात हो जाय, अतः घु-संज्ञा के प्रति आत्व अपने को उपस्थित नहीं करता, अतः घु-संज्ञा नहीं होती[1] ॥११४॥

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि वृद्धि आदि संज्ञायें आदेच् आदि समुदाय की क्यों न हों। इस के उत्तर के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः। (११५)

अर्थ—वाक्य=वाक्यार्थ। वाक्यजन्यबोध का पूर्णरूप से सम्बन्ध वाक्य के सभी घटकों में होता है, वाक्य में जो विधान किया जाता, जो उद्देश्य के

---

१. **सिचो ह्यकित्वादेज्विषयतायां सत्यामाकारेणात्मा लब्धः, स यद्यात्मानं दर्शयेत्तदाऽकित्त्वस्योच्छेदः स्यात्। तस्मादकित्त्वविघाताय न यतत इत्यात्मापह्नुते। (सीरदेव)।**

विषय में कहा जाता है, वह प्रत्येक उद्देश्य के विषय में पृथक्-पृथक् कहा समझना चाहिये। जैसे **देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रा भोज्यन्ताम्**—यहाँ भोजन क्रिया का सम्बन्ध देवदत्त आदि प्रत्येक से जुदा-जुदा है। न कि उनके समुदाय से। ऐसे ही शास्त्र में आ (त्), ऐ, औ में से एक-एक की जुदा-जुदा वृद्धि संज्ञा होती है ॥११५॥

सीरदेवीय—इस शास्त्र में एक-एक मे वाक्य-परिसमाप्ति देखी जाती है। यथा वृद्धि संज्ञा आत् ऐच् (आ, ऐ, औ) में एक-एक की जुदा-जुदा होती है। यह लौकिक न्याय है। भाष्यकार का वचन भी है—'**देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रा भोज्यन्तामित्युक्ते न पुनरुच्यते प्रत्येकमिति, अथ च प्रत्येकं भोज्यन्ते**।' यहाँ शब्दशक्ति प्रमाण है। **णलुत्तमो वा** (७।१।९१)—यहाँ णल् का विशेषण 'उत्तम' ज्ञापक भी है। यदि प्रत्येक के साथ वाक्य-सम्बन्ध न हो तो, इट्, वस्, मस्—इस त्रिक के साथ सम्बद्ध 'उत्तम' केवल णल् का विशेषण न हो सकेगा। ॥११५॥

पर सर्वत्र प्रत्येक में वाक्य परिसमाप्ति होने पर संयोग संज्ञा समास-संज्ञा, तथा अभ्यस्त संज्ञा भी प्रत्येक की होने लगेगी। इसके उत्तर के रूप में परिभाषा पढ़ते हैं—

क्वचित् समुदायेऽपि। (११६)

अर्थ—कहीं कहीं लक्ष्यानुसार वाक्यार्थ-सम्बन्ध की परिपूर्णता समुदाय में भी देखी जाती है। जैसे **गर्गाः शतं दण्ड्यन्ताम्, अर्थिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्ति**—यहाँ शतदण्डन-रूप क्रिया का गार्ग्य-समूह के साथ पर्याप्ति सम्बन्ध है। अर्थिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्ति (राजाओं को धन चाहिये) के '**न च प्रत्येकं दण्डयन्ति**'—इस वाक्यशेष से विदित होता है कि यहाँ समुदाय में वाक्यार्थ समाप्ति विवक्षित है। 'शत' प्रधान कर्म है। दण्ड् ग्रहणार्थक है। 'गर्गाः' अपादान की अविवक्षा में अकथित (अप्रधान, गौण) कर्म है। अप्रधान कर्म के अनुरोध से प्रधान 'शत' की आवृत्ति नहीं हुई। **गुणभेदे प्रधानभेदो न** ॥११६॥

सीरदेवीय—यथा हलोऽनन्तराः संयोगः (१।१।७) से संयोगसंज्ञा समुदाय की होती है। इसीलिये यह महती संज्ञा की है। यह लौकिक न्याय है। **वृद्धिरादैच्** सूत्र के भाष्य में इसे इस रूप में दर्शाया है। **गर्गाः शतं दण्ड्यन्ताम्**।

अर्थिनो हि राजानो हिरण्येन भवन्ति, न च प्रत्येकं दण्डयन्ति । इसमें शब्दशक्ति ही प्रमाण है । कुछ लोग प्रकृत में समुदाये वाक्यपरिसमाप्ति विवक्षित है, इसमें युक्ति भी देते हैं—'शत' यहाँ प्रधान कर्म है, 'गर्गाः' गौण कर्म है, उसका अङ्गभूत होने से । अप्रधान के भेद (नानात्व) से प्रधान 'शत' का भेद युक्त नहीं । समुदाये वाक्यसमाप्ति में ज्ञापक भी कहते हैं—**प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** (६।१।१०२)—यहाँ प्रथमा द्वितीया विभिक्ति सम्बन्धी वचनषट्क के विषय में प्रयुक्त हुआ 'प्रथमयोः' यह पद ज्ञापक है । प्रथमा शब्द यदि सुप्सम्बन्धी त्रिक सु औ जस् की संज्ञा हो और आसत्ति (सामीप्य) के कारण अम् औट् शस् इस त्रिक के अर्थ में भी प्रयुक्त माना जाय तो 'प्रथमयोः' यह निर्देश साधु हो । यदि प्रथमा शब्द सु औ जस्—इस त्रिक के एक-एक की ही पृथक् पृथक् संज्ञा हो, तब 'सु' एकवचन का प्रथमा ग्रहण से ग्रहण हो और सामीप्य से 'अम्' का, तो लाघवार्थ 'प्रथमयोः' के स्थान में 'स्वमोः' ऐसा न्यास करते । अतः 'प्रथमयोः' निर्देश से समुदाय में वाक्यसमाप्ति को दिखाना आचार्य को अभिप्रेत है । दोनों पक्षों का इष्टानुसार आश्रयण होता है । **गर्गैः सह न भोक्तव्यम्** (गार्ग्य लोगों के साथ बैठकर न खाये), यहाँ गार्ग्य समुदाय के साथ बैठ कर खाने का निषेध है और प्रत्येक गार्ग्य के साथ जुदा-जुदा बैठ कर खाने का भी । दोनों न्यायों की एक स्थल में प्रवृत्ति हो रही है ॥११६॥

अब यहाँ यह शङ्का होती है—**यू स्त्र्याख्यौ नदी** (१।४।३), यहाँ व्यक्ति पक्ष में दीर्घ (ई, ऊ) निर्देश होने से ई, ऊ के अण् न होने से (अक्षरसमाम्नाय में दीर्घ ई, ऊ का पाठ न होने से) **अणुदित्सवर्णस्य**—(१।१।६९) की प्रवृत्ति न होने से, उदात्तादि किसी एक स्वर से उच्चारण करने पर किसी दूसरे स्वर से उच्चारित यू (ई, ऊ) की नदी संज्ञा नहीं होनी चाहिये । इस शङ्का के समाधान के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

अभेदका गुणाः । (११७)

अर्थ—(विशेष यत्न के अभाव में) सूत्रादि में उदात्त आदि स्वरूप से उच्चारित किये भेदक नहीं होते, अर्थात् अविवक्षित होते हैं । यदि यह परिभाषा न हो तो **अस्थिदधि**—(७।१।७५) इत्यादि में 'अनङ्' आदि के उदात्तगुण युक्त उच्चारण से ही इष्ट सिद्ध हो जाता, उदात्त ग्रहण (अनङ् उदात्तः) व्यर्थ रहता । स्वरूप से उच्चारित (स्वरूपेणोच्चारितः) ऐसा कहने से जहाँ

अनुदात्तादेरञ् (४।२।४४), **अन्तोदात्तादुत्तरपदादन्यतरस्यामनित्यसमासे** (३।१।१६९) इत्यादि में अनुदात्त, उदात्त आदि शब्द उच्चारण करके कार्य विधान किया है, वहाँ अनुदात्त आदि विवक्षित ही हैं। अर्थात् अनुदात्तादि (अनुदात्त है आदि जिसका) प्रातिपदिक से समूह अर्थ में अञ् होगा। **कपोतानां समूहः कापोतम्। मायूरम्।** पर **काकानां समूहः काकम्।** काक शब्द आद्युदात्त है। यहाँ **तस्य समूहः** (४।२।३७) से अण् होता है। इसी प्रकार अन्तोदात्त एकाच् उत्तरपद होने पर तृतीयादि विभक्ति को उदात्त कहा है—**परमवाचा।** अतः अवाचा—यहाँ अव्ययपूर्व-पद-प्रकृति-स्वर होने से एकाच् अन्तोदात्त नहीं, अतः विभक्ति को उदात्त नहीं होता। तात्पर्य यह है कि उदात्त, अनुदात्त आदि शब्दोच्चारण-रूप यत्न-विशेष के कारण उदात्त आदि विवक्षित होते हैं। **उञः** (१।१।१७), ऊँ—यहाँ अनुनासिक का स्वरूप से उच्चारण न करके जो यत्न विशेष से ऊँ ऐसा अनुनासिक का उच्चारण किया है, वह विवक्षित है। अनुनासिक के अभाव में प्रगृह्य संज्ञा नहीं होगी—**उ इति विति।** **पथिमथ्यृभुक्षामात्** (७।१।८५)—यहाँ स्थानी (पथिन् आदि का न्) के अनुरूप अनुनासिक आँ का जो उच्चारण नहीं किया, वह विवक्षित है, भेदक है। सावर्ण्य के आश्रित यहाँ आँ का ग्रहण नहीं हो सकता, अर्थात् पन्थाँः आदि नहीं कह सकते। शङ्का—अस्थि आदि शब्द **नब्विषयस्यानिसन्तस्य** (फिट् सूत्र) से आद्युदात्त हैं। अन्त्य (अस्थि आदि का अनुदात्त इ) अनुदात्त के स्थान में, स्थानी के अनुरूप अनङ् को अनुदात्त उच्चारण न करके उदात्त उच्चारण किया है (जो यत्नविशेषापेक्षी है) वह विवक्षा के लिये होगा, तो वह ज्ञापक कैसे हो सकता है? अनङ् विधि अङ्गाधिकारीय है। **पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य च**—इस परिभाषा से 'परमास्थि' को अनङ् अन्तादेश होगा। यहाँ (परमास्थि में) **समासस्य** (६।१।२२३) से 'इ' उदात्त है। स्थानी उदात्त 'इ' के स्थान में आनुरूप्य से विना यत्न विशेष के उदात्त अनङ् हो जायगा तो उदात्तधर्मक 'ई' के स्थान में उदात्त अन् ही हो, ऐसी विवक्षा कैसे सिद्ध होगी?

कयट आदि का कहना है कि भाष्य में **त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ** (७।२।९९), **स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ** (१।१।५६), **पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु** (६।३।५२), तथा **सहस्य सः संज्ञायाम्** (६।३।७८) के भाष्य में **चतसर्याद्युदात्तनिपातनं करिष्यते** (चतुर् के स्थान में 'चतसृ' आदेश आद्युदात्त माना जायगा), हन् का वधादेश आद्युदात्त निपातित किया जायगा, पद आदि (पाद आदि के आदेश) अन्तोदात्त निपातित किये जायेंगे, 'सह' का आदेश 'स' उदात्त

निपातित किया जायगा, जो ऐसा कहा है वह अष्टाध्यायी एकश्रुति (उदात्तादि भेद किये बिना) से पढ़ी गई है, ऐसा मानकर क्वचित् उदात्त आदि उच्चारण विवक्षार्थ है। वह इस आशय से कहा है। इस पक्ष में अस्थि आदि सूत्र में अनङ् उदात्त में उदात्त-ग्रहण ज्ञापक नहीं। अष्टाध्यायी त्रैस्वर्य (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित इन तीन स्वरों से) पढ़ी गई है, इस पक्ष में अनङ् में उदात्त ग्रहण ज्ञापक बनता है।

दूसरे लोगों का ऐसा मत है (और नागेश उनके साथ एकमत है) कि निपातनम्, निपात्यते आदि शब्दों का अर्थविशिष्टरूप शब्द का पढ़ देना ही नहीं होता, किन्तु शास्त्र से जब भिन्नरूप प्रयोग प्राप्त होता है तब उससे भिन्न-रूप शब्द का प्रयोग करना है, जिसमें यत्नाधिक्य की अपेक्षा होती है, अतः वहाँ-वहाँ उदात्त आदि की विवक्षा होती है। 'तिसृचतसृ' इस द्वन्द्व में अन्तोदात्त उच्चारण न करके आद्युदात्त उच्चारण, वध आदि में स्थानी के अनुरूप स्वर न उच्चारण करके आद्युदात्त आदि का उच्चारण करना विवक्षार्थ है। सम्पूर्ण अष्टाध्यायी एकश्रुति से पढ़ी गई है इसमें कोई प्रमाण नहीं। यद्यपि क्वचित् एक श्रुति से भी पाठ है जैसे **दाण्डिनायन**—(६।४।१७४) सूत्र में 'ऐक्ष्वाक'[1] शब्द एकश्रुति से पढ़ा है। यह बात और है कि वेदाङ्गों को प्रायः स्वररहित पढ़ा जाता है जैसे ब्राह्मण-ग्रन्थों को, तथापि अध्येता लोग शिष्टों के व्याख्यान से अनुनासिक का ज्ञान करते हैं (**प्रतिज्ञाऽनुनासिक्याः पाणिनीयाः**), इसी प्रकार उदात्त आदि निपातन का भी।

उदात्त आदि गुण के अभेदक होने पर विधेय अण् के सवर्ण का ग्रहण नहीं होता, 'अप्रत्ययः' इस निषेध के विद्यमान होने से। इसीलिये 'घटवत्'— यहाँ मतुप् के म् (अनुनासिक) के स्थान में अनुनासिक 'वँ' नहीं होता। इसी-लिये **तद्वान् आसामुपधानो मन्त्रः** (४।४।१२५) यह निर्देश संगत होता है। यदि हो जाता तो **प्रत्यये भाषायां नित्यम्**—इस वार्तिक से नित्य ही 'तद्' के 'द्' को अनुनासिक होता ॥११७॥

सीरदेवीय—इससे **वृद्धिरादैच्** (१।१।१)—यहाँ उदात्त तथा स्वरित आत्,

---

१. **इक्ष्वाकोरपत्यमैक्ष्वाकः। जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्** (४।१।१६८) से अञन्त ऐक्ष्वाक शब्द का तथा **इक्ष्वाकुषु जनपदेषु भवः** इस अर्थ में **कोपधादण्** (४।२।१३२) इससे शैषिक अणन्त ऐक्ष्वाक शब्द का एकोक्ति से ग्रहण के लिये ऐसा पढ़ा है।

ऐच् की वृद्धि संज्ञा सिद्ध होती है। लोक में गुण भेदक भी होते हैं और अभेदक भी। जैसे एक ही जल पदार्थ—यह ठंडा है, यह गरम है, इस भेदवाला होता है। देवदत्त गौर लोहित कृष्ण अथवा वृद्ध होता हुआ भी अपने 'देवदत्त' नाम को नहीं छोड़ता। इसी प्रकार शास्त्र में उभय (भेदक तथा अभेदक) का ग्रहण प्राप्त होने पर नियम किया है अभेदका एव, गुण अभेदक ही होते हैं।

यह परिभाषा **चतुरनडुहोरामुदात्तः** (७।१।९८), यहाँ उदात्त ग्रहण से, **अस्थिदधि**—(७।१।७५), यहाँ उदात्त-ग्रहण से, तथा **लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः** (६।४।७१), यहाँ उदात्त-ग्रहण से ज्ञापित होती है। यदि गुण भेदक होवें तो उदात्तगुणयुक्त आकार आदि के उच्चारण से इष्टसिद्धि हो जायगी, उदात्त-ग्रहण व्यर्थ हो जायगा ॥११७॥

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि **सर्वादीनि सर्वनामानि** (१।१।२७) में आचार्य ने 'सर्वनामानि' में णत्व के अभाव का निपातन किया है। सो यहाँ इसके साधुत्व में शङ्का नहीं होगी, पर लोक में **पूर्वपदात्संज्ञायामगः** (८।४।३) इस शासन के अनुसार णत्वसहित 'सर्वणामानि' ही साधु होना चाहिये। इस शङ्का के निरास के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

बाधकान्येव निपातनानि। (११८)

अर्थ स्पष्ट है। इसमें युक्ति यह है—शास्त्र द्वारा उस-उस कार्य की प्राप्ति होने पर ही निपातन का आरम्भ होता है। **'येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति'** इस न्याय से निपातन बाधक होता है। शङ्का—यदि ऐसा है तो **पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु** (४।३।१०५) में निपातित 'पुराण' शब्द से शास्त्र प्राप्त 'पुरातन' शब्द का बाध हो जाना चाहिये। और पुरातन शब्द प्रयोग में नहीं आना चाहिये। ठीक है, पर 'पृषोदरादि' में इसका पाठ स्वीकार किया जाता है, जिससे यह लोक में प्रयोगार्ह रहता है। इसी प्रकार श्रवणा (पौर्णमासी) यह **विभाषा फाल्गुनी-श्रवणा-कार्तिकी-चैत्रीभ्यः** (४।२।२३) —यहाँ निपातित है। श्रावणी (पौर्णमासी) भी पृषोदरादि होने से साधु है। निपातन अबाधक भी होते हैं, यह मत भाष्यविरुद्ध है[1] ॥११८॥

---

१. **अपरस्पराः क्रियासातत्ये** (६।१।१४४) यहाँ सम् के 'म्' का लोप होने पर सततशब्द लोक में साधु है, पर 'सन्तत' शब्द असाधु ठहरता है। इसकी साधुता **'समो वा हिततततयोः'** इस परकीय शासन से की है। यदि निपातन अबाधक भी होते तो अबाधक होने से सन्तत शब्द भी लोक में साधु होता, तो उसकी साधुता के लिये यत्नान्तर क्यों करते।

अब यहाँ यह शङ्का होती है—'ऊखतुः' इत्यादि में 'उख्' के ह्रस्वत्व के स्वतः सिद्ध होने से अभ्यास ह्रस्वत्व की अप्रवृत्ति होने पर हलादिः शेष होने पर सवर्णदीर्घ हो जाने के पीछे अभ्यास-ह्रस्व हो जाना चाहिये। इस शङ्का के निराकरण के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः। (११६)

अर्थ—पर्जन्य (मेघ) जैसे ऊन, पूर्ण जलाशय में बरसता है वैसे ही ऊषर में भी, ऐसे ही लक्षण (शास्त्र, सूत्र) वहाँ भी प्रवृत्त होता है जहाँ इस की प्रवृत्ति से कुछ विशेष (भेद) होता है और वहाँ भी जहाँ कुछ भी तत्कृत विशेष नहीं होता। भाष्य में भी कहा है—**कृतकारि खल्वपि शास्त्रं पर्जन्यवत्।** अतः प्रकृत में ह्रस्व 'उ' को भी ह्रस्व होता है। जिसका फल यह है '**लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते**' इस न्याय से ह्रस्व विधि के एक बार सम्पन्न हो जाने से दूसरी बार ह्रस्व नहीं होगा। इस परिभाषा के आश्रयण से ही **प्रवाहणस्य ढे** (७।३।२८) से उत्तरपद (जो पहले ही आदि वृद्धि युक्त है) को वृद्धि विधान संगत होता है। (यह वृद्धि विधान निरर्थक नहीं[1])।

यदि कहो '**लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते**' इसमें क्या प्रमाण है? '**समः सुटि**' (८।३।५) सूत्र ही प्रमाण है। **समो वा लोपमेके** इस वार्तिक से सम्-पूर्व स् कृ (सुट् सहित कृ) में सम् के 'म्' का लोप होने पर संस्कर्ता आदि एकसकार वाला रूप सिद्ध होता है। लोपाभाव पक्ष में **अनचि च** (८।४।४७) से सुट् के स् को द्वित्व होने पर संस्स्कर्ता आदि दो सकार वाला रूप भी सिद्ध था। इस द्विरुक्त स् को पुनः 'अनचि च' से द्वित्व करने पर त्रिसकार-युक्त सिद्ध हो जाता, तो **समः सुटि** से क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ? निष्प्रयोजन (व्यर्थ होकर) यह ज्ञापित करता है कि लक्ष्य में लक्षण की एक बार ही प्रवृत्ति होती है। इस न्याय को ज्ञापित कर यह सूत्र अपने अंश में चरितार्थ हो जाता है। लोपाभाव पक्ष में इस सूत्र से सम् के 'म्' को 'रु' करने पर उसके स्थान

---

१. उत्तरपदवृद्धि विधान का फल यह है—**प्रवाहणेयीमात्मानं मन्यते प्रवाहणेयी-मानिनी**—यहाँ **वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे** (६।३।३९) से पुंवद्भाव का निषेध हो जाता है। '**गोत्रं च चरणैः सह**' इस वचन से अपत्यप्रत्ययान्त 'प्रवाहणेयी' के जातिवाचक होने पर भी '**जातेश्च**' (६।३।४१) से पुंवद्भाव का निषेध नहीं हो सकता था, क्योंकि इस सूत्र में 'अमानिनि' की अनुवृत्ति आ रही है। (पायगुण्ड)।

में विसर्जनीय होकर **'संपुंकानां सो वक्तव्यः'** इस वचन से नित्य 'स्' हो जाने पर उस 'स्' को 'अनचि च' से द्वित्व करने पर सुट् के सकार के साथ त्रिसकार युक्त रूप सिद्ध होता है। यदि कहो लक्ष्ये लक्षणम्—न्याय की प्रामाणिकता होने पर भी सम्+स्कृ—यहाँ रुत्व-स्थानिक स् हो जाने पर लक्ष्य में विकार आने पर लक्ष्य के भिन्न हो जाने से ही 'अनचि' च की प्रवृत्ति नहीं होगी, तो त्रिसकारयुक्त संस्स्कर्ता आदि की सिद्धि दुर्लभ ही रहेगी, तो हमें इसमें यह कहना है कि इस न्याय की प्रवृत्ति के लिये विकारकृत लक्ष्यभेद नहीं माना जाता—यह **सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु** (७।२।१) के भाष्य से विदित होता है। वहां **सहिवहोरोदवर्णस्य** (६।३।११२) से पर होने से पूर्व **वदव्रजहलन्तस्याचः** (७।२।३) से 'अ' को वृद्धि (आ) करके, सूत्र में अवर्ण ग्रहण-सामर्थ्य से 'आ' को 'ओ' किया है। पुनः ढ-लोप के असिद्ध होने से 'ओ' को प्राप्त हुई हलन्त लक्षणा वृद्धि को प्रकृत न्याय (लक्ष्ये लक्षणम्) से रोका है। इसकी प्रवृत्ति के लिये स्पष्ट ही विकार होने से लक्ष्य-भेद को नहीं माना है। 'वह्' अब वोह्-रूप हो चुका है। पहले वृद्धि 'अ' को हो चुकी है, अब दो वारा 'ओ' को नहीं होगी—यह स्पष्ट कहा है ॥११६॥

सीरदेवीय—इस शास्त्र में पर्जन्य की तरह सूत्रों की प्रवृत्ति होती है। भाष्य में कहा है—**कृतकारि खल्वपि शास्त्रं मेघवन्नाकृतकारि दहनवत्, दहनो हि दग्धं न दहति,** अर्थात् शास्त्र किये हुए को भी पुनः करता है, जैसे मेघ, किये हुए को नहीं भी करता, जैसे अग्नि, जले हुए को नहीं जलाता। अतः इस परिभाषा से 'खट्वाढकम्' (खट्वा+आढकम्) में दीर्घत्व सिद्ध होता है। **'प्रवाहणस्य ढे'** (७।३।२८) इसमें ज्ञापक है। यह सूत्र ठक् परे होने पर 'वाहन' उत्तरपद को नित्य वृद्धि विधान करता है, और पूर्वपद को विकल्प से। उत्तरपद पहले ही वृद्ध है, इसका आदि अच् 'आ' पहले से वृद्धिसंज्ञक है, तो भी इसे वृद्धि कही है। **प्रवाहणस्यापत्यं प्रवाहणेयः (प्रावाहणेयः)**। अब प्रश्न यह है कि यहां उत्तरपद-वृद्धि-विधान का फल क्या है। यदि कहो प्रवाहणेयीभार्यः—यहां **वृद्धि-निमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे** (६।३।३९) से पुंवद्भाव का निषेध प्रयोजन है। नहीं। **'जातेश्च'** (६।३।४१) से ही पुंवद्भाव-प्रतिषेध सिद्ध है। गोत्र प्रत्ययान्त होने से 'प्रवाहणेयी' जातिवाचक है—**गोत्रं च चरणैः सह**—जाति का यह भी स्वरूप है। 'जातेश्च'—यहाँ **स्वाङ्गाच्चेतोऽमानिनि** (६।३।४०) से 'अमानिनि' की अनुवृत्ति होने से प्रवाहणेयमानिनी यहाँ पुंवद्भाव का निषेध नहीं होगा। अतः प्रकृत उत्तरपद-

वृद्धि-विधान **वृद्धिनिमित्तस्य च**—से पुंवद्भावप्रतिषेध के लिये नहीं है। न्यास-कार का कहना है कि 'जातेश्च' से प्रतिषेध के सिद्ध होने पर 'वृद्धिनिमित्तस्य च'—से पुंवद्भाव-निषेध के लिये जो उत्तरपद-वृद्धि विधान की है उससे हम जानते हैं कि 'जातेश्च'—यह प्रतिषेध अनित्य है। इस पर सीरदेव का यह कहना है कि 'प्रवाहणेय' को व्यक्ति परक मानकर ज्ञापकता अखण्डित रहेगी ॥११९॥

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि ऊदित् धातुओं से **स्वरति-सूति सूयति-धूञूदितो वा** (७।२।४४) से वलादि आर्धधातुक प्रत्यय को वैकल्पिक इट् आगम विधान किया है। **'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः'** (७।२।५९)—यह सकारादि आर्ध-धातुक परे रहते इट् का निषेध करता है जब आत्मनेपद का कोई निमित्त विद्यमान न हो। निषेध बहिरङ्ग है क्योंकि यह अधिक निमित्तक है। निषेध न केवल सकारादि प्रत्यय की अपेक्षा करता है जैसे विकल्प वलादि की (परन्तु आत्मनेपद-निमित्तत्वाभावरूप निमित्त की भी अपेक्षा करता है), अतः विकल्प की अपेक्षा बहिरङ्ग है, विकल्प अन्तरङ्ग है। अतः विकल्प से इट् हो जाना चाहिये। स्यन्त्स्यति (स्यन्दू+लृट्+तिप्) के साथ 'स्यन्दिष्यति' रूप भी साधु होना चाहिये। इस शङ्का के निरास के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

निषेधाश्च बलीयांसः। (१२०)

अर्थ—निषेध शास्त्र अन्तरङ्ग तथा (अपने) उपजीव्य शास्त्र से भी बलवत्तर होते हैं। अतः अन्तरङ्ग विकल्प को बाधकर इट्-निषेध होता है और 'स्यन्त्स्यति'—यह एक ही इट्-रहित रूप होता है। न 'वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' में 'चतुर्भ्यः'-ग्रहण सामर्थ्य से ही निषेध से विकल्प का बाध हो जायगा। इस परिभाषा का कोई प्रयोजन नहीं। ऐसा नहीं। चतुर्भ्यः-ग्रहण स्पष्टता के लिये है। भाष्य में इसका प्रत्याख्यान कर दिया गया है।[1] उपजीव्य से भी निषेध बलवत्तर होता है। यदि परिभाषा का ऐसा अर्थ न हो तो **मीमांसकों के सिद्धान्त के अनुसार निषेध से विधि बलवत्तर होती है** क्योंकि विधि निषेध का उपजीव्य है, अतः विधि का अत्यन्त बाध नहीं होता। **उदिते जुहोति। अनुदिते जुहोति। अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति। नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति**

१. **चतुर्भ्य इति न वक्तव्यम्। वृद्ग्रहणं हि तत्र द्युतादिपरिसमाप्त्यर्थं क्रियते, कृपू सामर्थ्ये वृदिति, तदेव यदि वृतादिसमाप्त्यर्थं विज्ञायते न किञ्चि-दनिष्टं प्राप्नोति, तत्क्रियते स्यन्देरूदिल्लक्षणमन्तरङ्गमपि विकल्पं प्रतिषेधो यथा बाधेतेति। चतुर्ग्रहणे हि सति स्यन्दिः संनिधापितो भवति।**—काशिका।

—आदि में निषेधवाक्यों से विधि व्यर्थ मत हो, विकल्प सिद्ध होता है [1]। ऐसे ही यहाँ व्याकरणशास्त्र में भी होगा। पर व्याकरण शास्त्र में यदि निषेध होने पर भी विकल्प हो जाता तो **'द्वन्द्वे च'** (१।१।३१)—इस निषेध से ही सर्वनाम संज्ञा का अत्यन्त बाध न होने से विकल्प सिद्ध था, तो **'जसि विभाषा'** (१।१।३२)—से विकल्प विधान क्यों करते ?

प्रकृत परिभाषा का मूल यह है कि निषेध की प्रवृत्ति विधि की निवृत्ति के लिये होती है। लोक में भी ऐसी प्रसिद्धि है कि जिसका जन्म जिसके उन्मूलन के लिये हुआ है, वह उससे अधिक बलवान् समझा जाता है, जैसे कृष्ण कंस से।

यह परिभाषा **न लुमताङ्गस्य** (१।१।६३) के भाष्य में **'प्रतिषेधाश्च बलीयांसो भवन्ति'** इस प्रकार अक्षरशः पढ़ी है। **कर्मेणिङ्** (१।१।३०) के भाष्य में ऐसा पाठ है—**एवमुभयोः सावकाशयोः प्रतिषेधस्य बलीयस्त्वात् प्रतिषेधः प्राप्नोति** ॥१२०॥

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि जो प्रत्यय अत्यन्त स्वार्थिक हैं, वे अर्थ का प्रत्यायन तो करते नहीं, उन्हें 'प्रत्यय' क्यों कर कहा जाय ? इस शङ्का के निराकरणके लिये परिभाषा पढ़ते हैं—

अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे। (१२१)

अर्थ—जिन प्रत्ययों का अर्थ नहीं कहा गया, जो किसी अर्थविशेष में विहित नहीं हुए, वे स्वार्थ में=प्रकृति के अपने अर्थ में होते हैं, ऐसा जानना चाहिये। **'प्रत्यय' का अर्थ—प्रत्येति (=प्रत्याययति) अर्थमिति प्रत्ययः**, यही नहीं, **यस्यार्थः प्रकृत्या प्रत्याय्यते सोऽपि प्रत्ययः**, अर्थात् न केवल वही प्रत्यय है जो अर्थ का प्रत्यायन (बोधन) करता है, किन्तु वह भी जिसका अर्थ प्रकृति से जाना जाता है। स्वार्थे=अपनी प्रकृति के अर्थ में। 'प्रत्यय'—यह

---

१. वस्तुतः षोडशिग्रहण-निषेध का तथा विधि का एक ही विषय होने से निषेध यदि विधि को सर्वथा बाध ले, तो विधि व्यर्थ हो जायगी, अतः विकल्प युक्त ही है। व्याकरण शास्त्र में तो निषेध द्वारा अपने विषय में विधि का बाध होने पर भी अन्यत्र चरितार्थता रह सकती है, विकल्प का अवकाश नहीं। निषेध विधेय की असाधुता का बोधक होता है, विधि विधेय की साधुता की बोधक होती है। इस प्रकार सिद्ध वस्तु में विकल्प का अयोग (असंभव) होने से सर्वथा बाध ही होता है।

महती संज्ञा है। इसे अन्वर्थ होना चाहिये अतः और अर्थ के उपस्थित न होने से यह अर्थ लिया जाता है। **सुपि स्थः** (३।२।४) इसके योग-विभाग से विहित 'क' प्रत्यय **आखूत्थः** (=आखूनामुत्थानम्) भाव में (प्रकृति 'स्था' के अपने अर्थ में होता है, कर्मादि में नहीं ॥१२१॥

सीरदेवीय—इस परिभाषा से **अवेः कः, यावादिभ्यः कन्** (५।४।२८,२९) इत्यादि में 'क' आदि की प्रत्यय संज्ञा सिद्ध होती है। अर्थवत्ता तीन प्रकार की होती है (१) **लौकिकी**, (२) **अन्वयव्यतिरेकगम्या**, (३) **प्रतिज्ञा-प्रापिता**। **लौकिकी** अर्थवत्ता तो पद में भी नहीं, पदके एकदेश में तो कहाँ हो सकती है ? कारण कि प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति से ही शब्द अर्थवान् जाना जाता है। और प्रवृत्ति निवृत्ति का बोध वाक्य से ही होता है, अतः वाक्य की ही लौकिकी अर्थवत्ता है। **अन्वयव्यतिरेकगम्या** यथा—ण्वुल् आदि प्रत्ययों का कर्तृआदि अर्थ अन्वय व्यतिरेक से जाना जाता है। **अन्वयः**=सद्भावः। **व्यतिरेकः**=अभावः। ण्वुल् आदि होते हैं तो कर्त्रादि अर्थ की प्रतीति होती है, नहीं होते, तो नहीं होती। **प्रतिज्ञा-प्रापिता** यथा—क्विप् आदि प्रत्ययों का कर्त्रादि अर्थ। यह अन्वय-व्यतिरेकगम्य नहीं। कारण कि क्विप् आदि प्रत्ययों का अन्वय तो होता ही नहीं, व्यतिरेक ही होता है, श्रवण न होने से। इस प्रकार प्रतिज्ञाप्रापिता जो अर्थवत्ता उसका ही फल-स्वरूप अनिर्दिष्टार्था प्रत्ययाः—यह परिभाषार्थ है। शङ्का—यदि स्वार्थ न होने पर भी प्रकृति के अर्थ से अर्थवान् होने से अनि-र्दिष्टार्थ कन् आदि प्रत्यय हैं तो विकार (आदेश) तथा आगम भी प्रत्यय हो जायेंगे, जिससे **हनस्तोऽचिण्णलोः** (७।३।३२) यहाँ षष्ठी निर्देश (हनः) होने से प्रत्यय होने से तकारादेश अन्त्य की निवृत्ति करता हुआ प्रकृति से परे होगा, जैसे **अस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम्** (६।४।४७) से रम् आगम र् तथा उपधा की निवृत्ति करता हुआ अन्त्य अच् से परे होता है। उत्तर—इस वचन (प्रकृत परिभाषा) से 'याव' आदि प्रातिपदिकों से पृथग्भूत जो उन प्रातिपदिकों के अवयव नहीं हैं, उन कन् आदि की स्वार्थिकता का बोधन किया है। 'यावक' इत्यादि में प्रत्ययोत्पत्ति होने पर भी प्रकृति **'स्वार्थिका'** ही है, अपने ही अर्थ में वर्तमान है। एवं जहाँ प्रकृति अपने पृथक् अर्थ को कहती है, वहीं विधेय प्रत्यय की भी अर्थवत्ता है। विकार, आगम होने पर तो प्रकृति का पृथक् अर्थ नहीं होता, विकारागम-सहित प्रकृति ही अर्थवती होती है। शङ्का—यदि ऐसा है तो **गुप्तिज् किद्भ्यः सन्** (३।१।५)—यहाँ गुपादि धातुओं से निन्दा आदि स्वार्थ की प्रतीति न होने से (**गुपादिषु निन्दादेः स्वार्थस्याप्रतीतेः**) सन् का प्रत्ययत्व

न बन सकेगा। (न्यासकार ने सन् को यहाँ स्वार्थिक माना है)। उत्तर=गुपादिपु इत्यादि वचन का अभिप्राय यह है—धातु के अनेकार्थ होने पर भी कैसे जाना जाय कि प्रकृति का निन्दा आदि अर्थ सन् प्रत्यय द्वारा द्योतित किया जाता है, गोपन आदि नहीं, वह भी तो प्रकृति का अर्थ है। अतः न्यासकार ने कहा है—अन्वय-व्यतिरेक से निन्दादि सन् के अर्थ हैं। उसका यह आशय है—अन्वयव्यतिरेक द्वारा निन्दा आदि अर्थ के द्योतन में सन् का सामर्थ्य है, अन्वय-व्यतिरेक द्वारा अपूर्व अर्थ के अभिधान में सामर्थ्य नहीं है ॥१२१॥

योगविभागादिष्टसिद्धिः। (१२२)

अर्थ—योगविभाग (सूत्र को दो भागों में बाँटना) से इष्टरूप की सिद्धि ही करनी चाहिये, न कि अनिष्ट रूप की आपत्ति। यदि योगविभाग से प्राप्त **अव्ययं विभक्ति**—(२।१।६) अव्ययं (सुपा सह समस्यते) यह नूतन विधि नित्य हो, सर्वत्र निर्विशेष रूप से प्रवृत्त हो तो उस-उस समानविधि का विधायक (अव्ययं) विभक्ति समृद्धि—सूत्र व्यर्थ हो जाय ॥१२२॥

सीरदेवीय—अतः **इद् गोण्याः** (१।२।५०)—यहाँ 'इत्' इस योगविभाग से **पञ्चसूचिः (पञ्चभिः सूचीभिः क्रीतः)** यह एक ही ह्रस्व इकारान्त रूप होता है, रूपान्तर कोई नहीं। यदि इत् (यह योगविभाग-लब्ध) सूत्र सर्वविषयक हो तब **'गोण्याः'** यह द्वितीय सूत्र व्यर्थ हो जाय। यदि कहो इत्—यह प्रथम सूत्र अपनी सार्थकता के लिये विकल्प करेगा, और 'गोण्याः'—यह नित्यार्थ रहेगा, तो व्यर्थता की शङ्का कैसे होती है? नहीं। एक योग के रहते हुए जो विशेषण प्रयुक्त किया जाता है, योगविभाग होने पर वही दोनों योगों में एक समान सम्बद्ध होगा। अतः जैसे एकयोग में विभाषा (विकल्प) की शङ्का नहीं, योगद्वय में भी नहीं होगी ॥१२२॥

पर्यायशब्दानां लाघवगौरवचर्चा नाद्रियते। (१२३)

अनेक सूत्रों में अन्यतरस्याम्, विभाषा, वा का विकल्प अर्थ में प्रयोग हुआ है। यही इस परिभाषा की सत्ता में प्रमाण है ॥१२३॥

सीरदेवीय—अतः लाघवार्थ **'आपो वा'** न कहकर **आपोऽन्यतरस्याम्** (७।४।१५) कहा है। इसमें कुछ प्रयोजन नहीं। वैचित्र्यमात्र फल है। यदि ऐसा है तो **कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि** (१।३।३७) यहाँ लाघवार्थ 'काय' शब्द का प्रयोग न करके जो शरीर शब्द का प्रयोग किया है वह शरीरैकदेश ग्रहण के लिये किया है, इस प्रकार शरीर ग्रहण को न्यासकार ने ज्ञापक कैसे माना है?

कर्णो लक्षणस्याविष्टाष्ट—(६।३।११५) सूत्र में लाघवार्थ चिह्न शब्द का प्रयोग न करके जो लक्षण शब्द का प्रयोग किया है वह लक्षणविशेष के ग्रहण के लिये किया है--यहाँ भी न्यासकार ने लक्षण ग्रहण को ज्ञापक कैसे माना ? **अनभिहिते** (२।३।१)—यहाँ लाघवार्थ 'अनुक्ते' न कह कर जो 'अनभिहिते' कहा है वह **आभिमुख्येन नैरन्तर्येण यत्प्रतिपादितं तत्रायं प्रतिषेधः** इस अभिप्राय से कहा है, ऐसा अनुन्यासकार ने कैसे कह दिया ? उत्तर—जहाँ कुछ भी ज्ञाप्य नहीं, वहाँ पर्याय शब्दों के प्रयोग में लाघव-गौरव चर्चा नहीं होती, वैचित्र्य के लिये ही नाना पर्याय शब्दों का प्रयोग हुआ है, ऐसा समझना चाहिये ॥१२३॥

ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र । (१२४)

स्पष्ट रूप से शब्दतः न कह कर जो अर्थ अनुमान द्वारा ज्ञापित किया जाता है वह अनित्य होता है, वह सार्वत्रिक नहीं होता । इस परिभाषा का परमार्थ यह है कि ज्ञापक-सिद्ध परिभाषा की सहायता से हमें अनिष्टार्थ प्रसक्ति में यत्न नहीं करना चाहिये, इष्टार्थ के उपपादन में ही ऐसी परिभाषा की चरितार्थता है । **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** (४।१।१) आदि सूत्रों में इस परिभाषा का संकेत मिलता है, अतः यह भाष्यकार को अभिमत है। 'ज्ञापक' से 'लोक न्याय' भी लिया जाता है । भाव यह है कि ज्ञापक तथा न्याय से सिद्ध किन्हीं परिभाषाओं को (जैसे **स्थानिवद् आदेशोऽनल्विधौ** १।१।५६) जो आचार्य ने पढ़ा है वह यह ज्ञापन करने के लिये है कि इस प्रकार अन्य परिभाषाएँ जिन्हें उन्हों ने नहीं पढ़ा, वे अनित्य हैं, सार्वत्रिक नहीं हैं । स्थानिवत्—सूत्र **तत्स्थानापन्नस्तद्धर्मं लभते** (जो जिसके स्थान में होता है वह उसके धर्म (कार्य, व्यपदेश आदि को प्राप्त होता है) इस लोक न्याय से सिद्ध है । इसका 'अनल्विधौ' यह अंश ज्ञापक-सिद्ध है ॥१२४॥

सीरदेवीय—यह उचित ही है । ज्ञापक बाधक नहीं होता, किन्तु निमित्त द्वारा सूचक होता है । ज्ञापक का कहीं इष्टार्थ की सिद्धि में व्यापार होता है, सर्वत्र नहीं, अतः ठीक ही है—ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र । अतः ज्ञापकसिद्ध आत्मनेपद की अनित्यता को मानकर एध् आदि धातुओं का परस्मैपद में यत्र तत्र प्रयोग नहीं करना चाहिये । जहाँ कहीं शिष्ट प्रयोग मिलता है, उसी का समादर करना चाहिये ॥१२४॥

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि **द्रोग्धा-द्रोग्धा, द्रोढा-द्रोढा** इत्यादि में **सर्वस्य द्वे** (८।१।१) इस अधिकार में नित्यवीप्सयोः (८।१।१२) से द्विरुक्ति

होती है। द्रोग्धा, द्रोढा में 'वा द्रुह-मुह-ष्णुह-ष्णिहाम् (८।२।३३) से वैकल्पिक घत्व (ह् को घ्) ढत्व (ह् को ढ्) होता है। **पूर्वत्रासिद्धम्** (८।२।१) से द्विर्वचन की दृष्टि में घत्व, ढत्व असिद्ध हैं। अतः पहले द्विर्वचन द्रोह्-ता-द्रोह-ता हो जायगा, पश्चात् घत्व, ढत्व विकल्प से होगा। इस अवस्था में नियामक के न होने से ऐसा भी हो सकता है कि द्विरुक्त द्रोह-ता-द्रोहता में एक खण्ड में घत्व हो जाय और दूसरे में ढत्व, जिससे द्रोग्धा-द्रोढा—ऐसा अनिष्ट रूप प्रसक्त होता है। इस शङ्का के वारणार्थ परिभाषा पढ़ते हैं—

पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने। (१२५)

अर्थ—पूर्वत्रासिद्धीय शास्त्र (जो पूर्वत्रासिद्धम् ८।२।१ से प्रारब्ध होता है) पूर्व शास्त्र = सपादसप्ताध्यायी के प्रति असिद्ध होता है, पर द्विर्वचन की कर्तव्यता में ऐसा नहीं होता। अतः घत्व, ढत्व के होने पर द्विर्वचन होगा, जिससे अनिष्ट वारित हो जायगा। इष्ट रूप द्रोग्धा-द्रोग्धा, द्रोढा-द्रोढा सुलभ होगा। **जहाँ सिद्धता असिद्धता के फल में भेद हो वहीं इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है।** कृष्णर्द्धि (कृष्णर्ध् + धि) में **झलां जश् झशि** (८।४।५३) से पूर्व ध् को जश्त्व (द्) करने से पूर्व अथवा अनन्तर **अचो रहाभ्यां द्वे** (८।४।४६) से द्वित्व करने पर रूप में भेद न होने से इस परिभाषा की यहाँ प्रवृत्ति नहीं होती। ॥१२५॥

सीरदेवीय—द्विर्वचन की कर्तव्यता में **पूर्वत्रासिद्धम्** (८।२।१) की प्रवृत्ति नहीं होती। इससे द्रोग्धा-द्रोग्धा, द्रोढा-द्रोढा—यहाँ द्रुह् से झल् परे रहते घत्व, ढत्व किये जाने पर **'सर्वस्य द्वे'** (८।१।१) से द्विर्वचन होता है। अन्यथा पूर्वत्रासिद्धम् इससे घत्व ढत्व के असिद्ध होने से 'द्रोह-ता' इससे पहले द्वित्व होगा, तब विकल्प से घत्व। तब यह निश्चित नहीं होता कि जब प्रकृति को घत्व होगा, तब आम्रेडित को भी घत्व ही हो, कदाचित् ढत्व भी हो जायगा, जिससे 'द्रोग्धा-द्रोढा' ऐसा अनिष्ट रूप प्रसक्त होगा।

इस परिभाषा की सत्ता में **सर्वस्य द्वे** (८।१।१) में सर्वस्य-ग्रहण ज्ञापक है। 'सर्व' शब्द से मत्वर्थीय अकार प्रत्यय हुआ है (**अर्श आदिभ्योऽच्**)। इससे यह सूत्रार्थ होता है—**सर्वकार्ययुक्तस्य द्विर्वचनं सर्वकार्यं कृत्वा द्विर्वचनं भवतीत्यर्थः**, सर्व कार्य युक्त को द्विर्वचन होता है, सब कार्य करके द्विर्वचन होता है। यह तभी उपपन्न होता है यदि असिद्धत्व न हो ॥१२५॥

अब यहाँ शङ्का होती है कि **स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च** (२।३।३९) से स्वामी आदि उपपद के योग से षष्ठीसप्तमी—दोनों विभक्तियों का विधान हुआ है। इससे गोष्वश्वेषु च स्वामी—यहाँ सप्तमी होती है, अथवा गवामश्वानां च स्वामी—यहां षष्ठी होती है, वैसे ही गोष्वश्वानां च स्वामी—ऐसा प्रयोग भी साधु होना चाहिये। इसके समाधानार्थ परिभाषा पढ़ते हैं—

एकस्या आकृतेश्चरितः प्रयोगो द्वितीयस्यास्तृतीयस्याश्च न भविष्यति। (१२६)

अर्थ—जब एक शब्द-स्वरूप का प्रयोग हो चुका है, तो उससे भिन्न-स्वरूप का प्रयोग उसी अर्थ में नहीं होता। आकृति=स्वरूप। इस परिभाषा का व्यापार वहीं होता है जहाँ भिन्न स्वरूप का प्रयोग करने से अर्थान्तर की प्रतीति हो। **'गोष्वश्वानां स्वामी'** कहने पर **अश्वानां स्वामी गोषु तिष्ठति**—ऐसे अर्थान्तर की प्रतीति होती है॥१२६॥

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि व्यध् के लिट्-रूप 'विव्याध' में हलादिः शेषः (७।४।६०) के **पर** होने से हलादि-शेष हो जाने के पीछे 'व्' को सम्प्रसारण होना चाहिये—

सम्प्रसारणं तदाश्रयं च कार्यं बलवत्। (१२७)

अर्थ—सम्प्रसारण और सम्प्रसारण के आश्रित जो कार्य **सम्प्रसारणाच्च** (६।१।१०८) से पूर्वरूप, वह बलवत्तर होता है। अतः प्रकृत में पहले व्यध् व्यध् णल्—इस अवस्था में अभ्यास के 'य्' को सम्प्रसारण होता है **न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्** (६।१।३७) से 'व्' को नहीं होता। सम्प्रसारण होने पर हलादिः शेष से 'घ्' की निवृत्ति होती है। यह परिभाषा व्यर्थ है। **लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्** (६।१।१७)—यहाँ जो 'उभयेषाम्' पढ़ा है वह न भी पढ़ते तो भी वच्यादि ग्रह्यादि धातुओं की ६।१।१५ तथा ६।१।१६ से अनुवृत्ति आने पर इन दोनों धातुवर्गों के अभ्यास को सम्प्रसारण हो जाता। तो फिर 'उभयेषाम्' किस लिये पढा है? इसलिये कि यहाँ पढ़ा हुआ यह द्वितीय विधान के लिये रहेगा और **यह द्वितीय विधान नियमार्थ रहेगा—अभ्यास को सम्प्रसारण ही हो, जो और कार्य प्राप्त होता है, वह मत हो।** इससे परत्वेन प्राप्त हलादिः शेष को बाध कर सम्प्रसारण होता है। इस परिभाषा का जो कोई और फल कहा जा सकता है वह भी अन्यथासिद्ध है। भृष्टः (भ्रस्ज्+क्त) यहाँ

सम्प्रसारण भी प्राप्त होता है, **अस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम्** (६।४।१४७) से रम् (र् तथा उपधा के स्थान में) भी। यद्यपि रम्भाव पर है, पर सम्प्रसारण नित्य है, अतः सम्प्रसारण हो जाता है। **णौ च संश्चङोः** (६।१।३१) सूत्र में 'संश्चङोः' यह विषय सप्तमी है। अतः सम्प्रसारण के अन्तरङ्ग होने से पहले सम्प्रसारण होगा, पीछे द्वित्व, तथा वृद्धि, आय् आदेश, जिससे इस परिभाषा की प्रवृत्ति के विना ही **'अशूशवत्'** - यह साधु रूप सिद्ध हो जायगा ॥१२७॥

सीरदेवीय—इसलिये **'जुहावयिषति'** में **शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक्** (७।१।३७) से विधीयमान युक् को बाधकर **'ह्वः सम्प्रसारणम्'** (६।१।३२) से सम्प्रसारण होता है। **'जुहूषति'** (ह्वातुमिच्छति)—यहां 'अभ्यस्तस्य' से विधीयमान द्विर्वचन को बाधकर द्विर्वचन से पूर्व सम्प्रसारण होता है। **'जुहुवतुः'**—यहां **आतो लोप इटि च** (६।४।६४) से 'ह्वा' के आकार के लोप को बाधकर सम्प्रसारण व पूर्वरूप होते हैं, जिस कारण 'हु' के 'उ' के स्थान में उवङ् सिद्ध होता है। अन्यथा आकारलोप होने पर उसके असिद्धवदत्राभात् (६।४।२२) से असिद्ध होने से आभीय कार्य उवङ् न हो सकेगा, और 'जुहुवतुः'—यह इष्ट रूप सिद्ध न हो सकेगा। इस परिभाषा के होते हुए 'ब्रह्मन्' उपपद होने पर ज्या वयोहानौ से **आतोऽनुपसर्गे कः** (३।२।३) से 'क' प्रत्यय करने पर **'ब्रह्मज्यः'** (ब्रह्म जिनातीति) यह सिद्ध नहीं होगा, कारण कि प्रथम सम्प्रसारण होने पर पूर्वरूप होकर इयङ् की प्राप्ति होती है। नहीं। यहाँ सम्प्रसारण का विषय ही नहीं। **'सर्वत्र सम्प्रसारणिभ्यो डः'** इस वचन के अनुसार यहाँ 'ज्या' से 'ड' प्रत्यय होगा, 'क' नहीं। शङ्का—जुहूषति (ह्वातुमिच्छति)—यहाँ सम्प्रसारण व पूर्व रूप होने पर **आदेशप्रत्यययोः** (८।३।५९) से षत्व कैसे हुआ? स्थाने द्विर्वचन पक्ष में 'हूस्' को द्विर्वचन होने पर 'जुहूस' रूप आदेश के शब्दान्तर होने से इसमें कौन सा अंश प्रकृति है और कौन सा प्रत्यय इसका विभाग (विवेक)

---

१. कैयट ने परिभाषा को इन शब्दों में कहा है—**तस्माद्योऽर्थो यया शब्दाकृत्या प्रतिपादयितुमुपक्रान्तस्तयैवासौ न त्वन्यथा शब्दाकृत्येत्यर्थः। एवं हि प्रतिपत्तिलाघवं भवति।** कैयट ने इन शब्दों में वाग्व्यवहार का तत्त्व कहा है। भाव यह है कि एक वाक्य में किसी एक उपपद के साथ योग होने पर जिस विभक्ति का प्रयोग किया जाय उसी विभक्ति का दूसरे तीसरे प्रातिपदिक से प्रयोग होना चाहिये, चाहे उसी उपपद के योग में किसी दूसरी विभक्ति का

नहीं रहता। यदि कहो पूर्व मूर्धन्यादेश करके द्वित्व करेंगे, तो यह भी ठीक नहीं, षत्व के पूर्वत्रासिद्धीय होने से 'स' को द्वित्व होगा। 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने' इस परिभषा से द्विर्वचन की कर्तव्यता में 'षत्व' असिद्ध नहीं होगा। नहीं। **यह परिभाषा प्रायिकी है, नित्य नहीं,** अतः **उभौ साभ्यासस्य** (८।४।२१) यह वचन चरितार्थ होता है। अतः ऐसा समझना चाहिये कि स्थाने द्विर्वचन करने पर भी यह वही प्रत्यय का 'स्' है इस तत्त्वाध्यवसाय से भी कार्य होते हैं ॥१२७॥

क्वचिद् विकृतिः प्रकृतिं गृह्णाति। (१२८)

अर्थ स्पष्ट है। अतः **निसमुपविभ्यो ह्वः** (१।३।३०) यहां जो कृतात्व ह्वा का ग्रहण किया है उससे प्रकृति 'ह्वे' का भी बोध होता है। अतः जैसे आह्वास्यते आह्वाता—यहाँ आत्मनेपद होता है वैसे ही आह्वयते आदि में भी आत्मनेपद होता है, प्रकृति ह्वे का बोध होने से। नागेश के अनुसार यह परिभाषा निर्मूल है और भाष्य में अव्यवहृत है। ग्रहिज्यादि सूत्र के भाष्य में **'न च विकृतिः प्रकृतिं गृह्णाति'** ऐसा कहकर इस का तिरस्कार किया है। **"निसमुपविभ्यो ह्वः,** में ह्वेञ् के अनुकरण में सौत्र[1] प्रयोग है ऐसा समझना चाहिये। लक्षण द्वारा आत्व करके 'ह्वे' का विकृति-निर्देश नहीं। दूसरे लोगों का यह कहना है कि चूंकि प्रयोगस्थ (व्यवहारगत) धात्वादि का ही अनुकरण हुआ करता है ऐसा घु-संज्ञा-सूत्र में स्पष्ट कहा है, इसलिये प्रकृत में 'ह्वः' ह्वेञ् का अनुकरण नहीं। लाक्षणिक 'आत्व' निर्देश का यह अभिप्राय है कि आत्व विषय में ही ह्वेञ् से आत्मनेपद हो ॥१२८॥

सीरदेवीय—अतः **निसमुपविभ्यो ह्वः** (१।३।३०) से ह्वाधातु से विधीयमान आत्मनेपद प्रकृतिभूत ह्वे से भी होता है—निह्वयते। संह्वयते। इसमें ज्ञापक भी है—**न व्यो लिटि** (६।१।४६)—यहाँ व्येञ् के विकृतनिर्देश 'व्या' से व्येञ् को आत्व निषेध विधान करना। कई लोगों का कहना है कि 'न व्यो लिटि', निसमुपविभ्यो ह्वः—यहाँ एकारान्त प्रकृति का ही उपादान है। जो

भी विधान हो। कारण कि ऐसा करने से शीघ्र बोध हो जाता है, विभक्ति भेद होने पर विवक्षितार्थ की झटिति उपस्थिति नहीं होती।

१. **आदेच उपदेशेऽशिति**—इस आत्वविधायक शास्त्र में 'अशिति' के प्रसज्यप्रतिषेध होने पर भी शित्परत्वयोग्य एच् को ही यह शास्त्र आत्व विधान करता है अतः लक्षणवश आत्व न हो सकने से सौत्रत्व की कल्पना की है।

विकृति दीख रही है वह लक्षणकृत आत्व से हुई है। इसीलिये **दाधा घ्वदाप्** (१।१।२३) सूत्र में दाधा ग्रहण से प्रकृतिभूत देङ् धेट् का ग्रहण होता है। **प्रणिदयते। प्रणिधयति**॥१२८॥

औपदेशिकप्रायोगिकयोरौपदेशिकस्यैव ग्रहणम्। (१२९)

अर्थ—जहाँ घ-आदि संज्ञा करण में ऐसे शब्दरूप का व्यवहार किया गया है जो अपने औपदेशिक रूप का बोधक होता हुआ अपने समानाकार प्रयोगस्थ रूप का भी संभवतः बोधक होता है, वहाँ औपदेशिक शब्द रूप ही लिया जाता है। **उपदेशे भवं शब्दरूपम् औपदेशिकम्। प्रयोगे भवम् प्रायोगिकम्।** अध्यात्मादित्वाट्ठञ्। यह परिभाषा भी यत्र तत्र सूत्रों तथा वार्तिकों में उपदेशग्रहण के सामर्थ्य से वार्तिककार तथा भाष्यकार को अनभिमत है। यदि यह परिभाषा होती तो उपदेश-ग्रहण व्यर्थ होता। भाष्य (१।१।२२) में कहा है—व्याकरण शास्त्र में जहाँ कहीं सानुबन्धक[1] शब्दरूपों का उच्चारण किया जाता है वह इसलिए किया जाता है कि उनसे सानुबन्धक रूपों का ही ग्रहण हो। अब स्थिति यह है कि सानुबन्धक होने पर भी उस उस शब्दरूप से क्या बोध्य है उसका निश्चय बिना प्रयोग (वाग्व्यवहार) के नहीं हो पाता। पर प्रयोग=व्यवहार में सानुबन्धक शब्द-रूप दुर्लभ हैं, अतः सानुबन्धक शब्दरूपों से कौन से शब्दरूप बोध्य होते हैं, इसके लिये हमें दूसरे प्रकार के प्रयोग (अलौकिक व्यवहार, अर्थात् उपदेश=सूत्रकार के आद्य उच्चारण) का आश्रय लेना चाहिये। इस भाष्यग्रन्थ से स्पष्ट है कि जब शास्त्र में प्रयुक्त शब्दरूप से प्रायोगिक (प्रयोगस्थ व्यवहारगत) का कुछ बोध नहीं हो सकता, तो औपदेशिक का ही ग्रहण होता है। इस पर पायगुण्ड का कहना है कि घ-संज्ञा उपदेश में ही (औपदेशिक तरप, तमप्) की होती है प्रयोगस्थ की तो स्थानिवद्भाव से।

उक्त भाष्य ग्रन्थ केवल सानुबन्धकों के विषय में अवितथ हो, ऐसी बात नहीं।

दादेर्धातोर्घः (८।२।३२) में दादि धातु, लक्षणा से उपदेश में जो दकारादि हो वह ली जाती है। इससे प्रकृत परिभाषा के न होने पर भी कुछ क्षति नहीं॥१२८॥

---

१. सानुबन्धकों के विषय में विशेष करके इसलिये कहा है क्योंकि तरप्, तमप् सानुबन्धक हैं।

सीरदेवीय—उपदेशे भव औपदेशिकः। प्रयोगे भवः प्रायोगिकः। अध्यात्मादित्वाट्ठञ्। औपदेशिक तथा प्रायोगिक—इन दोनों शब्दरूपों में औपदेशिक शब्दरूप का ग्रहण होता है। यथा—**तरप्तमपौ घः** (१।१।२२) यहाँ प्रत्यय रूप तरप् की ही घसंज्ञा होती है। **ब्राह्मणितरा।** तॄ धातु से अप् प्रत्यय करने पर जो **नदीतरः (नद्यास्तरणम्, नदी तीर्यतेऽनेनेति वा, तरपण्यमित्यर्थः),**—यहाँ 'तरप्' शब्द है उसकी घ—संज्ञा नहीं होती। यदि हो जाय, तो यहाँ ह्रस्व हो जाय। इस परिभाषा में **श्वीदितो निष्ठायाम्** (७।२।१४) में 'श्वि'-ग्रहण ज्ञापक है। यदि इट् निषेध में प्रायोगिक श्वि (शु) का भी ग्रहण हो तो सम्प्रसारण करने पर शूनः शूनवान्—यहाँ उगन्त होने से ही **श्र्युकः किति** (७।२।११) से ही इट् निषेध सिद्ध होने से 'श्वि'-ग्रहण व्यर्थ हो जाय। शङ्का—**एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (७।२।१०) से उपदेश ग्रहण की अनुवृत्ति आने से उपदेशावस्था में जो उगन्त उस से इट् प्रतिषेध होगा। शून—यहाँ तो उपदेशावस्था में उगन्तत्व नहीं, प्रयोग में उगन्तत्व है। उत्तर—ज्ञापकवादी का यह अभिप्राय है कि श्र्युकः किति में उपदेशाधिकार नहीं माना जाता। यदि कहो ऐसा होने पर तीर्ण इत्यादि में इट्-प्रतिषेध न होना चाहिए। उत्तर—**श्वीदितो निष्ठायाम्**—यहाँ श्विग्रहण से यह ज्ञापित होता है कि औपदेशिक उगन्त से इट्-प्रतिषेध होता है, अतः यहाँ कुछ भी अनुपपन्न नहीं।

इस परिभाषा का कुछ प्रयोजन नहीं। **तरप्तमपौ घः** (१।१।२२) यहाँ तमप् (प्रत्यय) के साथ साहचर्य से तथा लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषा से प्रत्यय तरप् का ही ग्रहण होगा। 'नदीतरः'—यहाँ 'तॄ' से अप् प्रत्यय करने पर उपदेशावस्था में ही पकार की इत्संज्ञा होने से उस का लोप होने पर गुणोत्तर काल में तरप्समुदाय ही नहीं है, अतः घ-संज्ञा की शङ्का का अनवकाश है। यदि यह परिभाषा हो तो **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (१।३।२) इत्यादि में उपदेशे-ग्रहण व्यर्थ हो जाय ॥१२९॥

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि अजर्घाः (गृध् यङ्लुक्—लङ्—सिप्) **वेभिदीति**—इत्यादि में अपने-अपने गण के विकरण श्यन्, श्नम् आदि हो जाने चाहियें, तथा यङ्लुगन्त **वेभेदिता** (वेभेद्—लुट्, तास्—डा में **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (७।२।१०) से इट् का निषेध हो जाना चाहिये। इस के उत्तर में कुछ लोग परिभाषा पढ़ते हैं—

श्तिपा शपाऽनुबन्धेन निर्दिष्टं यद्गणेन च।
यत्रैकाज्ग्रहणं चैव पञ्चैतानि न यङ्लुकि ॥ (१३०)

इस कारिका में अनुबन्ध का निर्देश दो प्रकार से माना गया है, स्वरूप से धातु को अनुबन्ध-सहित पढ़ने से तथा **अनुदात्तङितः**—(१।३।१२) सूत्र में 'ङित्' इस इत्संज्ञक पद के पढ़ने से।

अर्थ—शास्त्र में धातु से जो कार्य श्तिप्-निर्देश करके (धातु को श्तिप् प्रत्ययान्त पढ़कर) शप्-निर्देश करके (धातु को शबन्त पढ़कर) अनुबन्ध—निर्देश करके, गण का निर्देश करके तथा 'एकाच्' का ग्रहण करके विधान किया जाता है वह यङ्लुक् के विषय में नहीं होता। **नेर्गदनद** —(८।४।१७) सूत्र में हन्ति, याति, वाति—ये श्तिप् प्रत्यय करके पढ़े हैं, अतः इस सूत्र से 'नि' को उपसर्गस्थ निमित्त से जो णत्व होता है वह इन के यङ्लुगन्त रूप में नहीं होगा—**प्रन्यजङ्घनीत्** (प्र+नि हन् यङ्लुक् लङ् तिप्)—यहाँ णत्व नहीं हुआ। **सनीवन्तर्ध**—(७।२।४९) सूत्र में भर (भृ+शप्) निर्देश के कारण वर्भरिषति—यहाँ इट् विकल्प नहीं हुआ। किन्तु नित्य ही इट् होता है। **शीङः सार्वधातुके गुणः** (७।४।२१), **दीङो युडचि** (६।४।६३) यहाँ अनुबन्ध-निर्देश के कारण शीङ् को गुण तथा दीङ् से परे युट् का आगम यङ्लुक् में नहीं होते—**शेशीतः** (शीङ्—तस्), **देदितः** (दीङ्—क्त)। इत्संज्ञक पद के द्वारा निर्देश होने से **अनुदात्त ङित आत्मनेपदम्** (१।३।१२) से स्पर्ध् तथा शीङ् के यङ्लुक् में आत्मनेपद नहीं होता—**पास्पर्धीति। शेशयीति।** गण का निर्देश करके '**रुधादिभ्यः श्नम्**' (३।१।७८) से जो श्नम् विधान किया है वह रौधादिक भिद् के यङ्लुक में नहीं होता—**बेभिदीति। जर्गृधीऽति**—यहाँ गृध् से श्यन् नहीं हुआ। **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (७।२।१०) में एकाच का ग्रहण करके इट् का निषेध किया है, वह भिद् छिद् आदि से यङ्लुक् में नहीं होगा—**बेभेदिता। चेच्छेदिता।**

यह परिभाषा अनित्य मानी जाती है। अतः **एकाचो द्वे प्रथमस्य** (६।१।१) में एकाच् ग्रहण होने पर भी यङ्लुक् में द्वित्व होता है। यदि द्वित्व न हो तो गुणो यङ्लुकोः (७।४।८२) से यङ् तथा यङ्लुक् परे रहते अभ्यास को गुण-विधान अनर्थक हो जाय। **सनाद्यन्ता धातवः**(३।१।३२)—यहाँ गणनिर्देश-पूर्वक धातुसंज्ञा का विधान होने से यङ्लुक् में 'बोभू' की धातुसंज्ञा नहीं प्राप्त होती। अथवा इस का भाष्यकृत प्रत्याख्यान होने पर **भूवादयो धातवः** (१।३।१) —यहाँ गणनिर्देशपूर्वक धातुसंज्ञा-विधान होने से 'बोभू' की धातुसंज्ञा नहीं बनती। तथा **एकाचो बशो भष्**—(८।२।३७) यहाँ एकाच्-ग्रहणपूर्वक भष्-भाव विधान होने से यङ्लुगन्त **अजर्घाः** (अ+गृध्—यङ्लुक्—लङ्—सिप्)

में भष्भाव (ग् को घ्) नहीं होना चाहिए। धातुसंज्ञादि कार्य होता है, कारण कि प्रकृत परिभाषा के अनित्य होने से निषेध नहीं होता। कैयट **'यत्रैकाज्ग्रहणं किञ्चित्'**—इस प्रकार कारिका को पढ़ता है जिस का अभिप्राय यह है कि कुछ ही कार्यों का निषेध होता है, सभी का नहीं।

एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् (७।२।१०) में एकाच्-ग्रहण द्वारा एकाच्-ग्रहण के विषय में इस परिभाषा का ज्ञापन होता है। एकदेश की अनुमति द्वारा सकल परिभाषा का ज्ञापन माना जाता है। ज्ञापन इस तरह होता है—उपदेशावस्था में जो धातुएँ एकाच् हैं उनसे वलादि आर्धधातुक को इट् न हो ऐसा कहा है। पर उपदेशावस्था में जो अनेकाच् हैं वे उदात्त ही होती हैं। उन से परे 'उपदेशेऽनुदात्तात्' कहने से ही इट् का निषेध होगा ही नहीं, तो एकाच्-ग्रहण किस लिये किया? एकाच्-ग्रहण की यही चरितार्थता है कि यह ज्ञापित करे कि एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् की प्रवृत्ति यङ्लुक् में नहीं होती है। वेभिद्, चेच्छिद् उपदेशावस्था में अनुदात्त एकाच् हैं। **द्विष्प्रयोगो द्वित्वं षाष्ठम्,** षष्ठाध्याय-विहित द्वित्व धातु का दो बार उच्चारणमात्र है, इससे धातु अन्य नहीं हो जाती, पर द्वित्व से अनेकाच्त्व अवश्य सम्पन्न हो जाता है। यदि यहाँ भी एकाच उपदेशे—प्रवृत्त होकर इट् का निषेध करे तो एकाच्ग्रहण का कोई प्रयोजन नहीं।

यह परिभाषा भी भाष्य में अनुपलब्ध होने से अप्रामाणिक है। सूत्र में एकाच्-ग्रहण हन् के आदेश अदन्त (अनेकाच्) 'वध' को इट् निषेध न हो इसलिये आवश्यक है। अतः सार्थक होने से परिभाषा का ज्ञापक नहीं हो सकता। यदि कहो 'वध' का स्थानी 'हन्' उपदेश में एकाच् ही है, इस से आदेश को भी स्थानिवत् एकाच् समझ लिया जाय, स्थानी और आदेश का एकत्वाध्यवसाय होने से, अतः इसके लिये एकाच्-ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं, तो हमारा उत्तर है कि साक्षात् उपदेश में एकाच्त्व के संभव होने पर स्थानी के उपदेश का ग्रहण नहीं होता, और उपदेश मात्र (जो भी उपदेश हो) में 'एकाच्' ऐसा सूत्रार्थ है। अतः **'वध' की व्यावृत्ति के लिये ही एकाच्-ग्रहण किया है।** इतना ही नहीं। उत्तर सूत्रों में अनुवृत्ति के लिए भी इस सूत्र में एकाच्-ग्रहण आवश्यक है। **श्र्युकः किति** (७।२।११) में उपदेश एकाच् की अनुवृत्ति होने से उपदेश में उगन्त होने पर भी 'जागृ' के उपदेश में अनेकाच् होने से इट् निषेध नहीं होता—जागरितः। जागरितवान्। इस सूत्र में 'उपदेश' की अनुवृत्ति 'स्तीर्ण' आदि में इट् निषेध के लिये है, यह भाष्य में स्पष्ट

है। 'स्तृ' उपदेश में उगन्त है, पश्चात् इत्व, रपरत्व, दीर्घत्व होकर 'स्तीर्' रूप हो जाता है। औपदेशिक उगन्तत्व को लेकर इट् निषेध होता है।

अब यहाँ कहा जा सकता है कि भाष्य में बेभिदिता (बेभिद्य+तास्+डा) इस यङन्त रूप में यङ् का **'यस्य हलः'** (६।४।४९) से लोप होने पर इट् की प्रवृत्ति की उपपादना के लिये 'एकाचः—' सूत्र का ऐसा अर्थ किया है—'जो अङ्ग उपदेश में अनुदात्त हो और श्रूयमाण रूप में एकाच् हो उस से वलादि आर्धधातुक प्रत्यय परे इट् का निषेध होता है' और इस अर्थ में आपत्ति दिखाते हुए कहा है—इस अर्थ को स्वीकार करने पर **बिभित्सति** (भिद्+सन्+ति)—यहाँ **सनीट् प्रतिषेधो वक्तव्यः**। सन् को इट् का निषेध कहना होगा, कारण कि भिद् उपदेश में अनुदात्त है पर श्रूयमाण-रूप में अनेकाच् है, एकाच् नहीं। इस से इट् प्राप्त होता है। पर ऐसी आपत्ति यङ्लुक् विषय में नहीं दिखाई। **'यङ्लुकि इट् प्रतिषेधो वाच्यः'** ऐसा नहीं कहा। वहां भी भिद् छिद् धातुएँ उपदेश में अनुदात्त हैं और श्रवण में अनेकाच् (बेभिद्, चेच्छिद्)। इस से हम जानते हैं कि यङ्लुक् परे भाष्यकार को बेभिद् चेच्छिद् आदि यङ्लुगन्त धातुओं से परे आर्धधातुक प्रत्यय को इट् आगम इष्ट है। चूंकि सिद्धान्त-भूत अर्थ में श्तिपा शपा—इस निषेध के बिना इट् अनुपपन्न रहता है और चूंकि इस इट् को भाष्यकार ने किसी उपाय से उपपादित नहीं किया है, इससे हम जानते हैं कि प्रकृत परिभाषा से किया होगा। इस कल्पना के विषय में हमें इतना कहना है कि जिस प्रकार ऊपर दिये हुए भाष्य-ग्रन्थ का उपक्रम तथा उपसंहार हुआ है उससे हम जानते हैं कि इसका यङ्-लुक् विषय नहीं। यहाँ लोप से उपक्रम किया है और लोप होने पर **अतो लोपः** के स्थानिवद्भाव से उपसंहार किया है। यदि इस भाष्य-ग्रन्थ का विषय यङ्लुक् भी हो तो जैसे उपरि-निर्दिष्ट सूत्रार्थ को न मानने पर भी (सिद्धान्त-भूत अर्थ को स्वीकार करके) यङन्त बेभिदिता (बेभिद्य इ+तास्+डा) **यस्य हलः** (६।४।४९) से 'य्'—लोप होकर **अतो लोपः** (६।४।४८) से 'अ' का लोप होकर, उसे स्थानिवद्भाव से विद्यमान मानने से धातु और प्रत्यय के बीच में 'अ' के व्यवधायक होने से निषेध के रुक जाने से इट् की प्रवृत्ति को उपपन्न किया है, वैसे उक्त व्याख्यान को न मानने पर (सिद्धान्तभूत अर्थ को स्वीकार करके) यङ्लुगन्त में इट् की प्रवृत्ति के लिये ऐसा कोई उपाय नहीं दिखाया है। इस में भाष्य-ग्रन्थ की न्यूनता कहनी पड़ेगी। दोष का कथन इसलिये नहीं किया है कि लोक में इड्विषयक यङ्लुगन्त रूपों का प्रयोग

नहीं है और इसलिये भी कि वेद में सब विधियां वैकल्पिक हैं। प्रकृत परिभाषा को अनङ्गीकार करते हुए भी यङ्लुक् में प्रसक्त दोष का कथन न करना कोई दोष नहीं।

यदि भाष्यकार इस परिभाषा के एकदेश को मानते हों अर्थात् यह स्वीकार करते हों कि सूत्र में एकाच्-ग्रहण यङ्लुक् में इट् -निषेध की व्यावृत्ति के लिये है, तो उन का यह प्रश्न करना—**एकाज्ग्रहणं किमर्थम्** (एकाच् ग्रहण का क्या फल है), तथा उसका यह उत्तर देना—**उत्तरत्र जागर्त्यर्थम्, इह वध्यर्थम्** अगले सूत्र श्र्युकः किति में 'जागृ' के लिये और इसी सूत्र में हन् के अदन्त अनेकाच् वध आदेश के लिये—दोनों निर्बीज हो जाते हैं।

अब यदि कोई यह कहे कि **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** सूत्र में आर्धधातुक प्रत्यय को इट् का निषेध कहा है। प्रत्यय (आर्धधातुक) प्रकृति (धातु) का आक्षेपक (अनुमापक) होता है ऐसा होने पर आक्षिप्त धातु का सूत्र में पढ़ा हुआ 'एकाच्' विशेषण हो जायगा। 'विभित्सति' आदि में अभ्यास के उत्तरखण्ड 'भिद्' की ही धातुता होती है, जैसे 'अस्' के द्विर्वचन होने पर उत्तरखण्ड 'अस्' ही धातु है, (यह हम **दयतेर्दिगि लिटि** (७।४।९) के भाष्य से जानते हैं), तो 'विभित्सति' में इट्-निषेध सूत्र से ही सिद्ध है, अतः प्रकृत भाष्य असंगत होकर (एकदेशी की उक्ति होने से) उक्तार्थ का साधक नहीं, तो हम कहेंगे कि यह विचारासह है, कारण कि **इस में कोई साधक युक्ति नहीं कि आर्धधातुक प्रत्यय अवश्य ही धातु का आक्षेप कराये और आक्षिप्त धातु का उक्तलक्षण अन्वय हो**। और यह कहना भी ठीक न होगा कि इस सूत्र के अङ्गाधिकारीय होने से 'एकाच्' अङ्ग का विशेषण हो जायगा, तो भी इसी सूत्र से इट्-निषेध हो जायगा। कारण कि अङ्गत्व 'बिभिद्' में है केवल 'भिद्' में नहीं। यह **एकाचो द्वे प्रथमस्य** (६।१।१) के भाष्य में स्पष्ट है। और नागेशभट्ट ने इसे तनादि गण के अन्त में स्पष्ट किया है।

द्विर्वचन होने पर उत्तर खण्ड ही धातु माना जाता है (पूर्व खण्ड अभ्यास अनर्थक माना जाता है)। यही कारण है कि भाष्यकार **एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः** (८।२।३७) सूत्र में **धातोरवयवस्यैकाचः** (धातु के अवयव-भूत एकाच्)—ऐसा वैयधिकरण्य से अन्वय (अनुवृत्त 'धातोः' इस षष्ठी को अवयवार्थ में षष्ठी मानकर 'एकाच्' के साथ अन्वय) का प्रयोजन **'गर्धप्'** (गर्दभ इवाचरति, 'गर्दभ' से आचारार्थ में 'क्विप्) शब्द की सिद्धि बताते हैं, प्रसिद्धतर **'अजर्घाः'** की सिद्धि नहीं (इससे स्पष्ट ही भाष्यकार 'अजर्घाः' में उत्तरखण्ड

को धातु मान रहे हैं, धातु का अवयव नहीं)। समुदाय का धातुत्व मानते तो अवश्य 'अजर्घाः' की सिद्धि बताते।

उत्तरखण्ड में ही धातुत्व मानने पर **बेभिदीति अजर्घाः** आदि यङ्लुगन्त रूपों में श्नम्, श्यन् आदि विकरण क्यों नहीं होते ? इसलिये कि 'चर्करीतं च' ऐसा अदादिगण में पाठ है जिसका अर्थ है—चर्करीत (पूर्वाचार्यकृत यङ्लुक् की संज्ञा) अर्थात् चर्करीतान्त=यङ्लुगन्त धातुओं के साथ अदादिगणीय धातुओं जैसा व्यवहार होता है। अतः गणान्तरप्रयुक्त विकरण की यहाँ प्राप्ति नहीं है। प्रकृत परिभाषा के विषयभूत कार्यान्तर भी जो मूलभूत धातु को प्राप्त होते हैं पर जो वेद में देखे गये प्रयोगों में नहीं देखे जाते हैं, वे इसलिये नहीं होते कि वे प्रयोग वस्तुतः वेदमात्र-गोचर हैं, लौकिक नहीं हैं।

पर ऐसा मानने पर श्तिप्, शप् आदि निर्देश व्यर्थ हो जाते हैं, इस का क्या समाधान है ? श्तिप् और शप् से जो धातु का निर्देश किया है वह साधुत्व प्रदर्शन द्वारा अदृष्टार्थक है, जैसे **भवतेरः** (७।४।७३)। यह सूत्र लिट् को निमित्त मानकर 'भू' के अभ्यास 'ऊ' को 'अ' विधान करता है। लिट् का आम् प्रत्यय के कारण लुक् हो जाने से यङ्लुक् में इस सूत्र की प्राप्ति ही नहीं।

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि **रधिजभोरचि** (७।१।६१) तथा **नेट्यलिटि रधेः** (७।१।६२)—इन दो सूत्रों को **जभोऽचि, रधेश्च, नेट्यलिटि** इस प्रकार योग विभाग करके तीन सूत्रों के रूप में क्यों न पढ़ा जाय। इससे 'रध्' को दो बार ग्रहण नहीं करना पड़ेगा। इस का उत्तर पढ़ते हैं—

पदगौरवाद्योगविभागो गरीयान्। (१३१)

अर्थ—पद-कृत-गौरव (गुरुतर=अधिक संख्याक अथवा दीर्घतर पदों के कारण जायमान गौरव) की अपेक्षा योगविभाग (सूत्र को सूत्रों में विभक्त करके पढ़ना) गुरुतर है। **पदों की अधिकता से प्रतिपत्ति-गौरव होता है,** वाक्यार्थ-बोध में अधिक बुद्धि-व्यायाम होता है, और अधिककाल की अपेक्षा होती है पर एकवाक्य की अपेक्षा दो वा तीन भिन्न वाक्यों के अर्थावबोध में उससे अधिक प्रतिपत्ति-गौरव होता है। पर यह परिभाषा भाष्यकार को संमत नहीं है। **टाङसिङसामिनात्स्याः** (७।१।१२) सूत्रभाष्य के विरुद्ध भी है। वहाँ सूत्रस्थ 'इन' आदेश के इकार का प्रत्याख्यान योगविभाग से किया है॥१३१॥

सीरदेवीय—सीरदेव इस परिभाषा को इस रूप से पढ़ता है—**प्रतिपद-विधानाद्योगविभागो गरीयान्** और ऐसा व्याख्यान करता है—अतः **जभोचि रधेश्च, नेट्यलिटि**—योगविभागलब्ध इस त्रिसूत्री से इष्टसिद्धि होने से आचार्य

का दो सूत्रों में दो बार रध् का पढ़ना युक्तियुक्त नहीं, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, कारण कि योग-विभाग गुरुतर होता है। एक योग में पदगौरव होने पर भी एकबार ही वाक्यार्थ बोध होता है, पर योगविभाग होने पर प्रत्येक योग में भिन्नवाक्यार्थ का बोध होता है—यह स्पष्ट ही प्रतिपत्ति-गौरव है ॥१३१॥

अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः। (१३२)

अर्थ—अर्धमात्रा के लाघव से भी (सूत्रादिन्यास में आधी मात्रा कम करने से भी) वैयाकरण ऐसे प्रसन्न होते हैं जैसे पुत्र के जन्म पर।

परिभाषा में **'अर्धमात्रा लाघवेन'**—यह हेतु में तृतीया समझनी चाहिये, अथवा प्रकृत्यादित्वात् तृतीया जाननी चाहिये। यह परिभाषा एओङ्, ऐ औच् —सूत्रों के भाष्य में ध्वनित की गई है। वहाँ कहा है—अर्ध एकार अथवा अर्ध ओकार नहीं होता। यदि हों तो उन्हें ही लाघव की दृष्टि से पढ़े। (ऐसा पढ़ने से अर्धमात्रा का लाघव हो जायगा)। **अनेक-पद-घटित सूत्र में प्रायः पदलाघव का विचार होता है** (यह विचार किया जाता है कि सूत्र में श्रूयमाण अनेक पदों में से किसी पद को कम किया जा सकता है, अथवा नहीं), मात्रा-लाघव-विचार नहीं होता। इस का **ऊकालोज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः** (१।२।२७), **अपृक्त एकाल् प्रत्ययः** (१।२।४१) इत्यादि सूत्रों के भाष्य में संकेत मिलता है। वहाँ यह कहा है कि यदि हम (१।२।४१) सूत्र में अल् के स्थान में 'हल्' पढ़ते हैं तो इस सूत्र में हल्ग्रहण एकपद होगा तथा **ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः** (२।४।५८) में अण् व इञ् पढ़ने पड़ेंगे, अर्थात् तीन पद पढ़ने होंगे। यदि यथाश्रुत 'अल्' पढ़ते हैं, तो एक अल्ग्रहण एतत्सूत्रस्थ होगा, **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्** (६।१।६८) में हल्-ग्रहण करना पड़ेगा, (२।४।५८) सूत्र में अण् इञोः यह नहीं कहना होगा, पर इन के स्थान में 'अपृक्त' का ग्रहण करना होगा। इस प्रकार दोनों पक्षों में तीन पदों को पढ़ना पड़ता है, इसमें कुछ भी लाघव नहीं। पर कहीं-कहीं मात्रालाघव का भी विचार होता है —**अचि श्नुधातु भ्रुवां य्वोरियङुवङौ** (६।४।७७) सूत्र के विषय में विचार किया है—य्वोः (इ+उ+ओस्)—इस न्यास में (स्वरों की निवृत्ति यण् द्वारा हुई है) साढ़ी तीन मात्राएं हैं, यदि इस के स्थान में 'इणः' पढ़ते तो तीन मात्राएं होतीं, आधी मात्रा का लाघव होता है, फिर ऐसा न्यास क्यों नहीं किया ? इसलिये कि आचार्य यह बताना चाहते हैं कि सभी इण्-ग्रहण इस

शास्त्र में परे के णकार तक होते हैं। ऐसा लण् सूत्र के भाष्य में कहा है। **ओतः श्यनि** (७।३।७१) के भाष्यप्रदीप में कैयट का कहना है कि यदि 'श्यनि' के स्थान में 'शिति' पढ़ते तो न केवल मात्रालाघव होता (श्यनि में साढ़ी तीन मात्राएँ हैं, शिति में तीन), पदलाघव भी होता। **ष्ठिवुक्लमुचमां शिति** (७।३। ७५) में 'शिति' पढ़ना अनावश्यक होता ॥१३२॥

इति परिभाषाप्रकरणं परिनिष्ठितम् ॥

अनुबन्धः (१)

परिभाषेन्दुशेखरः

(मूलम्)

नत्वा साम्बं शिवं ब्रह्म नागेशः कुरुते सुधीः ।
बालानां सुखबोधाय परिभाषेन्दुशेखरम् ॥

प्राचीनवैयाकरणतन्त्रे वाचनिकान्यत्र पाणिनीयतन्त्रे ज्ञापकन्यायसिद्धानि भाष्यवार्तिकयोरुपनिबद्धानि यानि परिभाषारूपाणि तानि व्याख्यायन्ते ।

अथ शास्त्रत्वसम्पादनोद्देशनामकं प्रथमं प्रकरणम् ।

ननु लण्अइउण् सूत्रयोर्णकारद्वयस्यैवोपादानेनाणिण्ग्रहणेषु सन्देहादनिर्णयोऽत आह—

व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम् ॥१॥

विशेषस्यान्यतराद्यर्थरूपस्य व्याख्यानाच्छिष्टकृतात् प्रतिपत्तिर्निश्चयो यतः सन्देहाच्छास्त्रमलक्षणमननुष्ठापकं न, शास्त्रस्य निर्णयजनकत्वौचित्यादित्यर्थः । असन्दिग्धानुष्ठानसिद्ध्यर्थेऽत्र शास्त्रे सन्दिग्धोच्चारणरूपाचार्यव्यवहारेण सन्देहनिवृत्तेर्व्याख्यानातिरिक्तनिमित्तानपेक्षत्वं बोध्यत इति यावत् ।

तेनाणुदित्सवर्णस्येत्येतत्परिहाय पूर्वेणाण्-ग्रहणम्, परेणेण्-ग्रहणमिति लण्सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ॥१॥

तत्र संज्ञापरिभाषाविषये पक्षद्वयमित्याह—

यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम् ॥२॥
कार्यकालं संज्ञापरिभाषम् ॥३॥

उद्देशमनतिक्रम्य यथोद्देशम् । उद्देश उपदेशदेशः । अधिकरणसाधनश्चायम् । यत्र देशे उपदिश्यते तद्देश एव वाक्यार्थबोधेन गृहीतशक्त्या गृहीतपरिभाषार्थेन च सर्वत्र शास्त्रे व्यवहारः । देशश्चोच्चारणकाल एवात्र शास्त्रे व्यवह्रियते ।

तत्तद्वाक्यार्थबोधे जाते भविष्यति किञ्चिदनेन प्रयोनजनमिति ज्ञानमात्रेण सन्तुष्यद्यथाश्रुतग्राहिप्रतिपत्त्रपेक्षोऽयं पक्ष इतीदूत्सूत्रे कैयटः ।

केचित्तु—परिभाषाविषये तस्मिन्नित्यादिवाक्यार्थबोधे सप्तमीनिर्देशादि क्वेति पर्य्यालोचनायां सकलतत्तद्विध्युपस्थितौ सकलतत्तत्संस्काराय गुणभेदं परिकल्प्यैकवाक्यतयैव नियमः । कार्य्यकालपक्षे तु त्रिपाद्यामप्युपस्थितिरिति विशेषः । एतदेवाभिप्रेत्य **'अधिकारो नाम त्रिप्रकारः कश्चिदेकदेशस्थः सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति, यथा—प्रदीपः सुप्रज्वलितः सर्वं वेश्माभिज्वलयति'** इति 'षष्ठी स्थाने' इति सूत्रे भाष्य उक्तम् । अधिकारशब्देन पारार्थ्यात्परिभाषाप्युच्यते । कश्चित्परिभाषारूप इति कैयटः । दीपो यथा प्रभाद्वारा सर्वगृहप्रकाशक एवमेतत्स्वबुद्धिजननद्वारा सर्वशास्त्रोपकारकमिति तत्तात्पर्यम् । एतच्च पक्षद्वयसाधारणं भाष्यम्, पक्षद्वयेऽपि प्रदेशैकवाक्यताया इतः प्रतीतेः ।

तत्रैतावान्विशेषः—यथोद्देशे परिभाषादेशे सर्वविधिसूत्रबुद्धावात्मभेदं परिकल्प्य तैरेकवाक्यता परिभाषाणाम् । तदुक्तम्—**'क्ङिति चे'ति सूत्रे कैयटे—'यथोद्देशे प्रधानान्यात्मसंस्काराय सन्निधीयमानानि गुणभेदं प्रयुञ्जत** इति ।

कार्यकाले तु—**तत्तद्विधिप्रदेशे परिभाषाबुद्ध्यैकवाक्यते**ति । अत्रैकदेशस्थ इत्यनेन तत्र तत्र तद्बुद्धावपि तत्तद्देशस्थत्वं वारयति, यथा व्यवहर्तॄणां कार्यार्थमनेकदेशगमनेपि न तत्तद्देशीयत्वव्यवहारः, किन्त्वभिजनदेशीयत्वव्यवहार एव, तद्वन्निषेधवाक्यानामपि निषेध्यविशेषाकाङ्क्षत्वाद्विध्येकवाक्यतयैवान्वय इति परिभाषासादृश्यात् परिभाषात्वेन व्यवहारः 'क्ङिति चे'त्यत्र भाष्ये । तत्रैकवाक्यता पर्युदासन्यायेन, प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि तेन सह वाक्यार्थबोधमात्रेणैकवाक्यताव्यवहारः ।

संज्ञाशास्त्रस्य तु कार्यकालपक्षे न पृथग् वाक्यार्थबोधः किन्तु प्रदेशवाक्येन सहैव । अत एव'वाणोऽप्रगृह्यस्ये'त्येतदेकवाक्यताप 'न्नादसो मादि' त्येतत्प्रति न मुत्वाद्यसिद्धम्, असिद्धत्वस्य कार्यार्थितया कार्यज्ञानोत्तरमेव प्रवृत्तिः, कार्यज्ञानं च प्रदेशदेश एवेति तद्देस्थस्यासिद्धत्वात्पूर्वग्रहणेनाग्रहणात्' । एवं तद्बोधोत्तरमेव विरोधप्रतिसन्धानं चेति तत्रत्यपरत्वमेव विप्रतिषेधसूत्रप्रवृत्तौ बीजम् । अत एव कार्यकालपक्षेऽ'यादिभ्यः परैव प्रगृह्यसंज्ञे 'त्यदसो मादि'ति सूत्रे भाष्य उक्तम् ।

आकडाराधिकारस्थभपदसंज्ञादिविषये तुयथोद्देशपक्ष एवेति तत्रत्यपरत्वेनैव बाध्यबाधकभावः । पदादिसंज्ञानां तत्र जातशक्तिग्रहेणैव त्रिपाद्यामपि व्यवहारः । अत एव पूर्वत्रासिद्धमिति सूत्रे परिभाषाणामेव त्रिपाद्यामप्रवृत्तिमाशङ्क्य,

कार्यकालपक्षाश्रयेण समाहितमित्याहुः । यथोद्देशपक्षः प्रगृह्यसंज्ञाप्रकरणे भाष्ये ॥२॥

कार्यकालमित्यस्य च कार्येण काल्यते=स्वसन्निधिं प्राप्यत इत्यर्थः । कार्येण स्वसंस्काराय स्ववृत्तिलिङ्गचिह्नितपरिभाषाणामाक्षेप इति यावत् ।

अत एव 'पूर्वत्रासिद्धमि'ति सूत्रे भाष्ये त्रिपाद्या असिद्धत्वात्तत्र सपादसप्ताध्ययायीस्थपरिभाषाणामप्रवृत्तिमाशङ्क्य, यद्यपीदं तत्रासिद्धं तत्त्विह सिद्धमित्युक्त्वा, तावताप्यसिद्धिरित्यभिप्रायके कथमिति प्रश्ने, 'कार्यकालं संज्ञापरिभाषं यत्र कार्यं तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यमि'त्युक्तम् ।

न च कार्यकालपक्षे **'ङमो ह्रस्वादि'** त्यादौ **'तस्मादित्युत्तरस्य' 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्ये'** ति परिभाषाद्वयोपस्थितौ **'परत्वादुभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयानि'** ति तस्मिन्नितिसूत्रस्थभाष्यासङ्गतिः' उभयोरेकदेशस्थत्वेन परत्वादित्यस्यासङ्गत्यापत्तेः । स्पष्टं चेद **'मिको गुणे'** त्यत्र कैयट इति वाच्यम्, विप्रतिषेधसूत्रेऽष्टाध्यायीपाठकृतपरत्वस्याश्रयणेनादोषात् । नहि कार्यकालपक्ष इत्येतावता तदपैति । पक्षद्वयेऽपि प्रदेशेषु स्वबुद्धिजननेनाविशेषात् । न हि तत्पक्षेऽप्यचेतनस्य शास्त्रस्य स्वदेशं विहाय तद्देशगमनं सम्भवति । नाप्यस्मदादिबुद्धिजननेन स्वदेशत्यागो भवति । अत एव भाष्ये एकदेशस्थस्यैव सर्वशास्त्राभिज्वालकत्वमुक्तम् । अतएव तस्मिन्निति सूत्रे कैयटः—सूत्रपाठापक्षेया परत्वस्य व्यवस्थापकत्वमिति । **'इको गुणे'**ति—सूत्रस्थकैयटस्तु चिन्त्य एव, अन्यथा सर्वशास्त्राणां प्रयोगार्थत्वेन प्रयोगरूपैकदेशस्थत्वेन क्वापि परत्वं न स्यात् । किञ्च **'क्ङिति चे'** ति सूत्रस्थकैयटरीत्या विधिसूत्राणां यथोद्देशपक्षे परिभाषादेशे सन्निधानेन तेषां परत्वं व्याहन्येत । एवञ्च वृक्षेभ्य इत्यत्र **'सुपि चे'** त्यतः परत्वात् **'बहुवचने झल्येदि'** त्येत्त्वमित्याद्युच्छिद्येत, इत्यलम् ॥३॥

इत्संज्ञका अनुबन्धास्तेष्ववयवानवयवत्वसन्देह आह—

अनेकान्ता अनुबन्धा इति ॥४॥

अनेकान्ता अनवयवा इत्यर्थः । यो ह्यवयवः स कदाचित्तत्रोपलभ्यत एव, अयं तु न तथा तदर्थभूतेऽभिधेये कदाप्यदर्शनात् । 'शित्किदि' त्यादौ समीपेऽवयवत्वारोपेण समासो बोध्यः । **'वुञ्छण्कठे'** त्यादौ णित्त्वप्रयुक्तं कार्यं पूर्वस्यैवेत्यादि तु व्याख्यानतो निर्णेयम् । 'हलन्त्यमि' त्यत्रान्त्यशब्दः परसमीपबोधकः ॥४॥

वस्तुतस्तु—

एकान्ताः ॥५॥

इत्येव न्याय्यम्। शास्त्रे तत्रोपलम्भादन्यत्रानुपलम्भाच्च। अनवयवो हि काकादिरेकजातीयसम्बन्धेन गृहवृक्षादिषु उपलभ्यते, नैवमयम्। एवं हि बहुव्रीहिरपि न्यायत एवोपपन्नः, अन्त्यादि शब्दे लक्षणा च न।

किञ्चानवयवत्वे णशकप्रत्ययादौ णादेरित्त्वानापत्तिः प्रत्ययादित्वाभावात्, दध्नचश्चकारस्य वैयर्थ्यापत्तिश्च। इदञ्च **'तस्य लोपः'** इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम्। तत्र ह्युक्तम्—**'एकान्ता अनुबन्धा इत्येव न्याय्यमि'** ति दिक् ॥५॥

नन्वेकान्तत्वेऽनेकाल्त्वादेव आंशादीनां सर्वादेशत्वसिद्धचा **'ऽनेकाल्'** सूत्रे शिद्ग्रहणं व्यर्थमत आह—

नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम् ॥६॥

शिद्ग्रहणमेवैतज्ज्ञापकं, तेनार्वणस्तृ इत्यादेर्न सर्वादेशत्वम्।

डादिविषये तु सर्वादेशत्वं विनाऽनुबन्धत्वस्यैवाभावेनानुपूर्व्यात्सिद्धम् ॥६॥

नन्वेवम 'प्यवदातं मुखमि' त्यत्र पलोपोत्तरमात्त्वे कृतेऽदाबिति घुसंज्ञाप्रतिषेधो न स्याद्, दैपः पकारसत्त्वेऽनेजन्तत्वाप्राप्त्या पलोपोत्तरं पकाराभावेनास्य दाप्त्वाभावादत आह—

नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम् ॥७॥

'उदीचामाङ' इति निर्देशोऽस्या ज्ञापकः। **'आदेच उपदेश'** इति सूत्रेणोपदिश्यमानस्यैजन्तस्यात्वं क्रियते, ङकारसत्त्वे त्वेजन्तत्वाभावादात्वाप्राप्तेस्तस्यासङ्गतिः।

न चास्यामवस्थायां तस्य धातुत्वाभावात्कथमात्वम्, तत्र धातोरि' त्यस्य निवृत्तेरित्यन्यत्र विस्तरः। स्पष्टञ्चेदं **दाधा घ्वदाबि'** ति सूत्रे भाष्ये ॥७॥

नन्वेवमपि 'वाऽसरूप' सूत्रेण कविषयेऽणोऽप्यापत्तिरित्यत आह—

नानुबन्धकृतमसारूप्यम् ॥८॥

'ददातिदधात्योर्विभाषा' इति णबाधकशस्य विकल्पविधायकमस्या ज्ञापकम्। तेन 'गोद' इत्यादौ नाणिति**'वाऽसरूप'** सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ॥८॥

ननु संख्याग्रहणे बह्वादीनामेव ग्रहणं स्यात्, प्रकरणस्याभिधानियामकत्वसिद्धात् **'कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्यय'** इति न्यायात्। अस्ति च प्रकृते बह्वादीनां संख्यासंज्ञा कृतेति ज्ञानरूपं प्रकरणम्, न तु लोकप्रसिद्धैकद्वचादीनामित्यत आह—

उभयगतिरिह भवति ॥९॥

इह=शास्त्रे। **'संख्याया अतिशदन्तायाः'** इति निषेधोऽस्या ज्ञापक। न हि कृत्रिमा संख्या त्यन्ता शदन्ता चाऽस्ति, तेन **'कर्तरि कर्मव्यतिहारे'** **'कण्वमेघे-**

भ्य करणे' 'विप्रतिषिद्धं चानधिकरणे'त्यादौ लौकिकक्रियाद्रव्याद्यवगतिः। तत्र क्वोभयगतिः, क्वाकृत्रिमस्यैव, क्व कृत्रिमस्यैवेत्यत्र लक्ष्यानुसारिव्याख्यानमेव शरणम्। अत एवाम्रेडितशब्देन कृत्रिमस्यैव ग्रहणं, न तु द्विस्त्रिर्घुष्टमात्रस्य। स्पष्टञ्चेदं संख्यासंज्ञासूत्रे भाष्ये।

यत्तु—संज्ञाशास्त्राणां मच्छास्त्रेऽनेन शब्देनैत एवेति नियमार्थत्वं 'कृत्रिमाकृत्रिम' न्यायबीजमिति। तन्न:। तेषामगृहीतशक्तिग्राहकत्वेन विधित्वे सम्भवति, नियमत्वायोगात्। 'सर्वे सर्वार्थवाचका' इत्यभ्युपगमोऽपि योगिदृष्ट्या, न त्वस्मद्दृष्ट्या, विशिष्य सर्वशब्दार्थज्ञानस्याशक्यत्वात्। सामान्यज्ञानन्तु न बोधोपयोगीत्यन्यत्र निरूपितम् ॥९॥

न 'न्वध्येता शयिते'त्यादाविङ्शीङोर्ङित्वाद् गुणनिषेधः स्यादत आह—

कार्यमनुभवन् हि कार्यो निमित्ततया नाऽऽश्रीयते ॥१०॥

'स्थण्डिलाच्छयितरी' ति निर्देशश्चास्या ज्ञापकः। 'ऊर्णुनविषती' त्यादिसिद्ध्यै कार्यमनुभवन्निति। अत्र हि 'द्विर्वचनेऽची' ति नुशब्दस्य द्वित्वम्। अन्यथा 'सन्यङोरि' त्यस्य षष्ठ्यन्तत्वात्सन्नन्तस्य कार्यित्वेनेसो द्वित्वनिमित्तत्वाभावात्तत्प्रवृत्तिर्न स्यात्।

वस्तुतः—समवायिकारणनिमित्तकारणयोर्भेदस्य सकललोकतन्त्रप्रसिद्धतया तस्य तत्त्वेनाश्रयणाभावेन नैषा ज्ञापकसाध्या। अत एव हिः प्रयुक्तः। स हि तत्त्वेनानाश्रयणे हेतोः प्रसिद्धत्वं द्योतयतीति तत्त्वम्। 'द्विर्वचनेऽची' त्यत्र भाष्ये ध्वनितैषा ॥१०॥

ननु 'प्रणिदापयती'त्यादौ दारूपस्य विधीयमाना घुसंज्ञा दापेर्न स्यादत आह—

यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते ॥११॥

यमुद्दिश्यागमो विहितः स तद्गुणीभूतः शास्त्रेण तदवयवत्वेन बोधितोऽतस्तद्ग्रहणेन तद्ग्राहकेण तद्बोधकेन शब्देन गृह्यते बोध्यत इत्यर्थः। तत्र तद्गुणीभूता इत्यंशो बीजकथनम्। लोकेऽपि देवदत्तस्याङ्गाधिक्ये तद्विशिष्टस्यैव देवदत्तग्रहणेन ग्रहणं दृश्यते।

यमुद्दिश्य विहित इत्युक्तेः 'प्रनिदारयती' त्यादौ न दारित्यस्य घुत्वम्।

'आने मुक्' इति मुग्विधानसामर्थ्यादिषाऽनित्या, अन्यथा 'पचमान' इत्यादावकारस्य मुक्यनया परिभाषया विशिष्टस्य सवर्णदीर्घे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव, तेन 'दिदीय' इत्यादौ यणादि न, 'जहारे' त्यादा 'वात औ णल' इति च न।

न चाकारादेर्वर्णस्य वर्णान्तरमवयवः कथमिति वाच्यम्, वचनेनावयवत्व-बोधनात्। तस्य चावयवत्वसादृश्ये पर्यवसानं बोध्यम्।

न चोक्तज्ञापकाद्वर्णग्रहणेऽस्या अप्रवृत्तिरिति वाच्यम्। **'आने मुक्'** इति सूत्रभाष्येऽकारस्याङ्गावयवस्य मुगित्यर्थे 'पचमान' इत्यत्र **'तास्यनुदात्तेत्'** इति स्वरो न स्यादित्याशङ्क्याऽ**ऽदुपदेशभक्तस्तद्ग्रहणेन ग्राहिष्यत** इत्युक्तेरसङ्गत्या-पत्तेः।

किञ्च—ङमन्तपदावयवस्य ह्रस्वात्परस्य ङमो ङमुडित्यर्थे **'कुर्वन्नास्त'** इत्यादौ ङमो ङमुडागमे णत्वप्राप्तिमाशङ्क्य, 'यदागमा' इति न्यायेनाऽऽद्यनस्यापि पदान्तग्रहणेन ग्रहणात् 'पदान्तस्य' इति निषेध इत्यनया परिभाषया 'ऽऽगमाना-मागमिधर्मवैशिष्ट्यमपि बोध्यत' इत्याशयक 'ङमुट्' सूत्रस्थभाष्याङ्गतेः।

किञ्च—गुणादेरपरत्वे रेफविशिष्टे गुणत्वाद्येष्टव्यम्। अन्यथा ऋकारस्य गुणवृद्धी अरारावेवेति नियमो न स्यात्। तच्च 'वर्णग्रहण' एतदप्रवृत्तौ न सङ्गच्छते। अत एव **'रदाभ्यामि'** ति सूत्रे भाष्ये—**'गुणो भवति, वृद्धिर्भवति, रेफशिरा गुणवृद्धिसंज्ञकोऽभिनिर्वर्तत'** इति। अत एव **'नेटि'** **'णेरनिटि'** इत्यादि चरितार्थम्।

'अनागमकानां सागमका आदेशा' इत्यस्य त्वयमर्थः—आर्धधातुकस्येडागम इत्यर्थे ज्ञाते, नित्येषु शब्देष्वागमविधानानुपपत्त्याऽर्थापत्तिमूलकवाक्यान्तरकल्पने-नेड्रहितबुद्धिप्रसङ्गे सेड्बुद्धिः कर्तव्येति। एवञ्चादेशेष्विवात्रापि बुद्धिविपरिणाम इति न नित्यत्वहानिः।

स्थानिवत्सूत्रे च नेदृशादेशग्रहणं साक्षादष्टाध्यायीबोधितस्थान्यादेशभावे चारितार्थ्यात्। किञ्चैवं सति स्थानिबुद्ध्यैव कार्यप्रवृत्त्या **'निर्दिश्यमानस्ये'** ति परिभाषाया अप्राप्त्याडागमसहितस्य पिबाद्यादेशापत्त्या लावस्थायामेवाडिति भाष्योक्तसिद्धान्तासङ्गतिः। स्थानिवद्भावविषये 'निर्दिश्यमानस्ये' ति परि-भाषायाः प्रवृत्तौ 'तिसृणामि' त्यत्र परत्वात्तिस्रादेशे स्थानिवद्भावेन त्रयादेश-माशङ्क्य, **'सकृद्गति'** न्यायेन समाधानपरभाष्यासङ्गतिः।

'एरुरि' त्यादौ स्थानषष्ठीनिर्देशात्तदन्तपरतया पठितवाक्यस्यैव समुदाया-देशपरत्वेनाऽऽदेशग्रहणसामर्थ्यात्तस्य स्थानिवत्सूत्रे ग्रहणेन न दोषः। आनुमानिक-स्थान्यादेशभावकल्पनेऽपि श्रौतस्थान्यादेशभावस्य न त्याग इ**'त्यचः परस्मिन्'** इत्यादेर्नासङ्गतिः।

एतेन—'यदागमा' इति परिभाषा स्थानिवत्सूत्रेण गतार्थेत्यपास्तम्। एतत्सर्वं **'दाधा घ्वदाबि'** ति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्॥११॥

नन्वेव 'मुदस्थादि' त्यादा 'वुदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' इति पूर्वसवर्णापत्तिरत आह—

निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति ।।१२।।

'षष्ठी स्थानेयोगे' ति सूत्रमावर्तते । तत्र द्वितीयस्यायमर्थः—षष्ठ्यन्तं निर्दिश्यमानमुच्चार्यमाणमुच्चार्यमाणसजातीयमेव निर्दिश्यमानावयवरूपमेव वा स्थानेन स्थाननिरूपितसम्बन्धेन युज्यते, न प्रतीयमानमित्यर्थस्तेनेदं सिद्धम् ।

न चास्य **'च्वावि'** त्यादौ दीर्घाणामादेशानापत्तिः, तेषां निर्दिश्यमानत्वाभावादिति वाच्यम् । जातिपक्षे दोषाभावात् । किञ्च—**'न भूसुधियोरि'** ति निषेधेन ग्रहणकशास्त्रगृहीतानां निर्दिश्यमानकार्यबोधनान्न दोषः । इयङुवङोर्ङित्त्वं त्विवर्णोवर्णान्तश्नुधातुभ्रुवामित्यर्थेन धात्वादीनामपि निर्दिष्टत्वादन्त्यादेशत्वाय । रीङ्रिङोर्ङित्त्वं तु स्पष्टार्थमेव ।

एतेनेदं ङित्त्वं वर्णग्रहणे 'निर्दिश्यमान' परिभाषाया अप्रवृत्तिज्ञापकमित्यपास्तम् । **'हयवरट्'** सूत्रस्थेन **"अयोगवाहानामुपदेशेऽलोऽन्त्यविधिः प्रयोजनम् । वृक्षस्तत्र । नैतदस्ति प्रयोजनम् । निर्दिश्यमानस्येत्येव सिद्धमि'** ति भाष्येण विरोधात् ।

अनया परिभाषया **'येन विधिरि'** ति सूत्रबोधिततदन्तस्य स्थानित्वाभावबोधनं, यदागमा इति लब्धस्य च । तेन 'सुपद, उदस्थादि' त्यादिसिद्धिः ।

अनया च स्वस्वनिमित्तसन्निधापितानां**'मलोऽन्त्यस्ये'** त्यादीनां समावेश एव, न बाध्यबाधकभावो, विरोधाभावात् । नाप्येतयोरङ्गाङ्गिभावः, उभयोरपि परार्थत्वेन तदयोगात् । **'अनेकाल् शिदि'** ति सूत्रे सर्वश्चैतत्परिभाषाबोधित एव गृह्यते ।

यत्तु—**'आदेः परस्य' 'अलोऽन्त्यस्ये'** त्येतावेव तद्बाधकाविति । तन्न, **'उदस्थादि'** ति सूत्रविषयेऽस्याः **'पादः पदि'** ति सूत्रे भाष्ये सञ्चारितत्वात् । नाप्येतयोरियं बाधिका एतयोर्निर्विषयत्वप्रसङ्गादिति **'ति विंशतेरि'** ति सूत्रे कैयटः ।

अकज्विषये नायं न्यायः, स्थानिवद्भावेनेव तन्मध्यपतितन्यायेन तद्बुद्ध्यैव कार्यजननात् ।

इयं चावयवषष्ठीविषयेऽपि । अत एव **'तदोः सः सावि'** ति सत्व'मतिस्य' इत्यत्रोपसर्गतकारस्य न । निर्दिश्यमानयुष्मदाद्यवयवमपर्यन्तस्यैव यूयादयो, न त्वतियूयामित्यादौ सोपसर्गावयवमपर्यन्तस्येति बोध्यम् ।

'पादः पदि' ति सूत्रे 'षष्ठी स्थाने' इति सूत्रे च भाष्ये स्पष्टैषा ॥१२॥

ननु 'चेते' त्यादौ ह्रस्वस्यैकारस्य प्रमाणत आन्तर्यादकारोऽपि स्यादत आह—

यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीयः ॥१३॥

अनेकविधम्=स्थानार्थगुणप्रमाणकृतम् । अत्र मानं—'षष्ठी स्थाने' इत्यत एकदेशानुवृत्त्या स्थानेग्रहणेऽनुवर्तमाने पुनः **'स्थानेऽन्तरतमः'** इति सूत्रे स्थाने-ग्रहणमेव । तद्धि तृतीयया विपरिणमय्य वाक्यभेदेन स्थानिनः प्रसङ्गे जायमानः सति सम्भवे स्थानत एवान्तरतम इत्यर्थकम् ।

तमब्ग्रहणमेवानेकविधान्तर्यसत्तागमकम् । स्थानतः=स्थानेनेत्यर्थः । तत्र स्थानत आन्तर्यं**'सिको यणची'** त्यादौ प्रसिद्धमेव । अर्थतः **'पद्दन्नित्यादौ** स्थान्यर्थाभिधानसमर्थस्यैवाऽऽदेशतेति सिद्धान्ताद्यदर्थाभिधानसमर्थो यः स तस्या-देश इति तत्समानार्थतत्समानवर्णपादादीनां ते । **तृज्वत्क्रोष्टुरि** ति च । गुणतो वाग्घरिरि' त्यादौ । प्रमाणतो 'ऽदसोऽसेरि' त्यादौ । **'स्थानेऽन्तरतम'** सूत्रे भाष्ये स्पष्टैषा ॥१३॥

ननु 'प्रोढवानि' त्यत्र 'प्रादूहोढे' ति वृद्धिः स्यादत आह—

अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ॥१४॥

विशिष्टरूपोपादाने, उपस्थितार्थस्य [शब्दं प्रति] विशेषणतयाऽन्वयसम्भवे त्यागे मानाभावोऽस्या मूलम् ।

अत्रार्थः कल्पितान्वयव्यतिरेककल्पितः शास्त्रीयोऽपि गृह्यते इति **'सङ्ख्याया'** इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ।

इयं वर्णग्रहणेषु नेति लस्येत्यत्र भाष्ये स्पष्टम् । अत एवैषा विशिष्टरूपो-पादानविषयेति वृद्धाः । एतन्मूलकमेव येन विधिरित्यत्र भाष्ये पठ्यते, **'अलैवानर्थ-केन तदन्तविधिरि'** ति ।

किञ्च **'स्वं रूपमि'** ति शास्त्रे स्वशब्देनात्मीयवाचिनाऽर्थो गृह्यते, रूप-शब्देन स्वरूपम्, एवञ्च तदुभयं शब्दस्य संज्ञीति तदर्थः । तत्रार्थो न विशेष्य-स्तत्र शास्त्रीयकार्यासम्भवात्, किन्तु शब्दविशेषणम् । एवं चार्थविशिष्टः शब्दः संज्ञीति फलितम् । तेनैषा परिभाषा सिद्धेति भाष्ये स्पष्टम् ॥१४॥

नन्वेवमपि 'महद्भूतश्चन्द्रमा' इत्य **'आन्महत'** इत्यात्त्वापत्तिरत आह—

गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः ॥१५॥

गुणादागतो गौणः। यथा—गोशब्दस्य जाड्यादिगुणनिमित्तोऽर्थो वाहीकः। अप्रसिद्धश्च संज्ञादिरपि तद्गुणारोपादेव बुध्यते। मुखमिव प्रधानत्वान्मुख्यः= प्रथम इत्यर्थः। **गौणे ह्यर्थे शब्दः प्रयुज्यमानो मुख्यार्थारोपेण प्रवर्तते**। एवं चाप्रसिद्धत्वं **गौणलाक्षणिकत्वं चात्र गौणत्वम्**। तेन 'प्रियत्रयाणामि' त्यादौ त्रयादेशो भवत्येव, तत्र त्रिशब्दार्थस्येतरविशेषणत्वेऽप्युक्तरूपगौणत्वाभावात्।

किञ्चायं न्यायो न प्रातिपदिककार्ये, किन्तु 'उपात्तं विशिष्यार्थोपस्थापकं विशिष्टरूपं यत्र तादृशपदकार्य एव। परिनिष्ठितस्य पदान्तरसम्बन्धे हि 'गौर्वाहीक' इत्यादौ गौणत्वप्रतीतिर्न तु प्रातिपदिकसंस्कारवेलायामित्यन्तरङ्गत्वाज्जातसंस्कारबाधायोगः प्रातिपदिककार्ये प्रवृत्त्यभावे बीजम्।

श्वशुरसदृशस्यापत्यमित्यर्थके 'श्वाशुरिरि' त्यादावत इञः सिद्धये—उपात्तमित्यादि। न च प्रातिपदिकपदं तादृशमिति वाच्यम्। तेन हि प्रातिपदिकपदवत्त्वेनोपस्थितिरिति तस्य विशिष्यार्थोपस्थापकत्वाभावात्। निपातपदं तु चादित्वेनैव चादीनामुपस्थापकमिति तदुद्देश्यककार्यविधायके 'ओदि' त्यादावेतत्प्रवृत्त्या 'गोऽभवदि' त्यादौ दोषो न।

'अग्नीषोमौ माणवकावि' त्यत्र प्रसिद्धदेवताद्वन्द्ववाच्यग्नीषोमपदस्य तत्सदृशपरत्वेऽप्यन्तरङ्गत्वादीत्वषत्वे भवत एव। सदृशलाक्षणिकाग्निसोमपदयोर्द्वन्द्वे तन्नामकावित्यर्थके च नेत्वषत्वे। आद्ये गौणलाक्षणिकत्वादन्त्येऽप्रसिद्धत्वात्। अतए 'वाग्निसोमौ माणवकावित्यत्र गौणमुख्यन्यायेन षत्ववारणपर- **'मग्नेः स्तुत्स्तोमसोमा'** इति सूत्रस्थं भाष्यं सङ्गच्छते।

'गां पाठये' त्यादौ मुख्यगोपदार्थस्य पाठनकर्मत्वासम्भवेन विभक्त्युत्पत्तिवेलायां प्रयोक्तृभिर्गौणार्थत्वस्य प्रतीतावप्यपदस्याप्रयोगेण बोद्धृभिः सर्वत्र पदस्यैव गौणार्थकत्वस्य ग्रहेणात्वं त्वं सम्पद्यते, अमहान्, महान् भूतस्त्वद्भवती' त्यादि भाष्यप्रयोगे त्वाद्यादेशदीर्घादीनां करणेन चास्य न्यायस्य पदकार्यविषयत्वम् एवोचितम्। अन्यथा वाक्यसंस्कारपक्षे तेषु तदनापत्तिः।

किञ्च—**'शुक्लामि' त्युक्ते कर्म निर्दिष्टं कर्त्ता क्रिया चानिर्दिष्टे'** इत्याद्युक्त्वा **'इहेदानीं गामभ्याज कृष्णां देवदत्तेत्यादौ सर्वं निर्दिष्टं गामेव कर्म देवदत्त एव कर्त्ता अभ्याजैव क्रिये'** त्यर्थकेनार्थवत्सूत्रस्थभाष्येण कारकादिमात्रप्रयोगे योग्यसर्वक्रियाऽध्याहारे प्रसक्ते नियमार्थः क्रियावाचकादिप्रयोग इत्येततात्पर्यकेण सामान्यतः क्रियाजन्यफलाश्रयत्वमात्रविवक्षायां द्वितीयादीनां साधुत्वान्वाख्यानमित्यर्थलाभेन पाठनक्रियाऽन्वयकाले पदस्यैव गौणार्थत्वप्रतीतिः प्रयोक्तुरपि।

एवमेतन्मूलको 'ऽभिव्यक्तपदार्था य' इति श्लोकोऽपि पदकार्यविधायकः। ध्वनितं चेदं 'सर्वादीनो'ति सूत्रे संज्ञाभूतानां प्रतिषेधमारभता वार्तिककृता, 'पूर्वपरे'ति सूत्रे 'ऽसंज्ञायामि'ति वदता सूत्रकृता, अन्वर्थसंज्ञया तत्प्रत्याख्यानं कुर्वता भाष्यकृता च।

अर्थाश्रय एतदेवं भवति, शब्दाश्रये च वृद्धयात्त्वे इति 'ओत्' सूत्रस्थभाष्यस्य लौकिकार्थवत्त्वयोग्यपदाश्रय एष न्यायस्तद्रहितशब्दाश्रये च ते इत्यर्थः। 'गोत' इति यथाश्रुतसूत्रे विशिष्टरूपोपादानसत्त्वेनोक्तरीत्यैवैतस्य भाष्यस्य व्याख्येयत्वादित्यलम् ॥१५॥

अर्थवद्ग्रहणे इत्यस्यापवादमाह—

अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति ॥१६॥

येन विधिरित्यत्र भाष्ये वचनरूपेण पठितैषा, तेन 'राज्ञा साम्ने'त्यादावल्लोपो, दण्डी, वाग्मीत्यादा 'विन्हन्नि'ति नियमः 'सुपयाः, सुस्रोता' इत्यादौ 'अत्वसन्तस्येति दीर्घः, 'सुशर्म्मा, सुप्रथिमे' त्यादौ 'मन' इति ङीब्निषेधश्च सिद्धः।

अन्येतु—'परिवेविषीध्वमि' त्यत्र ढत्वव्यावृत्तये क्रियमाण'दिणःषीध्वमि-त्यत्राङ्गग्रहणादर्थवत्परिभाषाऽनित्या, तन्मूलकमिदमित्याहुः।

'विभाषेटः' इत्यत्रानर्थकस्यैव षीध्वमः सम्भवादत्रापि तस्यैव ग्रहणमिति भ्रमवारण 'याङ्गादि' ति परे॥१६॥

ननु 'उश्च' इत्यत्र 'लिङ्सिचौ' इत्यत आत्मनेपदेष्वित्येव सम्बध्येत अनन्तरत्वादत आह—

एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः ॥१७॥

वा शब्द एवार्थे, परस्परान्वितार्थकपदानां सहैवानुवृत्तिनिवृत्ती इत्यर्थः। एककार्यनियुक्तानां वहूनां लोके तथैव दर्शनादिति भावः।

यत्तु—अत्र ज्ञापकं 'नेड्वशी' त्यत इडित्यनुवर्तमाने 'आर्द्धधातुकस्येडि'-त्यत्र पुनरिड्ग्रहणम्। तद्धि नेत्यस्यासम्बन्धार्थमिति। तन्न। 'दीधीवेवीटामि'-ति सूत्रे भाष्ये तत्रत्येड्ग्रहणप्रत्याख्यानायेड्ग्रहणेऽनुवर्तमाने पुनरिड्ग्रहणस्येटो गुणरूपविकाराभावार्थकत्वस्योक्तत्वेन तद्विरोधात्। नञो निवृत्तिस्तु 'क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तत' इति न्यायेन सिद्धा।

वस्तुतस्तु—'दीधीवेवीटामि'ति सूत्रस्थ भाष्यमेकदेश्युक्तिः, 'आर्धधातुकस्ये'-ति सूत्रस्थेड्ग्रहणस्य 'नेड् वशि' इति सूत्रे भाष्ये प्रत्याख्यानात् तत्करणेन गुरुतरयत्नमाश्रित्यैतत्प्रत्याख्यानस्यायुक्तत्वात् ॥१७॥

नन्वलुगधिकारः प्रागानङ उत्तरपदाधिकारः प्रागङ्गाधिकारादित्यनुपपन्न-मेकयोगनिर्दिष्टत्वात्। तथा **दामहायनान्ताच्च** इत्यादौ **संख्याव्ययादेरित्यतः** संख्यादेरित्यनुवर्ततेऽव्ययादेरिति निवृत्तमिति चानुपपन्नमत आह—

क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते ॥१८॥

एकात्रार्थे योगः=सम्बन्धः। तेन निर्दिष्टयोः समुदायाभिधायिद्वन्द्वनिर्दिष्टयो-रित्यर्थं इति **'पक्षात्तिरि'** ति सूत्रे कैयटः।

तावन्मात्रांशे स्वरितत्वप्रतिज्ञाबलाल्लभ्यमिदम्। स्पष्टा चेयं **'दामहाय-नान्ताच्चे'** ति सूत्रे **'औतोऽम्शसोरि'** ति सूत्रे च भाष्ये, पूर्वा च ॥१८॥

ननु **'त्यदादीनाम'** इत्यादिना 'इममि' त्यादावनुनासिकः स्यादत आह—

भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न ॥१९॥

अणुदित्सूत्रे 'ऽप्रत्यय' इत्यनेन सामर्थ्यात्सूत्रप्राप्तं, जातिपक्षेण प्राप्तं, गुणाभेदकत्वेन च प्राप्तं नेत्यर्थः। अत एवाणुदित्सूत्रे प्रत्ययाऽऽदेशाऽऽगमेषु सवर्णग्रहणाभावं प्रकारान्तरेणोवत्वैवं **तर्हि सिद्धे यदप्रत्यय इति प्रतिषेधं शास्ति, तज्ज्ञापयत्याचार्यो भवत्येषा परिभाषा भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं नेति।**

किञ्च 'ज्याद ईयस' इत्येवान्तर्यतो दीर्घे सिद्धे 'ज्यादादि' ति दीर्घोच्चा-रणमस्या ज्ञापकम्। अणुदित्सूत्रे 'ज्यादादि' ति सूत्रे च भाष्ये स्पष्टैषा।

'चोः कुरि'त्यादौ भाव्यमानेनापि सवर्णग्रहणम्, विधेये 'उदिदु'च्चारण-सामर्थ्यात्। एतदेवाभिप्रेत्य **'भाव्यमानोऽण् सवर्णान्न गृह्णाती'** ति नव्याः पठन्ति ॥१९॥

नन्वेव **'मदसोऽसेरि'** त्यादिना 'ऽमू' इत्यादौ दीर्घविधानं न स्यादत आह—

भाव्यमानोऽप्युकारः सवर्णान् गृह्णाति ॥२०॥

'दिव उत्' 'ऋत उत्' इति तपरकरणमस्या ज्ञापकम्।

'तित्स्वरितमि' ति सूत्रे भाष्ये स्पष्टैषा ॥२०॥

ननु 'गवे हितं, गोहितमि' त्यादौ प्रत्ययलक्षणेनावाद्यादेशापत्तिरत आह—

वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम् ॥२१॥

वर्णप्राधान्यविषयमेतत्। तत्त्वं च — **'प्रत्ययलोप'** इति सूत्रे स्थानि-

दित्यनुवृत्त्यैव सिद्धे प्रत्ययलक्षणग्रहणं प्रत्ययस्येतराविशेषणत्वरूपं यत्र प्राधान्यं तत्रैव प्रवृत्त्यर्थमित्येतत्सिद्धम् । वर्णप्राधान्यं च—वर्णस्येतराविशेषणत्वरूपं प्रत्ययनिरूपितविशेष्यतारूपं च, तेन 'गोहितमि' त्यादाववादि न, चित्रायां जाता, चित्रे' त्यादावण्यो ऽकारस्तदन्तान् ङीविति ङीप् च न ।
इयमल्विधौ स्थानिवत्त्वाप्राप्तावपि प्राप्तप्रत्ययलक्षणविधेर्निषेधिकेति स्पष्टं भाष्ये ।।२१।।

नन्वतः 'कृकमी' त्यत्र कमिग्रहणेन सिद्धे कंसग्रहणं व्यर्थमत आह—

उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि ।।२२।।

इदमेवास्या ज्ञापकमिति कैयटादयः । कंसेस्तु न कंसोऽनभिधानात् ।

'प्रत्ययस्य लुगि' त्यादौ भाष्ये स्पष्टा ।

'ण्वुल्तृचावि' त्यादौ भाष्ये व्युत्पन्नानीत्यपि । इदं शाकटायनादिरीत्याँ । पाणिनेस्त्वव्युत्पत्तिपक्ष एवेति शब्देन्दुशेखरे निरूपितम् । 'आयनेयी' ति सूत्रे भाष्ये स्फुटमेतत् ।

ननु 'देवदत्तश्चिकीर्षती' त्यादौ देवादेः सन्नन्तत्वप्रयुक्तधातुत्वाद्यापत्तिरत आह—

प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम् ।।२३।।

'यस्मात्प्रत्ययविधिरि' ति सूत्रे यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्यय इति योगो विभज्यते । गृह्यमाण उपतिष्ठत इति शेषः । तेन तदाद्यन्तांशः सिद्धः । तदन्तांशस्तु 'येन विधिरि' त्यनेन सिद्धः । स च शब्दरूपं विशेष्यमादाय विशेष्यान्तरासत्त्वे ।

यत्तु—प्रत्ययेन स्वप्रकृत्यवयवकसमुदायाक्षेपात्तद्विशेषणत्वेन तदन्तविधि-रिति । तन्न । 'इयानित्यादौ तस्य तादृशसमुदायेन व्यभिचारेणाक्षेपासम्भवात् ।

यत्र प्रत्ययो निमित्तत्वेनाऽऽश्रीयते, तत्र तदादीत्यन्तांशमात्रोपस्थितिरिति 'अङ्गस्ये' ति सूत्रे भाष्यकैयटयोः । एवं यत्रापि पञ्चम्यन्तात्परः प्रत्यय आश्री-यते, तत्रापि तदादीत्यन्तांशोपस्थितिः, परन्तु तत्र पञ्चम्यन्तता । अत 'एवैङ्-ह्रस्वादि' ति सूत्रे एङन्तादित्यर्थलाभः ।

अस्याः परिभाषायाः प्रयोजनान्तरं 'येन विधिरि' त्यत्र भाष्य उक्तं 'परम-गार्ग्यायण' इति । परमगार्ग्यस्यापत्यमिति विग्रहेऽपि गार्ग्यशब्दादेव प्रत्ययो, न विशिष्टात् । निष्कृष्य तावन्मात्रेणैकार्थीभावाभावेऽपि वृत्तिर्भवत्येव । अत्र चेदं भाष्यमेव मानमित्यन्यत्र विस्तरः ।

प्रत्ययमात्रग्रहण एषा, न तु प्रत्ययाप्रत्ययग्रहण इति 'उगितश्चे' ति सूत्रे भाष्ये ।

इयमङ्गसंज्ञासूत्रे भाष्ये स्पष्टा ।।२३।।

'येन विधिरि' ति सूत्रे भाष्य एतद्घटकतदन्तांशस्यापवादः पठ्यते—

प्रत्ययग्रहणे चापञ्चम्याः ।।२४।।

यत्र पञ्चम्यन्तात्परः प्रत्ययः कार्यान्तरविधानाय परिगृह्यते, तत्र तदन्तविधिर्नेत्यर्थः; यथा—'रदाभ्यां निष्ठातो न' इत्यत्र, तेन 'दृषत्तीर्णे' त्यादौ धातुतकारस्य न नत्वम् । तदन्तेत्यंशानुपस्थितावपि तदादीत्यंशस्योपस्थितौ रेफदान्तात्परस्य निष्ठातस्येत्यर्थ इति न दोषस्तदाद्यंशानुपस्थितौ मानाभावात् । तदन्तांशोपस्थितौ तूभयोरेकविषयत्वमेव स्यादिति 'दृषत्तीर्ण' इत्यादौ दोषः स्यादेव ।

'स्यतासी लृलुटोरि' त्यादौ लृलुटोः परयोरित्यर्थे नियमेनावधिसाकाङ्क्षत्वेनोपस्थितधातोरित्यस्यावधित्वेनान्वयान्न तदन्तविधिः । 'ङ्याब्भ्यः' इत्यादौ तु न दोषः, तत्र कस्मादिति नियतावध्याकाङ्क्षाया अभावेन पञ्चम्यन्तस्य प्रत्ययविशेषणत्वाभावात् ।

अङ्गसंज्ञासूत्रे तु तदादेः प्रत्यये पर इत्यर्थे पञ्चम्यन्तस्य विशेषणत्वं स्पष्टमेव । अत ए 'वोत्तमैकाभ्यामि' त्यादिनिर्देशाः सङ्गच्छन्ते ।।२४।।

नन्वेवं 'कुमारी ब्राह्मणिरूपे' त्यादौ 'घरूपे' ति ह्रस्वापत्तिरत आह—

उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे न तदन्तग्रहणम् ।।२५।।

'हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेष्वि' त्यत्र लेखग्रहणात् । तत्र लेखेति न घञन्तमनभिधानात् । इयं च 'हृदयस्ये' ति सूत्र एव भाष्ये स्पष्टा ।।२५।।

नन्वेवं 'परमकारीषगन्धीपुत्र' इत्यत्रेव 'अतिकारीषगन्ध्यापुत्र इत्यत्र 'ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योरि' ति स्यादत आह—

स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न ।।२६।।

विषयसप्तमीयम् । यः स्त्रीप्रत्ययः स्त्रियं प्राधान्येनाऽऽह तत्र तदादिनियमो न, यस्त्वप्राधान्येनाऽऽह तत्र तदादिनियमोऽस्त्येवेत्यर्थः ।

प्रत्यासत्त्या यस्य समुदायस्य स्त्रीप्रत्ययान्तत्वमानेयं तदर्थं प्रत्यनुपसर्जनत्वमेवैतत्परिभाषाप्रवृत्तौ निमित्तम्, तेन अतिराजकुमारिरि' त्यादौ राजकुमारीशब्दार्थस्यातिशब्दार्थं प्रत्युपसर्जनत्वेऽपि तदर्थं प्रत्यनुपसर्जनत्वात्तदादिनियमाभावेन ह्रस्वसिद्धिः ।

अत एवात्र परिभाषायां न शास्त्रीयमुपसर्जनत्वमसम्भवात् । अस्याः 'प्रत्ययग्रहण' इत्यस्यापवादत्वात्तदेकवाक्यतापन्नत्वाच्चात्रापि ग्रहणपदसम्बन्धेन स्त्रीप्रत्ययसामान्यग्रहणे तद्विशेषग्रहणे च प्रवृत्तिः, न तु स्त्रीप्रत्ययास्त्रीप्रत्ययग्रहणे । ध्वनितं चेदमर्थवत्सूत्रे भाष्ये ।

इयं च वाचनिक्येव । 'ष्यङ' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टा ॥२६॥

नन्वेवं 'तरप्तमपौ घ' इत्यादिना तरबन्तादेः संज्ञा स्यादत आह—

संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति ॥२७॥

'सुप्तिङन्तमि' त्यन्तग्रहणमस्या ज्ञापकम् ।

न च प्रत्यययोः पदसंज्ञायामपि प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्तग्रहणसंभवात् ज्ञापितेऽपि फलाभाव इति वाच्यम् । पदसंज्ञायाः 'स्वादिष्विति' विषये प्रकृतिनिष्ठतया पदग्रहणस्य प्रत्ययमात्रग्रहणत्वाभावात् ।

'सुप्तिङन्तमि' ति सूत्रे भाष्ये स्पष्टा ॥२७॥

ननु 'अवतप्ते नकुलस्थितमि' त्यादौ नकुलस्थितशब्दस्य क्तान्तत्वाभावात्समासो न स्यादत आह—

कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम् ॥२८॥

अस्याश्च कर्मणि क्तान्त उत्तरपदेऽनन्तरो गतिः प्रकृतिस्वर इत्यर्थके 'गतिरनन्तर' इति सूत्रेऽनन्तरग्रहणं ज्ञापकम् । तद्धचभ्युद्धृतमित्यादावतिव्याप्तिवारणार्थम् । प्रत्यय-ग्रहण-परिभाषयोद्धृतस्य क्तान्तत्वाभावादेवाप्राप्तौ तद्व्यर्थं सदस्या ज्ञापकम् ।

न 'चाभ्युद्धृतमित्यादौ परत्वाद् 'गतिर्गताबि'त्यनेनाभेर्निघात एवेति वाच्यम् । पादादिस्थत्वेन पदात्परत्वाभावेन च तदप्राप्तेः । अनन्तर ग्रहणे कृते तु तत्सामर्थ्याद् गत्याक्षिप्तधातुनिरूपितमेवानन्तर्यं गृह्यत इति न दोषः ।

न 'चाभ्युद्धृतमि' त्यादावभिना समासेऽनन्तरस्योदः पूर्वपदत्वाभावेऽपि स्वारार्थं तदिति वाच्यम् । कारकाद्दत्तेति सूत्रे कारकादिति योगं विभज्य तत्र गतिग्रहणमनुवर्त्य कारकादेव परं गतिपूर्वपदं क्तान्तमन्तोदात्तमिति नियमेन थाथादिस्वराप्राप्त्या कृत्स्वरेणोद उदात्तत्वसिद्धेः । तस्मादनन्तरग्रहणं व्यवहितनिवृत्त्यर्थमेवेति ज्ञापकमेव ।

यत्र गतिकारकसमभिव्याहृतं कृदन्तं तत्र कृद्ग्रहणे तद्विषिष्टस्यैव ग्रहणम्, अपिशब्दात्तदसमभिव्याहृतस्य केवलस्यापीति तदर्थः । अन्यथा ऽनया कृद्ग्रहणविषये परत्वात् 'प्रत्ययग्रहण' परिभाषाया बाध एव स्यादित्यपिग्रहणम् ।

अत एव 'साङ्कूटिनमि' ति **'गतिकारकोपपदानामि'** ति **'कृद्ग्रहण'** इति च परिभाषाभ्यां कृदन्तेन समासे कृते विशिष्टादेवाणि सिद्धयति, न तु 'संकौटिनमितीति **'पुंयोगादि'** ति सूत्रे भाष्योक्तं सङ्गच्छते, अन्यथा तत्र केवल-'कूटिन्नि' त्येतस्यापीनुणन्तत्वात्ततोऽणि पाक्षिकदोषो दुर्वार एव स्यात् ।

स्पष्टं चेदं सर्वं **'समासेऽनञ्पूर्वे'** इति सूत्रे भाष्यकैयटयोः । **'गतिरनन्तर'** इत्यत्र तु गतेः पूर्वपदस्य क्तान्त उत्तरपदे परे कार्यविधानात्तत्समवधानेऽपि केवलस्य क्तान्तत्वेन ग्रहणं बोध्यम् ।

इयं च कृद्विशेषग्रहणे कृत्सामान्यग्रहणे च, न तु कृदकृद्ग्रहण इति **'अनुपसर्जनादि'** ति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ॥२८॥

पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च॥२६॥

पदमङ्गं च विशेष्यं विशेषणेन च तदन्तविधिः । 'येन विधि'—रित्यस्यायं प्रपञ्चः, ते 'नेष्टकचितं पक्वेष्टकचितमि' त्यादा **'विष्टकेषीकामालानां चिते'** ति ह्रस्वो, महान्, परममहान्, परमातिमहानि' त्यादौ **'सान्तमहत'** इति दीर्घश्च सिद्धः । अत एव **तदुत्तरपदस्येति पाठोऽयुक्त** इति भाष्ये स्पष्टम् ।

अत्र पदशब्देनोत्तरपदाधिकारः, केवलपदाधिकारश्च ।

'पादस्य पदाज्याती'त्यत्र न तदन्तग्रहणं, लक्ष्यानुरोधादिति सर्वं **'येन विधिरि'** त्यत्र भाष्ये स्पष्टम् ॥२६॥

नन्वेव 'मस्यापत्यमिदि' त्यादावदन्तप्रातिपदिकाभावादिञ् न स्यादत आह—

व्यपदेशिवदेकस्मिन् ॥६०॥

निमित्तसद्भावाद्विशिष्टोऽपदेशो मुख्यो व्यवहारो यस्यास्ति स व्यपदेशी । यस्तु व्यपदेशहेत्वभावादविद्यमानव्यपदेशोऽसहायः स तेन तुल्यं वर्तते, कार्यं प्रतीत्येकस्मिन्नसहायेऽपि तत्कार्यं कर्तव्यमित्यर्थः । तेनाकारस्याप्यदन्तत्वान्न क्षतिः ।

एकस्मिन्नित्युक्ते सभासन्नयने आकारस्य नादित्वं दरिद्रावातविकारस्य नान्तत्वम् । अन्यथा सभासन्नयने' भव इत्यर्थे **'वृद्धाच्छः'**, दरिद्रातेरिवर्णान्तलक्षणो ऽच्च स्यात् । अत एव 'हरिष्वि' त्यादौ सोः पदत्वं न । लोकेऽपि बहुपुत्रसत्त्वे नैकस्मिन् ज्येष्ठकनिष्ठत्वादिव्यवहारो 'ऽयं मे ज्येष्ठः, कनिष्ठो, मध्यम' इति, किं त्वेकपुत्रसत्त्व एव ।

अनेन चाशास्त्रीयस्याप्यतिदेशः । अत एव 'इयाये' त्यादावेकाच्त्वनिबन्धन-

द्वित्वसिद्धिः । अत एव 'भवती' त्यादौ 'भू' इत्यस्याङ्गत्वम्, 'इयानि' त्यादौ कार्यकालपक्षे तद्धितान्तत्वनिबन्धनप्रातिपदिकत्वं च सिद्ध्यति; अन्यथा यस्माद्विहितस्तदादित्वाभावान्न स्यात् ।

यत्तु—योऽर्थवांस्तत्रार्थस्य त्यागोपादानाभ्यामेकाज्व्यपदेशो, य 'थेयाये' त्यादावर्थवतो धातोरयं वर्णरूप एकोऽजिति कैयटः । तन्न । 'तस्यैकपदा ऋगि'त्यत्र भाष्योक्तरीत्या मुख्यव्यवहारसत्त्वात् । 'एकपदा ऋगि' त्यत्र **'अर्थेन युक्तो व्यपदेश एकपदेति'** भाष्ये उक्तम् । ऋक्त्वादेरर्थशब्दोभयवृत्तित्वेन तस्याः शब्दमात्ररूपं पदमेकोऽवयव इत्यर्थ इति तदाशयः ।

तस्मादेकस्मिंस्तत्तद्धर्मारोपेण युगपद्यथा ज्येष्ठत्वादिव्यवहारो यथा च 'शिलापुत्रकस्य शरीरमि' त्यादावेकस्मिन्नारोपितानेकावस्थाभिः समुदायरूपत्वाद्यारोपे'एौतस्य शरीरमि'त्यादिव्यवहारस्तथाऽत्रैकाच्त्वादिव्यवहारोपपत्तिरिति लोकन्यायसिद्धेयम् ।

न चासहाय एवैतत्प्रवृत्तौ 'भवती' त्यत्र 'भू' इत्यस्याङ्गत्वानापत्तिः, ससहायत्वादिति वाच्यम् । शपमादायाङ्गत्वे कार्ये यस्माद्विहितस्तदादित्वे 'भू' इत्यस्य ससहायत्वाभावाल्लोके विजातीय कन्यादिसत्त्वेऽप्येकपुत्रस्य तस्मिन्नेवायमेव ज्येष्ठ इत्यादिव्यवहारवत् ।

न चैवं **'निजौ चत्वार एकाच'** इति भाष्यासङ्गतिः, इकारस्यासहायत्वाभावेन तत्रैकाच्त्वानुपपादनादिति वाच्यम् । 'एकस्मिन्नि' त्यस्यापर्यालोचनया तत्प्रवृत्तेः ।

'अर्थवता व्यपदेशिवद्भाव' इत्यत्रार्थवत्पदेनाप्यसहायत्वमुपलक्ष्यते । अर्थबोधकेन शब्देन व्यपदेशिसदृशो भावः कार्यं लभ्यत इति तदर्थः । प्रायोऽसहाय एवार्थवत्वात् ।

'कुरुते' इत्यादौ 'तशब्दाकारोऽचामन्त्य' इति व्यवहारे 'स आदिर्यस्ये' ति व्यवहारे चासहाय एवेति तत्र व्यपदेशिवद्भावेन टिसंज्ञासिद्धिरित्यन्यत्र विस्तरः ॥३०॥

ननु गर्गादिभ्यो विहितो यञ् तदन्तविधिना परमगर्गादिभ्योऽपि स्यादत आह—

ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति ॥३१॥

इयं च **समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेध उगिद्वर्णग्रहणवर्जमि**'ति वार्तिकस्थप्रत्ययांशानुवादः । अत एवायं प्रत्ययविधिविषय एव । अत एव **'येन विधिरि'**

ति सूत्रे भाष्ये प्रत्ययविधिभिन्ने 'ऽप्तृन्नित्यादौ गृह्यमाणप्रातिपदिकेनापि तदन्तविधिप्रतिपादनं, 'स्वसा, परमस्वसे'त्याद्युदाहरणं च सङ्गच्छते ।

अत एव च तदन्तविधिसूत्रे भाष्ये समासेत्यादिनिषेधस्य कथनवदस्य न कथनम् । सोऽपि निषेधो विशिष्य तत्तद्रूपेण गृहीतप्रातिपदिकसूत्र एव । ध्वनितं चेद 'असमासे निष्कादिभ्य' इति सूत्रे भाष्ये ।

अत्र च ज्ञापकं 'सपूर्वाच्चे'ति सूत्रम् । अन्यथा 'पूर्वादिनिरि'त्यत्र तदन्तविधिनैव सिद्धे किं तेन ॥३१॥

नन्वेवं 'सूत्रान्ताट्ठक्, दशान्ताड्डः, एकगोपूर्वादि'त्यादेः केवलसूत्रशब्ददशन्शब्दैकशब्दादिष्वपि प्रवृत्तिर्व्यपदेशिवद्भावात्स्यादत आह—

व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन ॥३२॥

'पूर्वात्सपूर्वादिनिरि'त्येकयोग एव कर्तव्ये पृथग्योगकरणमस्या ज्ञापकम् ।

न 'चेष्टादिभ्य' इति सूत्रेऽनुवृत्त्यर्थं' तथा पाठः, अत ए'वानिष्टी'त्यादिसिद्धिरिति वाच्यम् । ज्ञापकपरभाष्यप्रामाण्ये'नानिष्टी'त्यादिप्रयोगाणामनिष्टत्वात्, एकयोगेऽपि तावत उत्तरत्रानुवृत्तौ बाधकाभावाच्च ।

अत एव 'नान्तादसङ्ख्यादेरिति चरितार्थम् । अन्यथा 'पञ्चम' इत्यादावपि व्यपदेशिवद्भावेन संख्यादित्वात्तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव ।

इयं च प्रातिपदिकग्रहणे एव न तु प्रातिपदिकाप्रातिपदिकग्रहणे, तेन 'उगितश्चे' त्यत्र न दोष इति तत्रैव भाष्ये स्पष्टम् ।

इयं ग्रहणवतेति च परिभाषा प्रत्ययविधिविषयैवे' त्यसमासे निष्कादिभ्य' इति सूत्रे भाष्यकैयटयोः । तेन 'अहन्नि' त्यादेःपरमाहन्शब्दे केवलाहन्शब्दे च प्रवृत्तिरित्यन्यत्र विस्तरः ॥३२॥

ननु 'वान्तो यी'त्यादौ प्रत्यय इत्यर्थः कथमत आह—

यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे ॥३३॥

तदन्तविधेरपवाद इयम् । वाचनिक्येषा येन विधिरित्यत्र भाष्ये पठिता । अस्याश्च स्वरूपसती सप्तमी निमित्तम् । अत एव 'नेड्वशि कृती'त्यादौ वशादेः कृत इत्याद्यर्थलाभः ।

इयं 'चाऽऽर्द्धधातुकस्येडि'ति सूत्रे वलादेरित्यादिग्रहणसामर्थ्याद् विशेष्यविशेषणयोरुभयोः सप्तम्यन्तत्व एव प्रवर्तते, तेन 'डः सि धुडि'त्यादौ सादेः पदस्येति नार्थः ।

'तीषसह, सेऽसिची'त्यादौ यथा तादेरित्याद्यर्थलाभस्तथा शब्देन्दुशेखरे निरूपितम् ॥३३॥

'घटपटं घटपटावि'त्यादिसिद्धय आह—

सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद्भवति ॥३४॥

'द्वन्द्वश्च प्राणी'त्यादिप्रकरणाविषयः सर्वो द्वन्द्व इत्यर्थः। **चार्थे द्वन्द्व** इति सूत्रेण समाहारेतरेतरयोगयोरविशेषेण द्वन्द्वविधानान्न्यायसिद्धेयम्।

'तिष्यपुनर्वस्वोरि'ति सूत्रस्थं बहुवचनस्येति ग्रहणमस्या ज्ञापकम्। तद्धीदं 'तिष्यपुनर्वस्वि'त्यत्र तद्व्यावृत्त्यर्थम्।

न चैवमप्यत्र **'जातिरप्राणिनामि'**ति नित्यैकवद्भावेन बहुवचनाभावादिदं सूत्रं व्यर्थमिति वाच्यम्। तद्वैकल्पिकत्वस्याप्यनेन ज्ञापनात्। न चैते प्राणिन इति वाच्यम्। **'आपोमय प्राण'** इति श्रुतेरद्भिर्विना ग्लायमानप्राणानामेव प्राणित्वात्। स्पष्टं चेदं 'तिष्यपुनर्वस्वोरि'ति सूत्रे भाष्ये। अत एव 'द्वन्द्वश्च प्राणीत्यादेः प्राण्यङ्गादीनामेव समाहार इति विपरीतनियमो न ॥३४॥

सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते ॥३५॥

'व्यत्ययो बहुलमि'ति सूत्रे भाष्ये बहुलमिति योगविभागेन **'षष्ठीयुक्तश्छन्दसी'**ति सूत्रे वेति योगविभागेन चैषा साधिता, तेन 'प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युद्ध्यती'त्यादि सिद्धम्। 'युद्ध्यत' इति प्राप्नोति ॥३५॥

ननु 'क्षिय' इत्यादावियङ्कथमत आह—

प्रकृतिवदनुकरणं भवति ॥३६॥

'क्षिय' इतीयङ्निर्देशोऽस्या ज्ञापकः।

तत्रैव प्रातिपदिकत्वनिबन्धनविभक्तिकरणादनित्या चेयमिति **'क्षियो दीर्घा-दि'**ति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ॥३६॥

ननु 'रामावि'त्यादौ वृद्धौ कृतायां कार्यकालपक्षे कथं पदत्वम्, उभयत आश्रयणेऽन्तादिवत्त्वाभावाद्यस्माद्विहितस्तदादितदन्तत्वाभावादत आह—

एकदेशविकृतमनन्यवत् ॥३७॥

अनन्यवदित्यस्यान्यवन्नेत्यर्थः। तत्रान्यसादृश्यनिषेधेऽन्यत्वाभावः सुतराम्। अत एव तादृशादर्थबोधः। अन्यथा शक्ततावच्छेदकानुपूर्व्यज्ञानात्ततो बोधो न स्यात्। एवञ्च रामिति मान्तस्य यस्माद्विहितस्तत्त्वमौ इत्यस्य परादिवत्त्वेन सुप्त्वमिति तदादितदन्तत्वमार्थसमाजग्रस्तम्।

छिन्नपुच्छे शुनि श्वत्वव्यवहारवन्मान्ते तत्त्वं लोकन्यायसिद्धम् । अत एव 'प्राग्दीव्यत' इति सूत्रे भाष्ये दीव्यतिशब्दैकदेशदीव्यच्छब्दानुकरणमिदमित्युक्त्वा, **'किमर्थं विकृतनिर्देशः ? एतदेव ज्ञापयत्याचार्यो भवत्येषा परिभाषैकदेशविकृतमनन्यवदि'**त्युक्तम् । एतेन—अयं न्यायः शास्त्रीयकार्यं एव शास्त्रीयविकार एवेत्यपास्तम् । विकृतावयवनिबन्धनकार्ये तु नायं, छिन्नपुच्छे शुनि पुच्छवत्त्वव्यवहारवद्विकृतावयवव्यवहारस्य दुरुपपादत्वात् ।

एवमत्तपरिमाणग्रहणेऽपि नायम्, उक्तयुक्तेः;

एतद् 'येन विधिरि' त्यत्र भाष्यकैयटयोर्ध्वनितम् ।

यत्र त्वर्द्धं तदधिकं वा विकृतं, तत्र जातिव्यञ्जकभूयोवयवदर्शनाभावेन तत्त्वाप्रतीतौ कार्यसिद्ध्यर्थं विकृतानल्रूपावयवत्वप्रतीत्यर्थं च स्थानिवत्सूत्रम् । क्वचित्तु लक्ष्यानुरोधान्न्यायानाश्रयणम्, तेन 'अभीयादि'त्यादिसिद्धिः ।

स्पष्टं च क्वचिन्न्यायाप्रवृत्तिः **'प्रथमयोः पूर्वसवर्ण'** इत्यत्र कैयटेन दर्शितेत्यन्यत्र विस्तरः ॥३७॥

॥ इति शास्त्रत्वसम्पादनोद्देशनामकं प्रथमं प्रकरणम् ॥

अथ बाधबीजन्नाम द्वितीयं प्रकरणम् ।

पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः ॥३८॥

पूर्वात्परं बलवत्, विप्रतिषेधशास्त्रात् पूर्वस्य परं बाधकमिति यावत् ॥३८॥

नन्वेवं 'भिन्धी'त्यत्र परत्वात्तातङा बाधितो धिर्न स्यादत आह—

पुनः प्रसङ्गविज्ञानात्सिद्धम् ॥३९॥

नन्वेवं 'तिसृणामि'त्यत्र परत्वात्तिस्रादेशे पुनस्त्रयादेशः स्यादत आह—

सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद् बाधितमेव ॥४०॥

तत्र क्वचिच्चरितार्थयोरेकस्मिन् युगपदुभयोः कार्ययोरसम्भवेन बाधकाभावात्पर्यायेण तृजादिवच्छास्त्रद्वयप्रसङ्गे नियमार्थं विप्रतिषेधसूत्रमिति 'सकृद्गति' न्यायसिद्धिः । यथा—तुल्यबलयोरेकः प्रेष्यो भवति, स तयोः पर्यायेण कार्यं करोति, यदा तमुभौ युगपत्प्रेषयतो नानादिक्षु च कार्ये, तदोभयोर्न करोति यौगपद्यासम्भवात्, तथा शास्त्रयोर्लक्ष्यार्थयोः क्वचिल्लक्ष्ये यौगपद्येन प्रवृत्त्यसम्भवादप्रतिपत्तौ प्राप्तायामिदं परविध्यर्थम् । तत्र कृते यदि पूर्वप्राप्तिरस्ति, तर्हि तदपि भवत्येवेति पुनः प्रसङ्गविज्ञानसिद्धिरि"ति विप्रतिषेधसूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ।

यत्तु-कैयटादयो व्यक्तौ पदार्थे प्रतिलक्ष्यं लक्षणोपप्लवादुभयोरपि शास्त्रयो-स्तत्तल्लक्ष्यविषययोरचारितार्थ्येन पर्यायेण द्वयोरपि प्राप्तौ परमेवेति नियमार्थ-मिदमिति 'सकृद्गति' न्यायसिद्धिः। अत्र पक्षे एतन्नियमवशादेतल्लक्ष्यविषय-पूर्वशास्त्रानुपप्लव एव। जातिपक्षे तु उद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्ते क्वचिल्लक्ष्ये चरितार्थयोर्द्वयोः शास्त्रयोः 'सत्प्रतिपक्ष'न्यायेन युगपदुभयासम्भवरूपविरोधस्थल उभयोरप्यप्राप्तौ परविध्यर्थमिदमिति पुनः प्रसङ्गविज्ञानसिद्धिरित्याहुः। तन्न। व्यक्तिपक्षे सर्वं लक्ष्यं शास्त्रं व्याप्नोति न जातिपक्षे इत्यत्र मानाभावात्। 'न ब्राह्मणं हन्यादि'त्यादौ जात्याश्रयसकलव्यक्तिविषयत्वार्थमेव जातिपक्षाश्रय-णस्य भाष्ये दर्शनात्।

अत एव 'सरूप' सूत्रे भाष्ये जातौ पदार्थेऽनवयवेन साकल्येन विधिप्रवृत्ते "गौरनुबन्ध्य' इत्यादौ सकलगवानुबन्धनासम्भवात् कर्मणो वैगुण्यमुक्तम्। द्रव्य-वादे चासर्वद्रव्यावगते "गौरनुबन्ध्य इत्यादावेकं शास्त्रोक्तमपरमशास्त्रोक्तम्" इत्युक्तम्। किञ्च—न हि भाष्योक्ततृजादिदृष्टान्तस्य व्यक्तिपक्ष एव सर्वविषय-त्वं न जातिपक्ष इत्यत्र मानमस्ति।

अपि च व्यक्तिपक्षेऽप्यन्यव्यक्तिरूपविषयलाभेन चरितार्थयोरियं व्यक्ति-र्विरोधात्स्वविषयकत्वं न कल्पयतीति वक्तुं शक्यम्। जातिपक्षेऽपि तज्जात्या-श्रयतद्व्यक्तिविषयकत्वमेव नैतद्व्यक्तिविषयकत्वमित्यत्र विनिगमकाभावः।

तत्र लक्ष्यानुसारात् क्वचिच्छास्त्रीयदृष्टान्ताश्रयणं, क्वचिल्लौकिकदृष्टान्ता-श्रयणमिति भाष्यसम्मतमार्ग एव युक्त इति बोध्यम्।

द्वयोः कार्ययोर्यौगपद्येनासम्भव एव विप्रतिषेधशास्त्रोपयोगी। **इदमिको गुणे**'ति सूत्रे कैयटे स्पष्टम्। यथा—'शिष्टादि'त्यादौ तातङ्शाभावयोर्युगपत् प्रवृत्तौ स्वस्वनिमित्तानन्तर्यासम्भवः। यद्यपि तातङादेः स्थानिवद्भावेनास्त्येव तत्, तथाप्यादेशप्रवृत्त्युत्तरमेव स, न तु तत्प्रवृत्तिकाले। एवं नुमृतृज्वत्त्वयोः 'प्रियक्रोष्टूनी'त्यादौ युगपदसम्भवो 'यदागमा' इत्यस्य नुम्प्रवृत्युत्तरं प्रवृत्तेः। 'एवं भिन्द्धी'त्यत्र तातङ्धिभावयोर्युगपदेकस्थानिसम्बन्धस्याङ्गरूपनिमित्तानन्त-र्यस्य चासम्भवो बोध्यः। नुम्नुटोरपि नुटचजादिविभक्त्याऽऽनन्तर्यबाधो नुमि ह्रस्वान्ताङ्गबाध इत्यसम्भवाद्विप्रतिषेधः।

क्वचिदिष्टानुरोधेन पूर्वशास्त्रे स्वरितत्वप्रतिज्ञाबलात् स्वरितेनाधिकं कार्यमित्यर्थात्पूर्वमेव [शास्त्रं] भवति। तेन '**सर्वे पूर्वविप्रतिषेधा सङ्गृहीता** इति '**स्वरितेने**'ति सूत्रे भाष्ये। विप्रतिषेधसूत्रस्थपरशब्दस्येष्टवाचित्वात् तत्-सङ्ग्रह इति विप्रतिषेधसूत्रे भाष्ये ॥४०॥

नन्वेवम्—'एधते' इत्यादौ परत्वाद्विकरणे'ऽनुदात्तङित' इत्यादिनियमानुपपत्तिः, तेन व्यवधानादत आह—

विकरणेभ्यो नियमो बलीयान् ।।४१।।

अत्र'वृद्भ्यः स्यसनोरि'ति सूत्रेण स्ये विभाषाऽतङ्विधानं ज्ञापकम्, अन्यथा स्यव्यवधाने नियमाप्रवृत्तौ सामान्यशास्त्रेणोभयसिद्धौ विकल्पविधानं व्यर्थं स्यात् । अत्रार्थे ज्ञापिते तु 'स्य इति तत्र विषयसप्तमी वोध्ये' 'त्यनुदात्तङित' इत्यत्र भाष्यकैयटयोः स्पष्टम् ।

विकरणव्यवधानेऽपि नियमप्रवृत्तेरिदं ज्ञापकमिति 'शदेःशित' इत्यत्र भाष्ये ध्वनितम् ।

वस्तुतः अस्माज्ज्ञापकादनुदात्तङित इत्यादि प्रकरणं तिबादिविध्येकवाक्यतया विधायकम् । तत्र 'धातोरि'ति विहितपञ्चमी, तत्समानाधिकरणमनुदात्तङित' इत्यादि विहितविशेषणमेव । एवञ्च लावस्थायां स्येऽपि तद्व्यवधाने तङ्सिद्धिः । शबादिभ्यस्तु पूर्वमेव नियमः । यद्वा—लमात्रापेक्षत्वादन्तरङ्गा आदेशा लकारविशेषापेक्षत्वात् स्यादयो बहिरङ्गा इति दिग्योगलक्षणपञ्चम्यामपि न दोषः । अत्र पक्षे 'वृद्भ्यः स्ये'ति सूत्रं स्यविषय इति व्याख्येयम् । आत्मनेपदशब्दादौ भाविसंज्ञाऽऽश्रयणीयेति तत्त्वम् ।

भिन्नवाक्यतया सामान्यशास्त्रविहितानां नियमे तु लुगादिनेव नियमेन जातनिवृत्तिरङ्गीकार्या । 'यो हि भुक्तवन्तं प्रति मा भुक्था इति ब्रूयात्, किं तेन कृतं स्यादि'ति न्यायस्तु नात्र शास्त्र आश्रयितुं युक्तो, नियमादिशास्त्राणां वैयर्थ्यापत्तेः ।

ध्वनितं चेदं 'स्थानेऽन्तरतम' इति सूत्रे भाष्ये । शास्त्रानर्थक्यन्तु वृद्धिसंज्ञासूत्रे तिरस्कृतम् । सामान्यशास्त्रेणोत्पत्तिस्तु सरूपसूत्रस्थकैयटरीत्या प्रधानानुरोधेन गुणभेदकल्पनात्तावत्प्रकृतिकल्पनया कार्या, प्रत्ययनिवृत्तौ च तत्कल्पितप्रकृतेरपि निवृत्तिः कल्प्येति गौरवमित्यन्यत्र विस्तरः ।।४१।।

परान्नित्यं बलवत् ।।४२।।

कृताकृतप्रसङ्गित्वात् । तत्राक्लृप्ताभावकस्याभावकल्पनापेक्षया क्लृप्ताभावकस्यैव तत्कल्पनमुचितमिति नित्यस्य बलवत्त्वे बीजम् । तदाह—कृताकृतप्रसङ्गि नित्यम्, तद्विपरीतमनित्यम् । अत एव 'तुदती' त्यादौ परादपि गुणान्नित्यत्वात् शप्रत्ययादिर्भवति ।।४२।।

यद्व्यक्तिसम्बन्धितया पूर्वं प्रवृत्तिः, तद्व्यक्तिसम्बन्धितयैव पुनः प्रवृत्तौ कृताकृतप्रसङ्गित्वमित्याशयेनाऽऽह—

शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन्विधिरनित्यो भवति ॥४३॥

इदं 'शदेः शित' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। तत्र हि 'न्यविशते' त्यत्र विकरणे कृते तदन्तस्याड्, अकृते विकरणे धातुमात्रस्येत्यडनित्य इत्युक्तम् ॥४३॥

एतत्तुल्यन्यायेनाऽऽह—

शब्दान्तरात् प्राप्नुवतः शब्दान्तरे प्राप्नुवतश्चानित्यत्वम् ॥४४॥

एतन्मूलकमेवाऽऽह—

लक्षणान्तरेण प्राप्नुवन्विधिरनित्यः ॥४५॥

अतिदेशविषये इय'मसिद्धवत्' सूत्रे कैयटेनोक्ता ॥४५॥

यदा तु शास्त्रव्यतिरेकेण तद्विधेयकार्ययोरेव नित्यत्वादिविचारो यदाऽपि व्यक्तिविशेषाश्रयणाभावः, तदाऽऽह—

क्वचित् कृताकृतप्रसङ्गमात्रेणापि नित्यता ॥४६॥

कृते द्वितीये नित्यत्वेनाभिमतस्य पुनः प्रसङ्गमात्रं नित्यत्वव्यवहारे प्रयोजकम्, न तु बाधकाबाधितफलोपहितप्रसङ्ग एव तथेति भावः ॥४६॥

तदाऽऽह—

यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते न तदनित्यम् ॥४७॥

क्वचित्तु बाधकाबाधितफलोपहितप्रसङ्ग एव गृह्यते। तदाऽऽह—

यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते तदप्यनित्यम् ॥४८॥

सप्तमे कैयटेन एतदुपष्टम्भकं लोकव्यवहारद्वयमुदाहृतम्—वालिसुग्रीवयोर्युध्यमानयोर्भगवता वालिनि हतेऽपि सुग्रीवस्य वालिनः प्राबल्यं न व्यवहरन्ति, भगवत्सहायैः पाण्डवैर्जये लब्धेऽपि पाण्डवानां प्राबल्यं व्यवहरन्ति चेति। सर्वं चेदं लक्ष्यानुरोधाद् व्यवस्थितम् ॥४८॥

'लुटः प्रथमस्ये'ति सूत्रे भाष्ये—

स्वरभिन्नस्य प्राप्नुवन्विधिरनित्यो भवति ॥४९॥

इति पठ्यते।

यत्र त्वेकस्यैव कार्यस्य परत्वं नित्यत्वं च, तत्रेच्छयाऽन्यतरत्तदुभयं वा तस्य बलवत्त्वे नियामकमुल्लेख्यम्। अत एव तत्र तत्र परत्वान्नित्यत्वाच्चेति भाष्य उच्यते।

वस्तुतः—तत्र परत्वादित्युक्तिरेकदेशिनः। स्पष्टं चेदं **विप्रतिषेधसूत्रे** कैयटे। "**णौ चङ्यु**"ति ह्रस्वापेक्षया नित्यत्वान्तरङ्गत्वप्रयुक्तद्वित्वस्य प्रथमतः प्रवृत्तौ नित्यत्वादित्येव भाष्य उक्तम्। एवं नित्यान्तरङ्गयोर्बलवत्त्वमपि यौगपद्यासम्भव एवेति बोध्यम् ॥४६॥

नित्यादप्यन्तरङ्गं बलीयः, अन्तरङ्गे बहिरङ्गस्यासिद्धत्वात्, तदाऽऽह—

असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ॥५०॥

अन्तर्मध्ये=बहिरङ्गशास्त्रीयनिमित्तसमुदायमध्ये, अन्तर्भूतान्यङ्गानि निमित्तानि यस्य तदन्तरङ्गम्। एवं तदीयनिमित्तसमुदायाद् बहिर्भूताङ्गकं बहिरङ्गम्। एतच्च '**खरवसानयोरि**'ति सूत्रे '**ऽसिद्धवत्सूत्रे**' च भाष्यकैयटयोः स्पष्टम्।

अत्राङ्गशब्देन शब्दरूपं निमित्तमेव गृह्यते शब्दशास्त्रे तस्यैव प्रधानत्वात्, **तेनार्थनिमित्तकस्य न बहिरङ्गत्वम्**। अत एव '**न तिसृचतसृ**' इति निषेधश्चरितार्थः। अन्यथा स्त्रीत्वरूपार्थनिमित्तकतिस्रपेक्षयाऽन्तरङ्गत्वात् त्रयादेशे तदसङ्गतिः स्पष्टैव। अत एव त्रयादेशे '**त्रन्तस्य प्रतिषेध**' इति स्थानिवत्सूत्रस्थभाष्यवार्तिकादि सङ्गच्छते।

एतेन—'गौधेरः, पचेदि' त्यादावेयादीनामङ्गसंज्ञासापेक्षत्वेन बहिरङ्गतयाऽसिद्धत्वाद्वलिलोपो न स्यादिति परास्तम्। एयादेशादेरपरनिमित्तकत्वेनान्तरङ्गत्वाच्च।

ननु '**येन विधिस्तदन्तस्ये**'ति सूत्रे भाष्ये '**इको यणची**'त्यादावपि तदन्तविधौ 'स्योन' इत्यत्रान्तरङ्गत्वाद्यणो गुणबाधकत्वमिष्यते। तन्न सिद्ध्येत्, **ऊनशब्दमाश्रित्य यणादेशो नशब्दमाश्रित्य गुण इत्यन्तरङ्गत्वाद् गुण एव स्यादि**त्युक्तम्।

अत्र कैयटः—'सिवेर्बाहुलकादौणादिके नप्रत्यये गुणवलोपोठां प्रसङ्गे ऊडपवादत्वाद्वलोपं बाधते गुणं त्वन्तरङ्गत्वाद् बाधते। गुणो ह्यङ्गसम्बन्धिनीमिग्लक्षणां लघ्वीमुपधामार्द्धधातुकं चाऽऽश्रयति। ऊठ् तु वकारान्तमङ्गमनुनासिकादिञ्च प्रत्ययमित्यल्पापेक्षत्वादन्तरङ्गः। तत्र कृते यण्गुणौ प्राप्नुत'

इति । एवञ्च संज्ञापेक्षस्यापि बहिरङ्गत्वं स्पष्टमेवोक्तमिति चेन्न । तदन्तविधावपि बहुपदार्थापेक्षत्वरूपबहिरङ्गत्वस्य गुणे सत्त्वेन तत्र दोषकथनपरभाष्यासङ्गतेः । **बहिरङ्गान्तरङ्गशब्दाभ्यां बह्वपेक्षत्वाल्पापेक्षत्वयोः शब्दमर्यादयाऽलाभाच्च ।** तथा सति 'असिद्धं बह्वपेक्षमल्पापेक्ष इत्येव वदेत् । अत एव विप्रतिषेधसूत्रभाष्ये 'गुणाद्यणादेशोऽन्तरङ्गत्वादि' त्यस्य 'स्योन' इत्युदाहरणम्, न तु गुणादूडन्तरङ्गत्वादि' त्युक्तम् । त्वद्रीत्या तदपि वक्तुमुचितम् । प्राथम्यात्तदेव वा वक्तुमुचितम् । मम त्वन्तरङ्गपरिभाषया तद्वारणासम्भवात्तन्नोक्तम् ।

किञ्च सिद्धान्ते नित्यत्वाद् गुणात् पूर्वमूठ्, गुणस्तु ऊठि यणा बाधितत्वादनित्यः । ऊनशब्दमाश्रित्येत्यादिभाष्येण च परिभाषायामङ्गशब्देन सप्तम्याद्यन्तोपात्तं शब्दरूपं निमित्तमेव गृह्यत इति स्पष्टमेवोक्तम् ।

यत्तु—कैयटेन तदन्तविधिपक्षे परत्वाद् गुणः प्राप्नोतीत्युक्तम्, तत्तु नशब्दमाश्रित्येत्यादिभाष्यासङ्गत्या चिन्त्यम् ।

वलिलोपेऽन्तरङ्गपरिभाषा न प्रवर्तत इति तु न युक्तम्, तत्सूत्रे भाष्य एव व्रश्चादिषु लोपातिप्रसङ्गमाशङ्क्योपदेशसामर्थ्यान्न, न च 'वृश्चति' इत्यादौ चारितार्थ्यम्, बहिरङ्गतया सम्प्रसारणस्यासिद्धत्वेन पूर्वमेव तत्प्राप्तेरिति भाष्योक्तेः ।

यत्तु—नलोपस्य षट्संज्ञायामसिद्धत्वात् 'पञ्चे'त्यत्र न षडिति निषेध इति । तच्चिन्त्यम् । नलोपस्य हि पदसंज्ञासापेक्षत्वेन बहिरङ्गत्वं वाच्यम् । तच्च न, संज्ञाकृतबहिरङ्गत्वस्यानाश्रयणात् । 'पञ्चे' त्यत्र निषेधस्तु स्त्रियां यत् प्राप्नोति तन्नेति व्याख्यानसामर्थ्येन भूतपूर्वषट्त्वमादायेति बोध्यम् ।

अत एव कृतितुग्ग्रहणं चरितार्थम् । 'वृत्रहभ्यामि' त्यादौ पदत्वनिमित्तकत्वेऽपि नलोपस्य बहिरङ्गत्वाभावात् । भ्यामः पदसंज्ञानिमित्तत्वेऽपि नलोपस्य तन्निमित्तकत्वाभावात् । **परम्परया निमित्तत्वमादाय बहिरङ्गत्वाश्रयणे तु न मानम् ।** ध्वनितं चेदं 'नलोपः सुबि'ति सूत्रे भाष्य इति तत्रैव भाष्यप्रदीपोद्योते निरूपितम् ।

अन्तरङ्गे कर्तव्ये जातं तत्कालप्राप्तिकञ्च बहिरङ्गमसिद्धमित्यर्थः । वृश्चत्यादिषु पदसंस्कारपक्षे समानकालत्वमेव द्वयोरिति बोध्यम् ।

एतेन—अन्तरङ्गं बहिरङ्गाद् बलीय इति परिभाषान्तरमित्यपास्तम् । एनामाश्रित्य विप्रतिषेधसूत्रे भाष्ये तस्याः प्रत्याख्यानाच्च ।

अन्तरङ्गशास्त्रत्वमस्या लिङ्गम् ।

इयं च त्रिपाद्यां न प्रवर्तते, त्रिपाद्या असिद्धत्वात् । अस्याञ्च **'वाह ऊठ्'**

सूत्रस्थमूङ्ग्रहणं ज्ञापकमित्येषा सपादसप्ताध्यायीस्था। अन्यथा सम्प्रसारण-मात्रविधानेन लघूपधगुणे 'वृद्धिरेची'ति वृद्धौ 'विश्वौह' इत्यादिसिद्धेस्तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव। सत्यां ह्येतस्यां बहिरङ्गसम्प्रसारणस्यासिद्धत्वाल्लघूपधगुणो न स्यात्। न च 'पुगन्ते'ति सूत्रे निमित्तमिको विशेषणम्, अत एव 'भिनत्ती' त्यादौ न गुणः। एवञ्च 'नाजानन्तर्यं' इति निषेधात्कथं परिभाषाप्रवृत्तिरिति वाच्यम्। **प्रत्ययस्याङ्गांश उत्थिताकाङ्क्षत्वेन तत्रैवान्वयात्**, 'पुगन्ते' त्यादौ कर्म-धारयाश्रयणेन प्रत्ययपराङ्गावयवलघूपधारूपेको गुण इति **'इको गुणवृद्धी'** इति सूत्रभाष्यसम्मतेऽर्थे 'भिनत्ती' त्यादावदोषाच्च।

अकारान्तोपसर्गेऽनकारान्ते चोपपदे वहेर्वाहिर्वा ण्विविचावनभिधानान्न स्त एव। वार्यूहेत्यादि तूहतेः क्विपि बोध्यम्। धातूनामनेकार्थत्वान्नार्थसङ्गतिः। 'प्रौह' इत्याद्यसाध्वेव, वृद्धेरप्राप्तेः। अस्योहस्याऽऽनर्थक्यान्न 'प्रादूहोढे' त्यस्यापि प्रवृत्तिः।

न च कार्यकालपक्षे त्रिपाद्यामेतत्प्रवृत्तिर्दुर्वारेति वाच्यम्। पूर्वं प्रति परस्या-सिद्धत्वादन्तरङ्गाभावेन पूर्वस्य तन्निरूपितबहिरङ्गत्वाभावात्तया तस्यासिद्धत्व-प्रतिपादनासम्भवात्। न चानया पूर्वस्यासिद्धत्वादभावेन तं प्रति परासिद्धत्वं पूर्वत्रेत्यनेन वक्तुमशक्यमिति वाच्यम्। एवं हि विनिगमनाविरहादुभयोरप्य-प्रवृत्त्यापत्तेः। किञ्च **'पूर्वत्रे'**त्यस्य प्रत्यक्षत्वेन तेनाऽऽनुमानिक्या अस्या बाध एवोचितः। अतः **कार्यकालपक्षेऽपि त्रिपाद्यामस्या अनुपस्थितिरेव।**

अत एव कार्यकालपक्षमेवोपक्रम्योक्तयुक्तीरुक्त्वा "अतोऽयुक्तोऽयं परिहारो न वा बहिरङ्गलक्षणत्वादि"त्युक्तं **विसर्जनीयसूत्रे** भाष्ये सिद्धान्तिना। त्रिपादी-स्थेऽन्तरङ्गे कर्तव्येऽयं परिहारो न युक्त इति तदर्थः। किन्तु वचनमेवाऽऽरब्ध-व्यमिति तदाशयः।

अत एव 'निगाल्यत' इत्यादौ लत्वार्थं तस्य दोष इति वचनमेवाऽऽरब्धम्। अन्यथा अन्तरङ्गत्वाण्णिलोपात्पूर्वं वैकल्पिकलत्वे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव।

येऽपि लक्ष्यानुरोधादानुमानिक्याऽप्यन्तरङ्गपरिभाषया प्रत्यक्षसिद्धस्य **'पूर्वत्रे'**-त्यस्य बाधं वदन्ति, तेऽपि लक्षणैकचक्षुर्भिर्नाऽऽदर्तव्या इति दिक्।

अत एव **'ओमाङोश्चे'**त्याङ्ग्रहणं चरितार्थम्। तद्धि 'खट्वा+आ+ऊढे'-त्यत्र परमपि सवर्णदीर्घं बाधित्वाऽन्तरङ्गत्वाद् गुणे कृते वृद्धिप्राप्तौ पररूपा-र्थम्। साधनबोधकप्रत्ययोत्पत्त्यनन्तरं पूर्वं धातोरुपसर्गयोगे पश्चात् खट्वा-शब्दस्य समुदायेन योगाद् गुणस्यान्तरङ्गत्वमिति **'सम्प्रसारणाच्चे'**सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। 'एही' त्यनुकरणस्य शिवादिशब्दसम्बन्धे तु नास्य प्रवृत्तिः, ज्ञापकपर-

'सम्प्रसारणाच्चे'ति सूत्रस्थभाष्यप्रामाण्येनानित्यं **प्रकृतिवदनुकरणमित्यतिदेश**-मादाय लब्धाङ्त्वे एतदप्रवृत्तेः ।

यत्तु—**पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात्साधनेन ।** उपसर्गेण तत्संज्ञक-शब्देन साधनेन कारकेण तत्प्रयुक्तकार्येण च । अत एव 'अनुभूयत' इत्यादौ सकर्मकत्वात् कर्मणि लकारसिद्धिरिति तन्न । क्रियायाः साध्यत्वेन बोधात् साध्यस्य च साधनाकाङ्क्षतया तत्सम्बन्धोत्तरमेव निश्चितक्रियाबोधेन साधन-कार्यप्रवृत्त्युत्तरमेव क्रियायोगनिमित्तोपसर्गसंज्ञकस्य सम्बन्धौचित्यात् । अत एव **'सुट् कात्पूर्वं'** इति सूत्रे **'पूर्वं धातुरुपसर्गेणे'**त्युक्त्वा **नैतत्सारम् । पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेणेत्युक्त्वोक्तयुक्त्याऽस्यैव युक्तत्वमुक्तं 'साधनं हि क्रियां निर्वर्तयती'**त्यादिना भाष्ये । **उपसर्गद्योत्यार्थान्तर्भावेण धातुनैवार्थाभि-धानादुक्तेषु कर्मणि लकारादिसिद्धिः । पश्चाद्द्योतृबोधाय द्योतकोपसर्ग-सम्बन्धः ।**

एवं चान्तरङ्गतरार्थकोपसर्गनिमित्तः सुट् संकृतीत्यवस्थायां द्वित्वादितः पूर्वं प्रवर्तते, ततो द्वित्वादि ।

अत एव 'प्रणिदापयती'त्यादौ णत्वं **'यदागमा'** इति न्यायेन समाहितं भाष्ये ।

अत एव प्रत्येति प्रत्यय इत्यादिसिद्धिः । अन्यथाऽन्तरङ्गत्वात् सवर्णदीर्घे रूपासिद्धिः ।

यदुपसर्गनिमित्तकं कार्यमुपसर्गार्थाश्रितं विशिष्टोपसर्गनिमित्तकत्वात्तदन्त-रङ्गम् । यत्तु न तथा, तत्र पूर्वागतसाधननिमित्तकमेवान्तरङ्गम् । अत एव **'न धात्वि'**ति सूत्रे **'प्रेद्ध'** इत्यत्र गुणो बहिरङ्ग इति भाष्य उक्तम् ।

किञ्च पूर्वमुपसर्गयोगे धातूपसर्गयोः समासे ऐकस्वर्याद्यापत्तिरि **'त्युपपदम-तिङि'** ति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ।

भावार्थप्रत्ययस्यापि पूर्वमेवोत्पत्तिः । अत एव **'णेरध्ययने'** इति निर्देशः सङ्गच्छते । इदं च सामान्यापेक्षं ज्ञापकं भावतिङोऽपि पूर्वमुत्पत्तेः, अन्यथा तत्र समासापत्तिः । तिङि त्वतिङिति निषेधान्न तत्र दोषो यदि भावतिङ्युपसर्ग-योगोऽस्तीत्यलम् ।

यत्तु—**विशेषापेक्षात् सामान्यापेक्षमन्तरङ्गं,** विशेषापेक्षे विशेषधर्मस्याधि-कस्य निमित्तत्वात् । यथा **'रुदादिभ्य सार्वधातुक'** इत्यत्र रुदादित्वं सार्वधातुक-त्वज्ञानाय प्रकृतेर्धातुत्वज्ञानं प्रत्ययस्य प्रत्ययत्वज्ञानं चाऽऽवश्यकमिति यासुडन्त-रङ्गः । एतेन—**'यदनुदात्तङित'** इति सूत्रे कैयटेनोक्तं **'लमात्रापेक्षयाऽन्तरङ्गा-**

स्तिबादयो लकारविशेषापेक्षत्वाद् बहिरङ्गाः स्यादय' इति, तत्परास्तम्। विशेषापेक्षत्वेऽपि तस्य सामान्यधर्मनिमित्तकत्वाभावेन तत्त्वस्य दुरुपपादत्वात्। परनिमित्तकत्वेन स्यादीनां बहिरङ्गत्वाच्चेति। तन्न। विशेषस्य व्याप्यत्वेन व्यापकस्यानुमानेनोपस्थितावपि तस्य निमित्तत्वे मानाभावेनाधिकधर्मनिमित्तकत्वानुपपादनात्। भाष्ये एवंविधान्तरङ्गबहिरङ्गभावस्य क्वाप्यनुल्लेखाच्च।

यत्तु—मतुप्सूत्रे भाष्ये 'पञ्च गावो यस्य सन्ति, स पञ्चगुरि' त्यत्र मतुप्प्राप्तिमाशङ्क्य प्रत्येकमसामर्थ्यात् समुदायादप्रातिपदिकत्वात् समासात् समासेनोक्तत्वादिति सिद्धान्तिनोक्ते **"नैतत्सारमुक्तेऽपि हि प्रत्ययार्थे उत्पद्यते द्विगोस्तद्धितो यथा 'पाञ्चनापितिरि"** ति पूर्वपक्ष्युक्तिर्भाष्ये। द्विगोर्लुगनपत्ये इति लुग्विधानात्तद्धितार्थद्विगोस्तद्धितो भवति पञ्चगुशब्दश्च द्विगुरिति तदाशयं कैयटः। ततो द्वैमातुरः, पाञ्चनापितिः, 'पञ्चसु कपालेषु संस्कृत' इत्यादौ सावकाशद्विगोर्बहुव्रीहिणा प्रकृते परत्वाद् बाध इत्याशयेन नैष द्विगुः, कस्तर्हि बहुव्रीहिरिति सिद्धान्तिनोक्ते तमवकाशमजानानोऽपवादत्वाद् द्विगुः प्राप्नोतीति पूर्वपक्षी। अन्यपदार्थे सुबन्तमात्रस्य विधीयमानबहुव्रीहेः संख्यायास्तद्धितार्थे विधीयमानो द्विगुर्विशेषविहितत्वाद् बाधकः प्राप्नोतीति कैयटः। ततः सिद्धान्त्येकदेश्याह— **'अन्तरङ्गत्वाद् बहुव्रीहिः। कान्तरङ्गता? अन्यपदार्थे बहुव्रीहिर्विशिष्टेऽन्यपदार्थे द्विगुस्तस्मिंश्चास्य तद्धितेऽस्तिग्रहणं क्रियत'** इति। अधिकास्त्यर्थापेक्षमत्वर्थनिमित्तो द्विगुर्बहिरङ्ग इति कैयट इति। नैषा सिद्धान्त्युक्तिः, एतावताप्यपवादत्वाहानेः। अच्सामान्यापेक्षयणो विशिष्टसवर्णाजपेक्षदीर्घेण बाधदर्शनात्। किञ्चोक्तरीत्या परत्वेनैव बाधसिद्धेः। किं चात्राधिकापेक्षत्वेनैव बहिरङ्गत्वम्। न केवलविशेषापेक्षत्वेनेति नैतद्भाष्यारूढं विशेषापेक्षस्य बहिरङ्गत्वम्। अत एव सुबन्तसामान्यापेक्षो बहुव्रीहिस्तद्विशेषापेक्षो द्विगुरिति नोक्तं भाष्ये।

न चार्थकृतबहिरङ्गत्वस्यानाश्रयणादिदमयुक्तम्, एकदेश्युक्तित्वेनादोषात्। अत एवास्तिग्रहणं नोपाध्यर्थं किं त्वस्तिशब्दान्मतुवर्थमिति त्वदभिमतं बहिरङ्गत्वमपि द्विगोर्नास्तीति प्रतिपाद्य सिद्धान्तिना **मत्वर्थे द्विगोः प्रतिषेधो वक्तव्य** इति वचनेनैतत्सिद्धमित्युक्तम्। अत एव **'तदोः सः सावि'** ति सूत्रेऽनन्त्ययोरिति चरितार्थम्, अन्यथा प्रत्ययसामान्यापेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वादन्त्यस्यात्वेऽनन्त्यस्यैव सत्त्वे सिद्धे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव।

'पादः पदि' ति सूत्रे भाष्यकैयटयोरप्येतदन्तरङ्गत्वाभाव एव सूचित इति सुधियो विभावयन्तु।

नन्वेव 'मसुस्त्रुवदि' त्यत्र लघूपधगुणादुवङोऽल्पनिमित्तकत्वाभावादुवङ् न स्यादिति चेन्न । **तत्रान्तःकार्यत्वरूपान्तरङ्गत्वसत्त्वात् । अन्तःकार्यत्वं च पूर्वोपस्थितनिमित्तकत्वम्,** अङ्गशब्दस्य निमित्तपरत्वात् ।

इदमन्तरङ्गत्वं लोकन्यायसिद्धमिति मनुष्योऽयं प्रातरुत्थाय शरीरकार्याणि करोति, ततः सुहृदाम्, ततः सम्बन्धिनाम् । अर्थानामपि जातिव्यक्तिलिङ्गसङ्ख्याकारकाणां बोधक्रमः शास्त्रकृत्कल्पितस्तत्क्रमेणैव च तद्बोधकशब्दप्रादुर्भावः कल्पित इति तत्क्रमेणैव तत्कार्याणीति 'पट्व्ये' त्यादावन्तरङ्गत्वात् पूर्वं पूर्वयणादेशः परयणादेशस्य बहिरङ्गतयाऽसिद्धत्वादित्यनेन **'अचः परस्मिन्नि'**ति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ।

तदपि **युगपत्प्राप्तौ पूर्वप्रवृत्तिनियामकमेव** । यथा 'पट्व्ये' त्यत्र पदस्य विभज्यान्वाख्याने, **न तु जातस्य बहिरङ्गस्य तादृशेऽन्तरङ्गेऽसिद्धतानियामकं** प्रागुक्तलोकन्यायेन तथैव लाभादिति 'वाह ऊठ्' सूत्रे कैयटे स्पष्टम् । अत एव 'वाय्वोरि'त्यादौ वलि लोपो यणः स्थानिवत्त्वेन वारितो **'ऽचः परस्मिन्नि'**त्यत्र भाष्यकृता । क्रमेणान्वाख्याने तु उक्तोदाहरणे पूर्वप्रवृत्तिकत्वमन्तरङ्गत्वं बहिरङ्गस्यासिद्धत्वमपि निमित्ताभावादप्राप्तिरूपं बोध्यम् ।

यत्तु एवंरीत्या **पूर्वस्थानिकमप्यन्तरङ्गमिति । तच्चिन्त्यम् ।** 'स्रजिष्ठ' इत्यादौ विन्मतोर्लुकि टिलोपस्यापवादविन्मतोर्लुक्प्रवृत्त्या जातिपक्षाश्रयणेन वारणप्रयासस्य 'प्रकृत्यैकाजि'ति सूत्रप्रयोजनखण्डनावसरे भाष्यकृत्कृतस्य नैष्फल्यापत्तेः । त्वदुक्तरीत्या विन्मतोर्लुको बहिरङ्गासिद्धत्वेनानायासतस्तद्वारणात् । भाष्य ईदृशरीत्या बहिरङ्गासिद्धत्वस्य क्वाप्यनाश्रयणाच्च । परिभाषायामङ्गशब्दस्य निमित्तपरत्वाच्च ।

इयं चोत्तरपदाधिकारस्थबहिरङ्गस्य नासिद्धत्वबोधिकेति च **'एकाचोऽमि'**ति सूत्रे भाष्ये पूर्वपक्ष्युक्तिरिति, सा नाऽऽदर्तव्या । 'परन्तप' इत्यादावनुस्वारे नासिद्धत्वं मुमस्त्रिपाद्यां तदप्रवृत्तेः ।

नव्यमतेऽपि यथोद्देशपक्षाश्रयणेनान्यथासिद्धोदाहरणदानेन तस्य तदुक्तित्वमावश्यकमित्याहुः । आभीयेऽन्तरङ्गे आभीयस्य बहिरङ्गस्य समानाश्रयस्य नानेनासिद्धत्वमसिद्धत्वादित्यसिद्धवत्सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ।

एवं सिचि वृद्धेर्येन नाप्राप्तिन्यायेनान्तरङ्गबाधकत्वमूलकं न सिच्यन्तरङ्गमस्तीति 'इको गुणे' ति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ॥५०॥

नन्वेवम् 'अक्षद्यूरि' त्यादौ बहिरङ्गस्योठोऽसिद्धत्वादन्तरङ्गो यण् न स्यादत आह—

नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः ।।५१।।

अत्र 'षत्वतुकोरिति सूत्रस्थं तुग्ग्रहणं ज्ञापकम् । अन्यथा अधीत्य, प्रेत्ये'-त्यादौ समासोत्तरं ल्यप्प्रवृत्त्या पूर्वं समासे जाते तत्र संहिताया नित्यत्वाद् ल्यबुत्पत्तिपर्यन्तमप्यसंहितयाऽवस्थानासम्भवेनैकादेशे ल्यपि तुगपेक्षया पदद्वय-सम्बन्धिवर्णद्वयापेक्षैकादेशस्य बहिरङ्गतयाऽसिद्धत्वेन तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । पदद्वयसम्बन्धिवर्णद्वयापेक्षं बहिरङ्गमिति 'प्रेद्ध' इत्यादौ गुणो वहिरङ्ग इति ग्रन्थेन 'न धातुलोप' इति सूत्रे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति सूत्रे च भाष्ये स्पष्टम् ।

यत्तु—षत्वग्रहणमपि ज्ञापकम्, अन्यथा 'कोऽसिचदि' त्यादौ पदद्वयसम्बन्धि-वर्णद्वयापेक्षत्वेन बहिरङ्गस्यैकादेशस्यासिद्धत्वेन षत्वाप्रवृत्तौ किं तेनेति । तन्न । इणः पूर्वपदसम्बन्धित्वेन षत्वस्यापि पदद्वयसम्बन्धिवर्णद्वयापेक्षत्वेनोभयोः समत्वात् । एकादेशस्य परादित्वेन 'ओसिचदि' त्यस्य पदत्वेन पदादित्वाभा-वान्न सात्पदाद्योरित्यनेन निषेधः । त्रैपादिकेऽन्तरङ्गे कार्यकालपक्षेऽपि बहि-रङ्गपरिभाषाया अप्रवृत्तेः पूर्वमुपपादितत्वाच्च ।

परिभाषार्थस्तु—अचोऽन्यानन्तर्यनिमित्तकेऽन्तरङ्गे कर्तव्ये जातस्य बहि-रङ्गस्य बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिर्न । बहिष्पदेन बहिरङ्गम्, तस्य भावो बहिरङ्गत्वम् । तत्प्रयुक्तासिद्धत्वस्य न प्रक्लृप्तिः, न प्राप्तिरिति । असिद्धं बहिरङ्गमित्युक्त्वा 'नाजानन्तर्ये' इति वक्ष्यामीति भाष्योक्त्या तत्रत्यस्यान्तरङ्ग इत्यस्यानुवृत्ति-सूचनात् । तेन 'पचावेदमि' त्यादौ न दोषः । अन्तरङ्गस्याच्स्थानिककार्यस्यै-त्वस्यान्यानन्तर्यनिमित्तकत्वाभावात् ।

जातस्य बहिरङ्गस्येत्युक्त्या 'अयजे इन्द्र धियती' त्यादौ बहिरङ्गदीर्घ-गुणादेरसिद्धत्वं सिद्धम् । अत एव 'इण्ङशीनामाद्गुणः सवर्णदीर्घत्वाच्छ्चङन्त-स्यान्तरङ्गलक्षणत्वादित्यादि सङ्गच्छते ।

अत एव 'ओमाङोश्चे' त्याङ्ग्रहणं चरितार्थम् । तद्धि 'शिव + आ + इही' ति स्थिते परमपि सवर्णदीर्घं बाधित्वा धातूपसर्गकार्यत्वेनान्तरङ्गत्वाद् आद्गुणे वृद्धिबाधनार्थम् ।

न च 'अक्षद्यूरि' त्यत्र यणि कृते ऊठोऽसिद्धत्वाद्धलिलोपापत्तिरिति वाच्यम् । अचोऽन्यानन्तर्यनिमित्तकेऽन्तरङ्गे कर्तव्ये कृते च तस्मिन् यदन्तरङ्गं प्राप्नोति तत्र च कर्तव्ये नासिद्धत्वमिति तदर्थात् । असिद्धपरिभाषाया अनित्यत्वेन तद्वा-रणे त्वस्या वैयर्थ्यं तेनैव सिद्धेः ।

अत एव **'नलोपः सुपि'**ति सूत्रे कृति तुग्ग्रहणं चरितार्थम्। अन्यथा 'वृत्रहभ्यामि' त्यादौ वहिर्भूतभ्याम्-निमित्तकपदत्वाश्रयत्वेन वहिरङ्गतया नलोपस्यासिद्धत्वेन सिद्धेस्तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । मम तु तुक्यजानन्तर्यसत्त्वान्न दोषः ।

न चैवं सति **'ह्रस्वस्य पिती'** ति सूत्रस्थभाष्यविरोधः, तत्र हि 'ग्रामणिपुत्र' इत्यत्र **'इको ह्रस्वोऽङ्य'** इति ह्रस्वे कृते तुकमाशङ्क्य ह्रस्वस्य वहिरङ्गासिद्धत्वेन समाहितम्, 'नाजानन्तर्ये' इत्यस्य सत्त्वे तत्र तदप्राप्तेरसङ्गतिः स्पष्टैवेति वाच्यम् । तेन भाष्येणास्या अनावश्यकत्वबोधनात् । एतज्ज्ञापकेनान्तरङ्गपरिभाषाया अनित्यत्वबोधनस्यैव न्याय्यत्वात् ।

अत एव **'अचः परस्मिन्नि'**ति सूत्रे भाष्ये 'पटु+इ+आ' इत्यत्र परयणादेशस्यानयाऽसिद्धत्वात् पूर्वयणादेशः साधितः । अत एवैषा भाष्ये 'पुनः' क्वापि नोल्लिखिता । अत एवान्तरङ्गपरिभाषामुपक्रम्य विप्रतिषेधसूत्रेऽस्या बहूनि **प्रयोजनानि सन्ति, तदर्थमेषा परिभाषा कर्तव्या प्रतिविधेयं च दोषेष्वि'** त्युक्तं 'सम्प्रसारणाच्चे' ति सूत्रे भाष्ये । प्रतिविधानं च परिभाषाविषयेऽनित्यत्वाश्रयणमेवेति ध्वनितमित्यलम् ॥५१॥

नन्वेवं 'गोमत्प्रिय' इत्यादौ पदद्वयनिमित्तकसमासाश्रितत्वेन बहिरङ्गं लुकं बाधित्वाऽन्तरङ्गत्वाद्धल्ङ्यादिलोपे नुमादयः स्युरत आह—

अन्तरङ्गानपि विधीन्बहिरङ्गो लुग्बाधते ॥५२॥

अत्र च **'प्रत्ययोत्तरपदयोश्चे'**ति सूत्रं ज्ञापकम् । 'त्वत्कृतमि' त्यादौ लुगपेक्षयाऽन्तरङ्गत्वाद्विभक्तिनिमित्तकेन' 'त्वमावेकवचने' इत्यनेन सिद्ध इदं व्यर्थं सदेतज्ज्ञापकम् ।

ननु 'तव पुत्रस्त्वत्पुत्र' इत्यादौ तवममादिबाधनार्थं तदावश्यकमिति चेत्—एवं तर्ह्यत्रत्यमपर्यन्तग्रहणानुवृत्तिस्तज्ज्ञापिकेति भाष्यकृतः ।

युष्मदादिभ्य आचारक्विप् तु न । सम्पूर्णसूत्रस्य ज्ञापकतापरभाष्यप्रामाण्या **'ह्रस्वनद्याप'** इति नुड्विधायक सूत्रस्थभाष्यप्रामाण्येन हलन्तेभ्य **आचारक्विबभावाच्च** । एवमेवैकार्थकाभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां प्रातिपदिकणिचोऽप्यनभिधानं बोध्यम् । एतेन तत्राऽऽदेशार्थं प्रत्ययग्रहणं चरितार्थमित्यपास्तम् ।

ननु मपर्यन्तानुवृत्तिरपि सर्वादेशत्ववारणाय चरितार्था ।

न **'चोत्सर्गसमानदेशा अपवादा'** इति न्यायेनासिद्धवत्सूत्रस्थभाष्यसम्मतेन मपर्यन्तस्यैवाऽऽदेशे सिद्धे तदनुवृत्तिर्व्यर्थेति वाच्यम् । तस्य श्नमकजादौ व्यभि-

चारादिति चेन्न । श्नमि मित्त्वेन बहुचि पुरस्ताद् ग्रहणेनाकचि प्राक्टेर्ग्रहणेन तस्य बाधेऽप्यत्रोत्सर्गस्य त्यागे मानाभावात् ।

अत एव **तस्मिन्नणि** चेत्यनेन युष्माकाद्यादेशविधानं चरितार्थम्, अन्यथाऽऽकङादेशमेव विदध्यात् । आकङि तवकाद्यादेशयोरेतदपवादयोरुक्तन्यायेनान्त्यादेशत्वापत्तिः, अतस्तद्विधानम् । इदमेव च तज्ज्ञापकम् । यद्यपि **विरोधे बाधकत्वमिति वार्तिकमतेऽयं** न्यायो **भाष्यकारस्तु विनाऽपि विरोधं सत्यपि सम्भवे बाधकत्वमिच्छतीत्य**नभिहितसूत्रस्थकैयटरीत्या नायं नियमः । तथापि युष्माकाद्यादेशविधानज्ञापित उत्सर्गः स्वीक्रियत एवेति प्रकृते न दोषः । एतद् भाष्यमपि तत्स्वीकारे मानम् ।

एवं च मपर्यन्तानुवृत्ति 'स्त्वत्कृतमि' त्यादौ मपर्यन्तस्याऽऽदेशविधानार्था । तत्र चान्तरङ्गत्वात्त्वमावित्येव सिद्धे व्यर्था सैतज्ज्ञापिका । ज्ञापिते त्वस्मिन्नेतद्विषये तवादीनामप्राप्त्या तदपवादत्वाभावेन मपर्यन्तस्यैवाऽऽदेशार्थं सा चरितार्थेति तदाशयः

यत्तु—हरदत्तेनान्तरङ्गप्रवृत्तौ प्रत्यय उत्तरपदे च मपर्यन्तासम्भवेन तदनुवृत्तिः व्यर्था सती ज्ञापिकेत्युक्तम् । तन्न । अन्तरङ्गाणामप्यपवादबाध्यत्वेन तद्विषये तदप्रवृत्तेः ।

वस्तुतस्तु—**इदं ज्ञापकं वार्तिकरीत्यैव, भाष्यरीत्या** तु **वाचनिक एवायमर्थ** इत्याहुः ।

इयं **'सुपो धात्वि'** ति लुग्विषयैवेति केचित् । **एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धेः, न यासयोरि'** ति सूत्रस्थाकरप्रामाण्येन लुग्मात्रविषया । आद्ये 'हे त्रपु' इत्यादावनेन न्यायेन लोपं बाधित्वा लुग्भवतीति भाष्ये उक्तम् । **अन्त्येऽन्तरङ्गांश्च विधीन् सर्वोऽपि लुग्बाधते, न तु सुब्लुगेव** । अत एव 'सनीस्रंस' इत्यादौ नलोपो न भवति । पञ्चभिः खट्वाभिः क्रीतः पञ्चखट्व इत्यादावेकादेशात्प्रागेव टापो लुक् । अन्यथा कृतैकादेशस्य लुक्यकारश्रवणं न स्यादिति कैयटे उक्तम् । एतद्विरोधात् 'यत्तद्राजस्ये'ति सूत्रे कैयटेनोक्त'मङ्गानतिक्रान्तोऽत्यङ्ग' इत्यत्र सुपो लुकि बहुवचनपरत्वाभावात्तद्राजस्येति लुग्न स्यादिति शङ्कापरभाष्यव्याख्यावसरे अन्तरङ्गानपीति न्यायेनायं लुक् सुब्लुको बाधकः स्यादित्याशङ्क्य सुब्लुक एवानेन बलवत्त्वं बोध्यत इति तत्प्रौढ्येति द्रष्टव्यम् । **लुगपेक्षया लुको बलवत्त्वस्य वक्तुमशक्यत्वादिति** तदाशङ्कासमाधानं वक्तुं युक्तम् ।

अनेन न्यायेनान्तरङ्गनिमित्तविनाशकलुकस्तत्प्रयोजकसमासादीनां च प्राब-

ल्यं बोध्यत इत्यन्यत्र विस्तरः ॥५२॥

नन्वेवं सौमेन्द्रेऽन्तरङ्गत्वादाद्गुणे पूर्वपदात्परेन्द्रशब्दाभावेन **'नेन्द्रस्य परस्ये'** ति वृद्धिनिषेधो व्यर्थः। अन्तादिवद्भावस्तूभयत आश्रयणे निषिद्धः।

किञ्च वृद्धिरप्यत्र न प्राप्नोत्यन्तादिवत्त्वोभयाभावेऽपि पूर्वान्तवत्त्वेनैकादेश-विशिष्टे पूर्वपदत्वेन इन्द्रशब्दस्यैकदेशविकृतन्यायेन 'उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्' इत्यस्याभावेन तदाश्रयणेन वोत्तरपदत्वेऽपि तस्यानच्कत्वादेकस्यैकादेशेन परस्य नित्येन **यस्येति** लोपेनापहारात्।

न च परादिवद्भावेनैकादेशविशिष्टस्योत्तरपदत्वमेवास्त्विति तत्सम्भव इति वाच्यम्। उत्तरपदाद्यच्स्थानिकत्वाद् वृद्धेस्तदभावेनाप्राप्तेस्तादृप्यानतिदेशात्। अन्यथा 'खट्वाभिरि' त्यादावपि पूर्वान्तवत्त्वेनादन्तत्वे भिस ऐसापत्तिरिति भाष्ये स्पष्टम्। अत एव 'पूर्वेषुकामशम' इत्यादावन्तरङ्गत्वाद् आद्गुणे वृद्धिर्न स्यादित्याशङ्कितम्। तदेकदेशमात्रस्य विकाराभावाच्च।

तदुक्तं भाष्ये—**'इन्द्रे द्वावचावेको यस्येति लोपेनापहृतोऽपर एकादेशेन ततोऽनच्क इन्द्रशब्दः सम्पन्नस्तत्र कः प्रसङ्गो वृद्धेरि'** ति।

मरुदादिभिरिन्द्रस्य द्वन्द्वे इन्द्रस्यैव पूर्वनिपातोऽत आह—

पूर्वोत्तरपदनिमित्तकार्यात् पूर्वमन्तरङ्गोऽप्येकादेशो न ॥५३॥

अत्र च नेन्द्रस्येति निषेध एव ज्ञापक इति **'अन्तादिवच्च विप्रतिषेधे परमि'**-ति सूत्रयोर्भाष्ये स्पष्टम् ॥५३॥

नन्वेवमपि 'प्रधाय, प्रस्थाये' त्यादावन्तरङ्गत्वाद्धित्वादिषु कृतेषु ल्यप् स्यादत आह—

अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो ल्यब्बाधते ॥५४॥

'अदो जग्धिरि' ति सूत्रे ति कितीत्येव सिद्धे ल्यब्ग्रहणमस्या ज्ञापकमिति 'अदो जग्धिरि' त्यत्र भाष्ये स्पष्टम् ॥५४॥

नन्वेव'मपीयाये' त्यादौ द्वित्वे कृतेऽन्तरङ्गत्वात् सवर्णदीर्घत्वे तदसिद्धि-रत आह—

वार्णादाङ्गं बलीयो भवति ॥५५॥

तेनान्तरङ्गमपि सवर्णदीर्घं बाधित्वा वृद्धिरिति तत्सिद्धिः।

'अभ्यासस्यासवर्णे' इतीयङ्विधायकसूत्रस्थमसवर्णग्रहणमस्या ज्ञापकम्।

तद्धि 'ईषतुरि' त्यादावियङादिव्यावृत्त्यर्थम् । एतत्परिभाषाभावे तु 'ईषतुरि-' त्यादावन्तरङ्गेण सवर्णदीर्घेण बाधात्तद्वचर्थम् । इयङुवङौ ह्यभ्याससम्बन्ध-निमित्तकत्वाद् बहिरङ्गौ । न चेयङादिरपवादो, 'येन नाप्राप्ति' न्याये'नेयर्ती'-त्यादिसकललक्ष्यप्राप्तयणपवादत्वस्यैव निर्णयादिति प्राञ्चः ।

परे तु—एतत्परिभाषाभावे 'अभ्यासस्ये' ति सूत्रमेव व्यर्थम् । न च 'इयाय इयेषे' त्यादौ चरितार्थम्, तयोरपि पूर्वप्रवृत्तगुणस्य पूर्वप्रवृत्तवृद्धेश्च द्विर्वच-नेऽचीति रूपातिदेशेनापहारे द्वित्वे कृते पुनः प्राप्ते गुणवृद्धी बाधित्वाऽन्तरङ्ग-त्वात्सवर्णदीर्घापत्तेः । न 'चेयर्तीत्यादौ तच्चरितार्थम्, तावन्मात्रप्रयोजनकत्वे उरित्येव ब्रूयात् । य्वोरित्यनुवर्तते । 'इणो यणि' ति साहचर्याद्व्याख्यानाच्च ऋधातोरेव ग्रहणम् ।

अर्तेरिवर्णस्येयङित्यर्थः । अभ्यासस्यार्ताविति अभ्यासस्यार्तेरिति वा गुरुत्वान्न युक्तम् ।

न च 'ए ऐ ओ औ' शब्देभ्य आचारक्विबन्तेभ्यो लिटीयङाद्यर्थं तत्सूत्रमा-वश्यकम्, तथा ओणृधातोर्ण्वुलन्तादिच्छाक्यजन्तात् सनि 'उवोणकीयिषती'-त्याद्यर्थमावश्यकमिति वाच्यम् । षाष्ठप्रथमाह्निकान्तस्थभाष्यप्रामाण्येन तेषाम-नभिधानात् । अन्त्ये द्वितीयद्विर्वचनस्यैव सत्त्वेन त्वदुक्तप्रयोगस्यैव दुर्लभत्वात् । एवञ्च सम्पूर्णसूत्रस्य ज्ञापकता युक्ता ।

यद्यपि भाष्ये 'यदयमभ्यासस्यासवर्णे इत्यसवर्णग्रहणं करोतीति ग्रन्थेना-सवर्णग्रहणस्यैव ज्ञापकता लभ्यते, तथापि '**न ह्यन्तरेण गुणवृद्धी असवर्णपरो-भ्यासो भवती**'ति तदुपपादनग्रन्थेन सम्पूर्णसूत्रस्यैव ज्ञापकता लभ्यते । अग्रेऽपि **नैतदस्ति ज्ञापकमर्त्यर्थमेतत्स्यादि**'त्यनेन सूत्रसार्थक्यमेव दर्शितम् । असवर्ण-ग्रहणस्यैव ज्ञापकत्वे तु तद्व्यावर्त्यप्रदर्शनेन तत्सार्थक्यमेव दर्शितं स्यात् ।

न '**चाकृतव्यूह**' परिभाषया 'इयेषे'त्यादौ सवर्णदीर्घप्राप्तिर्यदि दीर्घो न स्यात्तर्हि गुणः स्यादिति सम्भावनायाः सत्त्वेन परिभाषाप्रवृत्तेः सूपपादत्वा-दिति कथं सम्पूर्णसूत्रस्य ज्ञापकतेति वाच्यम् । तस्या असत्त्वात् । सत्त्वे वैतद्-भाष्यप्रामाण्येन **यत्रान्तरङ्गकार्यप्रवृत्तियोग्यकालोत्तरमेव तन्निमित्तविनाशक-बहिरङ्गविधेः प्राप्तिस्तत्रैव तत्परिभाषाप्रवृत्तिस्वीकाराच्च** ।

न चान्तरङ्गत्वाद्दीर्घेऽपि 'इयाये'त्यादौ पूर्वान्तवत्त्वेनाभ्यासत्वादिवर्ण-त्वाच्च एल्यसवर्णे इयङ्विधानेन सूत्रं चरितार्थम् । न 'चाचि श्नुव'त्यनेन सिद्धिः, वृद्धिबाधनार्थत्वादिति वाच्यम् । प्रत्यासत्त्याऽसवर्णपदेनाभ्यासोत्तर-

खण्डसम्बन्ध्यसवर्णाच एव ग्रहणाच्छास्त्रबाधकल्पनापेक्षया परिभाषाज्ञापकत्व-स्यैवौचित्याच्चेत्याहुः ।

सा चेयं धर्मिग्राहकमानादाङ्गवार्णयोः समानकार्यित्व एव ।

यत्तु—समाननिमित्तकत्वरूपसमानाश्रयत्व एवैषेति तन्न । ज्ञापितेऽपि 'इयायेयेषे' त्याद्यसिद्धेः सूत्रवैयर्थ्यस्य तदवस्थत्वाच्च । स्योन इत्यत्र तु वक्ष्य-माणरीत्याऽस्या अनित्यत्वादप्रवृत्तौ गुणादन्तरङ्गत्वाद्यणादेशः ।

न चैवमपीयायेत्यादावियङ् दुर्लभः तत्र कर्तव्ये वृद्ध्यादेः स्थानिवत्त्वेना-सवर्ण इति प्रतिषेधादिति वाच्यम् । सूत्रारम्भसामर्थ्यादेव स्थानिवत्त्वाप्रवृत्तेः । तच्च सामान्यापेक्षमभ्यासकार्ये तदुत्तरखण्डादेशस्य तत्कार्यप्रतिबन्धकीभूतस्थानि-वत्त्वं नेति । अत एव 'आरती'त्यादौ यणादेशस्य स्थानिवत्त्वादभ्यासस्य 'ढ्रलोप' इति दीर्घो दुर्लभ इत्यपास्तम् । दीर्घविधौ तन्निषेधाच्च । 'अरियियादि'-त्यत्र तु स्थानिवत्त्वेनेयङ् भवत्येव तस्य स्थानिवत्त्वस्याभ्यासकार्यप्रतिबन्धक-त्वाभावात् ।

इयं चाङ्गसम्बन्धिन्याङ्ग एवेति 'स्वरितो वे'ति सूत्रे भाष्ये । तत्र हि 'कुमार्यै' इत्यादौ यणुत्तरमाडुक्तः । इयं चानित्या, 'छ्वोरिति' सतुग्निर्देशात् । अन्यथा अन्तरङ्गत्वात् पूर्वं तुकः शादेशे तुकोऽप्राप्त्या तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेवेत्यन्यत्र विस्तरः ॥५५॥

नन्वेवं 'सेदुष' इत्यादौ क्वसोरन्तरङ्गत्वादिटि ततः सम्प्रसारणेऽपीटः श्रवणा-पत्तिरिति चेत्, अत्र केचित्—

अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः ॥५६॥

न कृतो विशिष्ट ऊहो=निश्चयः, शास्त्रप्रवृत्तिविषयो यैरित्यर्थः । भावि-निमित्तविनाश इत्यध्याहारः । बहिरङ्गेणान्तरङ्गस्य निमित्तविनाशे पश्चात् सम्भावितेऽन्तरङ्गं नेति यावत् ।

अत्र च ज्ञापकं **'समर्थानां प्रथमादि'** ति सूत्रे समर्थानामिति । तद्धि सूत्थि-तादिभ्यः कृतदीर्घेभ्यः प्रत्ययोत्पत्त्यर्थम् । अन्यथाऽन्तरङ्गत्वाद्दीर्घे कृत एव प्रत्ययप्राप्त्या तद्व्यर्थता स्पष्टैव । तत्र हि भाविन्यादिवृद्ध्या सवर्णाच्त्वविनाशः स्पष्ट एव ।

न चात्रैकादेशप्रवृत्तिसमये वृद्ध्यप्राप्त्यैकादेशे कृत आदेशे वृद्धेः प्राप्तावपि

तन्निमित्तविनाशाभाव इति वाच्यम् । तद्द्वारैव तन्निमित्तविनाशसत्त्वेनाक्षतेः । न च सौत्थितौ बहिरङ्गतया वृद्धेरसिद्धत्वान्न तन्निमित्तविनाश इति वाच्यम् । समर्थग्रहणेनैतद्विषये तस्या अप्रवृत्तेरपि ज्ञापनात् ।

यत्तु—समर्थग्रहणेनान्तरङ्गपरिभाषाया अनित्यत्वमेव ज्ञाप्यत इति तन्न । **असिद्धपरिभाषया समकालप्राप्तबहिरङ्गस्य पूर्वं जातबहिरङ्गस्य चान्तरङ्गे कर्तव्येऽसिद्धत्वं बोध्यते न तु जातेऽन्तरङ्गे तस्य तत्त्वं बोध्यते, मानाभावात् फलाभावाच्च ।** एवञ्च सूत्थितादावेकादेशस्य परिभाषासाध्यत्वाभावेन तदनित्यत्वज्ञापनासम्भवात् ।

'अन्तरङ्गानपि विधीनि' त्यादेरप्यस्यामेवान्तर्भावः । एतत्प्रवृत्तौ च निमित्तविनाशसम्भावनाऽपि निमित्तम् । अत एव 'गोमद्दण्डी' त्यादौ हल्ङ्यादिलोपो न । अन्यथा हल्ङ्यादिलोपकाले सामासिकलुकोऽप्राप्त्या तदुत्तरं चापहार्याभावादप्राप्त्या लोपस्यैवाऽऽपत्तेः । अस्ति चात्रापि यदि लोपो न स्यात्तर्हि लुक् स्यादिति सम्भावना । **'अल्लोपोऽनः'** इति सूत्रस्थतपरकरणन्तु परिभाषानित्यत्वज्ञापनेन चरितार्थम् । तद्धि 'आन' इत्यादौ लोपवारणाय । अन्यथा दीर्घभावे लोपसम्भावनयैतत्परिभाषाबलाद्दीर्घाप्राप्तौ तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेवेत्याहुः ।

'समर्थानामि' ति सूत्रे कैयटस्तु समर्थवचनेनेयं परिभाषा ज्ञाप्यते—'अकृतव्यूहाः पाणिनीया' इति, तेन 'पपुष' इत्यादावन्तरङ्गत्वात्पूर्वं कृतोऽपीडागमो निवर्तत इति वदन् न कृतो व्यूहो विशिष्टस्तर्को निमित्तकारणविनाशेऽपि कार्यस्थितिरूपो यैरित्यर्थमभिप्रैति । निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपाय इति यावत् । सूत्थितादिञि वृद्धौ दीर्घनिवृत्तौ सावुत्थितिर्मा भूदिति समर्थानामिति ।

लोकन्यायसिद्धश्चायमर्थः । तथा हि **लोके निमित्तं द्विविधं दृष्टम्—कार्यस्थितौ नियामकं तदनियामकञ्च ।** आद्यं यथा—न्यायनयेऽपेक्षाबुद्धिस्तन्नाशे तद्-द्वित्वनाशाभ्युपगमात् । वेदान्तनये प्रारब्धस्य विक्षेपस्थितिनियामकत्वं च प्रसिद्धमेव । द्वितीयं यथा—दण्डादि, तन्नाशेऽपि घटनाशादर्शनात् । शास्त्रे लक्ष्यानुरोधाद् व्यवस्था ।

भाविनिमित्तविनाशे पूर्वमनुत्पत्तौ तु न कश्चिन्न्यायो नापि सम्प्रतिपन्नो दृष्टान्तः । समर्थानामित्यस्यापि लोकसिद्धार्थज्ञापनेन चारितार्थ्यसम्भवे लोकासिद्धापूर्वतादृशार्थज्ञापकत्वे मानाभाव इति तदाशय इति बोध्यम् ।

परे तु—'सेदुष' इत्यादौ पदावधिकेऽन्वाख्याने 'सेद्वस्+अस्' इति स्थिते इट्सम्प्रसारणयोः प्राप्तौ प्रतिपदविधित्वात्पूर्वं सम्प्रसारणे वलादित्वाभावादिटः

प्राप्तिरेव नेति तत्सिद्धिरिति—स्पष्टं **'समर्थानामि'** ति सूत्रे कैयटे। **'असिद्धवत्'**सूत्रे कैयटे च स्पष्टमेतत्। यद्यपि प्रतिपदविधित्वमनवकाशत्वे सत्येव बाधकत्वे बीजम्, तथापि पूर्वप्रवृत्तौ सावकाशत्वेऽपि नियामकं भवत्येवेति तदाशयः। निरूपितं चैतद् बहुशः शब्देन्दुशेखरादौ।

'समर्थानामि' ति सूत्रस्थसमर्थग्रहणन्तु 'विष्णुए' इत्यादावकृतसन्धेः प्रत्ययदर्शनेन सर्वत्र तथाभ्रमवारणाय न्यायसिद्धार्थानुवाद एव।

ध्वनितं चेदं **विप्रतिषेधसूत्रे** भाष्ये। तत्र हि 'वैक्षमाणिरि' त्यन्तरङ्गपरिभाषोदाहरणमुक्तम् किञ्च विभज्यान्वाख्याने 'सु+उत्थित+अस्+इ' इति स्थिते **वार्णादाङ्गं बलीय** इति प्राप्तवृद्धिवारणाय समर्थग्रहणमित्यत्रैव कैयटे स्पष्टम्।

अत एवासिद्धवत्सूत्रे **"वसुसम्प्रसारणमज्विधौ सिद्धं वक्तव्यं** 'पपुष' इत्यादौ वसोः सम्प्रसारणे कृते आतो लोपो यथा स्यादि"—ति भाष्य उक्तम्। पदस्य विभज्यान्वाख्याने पूर्वोक्तकैयटरीत्या पूर्वं सम्प्रसारणे इटोऽप्राप्तावुस्निमित्तक एवाऽऽतो लोप इति तदाशयः। अन्यथाऽन्तरङ्गत्वादिटि तन्निमित्तक एवाऽऽतो लोप इति तदसङ्गतिः।

अत एव **'चौ प्रत्यङ्गस्य प्रतिषेध'** इति वचनं वार्तिककृताऽऽरब्धं भाष्यकृता च न प्रत्याख्यातम्। **प्रत्यङ्गमन्तरङ्गम्**। अस्यां परिभाषायां सत्यान्तु तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव।

अत एव **'च्छ्वोरि'** ति सूत्रे **'अवश्यमत्र तुगभावार्थो यत्नः कार्योऽन्तरङ्गत्वाद्धि तुक् प्राप्नोती'** ति भाष्य उक्तम्। एतत्सत्त्वे तु तुकोऽप्राप्त्या यत्नावश्यकत्वकथनमसङ्गतमिति स्पष्टमेव। न चैतदनित्यत्वज्ञापनार्थमेव तदिति तदाशयः, अवश्यमत्रेत्यक्षरस्वारस्यभङ्गापत्तेः।

किञ्चानयैव **'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' अदो जग्धिर्ल्यप्ति किती'** त्यनयोश्चारितार्थ्येन तज्ज्ञापकवशाल्लुगल्यपोरन्तरङ्गबाधकता भाष्योक्ता भज्येत।

किञ्चैषा भाष्ये न दृश्यते। तदुक्त **'असिद्धवत्'** सूत्रे कैयटे **'निमित्तापाये-नैमित्तिकस्याप्यपाय इति परिभाषाया भाष्यकृताऽनाश्रयणादि'**ति।

पदसंस्कारपक्षे 'हरिरि' त्यादौ विसर्गे कृते ततो गच्छतीत्यादिसम्बन्धे 'हरिः गच्छती' त्याद्येव साधु। तद्विषये पदसंस्कारपक्षानाश्रयणं वेति दिक्। ॥५६॥

अन्तरङ्गादप्यपवादो बलवान्।
येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति ॥५७॥

तत्रापवादपदार्थमाह—

प्राप्त इति भावे क्तः । 'येन नाप्राप्त' इत्यस्य यत्कर्तृकावश्यप्राप्तावित्यर्थः । नञ्द्वयस्य प्रकृतार्थदाढ्र्यबोधकत्वात् । एवञ्च विशेषशास्त्रोद्देश्यविशेषधर्मावच्छिन्नवृत्तिसामान्यधर्मावच्छिन्नोद्देश्यकशास्त्रस्य विशेषशास्त्रेण बाधः ।

तदप्राप्तियोग्येऽचारितार्थ्यं ह्येतस्य बाधकत्वे बीजम् ।

अत एव 'आयादय' इति सूत्रे 'गोपायिष्यती' त्यादावायादीन्बाधित्वा परत्वात् स्यादयः प्राप्नुवन्तीत्याशङ्क्य "अनवकाशा आयादयः । 'गोपायती'-त्यादावपि शप् स्यादिः प्राप्नोति । न च सति शप्यसति वा न विशेषः । अन्यदिदानीमिदमुच्यते नास्ति विशेष इति । यदुक्तमायादीनां स्यादिभिरव्याप्तोऽवकाश इति स नास्त्यवकाश" इति भाष्य उक्तम् ।

एवमत्र तत्प्रवृत्त्युत्तरं चारितार्थ्येऽपि तदव्याप्तोऽवकाशो नास्तीति सममेव।

किञ्चानेन न्यायेन तत्प्रवृत्त्युत्तरमपि चारितार्थ्ये तद्बाधबोधनम् । अन्यथाऽनवकाशत्वेनैव बाधे सिद्धे एतत्कथनस्यैव वैयर्थ्यापत्तेस्तक्रकौण्डिन्यन्यायप्रदर्शनस्यापि वैयर्थ्यापत्तेश्च । यथा प्रथमद्विर्वचनस्य तदुत्तरं सावकाशेनापि द्वितीयद्विर्वचनेन बाधः । यथा वाऽऽदेरपि प्रवृत्त्या चरितार्थेन 'आदेः परस्ये' त्यनेन 'अलोऽन्त्यस्ये'त्यस्य बाधः ।

तदुक्तं 'मिदचोऽन्त्यादि' ति सूत्रे भाष्ये "सत्यपि सम्भवे बाधनं भवती"-ति । अन्यथा ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्याये' त्यत्र तक्रदानेन दधिदानस्य बाधो न स्यात्तद्दानोत्तरं तत्पूर्वं वा तद्दानस्य चारितार्थ्यसम्भवात् ।

अत एव विषयभेदेऽप्यपवादत्वम् ।

अत एवाचि रादेशेन नुटोऽप्यपवादत्वाद् बाधमाशङ्क्य 'न तिस्रि' ति ज्ञापकेन समाहितं तृज्वत्सूत्रे भाष्ये, तेन विषयभेदेऽपवादत्वाभाव एव बोध्यते इति कश्चित् । तन्न । विन्मतोर्लुका टिलोपमात्रस्य बाधानापत्तेः ।

यत्तु—'दयतेर्दिगी' ति सूत्रे द्वित्वोत्तरं दिग्यादेशस्य चारितार्थ्यं कैयटेनोक्तं, तत् प्रौढ्या । ध्वनितं च तेनापि तस्य तथात्वं तदुत्तरग्रन्थेन ।

असम्भव एव बाधकत्वं विरोधस्य तद्बीजत्वादिति वार्तिकमतन्तु भाष्यकृता दूषितत्वान्न लक्ष्यसिद्ध्युपयोगि ।

तक्रकौण्डिन्यन्यायोऽपि तदप्राप्तियोग्येऽचरितार्थविषयो विधेयविषय एव चेति 'तद्धितेष्वचामादेः' 'धातोरेकाच' इत्यादिसूत्रेषु भाष्ये स्पष्टम् ।।५७।।

क्वचित्तु सर्वथाऽनवकाशत्वादेव बाधकत्वं, यथा ङेरामो याडादिबाधकत्वम्। न हि याडादिषु कृतेषु ङेराम् प्राप्नोति, निर्दिश्यमानस्य व्यवधानात्। तत्र स्वस्य पूर्वप्रवृत्तिरित्येव तेषां बाधः। तत्र बाधके प्रवृत्ते यद्युत्सर्गप्राप्तिर्भवति तदा भवत्येव, यथा तत्रैव याडादयः। अप्राप्तौ तु न, यथा—'पचेयु' रित्यादौ दीर्घबाधके निरवकाश इयादेशे दीर्घाभावः।

तदेतत्पठ्यते—

क्वचिदपवादविषयेऽप्युत्सर्गोऽभिनिविशत इति ॥५८॥

अपवादशब्दोऽत्र बाधकपरः।

तदुक्तं **'गुणो यङ्लुकोरि'** त्यत्र भाष्ये—**"अभ्यासविकारेष्वपवादा उत्सर्गान्न बाधन्ते। अजीगणत्। अत्र गणेरीत्वमपवादत्वाद्धलादिः शेषं बाधते। न गणेरीत्वमपदादत्वाद्धलादिः शेषं बाधते। किं तर्हि? अनवकाशत्वादिति** ग्रन्थेन। गण्‌रूपाभ्यासान्त्यणस्येत्वमित्यर्थे हलादिः शेषेण तन्निवृत्तौ तदनवकाशम्, ईत्वे तु कृते न तस्य प्राप्तिरन्त्यहलोऽभावात्। अभ्यासविकारेषु बाध्यबाधकभावाभावेन च साधितम्। तस्मिंश्च सति लोपे कृते सामर्थ्याच्छिष्टस्यान्त्यस्येत्वमिति न दोषः। न च 'येन नाप्राप्ति' न्यायेनापवादत्वमप्यस्य सुवचम्, तस्य चरितार्थविषयताया उक्तत्वात्।

'इको झलि' त्यत्र भाष्येऽपि ध्वनितमेतत्। तत्र हि **'अज्झने'** ति दीर्घेण गुणोत्तरं फलाभावेनानवकाशत्वाद् गुणे बाधिते दीर्घोत्तरं गुणः स्यात्, दीर्घविधानं तु मिनोतेर्दीर्घे कृते **'सनिमीमे'** त्यत्र मीग्रहणेन ग्रहणेऽर्थवत्तत्र पश्चात् प्राप्तगुणबाधनार्थं **'मिको झलि'** ति कित्त्वमित्युक्तम्। अन्यथाऽपवादत्वेन बाधे तद्विषये उत्सर्गाप्रवृत्तेर्भाष्यस्य सूत्रस्य चासङ्गतिरिति स्पष्टमेव।

यत्तु—'काञ्चनी' त्यादावपवादमयड्विषयेऽप्यण् भवति, **'क्वचिदपवादविषयेऽपी'** ति न्यायादिति। तन्न। **'अण् कर्मणि चे'**ति सूत्रस्थभाष्यविरोधात्। तत्र ह्यणः पुनर्वचनमपवादविषयेऽनिवृत्त्यर्थं 'गोदायो व्रजती' त्याद्युक्तम्। **'काञ्चनी' त्यादौ काञ्चनेन निर्मितेत्यर्थे शैषिकोऽण् बोध्यः।**

अत्रेदं बोध्यम्—'येन नाप्राप्ते'त्यत्र येनेत्यस्य यदि स्वेतरेणेत्यर्थस्तदा स्वविषये स्वेतरद्यद्यत् प्राप्नोति तद्बाध्यं, विध्यन्तराप्राप्तविषयाभावात्। इयमेव **बाध्यसामान्यचिन्तेति** व्यवह्रियते। अनवकाशत्वेन बाधेऽप्येषा वक्तुं शक्या यद्युदाहरणमस्ति। विनिगमनाविरहात्।

यदि तु येनेत्यस्य लक्षणेनेत्यर्थः, कार्येणेत्यर्थो वा, तदा बाध्यविशेषचिन्ता। अनवकाशत्वेन बाधेऽप्येतद्बाधेन सार्थक्यमुत तद्बाधेनेत्येवं विशेषचिन्ता सम्भवति यद्युदाहरणमस्ति ॥५८॥

तत्र कार्येणेत्यर्थे पररूपत्वावच्छिन्ने कार्ये आरभ्यमाणाया वृद्धेस्तद्बाधकत्वे निर्णीते किंशास्त्रविहितस्येत्येवं तद्विशेषचिन्तायामाह—

पुरस्तादपवादा अनन्तरान्विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् ॥५९॥

अवश्यं स्वपरस्मिन् बाधनीये प्रथमोपस्थितानन्तरबाधेन चारितार्थ्ये पश्चादुपस्थितस्य ततः परस्य बाधे मानाभाव आकाङ्क्षाया निवृत्तेर्विप्रतिषेधशास्त्रबाधे मानाभावाच्चेत्येतस्य बीजम् ॥५९॥

'नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्ते' त्यस्यौष्ठाद्यंशे ङीष्निषेधत्वावच्छिन्नबाधकत्वे निर्णीते किंविहितस्येत्याकाङ्क्षायामाह—

मध्येऽपवादाः पूर्वान्विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् ॥६०॥

तेनौष्ठादिषु पञ्चस्वसंयोगोपधादिति प्रतिषेध एव बाध्यते, न तु सहनञ्विद्यमानलक्षण इति 'नासिकोदरे'त्यत्र भाष्ये स्पष्टम् ।

पूर्वोपस्थितबाधेन नैराकाङ्क्ष्यमस्या बीजम् ॥६०॥

ननु 'वाच्छन्दसी' त्यनेन 'सेर्ह्यपिच्चे' त्यनन्तरस्यापित्त्वस्येव हेरपि विकल्पः स्यात्, तथा 'नेटी'ति निषेधोऽनन्तरहलन्तलक्षणाया इव सिचिवृद्धिमृजिवृद्ध्योरपि स्यात्, अत उक्तन्यायमूलकमेवाऽऽह—

अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वेति ॥६१॥

अत एव 'संख्याऽव्ययादेरि' ति ङीब्ग्रहणं चरितार्थम् । तद्धचनन्तरस्य ङीषो विध्यभावाय । 'न क्तिची' ति सूत्रे दीर्घग्रहणञ्च चरितार्थम् । तद्ध्यनन्तरस्यानुदात्तोपदेशेत्यस्यैव निषेधाभावाय ।

मध्येऽपवादन्यायाद्यपेक्षया 'अनन्तरस्ये' ति न्यायः प्रबल इति 'अष्टाभ्य' इति सूत्रे कैयटः ।

प्रत्यासत्तिमूलकोऽयम् । लक्ष्यानुरोधाच्च व्यवस्थेत्यपि पक्षान्तरम् । तत्र तत्र क्वचित् स्वरितत्वप्रतिज्ञानात् सामर्थ्येन वा बाध्यतेऽयं न्यायः । यथा 'टिड्ढे' ति सूत्रेण डापा व्यवहितस्यापि ङीपो विधिः । न षडित्यादिना द्वयोरपि टाब्ङीपोः प्रतिषेधः । इयञ्च 'शि सर्वनामस्थानमि' त्यादौ भाष्ये स्पष्टेत्यन्यत्र विस्तरः ॥६१॥

ननु 'दधती' त्यादावन्तरङ्गत्वादन्तादेशेऽल्विधौ स्थानिवत्त्वाभावाददादेशो न स्यादिति तद्वैयर्थ्यापत्तिरत आह—

पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पश्चादुत्सर्गाः ॥६२॥

लक्षणैकचक्षुष्को ह्यपवादविषयं पर्यालोच्य तद्विषयत्वाभावनिश्चय उत्सर्गेण तत्तल्लक्ष्यं संस्करोति, अन्यथा विकल्पापत्तिरित्यर्थः । **अभिनिविशन्त इत्यस्य बुद्ध्याऽऽरूढा भवन्तीत्यर्थः । 'अपवादो यद्यन्यत्र चरितार्थ** इति न्यायस्य तु नात्र प्राप्तिरन्तादेशाप्राप्तिविषये चारितार्थ्याभावात् ॥६२॥

लक्ष्यैकचक्षुष्कस्तु तच्छास्त्रपर्यालोचनं विनाऽप्यपवादविषयं परित्यज्योत्सर्गेण लक्ष्यं संस्करोति, तस्यापि शास्त्रप्रक्रियास्मरणपूर्वकप्रयोग एव धर्मोत्पत्तेः ।

तदाऽऽह—

प्रकल्प्य चापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते ॥६३॥

तत इत्यस्यापवादशास्त्रपर्यालोचनात् प्रागपीत्यर्थः । **प्रकल्प्येत्यस्य परित्यज्येत्यर्थः ।** अत एव **प्रातिपदिकार्थसूत्रे** भाष्ये 'इदं द्वयमप्युक्त्वा **न कदाचित्तावदुत्सर्गो भवत्यपवादं तावत्प्रतीक्षत'** इत्यर्थकमुक्तम् ॥६३॥

एतन्मूलकमेव नवीनाः पठन्ति—

उपसञ्जनिष्यमाणनिमित्तोऽप्यपवाद उपसञ्जातनिमित्तमप्युत्सर्गं बाधत इति ॥६४॥

यत्तु—अभ्यस्तसंज्ञासूत्रे कैयटेन प्रकल्प्य चेति प्रतीकमुपादाय यथा न **सम्प्रसारणे** इति परस्य यणः पूर्वं सम्प्रसारणं पूर्वस्य तु तन्निमित्तकः प्रतिषेध इत्युक्तम्, तत्तु तत उत्सर्ग इत्याद्यक्षरार्थाननुगुणम् ।

यत्तु—अपवादवाक्यार्थं विना नोत्सर्गवाक्यार्थ इति तदर्थ इति । तन्न । अभिनिविशतेऽपवादविषयमित्यादिपदस्वारस्यभङ्गापत्तेः । पदजन्यपदार्थोपस्थितौ वाक्यार्थबोधाभावे कारणाभावाच्च । यत्र त्वपवादो निषिद्धस्तत्रापवादविषयेऽप्युत्सर्गः प्रवर्तत एव । यथा 'वृक्षावि' त्यत्र 'नादिची' ति पूर्वसवर्णदीर्घनिषेधादप्रवर्तमानस्य वृद्धिबाधकत्वाभावाद् वृद्धिः प्रवर्तते । अत एव **'तौ सदि'** त्यादि सङ्गच्छते । अत एव निर्देशाद् **भ्रष्टावसरन्यायस्यात्र शास्त्रेऽनाश्रयणम् ।** ध्वनितं चेद **'मिको गुणे'**ति सूत्रे भाष्य इति भाष्यप्रदीपोद्द्योते निरूपितम् ।

अत्र देवदत्तस्य हन्तरि हते देवदत्तस्योन्मज्जनं नेति न्यायविषय एव नास्ति। हते देवदत्त उन्मज्जनं न, देवदत्तहननोद्यतस्य हनने तु भवत्येवोन्मज्जनम्। प्रकृतेऽपि न पूर्वसवर्णदीर्घेण वृद्धेर्हननं किन्तु हननोद्यमसजातीयं प्रसक्तिमात्रं, प्रसक्तस्यैव निषेधात्।

प्रतिपदोक्तत्वमपि निरवकाशत्वे सत्येव बाधप्रयोजकम्। स्पष्टं चेदं '**शेषाद्विभाषे**' ति सूत्रे भाष्ये। तत्र हि 'शेषग्रहणमनर्थकं ये प्रतिपदं विधीयन्ते ते बाधका भविष्यन्तीत्याशङ्क्य, '**अनवकाशा हि विधयो बाधका भवन्ति समासान्ताश्च कबभावे सावकाशा**' इत्युक्तम्। क्वचिदनवकाशत्वाभावेऽपि परनित्यादिसमवधाने शीघ्रोपस्थितिकत्वेन पूर्वप्रवृत्तिप्रयोजकं बलवत्त्वं प्रतिपदविधित्वेनापि, **परनित्यान्तरङ्गप्रतिपदविधयो विरोधिसन्निपाते तेषां मिथः प्रसङ्गे परबलीयस्त्वमिति प्रत्ययोत्तरपदयोश्चे**' ति सूत्रे कैयटेन पाठात्। अत एव 'रमे' इत्यादौ प्रतिपदोक्तत्वात्पूर्वमेव आकारप्रश्लेषाद्धल्ङ्यादिलोपो न प्राप्नोतीत्याशङ्क्य, '**एङ्ह्रस्वादि**' ति लोपेन समाहितम् ॥६४॥

ननु 'अयजे इन्द्रमि' त्यादावन्तरङ्गस्यापि गुणस्यापवादेन सवर्णदीर्घेण बाधः स्यादत आह—

अपवादो यद्यन्यत्र चरितार्थस्तर्ह्यन्तरङ्गेण बाध्यते ॥६५॥

निरवकाशत्वरूपस्य बाधकत्वबीजस्याभावात्। एवञ्च प्रकृतेऽन्तरङ्गेण गुणेन सवर्णदीर्घः समानाश्रये चरितार्थो यण्गुणयोरपवादोऽपि बाध्यते। पूर्वोपस्थितनिमित्तकत्वरूपान्तरङ्गत्वविषय इदम्।

यत्तु—आगमादेशयोर्न बाध्यबाधकभावो भिन्नफलत्वात्, अत एव '**ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां, कम्बलः कौण्डिन्याये**' त्यादौ कम्बलदानेन न दधिदानबाध इति 'च्छ्वोरि' ति सूत्रे कैयटः। तन्न। **अपवादो नुग्दीर्घत्वस्येति 'दीर्घोऽकित'** इति सूत्रभाष्यविरोधात् ॥६५॥

ननु 'अजीगणदि'त्यादौ गणेरीत्वं निरवकाशत्वाद्धलादिःशेषं बाधेत, तत्राऽऽह—

अभ्यासविकारेषु बाध्यबाधकभावो नास्ति ॥६६॥

'**दीर्घोऽकित**' इत्यकिद्ग्रहणमस्या ज्ञापकम्। अन्यथा 'यंयम्यत' इत्यत्र नुकि कृतेऽनजन्तत्वाद्दीर्घाप्राप्त्या तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव।

इयं परान्तरङ्गादिबाधकानामप्यबाधकत्वबोधिका, तेन 'अचीकरत्,

मीमांसत' इत्यादि सिद्धम् । आद्ये सन्वद्भावस्य परत्वाद्दीर्घेण बाधः प्राप्नोति । अन्त्ये मान्बधेति दीर्घेणान्तरङ्गत्वादित्त्वस्य बाधः प्राप्तः ।

यत्तु—यत्रैकैकप्रवृत्त्युत्तरमपि सर्वेषां प्रवृत्तिस्तत्रैवेदमित्यत 'एके'ति सूत्रे कैयटः । तन्न । नुकि कृते दीर्घाप्राप्त्या धर्मिग्राहकमानविरोधान्मान्वधादीनां दीर्घे कृते इत्त्वाप्राप्त्या **'गुणो यङ्लुकोरि'** ति सूत्रस्थभाष्योक्ततदुदाहरणासङ्गतेश्चेत्यन्यत्र विस्तरः ॥६६॥

ननु तच्छीलादितृन्विषये ण्वुलपि स्यात् । न च तृन्नपवादः, असरूपापवादस्य विकल्पेन बाधकत्वात्, अत आह—

ताच्छीलिकेषु वाऽसरूपविधिर्नास्ति ॥६७॥

ण्वुलि सिद्धे **निन्दहिंसादिसूत्रेणैकाज्भ्यो** वुञ्विधानमत्र ज्ञापकं, तत्र ण्वुल्वुञोः स्वरे विशेषाभावात् ।

ताच्छीलिकेष्विति विषयसप्तमी, तेन ताच्छीलिकैरताच्छीलिकैश्च वाऽसरूपविधिर्नेति बोध्यम् ।

नन्वेवं कम्रा कमनेत्याद्यसिद्धिर्नमिकम्पीति रेणानुदात्तेतश्च हलादेरिति युचो बाधादिति चेन्न । **'सूददीपदीक्षश्चे'** त्यनेन दीपेर्युज्निषेधेनोक्तार्थस्यानित्यत्वात् ॥६७॥

नन्वेवं 'हसितं छात्रस्य हसनमि' त्यादौ घञ् 'इच्छति भोक्तुमि' त्यत्र लिङ्लोटा'वीषत्पानः सोमो भवते' त्यत्र खल् प्राप्नोतीत्यत आह—

क्तल्युट्तुमुन्खलर्थेषु वाऽसरूपविधिर्नास्ति ॥६८॥

इदं च वाऽसरूपविधेरनित्यत्वात्सिद्धम् । तदनित्यत्वे ज्ञापकं **'चार्हे कृत्यतृचश्चे'**ति । तत्र हि चकारसमुच्चितलिङा कृत्यतृचो बाधो मा भूदिति कृत्यतृज्ग्रहणं क्रियत इत्यन्यत्र विस्तरः ।

वाऽसरूपसूत्रे भाष्ये स्पष्टा ॥६८॥

ननु 'श्वः पक्ते' त्यत्र वाऽसरूपविधिना लृडपि प्राप्नोति, कृते आदेशे वैरूप्यादत आह—

लादेशेषु वासरूपविधिर्नास्ति ॥६९॥

आदेशकृतवैरूप्यवत्सु लकारेषु स नास्तीत्यर्थः ।

अत्र च **'हशश्वतोर्लङ् चे'**ति लङ्विधानं ज्ञापकम् । अन्यथा **'परोक्षे लिडि'**ति लिटा लङः समावेशोऽसारूप्यात् सिद्ध इति किं लङ्विधानेन । शत्रादिभिस्तिङां समावेशार्थं शतृविधायके विभाषाग्रहणानुवृत्ति **'लिटः कानज्वे'**ति

वाग्रहणं च कृतम् । तज्ज्ञापयति वाऽसरूपसूत्रेऽपवाद आदेशत्वानाक्रान्तः प्रत्यय एव गृह्यत इति कैयटादौ ध्वनितम् । तत्फलन्तु सदादिभ्यो भूतसामान्ये लिटः क्वसुरेव न तु पक्षे तिङिति बोध्यम् ॥६९॥

ननु **'ङमो ह्रस्वादि'** त्यादौ ङमः परस्याचोऽचि परतो ङम इति वेति सन्देहः स्यादत आह—

उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान् ॥७०॥

अचीति सप्तमीनिर्देशस्य **'मय उञ'** इत्युत्तरत्र चारितार्थ्यात् पञ्चमीनिर्देशोऽनवकाश इति **'तस्मादित्युत्तरस्ये'** त्यस्यैव प्रवृत्तिः । यत्र तु **'ङः सि धुडि'**-त्यादावुभयोरप्यचारितार्थ्यं, तत्र तस्मिन्निति सूत्रापेक्षया 'तस्मादित्युत्तरस्ये'-त्यस्य परत्वात्तेनैव व्यवस्था । एवमुभयोश्चारितार्थ्येऽपि यथा **'ऽऽमि सर्वनाम्न'** इत्यादौ । तत्राऽऽमीति सप्तमी **'त्रेस्त्रय'** इत्यत्र चरितार्था । आदिति पञ्चम्या-**'जसेरसुगि'**त्यत्र चरितार्थेति स्पष्टं तस्मिन्निति सूत्रे भाष्ये कैयटे च ॥७०॥

॥ इति बाधबीजनामकं द्वितीयं प्रकरणम्॥

अथ शास्त्रशेषनामकं तृतीयं प्रकरणम् ।

ननु 'अतः **कृकमी'** ति सत्व 'मयस्कुम्भी' त्यत्र न स्यात् कुम्भशब्दस्यैवोपादानादत आह—

प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् ॥७१॥

सामान्यरूपेण विशेषरूपेण वा प्रातिपदिकबोधकशब्दग्रहणे सति लिङ्गबोधकप्रत्ययविशिष्टस्यापि तेन ग्रहणं बोध्यम् । अपिना केवलस्यापीत्यर्थः ।

अस्याश्च ज्ञापकं सामानाधिकरणाधिकारस्थे **'कुमारः श्रमणादिभि'** रिति सूत्रे स्त्रीलिङ्गश्रमणादिशब्दपाठः । स्त्रीप्रत्ययविशिष्टश्रमणादिभिश्च कुमारीशब्दस्यैव सामानाधिकरण्यं न तु कुमारशब्दस्येति तज्ज्ञापकम् ।

इयञ्च द्विषत्परयोरित्याद्युपपदविधौ समासान्तविधौ महदात्त्वे ञ्नित्स्वरे, राजस्वरे, ब्राह्मणकुमारयोर्बह्वोर्नञ्वदुत्तरपदभूम्नि इत्यादौ समाससङ्घातग्रहणेषु च न प्रवर्तत इति **'ङ्याप्'** सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । विभक्तिनिमित्तककार्ये च नेत्यपि तत्रैव । तत्र समासान्तविधाववयवग्रहण एव न, समाससङ्घातग्रहणे तु प्रवर्तत एव । स्वरविधावेव समाससङ्घातग्रहणे तत्र दोषोक्तेः । **'बहुव्रीहेरूधस'** इति सूत्रस्थभाष्याच्च ।

एतावत्स्वेवानित्यत्वादप्रवृत्तिर्दोषाः खल्वपि साकल्येन परिगणिता इति भाष्योक्तेः ।

नन्वेवं 'बहुव्रीहेरूधसो ङीषि' ति सूत्रस्थभाष्यासङ्गतिः, तत्र हि 'कुण्डोध्नी'-त्यत्र 'नद्यृतश्चेति' कवापादितो नद्यन्तबहुव्रीहेरित्यर्थात् नद्यन्तस्य बहुव्रीहित्वा-भावात्तदसङ्गतिः। नद्यन्तानां यः समास इत्यर्थेन च परिहृतम्। नद्यन्तप्रकृतिक-सुबन्तोत्तरपदकः समास इति चेन्न। अनया परिभाषया स्त्रीप्रत्ययसमभिव्याहारे तद्रहिते दृष्टानां प्रातिपदिकत्वतद्व्याप्यधर्माणां विशिष्टेऽपि पर्याप्तत्वमतिदिश्यत इत्याशयात्॥७१॥

नन्वेवं 'यूनः पश्ये' त्यत्रेव 'युवतीः पश्ये'त्यत्रापि 'श्वयुवे'ति सम्प्रसारणं स्यादत आह—

विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणम्॥७२॥

स्पष्टा चेयं 'युवोरनाकावि'त्यत्र भाष्ये। घटघटीग्रहणेन लिङ्गविशिष्टपरि-भाषाया अनित्यत्वात्तन्मूलैषेत्यन्ये॥७२॥

ननु 'तस्यापत्यम्' इत्येकवचननपुंसकाभ्यां निर्देशात् 'गार्ग्यौ, गार्ग्या वि'-त्याद्ययुक्तमत आह—

सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्॥७३॥

'अर्द्धन्नपुसंकमि' ति नपुंसकग्रहणमस्या ज्ञापकम्। नित्यनपुंसकत्वार्थं तु न तदित्यन्यत्र निरूपितम्।

धान्यपलालन्यायेन नान्तरीयकतया तयोरुपादानमिति 'तस्यापत्यमि' त्यत्र भाष्ये स्पष्टम्।

अत एवा 'ऽऽकडार'सूत्रे एकेति चरितार्थमित्यन्यत्र विस्तरः॥७३॥

ननु 'भृशादिभ्यो भुव्यच्वेरि' त्यादौ विधीयमानः क्यङ् 'क्व दिवा भृशा भवन्ती' त्यत्रापि स्यादत आह—

नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः॥७४॥

नञ्युक्तमिवयुक्तं च यत्किञ्चिद् दृश्यते तत्र तस्माद् भिन्ने तत्सदृशेऽधि-करणे द्रव्ये कार्यं विज्ञायते। हि यतस्तथाऽर्थगतिरस्ति। न हि 'अब्राह्मणमानये'-त्युक्ते लोष्टमानीय कृती भवति। अतश्च्व्यन्तभिन्ने च्व्यन्तसदृशेऽभूततद्भाव-विषये क्यङिति नोक्तदोषः।

'ओषधेश्च विभक्तावप्रथमायामि' त्यादौ विभक्तिग्रहणमेतन्न्यायसिद्धार्था-नुवाद एव। एतेन—विभक्तावित्याद्यस्यानित्यत्वे ज्ञापकमिति वदन्तः परास्ताः, अनित्यत्वे भाष्यसम्मतफलाभावात्। अत एव 'अकर्तरि चे'ति सूत्रे

कारकग्रहणं भाष्ये प्रत्याख्यातमिति बोध्यम् । स्पष्टा चेयं 'भृशादिभ्य' इति सूत्रे भाष्ये ।

अत्र 'अन्यसदृशे' त्युक्त्या सादृश्यस्य भेदाघटितत्वं सूचयति । निरूपितं चैतन्मञ्जूषायाम् ॥७४॥

ननु 'व्याघ्री, कच्छपी'त्यादौ सुबन्तेन समासात् ततोऽप्यन्तरङ्गत्वाट् टाप्यदन्तत्वाभावाज्जातिलक्षणो ङीष् न स्यादत आह—

गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः ॥७५॥

'उपपदमि'ति सूत्रेऽतिङ्ग्रहणेन **'कुगती'** त्यत्र तदपकर्षणेनातिङन्तश्च समास इत्यर्थात्तयोः सूत्रयोः 'सुपे'त्यस्य निवृत्त्यैकदेशानुमत्या कारकांशे च सिद्धेयं, तेन 'अश्वक्रीती' सिद्धा। अन्यथा पूर्वं टाप्यदन्तत्वाभावात् **'क्रीतात्करण-पूर्वादि'** ति ङीष् न स्यात् ।

अस्या अनित्यत्वात् क्वचित् सुबुत्पत्त्यनन्तरमपि समासो यथा—**सा हि तस्य धनक्रीते**ति ।

अन्ये तु—अनित्यत्वे न मानम्, तत्राजादित्वाट् टाबित्याहुः ।

अत एव 'कुम्भकार' इत्यादौ षष्ठीसमासोऽपि सुबुत्पत्तेः पूर्वमेव । षष्ठी-समासाभावे चोपपदसमासकृत एकार्थीभाव इति न तत्र वाक्यमिति भाष्ये स्पष्टम्। तत्र हि **'षष्ठीसमासादुपपदसमासो विप्रतिषेधेने'** ति वार्तिकम् । **'अथवा विभाषा षष्ठीसमासो, यदा न षष्ठीसमासस्तदोपपदसमास'** इति तत्प्रत्याख्यानञ्च ।

यद्यप्युपपदसमासस्यान्तरङ्गत्वाभिप्रायकं 'न वा षष्ठीसमासाभावादुपपद-समास' इति वार्तिककृतोक्तं, तथापि तदुभयप्रत्याख्यानपर'मथवे'त्यादि भाष्यम् । परिभाषायां सामान्यतः कारकोपादानेन कारकविभक्त्यन्तस्य कृद्भिः समासमात्रस्य सुबुत्पत्तेः पूर्वमेव लाभात् ।

एतेनैषा कारकतद्विशेषयोरुपादान एवेति परास्तम् । अस्या विध्येकवाक्य-त्वाभावेन विप्रतिषेधादिशास्त्रवत् कार्यव्यवस्थापकत्वेनोपादान एवेत्यर्थलाभाच्च ॥७५॥

ननु **'उगिदचामि'** त्यत्र धातोश्चेदुगित्कार्यं तर्ह्य'ञ्चते' रेवेति नियमेना-धातोरेव नुमि सिद्धेऽधातुग्रहणं व्यर्थमत आह—

साम्प्रतिकाभावे भूतपूर्वगतिः ॥७६॥

तत्तद्वचनसामर्थ्यान्न्यायसिद्धेयम् । तत्सामर्थ्यादधातुभूतपूर्वस्यापीत्यर्थेन गोमत्यतेः क्विपि 'गोमानि'त्यादौ नुम्सिद्धिः । **'नामी'** त्यादि सूत्रेषु भाष्ये स्पष्टा ॥७६॥

बहुव्रीहौ तद्गुणसंविज्ञानमपि ॥७७॥

अपिना अतद्गुणसंविज्ञानम् । तेषां गुणानामवयवपदार्थानां संविज्ञानं विशेष्यान्वयित्वमिति तदर्थः । यत्र समवायसम्बन्धेन सम्बन्ध्यन्यपदार्थस्तत्र प्रायस्तद्गुणसंविज्ञानम्, अन्यत्र प्रायोऽन्यत् । 'लम्बकर्णचित्रगू' उदाहरणे । सर्वादीनि, जक्षित्यादय' इति चोदाहरणे । **सर्वनामसंज्ञासूत्रे** स्पष्टा ॥७७॥

ननु **'वदः सुपि क्यप् च'**ति चेनानुकृष्टस्य यतो **भुवो भावे'** इत्यत्राप्यनुवृत्तिः स्यादत आह—

चानुकृष्टं नोत्तरत्र ॥७८॥

णमुल्यनुवर्तमाने **'ऽव्ययेऽयथाभिप्रेते'**ति सूत्रे पुनर्णमुल्ग्रहणमस्या ज्ञापकम् । अन्यथा क्त्वा चेति वदेत् । तद्धि उत्तरत्रोभयोः सम्बन्धार्थम् । उदाहरणानि स्फुटानि ।

इदमनित्यम् । अत एव **'तृतीया च होरि'** त्यत्र चानुकृष्टाया अपि द्वितीयाया **'अन्तराऽन्तरेणे'**त्यत्र सम्बन्धः ।

'लुटि च क्लृप' इति सूत्रस्थेनानुवृत्त्यर्थकसकलचकारप्रत्याख्यानेन विरुद्धेयम् । व्याख्यानादेवानुवृत्तिनिवृत्त्योर्निर्वाह इति तदाशयः । **'कुलिजाल्लुक्खौ चे'**ति सूत्रस्थभाष्यविरुद्धा च । तत्र हि **'द्विगोः ष्ठंश्चे'** ति सूत्रात् ष्ठनस्तत्र चेनाप्यनुकृष्टस्य **'खोऽन्यतरस्यामि'**त्यस्य चानुवृत्तिं स्वीकृत्य लुक्खौ चेति भाष्ये प्रत्याख्यातम् ॥७८॥

नन्वनुदात्तादेरन्तोदात्ताच्च यदुच्यते तद्व्यञ्जनादेर्व्यञ्जनान्ताच्च न प्राप्नोतीत्यत आह—

स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत् ॥७९॥

स्वरोद्देश्यके विधावित्यर्थः । **'नोत्तरपदेऽनुदात्तादावपृथिवीरुद्रपूषमन्थिष्वि'**ति सूत्रे पृथिव्यादिपर्युदासोऽस्या ज्ञापकः, अन्यथा पृथिव्यादीनामनुदात्तादित्वाभावादप्राप्तौ तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव ।

धर्मिग्राहकमानादेव च स्वरोद्देश्यकविधिविषयमिदम् । अत एव **'शतुरनुमो नद्यजादी'** **'अचः कर्तृयकी'**त्यादावजादी अच इत्यादेश्चारितार्थ्यम् । अत एव **'राजवती'**त्यादौ नलोपस्यासिद्धत्वादन्वतीशब्दत्वा **'दन्तोऽवत्या'** इति स्वरो न,

'उदश्वित्वानि' त्यत्र 'ह्रस्वनुड्भ्यामि'ति मतुबुदात्तत्वं च नेत्याकरः। स्पष्टं चेदं 'समासस्ये' ति सूत्रे भाष्ये।

'उच्चैरुदात्त' इति सूत्रे कैयटस्त्वियमनावश्यकी समभिव्याहृताजुपरागेण हलोऽप्युदात्तादिवदवभासात्तदुपपत्तेरित्याह। तत्र भाष्येऽपि ध्वनितमेतद् ॥७६॥

नन्वेवमपि 'राजदृषदि'त्यादौ 'समासस्ये' त्यन्तोदात्तत्वं षकारस्य न स्यादत आह—

हल्स्वरप्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवत् ॥८०॥

अस्याश्च 'यतोऽनाव' इति सूत्रे नौप्रतिषेधो ज्ञापकः। 'नाव्यमि'त्यत्राऽऽदिर्नकारो न स्वरयोग्यो, यश्चाऽऽकारस्तद्योग्यो नासावादिरिति स प्रतिषेधोऽनर्थकः।

न चाऽऽदिरेव नकार उदात्तगुणविशिष्टान्तरतमाज्रूपोऽस्त्विति वाच्यम्। तथा सति निमित्तभूतद्वयच्कत्वस्य विनाशादुपजीव्यविरोधेनाऽऽद्युदात्तत्वाप्राप्तेरित्यन्यत्र विस्तरः। स्पष्टा चेयं 'समासस्ये' ति सूत्रे भाष्ये ॥८०॥

ननु 'पूरणगुणे' ति निषेधस्तव्यत्यपि स्यात्, 'दिव औदि' त्यौत्वं दिवेः क्विप्यपि स्यात्, तथा 'यतोऽनाव' इति स्वरो ण्यत्यपि स्यात्, 'ऋदृशोऽङि गुण' इति चङ्यपि स्यादत आह—

निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य ॥८१॥
तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुबन्धकस्य ॥८२॥

'वामदेवाड् ड्यड् ड्यावि' ति सूत्रे ड्यड्यतोर्डित्वमनयोर्ज्ञापकम्। तद्धि 'ययतोश्चातदर्थे' इत्यत्र तयोरग्रहणार्थम्। नञः परस्य ययदन्तस्योत्तरपदस्यान्त उदात्त इति तदर्थः। एवञ्चावामदेव्येऽव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर एव भवति।

तन्मात्रानुबन्धकग्रहणे स चान्यश्चानुबन्धो यस्य तद्ग्रहणं नेत्यन्त्यार्थः।

एते च प्रत्ययाप्रत्ययसाधारणे। 'दिव औदि' त्यादौ सञ्चारितत्वात्।

वर्णग्रहणे चानयोरप्रवृत्तिरिति स्पष्टं 'मौङ आप' इत्यत्र भाष्ये।

येनानुबन्धेन सानुबन्धकत्वं द्वयनुबन्धकत्वादि वा तदनुच्चारणे एवैषा धर्मिग्राहकमानात्, तेन 'जश्शसोरि' त्यत्र नैषेति निरनुबन्धकत्वात्तद्धितशस एवात्र ग्रहणं स्यादिति न शङ्क्यम्।

एवमन्त्याऽन्यतरानुबन्धोच्चारणे एव, तेन 'वनो र चे'त्यादौ ङ्वनिप्क्वनिपोर्ग्रहणसिद्धिः।

एकानुबन्धकग्रहणे सम्भवतीति त्वर्थो न भाष्यादिसम्मत इत्यन्यत्र विस्तरः ॥८१,८२॥

ननु 'कुटीर' इत्यादौ स्वार्थिकत्वात् स्वार्थिकानां प्रकृतितो लिङ्गवचनानुवृत्तेर्न्यायप्राप्तत्वात् पुंस्त्वानुपपत्तिः, 'अप्कल्पमि' त्यत्र नपुंसकैकवचनयोरनुपपत्तिश्चेत्यत आह—

क्वचित्स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते ॥८३॥

'णचः स्त्रियामि'ति सूत्रे स्त्रियामित्युक्तिरस्या ज्ञापिका। अन्यथा **'कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियामि'**ति स्त्रियामेव विधानात् किं तेन। स्पष्टा चेयं बहुज्विधायके भाष्ये ॥८३॥

ननु 'सुपथी नगरी' ति **'युवोरनाकावि'** ति सूत्रभाष्योदाहृत **'इनः स्त्रियामि'** ति कप्स्यादत आह—

समासान्तविधिरनित्यः ॥८४॥

'प्रतेरंश्वादयस्तत्पुरुषे' इत्यन्तोदात्तत्वायांश्वादिषु राजन्शब्दपाठोऽस्या ज्ञापकः। अन्यथा टचैवान्तोदात्तत्वे सिद्धे किं तेन।

'द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धस्वि' ति स्वरविधायके भाष्ये स्पष्टेयम् ॥८४॥

ननु 'शतानीत्यादौ नुमि कृते षट्संज्ञा प्राप्नोति, ततश्च लुक् स्यात्, तथा 'उपादास्ते' त्यत्राऽऽत्वे कृते **'स्थाघ्वोरिच्च'** इतीत्त्वं प्राप्नोतीत्यत आह—

सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य ॥८५॥

सन्निपातो=द्वयोः सम्बन्धस्तन्निमित्तो विधिस्तं सन्निपातं यो विहन्ति तस्यानिमित्तम्।

उपजीव्यविरोधस्यायुक्तत्वमिति न्यायमूलैषा।

अत एवात्र **सन्निपातशब्देन न पूर्वपरयोः सम्बन्ध एव,** किन्तु **विशेष्यविशेषणसन्निपातोऽपि गृह्यते।** अत एव 'ग्रामणिकुलमि' त्यादौ नपुंसकह्रस्वत्वेऽपि 'पिति कृती' ति तुग्न। प्रातिपदिकाजन्तत्वसन्निपातेन जातस्य ह्रस्वस्य तदविघातकत्वात्। तुक्यजन्तत्वविघातः स्पष्ट एव।

न चार्थाश्रयत्वेन ह्रस्वस्य बहिरङ्गतयाऽसिद्धत्वम्। अर्थकृतबहिरङ्गत्वानाश्रयणस्योक्तत्वात्। किञ्च। 'षत्वतुकोरसिद्ध' इत्येतद्बलात् कृतितुग्ग्रहणाच्च तुग्विधौ बहिरङ्गपरिभाषाया अप्रवृत्तेः।

सर्वविधसन्निपातग्रहणादेव **वर्णाश्रयः प्रत्ययो वर्णविचालस्यानिमित्तं**

स्यादित्येतत्परिभाषादोषनिरूपणावसरे वार्तिककृतोक्तम् । न हि प्रत्ययः पूर्वपरसन्निपातनिमित्तकः स एव च सन्निपातशब्देन गृह्यते इति मत्वा न प्रत्ययः सन्निपातनिमित्तक इति शङ्कायां तदभ्युपेत्यैवाङ्गसंज्ञा तर्ह्यनिमित्तं स्यादित्येकदेशिनोक्तमिति न तद्भाष्यविरोधः। किञ्चैवं 'शैवो, गार्ग्यो, वैनतेय' इत्यादावप्यङ्गसंज्ञाया लोपनिमित्तत्वानापत्त्या वर्णाश्रय इत्यस्य वैयर्थ्यम् ।

'ग्रामणिकुलं, ग्रामणिपुत्र' इत्यादावुत्तरपदनिमित्तके ह्रस्वत्वे यथाकथञ्चिद् बहिरङ्गपरिभाषयाऽपि वारणं सम्भवतीति 'ङ्णमेजन्त' इत्यत्र 'ह्रस्वस्य पिती' ति सूत्रे चैकदेशिना तया परिभाषया तुग्वारितो भाष्ये । अत एव परिभाषाफलत्वेनेदमुक्तं 'ङ्णमेजन्त' इति सूत्रे वार्तिककृतेति केचित् ।

सन्निपातलक्षणविधित्वमस्या लिङ्गम् । स्वप्रवृत्तेः प्राक् स्वनिमित्तभूतो यः सन्निपातस्तद्विघातस्य स्वातिरिक्तशास्त्रस्य स्वयमनिमित्तमिमि फलति ।

नन्वेयं 'रामाये' त्यादौ 'सुपि च' ति दीर्घानापत्तिः । अदन्ताङ्गङे-सन्निपातेन जातस्य यादेशस्य तदविघातकत्वात् । न च यञादित्वसापेक्षदीर्घस्य बहिरङ्गतयाऽसिद्धत्वान्नात्र सन्निपातविघात इति वाच्यम् । आरोपितासिद्धत्वेऽपि वस्तुतस्तद्विघातस्य जायमानत्वेनैतत्प्रवृत्तेः । किञ्च । अन्तरङ्गे कर्तव्ये बहिरङ्गस्यासिद्धत्वेऽपि तत्र कृते तस्यासिद्धत्वे मानाभावः । किञ्चातिदेशिकसन्निपातविघाताभावमादायैतत्प्रवृत्तौ 'गौरी' त्यादौ सम्बुद्धिलोपेऽपि स्थानिवत्वेन ह्रस्वनिमित्तसन्निपातविघाताभावात् तत्रैतस्यातिव्याप्तिपर 'ङ्णमेजन्त' इति सूत्रस्थभाष्यासङ्गतिः। सन्निपातस्याशास्त्रीयत्वान्नात्र स्थानिवत्त्वमिति चेत्, तर्ह्यत्रासिद्धत्वमपि कथमिति विभावय । अशास्त्रीयेऽसिद्धत्वाप्रवृत्तेर् 'ईदूदेदि'- ति सूत्रे कैयटेन स्पष्टमुक्तत्वात् । एवञ्च पूर्वत्रासिद्धीयेऽपि कार्य एतत्परिभाषाप्रवृत्तिर्भवत्येवेति चेन्न । 'कष्टाये' ति निर्देशेनैतस्या अनित्यत्वात् ।

ययोः सन्निपातस्य विघातकं शास्त्रं तयोः सन्निपातनिमित्तकविधावुपादानमपेक्षितमिति तु नाऽऽग्रहः । अत एव 'दाक्षिरि' त्यत्राकारान्तप्रकृतीञ्सन्निपातनिमित्ताङ्गसंज्ञाऽनया परिभाषयाऽल्लोपस्य निमित्तं न स्यादित्याशङ्क्य अनित्यत्वेन समाहितं 'ङ्णमेजन्त' इति सूत्रे भाष्ये **"न ह्यङ्गसंज्ञायामदन्तस्याङ्गसंज्ञे"** त्युक्तमस्ति ।

न च 'कुम्भकारेभ्य, आधय' इत्यादावव्ययसंज्ञाया अनया परिभाषया वारणपरभाष्यासङ्गतिः, अनया परिभाषया लुग्माभूत, अव्ययत्वं तु स्यादेव, लुकाहि तदीयसन्निपातस्य विघातो नाव्ययसंज्ञया, संज्ञाफलं त्वकच् स्यादिति वाच्यम् । एतदुदाहरणपरभाष्यप्रामाण्येन साक्षात्परम्परया वा स्वनिमित्तसन्नि-

पातविघातविघातकस्य स्वयमनिमित्तमित्यर्थेनादोषात् । एतेन—अत्राकच्स्यादित्यपास्तम् ।

न च कार्यकालपक्षे लुगेकवाक्यतापन्नसंज्ञाबाधेऽप्यकजेकवाक्यतापन्ना स्यादिति वाच्यम् । अन्तरङ्गायां तदेकवाक्यतापन्नसंज्ञायां बहिरङ्गगुणादेरसिद्धत्वात । लुगेकवाक्यतापन्ना तु न गुणादितोन्तरङ्गोभयोरपि शब्दतः सुबाश्रयत्वात् ।

'न यासयोरि' ति निर्देशाच्चैषाऽनित्या, तेन नातिप्रसङ्गः । स्पष्टा चेयं **'कृन्मेजन्त'** इति सूत्रे भाष्ये ।

अस्या अनित्यत्वे फलानि भाष्ये परिगणितानि । वर्णाश्रयः प्रत्ययो वर्णविचालस्यानिमित्तम्—'दाक्षिः' । आत्त्वं पुग्विधेः—'क्रापयति' । पुग् ह्रस्वस्य—'अदीदपत्' । त्यदाद्यकारष्टाब्विधेः—या सेति । इड्विधिराकारलोपस्य—'पपिवान्' । 'ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप् अन्तोदात्तादुत्तरपदादि' ति मतुब्विभक्त्युदात्तत्वं पूर्वनिघातस्य—'अग्निमान्', 'परमवाचा' । नदीह्रस्वत्वं सम्बुद्धिलोपस्य—'नदि कुमारी' त्यादि । यादेशो दीर्घत्वस्य—कष्टाय ।

इतोऽन्यत्र प्रवृत्तिरेव, **'दोषाः खल्वपि साकल्येन परिगणिता'** इति भाष्योक्तेरित्यन्यत्र विस्तरः ॥८५॥

ननु 'पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्य, पञ्चेन्द्र' इत्यादौ **'द्विगोर्लुगि'** त्यणो लुकि **'लुक् तद्धिते'**ति स्त्रीप्रत्ययलुक्यानुकः श्रवणापत्तिरत आह—

सन्नियोगशिष्टानामन्यतरापाय उभयोरप्यपायः ॥८६॥

अत्र च **'बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुगि'** ति सूत्रस्थं छग्रहणं ज्ञापकम् । तद्धि छमात्रस्य लुग्बोधनद्वारा कुकोऽनिवृत्तिर्यथा स्यादित्यर्थम् । कृतकुगागमा नडाद्यन्तर्गता बिल्वादय एव तत्र निर्दिष्टा बिल्वकादिशब्देन ।

न चैवमपि छग्रहणं व्यर्थं कृतकुगामानुवादसामर्थ्यादेव तदनिवृत्तिसिद्धेः । अन्यथा बिल्वादिभ्य इत्येव वदेत्, **'लक्षणप्रतिपदोक्त'**परिभाषया बिल्वादिपुरस्कारेण विहितप्रत्ययस्यैव लुग्विधानान्नातिप्रसङ्ग इति वाच्यम्, ततोऽपि प्रतिपदोक्तत्वेन 'बिल्वादिभ्योण्' इति विकाराद्यर्थस्य लुगापत्तिवारणार्थं कुगनुवादचारितार्थ्यात् । समुच्चयार्थक चशब्दयोगे तु विधेययोरेककालिकत्वैकदेशत्वनियमान्न्यायसिद्धाऽपीयम् ।

यत्तु—**'णाविष्ठवदि'** त्यनेन पुंवत्त्वविधानमेतदनित्यत्वज्ञापनार्थम्, अन्यथा 'एतयती' त्यादौ टिलोपेनैव ङीपि निवृत्ते **'सन्नियोगशिष्ट'** परिभाषया नस्यापि

निवृत्त्या 'एतयती' त्यादिसिद्धौ पुंवत्त्ववैयर्थ्यं स्पष्टमेवेति 'टेरि' ति सूत्रे कैयटः। तन्न। 'इडविडमाचष्ट, ऐडविडयती' त्यादौ पुंवत्त्वस्याऽऽवश्यकत्वात्। 'ऐनेयः, श्यैनेयः' इत्यादि तु स्थानिवत्त्वेन सिद्धमित्यन्यत्र विस्तरः ॥८६॥

ननु 'चुरा शीलमस्याः सा, चौरी' त्यादौ 'शीलम्, छत्रादिभ्यो ण' इति णे ङीप् न प्राप्नोतीत्यत आह—

ताच्छीलिके णेऽण्कृतानि भवन्ति ॥८७॥

'अन्' इत्यणि विहितप्रकृतिभावबाधनार्थं **'कार्मस्ताच्छील्ये'** इति निपातनमस्या ज्ञापकम्।

ताच्छीलिकणान्ता'**दण्डे द्वयच**' इति फिञ्सिद्धिरप्यस्याः प्रयोजनमिति नव्याः।

ताच्छीलिक इत्युक्ते '**स्तदस्यां प्रहरणमि**' ति णे 'दाण्डे' त्येव। 'कार्मं' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टा ॥८७॥

ननु 'कंसपरिमृड्भ्यामि'त्यादौ मृजेर्वृद्धिर्दुर्वारेत्यत आह—

धातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये भवति ॥८८॥

'भ्रौणहत्ये' तत्त्वनिपातनमस्या ज्ञापकम्। 'धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यये कार्यविज्ञानमि'ति पाठस्तु 'प्रसृड्भिरि'त्यादौ **'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्ये'** त्यमापादनेन भाष्ये दूषितः।

यत्कार्यं प्रत्ययनिमित्तं तत्रेयं व्यवस्थापिका। तेन पदान्तत्वनिबन्धनं 'नशेर्वे-ति कुत्वं 'प्रणङ्भ्यामि' त्यादौ भवत्येव। इयङादिविधौ तु नैषा। **'न भूसुधियोरि'** ति निषेधेनानित्यत्वात्। **'मृजेर्वृद्धिरि'** त्यत्र भाष्ये स्पष्टा ॥८८॥

ननु 'सर्वके, उच्चकैरि' त्यादौ सर्वनामाव्ययसंज्ञे न स्यातामत आह—

तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते ॥८९॥

'नेदमदसोरकोरि' ति सूत्रे 'अकोरि'ति निषेधोऽस्याः ज्ञापकः। **'तदेकदेशभूतं तद्ग्रहणेन गृह्यते'** इति **'येन विधिरि'** ति सूत्रे भाष्ये पाठः ॥८९॥

ननु **'गातिस्थाघुपाभूभ्य'** इति सिचो लुक् 'अपासीदि' त्यादौ पातेरपि स्यादत आह—

लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्य ॥९०॥

अस्याञ्च ज्ञापकः **'स्वरतिसूती'** ति सूत्रे सूङिति वक्तव्ये सूतिसूयत्योः पृथङ् निर्देश इति कैयटः। तन्न। साहचर्यादलुग्विकरणस्यैव ग्रहणे प्राप्ते पृथङ्निर्देशस्य तज्ज्ञापकत्वासम्भवात्।

ध्वनिता चेयं परिभाषा **'यस्य विभाषे'**त्यत्र भाष्ये । तत्र हि विदित इति प्रयोगे निषेधमाशङ्क्य **'यदुपाधेर्विभाषा तदुपाधेर्निषेधो' 'विभाषा गमहनविदविशामि' ति सूत्रे 'शविकरणस्य ग्रहणं लुग्विकरणश्चायमि'** त्युक्तम् । तत्र चो हेतौ । यतोऽयं लुगविकरणोऽतो विशिसाहचर्याच्छविकरणस्य ग्रहणं न तु हनिसाहचर्यादस्यापि, एतत्परिभाषाविरोधादिति तदाशयः ।

अतएव परिभाषायां लुग्विकरणस्यैवेति नोक्तम् । कण्ठतस्तु भाष्ये एषा क्वापि न पठिता । **'गातिस्थे'** ति सूत्रे **पिबतेर्ग्रहणं कर्तव्यमिति** वार्तिककृता **सर्वत्रैव पाग्रहणेऽलुग्विकरणस्य ग्रहणमिति** भाष्यकृता चोक्तम् । **'स्वरतिसूती'**ति सूत्रे कैयटेन च स्पष्टमुक्ता ॥६०॥

ननु 'प्रजिघाययिषती'त्यादौ **'हेरचङी'** ति विधीयमानं कुत्वं न स्यादत आह—

प्रकृतिग्रहणे ण्यधिकस्यापि ग्रहणम् ॥६१॥

अचङीति प्रतिषेध एवास्या ज्ञापकः । इयं च कुत्वविषयैव । '**'हेरचङी'** ति सूत्रे भाष्ये स्पष्टेयम् ॥६१॥

ननु 'युष्मभ्यमि' त्यादौ 'भ्यस' इत्यत्र भ्यमिति च्छेदे भ्यसो भ्यमि कृते अन्त्यलोपे एत्वं स्यादत आह—

अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिः ॥६२॥

अङ्गे=अङ्गाधिकारे, वृत्तं=निष्पन्नं, यत्कार्यं, तस्मिन् सति पुनरन्यस्याङ्गकार्यस्य वृत्तौ=प्रवृत्तावविधानं भवतीत्यर्थः ।

एषा च **'ज्यादादीयस'** इत्याद्विधानेन ज्ञापिता । अन्यथेकारलोपेन **'अकृत्सार्वे'**-ति दीर्घेण च सिद्धे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । अत एव भिन्नस्थानिकाङ्गकार्यविषयाऽप्येषा ।

इयं चानित्या, द्वयोरिति निर्देशात् । अनित्यत्वबललभ्यार्थमादायैव **'भ्यसो भ्यमि'**ति सूत्रे भाष्ये निष्ठितस्येति पठितम् ।

केचित्तु—अनया परिभाषया न किञ्चिल्लक्ष्यं साध्यते । अत एव **'ज्ञाजनोर्जा, ज्यादादीयस'** इति सूत्रयोरेनां ज्ञापयित्वा किं प्रयोजनमिति प्रश्ने पिवतेर्गुणप्रतिषेध उक्तः, स न वक्तव्य इत्येव प्रयोजनमुक्तम्, न तु लक्ष्यसिद्धिरूपम् । तदुक्तम्—**'भ्यसोऽभ्यमि'** त्यत्राभ्यमितिच्छेदः । शेषे । लोपश्चान्त्यलोप एव **'अतो गुणे'** ति पररूपेण सिद्धं 'युष्मभ्यमि' त्यन्यत्र निरूपितम् । एवञ्च सूत्रद्वयस्थमेतज्ज्ञापनपरं भाष्यं 'भ्यसोऽभ्यमि' ति सूत्रस्थं च भाष्यमेकदेश्युक्तिरित्याहुः ॥६२॥

यत्तु—'ओरोदि' ति वाच्ये 'ओर्गुण' इति गुणग्रहणात्—

संज्ञापूर्वकविधेरनित्यत्वम् ॥६३॥

इयं च विधेयकोटौ संज्ञापूर्वकत्व एव। तेन 'स्वायम्भुवमि'त्यादि सिद्धम्। तथा नि लोडित्येव सिद्ध आनिग्रहणात्—

आगमशास्त्रमनित्यम् ॥६४॥

तेन 'सागरं तर्तुकामस्ये' त्यादि सिद्धम्।

तथा तनादिपाठादेव सिद्धे 'तनादिकृञ्भ्य' इति सूत्रे कृञ्ग्रहणात्—

गणकार्यमनित्यम् ॥६५॥

तेन 'न विश्वसेदविश्वस्तमि' त्यादि सिद्धम्।

तथा चक्षिङो ङित्करणात्—

अनुदात्तेत्त्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम् ॥६६॥

तेन 'स्फायन्निर्मोक' इत्यादि सिद्धम्।

तथा विनार्थनञा समासेनानुदात्तं पदमनेकमित्येव सिद्धे वर्जग्रहणात्—

नञ्घटितमनित्यम् ॥६७॥

तेन 'नेयङुवङि' त्यस्यानित्यत्वात् 'हे सुभ्रु' इति सिद्धमिति।

—तन्न। भाष्येऽदर्शनात्। भाष्यानुक्तज्ञापितार्थस्य साधुतानियामकत्वे मानाभावात्, भाष्याविचारितप्रयोजनानां सौत्राक्षराणां पारायणादावदृष्टमात्रार्थकत्वकल्पनाया एवौचित्यात्।

किञ्च ज्ञापितेऽप्यानीत्यस्य न सार्थक्यमाडागम-शून्यप्रयोगस्याप्रसिद्धेः। आट्ग्रहणं तु लोड्ग्रहणवदिति बोध्यम्। अत एव 'घोर्लोपो लेटि वे' ति सूत्रे वेति प्रत्याख्यातम्। लोपेऽप्याट्पक्ष आटः श्रवणं भविष्यति—'दधादि' ति। अटि—'दधदि' ति। आगमशास्त्रस्यानित्यत्वे त्वाटयसति 'दधादि'त्यसिद्ध्या वाग्रहणस्याऽऽवश्यकत्वेन तत्प्रत्याख्यानासङ्गतिः स्पष्टैव।

एतेन—यत्कैयटेन केचिदित्यादिनाऽस्यैव वाग्रहणस्य तदनित्यत्वज्ञापकतोक्ता साऽपि चिन्त्या। प्रत्याख्यानपरभाष्यविरोधात्, तनादिसूत्रे कृञ्ग्रहणस्य भाष्ये प्रत्याख्यानाच्च, चक्षिङो ङकारस्यान्तेदित्त्वाभावसम्पादनेन चारितार्थ्याच्च ॥६३, ६४, ६५, ६६, ६७॥

एवमेव—

आतिदेशिकमनित्यम् ॥६८॥

सर्वविधिभ्यो लोपविधिरिड्विधिश्च बलवान् ॥९९॥

इत्यादि भाष्यानुक्तं बोध्यम् ।

'स्वायम्भुवमि' त्यादि लोकेऽसाध्वेवेत्यन्यत्र विस्तरः ॥९८, ९९॥

यदपि—ननु हन्तेर्यङ्लुक्याशीर्लिङि वधादेशो न स्यादत आह—

प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणम् ॥१००॥

षाष्ठद्वित्वस्य द्विःप्रयोगत्वसिद्धान्तेन प्रयोगद्वयरूपे समुदाये प्रकृतिरूपत्व-बोधनेनेदं न्यायसिद्धम् । अत एव 'जुहवी' त्यादौ द्वित्वे कृते घित्वसिद्धिरिति तदपि न । भाष्येऽदर्शनात् ।

किञ्च तेन सिद्धान्तेन प्रत्येकं द्वयोस्तत्त्वबोधनेऽपि समुदायस्य तत्त्वबोधने मानाभावः । अत एव **'दयतेर्दिगी'** ति सूत्रेऽस्तेः परत्वाद् द्वित्वे कृते परस्यास्ते-र्भूभावे पूर्वस्य श्रवणं प्राप्नोतीत्याशङ्क्य विषयसप्तम्याश्रयणेन परिहृतं भाष्ये । अन्यथा त्वदुक्तरीत्यैकाज्द्विर्वचनन्यायेन समुदायस्यैवाऽऽदेशापत्तौ तदसङ्गतिः स्पष्टैव । तस्मादुत्तरखण्डमादायैव यथायोगं तत्तत्कार्यप्रवृत्तिर्बोध्या ।

'भूसुवोरि' त्यस्य तदन्ताङ्गस्येत्यर्थात् प्राप्तस्य गुणनिषेधस्य बोभूत्विति नियम इति न तद्विरोधः । तस्माद्धन्तेर्यङ्लुकि 'वध्यादि' त्यादि माधवाद्युदाहृतं चिन्त्यमेवेत्यन्यत्र विस्तरः ॥१००॥

यदपि ननु **'वृद्धिर्यस्याचामादिरि'** त्यत्र इक्परिभाषोपस्थितौ शालीयाद्य-सिद्धिरत आह—

विधौ परिभाषोपतिष्ठते नानुवादे ॥१०१॥

अनूद्यमानविशेषणेषु तन्नियामिका परिभाषा नोपतिष्ठत इति तदर्थः । विध्यङ्गभूतानां परिभाषाणां विधेयेनासिद्धतया सम्बन्धासम्भवेऽपि तद्विशेषण-व्यवस्थापकत्वेन चरितार्थानां तद्विशेषणव्यवस्थापकत्वे मानाभाव इति तर्कमूले-यम् । किञ्च **'उदीचामातः स्थाने'** इति सूत्रे स्थानेग्रहणमस्या लिङ्गम् । अन्यथा **'षष्ठी स्थाने'** इति परिभाषयैव तल्लाभे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेवेति । तन्न । **'उदात्त-स्वरितयोर्यण'** इत्यादौ **'ष्यङः सम्प्रसारणमि'** ति सूत्रभाष्योक्तरीत्या **'अल्लो-पोऽन'** इत्यादौ चैतस्या व्यभिचरितत्वात्, भाष्यानुक्तत्वाच्च । स्थानसम्बन्धो न परिभाषालभ्य इत्यर्थस्य **'षष्ठी स्थाने'** इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टमुक्तत्वेन त्वदुक्त-ज्ञापकतासम्भवाच्च । तत्र स्थानेग्रहणं तु स्पष्टार्थमेव । किञ्च **'विधौ परिभाषे'** ति प्रवाद **'इको गुणवृद्धी, अचश्च'** इत्यनयोर्विधीयत इत्यध्याहारमूलकः, अन्यत्र तु नास्याः फलमित्यप्यन्यत्र विस्तरः ॥१०१॥

ननु 'नमस्करोति देवान्, नमस्यति देवानि' त्यादौ 'नमः स्वस्ती'ति चतुर्थी दुर्वारेत्यत आह—

उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी ॥१०२॥

कारकविभक्तित्वञ्च—क्रियाजनकार्थकविभक्तित्वम्, तच्च प्रथमाया अप्यस्तीति सापि कारकविभक्तिरिति 'सह युक्ते' इत्यादि सूत्रेषु भाष्ये ध्वनितम्।

इयं च वाचनिक्येव। अत एव **'यस्य च भावेन'** इति सप्तम्यपेक्षयाऽधिकरणसप्तम्या बलवत्त्वमनेन न्यायेन **'तत्र च दीयते'** इति सूत्रे भाष्ये ध्वनितं कैयटेन च स्पष्टमुक्तम्। एतेन—क्रियान्वयित्वं कारकत्वमित्यपास्तम्। **'यस्य च भावेने'**ति सप्तम्या अपि क्रियान्वयित्वात्।

ये तु—प्रधानीभूतक्रियासम्बन्धनिमित्तकार्यत्वेन कारकविभक्तीनां बलवत्त्वं वदन्ति, तेषामुभयोरपि क्रियासम्बन्धनिमित्तकत्वेन तदसङ्गतिः स्पष्टैव। **'नमो वरिव'**इतिति सूत्रे 'नमस्यति देवानि' त्यादौ चतुर्थीवारणाय भाष्ये उपन्यासस्यासङ्गतेश्च।

एतेन क्रियाकारकसम्बन्धोऽन्तरङ्ग इति तन्निमित्ता विभक्तिरन्तरङ्गा, उपपदार्थेन तु यत्किञ्चित्क्रियाकारकभावमूलकः सम्बन्ध इति तन्निमित्ता विभक्तिर्बहिरङ्गेत्यपास्तम्। 'नमस्यती' त्यत्र नमः पदार्थेऽपि क्रियाकारकभावेनैवान्वयात्। अत्र च नमः पदार्थस्यापि क्रियात्वं मुण्डयतौ मुण्डस्येव।

'सह युक्ते' इत्यादौ च प्रधाने प्रथमासाधनार्थमियं भाष्य उपन्यस्तेत्यन्यत्र विस्तरः ॥१०२॥

न 'न्वदमुयङि' त्यादौ पूर्वस्यापि मुत्वापत्तिरत आह—

अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य ॥१०३॥

अन्त्यसदेशानन्त्यसदेशयोरेकप्रयोगे युगपत्प्राप्तावन्त्यसदेशस्यैवेति तदर्थः। अन्यथा धात्वादेर्नत्वसत्वे 'नेता, सोते, त्यादावेव स्यातां, न तु 'नमति सिञ्चती'-त्यादौ।

अनन्त्यविकार इति च लिङ्गम्।

अन्त्येन समानो देशो यस्य सोऽन्त्यसदेशः। तत्त्वं चान्त्यवर्णतद्वर्णयोरितराव्यवधानेन बोध्यम्। अत एव 'विद्ध' इत्याद्यर्थं **'न सम्प्रसारणे'** इति चरितार्थम्।

'अल्लोपोऽन' इत्यादे **'रनस्तक्ष्णे'** त्यादावाद्याकारादावप्रवृत्तिरप्यस्याः फलम्, यजादिस्वादिपरान्नन्ताङ्गस्याकारस्य लोप इत्यर्थस्यैवाङ्गांशे प्रत्ययस्यो-

स्थिताकाङ्क्षतयौचित्याद् अङ्गावयवयजादिस्वादिपरस्यान इत्यादिक्रमेणानेकत्रानेकक्लिष्टकल्पनापेक्षयाऽस्या उचितत्वात् ।

न चैषा '**ष्यङः सम्प्रसारणमि**' ति सूत्रे भाष्ये प्रत्याख्यातेति भ्रमितव्यम् । वार्तिकोक्तफलानामनेकक्लिष्टकल्पनाभिरन्यथासिद्धि प्रदर्श्यापि **यान्येतस्याः परिभाषायाः प्रयोजनानि तदर्थमेषा कर्तव्या प्रतिविधेयं दोषेषु**, प्रतिविधानं चोदात्तनिर्देशात्सिद्धमित्युपसंहारात् । मिमार्जिषतीत्यर्थं चैषा । तत्र वृद्धेः पूर्वमन्तरङ्गत्वाद् द्वित्वे परत्वादभ्यासकार्ये ततोऽभ्यासेकारस्य वृद्धिवारणायाऽवश्यकी । न च वृद्धौ पुनरभ्यासह्रस्वत्वेन सिद्धिः, **लक्ष्ये लक्षणस्येति** न्यायेन पुनरप्रवृत्तेः ।

यत्तु—'**न सम्प्रसारण**' इति सूत्रे भाष्ये **नैतस्याः परिभाषायाः प्रयोजनानीत्युक्तं** तस्यायमर्थः—एतत्सूत्रप्रयोजनान्येतस्याः परिभाषाया न भवन्ति व्यधादावन्त्यसमानदेशयणोऽभावादिति । नैतान्येतस्याः प्रयोजनानीति पाठोऽपि क्वचिद् दृश्यते ।

वाचनिक्येवैषा । स्पष्टा च '**ष्यङ**' इति सूत्रे '**अदसोऽसेरि**' ति सूत्रे च "**केचिदन्त्यसदेशस्ये**" त्यनेन भाष्य इत्यन्यत्र विस्तरः ॥१०३॥

ननु '**अव्यक्तानुकरणस्यात**' इति पररूपं '**पटत्**' इति '**पटिती**'त्यादौ '**अलोऽन्त्यस्ये**' त्यन्त्यस्य प्राप्नोतीत्यत आह—

नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे ॥१०४॥

अनभ्यासेत्युक्ते '**विभर्तीत्यादौ**' '**भृञामिदि**' त्याद्यन्त्यस्यैव । अभ्यासोऽनर्थकोऽर्थवृत्त्यभावात्, किन्तु उत्तरखण्ड एवार्थवानित्यन्यत्र निरूपितम् ।

एषा '**अलोऽन्त्यात्**' सूत्रे भाष्ये स्पष्टा । फलानामन्यथासिद्धिकरणेन प्रत्याख्याता चेति तत एवावधार्यताम् ॥१०४॥

ननु '**ब्राह्मणवत्सा च ब्राह्मणीवत्सश्चे**'त्यादौ '**पुमान्स्त्रिया**' इत्येकशेषापत्तिः, स्त्रीत्वपुंस्त्वातिरिक्तकृतविशेषाभावादत आह—

प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः ॥१०५॥

तेन प्रधानस्त्रीत्वपुंस्त्वातिरिक्ताप्रधानस्त्रीत्वपुंस्त्वकृतविशेषस्यापि सत्त्वेन न दोषः ।

स्पष्टा चेयं '**पुमान् स्त्रिया, नपुंसकमनपुंसकेने**'त्यनयोर्भाष्ये । अन्तरङ्गोपजीव्यादपि प्रधानं प्रवलमिति '**हेतुमति चे**' त्यत्र भाष्यकैयटयोः ॥१०५॥

ननु स्वस्रादित्वप्रयुक्तो मातृशब्दस्य ङीब्निषेधः परिच्छेत्तृवाचकमातृशब्देऽपि स्यादत आह—

अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी ॥१०६॥

तेन शुद्धरूढस्य जननीवाचकस्यैव ग्रहणं न परिच्छेत्तृवाचकस्य । योगजबोधे तदनालिङ्गितशुद्धरूढिजोपस्थितिः प्रतिबन्धिकेति व्युत्पत्तिरेव तद्बीजम् । रथकाराधिकरणन्यायसिद्धोऽयमर्थः ।

कश्चित्तु—'**दीधीवेवीटा**' मित्यत्रानया परिभाषया दीधीङ्वेवीङोरेव ग्रहणं न दीङ्धीङ्वेञ्वीनामिति । तन्न । तथा सति दीवेञ्वीवीटामित्येव वदेदित्यन्ये ॥१०६॥

ननु वातायनार्थे गवाक्षेऽवङो वैकल्पिकत्वाद् 'गोक्ष' इत्याद्यपि स्यादत आह—

व्यवस्थितविभाषयाऽपि कार्याणि क्रियन्ते ॥१०७॥

लक्ष्यानुसाराद्व्यवस्था बोध्या । '**शाच्छोरि**' ति सूत्रे '**लटः शत्रि**'त्यादिसूत्रेषु च भाष्ये स्पष्टा ॥१०७॥

विधिनियमसम्भवे विधिरेव ज्यायान् ॥१०८॥

नियमे ह्यश्रुताया अन्यनिवृत्तेः सामर्थ्यात् परिकल्पनमुक्तानुवाददोषश्चेति लाघवाद्विधिरेवेति बोध्यम् । '**यस्य हल**' इत्यत्र '**इजादेः सनुम**' इत्यादौ च भाष्ये स्पष्टेयम् ॥१०८॥

ननु '**आशंसायां भूतवच्चे**' त्यनेन लुङ इव लङ्लिटोरप्यतिदेशः स्यादत आह—

सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः ॥१०९॥

सामान्योपस्थितिकाले नियमेन विशेषोपस्थापकसामग्र्यभावोऽस्या बीजम् । तेनानद्यतनभूतरूपे विशेषे विहितयोस्तयोर्नातिदेशः । इयमनित्या, '**न ल्यपी**' ति लिङ्गात्, तेन स्थानिवत्सूत्रेण विशेषातिदेशोऽपि । स्पष्टं चैतत्सर्वं '**स्थानिवत्सूत्रे** भाष्ये ॥१०९॥

ननु '**तित्स्वरितमि**' ति स्वरितत्वं '**चिकीर्षती**' त्यादौ स्यादत आह—

प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्य ग्रहणम् ॥११०॥

इयं च '**अङ्गस्ये**' ति सूत्रे भाष्ये पठिता । वर्णग्रहणे च न प्रवर्तते इति तत्रैव कैयटे स्पष्टम् । अत एव '**सनाशंसभिक्ष उः, वले**' इत्यत्र सन्वलयोः प्रत्यययोर्ग्रहणम् ।

परे तु—'**तित्स्वरितमि**' ति सूत्रे एषा परिभाषा लक्ष्यसंस्काराय भाष्ये

क्वापि नाऽऽश्रितेति कैयटेनोक्तम् । 'अङ्गस्ये'ति सूत्रे तत्प्रत्याख्यानायैषा भाष्य एकदेशिनोक्ता—अत एव "तिति प्रत्ययग्रहणं कर्तव्यमि"ति वार्तिककृतोक्तम् । उक्तसूत्रयोर्व्याख्यानात्प्रत्यययोरेव ग्रहणमित्याहुः ॥११०॥

ननु 'विपराभ्यां जेरि' त्यात्मनेपदम् परा सेना जयतीत्यत्यर्थके 'पराजयति सेने'त्यत्र प्राप्नोतीत्यत आह—

सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम् ॥१११॥

तेन विशब्दसाहचर्यादुपसर्गस्यैव पराशब्दस्य ग्रहणमिति तत्रैव भाष्ये स्पष्टम् ।

सहचरणं सदृशयोरेवेति सहचरितशब्देन सादृश्यवानुच्यते । रामलक्ष्मणा-वित्यादावपि सादृश्यमेव नियामकम् । सदृशयोरेव सहविवक्षा तयोरेव सहप्रयोग इत्युत्सर्गाच्च ।

ध्वनितं चेदं '**कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीये**'ति सूत्रे भाष्ये । तत्र हि '**पञ्चम्य-पाङ्परिभिरि**'ति सूत्रेण लक्षणादिद्योतकपरियोगे पञ्चमीमाशङ्क्य, "**यद्यप्ययं परिर्दृष्टापचारो वर्जने चाऽवर्जने च, अयं खल्वपशब्दोऽदृष्टापचारो वर्जनार्थ एव कर्मप्रवचनीयस्तस्य कोऽन्यः सहायो भवितुमर्हत्यन्यो वर्जनार्थाद्यथाऽस्य गोः सहायेनार्थ इति गौरेवाऽऽनीयते नाश्वो न गर्दभ**" इत्युक्तम् । तेन हि सदृशा-नामेव प्रयोगे सहायभावो बोधितः ।

'**द्विस्त्रिश्चतुरि**'ति सूत्रे साहचर्येणैव कृत्वोऽर्थस्य ग्रहणे सिद्धे कृत्वोऽर्थ-ग्रहणादेषानित्या, तेन '**दीधीवेवीटामि**त्यत्र धातुसाहचर्येऽप्यागमस्येटो ग्रहण-मित्यन्यत्र विस्तरः ॥१११॥

न '**न्वस्थी**' त्यनङ् 'प्रियसक्थ्ना ब्राह्मणेने' त्यत्र न स्यात्, अङ्गस्य नपुंसकत्वा-भावादत आह—

श्रुतानुमितयोः श्रुतसम्बन्धो बलवान् ॥११२॥

श्रुतेनैव सम्बन्धो नानुमितेन प्रकरणादिप्राप्तेनेत्यर्थः । प्रकरणादितः श्रुतेर्ब-लवत्त्वादिति भावः । एवञ्च तत्र लिङ्गमस्थ्यादीनामेव विशेषणं नाङ्गस्य । शिशीलुग्नुम्विधिषु तु गृह्यमाणस्याभावात् प्रकरणप्राप्ताङ्गस्यैव विशेषणम् ।

अत एव '**वा नपुंसकस्ये**'ति सूत्रे वा शाविति न कृतम् । तत्र नपुंसक-ग्रहणं हि गृह्यमाणस्य शत्रन्तस्यैव नपुंसकत्वे यथा स्याद्, बहवो ददतो येषु तानि कुलानि, 'बहुददती'त्यत्र मा भूद्, 'बहूनि ददन्ति येषु ते बहुददन्त' इत्यत्र यथा स्यादित्येवमर्थम् । स्पष्टं चेदं '**स्वमोर्नपुंसकादि**' त्यत्र भाष्ये ।

केचित्तु—'अचो रहाभ्यां द्वे' इत्यत्र श्रुतेन रेफस्य निमित्तत्वेन यरन्तर्भावादनुमितेन कार्यित्वं बाध्यत इत्येतदुदाहरणमाहुः। तन्न। तक्रकौण्डिन्यन्यायेन सिद्धेरित्यन्यत्र विस्तरः ॥११२॥

ननु 'तत्पुरुषे तुल्यार्थे'ति स्वरः 'परमेण कारकेण, परमकारकेणे' त्यादौ स्यात्, तथा 'गातिस्थाघुपाभूभ्य' इति लुक् 'पै ओवै शोषणे' इत्यतः कृतात्वात्परस्यापि स्यादत आह—

लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम् ॥११३॥

लक्षणं लाक्षणिकमुपचारात्।

तत्तद्विभक्तिविशेषाद्यनुवादेन विहितो हि समासादिः प्रतिपदोक्तस्तस्यैव ग्रहणं, शीघ्रोपस्थितिकत्वात्। द्वितीयो हि विलम्बोपस्थितिकः। "पै" इत्यस्य 'पा' इति रूपं लक्षणानुसन्धानपूर्वकं विलम्बोपस्थितिकम्, पिबतेस्तु तच्छीघ्रोपस्थितिकम्। इदमेव ह्येतत्परिभाषाबीजम्।

इयं च वर्णग्रहणेऽपि, 'ओत्' सूत्रे भाष्ये सञ्चारितत्वात्।

यत्तु—वर्णग्रहणे नैषा, 'आदेच' इत्यत्रोपदेशग्रहणादिति, तत्तु तस्मिन्नेव सूत्रे शब्देन्दुशेखरे दूषितमिति तत एव द्रष्टव्यम्।

अनित्या चेयम्, 'भुवश्च महाव्याहृतेरि'ति महाव्याहृतिग्रहणादित्यन्यत्र विस्तरः ॥११३॥

नन्वेवं देङो दोधातोश्च कृतात्त्वस्य घुसंज्ञा न स्यात्, तथा मेङ आत्वे 'प्रणिमाते' त्यादौ 'नेर्गदनदे' ति णत्वं न स्यात्, तथा 'गै' इत्यस्यात्त्वे 'घुमास्थे'-तीत्वं न स्यादत आह—

गामादाग्रहणेष्वविशेषः ॥११४॥

अत्र च ज्ञापकं दैपः पित्त्वम्। तद्धि 'अदाबि' ति सामान्यग्रहणार्थम्। अन्यथा लाक्षणिकत्वादेव विधौ तदग्रहणे सिद्धे किं निषेधे सामान्यग्रहणार्थेन पित्त्वेन, तेन चैकदेशानुमतिद्वारा सम्पूर्णा परिभाषा ज्ञाप्यते।

इयं च 'लक्षणप्रतिपदोक्त'परिभाषा-'निरनुबन्धक' परिभाषा-'लुग्विकरण'-परिभाषाणां बाधिका। 'दाधाघ्वि' ति सूत्रे भाष्ये स्पष्टा।

'गातिस्थे' ति सूत्रे इणादेशगाग्रहणमेवेष्यत इति न दोष इत्यन्यत्र विस्तरः ॥११४॥

ननु वृद्ध्यादिसंज्ञाः समुदाये स्युरत आह—

प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः ॥११५॥

'देवदत्तादयो भोज्यन्तामि'त्यत्र भुजिवत् ॥११५॥

नन्वेवं संयोगसंज्ञासमाससंज्ञाऽभ्यस्तसंज्ञा अपि प्रत्येकं स्युरत आह—

क्वचित्समुदायेऽपि ॥११६॥

'गर्गाः शतं दण्ड्यन्ताम्, अर्थिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्ती'त्यादौ दण्डनवत् । लक्ष्यानुरोधेन च व्यवस्था ॥११६॥

ननु 'यूस्त्र्याख्यावि' त्यत्र व्यक्तिपक्षे दीर्घनिर्देशादनण्त्वेन ग्राहकसूत्राप्राप्त्या उदात्ताद्यन्यतमोच्चारणेऽन्यस्वरकस्य संज्ञा न स्यादत आह—

अभेदका गुणाः ॥११७॥

असति यत्ने स्वरूपेणोच्चारितो गुणो न भेदको न विवक्षित इत्यर्थः।

अत्र च **'अस्थिदधी'**त्यादावनङादेरुदात्तस्यैवोच्चारणेन सिद्ध उदात्तग्रहणं ज्ञापकम् । 'स्वरूपेणोच्चारित' इत्युक्तेरनुदात्तादेरन्तोदात्तादित्युदात्तादिशब्दोच्चारणे विवक्षैव । 'उञ ऊँ' इत्यत्राननुनासिके एवोच्चारणीये यत्नाधिक्येनानुनासिकोच्चारणाद्विवक्षा बोध्या । **'पथिमथ्यृभुक्षामि'** त्यादौ स्थान्यनुरूपतयाऽनुनासिक एवोच्चारणीये निरनुनासिकोच्चारणात्तद्विवक्षा । एतदर्थमेव 'असति यत्न' इत्युक्तम् ।

न चैवमस्थ्यादीनां **'नब्विषयस्ये'** त्याद्युदात्ततयाऽन्त्यादेशस्यानङः स्थान्यनुरूपेऽनुदात्त एवोच्चारणीये उदात्तोच्चारणं विवक्षार्थं भविष्यतीति कथमस्य ज्ञापकत्वमिति वाच्यम् । परमास्थिशब्दादावन्तोदात्त उदात्तगुणकस्यापि स्थानित्वेन विवक्षायां मानाभावात् ।

"चतसर्याद्युदात्तनिपातनं करिष्यते, वधादेशे आद्युदात्तनिपातनं करिष्यते, पदादयोऽन्तोदात्ता निपात्यन्ते, सहस्य स उदात्तो निपात्यत" इत्यादिभाष्यं त्वेकश्रुत्याऽष्टाध्यायीपाठे क्वचिदुदात्ताद्युच्चारणं विवक्षार्थमित्याशयेन । त्रैस्वर्येण पाठ इति पक्षे तु ज्ञापकपरं भाष्यमिति कैयटादयः ।

परे तु— **निपातनं नामान्यादृशे प्रयोगे प्राप्तेऽन्यादृशप्रयोगकरणम्,** तत्तद्रूपाद्यत्नात्तत्र तत्रोदात्तादिविवक्षा । 'तिसृचतस्रि' त्यत्र द्वन्द्वप्रयुक्तेऽन्तोदात्ते उच्चारणीये आद्युदात्तोच्चारणमन्यत्र स्थान्यनुरूपे स्वर उच्चारणीये तत्तदुच्चारणं विवक्षार्थम् ।

सम्पूर्णाष्टाध्याय्याचार्येणैकश्रुत्या पठितेत्यत्र न मानम् । क्वचित्पदस्यैकश्रुत्याऽपि पाठो यथा—'दाण्डिनायनादि' सूत्रे 'ऐक्ष्वाके'ति । यद्यप्यध्येतार

एकश्रुत्यँवाङ्गानि पठन्ति ब्राह्मणवत्, तथापि व्याख्यानतोऽनुनासिकत्वादिवदुदात्तनिपातनादिज्ञानमित्याहुः ।

विधेयाण् विषये त्वप्रत्यय इति निषेधान्न गुणाभेदकत्वेन सवर्णग्रहणम् । अत एव 'घटवदि' त्यादौ मतोर्मस्य नानुनासिको वकारः । अत एव तद्वानासामिति सूत्रनिर्देशः । अन्यथा **"प्रत्यये भाषायामि"** ति नित्यमनुनासिकः स्यात् । जातिपक्षे तु नास्योपयोग इति बोध्यम् । 'यू' इत्यादौ दीर्घमात्रवृत्तिजातिनिर्देशान्न क्षतिरित्यन्यत्र विस्तरः ॥११७॥

ननु 'सर्वनामानी'त्यत्र णत्वाभावनिपातनेऽपि लोके सणत्वप्रयोगस्य साधुत्वं स्यादत आह—

बाधकान्येव निपातनानि ॥११८॥

तत्तत्कार्ये नाप्राप्ते निपातनारम्भात् । **'पुराणप्रोक्तेष्वि'** ति निपातितपुराणशब्देन पुरातनशब्दस्य बाधः प्राप्तोऽपि पृषोदरादित्वान्नेति बोध्यम् ।

पुराणेति पृषोदरादिः पुरातनेति चेत्यन्ये ।

इयं सर्वादिसूत्रे भाष्ये स्पष्टा । **अबाधकान्यपि निपातनानीति तु भाष्यविरुद्धम्** ॥११८॥

ननु—'उख्' धातोर्द्वित्वे स्वत एव ह्रस्वत्वात् पूर्वमभ्यासह्रस्वाप्रवृत्तौ हलादिःशेषे सवर्णदीर्घे ह्रस्वापत्तिरत आह—

पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः ॥११९॥

एवं च ह्रस्वस्यापि ह्रस्वे कृते 'लक्ष्ये लक्षणस्ये'ति न्यायेन न पुनर्ह्रस्वः । तदुक्तम्— **'इको झलि'** ति सूत्रे भाष्ये **"कृतकारि खल्वपि शास्त्रं पर्जन्यवदि"** ति । सिद्धेऽपि ह्रस्वादिकारीत्यर्थः ।

न च लक्ष्ये लक्षणस्य सकृदेव प्रवृत्तिरित्यत्र न मानमिति वाच्यम् । **"समो वा लोपमेक"** इति लोपेनैकसकारस्य द्वित्वेन द्विसकारस्य पुनर्द्वित्वेन च त्रिसकारस्य सिद्धौ **'समः सुटी'** ति सूत्रस्यैव मानत्वात्, **'सम्प्रसारणाच्च सिचि वृद्धिरि'**-त्यादौ भाष्ये स्पष्टमुक्तत्वाच्च ।

अत्र विकारकृतो लक्ष्यभेदो नेति **'सिचि वृद्धिरि'** ति भाष्यात् प्रतीयत इत्यन्यत्र विस्तरः ॥११९॥

ननु 'स्यन्दू' धातोः 'स्यन्त्स्यती' त्यादावात्मनेपदनिमित्तत्वाभावनिमित्तत्वाच्च **'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः'** इति निषेधस्य वहिरङ्गत्वेनान्तरङ्गत्वादूदिल्लक्षणस्येड्विकल्पस्याऽऽपत्तिरत आह—

निषेधाश्च बलीयांसः ॥१२०॥

अन्तरङ्गादुपजीव्यादपि बलीयांस इत्यर्थः।

चतुर्भ्य इति तु स्पष्टार्थमेव। अत एव तत्प्रत्याख्यानं भाष्योक्तं सङ्गच्छते।

अत एव सवर्णसंज्ञादेर्निषेधविषये न विकल्पः, अन्यथा मीमांसकरीत्या विधेरुपजीव्यत्वेन प्राबल्यात्तस्य सर्वथा बाधानुपपत्त्या दुर्वारः स इति मञ्जूषायां विस्तरः।

अत एव '**द्वन्द्वे च, विभाषा जसी**'ति चरितार्थम्।

विध्युन्मूलनाय प्रवृत्तिरस्या बीजम्। '**न लुमता, कर्मण्यग्ङि**' त्यनयोर्भाष्ये स्पष्टैषा ॥१२०॥

ननु अत्यन्तस्वार्थिकानामर्थप्रत्यायकत्वरूपप्रत्ययत्वानुपपत्तिरत आह—

अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे ॥१२१॥

यस्यार्थः प्रकृत्या प्रत्याय्यते सोऽपि प्रत्यय इत्यस्याप्यङ्गीकारात्तस्य प्रत्ययत्वमिति न दोषः। **स्वार्थ इत्यस्य स्वीयप्रकृत्यर्थ** इत्यर्थः।

महासंज्ञाबलादर्थाकाङ्क्षायामन्यानुपस्थितिरस्या बीजम्। '**सुपि स्थ**' इत्यादिसूत्रेषु भाष्ये स्पष्टैषा ॥१२१॥

योगविभागादिष्टसिद्धिः ॥१२२॥

इष्टसिद्धिरेव, न त्वनिष्टापादनं कार्यमित्यर्थः। तत्तत्समानविधेयकद्वितीययोगेन विभक्तस्यानित्यत्वज्ञापनमेतद्बीजम् ॥१२२॥

पर्यायशब्दानां लाघवगौरवचर्चा नाऽऽद्रियते ॥१२३॥

तत्र तत्रान्यतरस्यां विभाषा वेति सूत्रनिर्देशज्ञापितमिदम् ॥१२३॥

ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र ॥१२४॥

स्पष्टमेव पठितव्येऽनुमानाद् बोधनमसार्वत्रिकत्वार्थमित्यर्थः, तेन ज्ञापकसिद्धपरिभाषयाऽनिष्टं नाऽऽपादनीयमिति तात्पर्यम्। भाष्येऽपि ध्वनितमेतद् '**ङ्याप्**' सूत्रादौ।

ज्ञापकेति न्यायस्याप्युपलक्षणम्। न्यायज्ञापकसिद्धानामपि केषाञ्चित् कथनमन्येषामनित्यत्वबोधनायेति भावः। यथा '**तत्स्थानापन्ने तद्धर्मलाभ**' इति न्यायसिद्धं स्थानिवत्सूत्रं, ज्ञापकसिद्धं च तत्र '**अनल्विधावि**'ति ॥१२४॥

ननु '**द्रोग्धा द्रोग्धा द्रोढा द्रोढे**' त्यादौ घत्वादीनामसिद्धत्वात् पूर्वं द्वित्वे एकत्र घत्वमपरत्र ढत्वमित्यस्याप्यापत्तिरत आह—

पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे ॥१२५॥

द्वित्वभिन्ने पूर्वत्र कर्तव्ये परमसिद्धमित्यर्थः। **'पूर्वत्रासिद्धमि'** त्यधिकारभवं शास्त्रमस्या लिङ्गम्।

यत्र च सिद्धत्वासिद्धत्वयोः फले विशेषस्तत्रैवेयम्। 'कृष्णर्द्धिरि'त्यादौ जश्त्वात्पूर्वमनन्तरं वा द्वित्वे रूपे विशेषाभावेन नास्याः प्रवृत्तिरित्यन्यत्र विस्तरः। **'सर्वस्य द्वे'** इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टेयम् ॥१२५॥

ननु 'गोष्वश्वेषु च स्वामीत्यादिवद्' 'गोष्वश्वानां च स्वामी'त्यपि स्यात्, **'स्वामीश्वरे'** ति सूत्रेण षष्ठीसप्तम्योर्विधानादत आह—

एकस्या आकृतेश्चरितः प्रयोगो द्वितीयस्या-
स्तृतीयस्याश्च न भविष्यति ॥१२६॥

यत्रान्याकृतिकरणे भिन्नार्थत्वसम्भावना तद्विषयोऽयं न्याय इत्यन्यत्र विस्तरः। **'कृञ्चानुप्रयुज्यते'** इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टेयम् ॥१२६॥

ननु 'विव्याधे' त्यादौ परत्वाद् 'हलादिः शेषे' वस्य सम्प्रसारणं स्यादत आह—

सम्प्रसारणं तदाश्रयं च कार्यं बलवत् ॥१२७॥

तदाश्रयं **'सम्प्रसारणाच्चे'**ति पूर्वरूपम्।

वस्तुतो **'लिट्यभ्यासस्ये'** ति सूत्रे उभयेषां ग्रहणस्योभयेषां सम्प्रसारणमेव यथा स्यादित्यर्थकत्वेनेदं सिद्धमेषा व्यर्थेति 'लिटयभ्यासस्ये' ति सूत्रे स्पष्टम्। फलान्तरान्यथासिद्धिरपि तत्रैव भाष्ये स्पष्टा। **'णौ च संश्चङोरि'** त्यादौ संश्चङोरित्यादि विषयसप्तमीति तत्रापि न दोष इत्यन्यत्र विस्तरः ॥१२७॥

यत्तु—

क्वचिद्विकृतिः प्रकृतिं गृह्णाति ॥१२८॥

तेन **'निसमुपविभ्योह्व'** इत्यत्र ह्वाग्रहणेन ह्वेञो ग्रहणसिद्धिः।

तथा—

औपदेशिकप्रायोगिकयोरौपदेशिकस्यैव ग्रहणम् ॥१२९॥

तेन **'दादेर्धातोरि'** त्यत्रौपदेशिकधातोरेव ग्रहणमिति। तन्न। तयोर्निर्मूलकत्वाद्भाष्याव्यवहृतत्वाच्च। **"न च विकृतिः प्रकृतिं गृह्णाती"** ति **'ग्रहिज्ये'**-ति सूत्रस्थभाष्येणाऽऽद्यायास्तिरस्काराच्च। 'निसमुपविभ्यो ह्व' इत्यादौ ह्वेञोऽनुकरणे सौत्रः प्रयोगः।

आत्वविषय एवाऽऽत्मनेपदं, प्रयोगस्थानामेवानुकरणस्य घुसंज्ञासूत्रे भाष्ये स्पष्टमुक्तत्वादित्यन्ये ।

अन्त्यापि तत्रोपदेशग्रहणं कुर्वतः सूत्रकृतो वार्तिककृतश्चासम्मता । **"इह हि व्याकरणे सर्वेष्वेव सानुबन्धकग्रहणेषु रूपमाश्रीयते यत्रास्यैतद्रूपमिति, रूप-निर्ग्रहश्च शब्दस्य नान्तरेण लौकिकप्रयोगम्, अस्मिंश्च लौकिके प्रयोगे सानु-बन्धकानां प्रयोगो नास्तीति कृत्वा द्वितीयः प्रयोग उपास्यते । कः? उपदेशो नाम"** ति घसंज्ञासूत्रस्थभाष्येण प्रायोगिकासम्भवे तद्ग्रहणमित्यर्थस्य लाभेन भाष्यासम्मता च ।

भाष्ये सानुबन्धकेत्यादि प्रकृताभिप्रायेण । 'दादेरि' ति सूत्रे दादिपदस्यौप-देशिकदादित्ववति लक्षणेति न दोष इत्यन्यत्र विस्तरः ॥१२८, १२९॥

यदपि—ननु 'अजर्घा वेभिदीती'त्यादौ तत्तद्गणप्रयुक्ता विकरणा यङ्लुकि स्युः, तथा यङ्लुकि 'वेभेदिते' त्यादौ 'एकाच' इतीण् निषेधः स्यादत आह—

शितपा शपाऽनुबन्धेन निर्दिष्टं यद् गणेन च ।
यत्रैकाज्ग्रहणं चैव पञ्चैतानि न यङ्लुकि ॥१३०॥

अनुबन्धनिर्देशो द्विधा—स्वरूपेण, 'ङित' इत्यादिपदेन च । 'हन्ति, याति, वाति', **'सनीवन्ते'** ति सूत्रे 'भरे' ति, **'दीङो युडचि' 'अनुदात्तङितः' 'दिवा-दिभ्यः श्यन्', 'एकाच उपदेशे'** इत्युदाहरणानि ।

द्वित्वं **'सनाद्यन्ता'** इति **'भूवादय'** इति धातुत्वं च भवत्येव **'गुणो यङ्-लुकोरि'** त्यादिभिर्निषेधानित्यत्वकल्पनात्, तेन भष्भावोऽपि 'अजर्घा' इत्यादौ भवति । अत एव 'श्वीदित' इति सूत्रे कैयटे **"यत्रैकाज्ग्रहणं किञ्चिदि"**ति पाठः ।

'एकाच उपदेशेऽनुदात्तादि' ति सूत्रे एकाज्ग्रहणेनैकदेशानुमत्यैषा ज्ञाप्यते । अन्यथोपदेशेऽनेकाचामुदात्तत्वस्यैव सत्त्वेन तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेवेति । तदपि न । भाष्यानुक्तत्वात्, एकाज्ग्रहणस्य वधिव्यावृत्त्यर्थमावश्यकत्वाच्च । न च वधिस्स्थान्युपदेश एकाजेवेति वाच्यम् । साक्षादुपदेशसम्भवेनैतद्विषये स्था-न्युपदेशाग्रहणात् । उपदेशत्वावच्छेदेनैकाजित्यर्थाच्च । किञ्चोत्तरार्थमेकाज्-ग्रहणम् । अत एव 'जागरितवानि' त्यादावुपदेश उगन्तत्वमादाय **'श्र्युकः किती'** तीण्-निषेधो न । तत्रोपदेश इत्यनुवृत्तिश्च 'स्तीर्णमि'त्यादाविण् निषेधाये-त्याकरे स्पष्टम् ।

न च भाष्ये यङ्लोपे 'वेभिदिते' त्यादाविट्प्रवृत्त्यर्थमुपदेशेऽनुदात्तादेकाचः

श्रूयमाणादङ्गादित्यर्थे सनीट्प्रतिषेधो वक्तव्यो 'बिभित्सती'ति दोषोपन्यासवत् यङ् लुकि दोषानुपन्यासेन तत्र इडिष्टः । यङ्लोपेत्यादि भाष्यं तूपक्रमोपसंहारबलेन न यङ्लुग्विषयम् । किञ्च तस्य तद्विषयकत्वे यङ्लोपे स्थानिवत्त्वस्येव यङ्लुक्युपायाप्रदर्शनेन न्यूनतापत्तिरिति वाच्यम् । इड्विषये यङ्लुको लोकेऽनभिधानेन छन्दसि सर्वविधीनां वैकल्पिकत्वेन च तत्र दोषानुपन्यासेनादोषात् । अन्यथा **"एकाज्ग्रहणं किमर्थमि"**ति प्रश्नस्य **"उत्तरत्र जागर्त्यर्थमिह वध्यर्थमि"**त्युत्तरस्य च भाष्ये निरालम्बनत्वापत्तेः ।

न चाऽऽर्धधातुकाक्षिप्तधातोरेकाच इति विशेषणम् । एवं च 'बिभित्सती'-त्यादावुत्तरखण्डस्य धातोरेकाच्त्वमस्त्येव उत्तरखण्डेऽस्तित्ववत् । एतच्च **'दयतेरि'** ति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । एवं च प्रकृतभाष्यासङ्गतिरिति वाच्यम् । **आक्षेपे आक्षिप्तस्यान्वये च मानाभावात्** । अङ्गत्वं तु विशिष्ट एवे'त्येकाचो द्वे' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । निरूपितं च तनादिशेषे शब्देन्दुशेखरे । धातुत्वं तूत्तरखण्ड एव । अत एव **'एकाचो बशो भषि'** ति सूत्रे धातोरवयवस्यैकाच इति वैयधिकरण्येनान्वये गर्धप्सिद्धिः प्रयोजनमुक्तं भाष्ये, न तु प्रसिद्ध 'मजर्घा' इति ।

'अजर्घा' 'वेभिदीती' त्यादौ श्नम्श्यनादयस्तु 'चर्करीतं चे' त्यस्यादादौ पाठेन यङ्लुगन्ते गणान्तरप्रयुक्तविकरणस्याप्राप्त्या न भवन्ति ।

छान्दसत्वादेव कार्यान्तराणामपि छन्दसि दृष्टप्रयोगेष्वदृष्टानामभावो बोध्यः । भाषायां तु तादृशानामभाव एव । श्तिप्शबादिनिर्देशास्तु "भवतेर" इत्यादिसूत्रस्थतन्निर्देशवन्नार्थसाधका इत्यन्यत्र विस्तरः ॥१३०॥

ननु 'जभोऽचि', रधेश्च, नेट्यलिटी'त्येव सूत्र्यतां किं द्वी रधिग्रहणेनेत्यत आह—

पदगौरवाद्योगविभागो गरीयान् ॥१३१॥

प्रतिवाक्यं भिन्नवाक्यार्थबोधकल्पनेन गौरवं स्पष्टमेव । परन्तु भाष्यासम्मतेयम्, **'टाङसी'** ति सूत्रस्थभाष्यविरुद्धा च ।

तत्र च इनादेशे इकारप्रत्याख्यानं योगविभागेनैव कृतमिति बहवः ॥१३१॥

अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः ॥१३२॥

'एओङ्—ऐऔच्' सूत्रयोर्ध्वनितैषा भाष्ये । तत्रानेकपदघटितसूत्रे प्रायेण पदलाघवविचार एव, न तु मात्रालाघवविचार इति **'ऊकालोऽज्, अपृक्त 'एकालि'**-त्यादिसूत्रेषु भाष्ये ध्वनितम् । तत्र हि सूत्रेऽल्ग्रहणहल्ग्रहणयोर्विशेषविचारे संज्ञायां हल्ग्रहणं **'ण्यक्षत्रिये'**ति सूत्रे अणिञोरिति वाच्यमिति त्रीणि पदान्य-

ल्ग्रहणे तदेकं स्वादिलोपे हल्ग्रहणं ण्येति सूत्रे अणिञोरिति न वाच्यमपृक्त-स्येति वाच्यमिति त्रीण्येव पदानीति नास्ति लाघवकृतो विशेष इत्युक्तम् ।

"अचि श्नु'ति सूत्रे इण इत्येव सिद्धे य्वोरिति संमृद्य ग्रहणान्न पूर्वेणेण्-ग्रहणम् । तत्र विभक्तिनिर्देशे संमृद्य ग्रहणे च सार्धास्तिस्रो मात्रा इण्ग्रहणे तिस्रो मात्रा" इति 'लण्' सूत्रे भाष्योक्तेः, तथा 'ओतः श्यनी'ति सूत्रे "शितीति न वक्तव्यम्, तत्राप्ययमर्थः—'ष्ठिवुक्लम्वि'ति सूत्रे शितीति न कर्तव्यं भवती"ति भाष्ये न केवलं मात्रालाघवं यावदयमप्यर्थ इति कैयटोक्तेः प्रायेणेति शिवम् ॥१३२॥

॥ इति शास्त्रशेषनामकं तृतीयं प्रकरणम् ॥

इति श्रीमदुपाध्यायोपनामक शिवभट्टसुत सतीगर्भजनागोजी-भट्टकृतः परिभाषेन्दुशेखरः समाप्तः ॥

अनुबन्धः (२)

श्री पुरुषोत्तमदेवविरचिता परिभाषावृत्तिः

अथातः परिभाषाणां वचनानां च तादृशाम् ।
संक्षिप्य ललितां वृत्तिं प्रस्तौति पुरुषोत्तमः ॥

अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ।१।

अर्थवदनर्थकग्रहणविचारेऽर्थवत एव ग्रहणं नान्यस्य । तद्यथा दाधाघ्वदा-वित्यत्र (१।१।२०) अर्थवतोरेव दा-धा इति धात्वोर्ग्रहणं न तु दाशृ दाने धावु गतिशुद्ध्योरिति धात्वेकदेशयोः । शे इति (१।१।१३) प्रगृह्यसंज्ञायां सुपामादेश-स्य ग्रहणं न तु काशे कुशे इति पदैकदेशस्यानर्थकस्य ।

स्वरूपविधिविषया चेयम् । अर्थवदित्यादौ (१।२।४५) अर्थवद्ग्रहणात् । तेन प्रलम्बत इत्यनर्थकादप्यव्ययात् लुक् सिद्धो भवति । इह च काश्चित् परि-भाषा न्यायमूलाः । यथेयमेवार्थग्रहण इति । अर्थप्रतिपादनाय खलु शब्दान्वा-ख्यानमित्यनर्थकोपादानस्यायुक्तत्वात् । काश्चित्तु वचनमूलाः, यथालुग्विकरणा-लुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्यैव ग्रहणमिति । उभयीनामासां परिभाषाणां पाणिनिसूत्राणामिव यद्यपि पृथगेव प्रामाण्यमिष्यते, विधिनिग्रहाविष्टाः सूत्र-सूत्रैकदेशान्यथानुपपत्तिलक्षणेन ज्ञापकेनैव ताः प्रमाणयन्ति । तत्रास्याः प्रामाण्ये स्वं रूपमिति (१।१।६८) स्वरूपग्रहणं ज्ञापकम् । तत्र ह्युक्तम्—शब्दप्रतीतावु-पदेशानपेक्षत्वादसाधारणत्वान्नित्यसम्बन्धित्वाच्च स्वरूपमेव प्रत्यासन्नं नार्थो विपर्ययात् । अतः स्वग्रहणादेव रूपपरिग्रहे सिद्धे व्याकरणे रूपवदर्थोऽप्यङ्गी-क्रियत इति रूपग्रहणमिति । रूपवदर्थोऽप्यङ्गीक्रियते इत्यर्थवान् शब्दो गृह्यते इति अर्थवद्ग्रहणपरिभाषाया एवायमर्थः सम्पद्यते । अथवा व्रश्चादिसूत्रे (८।२।३६) भ्राजग्रहणमस्याः सत्त्वज्ञापकम् । यदि हि निरर्थकस्यापि हि ग्रहणं भवति तदा तत्र भ्राजग्रहणेनैव भ्राजैकदेशस्यापि राजशब्दस्य ग्रहणं सिद्धम् इति यज-राज-भ्राजेति भ्राजग्रहणं पृथक् न कुर्यात् । कृतं तु । अतो ज्ञापकम् अर्थवत एव ग्रहणं नान्यस्येति ।

अथेयं परिभाषा लिङ्गवती विध्यङ्गशेषभूता वा । तत्र न लिङ्गवती इको गुणवृद्धी (१।१।३) इतिवत् लिङ्गानिर्देशात् । विध्यङ्गानां विधिसूत्राणां शेषभूता एकदेशत्वं प्राप्ता त्वियम् । तथाहि शे (१।१।१३) इत्यनेनानया सह संहत्यार्थवतः शेशब्दस्य ग्रहणेन प्रगृह्यसंज्ञा विधीयते । एवमन्यत्रापि परिभाषाणां विध्यङ्गभाव उन्नेयः ॥१॥

न वर्णग्रहणेषु ।२।

पूर्वापवादोऽयम् । वर्णा अकारेकारादयः तद्ग्रहणेषु अर्थवद्ग्रहणपरिभाषा नोपतिष्ठते । यथा अस्य च्वौ (७।४।३२) इतीत्वमनर्थकस्याप्यकारस्य भवति शुक्लीकरोतीति । अन्यथा ह्यर्थवत एव विधौ विष्णुवाचिनोऽकारस्य स्यात् । तथा इको यणचीति (६।१।७७) इक् अज्मात्रे यण् भवति दध्यत्र मध्वत्रेति । नो चेत् नद्यौ कुमार्यौ इत्यादावेव स्यात् । एवं यस्येति चेति (६।४।१४८) लोप इकाराकारमात्रयोर्भवति । तेनाग्नेयो दाक्षिरित्यादावपि स्यात् । न त्वर्थवतोरेव । अन्यथा हि अत इञ् (४।१।९५) अस्यापत्यम् इः एरपत्यं यञिञोश्चेति (४।१।१०१) फक् आयन इहैव स्यात् । ज्ञापकञ्चात्र भक्ष्येण मिश्रीकरणम् (२।१।३५) आगस्त्यकौण्डिन्ययोरगस्तिकुण्डिनच् (२।४।७०) काश्यपकौशिकाभ्यामृषिभ्याम् इत्यादिसूत्रनिर्देशः । तिप्-तस्-झि (३।४।७८) इति सूत्रे त्विटष्टकारं प्रत्याचक्षाणेन न्यासकृता वर्णग्रहणेऽप्यर्थवद्ग्रहणपरिभाषोक्ता प्रौढिवादेन ॥२॥

लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणं न तु लाक्षणिकस्य ।३।

लक्षणं लाक्षणिकमुपचारात् । प्रतिपदोक्तं विशेषेण प्रतिपादितं प्रतिपदशब्दस्य विशेषार्थत्वात् । अनयोः सम्प्रधारणायां प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणं भवति न तु लाक्षणिकस्य खण्डशो व्युत्पादितस्य । तद्यथा इङो णिचि क्रीङ्जीनाण्णौ (६।१।४८) इत्यात्वे कृते पुकि चाप्रूपे सम्पन्नेऽपि लाक्षणिकत्वात् विभाषाऽऽप इति (६।४।५७) णेरयादेशो न भवति अध्याप्य गत इति । प्रतिपदोक्तस्य तु आप्लृधातोर्भवति प्राप्य प्रापय्येति । तथा विभाषा दिक्समासे इति (१।१।२८) सर्वनामसंज्ञाविधाने दिङ्नामान्यन्तराले (२।२।२६) इति प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणं बहुव्रीहेर्भवति दक्षिणपूर्वस्यै इति । न तु या पूर्वा सोत्तरा यस्योन्मुग्धस्य स पूर्वोत्तरस्तस्मै पूर्वोत्तराय देहीति । ज्ञापकं चास्याः कर्त्तरि भुवः खिष्णुच्खुकञौ (३।२।५७) इति खिष्णुच इकारादित्वम् । तद्धि न रूपसिद्ध्यर्थं भुव उदात्तत्वादिटि कृते आढ्यम्भविष्णुरिति रूपसिद्धेः । किं तर्हि नञः कृत्योकेष्णुच्चा-

र्वादयश्च (६।२।१६०) इति कृदजादित्वात् स्वरविधौ प्रतिपदोक्तग्रहणं यथा स्यात् । तेनानाढ्यम्भविष्णुरित्यत्र नञ उत्तरस्य इष्णुजन्तस्यान्तोदात्तत्वं भवेदिति । इटि कृते तु इष्णुजुत्पत्तावस्य लाक्षणिकत्वात् तस्य ग्रहणं न स्यात्। खिष्णुच इकारादित्वे प्रतिपदोक्तत्वाद्युक्तः स्वरविधिः । अनित्या चेयं यावत्-पुरानिपातयोर्लडिति (३।३।४) निपातयोरिति विशेषणात् ज्ञापिता । यदि हीयं नित्या स्यात् प्रतिपदोक्तत्वादेव यावत्पुराशब्दयोर्ग्रहणं भविष्यति न तु लाक्ष-णिकयोर्वत्वन्ततृतीयान्तयोरिति किं निपातयोरित्यनेन । कृतञ्चैतत्, तेनास्या-नित्यत्वं सिध्यति । फलं च धाग्रहणे घेटोऽपि ग्रहणम् ॥३॥

औपदेशिकप्रायोगिकयोरौपदेशिकस्यैव ग्रहणम् ।४।

उपदेशे भव औपदेशिकः । प्रयोगे भवः प्रायोगिकः । अध्यात्मादित्वाट्ठञ्। तयोर्मध्ये औपदेशिकस्यैव ग्रहणं भवति । तद्यथा तरप्तमपौ घः (१।१।२२) इत्यत्र घसंज्ञा तरपः प्रत्ययस्यैवोपदिष्टस्य भवति न तु नदीतर इत्यत्र तरते-रप्प्रत्यये कृते यः प्रयोगस्तस्य । यदि हि स्यात् घरूपेत्यादिना (६।३।४३) ङ्यो ह्रस्वः स्यात् । ज्ञापकं चात्र श्वीदितो निष्ठायाम् (७।२।१४) इत्यत्र श्विग्रहणमिण्निषेधार्थम् । यदि हि प्रायोगिकस्यापीह शास्त्रे ग्रहणमभविष्यत् तदा सम्प्रसारणे वलवति कृते पूर्वरूपत्वे च कृते शूनः शूनवान् इत्यत्रोगन्तत्वात् श्र्युकः किति (७।२।११) इतीट्प्रतिषेधे लब्धे पृथक् श्विग्रहणं नाकरिष्यत् । अत्र चोदयन्ति । यद्यनेनैव ज्ञापकसिद्धेन परिभाषार्थेन प्रायोगिकस्य ग्रहणं निरस्तं तत् किमर्थं क्वचिन्निषेधार्थम् उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१।३।२) स्यसि-च्सीयुड् (६।४।६२) इत्यादौ चोपदेशग्रहणं क्रियते । तदत्र ज्ञापकादिना प्रति-पत्तिर्गरीयसीति प्रतिपत्तिगौरवदोषपरिहारार्थं तत्र तत्रोपदेशग्रहणं कृतमिति सिद्धान्तः ॥४॥

गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः ।५।

शब्दश्रुतिमात्रेण प्रतीयमानोऽर्थात्मा मुख्यः प्रयत्नोपपादितस्तु गौणः ।

तयोर्मध्ये मुख्य एव कार्ययोगित्वं भवति । तद्यथा आग्नेय इति अग्नेर्ढक् (४।२।३३) इति । अत्राग्निशब्दादग्न्यर्थात् ढक् न पुनरग्निर्माणवक इत्यादा-वुपचरितार्थवृत्तेर्गौणात् इति । न्यायमूला चेयं परिभाषा । तदुक्तं लौकिक एवायं न्यायः । लोके हि गौरनुबध्यतामिति न वाहीके भवति कार्यसम्प्रत्ययः । ज्ञापकम-प्यत्रार्थे द्यावापृथिव्यादिसूत्रे (४।२।३२) भागुरिप्रणीतम् । अग्नीषोमशब्दस्य षत्वार्थं निपातनम् । षत्वं हि अत्राग्नेः स्तुत्स्तोमसोमा इति (८।३।८२) ह्रस्वे-कारान्तान्मुख्यादग्निशब्दात् परस्य सोमशब्दस्योच्यमानमीदग्नेः सोमवरुणयो-

रिति (६।३।२७) ईत्वे कृते एकदेशविकृतद्वारेण स एवायमिति संप्रत्ययेऽपि गौणत्वान्न प्राप्नोति। अतः षत्वार्थमग्नीषोम इति निपातनं गौणस्याग्रहणे ज्ञापकमेवेति। न चाग्नेः स्तुतस्तोमसोमा इति वचनसामर्थ्यात् षत्वमाशङ्कनीयम्। अग्नीषोमाख्यौ कौचिदित्यत्रादेवताद्वन्द्वे षत्ववचनस्य चरितार्थत्वसम्भवादिति। लक्ष्यवशात् क्वचिद् गौणोऽप्यर्थः शास्त्रे स्वीक्रियते। यथा शीतोष्णाभ्यां कारिणि (५।२।७२) इति कन्विधौ शीतकोऽलसः उष्णको दक्ष इति। इह च गोतो णित् (७।१।९०) औतोऽम्शसोरिति (६।१।९३) गोशब्दप्रधानत्वान्निर्देशस्यार्थाश्रययोर्गौणमुख्यत्वयो र्न विचारः। ततो हि गौर्वाहीको गां वाहीकमानयेति वृद्धचात्वे भवतः ॥५॥

बहुव्रीहौ तद्गुणसंविज्ञानमपि ।६।

गुणो विशेषणमुपलक्षणं च चित्रगुत्वादिः। स गुणो यस्यासौ तद्गुणः। बहुव्रीहौ समासे तद्गुणस्य विशेषणसहितस्यार्थस्य संविज्ञानं संप्रत्ययः कार्यः। तद्यथा सर्वादीनि सर्वनामानीत्यत्र (१।१।२७) सर्वशब्दस्यापि सर्वनामसंज्ञा सिध्यति। तसौ मत्वर्थे इति (१।४।१९) उपलक्षणभूते मतुप्यपि भसंज्ञा भवति। सूत्रेऽपिशब्दादतद्गुणसंविज्ञानमपि क्वचिद्बोद्धव्यम्। तदुक्तं भाष्ये (१।१) सिद्धं तु तद्गुणातद्गुणाभ्यां पाणिनेर्यथा लोके इति। लोके हि तद्गुणोऽतद्गुणश्च बहुव्रीहिर्दृश्यते। यथा लम्बकर्णमानय चित्रगुमानयेति। तद्गुणग्रहणे चात्राढ्यसुभगादिसूत्रे (३।२।५६) च्व्यर्थेष्वित्युक्त्वा अच्वाविति प्रतिषेधो ज्ञापकः। यदि ह्यतद्गुण एव बहुव्रीहिः स्यात् तदा च्विरर्थ एषामिति च्वेरुपलक्षणत्वादेव च्व्यन्तस्य न भविष्यति। किमच्वावित्यनेन। कृतं च ततो ज्ञापकमिति ॥६॥

कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसंप्रत्ययः ।७।

पारिभाषिकं कृत्रिमं ततोऽन्यदकृत्रिमम्। तयोर्मध्ये कृत्रिम एव कार्यसंप्रत्ययः कार्यपरिज्ञानं भवति। यथा कर्मणि द्वितीयेति (२।३।२)। पारिभाषिकं कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म (१।४।४९) गृह्यते, न लौकिकं क्रिया कर्म। एको गोत्र इति (४।१।९३) पारिभाषिकं पौत्रप्रभृति अपत्यं गोत्रत्वेन गृह्यते नापत्यमात्रम्। न्यायमूलैव चेयं कृत्रिमाकृत्रिमपरिभाषा। यथा लोके 'नीलं वा वृषमुत्सृजेद्' इति न कृष्णो वृष उत्सृज्यते। किं तर्हि। **"लोहितो यस्तु वर्णेन पुच्छाग्रेण तु पाण्डुरः। श्वेतः खुरविषाणाभ्यां स नीलो वृष उच्यते।"** इति स्मृत्या परिभाषितः। आरभ्यमाणा पुनरियं क्वचिदेवाश्रीयते। यदाह भाष्यकृत् (१।१।२३) **उभयगतिरिह शास्त्रे** क्वचित् कृत्रिमग्रहणं क्वचिदकृत्रिमस्येति। तथाहि कर्मणि

द्वितीयेति (२।३।२) कृत्रिमस्य कर्मणो ग्रहणम् । कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे इति (१।३।१४) तु अकृत्रिमस्य क्रियाकर्मणः । एवं कर्त्तृकरणयोस्तृतीयेति (२।३।१८) कृत्रिमस्य करणस्य ग्रहणम् शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे (३।१।१७) इत्यत्राकृत्रिमस्य । सप्तम्यधिकरणे चेति (२।३।३६) कृत्रिमस्याधिकरणस्य विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचीत्यत्र (२।४।१३) अकृत्रिमस्य । तदिहोभयगतिरिति । इह भाष्यकारवचनस्याचार्यसंमतौ ज्ञापकमाहुः—यदयं संख्याया अतिशदन्तायाः कन्निति (५।१।२२) प्रतिषेधं करोति । न हि कृत्रिमा संख्या शदन्ता सम्भवति। यदयं ष्णान्ता षडिति (१।१।२४) ष्णान्ता इति संख्याया विशेषणं करोति, न हि कृत्रिमा संख्या ष्णान्तास्तीति । अथ किमिदं परस्परविरोधि वाक्यद्वयं प्रमाणमिति । यदि कृत्रिमस्य ग्रहणं कथमुभयगतिः । अथ उभयगतिः, कथं कृत्रिमस्य ग्रहणम् । उच्यते । **मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि, यज्ञार्थे पशवः सृष्टा** इतिवदाचार्यवचनप्रामाण्यादुभयं प्रमाणम् । यदाह मिहिरः **मुनिवचनविरोधे युक्तता केन चिन्त्येति ।** अथवा सामान्यविशेषद्वारेण वचनद्वयमिदं योजनीयमिति । एवमन्यत्रापि विरोधाभाव ऊह्यः ।।७।।

पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् ।८।

प्रागुच्यमाना अपवादा निकटानेवोत्सर्गान् बाधन्ते न व्यवहितान् । **व्यवहितार्थोऽत्रोत्तरशब्दः ।** तद्यथा ह्वावामस्येति (३।२।२) अपवादो निकटमेव आतोऽनुपसर्गे क इति (३।२।३) कं बाधते, न तु व्यवहितं ताच्छीलिकं णिनिम् । स्वर्गह्वायी धान्यमायीति । बाध्यविशेषचिन्तायां त्वेषा प्रवर्त्तते न समुदायमात्रापेक्षायामिति इको झल् (१।२।६) इत्यत्र न्यासकृता उक्तम् । ज्ञापकं चास्याः परिमाणाख्यायां सर्वेभ्य इति (३।३।२०) सर्वग्रहणम् । तद्धि द्वौ कारौ त्रयः कारा इत्यत्रापो बाधनार्थं क्रियते । अन्यथा पुरस्तादपवादन्यायेन निकटस्य एरजित्यस्यैव (३।३।५६) बाधनं स्यादिति । ननु चायमर्थोऽनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा (परिभाषा १७) इत्यनेनैव सिध्यति । सत्यम् । तर्हि प्रपञ्चार्थोऽस्तु ।।८।।

मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन्बाधन्ते नोत्तरान् ।९।

तद्यथा इको यणिति (६।४।८१) मध्येऽपवादः पूर्वमियङ्विधिं बाधते यन्ति ईयतुः ईयुरिति, न परौ वृद्धिगुणौ अयनमायकः । एवं कृञो हेत्वादौ टविधिः (३।२।२०) पूर्वमणं बाधते न परं ताच्छीलिकणिनिं, श्राद्धकारीति । ज्ञापकं चात्र बहुव्रीहेरूधसो ङीष् (४।१।२५) इत्यत्र ङीषः स्वरितत्वासञ्जनं

सूत्रकारेण वृत्तिकारप्रतिपादितम् । तद्धि अनुवृत्तिसामर्थ्यादिन उपधालोपिनोऽन्य-तरस्यामिति (४।१।२८) भविष्यतोऽपि ङीपो बाधनार्थं घटोघ्नीति । अन्यथा ह्ययं ङीष् मध्येऽपादत्वात् पूर्वयोर्डाप्-प्रतिषेधयोरेव बाधकः स्यात् । ङीप् ङीषोश्च स्वरे विशेषः । न्यायमूलत्वञ्चास्या इणो यण् (६।४।८१) इत्यत्रानुन्यास-कृतोक्तम् ॥९॥

सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य ।१०।

आनन्तर्यलक्षणो विधिस्तद्विघातस्य निमित्तं न भवति । **यस्यानन्तर्येण यो विहितस्तदानन्तर्यमसौ न विहन्तीत्यर्थः ।** कृन्मेजन्त (१।१।३९) सूत्रे इयं परि-भाषा भाष्यकारेण पठिता । तद्यथा शतानीति विभक्तिसंनिपातजे नुमि कृते तस्य विभक्तिलुकं प्रत्यनिमित्तत्वात् ष्णान्ता षडिति (१।१।२४) षट्संज्ञा न भवति । यदि हि स्यात् षड्भ्यो लुगिति (७।१।२२) विभक्ते लुंक् स्यात् । एवं कटौ पद्धतौ इत्यत्रात्वे कृते अत इति (४।१।४) टाप् न भवति । इयेष उवोष इति गुणे कृते इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छ (३।१।३६) इत्याम् न । मथितं पण्यमस्य माथितिक इति ठस्य इक्निमित्तत्वेन यस्येति च (६।४।१४८) लोपेन तान्ततायामुपजातायाम् इसुसुक्तान्तात् क (७।३।५१) इति कादेशो न भवति । ज्ञापकं चात्र न तिसृचतसृ इति (६।४।४) नामि दीर्घप्रति-षेधवचनम् । तद्धि सत्यामस्यां परिभाषायां विभक्तिनिमित्तयोस्त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ इति (७।२।९९) ऋकारान्तयो विभक्तिव्यवधानकारिणं ङीपं प्रत्य-निमित्तत्वाद् दीर्घप्राप्तौ प्रतिषेधवचनमुपपद्यते । अपरथा तु ङीपा व्यव-धानान्नामीति (६।४।३) दीर्घाप्राप्ते र्ङीपश्च दीर्घादीर्घाभ्यामविशेषात् तत्प्रति-षेधवचनमनर्थकं स्यात् । अव्यापिका चेयं परिभाषा । यदि हि नित्या स्यात् तदा दाक्षिः प्लाक्षिरित्यत्राकारसंनिपातलक्षणोऽत इञ् (४।१।९५) इत्ययं लोपस्य निमित्तं न स्यात् । क्षापयतीत्यत्र आत्वं पुको निमित्तं न भवेत् । अदीदपदिति पुकि च ह्रस्वो न स्यात् । या सा इति विभक्तिनिमित्तस्तदाद्यकारः टाब्विधेर्निमित्तं न स्यात् । पपिवान् तस्थिवानितीड्विधिराकारलोपस्य निमित्तं न स्यात् । तेन हे नदि हे कुमारि इति नदीह्रस्वत्वं सम्बुद्धिलोपस्य निमित्तं न स्यात् । तच्चानित्यत्वमस्याः कष्टाय क्रमणे इति (३।१।१४) निर्देशेऽकारान्त-त्वनिमित्ते ङेर्य इति (७।१।१३) यकारे यञि सुपि चेति अकारस्य दीर्घकरणे-नाचार्येण ज्ञापितमिति ॥१०॥

नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम् ।११।

अनुबन्धकृतमनेकाल्त्वं नाश्रीयते । तेन द्यौर्द्युभ्यामिति दिवि दिव औदुतौ

सर्वादेशौ न भवत इति । ज्ञापकं चात्रानेकाल्शित् सर्वस्येति (१।१।५५) शित्करणम् । यदि ह्यनुबन्धकृतमनेकाल्त्वं स्यात् व्यतिबभूवे इत्यादौ एशादेः शित्वेऽप्यनेकाल्त्वात् सर्वादेशत्वसिद्धेः शित्करणं पृथक् न कुर्यात् । एवं च सति ङीणलोः सर्वादेशत्वं समाधेयम् ।।११।।

नानुबन्धकृतमसारूप्यम् ।१२।

अनुबन्धेन कृतमसरूपत्वं नास्ति । तेन गोद इति कविषये वासरूपविधिना (३।१।९४) कर्मण्यण् न भवति । ज्ञापकं चात्र विभाषा कृवृषोरिति (३।१।१२०) ण्यतो विषये विकल्पेन क्यब्विधानम् । यदि हि अनुबन्धकृतमसारूप्यं स्यात् तदा वासरूपविधिनैव कृत्यं कार्यं वृष्यं वर्ष्यम् इति क्यप्ण्यतौ सिध्यतः ।।१२।।

नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम् ।१३।

अनुबन्धकृतमनेजन्तत्वं नाश्रीयते । तेन दाप इव दैपोऽप्यदाबिति (१।१।२०) घुसंज्ञाप्रतिषेधे अवदातं मुखमिति भवति । ज्ञापकं चात्र उदीचां माङो व्यतिहार इति (३।४।१९) व्यतिहारवृत्ते र्माङः कृतात्वस्य निर्देशः । अनेजन्तत्वे हि सति स न स्यात् ।।१३।।

एकदेशविकृतमनन्यवत् ।१४।

नटभटघटादीनामादिवर्णानामन्यथात्वेन भेददर्शनात् अतिदेशोऽयम् । एकदेशेनावयवेन विकृतेन विकृतमनन्यवद् भवति तद्वद् भवति । तेन प्रहिणोति प्रमीणीत इति हिनुमीनेति (८।४।१५) णत्वं सिध्यति । अतिजरसैरिति जरसादेशः सिध्यति । तथा कारिषीयास्तामिति अवकाशे सति कारिषीष्टेत्यत्र सीशब्दस्य सिच्सीयुड्ग्रहणेन ग्रहणं सिध्यति । प्रक्रियादशायां प्राग्दीव्यतोऽण् (४।१।८३) इत्यत्र दीव्यत इत्यस्य सिद्धये भाष्यकारेण इयं पठिता। नित्यशब्दाभ्युपगमे तु एकदेशविकारो नास्त्येव अखण्डत्वात् पदानाम्। ज्ञापकं चास्या आढ्यादिसूत्रे (३।२।५६) अच्वाविति प्रतिषेधवचनम् । तद्धि आढ्यीभविते त्यत्र मा भूदित्येवमर्थम् । यदि हीयं न स्यात् तदा च्विप्रत्ययेन एकदेशविकारेण न भविष्यति किमच्वावित्यनेन । तथा तस्मै तस्मात् तस्मिन् इत्याचार्यनिर्देशेषु त्यदाद्यत्वेनैकदेशविकृतेन स्मैस्मादादीनां सर्वनामकार्यकरणमिति । ।।१४।।

सांप्रतिकाभावे भूतपूर्वगतिः ।१५।

वर्तमानस्याभावे भूतपूर्वस्याश्रयणं भवति । यथा वृक्षैरित्यत्र बहुवचने झल्येदिति (७।३।१०३) एत्वेपि कृते अतो भिस ऐस् (७।१।९) इत्युच्यते ।

यदुक्तम् एत्वे कृते भौतपूर्व्यादिस्तु नित्यस्तथा सतीति। तथा पञ्चभिस्त्रपुभिः क्रीतेन पञ्चत्रपुणा इत्यादौ इगन्तकालकपालभगालशरावेषु द्विगाविति (६।२।२९) इगन्ते उत्तरपदे पूर्वपदप्रकृतिस्वरो नुमि कृतेऽनिगन्तत्वेपि पूर्वगत्या भवति। **स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत् (परिभाषा ३२) इत्यनया तु नात्र व्यवस्था। यत इयं हल्स्वरप्राप्ताविति भाष्ये विशेषिता।** साम्प्रतिकाभावग्रहणात् हे गौरित्यत्र भूतपूर्वङन्तादेङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेरिति (६।१।६९) सम्बुद्धिलोपो न भवति। हे वटो इत्यादौ साम्प्रतिकस्य विद्यमानत्वात्। ज्ञापकं चात्र भूतपूर्वगत्याश्रयणे अचो यद् (३।१।९७) इत्यज्ग्रहणम्। तद्धि हलन्तात् ण्यतं वक्ष्यतीति पारिशेष्यादजन्तादेव यति लब्धे दित्स्यं धित्स्यं इत्यत्रार्द्धधातुक इति (६।४।४६) विषयसप्तम्यामतो लोपे कृतेऽजन्तभूतपूर्वस्यापि यथा स्यादित्येवमर्थं क्रियते। एतदर्थता च कथं स्याद्यदि भूतपूर्वगतिरिह न स्यादिति ॥१५॥

वत्स्यत्प्रवृत्त्येह कार्याणि क्रियन्ते ।१६।

साम्प्रतिकाभाव इत्येव। **इह शास्त्रे साम्प्रतिकाभावे भविष्यन्तीं प्रवृत्तिमाश्रित्य कार्याणि क्रियन्ते। यथा निन्यतुर्निन्युरिति वत्स्यतीमनेकाच्तां समाश्रित्य प्रागेव द्विर्वचनादेरनेकाच इति (६।४।८२) यणादेशः सिध्यति।** अपरथा हीयङ् स्यात् यणादेशस्यानुपजातनिमित्तत्वात्। एवं शदेः शित इति (१।३।६०) भाविनीं शिदन्ततामाश्रित्य शीयत इत्यात्मनेपदम्। तथा अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्यामिति (४।१।२८) ङीपि कृते भाव्युपधालोपित्वं ङीपो निमित्तत्वेनाश्रीयते सुसाम्नीति। ज्ञापकं चात्र वस्वेकाजाद्घसामिति (७।२।६७) एकाज्ग्रहणम्। तद्धि लिटि द्विर्वचनस्यावश्यम्भावार्थः कश्चिदेकाजस्तीति भविष्यदेत्वाभ्यासलोपप्रवृत्त्युत्तरकालभावी य एकाच् तदर्थं कृतम्। तदर्थता च तदा स्याद्यदि वत्स्यत्प्रवृत्त्या शास्त्रे कार्याणि स्युः। सांप्रतिकाभावात् सूत्रसङ्गत्यन्यथानुपपत्त्याख्यानमेव चैतत् प्रमाणं ज्ञापकमुखेनैवोपवर्ण्यते ॥१६॥

अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा ।१७।

विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा अनन्तरस्यैव भवति। यथा सुपि स्थ इति (३।२।४) विधिरनन्तरस्य कस्यैव न व्यवहितस्याणः। सुडनपुंसकस्येति (१।१।४३) च नपुंसकप्रतिषेधोऽनन्तराया एव सुडिति प्राप्तेः, न शि सर्वनामस्थानम् (१।१।४२) इत्यस्याः। तेन कुण्डानीति क्लीवेपि सर्वनामस्थाने दीर्घः सिध्यति। तथा नेटीति (७।२।४) वृद्धिप्रतिषेधोप्यनन्तराया एव हलन्तलक्षणाया वृद्धेर्न व्यवहितायाः सिचि वृद्धेः, अलावीदिति। अयं चार्थः प्रत्यासत्तिन्यायसिद्ध एव

अनुवृत्तेः स्वरितत्वनिमित्तत्वमनपेक्ष्य परिभाषितः। स्वरितत्वबलेन हि व्यवहितस्यापि विधिनिषेधौ भवतः। तद्यथा करणे यज इति (३।२।८५) खशा व्यवहितस्य णिनेर्विधिः। तथा न षट् स्वस्रादिभ्य इति (४।१।१०) च व्यवहितस्यापि ङीपो निषेधः। तत्रानन्तरस्यैव विधिरत्रार्थे अपवर्गे तृतीया (२।३।६) इति तृतीयापदं ज्ञापकम्। तद्धि अनन्तरसूत्रयो र्द्वितीयाविधानेनान्तरिता तृतीयेतिपुनः क्रियते। प्रतिषेधो प्यनन्तरस्यैव इत्यस्यापि न क्तिचि दीर्घश्चेति (६।४।३९) दीर्घग्रहणम्। तद्धि अनया परिभाषया यन्तिः तन्तिः इत्यत्रानुदात्तोपदेशवनतितनोतीत्यादीनाम् (६।४।३७) इत्यनुनासिकस्यैव निषेधः स्यात् न व्यवहितस्यानुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति (६।४।१५) इत्यस्य दीर्घस्येत्येवमर्थं क्रियते ॥१७॥

आगमा यद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते ॥१८॥

तत्र टित्कितोरागमयोराद्यन्तावयवत्वमतिदिष्टम्। मितोपि मिदचोऽन्त्यात् पर (१।१।४७) इत्यत्रान्तग्रहणानुवृत्त्या अन्तावयवत्वम्। तत्र कुण्डेत्यत्र नुमो धातुग्रहणेन ग्रहणात् गुरोश्च हल इति (३।३।१०३) अकारप्रत्ययो भवति। सर्वेषामित्यत्र च सुटः सुब्ग्रहणेन ग्रहणात् झलादौ सुपीति (७।३।१०२-३) एत्वं सिध्यति। **अवयवस्यावयविग्रहणेन ग्रहणमिति** यद्यपि न्यायसिद्ध एवायमर्थस्तथाप्यत्र न क्त्वा सेडिति (१।२।१८) कित्त्वप्रतिषेधं ज्ञापकमाहुः। यदि हीट् क्त्वाग्रहणेन न गृह्यते तदा इटा व्यवधानादेव क्ङिति चेति (१।१।५) गुणप्रतिषेधो नास्तीति किं प्रतिषेधेन। अपरे तु क्ङितीति निमित्तसप्तमीत्वात् ज्ञापकमिदं दुर्बलं मन्यमाना न्यायसिद्धत्वमेवास्याश्रयन्ति। **तद्भक्तस्तद्ग्रहणेन गृह्यते** इति त्वस्यैवार्थः पठ्यते न तु परिभाषान्तरम् ॥१८॥

तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते ।१९।

यो यस्य मध्यपाती स तद्ग्रहणेन गृह्यते। तद्यथा भिनत्तीत्यत्र श्नमो धातुग्रहणेन ग्रहणात् धातुरन्तोदात्तो भवतीति नहि मध्योदात्तता सिध्यति। अभिनदित्यत्र सश्नम्कस्याङ्गसंज्ञायामडागमः स्यात्। सर्वके विश्वके इत्यत्र साकच्कस्यापि सर्वनामत्वाज्जसः शीभावः। तन्मध्यपतितस्य तद्व्यपदेशोऽयं छत्रिणो यान्तीति लौकिकव्यवहारसिद्ध एव। ज्ञापकमप्यत्र नेदमदसोरकोरिति (७।१।११) अकोरिति पदं येन विधिसूत्रे (१।१।७२) भाष्ये उक्तम्। इदमदसोः कार्यमुच्यमानं कः प्रसङ्गो यच्छब्दान्तरयोरिमकामुकयोः स्यादिति किमकरो-

रित्यनेन प्रतिषेधेन । तद् ज्ञापयति अस्तीयं परिभाषेति । ननु यद्यकोरित्यस्य ज्ञापकतोक्ता भाष्यकारेण तत् कथं नेदमदसोरकोरित्यत्र इदमदसोः कादेवेति नियमेन सिद्धिं व्याख्याय निषेधद्वयं प्रत्याख्यातवान् । सत्यम् । एवं तु मन्यते स भवान् मा भूदिदमकोरिति ज्ञापकम्, एतत्तदोरित्यत्र (६।१।१३२) त्वकोरिति पदं ज्ञापकं भविष्यतीति ॥१६॥

अभ्यासविकारेष्वपवादा नोत्सर्गान् विधीन् बाधन्ते ।२०।

अभ्यासाश्रयेषु कार्येषु बाधका बाध्यान् विधीन् न बाधन्ते । उत्सर्गापवाद-शब्दयोरिह बाध्यबाधकोपलक्षणतयान्तरङ्गत्वात् परत्वादपवादत्वाद्वा यद्बाधकं प्राप्नोति सर्वं तदभ्यासविकारे न बाधकमिति मन्तव्यम् । तेन डोढौक्यत इत्यत्राचकाङ्क्षदित्यादौ सावकाशमभ्यासह्रस्वत्वं परत्वात् दीर्घोऽकित (७।४।८३) इत्यनेन न बाध्यते । दीर्घो ह्यत्रौकारस्य ह्रस्वबाधनार्थमौकार एव स्यात् । एवमचीकृतदित्यादौ अचिक्वणदित्यत्र सावकाशं सन्वदित्वं दीर्घो लघोरित्यनेन (७।४।९४) न बाध्यते । तथा मीमांसत इति मान्बधदानिति (३।१।६) दीर्घेण सन्यत (७।४।७९) इत्वं न बाध्यते । ज्ञापकं चात्र दीर्घोऽकित इति (७।४।८३) अकिद्ग्रहणम् । तद्धि जङ्गम्यते इत्यादौ दीर्घो मा भूदित्येवमर्थम् । यदि चा-भ्यासविकारेष्वपवादो बाधकः स्यात् तदा नुकि कृते अनजन्तत्वादेव दीर्घो न भविष्यति किमकिद्ग्रहणेन । तत् कृतमस्यार्थस्य ज्ञापकमिति ।

असति सम्भवे बाधनं भवति ।२१।

अस्ति च सम्भवो यदुभयं स्यात् ।२२।

शास्त्रे कार्ययोर्विरोधादसति समावेशसंभवे बलवतैव केनाप्यपरस्य बाधनं भवति । यदि त्वस्ति संभवस्तदोभयं स्यात् । **यच्छब्दोऽत्र यद्यर्थे वर्त्तते । चका-रोऽत्र भिन्नक्रमस्तुशब्दस्यार्थे । तदाशब्दश्चाध्याहार्य इति** । तद्यथा तथाजातीय इत्यत्र प्रकारमात्रे थालन्तात् प्रकारवचने जातीयरपि भवति विरोधाभावात् । प्रकारमात्रे थाल् (५।३।२३) प्रकारवति तु जातीयर् । तथा सामेत्यत्र नलोपार्थं प्रत्ययादर्शनस्य लोपसंज्ञापि भवति विरोधाभावात् । यत्र त्वस्ति विरोधस्तत्रै-कमेव भवति। यथा वृक्षैरित्यत्र । अत्र ह्यत्वेनाप्यदन्तता विहन्यते दीर्घत्वेना-पीति विरोधः । इह चाविरोधेऽप्यजादेर्द्वितीयस्येति (६।१।२) एकाचो द्विर्वचनेन प्रथमैकाचो द्विर्वचनं बाध्यते । तद्धि बाधनमनभ्यासस्येति (६।१।८) वचनादेकस्य द्विर्वचने कृते द्वितीयस्याप्राप्तेरिति ।

ज्ञापकं चात्र नित्यं कौटिल्ये गताविति (३।१।२३) नित्यग्रहणम् । तद्धि गत्यर्थेभ्यः कौटिल्ययङा कौटिल्यक्रियासमभिहारयोर्विरोधाभावात् सति सम्भवे प्रसक्तस्य समभिहारयङो बाधनार्थं क्रियते । तदेवमर्थं क्रियमाणम् अन्यत्र यथा-स्वमुभयं प्रमाणं ज्ञापयति ।।२२।।

सत्यपि सम्भवे बाधनं भवति ।२३।

क्वचिदिति शेषः । तद्यथा वर्तमानक्तेन भूतक्तस्य शैषिकढका अपत्यढकः स्मे लटा (३।२।११८) वर्तमानलटः सामान्यविशेषभावमात्रेण बाधनं भवति । लौकिकश्चायं न्यायः । यथा ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्यायेति सामान्योक्तस्य विशेषेण बाधनं नाम । ज्ञापकं चात्र विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तादिति (५।३।६८) विभाषाग्रहणम् । तद्धि कल्पबादीनां बहुचा समावेशार्थम् । यदि च कल्पब्बहुचोर्भिन्नदेशत्वादविरोधान्नास्ति बाध्यबाधकभावः तर्हि किमुभयोः समावेशार्थेन विभाषाग्रहणेन । तत् कृतं ज्ञापयति अविरोधेऽपि कार्ययोः सामान्य-विशेषभावमात्रेण बाधनं भवति ।।२३।।

एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः ।२४।

एकवाक्यनिर्दिष्टानां पदानां प्रवृत्ति र्वा निवृत्तिर्वा एकदैव स्यात् न त्वेकस्य प्रवृत्तिरन्यस्य निवृत्तिरिति । तद्यथा अतो ल्रान्तस्येति (७।२।२) अत्र सिचि वृद्धिः परस्मैपदेष्विति (७।२।१) सर्वमेवानुवर्तते । भाव (३।३।१८) इत्यत्र सृ स्थिर इति (३।३।१७) सर्वमेवानुवर्तते । ज्ञापकं चात्र हनः सिजिति (१।२।१४) कित्त्वविधौ सिज्ग्रहणम् । यदि त्वेकसूत्रनिर्दिष्टयोरपि एकोऽनुवर्तते नापर इति स्यात् तदा लिङ्सिचावात्मनेपदेषु (१।२।११) इत्यतो लिङ्ग्रहणं नानुवर्त्ति-ष्यते सिजेवानुवर्त्तिष्यते इति सिज्ग्रहणमनर्थकं स्यात् । अनित्या चेयं परिभाषा। तेन र ऋतो हलादेरित्यत्र (६।४।१६१) तुरिष्ठेमेयस्सु (६।४।१५४) इत्यतः इष्ठेमेयस्सु इत्येवानुवर्त्तते न तु तुरिति ।

क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्त्तते ।२५।

पूर्वोक्तस्यायमपवादः । क्वचिल्लक्ष्यस्थित्या सूत्रैकदेशः पदैकदेशो वाप्यनु-वर्तते । तद्यथा ब्रुवः पञ्चानामित्यत्र (३।४।८४) विदो लटो वेत्यतो (३।४।८३) लट् एवानुवर्त्तते नापरं विद इति । अजाद्यतष्टाप् (४।१।४) इत्यत्रापि ङ्याप् प्रातिपदिकाद् (४।१।१) इत्यतः प्रातिपदिकादित्यनुवर्तते न ङ्यापौ ।

दामहायनान्ताच्च (४।१।२७) इत्यत्र संख्याव्ययादेः (४।१।२६) इत्यतः संख्या-ग्रहणमनुवर्तते नाव्ययादि । झोऽन्त (७।१।३) इत्यत्रापि फढखछघां प्रत्ययादी-नाम् (७।१।२) इत्यत आदिग्रहणनिवृत्तावपि प्रत्ययग्रहणम् । येषां च विरोध (२।४।६) इत्यत्र क्षुद्रजन्तव (२।४।८) इत्यतो जन्तुग्रहणमनुवर्तते इति । ज्ञापकं चात्र तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्येति (१।१।६६) इतौ प्रकृते पुनरितिकरणं तस्मादित्युत्तरस्येति (१।१।६७)। यदि हि सहैव पदानामनुवृत्तिर्भवति तदा निर्दिष्टग्रहणवदितिकरणमपि पूर्वसूत्रादेवानुवर्त्तिष्यते इति किमितिकरणेन । तत् कुर्वन्नाचार्यो ज्ञापयति क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तत एव । तेन निर्दिष्टग्रहणमेव केवल-मनुवर्त्तते नेतिकरणमिति ॥२५॥

प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् ।२६।

स्वरूपेण वा संज्ञया वा यत्र प्रातिपदिकमुपादीयते तत्र तस्य लिङ्गविशिष्ट-स्य लिङ्गाधिकस्यापि ग्रहणं भवति । लिङ्गग्रहणेनात्र लिङ्गाभिव्यक्तिहेत-वष्टावादयो द्रष्टव्या अभिधानेऽभिधेयोपचारात् । तद्यथा सर्वनाम्नस्तृतीया चेति (२।३।२७) यथेह भवति भवता हेतुना तथेहापि भवति भवत्या हेतुनेति । कुसूलकूपकुम्भशालं बिले इति (६।२।१०२) पूर्वपदान्तोदात्तस्वरो यथेह भवति कुसूलबिलं तथेहापि कुसूलीबिलमिति । पूर्वसदृशेति (२।१।३१) तत्पुरुषसमासो यथेह भवति दाससदृशः, तथेहापि दाससदृशी इति। तृजन्तेन समासनिषेधो यथेह अपां स्रष्टा, तथेहापि अपां स्रष्ट्रीति । अचित्तहस्तिधेनोष्ठगिति (४।२।४७) यथेह भवति हस्तिनां समूहो हास्तिकं तथेहापि हस्तिनीनां समूहो हास्तिक-मिति । नेन्सिद्धबध्नातिषु चेति (६।३।१९) सप्तम्या अलुक्निषेधो यथेह भवति स्थण्डिलशायीति तथेहापि स्थण्डिलशायिनीति । शयवासवासिष्वकाला-दिति (६।३।१८) अलुक् यथेह भवति ग्रामेवासी तथेहापि ग्रामेवासिनीति । प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्चेति (गणसूत्रं चुरादौ) णिच् यथेह भवति कुमारमाचष्टे कुमारयति, तथेहापि कुमारीमाचष्टे कुमारयति । ईयसश्चेति (५।४।१५६) समासान्तनिषेधो यथेह भवति बहुश्रेयान् तथेहापि बहुश्रेयसीति । इयं च परिभाषा कात्यायनेन **प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणमिति सर्वनामस्वरसमास - (समास)-निषेध-तद्धितालुगर्थसमासान्तनिषेधार्थमित्यपूर्व-वचनरूपेण पठितेत्येतावतैव** प्रमाणम् । भाष्यकारेण तु सौकर्यात् युवा खलती-त्यत्र (२।१।६७) युवशब्दस्य स्वरूपस्य जरतीशब्देन सामानाधिकरण्यान्यथा-नुपपत्त्या ज्ञापिता । नैतस्याश्च स्वरूपविधिविषयतां केचिन्मन्यन्ते । तैश्च कुमार-

माचष्टे कुमारयतीत्यादिसिद्धये यत्नान्तरमास्थेयम् । अनित्यत्वं चास्याः परिभाषाया महतीप्रिय इत्यादौ आन्महत इति (६।३।४६) आत्वाभावो भाष्ये दर्शितः । दैतेय इति च दितीति शब्दस्य कृदिकारादक्तिनः (४।१।४५, वा) इत्यादिना ङीषन्तस्य दितिग्रहणेन ग्रहणाभावे दित्यदिति (४।१।८५) इत्यादिना ण्यप्रत्ययाभावे स्त्रीभ्यो ढगिति (४।१।१२०) ढक् सिध्यति । तच्चानित्यत्वं ग्रहेरज्विधौ (३।२।९, वा) घटघटीग्रहणाभ्यां ज्ञापितम् । एवं च द्विषतीतापः इति द्विषत्परयोस्तापेः (३।२।३९) इति न खच् । मद्रराज्ञीति राजाहःसखीभ्यष्टजिति (५।४।९१) टच् प्रत्ययो न भवति ।।२६।।

विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणम् ।२७।

यदेतदनन्तरमुक्तं लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं भवतीति, तद्विभक्त्याश्रयेषु कार्येषु न प्रवर्त्तते । तेन शुना शुन इत्यत्र न गोश्वन् (६।१।१८२) इत्यादिना श्वन् शब्दात् तृतीयाविभक्तेरुदात्तप्रतिषेध उच्यमानो गौरादिङीषि शुन्या शुन्यै इत्यत्र न भवति । उदात्तयणो हल्पूर्वादिति (६।१।१७४) विभक्तेरुदात्ततैव भवति । एवं यूना यून इत्यत्र श्वयुवमघोनामतद्धिते इति (६।४।१३३) च सम्प्रसारणमुक्तं युवतीः पश्य युवत्येत्यादौ न भवति । गोमानिति उगिदचां नुम् (७।१।७०) गोमतीत्यत्र न भवति । सुपन्था इत्यत्र पथिमथोरात्वं (७।१।८५) ङीपि भस्य टेर्लोपे सुपथीत्यत्र न भवति । सुपुमानित्यादौ पुंसोऽसुङ् (७।१।८९) इति असुङ् उगित्त्वात् ङीपि सुपुंसीत्यत्र न भवति । सखा सखायाविति सख्युरसंबुद्धावनङ् साविति (७।१।९२-३) णित्वानङौ सखी सख्यौ इत्यत्र न भवतः । हे भोः हे भगोरिति विभाषा भवद्भगवदघवतामोच्चावस्येति (८।३।१ वा०) ओकारो हे भवति हे भगवति इत्यत्र न भवति । इयं च परिभाषा युवोरनाकौ (७।१।१) इत्यत्र भाष्ये पठिता । मतुवसोर् (८।३।१) इत्यत्र च न्यासकारेणाभ्युपगतेत्येतावतैव प्रमाणम् इति ।।२७।।

ताच्छीलिकेषु वासरूपविधिर्नास्ति ।२८।

ताच्छीलिकाधिकारभवेषु प्रत्ययविधिषु भिन्नार्थाः भिन्नजातीयाः समानार्थाः समानजातीया वा प्रत्यया वासरूपविधिना न भवन्ति । तद्यथा अलंकृञिति (३।२।१३६) इष्णुचि अलङ्करिष्णुरित्येव भवति वासरूपविधिना न ण्वुल् अलंकारक इति । स्थेशभासेति (३।२।१५) वरज्विधौ च भास्वर इत्येव भवति न वासरूपेणानुदात्तलक्षणेन युचि (३।२।१४९) भासनम् इति भवति । ज्ञापकं

चात्र तृज्बाधनार्थं निन्दहिंसेति (३।२।१४६) वुञ्विधानम्। यदि वासरूपेण भिन्नजातीयास्तृजादयस्ताच्छीलिकेषु भवेयुः तृण्ण्वुल्भ्यां निन्दिता निन्दक इति रूपद्वयेनावश्यं भाव्यमिति किं वुञ्विधानेन। तदेतद् ज्ञापयति ताच्छीलिकेषु भिन्नजातीयाः प्रत्ययास्तृजादयो वासरूपेण न भवन्तीति। तथा लषपतपदेति (३।२।१५४) उकञ्समावेशार्थं जुचङ्क्रम्येति (३।२।१५०) पदेर्धातोर्युज्विधानं ज्ञापकम्। यदि ताच्छीलिकेषु समानजातीयः प्रत्ययो बाधको वासरूपेण स्यात् लषपतपदेति उकञ्विषयेऽपि पद्यतेर्वासरूपेणानुदात्तेल्लक्षणो युजपि सिद्ध इति किं पुनर्जुचङ्क्रम्येति युज्विधानेन। तत् ज्ञापयति ताच्छीलिकेषु समानजातीयेषु वासरूपविधिर्नास्तीति। अनित्या चेयं परिभाषा। तच्चानित्यत्वमस्याः सूददीपदीक्षश्चेति (३।२।१५३) दीपो युच्प्रतिषेधेन ज्ञापितम्। यदि ताच्छीलिके वासरूपविधिर्नास्तीति तदा नमिकम्पीति (३।२।१६७) दीपो रप्रत्ययेनैव विशेषविहितेन युच् बाधित इति किं तन्निषेधेन। तत् कुर्वाणो ज्ञापयति क्वचिदस्ति समावेश इति। तेन कम्रा कमना युवतिरिति रयुचोः समावेशः सिध्यति। गन्ता गामुक इति तृन्नुकञोः विकत्थी विकत्थन इति युच्घिनुणोः समावेशः सिद्ध इति ॥२८॥

प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः ।२९।

इह शास्त्रे वाक्यानि विशेष्यविशेषणानि (प्रत्येकं) परिसमाप्यन्ते। यथा वृद्धिसंज्ञा प्रत्येकमादैचां गुणसंज्ञा च प्रत्येकमदेङाम्। नलोपः सुप्स्वरेति (८।२।२) अत्र विधिशब्दः प्रत्येकं सुबादिभिः संबध्यते। लौकिक एवायं न्यायो भाष्ये प्रदर्शितः। यदुक्तं (१।१।१) देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रा भोज्यन्तामित्युक्ते न पुनरुच्यते प्रत्येकमिति, अथ च प्रत्येकं भोज्यन्त इति। ज्ञापकं चात्र णलुत्तमो वेति (७।१।९१) उत्तमपदं णल्विशेषणम्। यदि हि प्रत्येकं सम्बन्धो न स्यात् उत्तमसंज्ञायास्त्रयाणां समुदायेन सम्बन्धेन णलिति विशेषणं न स्यादिति ॥२९॥

क्वचित् समुदायेन वाक्यपरिसमाप्तिः ।३०।

तद्यथा हलोऽनन्तराः संयोग इति (१।१।७) समुदायस्य संज्ञासम्बन्धः। एषोऽपि लौकिक एव न्याय इति भाष्ये प्रदर्शितः। तथाहि गर्गाः शतं दण्ड्यन्ताम्, अर्थिनो राजानो हिरण्येन भवन्ति। न च ते प्रत्येकं दण्डयन्त इति। ज्ञापकं चात्र प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।१०२) इत्यत्र प्रथमाद्वितीययोर्वचन-

षट्करूपयोरित्यस्मिन्नर्थे प्रयुक्तं प्रथमयोरिति पदम् । प्रथमाशब्दो हि यदि सुपां त्रिकस्य सु औ जसित्यस्य समुदायस्य संज्ञा स्यात् सामीप्याच्चामौट् शसिति त्रिके प्रवर्त्तते तदा प्रथमयोरिति निर्देशः साधीयान् स्यात् । यदि तु प्रत्येकं प्रथमाशब्दः स्यात्तदा सोरित्येकस्य प्रथमाशब्देन ग्रहणं सामीप्याच्चाम इति लाघवार्थं स्वमोरित्येव निर्द्देशं कुर्य्यात् । तस्मात् प्रथमयोरिति निर्द्देशेन समुदायेन वाक्यपरिसमाप्ति बोधयति । यथेष्टं च पक्षयोरनयोराश्रयणम् । **यत्पुनरुच्यते उभयथा वाक्यपरिसमाप्तिरिति स चानयोरेवार्थः पठ्यते न परिभाषान्तरम् ।** लोकसिद्धश्चायमर्थः पठ्यते । यथा गर्गैः सह न भोक्तव्यम् इति न प्रत्येकं सह भुज्यते समुदितैश्च इति । केचित्तूभयथा वाक्यपरिसमाप्तिरित्यपि परिभाषान्तरमित्याहुः । तेन स्वादिविधिवाक्यस्य बहुषु बहुवचनम् (१।४।२१) इत्यादिना कर्मणि द्वितीया (२।३।२) इत्यादिना च शास्त्रेणैकवाक्यताऽनेकवाक्यतापक्षौ तत्र तत्राभिधीयमानौ उपपन्नौ भवत इति ।।३०।।

भाव्यमानोऽण् सवर्णान्न गृह्णाति ।३१।

विधीयमानोऽण् सवर्णान्न गृह्णाति । अणुदित्सवर्णस्येति (१।१।६९) सवर्णग्रहणं प्राप्नोति । तेन इहेत्यत्र इदम इशिति (५।३।३) स्थानिन आन्तर्यात् द्विमात्रो न भवति सवर्ण इति । भुवो वुक् (६।४।८८) सानुनासिको न भवति । अम् संबुद्धौ हे अनड्वन् इति दीर्घो न भवति । ज्ञापकं चात्र ई हल्यघोरिति (६।४।११३) दीर्घेकारविधानम् । यदि हि विधीयमानोऽण् सवर्णानां ग्राहकः स्यात् तदा श्नाभ्यस्तयोरातः (६।४।११२) इत्यनुवृत्तेराकारस्य स्थाने ह्रस्वेकारमेव विदध्यात् इ हल्यघोरिति । आन्तरतम्यात्त्वयं दीर्घो भविष्यति इति दीर्घत्वविधानमस्यार्थस्य ज्ञापकमेवेति । केचित् पुनरिमां ज्ञापकसिद्धां पृथक् परिभाषां नेच्छन्ति । यतोऽणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय (१।१।६९) इत्यस्याप्रत्ययशब्दस्यैवायमर्थः परिभाषारूपेण पठ्यते । तथा हि **प्रतीयते भाव्यते विधीयत इति प्रत्ययो न प्रत्ययोऽप्रत्यय अभाव्यमान इत्यर्थः** । अप्रत्ययोऽण् सवर्णान् गृह्णातीति व्यवस्थिते सूत्रार्थे भाव्यमानोऽण् सवर्णान्न गृह्णाति इति व्यक्तमेवावतिष्ठते । क्वचित् पुनर्भाव्यमानोऽण् सवर्णान् गृह्णाति । तेन अदसोऽसेर्दादु दो म इति (८।२।८०) उकारो विधीयमानोऽपि अमूभ्याम् इत्यादौ स्थानिन आन्तर्यात् दीर्घो भविष्यति । ज्ञापकं चात्रार्थे दिव उदिति (६।१।१३१) तपरकरणम् । यदि हि भाव्यमानः सर्वथैव सवर्णान्न गृह्णाति द्युभ्यामित्यादौ सिद्धा दीर्घनिवृत्तिः । किं तपरकरणेन । तत् कृतं क्वचिद् भाव्य-

मानोऽपि अण् सवर्णान् गृह्णातीति ज्ञापयति । शास इदङ्हलोरिति (६।४। ३४) वा तपरकरणमस्यार्थस्य ज्ञापकं भविष्यति ॥३१॥

स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत् ।३२।

उदात्तादिस्वरविधाने व्यञ्जनमविद्यमानवत् स्यात् । तेन तव्यप्रत्ययादेस्तकारस्याविद्यमानत्वात् प्रत्ययादेरकारस्योदात्तत्वं भवति । राजदृषत् इत्यत्र हलन्तेऽपि समासस्य (६।१।२२३) इत्यन्तोदात्तत्वं भवति । ज्ञापकं चात्र अनुदात्तादेरञ् बाधनार्थं बिल्वादिभ्योऽणिति (४।३।१३६) वचनम् । यदि हि व्यञ्जनमविद्यमानवन्न स्यात्तदा न बिल्वादयोऽनुदात्तादय इति तद् व्यर्थं स्यात्, अनुदात्तादेरञ्धर्मत्वात् बिल्वादीनां तु हलादित्वादिति । कृतं तु ज्ञापकमुक्तार्थस्य । इह यदि स्वरविषये व्यञ्जनमविद्यमानवत् एवं सति उदश्वित्वानिति ह्रस्वनुड्भ्यां मतुबिति (६।१।१७६) मतुबुदात्तः स्यादिति चोदयित्वा समासस्य (६।१।२२३) इत्यत्र भाष्येऽस्तु तर्हि **हल्स्वरप्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्** इत्युक्तम् । कथं हि हलो नाम स्वरप्राप्तिरिति चेत् । अत्राप्युक्तम् उच्चैरुदात्त इत्यादौ षष्ठीनिर्दिष्टमज्ग्रहणं निवृत्तमिति । चोद्यान्तराणि च तत्रैव परिहृतानीति ॥३२॥

णौ कृतं स्थानिवद्भवति ।३३।

णौ परतो वृद्ध्यादिकं कार्यं स्थानिवत् स्यात् । तेन जुहावयिषतीत्यादौ अभ्यासस्योवर्णान्तित्वं सिध्यति । ज्ञापकं चात्र ओः पुयण् ज्यपर इति (७।४। ८०) अभ्यासस्य विशेषणम् ओरिति पदम् । तेन हि पवर्गे यणि जकारे चावर्णपरे अभ्यासोकारस्य इत्वं विधीयते । बिभावयिषति रिरावयिषति जिजावयिषतीत्यादौ । यदि च णौ कृतं वृद्ध्यावादेशलक्षणं कार्यं स्थानिवन्न स्यात् कुतोऽभ्यासस्योकारो यस्येत्वं विधीयते इति । **तुल्यजातीयस्य च ज्ञापकविषयत्वात् अवर्णपराणां पुयण्जां सदृशा अन्ये अवर्णपरा एव स्थानिवद्भावं भजन्ते ।** तेनाचिकीर्त्तदित्यत्र न स्थानिवद्भावः । तथा शुशावयिषतीत्यादौ णौ च संश्चङोरिति (६।१।३१) वकारस्य सम्प्रसारणं णौ कृतमपि द्विर्वचने कर्तव्ये न स्थानिवद्भवति, द्विर्वचनेऽचि (१।१।५९) इत्यत्र भाष्येऽजादेशस्यैव णौ कृतस्य स्थानिवत्त्वप्रतिपादनात् । ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्रेति च अधिजिगापयिषतीत्यत्र णाविङो गाङादेशो द्विर्वचने न स्थानिवदिति ॥३३॥

यो ह्यनादिष्टादचः पूर्वस्तस्य विधिं प्रति स्थानिवद्भावः ।३४।

इहाचः परस्मिन् पूर्वविधावित्यत्र (१।१।५७) पूर्वशब्दस्य सम्बन्धिशब्द-

त्वात् अजपेक्षं पूर्वत्वमादेशापेक्षं पूर्वत्वं निमित्तापेक्षं वा पूर्वत्वमित्युक्तम् । तत्र यदा लक्ष्यानुरोधादजपेक्षं पूर्वत्वमाश्रीयते तदायं सूत्रार्थ एव परिभाषारूपेण पठ्यते । तद्यथा अजादेशः परनिमित्तकः पूर्वस्य विधौ स्थानिवद् भवति । कुतः पूर्वस्मादनादिष्टादकृतादेशादच इति । तेन पटयतीत्यत्र कृते लोपे पटु-शब्दोकारादनादिष्टादचः पूर्व इति पटुशब्दाकारो भवतीति तस्योपधावृद्धिविधिं प्रति टिलोपः स्थानिवद् भवति । तथा आयन् आसन् इति प्रकृतयोरिणो यण्—(६।४।८१) श्नसोरल्लोपयो :—(६।४।१११)—रनादिष्टादचः पूर्वम् आड-जादीनाम् (६।४।७२) इत्याट्प्रसङ्गः । तस्य विधानं प्रति परत्वात् प्रवृत्तौ यण्लोपौ स्थानिवद्भवतः । यत्र त्वादिष्टात् अचः पूर्वस्तस्य विधिं प्रति न स्थानिवद्भावः—वैयाकरणः सौवश्वः इति । अत्र हि अचः पूर्वयोरैचोः सम्भव एव नास्तीति य्वाभ्यां पूर्वयोस्तयोर्विधानात्, अत ऐचो विधानं प्रति य्वौ स्थानिवन्न भवतः । ज्ञापकं चात्रार्थे अभ्यासस्यासवर्णे इति (६।४।७८) असवर्ण-ग्रहणं रक्षितोपवर्णितम् । यद्येवं तन्वतीत्यत्र यणादेशे कृते आदिष्टादचः पूर्वस्य वलादेरिटो विधानं प्रति अजादेशस्य स्थानिवद्भावो न प्राप्नोति । नैवम् । लक्ष्यानुरोधादिहादेशापेक्षमेव पूर्वत्वं विज्ञातव्यमिति ॥३४॥

निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति ।३५।

अयमपि षष्ठीस्थाने योगा (१।१।४९) इत्यस्यैवार्थः परिभाषारूपेण पठ्यते । तथा हि तत्र भाष्ये उक्तम् । **स्थाने योगो यस्याः सा स्थानेयोगा । निपातनात् सप्तम्या अलुक्** । षष्ठ्येव स्थानेयोगा नान्या श्रुतिः, षष्ठ्यन्तं स्थाने-योगेन (प्र)युज्यते, यत उच्चारिता षष्ठी तत्कार्ययोगि भवतीति निर्दिश्यमान-स्यादेशा भवन्तीत्यर्थः । तद्यथा पादः पदिति (६।४।१३०) षष्ठ्यन्तं पाद इति आदेशेन युज्यते । न तदन्तमङ्गम् । **परिभाषयानया तदन्तविधे र्व्यवच्छेदः क्रियते**। तथा ष्यङः सम्प्रसारणमिति (६।१।१३) ष्यङन्तस्य पूर्वपदस्य यण इगिति वाराहीपुत्र इत्यत्र वकारस्य सम्प्रसारणं स्यात् । षष्ठी स्थानेयोगेति ष्यङ एव भवति । तथा क्रियास्तां क्रियास्तमिति सयासुट्कस्य तामादयो न भवन्ति ॥३५॥

निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य ।३६।
एकानुबन्धकग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य ।३७।

तद्यथा सदव्ययतव्येति (२।२।११) षष्ठीसमासनिषेधे निरनुबन्धकतव्यो-

पादाने तव्यतो ग्रहणं न भवति । यतोऽनाव (६।१।२१३) इत्येकानुबन्धकस्य यतो ग्रहणे ण्यतो ग्रहणं न भवति । ज्ञापकं चानयोर्वामदेवाड् ड्यड्ड्यौ (४।२।६) इति ड्यत्-ड्योर्डित्करणम् । तद्धि न कर्तव्यम् । यस्येति चेति (६।४।१४८) लोपेनैव वामदेव्यशब्दस्य सिद्धत्वात् । तत् क्रियते ययतोश्चातदर्थे (६।२।१५६) इत्यनेन नञ उत्तरपदस्यान्तोदात्तविधौ अवामदेव्यमित्यत्र निरनुबन्धकैकानुबन्धकपरिभाषाबलादनयोर्ययतोर्ग्रहणं मा भूदिति । तदेतत् डित्वमनयोः परिभाषयोरस्तित्वे ज्ञापकम् । इह **निरनुबन्धकपरिभाषा प्रत्ययविषये ज्ञापितत्वाद्वर्णग्रहणे न प्रवर्तत** इत्याहुः । यदि हि स्यात्तदा यू इति नदीसंज्ञा निरनुबन्धकयोरेव स्यात् लक्ष्मीः चमूरिति । न सानुबन्धकयोः कुमारी ब्रह्मबन्धूर् एतयोरिति ।।३६, ३७।।

तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुबन्धकस्य ।३८।

सोऽनुबन्धो यस्य स तदनुबन्धकः । तद्ग्रहणे न तच्छून्यस्य ग्रहणं भवति । तेन चङीति (६।१।११) चकारानुबन्धे द्विर्वचनं क्रियमाणं तच्छून्ये अपुषदित्यत्राङि न प्रवर्त्तते अनुबन्धोच्चारणसामर्थ्यात् । न्यायमूला चेयम् । इह च **स एवानुबन्धो यस्येति अवधारणगर्भस्य बहुव्रीहेराश्रयणात्** वसोः सम्प्रसारणमिति (६।४।१३१) सूत्रे न्यासे वसुग्रहणेन क्वसुनिरासः आशङ्कितः शत्रादेशवसोरुकारोच्चारणसामर्थ्यात् सामान्यग्रहणं प्रतिपादितम् ।।३८।।

सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेव ।३९।

पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धम् ।४०।

वचनद्वयमिदं विप्रतिषेधसूत्रे (१।४।२) जातिव्यक्तिपक्षयोः फलभूतं परिभाषारूपेण पठ्यते । तथाहि । व्यक्तौ पदार्थे प्रतिलक्ष्यं लक्षणस्य व्यापारात् पर्यायेण द्वावपि विधी प्राप्तौ । द्वयोरपि तत्र विप्रतिषेधे परं कार्यमित्यनेन नियमः क्रियते परमेव न पूर्वमिति । तदिदमुच्यते सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेव । तेन अक्षी ते इन्द्र पिङ्गले कपेरिवेत्यत्र ई च द्विवचने (७।१।७७) इत्यनेन परत्वाद्बाधित इकोचि विभक्ताविति (७।१।७३) नुम् पुनर्न प्रवर्त्तते । स्तादित्यादौ च तातङः स्थानिवद्भावे धिभावो न भवति । जातौ तु पदार्थे सकृदेव लक्ष्ये लक्षणं प्रवर्तते विषयान्तरे चोभयं चरितार्थमिति विप्रतिषेधविषयेऽप्रवृत्तिरेवोभयोः प्राप्ता । तत्र परं कार्यमित्यस्य परविधौ व्यापारात् पूर्वनिवृत्तावव्यापार इति सति संभवे पूर्वमपि भवति । तदिदमुच्यते पुनः प्रसङ्ग-

विज्ञानात् सिद्धमिति। तेन भिदेर्लोटि हौ भिन्धकीत्यत्र तिङश्च (५।३।५६) इत्यनेन अज्ञाताद्यर्थविवक्षायामकच्धिभावयोः प्राप्तयोः परत्वात् धिभावे कृते पुनरकच् भवति। ईजतुरीजुरित्यत्र परत्वात् सम्प्रसारणे कृते द्विर्वचनं भवति। यत्र च पूर्वं कार्यं प्रवर्तमानं परविधिज्ञानं न बाधते तत्रैतद्भवति पुनः प्रसङ्ग-विज्ञानादिति। यत्र तु परविधिबाधाशङ्का तत्र च परविधानसामर्थ्यान्नैतत् प्रवर्त्तते इत्याहुः ॥४०॥

असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ।४१।

अन्तरङ्गे कार्ये कर्तव्ये बहिरङ्गमसिद्धं भवति। तेन पचावेदमित्यादौ बहिरङ्गस्याद्गुणस्य (६।१।८७) असिद्धत्वात् लोट एत ऐ न भवति। ज्ञापकं चास्याः वाह ऊठिति (६।४।१३२) वहेश्छन्दसि ण्विप्रत्ययान्तस्य ऊठादेश-विधानम्। तत्र ह्युच्यते प्रकृतमेव सम्प्रसारणं वकारस्य विधीयताम्। ततः परपूर्वत्वम्। ततो ण्विप्रत्ययान्तस्य प्रत्ययलोपलक्षणेन उकारस्य गुण ओकार-स्ततो वृद्धिरेचीति (६।१।८८) वृद्धौ सिद्धं प्रष्ठौह इत्यादि। अनकारान्ते चोपपदे छन्दसि वहेर्ण्विप्रत्ययो न दृश्यते। तत् किमूठ्वचनेनेति। यदा त्वस्त्ये-तदसिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे इति ण्वौ धातुप्रत्यये विधीयमानत्वात् अन्तरङ्गे गुणे कर्तव्ये भसंज्ञानिमित्तप्रत्ययाश्रितत्वात् बहिरङ्गं सम्प्रसारणं नास्तीति कस्य स्थाने गुणः स्यादिति। तत् कृतमूठ्वचनं परिभाषाया अस्तित्वे ज्ञापक-मिति। अनित्यत्वं चास्याः नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृतीति (८।२।२) तुग्विधौ नलोपस्यासिद्धत्ववचनेन ज्ञापितम्। यदि हीयं नित्या स्यादनयैव वृत्रहभ्यामित्यत्रान्तरङ्गे तुकि कर्त्तव्ये बहिरङ्गस्य नलोपस्यासिद्धत्वादेव सिद्धमे-वेति। अनित्यत्वे चास्या अमू इत्यत्र एकादेशस्य बहिरङ्गस्यान्तरङ्गे उत्वमत्वे कर्तव्ये असिद्धत्वं न भवति ॥४१॥

नाजानन्तर्ये बहिरङ्गप्रक्लृप्तिः ।४२।

पूर्वापवादोऽयम्। अचोरानन्तर्ये यत् कार्यमन्तरङ्गं बहिरङ्गं वा क्रियते तत्र बहिरङ्गप्रकल्पना नास्ति। तेनाक्षद्यूरित्यादौ सत्यपि क्विपमाश्रित्य प्रवृ-त्तस्य ऊठो बहिरङ्गत्वे अन्तरङ्गो यणादेशः प्रवर्तत एव। ज्ञापकं चात्र षत्वतु-कोरसिद्ध (६।१।८६) इत्येकादेशस्यासिद्धवचनम्। यदि ह्यजानन्तर्येऽपि बहिर-ङ्गासिद्धत्वं स्यात् तदा कोस्य योस्येत्यादौ इणः सस्य षत्वेऽन्तरङ्गे कर्त्तव्ये पदद्वयाश्रयस्य एङः पदान्तादति (६।१।१०९) एकादेशस्यासिद्धं बहिरङ्गमन्त-

रङ्ग इत्येवासिद्धत्वादसिद्धवचनमिदमनर्थकं स्यात्। संहिताप्रकरणकार्य एवायमसिद्धं वहिरङ्गमिति परिभाषाया अजानन्तर्ये निषेध इति धातोस्तन्निमित्तस्यैव (६।१।८०) इत्यत्र न्यासकृतोक्तम्। तेन पचावेदमित्यत्र एत ऐ (३।४।९३) इत्यस्मिन् प्रकरणान्तरकार्ये वहिरङ्गासिद्धत्वादाद् गुणो भवतीति ॥४२॥

अन्तरङ्गबहिरङ्गयोरन्तरङ्गं बलवत् ।४३।

विप्रतिषेधसूत्रे (१।४।२) इयं परिभाषा भाष्यकारेण पठिता। द्यौकामिः सौत्थितिः वैक्षमाणिरित्यादौ प्रविभज्यान्वाख्याने वृद्धेर्वहिरङ्गाया दुर्बलत्वात् अन्तरङ्गौ सवर्णदीर्घयणौ एकादेशौ यथा स्यातामिति। यत्र यत्र अन्तरङ्गवहिरङ्गयोर्युगपत्प्राप्तिस्तत्रेयमुपतिष्ठते। यत्र तु प्रवृत्त एव वहिरङ्गे अन्तरङ्गस्य प्रवृत्तिस्तत्रासिद्धं वहिरङ्गमन्तरङ्गे इति प्रवर्तते। यत्र च संहिताप्रकरणे षत्वतुकोरसिद्ध (६।१।८६) इत्यसिद्धवचनात् ज्ञापकादसिद्धं वहिरङ्गमन्तरङ्ग इति परिभाषा निषिध्यते तत्राप्यन्तरङ्गवहिरङ्गयोरन्तरङ्गं बलवदितीयं परिभाषा प्रवर्तत एव। एतेन वृक्ष इ इन्द्र ते इ इन्द्राः अपच इ इन्द्रमिति ङि जसः शी लङ् उत्तमैकवचनेषु आद्गुणात् परमपि सवर्णदीर्घत्वं वहिरङ्गत्वान्न भवति। पुनश्च प्रत्याख्यातेयं भाष्यकृतैव अन्तरङ्गबलीयस्त्वस्य लोकसिद्धत्वात्। तदुक्तं **सा चाप्येषा लोकतः सिद्धा** इति ॥४३॥

प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ।४४।

प्रत्यये गृह्यमाणे यस्मादसौ विहितस्तदादेरेव भागस्य तत्प्रत्ययान्तस्य ग्रहणं भवति। प्रयोजनं धातुप्रातिपदिकप्रत्ययसमासतद्धितविधिस्वराः। सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२)। यस्मात् सन्विहितस्तदादेरेव तदन्तस्य च धातुसंज्ञा। चिकीर्षति। न संघातस्य विप्रः चिकीर्षक इति। कृत्तद्धितान्तस्य प्रातिपदिकत्वे यतस्तौ विहितौ तदादेस्तदन्तस्यैव संज्ञा कारको गार्ग्य इति। न सङ्घातस्य विप्रः कारको विप्रो गार्ग्य इति। सुपः आत्मनः क्यच्प्रत्ययो (३।१।८) यतः सुप् तदादेरेव भागस्य पुत्रीयतीति। न संघातस्य महान्तं पुत्रमिच्छतीति। सुप्सुपेति समासः यतः सुप् तदादेरेव राजपुरुषः, न संघातस्य कृद्धस्य राज्ञः पुरुष इति। यञिञोश्चेति (४।१।१०१) फक् यतो यञिञौ विहितौ तदादेरेव गार्ग्यायणो दाक्षायणः, न संघातात् विप्रो गार्ग्यायणो विप्रो दाक्षायण इति। ञ्नित्यादिर्नित्यम् (६।१।१९७) इत्याद्युदात्तत्वं यतो ञ्नितौ विहितौ तदादेरेव गार्ग्यः। न संघातात् विप्रो गार्ग्यः विप्रस्य कृतिरिति। स चायमर्थो यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्यये इति (१।

४।१३) योगविभागेन साधितः। प्रत्यये गृह्यमाणे यस्माद् विधिस्तदादिरेव भागो गृह्यते*। न तत्प्रत्ययान्तः संघात इति ॥४४॥

स्त्रीप्रत्ययेनानुपसर्जनेन ।४५।

पूर्वापवादोऽयम्। येयं प्रत्ययग्रहणपरिभाषा सा हि स्त्रीप्रत्ययेन अनुपसर्जनेन ग्राहिका न भवति। अतः स्त्र्यधिकारविहिते प्रत्यये संघातोऽपि गृह्यते न तु यतः स्त्रीप्रत्ययस्तदादिरेवेति वाक्यार्थः। तेन स्त्रीभ्यो ढगिति (४।१।१२०) यतोऽणन्तात् कारशब्दात् ङीप् न तदादेर्ढक्प्रत्ययः किन्तु समुदायादेव कुम्भकारशब्दात् कौम्भकारेयः नागरकारेय इति। अन्यथा हि अत्रान्तावयवस्य कारशब्दस्य वृद्धिस्वरौ स्याताम्। तथा ष्यङः सम्प्रसारणम् (६।१।१३) इत्यत्र ष्यङिति स्त्र्यधिकारविहितप्रत्ययस्य ग्रहणम्। तेन प्रत्ययग्रहणपरिभाषानिषेधात् ष्यङ्मात्रस्य सम्प्रसारणं भवति परमकारीषगन्धीपुत्र इति। अनुपसर्जनेनेति वचनात् उपसर्जनस्त्रीप्रत्ययान्तस्य प्रत्ययग्रहणपरिभाषैव प्रवर्तते अतिकारीषगन्ध्यापुत्रः अतिकारीषगन्ध्यापतिरिति। हल्ङ्यादिसूत्रे (६।१।६८) दीर्घग्रहणात् तु क्वचिदुपसर्जनस्त्रीप्रत्ययान्तेऽपि प्रत्ययग्रहणपरिभाषा नापेक्ष्यते। तेनार्द्धपिप्पली इत्यत्र हल्ङ्यादिना सुलोपः सिध्यति। परिभाषा चेयं ष्यङः सम्प्रसारणम् (६।१।१३) इत्यत्र भाष्यकारोपगमादेव प्रमाणमिति ॥४५॥

कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम् ।४६।

इयमपि प्रत्ययग्रहणपरिभाषाया अपवादः। यत्र कृतो ग्रहणं तत्र गतिपूर्वं कारकपूर्वमपि कृदन्तं गृह्यते। न तु यतः कृत्प्रत्ययस्तदाद्येव। तद्यथा क्षेप इति (२।१।४७) क्तान्तेन समासविधिः सगतिना सकारकेण च भवति। उदके-विशीर्णम् अवतप्तेनकुलस्थितमिति। तथा अणिनुण इति (५।४।१५) इनुणन्तादण् सगतेरपि भवति। सांराविणमिति सगतेरेवाङ्गस्यादिवृद्धिः। ज्ञापकञ्चास्याः गतिरनन्तरः (६।२।४९) इत्यनन्तरग्रहणम्। तेन हि कृदन्तेन क्तान्ते उत्तरपदे पूर्वपदस्यानन्तरस्य गतिस्वरो विधीयते। उद्धृतमवधृतमिति। न व्यवहितस्य अभ्युद्धृतमिति। तत्र यदीयं कृद्ग्रहणपरिभाषा नाभविष्यत्तदा, प्रत्ययग्रहणपरिभाषयैव अभ्युद्धृतमिति व्यवहितशब्दसंघाते क्तान्ते प्राप्तिरेव नास्तीति तन्निवृत्त्यर्थमनन्तरग्रहणं नाकरिष्यत्। तत् कृतमस्यार्थस्य ज्ञापकमिति लिङ्गमात्रञ्च। **अस्याः सूत्रकारोपगमादेव साधुत्वम्**। यतः कारकपूर्वस्यापि ग्रहणे न ज्ञापकं तस्मात् कात्यायनपठितत्वादेवैषा प्रमाणमिति। लक्ष्यवशात् क्वचिदियं नाश्रीयतेपि। तेन प्रज्ञासुकरः कट इत्यत्र खलि खित्यनव्ययस्येति

(६।३।६६) ह्रस्वोऽर्द्विषदजन्तस्येति (६।३।६७) मुम् न भवति । तथा मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते इत्यत्र तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्यामिति (२।२।२१) समासाभावपक्षे सगतिकारकसमुदायस्य कृदन्तस्य प्रातिपदिकसंज्ञा न भवति । यदि हि स्यात् सुपो धात्वित्यादिना (२।४।७१) प्रातिपदिकावयवविभक्तेस्तृतीयाया लुक् स्यादिति।।४६।।

गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः ।४७।

प्रागेवेति वक्तव्यम् । सुप्सुपेत्यधिकारेऽपि कुगतिप्रादयः (२।२।१८) कर्तृकरणे कृता बहुलम् (२।१।३२) उपपदमतिङ् (२।२।१९) इति च यत् गतीनां कारकाणामुपपदानां च कृदन्तेन समासवचनं तत् सुबुत्पत्तेः प्रागेव ज्ञातव्यम् । तेन प्रशब्दस्य गतेः स्थशब्देन कप्रत्ययान्तेनासुबन्तेनैव समासो भवति प्रष्ठीति । चर्माभ्रशब्दयोश्च कारकयोः कर्तृकरणे कृता बहुलमिति (२।१।३२) क्तान्तेनासुबन्तेनैव समासः चर्मक्रीती अभ्रलिप्तीति । कच्छशब्दस्य च कप्रत्ययान्तेन पशब्देन चर्मशब्दस्य चाण्प्रत्ययान्तेन कारशब्देनासुबन्तेनैव समासः कच्छपी चर्मकारीति । असुबन्तेन च समासस्य प्रयोजनम् अकारान्तत्वे सति समासप्रातिपदिकस्य अत इत्यधिकारात् प्रष्ठीति पुंयोगे ङीष् भवति । चर्मक्रीतीति क्रीतात् करणपूर्वात् (४।१।५०) इति अभ्रलिप्तीति क्तादल्पाख्यायामिति (४।१।५१) ङीष् । कच्छपीति च जातेरिति (४।१।६३) ङीष् । चर्मकारीति च टिड्ढाणञिति (४।१।१५) ङीप् भवति । यदि हि पुनरत्र सुबन्तेन समासः स्यात् ततोऽन्तरङ्गत्वात् टाप् भवति । ततः सुप् ततः समास इति आकारान्तं समासप्रातिपदिकं जातमिति अत इत्यधिकारविहित ईकारो न स्यात् । एवं माषान् वपति ब्राह्मणीति माषशब्दस्य बहुलमाभीक्ष्ण्य इति (३।२।८१) णिन्यन्तेन वापिन्शब्देनासुबन्तेनैव समासः । तत् प्रातिपदिकस्यैवान्तो नकार इति प्रातिपदिकान्त (८।४।११) इत्यादिना णत्वं सिध्यति । तस्यासिद्धत्वात् ऋन्नेभ्यो ङीबिति (४।१।५) ङीपि माषवापिणी व्रीहिवापिणीति । इह च यद्यपि प्राक् सुबुत्पत्तेरिति सामान्येनोक्तं तथापि गतिकारकोपपदानां सुबन्तानामेव कृद्भिरसुबन्तैरिति बोद्धव्यम् । तथा च चर्मक्रीती चर्मकारीति सुबन्तत्वात् पूर्वपदस्य नलोपः । वैयाकरण इति पदत्वादैजागमः । निष्णातमिति च षत्वम् । निर्यियिति रुत्वम् । क्रीतात् करणपूर्वात् (४।१।५०) इत्यत्र च मनसाक्रीतीति भाष्ये उदाहृतम् । तत्र च मनसः संज्ञायाम् (६।३।४) इत्यत्रालुक्समासे पूर्वपदस्य तृतीया श्रूयते । अर्थवत्सूत्रे (१।२।४५) च अस्ति हि सुबन्तानामसुबन्तेनैव समासः गतिकारकोपपदानां कृद्भिरिति **भर्तृहरिणोक्तम्** ।

ज्ञापिता चेयं परिभाषा सूत्रकारेण उपपदमतिङ् (२।२।१९) इत्यनेन। तदुक्तं सुप्सुपेत्यधिकारात् तिङन्तेन समासस्य प्रसङ्ग एव नास्तीति किमतिङ्-ग्रहणेन। ज्ञापनार्थञ्च नैतयोर्योगयोः सुप्सुपेति संबध्यते। तेन गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेरित्युपपन्नं भवति। ज्ञापकं चात्र सुप्-सुपेति न संबध्यते इति यदुक्तं तन्मिलितं न संबध्यते इति बोद्धव्यम्, पूर्वपदे सुबन्तस्यैवेष्यमाणत्वात्। ज्ञापकमप्येतत् नैकान्तिकम्। तथा च कात्यायनेनातिङ्-ग्रहणस्य प्रयोजनमेवं दर्शितम्। अतिङिति क्रियानिषेधोपलक्षणम्। क्रियोपपदस्य मा भूत्। कारकस्य गतिः कारकस्य व्रज्या इति तुमुण्-ण्वुलौ क्रियायां क्रिया-र्थायामिति (३।३।१०) ण्वुल्। कर्त्तरि षष्ठीसमासे चात्र उपपदस्य पूर्वनिपाते व्रज्याकारक इत्यनिष्टं स्यात्। ण्वुल्तृचाविति (३।१।१३३) ण्वुलन्तस्य तु भवत्येव षष्ठी-समासः कारकगतिः कारकव्रज्या इति। तस्मात् पुंयोगादाख्या-यामिति (४।१।४८) इत्यत्र कात्यायनोपगमादेवास्त्येषा परिभाषेति। अस्याश्च परिभाषायाः तिङि चोदात्तवति (८।१।७१) इत्यत्र स्वरसूत्रे न्यासकारेणार्थान्त-रमपि व्याख्यातम्। तथा गतिकारकोपपदानां कृदन्तेनैव समास इति प्रपच-तितरामित्यत्र च तरबन्तस्य समासाभाव इति ॥४७॥

उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी ।४८।

तेन नमस्करोति देवानिति नमः-स्वस्तीत्यादिना (२।३।१६) नमोयोगे चतुर्थीं बाधित्वा द्वितीया भवति कारकविभक्तिरिति। चतुर्थी तु नमोऽस्तु देवेभ्य इति कारकादन्यत्र शेषे चरितार्था। एवं हा पितः क्वासि हे सुभ्रु इत्यत्र हाशब्दयोगे द्वितीयां बाधित्वा प्रथमा भवति कारकविभक्तिरिति। अन्तरा त्वाञ्च मां च कमण्डलुरिति अन्तरायुक्तस्य कमण्डलोःप्रथमैव भवति। न्यायमूला चेयं परिभाषा। तथा ह्युपपदविभक्तीनां सर्वासां षष्ठ्यपवादत्वात् सम्बन्धः प्रवृत्तिनिमित्तम्। कारकभावस्य च विवक्षाकाले सम्बन्ध एव नास्तीति कुतस्तद्द्योतिका विभक्तय इति दुर्बलत्वमुपपदविभक्तीनाम्। बहिरङ्गाश्चोप-पदविभक्तयोपि द्विपदाश्रयत्वात् ॥४८॥

सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम् ।४९।

तेन पञ्चम्यपाङ्परिभिः (२।३।१०) इत्यत्रापेन साहचर्यात् परेर्वर्जनार्थ-स्यैव ग्रहणमुपपन्नं भवति। लौकिक एवायं न्यायः। लोके हि गोर्द्वितीयेनार्थ इत्युक्ते गौरेव द्वितीय उपादीयते साहचर्यात्। नाश्वो नापि गर्दभ इति। अनि-त्या चेयं परिभाषा शास्त्रे। तच्चानित्यत्वमस्या द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोर्थ-

(८।३।४३) इत्यत्र चतुरो विशेषणेन कृत्वोर्थग्रहणेन ज्ञापितम् । यदि हीयं नित्या स्यात् द्विस्त्रिश्शब्दयोः सुच्प्रत्ययान्तयोः साहचर्यादेव कृत्वोर्थचतुश्शब्दस्य ग्रहणं स्यादिति किं चतुरो विशेषणेन कृत्वोर्थग्रहणेन । तेनास्यानित्यत्वमिति । दीधीवेवीटाम् (१।१।६) इत्यत्र दीधीवेव्योः साहचर्यात् इट-किट-कटी गतावितीटो धातोर्ग्रहणं न भवति किं तर्ह्यागमस्येति ।।४६ ।।

सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवद् भवति ।५०।

इह इतरेतरसमाहारात्मकश्च समासविषयो द्वन्द्वः सर्वो विभाषैकवद् भवति । सर्वत्र समाहारप्राप्तमेकवचनं विकल्प्यते । इतरेतरस्याप्राप्तमेव पक्षे विधीयते । बाभ्रव्यशालङ्कायना बाभ्रव्यशालङ्कायनमित्युदाहरणम् । न्यायसिद्ध एवायमर्थः । तथा हि इतरेतरयोगे तावदवयवार्थाविगमात् द्विवचनबहुवचने सिद्धे समाहारे संघातप्राधान्यात् एकवचनमेकवद्भावकरणम् । एतयोरेव व्यवस्थार्थं दधिपय आदीनाम् (२।४।१४) इतरेतर एव । प्राण्यङ्गादीनां समाहार एव । वृक्षमृगादीनामुभयञ्चेति । ये इदानीमपरिगणिता बाभ्रव्यशालङ्कायनादयः तेषामविशेषेण उभयत्रापि द्वन्द्वो यथाविधानमर्थात् सुगम इति । इह च वृक्षमृगतृणादीनां बाभ्रव्यशालङ्कायनादिवत् सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवद् भवति इत्येव विकल्पे सिद्धे प्लक्षन्यग्रोधं रुरुपृषतमित्यादि सजातीयैरेवामीषां द्वन्द्व एकवद्यथा स्यात् न विजातीयैरिति व्यतिकरनिरासार्थं विभाषा एकवत् द्वन्द्वविधानम् । तेन पश्वादीनां विजातीयैर्द्वन्द्वो नैकवद्भवति । इतरेतरयोग एवासौ द्वन्द्वो भवतीति । यथा भट्टौ (६।१२३) नरवानररक्षसामिति । ज्ञापकं चास्यास्तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रेत्यत्र (१।२।६३) बहुवचनग्रहणम् । तेन हि बहुवचनप्रसङ्गे द्विवचनं विधीयते । उदितौ तिष्यपुनर्वसू इति तत्रोक्तम् । तिष्य एकः पुनर्वसू द्वाविति बह्वर्थत्वात् द्वन्द्वैकवचनप्रसङ्गो नास्त्येवेति बहुवचनप्रसङ्ग एवैतद् द्विवचनं भविष्यतीति किं बहुवचनस्येत्यनेन । तत् कृतं ज्ञापयति सर्वो द्वन्द्वो विभाषा एकवद्भवतीति ।।५०।।

उभयत आश्रये नान्तादिवत् ।५१।

इहैकः पूर्वपरयोः (६।१।८४) इत्यतः पूर्वपरग्रहणे अनुवर्त्तमानेऽन्तादिवच्च (६।१।८५) इत्यनेन एकादेशः पूर्वं कार्यं प्रत्यन्तवत् परं कार्यं प्रत्यादिवत् क्रियते यथा शक्येत विधिः कर्त्तुमिति । कथञ्च विरोधेन शक्यते विधिः सम्पादयितुम् । यत्र पूर्वमेवाश्रीयते तत्र पूर्वस्यान्तवत्वं क्रियते । यथा बह्वच्पूर्वपदाट्-

ठजिति (४।४।६४) द्वादशान्यिक इति पूर्वोत्तरपदयोरत्रैकादेशः पूर्वं प्रत्यन्तवत्। यथा च वाह ऊठ् (६।४।१३२) भारौहः पूर्वोत्तरयोरत्रैकादेशः पूर्ववद् भवति। यत्र परमेवाश्रीयते तत्र तस्यादिवद् भवति। यथा ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यमिति (१।१।११) अग्नी इति द्विवचनाद्विवचनयोरत्रैकादेशः परस्यादिवद् भवति। **यत्र पुनरेकादेशोऽसौ द्वयमाश्रयते पूर्वं परञ्च तत्र उभयत आश्रये उभयोराश्रयणे नान्तवद्भावो नाप्यादिवद्भाव इति वाक्यार्थः**। तद्यथा प्रोह्यत इत्यत्र उपसर्गात् ह्रस्व ऊहतेः (७।४।२३) इति ह्रस्वविधौ। अत्राप्येकादेश उभयमाश्रयते। तत्र पूर्वस्याश्रयणे प्रशब्दस्य उपसर्गव्यपदेशः। परस्याश्रयणे च ऊहतिव्यपदेश इत्ययमेकादेश उभयत आश्रये नान्तादिवद् भवति। तेन समुह्यत इतिवत् ह्रस्वत्वे प्रुह्यत इति न भवति। लोकसिद्ध एवायमर्थः। तथाहि द्वयोस्तुल्यबलयोरेकः प्रेष्योऽविरोधार्थी द्वयोरपि कार्ये न प्रवर्त्तते ॥५१॥

वर्णाश्रये प्रत्ययलक्षणं नास्ति ।५२।

वर्णाश्रयविधौ प्रत्ययलक्षणं कार्यं न भवति। तद्यथा गवे हितं गोहितं रायः कुलं रैकुलमिति सुब्लुकि प्रत्ययलक्षणेन अचीति (६।१।७७) वर्णाश्रयविधौ अवायादेशौ न भवतः। तथा श्रवणा रात्रिरित्यत्र संज्ञायां श्रवणाश्वत्थाभ्याम् (४।२।५) इत्यणो लुपि लवणा यवागूरित्यत्र च लवणाल्लुकि (४।४।२४) प्रत्ययलक्षणेन अणन्तात् टिड्ढाणञिति (४।१।१५) ङीप् प्राप्नोति। तत्र च प्राप्त्यभावः यतो ङीप् प्रत्ययो न वर्णाश्रयः। नैतत्। स च टिदादिभिः षष्ठ्यन्तैरकारविशेषणाद्वर्णाश्रय इति ङीप् न भवति। अयञ्चार्थः प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् (१।१।६२) इत्यत्र द्वितीयप्रत्ययग्रहणेन साधितः। तथा हि तत्रोक्तम्। तल्लक्षणमिति वाच्ये प्रत्ययग्रहणं प्रत्ययस्वरूपाश्रितमेव कार्यं प्रत्ययलक्षणेन यथा स्यात्। यथा सुप्तिङन्तं पदमिति (१।४।१४) अचीत्यादिवर्णाश्रयं मा भूदिति। ज्ञापकं चात्रार्थे श्रवणाकार्तिकीचैत्रीभ्य (४।२।२३) इत्यत्र श्रवणेति टाबन्तनिर्देशः। प्रायिकं चैतत्। तेन क्वचिद् वर्णाश्रयेपि प्रत्ययलोपलक्षणं भवति। यथा अतृणेडित्यत्र लुप्तेपि प्रत्यये अपृक्ते हलि तृणह इमिति (७ ३।९२) इमागमः। शास इदङ्हलोरित्यत्र (६।४।३४) न्यासकृतोक्तम् (II. 531) ॥५२॥

विकरणेभ्यो नियमो बलीयान् ।५३।

विकरणात् पूर्वं आत्मनेपदपरस्मैपदनियमस्तावत् प्रवर्तते ततो विकरणानीत्यर्थः। तेन एधिष्यते एधितासे ऐधिष्ट करिष्यतीत्यादि सिध्यति। अन्यथा

परत्वान्नित्यत्वाच्च विकरणेषु स्यादिषु कृतेषु तैर्व्यवधानादत्रानुदात्तङित एव आत्मनेपदं शेषादेव परस्मैपदमिति व्यवस्था न स्यात् । सामान्येनैव तिबादयः स्युः । नियमस्य लुग्विकरणेभ्यः श्नम्-विकरणेभ्यः आस्ते शेते अत्ति भिनत्तीत्यादौ चरितार्थत्वम् । अयञ्चार्थो वृद्भ्यः स्यसनोः (१।३।९२) इत्यात्मनेपदविकल्पेन ज्ञापितः । अन्यथा हि वृतु वर्त्तन इत्येवमादीनामनुदात्तेतां विकरणेन स्येन व्यवधानात् अनुदात्तङित एवात्मनेपदमिति नियमो नास्तीति सामान्यविहितेषु तिबादिषु कृतेषु सिद्धमुभयं वर्त्स्यति वर्तिष्यते इति किमनेन विकल्पेन। तत् कृतमुक्तार्थस्य ज्ञापकमिति । प्रायिकं चैतदिति कृत्वा ऋच्छेरनादेशस्य ग्रहणम् । अर्त्यादेशस्य त्वर्त्तेरित्येव सिद्धमिति समो गम्यादिसूत्रे (२।३।२९) वृत्तिः। न हि विकरणेभ्यो नियमो बलीयानिति विकरणे विधीयमाने ऋच्छादेशः प्रागात्मनेपदात् सम्भवति ॥५३॥

अन्तरङ्गान् विधीन् बहिरङ्गो ल्यब् बाधते ।५४।

समासे द्विपदाश्रयत्वात् बहिरङ्गो ल्यप् अन्तरङ्गान् विधीन् बाधते । प्रयोजनं हित्वतत्वआत्वइत्वदीर्घत्वशूठ्इटः । प्रधायेत्यत्र दधातेर्हिरिति (७।४।४२) हित्वं न भवति । प्रदायेति अच उपसर्गात्त इति (७।४।४७) तत्वं न भवति । प्रखन्य प्रजन्य इति जनसनखनाम् (६।४।४२) इत्यात्वं न भवति । प्रस्थायेति द्यतिस्यतिमास्थामिति (७।४।४०) इत्वं न भवति । प्रधायेति घुमास्थागेति (६।४।६६) ईत्वं न भवति । प्रक्रम्येति क्रमश्च क्त्वीति (६।४।१८) क्विझलोः क्ङिति न दीर्घः । प्रपृच्छ्य इति च्छ्वोः शूडनुनासिके चेति (६।४।१९) शकारो न भवति । प्रतिदीव्येत्यत्र च्छ्वोः शूडिति ऊठ् न स्यात् । प्रगृह्येति वलादेरिति (७।२।३५) इट् न भवति । ज्ञापकं चात्र अदो जग्धिर्ल्यप्ति कितीति (२।४।३६) ल्यब्ग्रहणम् । अन्यथा प्रजग्ध्येत्यत्र अन्तरङ्गत्वादेव क्त्वावस्थायां तकारादौ कितीत्येव जग्धौ सिद्धे ल्यपीति पृथक् न कृतं स्यात् ॥५४॥

धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यय एव कार्यसंविज्ञानम् ।५५।

अनेन सृजिदृशोर्झल्यमकितीति (६।१।५८) अम् धात्वधिकारीयप्रत्यये भवति स्रष्टा द्रष्टेति । इह न भवति वज्रसृड्भ्यां देवदृग्भिः । क्विबन्तानां धातुत्वेपि भ्यांभिसोः प्रातिपदिकप्रत्ययत्वात् । एवं मस्जिनशोर्झलीति (७।१।६०) नुम् नेह भवति । उदकमग्भ्यां प्राणनग्भ्यामिति । हनस्तोऽचिण्णलोरिति (७।३।३२) तत्वं नेह भवति वार्त्तघ्न इति । अचि विभाषेति (८।२।२१)

लत्वं नेह भवति देवगिरौ देवगिर इति। तदुक्तं **प्रयोजनं सृजिदृशिमस्जिनशिहनिगिरयः**। इह च स्वरूपग्रहण इति वचनात् प्रसृड्भ्यां प्रसृड्भिरित्यत्रानुदात्तस्य चर्दुपधस्येति (६।१।५९) अम्प्राप्तिदोषमुद्भाव्य मृजेर्वृद्धिरित्यत्र (७।२।११४) भाष्ये परिभाषान्तरमाश्रितम्। **धातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये एव भवतीति**। अयं चार्थः भ्रूणघ्नो भाव इति क्विबन्तात् भ्रौणहत्यम् इत्यत्र दाण्डिनायनेत्यादिना (६।४।१७४) तकारनिपातनेन ज्ञाप्यते। यदि धातोः कार्यमधातुप्रत्ययेपि स्यात् तदा हनस्तोऽचिण्णलोरित्यनेनैव (७।३।३२) टिलोपं बाधित्वा तकारः सिद्धः स्यात्। किं निपातनेन। हो हन्तेरिति (७।३।५४) कुत्वनिषेधार्थमिदं निपातनं न ज्ञापकमिति न वाच्यम्। कुत्वनिषेधार्थस्य न क्वादेरित्यत्र (७।३।५९) नेति योविभागेन साधितत्वादिति भाष्ये। इह तु नियौ नियः भुवौ भुव इत्यत्र क्षिय इति (६।४।५९) निर्द्देशात् ज्ञापकादधातुप्रत्ययेष्वपि इयङुवङाविति ॥५५॥

सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते ।५६।

अनेन धुरि दक्षिणस्यामिति सप्तम्या विकल्पितत्वात् तदर्थे शेषषष्ठी धुरि दक्षिणस्या इति भवति। तक्षन्तीति बहुवचनस्य विकल्पितत्वात् एकवचनमुत्सर्गः। ये यूपाय तक्षति मधु इति। क्लीबे नुमो विकल्पितत्वात् मधोस्तृप्ता इवासत इत्येवमादि बोद्धव्यम्। अयं चार्थः षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वेति (१।४।९) योगविभागेन साधितः। व्यत्ययो बहुलमिति (३।१।८५) व्यत्ययेनाप्येतान्युदाहरणानि सिध्यन्तीति ॥५६॥

अभेदका इह शास्त्रे गुणाः ।५७।

उदात्तादयो धर्मा उच्चारणेन शब्दं न भिन्दन्तीत्यर्थः। लोके हि गुणा भेदकाः दृश्यन्ते। यथैकमुदकमिदं शीतमुष्णमिति गुणभेदाद् भिद्यते। अभेदकाश्च यथा देवदत्तो मुण्ड्यपि जट्यपि शिख्यपि स्वामाख्यां न जहाति तथा वालो युवा वृद्ध इति। एवं शास्त्रेपि उभयग्रहणे प्राप्ते नियमोयमभेदका गुणाः स्युरिति। तेन वृद्धिरादैजित्यत्र (१।१।१) उदात्तादिभेदभिन्नानामप्यादैचां सामान्येन ग्रहणं सिध्यति। अयं चार्थो लुङ्-लङ्-लृङ्क्ष्वडुदात्तः (६।४।७१) इत्यत्र उदात्तवचनेन ज्ञाप्यते। यदि भेदका गुणाः स्युस्तदा उदात्तगुण एवाकारः उच्चारितः स्यात् किमुदात्तवचनेनेति। यद्येवमभेदका गुणाः अनुदात्तादेरञ् (४।२।४४) उच्यमान उदात्तादेरपि प्राप्नोति। नैतदस्ति। **आश्रीयमाणो हि गुणो भेदको भवति**। यथा छागमालभेतेत्युक्ते शुक्लः कृष्णो वा आलभ्यते।

श्वेतमालभेतेत्युक्ते शुक्ल एवालभ्यते ।।५७।।

स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्त्तन्तेऽपि ।५८।

स्वार्थिकाः कल्पबादयः प्रकृतेर्लिङ्गं वचनं चातिक्रामन्ति । तेन गुडकल्पा द्राक्षा तैलकल्पा प्रसन्ना इति लिङ्गव्यतिक्रमः पचतोरूपं पचन्तिरूपमिति वचनातिक्रमः सिद्धो भवति । **लिङ्गन्त्वत्र तिङन्तस्य क्रियाप्रधानत्वेनासत्त्ववाचित्वात् सामान्येन नपुंसकत्वं युक्तमेव** । अपिशब्दाल्लिङ्गवचनान्यनुवर्त्तन्तेपि स्वार्थिकाः । कुत्सितोऽश्वोऽश्वकः । प्रशस्तो वैयाकरणो वैयाकरणरूप इति । ज्ञापकं चात्र स्वार्थिकानां लिङ्गवचनानामतिक्रमणे णचः स्त्रियामञ् (५।४।१४) इत्यत्र स्त्रियामिति पदम् । तत्र हि युक्तं कर्मव्यतिहारे णचः स्त्रियामिति णज् विहितः । तदन्तादयं स्वार्थिकोऽञिति प्रकृतिगतेनैव लिङ्गेन सिद्धं भविष्यति । किं स्त्रियामित्यनेन । तत् कृतं स्वार्थिकाः प्रकृतिगतं लिङ्गमतिवर्त्तन्तेपीत्यस्यार्थस्य ज्ञापकमेव भविष्यति ।।५८।।

भवति हि क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं नपुंसकत्वं च ।५९।

तद्यथा मृदु पचति शोभनं पचतीति । यौक्त एवायमर्थः । क्रिया हि साध्यत्वात् कर्मेति तद्विशेषणमपि कर्म । क्रियायाश्चासत्त्वभूतत्वात्तद्विशेषणं सामान्यलिङ्गेनैव नपुंसकेन निर्द्देष्टुं युज्यते । ननु क्रियानिमित्तस्य कर्मत्वमुक्तम् । निमित्तं च सिद्धस्वभावं साध्यस्वभावा च क्रियेति कथं कर्म स्यात् । एवं तर्हि तत्प्रत्यनुपूर्वमीपलोमकूलमिति (४।४।२८) क्रियाविशेषणकर्मद्वितीयान्ताट्ठग्विधानं ज्ञापयति । साध्यस्वभावापि क्रिया प्रार्थनाध्यवसानादिभिः[1] क्रियां प्रति साधनत्वेनाश्रीयत इति ।।५९।।

अव्यक्ते गुणसन्देहे नपुंसकलिङ्गं प्रयोजयेत् ।६०।

अव्यक्तेषु पुंस्त्वादिषु धर्मेषु नपुंसकलिङ्गं प्रयोजयेत् । यथा किं तस्या गर्भे जातमिति । इदमपि यौक्तमेव नपुंसकलिङ्गस्य सर्वनामतुल्यत्वात् ।

सन्देहे बहुवचनं प्रयोक्तव्यम् ।६१।

यथा कति भवतः पुत्रा इति । यौक्तमेव चेदं भवति व्याप्तिन्यायेन बहुवचननिर्द्देशे सर्ववचनानामनुग्रहणादिति ।

व्यवस्थितविभाषयापीह कार्याणि क्रियन्ते ।६२।

---

१. प्रार्थनाध्येषणादिभिरिति तु युक्तः पाठः स्यात् ।

जातिपक्षाश्रयणस्यायमर्थः पठ्यते। जातौ हि पदार्थे सकृदेव लक्ष्ये लक्षणं प्रवर्तते। भावाभावौ च विकल्पः। तत्र लक्ष्यजातिमभिसमीक्ष्य एकत्र लक्ष्ये भावः कृतः सर्वत्र कृतो भवति। जातेरेकत्वात्। एकत्रैव अभावः कृतः सर्वत्र कृतो भवति। एतावतैव च विकल्पस्य चरितार्थत्वात्। विशिष्टे विषये व्यवस्थिता विभाषा विकल्पो व्यवस्थितविभाषेत्युच्यते। तेनाचि विभाषेति (८।२।२१) लत्वं प्राण्यङ्गे नित्यं विधीयते गल इति विषे तु न विधीयते गर इति। जातिव्यक्तिपक्षावाचार्येण यथेष्टमाश्रितावेव। तत्र जातिपक्षाश्रयणे जात्याख्यायामेकस्मिन् इति सूत्रं (१।२।५८) लिङ्गम्। व्यक्तिपक्षाश्रयणे च सरूपाणामेकशेष इति (१।२।६४) ॥ ६२॥

उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान् ।६३।

यत्र सप्तम्यर्थनिर्देशस्तत्र पूर्वस्य कार्यं भवति। यथा इको यणचीति (६।१।७७) दध्युदकमिति। पञ्चम्यर्थनिर्देशे तु परस्य कार्यं भवति। यथा तिङ्ङतिङ इति (८।१।२८) अतिङन्तात् परस्य तिङन्तस्य निघात इति। यत्रेदानीमुभयनिर्देशस्तत्र पञ्चमीनिर्देशो बलीयान् प्रवर्तते। तेन तस्मान्नुडचीति (६।४।७४) तस्मादित्यनया पञ्चम्या अचीत्यस्याः सप्तम्याः षष्ठ्यां परिकल्पितायां अजादेरेव नुड्भवतीति अनजोऽनश्व इति। अच इति षष्ठीनिर्देश एवात्र न क्रियते यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहण (प० ७५) इत्यस्योदाहरणार्थमेव। तथा आमि सर्वनाम्नः सुडित्यत्र (७।१।५२) आदित्यनुवृत्तौ अकारान्तात् सर्वनाम्न इत्यनया पञ्चम्या आमीत्यस्याः सप्तम्याः षष्ठ्यां परिकल्पितायाम् आम एव सुडागमो भवति। अयं च विप्रतिषेधे परं कार्यम् (१।४।२) इत्यस्यैवार्थः परिभाषारूपेण पठ्यते। तथाहि तस्मान्नुडचीत्यत्र पञ्चमीसप्तम्योरनवकाशत्वात् विरोधे सति तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्येत्यतः (१।१।६६) तस्मादित्युत्तरस्येति (१।१।६७) परत्वात् विप्रतिषेधे परमिति पञ्चमीनिर्देश एव कार्यभाग् भवति। आमि सर्वनाम्नः सुडित्यत्र आदिति पञ्चमी आज्जसेरसुगिति (७।१।५०) असुग्विधौ चरितार्था। आमीति सप्तमी चोत्तरार्था त्रेस्त्रय इति (७।१।५३) उभयोः सावकाशयोर्विरोधे परत्वात् पञ्चमी सप्तम्याः षष्ठीत्वं प्रकल्पयति ॥६३॥

सामान्यातिदेशे विशेषस्यानतिदेशः ।६४।

तद्यथा गाङ्कुटादिभ्य (१।२।१) इत्यादौ गाङ्कुटादिभ्यः परस्याञ्णित्प्रत्ययस्य ङित्त्व सामान्यम् तेन क्ङिति चेति (१।१।५) गुणप्रतिषेधादिकेऽतिदि-

श्यमाने ङिद्विशेषस्य यङादेर्यत् कार्यं द्विर्वचनादिकं तन्नातिदिश्यते। लोकसिद्ध एवायमर्थः। तथाहि लोके ब्राह्मणवदस्मिन् क्षत्रिये वर्तितव्यमिति ब्राह्मणत्व-सामान्यकार्यमेव पादवन्दनादिकमतिदिश्यते। नतु माठरादिप्रयुक्तं तक्रभक्षणादि विशेषकार्यमिति ॥६४॥

सन्नियोगशिष्टानामन्यतरापाये उभयोरप्यपायः ।६५।

तद्यथा धीवरीत्यादौ ङीप्सन्नियोगशिष्टो वनो र चेति (४।१।७) रेफः पञ्चधीवेत्यादौ पञ्चधीवरीभिः क्रीतः इत्यार्हीयठकोऽध्यर्धेत्यादिना (५।१।२८) लुकि लुक् तद्धितलुकीति (१।२।४९) ङीपि निवृत्ते रेफस्याप्यपायः। एवञ्च पञ्चेन्द्राण्यो देवताऽस्येति पञ्चेन्द्रः पञ्चाग्नाय्यो देवता अस्येति पञ्चाग्नि-र्देवताणो द्विगोर्लुगनपत्ये (४।१।८८) इति लुकि स्त्रीप्रत्ययनिवृत्तावानुगैकारयो-रपि निवृत्तिर्भवति। असत्यामस्यां परिभाषायामनयोरेकतरविनाशे नावश्य-मन्यस्याप्यपायो निमित्ताभावात्। बिल्वकादिभ्यः छस्य लुग् (६।४।१५३) इत्यत्र छग्रहणेन इयं परिभाषा भाष्ये ज्ञापिता। तत्र ह्युक्तं बिल्वकादिभ्य इति कुका निर्देशः कुक् चायं नडादीनां कुक् चेति (४।२।९१) छप्रत्ययसन्नि-युक्तस्ततश्च बिल्वकादिभ्यः परः छप्रत्यय एव सम्भवतीति बिल्वकादिभ्यो लुगि-त्येवमप्युच्यमाने भसंज्ञानिमित्तप्रत्यये छप्रत्ययस्यैव लुग् भविष्यतीति किमिह छग्रहणेन। तत् क्रियते छस्यैव केवलस्य लुग् यथा स्यात्। अन्यथा सन्नि-योगशिष्टानामेकस्याप्यपाये उभयोरप्यपाय इति कुको (ऽपि) निवृत्तिः स्यात् इत्येवायमर्थः। एवञ्च तदस्याः परिभाषाया अस्तित्वे ज्ञापकमिति। अनित्य-त्वञ्चास्या भस्याढे तद्धित इति (६।३।३५ वा०) अढ इति पुंवद्भावनिषेधेन ज्ञापितम्। अत्र हि अढ इति किं श्यैनेयो रौहिणेय इति प्रत्युदाहृतम्। यदि चेयं नित्या स्यात् तदा यस्येति चेति (६।१।१४८) लोपे कृते नकारोपि निवृत्त इति श्यैतेयो रौहितेय इति स्यात्। ततश्च पुंवद्भावरूपेणाविशेषादढ इति निर्देशोऽनर्थकः स्यादिति ॥६५॥

ताच्छीलिके णेऽप्यण्कृतं कार्यं भवति ।६६।

तेन चुरा शीलमस्यास्तपः शीलमस्या इति छत्रादित्वाण्णः। णान्तादप्य-णन्तवत् टिड्ढाणञिति (४।१।१५) ङीप् भवति चौरी तापसीति। ताच्छी-लिकेष्विति किं तदस्यां प्रहरणमिति क्रीडायां णः (४।२।५७) दाण्डा क्रीडा। प्रज्ञाश्रद्धार्च्चावृत्तिभ्यो णः (५।२।१०१) प्राज्ञा स्त्रीति अण्कृतमत्र कार्यं न भवति। कार्मस्ताच्छील्य (६।४।१७२) इत्यत्र श्रुतपालेन ज्ञापितो ह्ययमर्थः।

अत्र यि कर्मशब्दात्ताच्छीलिके छत्रादित्वाण्णप्रत्यये टिलोपो निपात्यते । तत्रोक्तं अणि अन्निति (६।४।१६७) प्रकृतिवद्भाव उक्तः । णे तु नस्तद्धित इति (६। ४।१४४) टिलोपः सिद्ध एव । किं निपातनेन । तदिदं ज्ञापयति ताच्छीलिके णेप्यण् कृतं कार्यं भवतीति ॥६६॥

लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्यैव ग्रहणम् ।६७।

तेन गापोष्टगिति (३।१।८) पिबतेरेव ग्रहणं भवति न पा रक्षण इत्यस्य लुग्विकरणस्य । अस्याश्च स्वरतिसूतीत्येव सूत्रे (७।२।४४) सूतिसूयत्योर्विकरण-निर्देशो ज्ञापकः । तत्र ह्युक्तं सूङिति सामान्यनिर्देशोस्तु एतेनैवादादिकदैवा-दिकयोरेव सूङोर्ग्रहणं भविष्यति षू प्रेरणे इत्यस्यापि निरनुबन्धकस्य निवृत्ति-र्भविष्यति । किं विकरणनिर्देशेन । एवं तर्हि ज्ञापयति सूङ्ग्रहणे लुग्विक-रणपरिभाषया दैवादिकस्यैव ग्रहणं भविष्यति नादादिकस्येति विकरणनिर्देशः क्रियमाणोऽस्या ज्ञापको भवति ॥६७॥

अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग् बाधते ।६८।

तेन गोमान् प्रियोऽस्येति गोमत्प्रिय इति गोमानिवाचरति गोमत्यते इत्यादौ अन्तरङ्गानपि नुमादीन् बाधित्वा बहिरङ्गो लुगेव भवति । प्रत्ययोत्तर-पदयोश्चेत्यत्र (७।२।९८) भाष्ये ज्ञापितोऽयमर्थः तत्र ह्युक्तं तवायं त्वदीय इत्यादौ प्रत्यये तव पुत्रः त्वत्पुत्रः मम पुत्रो मत्पुत्र इत्यादावुत्तरपदे च विभक्ति-मात्राश्रयत्वात् पूर्वेणैव त्वमौ भविष्यतः । सामासोत्तरकालभावी विभक्ति लुक् बहिरङ्गः पश्चाद् भविष्यति । न च विभक्तिलुकि कृते निमित्ताभावात् प्रवृत्ता-भ्यामपि त्वमाभ्यां निवर्त्तितव्यं यतो बहिरङ्गस्य लुकोऽसिद्धत्वात् दृश्यते एव विभ-क्तिः । ये चापि स्वार्थिकास्तरबादयस्तेपि च असत्यपि समर्थाधिकारे अन्तरङ्गत्वात् कृतायामेव विभक्तौ सुबन्तादेव विधीयन्ते इति त्वत्तरो मत्तर इत्यादौ च त्वमावेकवचने (७।२।९७) इत्येव त्वमौ सिद्धावेव किं प्रत्ययोत्तरपदयोश्चेत्यनेन । तदेतज् ज्ञापयति । अस्तीयं परिभाषा अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग् बाधते इति । तेन त्वमौ बाधित्वा लुकि कृते विभक्त्यभावात् पूर्वेण त्वमौ न प्राप्नुत इति वचनमिदर्थवद् भवति । यस्तु मन्यते **प्रकर्षप्रत्ययोऽन्तरङ्गस्तथा** च नित्यवीप्स-योरित्यत्र (८।१।४) **ङ्याप्प्रातिपदिकादातिशायिको भवतीति** न्यासः । (II ४९७), तन्मते अत्रोत्तरपदग्रहणमेव केवलं ज्ञापकम् । त्वत्तरादौ त्वादेशविधाना-र्थत्वात् प्रत्ययग्रहणस्य । अत्र चोदयन्ति । किमनेन ज्ञापितेन । गोमत्प्रियादौ हि कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नुमादिभ्यो नित्यत्वादेव लुग् भविष्यतीति चेन्न नित्य-

परिभाषाया हि अन्तरङ्ग परिभाषापवादकत्वेन नित्यादप्यन्तरङ्गं बलीय इति न्यायाल्लुकं बाधित्वा नुमादिरेव स्यात् इति ज्ञापनीयमेतत् । अनेनैव च ग्रामण्यः कुलं ग्रामणि कुलं गवे हितं गोहितं रायः कुलं रैकुलं नावः कुलं नौकुलं वृकाद्भयं वृकभयमिति कृता अन्तरङ्गत्वाद् यणादयो निवर्त्तन्ते । एतदेव ज्ञापकं पठ्यते। लुग् यणयवायाव इत्यादेशेभ्यो बलीयानिति । तत्र निर्देशे अन्तरङ्गानपि विधी-नित्यपिशब्दो नित्यानां परेषां च बाधनार्थः । तद् ब्राह्मणकुलमित्यत्र त्यदाद्यत्वं स्वमोर्न्नपुंसकात् (७।१।२३) लुका बाध्यत इत्याहुः । ततश्चायमर्थः पठ्यते सर्वविधिभ्यो लोपविधिर्बलीयानिति ।।६८।।

गामादाग्रहणेष्वविशेषः ।६९।

नानापरिभाषाणामयमपवादः घुमास्थागापाजहातीत्यादौ (६।४।६६) दाधा घ्वदावित्यादौ (१।१।२०) गामादाग्रहणेष्वविशेषेण सर्वेषामेव गामादा-रूपाणां ग्रहणं भवति । न विशेषभूतः परिभाषान्तरन्यायेनाश्रीयते । युक्त एवाय-मर्थः । तथाहि गाग्रहणे यदि निरनुबन्धकपरिभाषया व्यवस्था स्यात् तदा कै गै शब्दे गा स्तुतौ इणो गा लुङि (२।४।४५) इत्यमीषामेव ग्रहणं स्यान्न गाङ् गतावित्यस्यापि । अथ लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया व्यवस्था तदा कै गै शब्दे इत्यस्य ग्रहणं न स्यात् । अथ लुग्विकरणपरिभाषया व्यवस्था तदा इणो गा लुङीति (२।४।४६) इण्वदिक (वा०) इत्यनयोर्ग्रहणं न स्यात् । एवं माग्रहणेपि यदि निरनुबन्धकपरिभाषया व्यवस्था स्यात् तदा मा माने इत्यस्यैव ग्रहणं स्यात् । न माङ्मेङोः । अथ लक्षणप्रतिपदोक्त-परिभाषया तदा मामाङोरेव ग्रहणं स्यात् न मेङः । लुग् विकरणपरिभाषया च माङ्मेङोरेव ग्रहणं स्यात् न मा माने इत्यस्य । तथा दाग्रहणेपि यदि निरनु-बन्धकपरिभाषया व्यवस्था स्यात्तदा दोऽवखण्डने इत्यस्यैव ग्रहणं स्यान्नान्येषाम् । अथ एकानुबन्धकपरिभाषया तदा दाण्-देङोर्ग्रहणं स्यात् न तु डुदाञः । अथ लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषया तदा दाण्डुदाञोरेव ग्रहणं स्यात् न दोदेङोरिति । तत्रैवं गामादाग्रहणेषु परिभाषाणां विरोधे सति द्वयं संभवति । अप्रवृत्तिः स्यात् पर्यायप्रवृत्ति र्वा । तत्र यदाऽप्रवृत्तिः सिद्धमविशेषेण ग्रहणम् । अथ पर्यायेण प्रवृत्तिस्तथापि सर्वेषां ग्रहणे गामादाग्रहणेष्वविशेष इति सिद्धो भवति ।।६९।।

उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि ।७०।

अतः कृकमिकंसेत्यत्र (८।३।४६) सत्वविधौ कमिग्रहणं कृतम् । तेन कमेः स इति (उणादि ३।६२) अत्रपि कमेः सग्रहणं कृत्वा उणादौ व्युत्पादितः

कंसशब्दोपि गृहीत एव । अत्र पुनः कंसग्रहणात् ज्ञापयति । अस्तीयं परिभाषा उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानीति । तेन जिव्रिः किर्योर्गिर्योरित्यादौ हलि चेति (८।२।७७) दीर्घो न भवति । अन्यथा हि जॄधातोः जीर्यतेः क्रिन् रश्च वः इति (उणादि ५।४९) क्रिन् प्रत्यये इत्वे रपरत्वे रेफस्य च वकारे कृते वकारान्तो धातुरिति दीर्घः स्यात् । कॄगॄभ्याञ्च कॄगॄकुटिभिदिछिदिभ्यश्चेति (उणादि ४।१४३) इकारप्रत्ययात्तयोरेव किरिगिरिशब्दयोरोसि इकारस्य यणादेशे दीर्घः स्यादिति ॥७०॥

अङ्गवृत्तेः पुनरङ्गवृत्तावविधिर्निष्ठितस्य ।७१।

अङ्गस्य कार्यस्य वृत्तिः प्रवृत्तिरङ्गवृत्तिः । ततो हेतोर्निष्ठितस्य प्रयोगार्हस्याङ्गस्य पुनरङ्गवृत्तावङ्गकार्यस्य प्रवृत्तौ अविधिरविधानम् । अङ्गवृत्ताविति षष्ठयर्थे सप्तमी । पुनरङ्गकार्यवृत्तेरविधिरप्रवृत्तिरित्यर्थः । तद्यथा क्रियते इत्यत्र रिङादेशे अङ्गकार्ये प्रवृत्ते अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घत्वमपरमङ्गकार्यं न भवति । पिबतीत्यत्रापि पिबादेशे कृते गुणो न भवति । निष्ठितत्वञ्चाङ्गकार्यापेक्षयैव न सामान्येनेति व्याचक्षते । ज्ञापकञ्चात्र ज्ञाजनोर्जा (७।३।७९) इत्यत्र ज इति कर्त्तव्ये जाशब्दादेशकरणम् । यदि ह्येकस्मिन्नङ्गकार्ये प्रवृत्ते प्यपरमङ्गकार्यं स्यात् तदा जकारादेशेपि पुनरतो दीर्घो यञीति (७।३।१०१) दीर्घे सति जायत इति सिद्ध एवेति । एवं रीङृतः (७।४।२७) इत्यत्र च दीर्घोच्चारणमत्रार्थे ज्ञापकम् । मात्रीयतीत्यादावपि हि अकृत्सार्वधातुकयोरिति (७।४।२५) दीर्घः सिद्ध एवेति । निर्देशे अङ्गवृत्ते र्हेतोरिति **श्रुतपालेन** पञ्चम्यन्तं व्याख्यातम् । **न्यासादौ त्वङ्गवृत्त** इति सप्तम्यन्तं दृश्यते ॥७१॥

प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणम् ।७२।

तेन विदो लटो वेति (३।४।८३) णलादिविकल्पो यङ्लुगन्तस्यापि भवति । वेवेद वेविदतुः वेविदुः वेवेत्ति वेवित्तः वेविदतीति । ज्ञापकं चात्र ऊदुपधाया गोहः (६।४।८९) ऊदुपधाग्रहणम् । ऊद् गोह इति लाघवार्थं कर्त्तव्ये यदुपधाग्रहणं तद् यङ्लुगन्ते जोगूह इत्यभ्यासौकारे मा भूदित्येवमर्थम् । एतदर्थता च तदा स्यात् यदि प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणं भवेदिति । निष्ठा शीङ् (१।२।१९) इत्यत्र पुनरनुन्यासकृता न्यायसिद्धत्वमेवास्या दर्शितम् । तथा हि स्थाने द्विर्वचनपक्षे स्थानिवद्भावात् प्रकृतिव्यपदेशः, द्विष्प्रयोगपक्षे च स एव शब्दो द्विरावर्तत इति युक्तं प्रकृतिग्रहण इत्यादि । तथा भुवो वुक् लुङ् लिटोरित्यत्र (६।४।८८) वोभाव बोभवेति यङ्लुगन्तात् वुग्निवृत्त्यर्थः ओः सुपीत्यतः (६।४।८३)ओकारोऽनुवर्त्तते इति । श्तिपा निर्देशे चैषा परिभाषा न प्रवर्त्तते तदुच्यते—

शितपा शपानुबन्धेन निर्दिष्टं यद् गणेन च ।
यत्रैकाज्ग्रहणं किञ्चित् पञ्चैतानि न यङ्लुकि ॥ ॥इति॥

तत्र शितपा निर्देशो यथा स्वरत्यर्त्तीति (७।२।४४, ७।४।७७)। शपा यथा—भरज्ञपिसनामित्यत्र (७।२।४६) भरेति शबन्तानुकरणम्। अनुबन्धेन यथा—शीङो रुडिति (७।१।६)। गणेन यथा—वनतितनोत्यादीनामिति (६।४।३७)। एकाज्ग्रहणं यथा—एकाच इत्यनुवृत्तौ श्र्युकः कितीति (७।२।११) इट्प्रतिषेधः। अथ शितपा निर्देशः आत्मनेपदादिकं प्रकृतिग्रहणाद् यङ्लुगन्तस्य न भवति ॥७२॥

प्रकृतिग्रहणे ण्यधिकस्यापि ग्रहणम् ।७३।

तेन अभिषावयतीति उपसर्गात् सुनोतीति (८।३।६५) षत्वं भवति। न भा-भू-पू-कमि-गमि-प्यायीवेपामित्यत्र (८।४।३४) णत्वप्रतिषेधे प्रभापनादिसिद्धये ण्यन्तानां भादीनामुपसंख्यानं न कर्तव्यं भवति। ज्ञापकं चात्र हेरचङीति (७।३।५६) प्रतिषेधवचनम्। तथाहि केवलाद् हिनोतेश्चङ् नास्ति। तत्र यदि प्रकृतिग्रहणे ण्यधिकस्यापि ग्रहणमिति परिभाषा न स्यात् तदाभ्यासनिमित्ते प्रत्यये हिनोतेरङ्गस्य कुत्वमुच्यमानं कः प्रसङ्गो ण्यधिकस्य चङि स्यात् यदर्थमचङीति प्रतिषेधः क्रियते ॥७३॥

वार्णादाङ्गं बलीयः ।७४।

वार्णात् वर्णकार्यात् आङ्गमङ्गकार्यं बलीयस्त्वात् प्रवर्तते इत्यर्थः। तद्यथा भवतीत्यत्र यणादेशात् बलीयान् गुणो भवति। **यत्र वर्णाङ्गयोरेकं निमित्तं सोऽस्याः प्रवृत्तिविषयः।** तद्यथा इयायेत्यत्र वृद्धियणोरकारो निमित्तम्। यत्र तु भिन्नाश्रयः तत्रान्तरङ्गपरिभाषयैव व्यवस्था स्यात्। तेन सिवेरौणादिकनप्रत्यये स्योन इति। अत्र सि ऊ न इति स्थिते लघूपधगुणात् पूर्वं यण् भवति। ज्ञापिता चेयं परिभाषा दाश्वानित्यत्र सूत्रे (६।१।१२) भाष्यकृता। अभ्यासस्यासवर्णे (६।४।७८) इत्यसवर्णग्रहणे सति वार्णादाङ्गस्य बलीयस्त्वे इयाय उवोषेत्यादौ वृद्धिगुणयोरसवर्णपरोऽभ्यासः संभवतीति असवर्णग्रहणमर्थवद्भवतीति। अन्यथाहि गुणवृद्ध्यो र्बहिरङ्गत्वात् प्रागेव न भवितव्यमिति निर्विषयमसवर्णग्रहणं स्यात्। यदि चान्यार्थः स्यात् इयृयादित्यादौ तदार्त्तेरभ्यासस्यैव ब्रूयात्। नैकमुदाहरणं प्रतियोगमारम्भयतीति। तदेतदुक्तमसवर्णग्रहणं वर्णादाङ्गं बलीय इत्यस्याः परिभाषाया लिङ्गम्। सा चेयं समानाश्रया एव इति व्याश्रये न प्रवर्त्तते इत्याहुः। तत्र च्छ्वोः शूडिति (६।४।१९) सतुक्कस्य छकारस्योपादानं लिङ्गम्। यदि हि वार्णादाङ्गं बलीय इति व्याश्रयेपि प्रवर्त्तते तदा छकारनिमित्तकं वार्णं

तुकं बाधित्वा विश्न इत्यादावनुनासिकनिमित्तोऽङ्गस्य छकारस्य शकारः स्यात्। तत्र च कृते निमित्ताभावात् तच्छकारानाश्रयत्वेन च स्थानिवत्त्वाभावात् नास्ति तुगिति किं सतुक्छकारोपादानेन । तत्र कृतमुक्तार्थस्य ज्ञापकं सम्पद्यते। न्यासकारेण तु सार्वधातुकमपिदित्यत्र (१।२।४) व्याश्रयेपीयमभ्युपगता । यदाह च्यवन्ते प्लवन्त इत्यत्र वार्णादाङ्गं बलीय इत्येकादेशात् प्रागेव गुण इति। तत्रास्याः क्वचिद् व्याश्रयेपि प्रवृत्तिरित्यत्रार्थे यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङिति (३।३।९०) नङो ङित्करणं गुणनिषेधार्थं क्रियमाणं ज्ञापकं भविष्यति। अन्यथा हि विच्छेरन्तरङ्गत्वात् तुकि छकारनिमित्ते सति कः प्रसङ्गो बाह्य-सार्वधातुकप्रत्ययाश्रयस्य गुणस्य । न च प्रच्छेः सम्प्रसारणार्थं प्रश्ने चासन्न-काल इति (३।२।११७) निर्देशात् ॥७४॥

यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे ।७५।

येन विधिरित्यत्र सूत्रे (१।१।७२) तदन्तविधेरपवादोऽयं तदादिविधिरुप-संख्यातः परिभाषारूपेण पठ्यते । यस्मिन्निति सप्तमीनिर्देशे अल्ग्रहणे सति तदादौ समुदाये कार्यं भवतीति । तेनाचीति (६।४।७७) इयङुवङौ अजादौ भवतः । श्रियो लुलुवतुरिति । श्रियौ भ्रुवावित्यत्रापि व्यपदेशिवद्भावादिति। गुणोऽपृक्त इत्यत्र (७।३।९१) तु वामनेनापृक्त ग्रहणात् परिभाषेयमिति व्याख्या-तम् । यदुक्तं उतो वृद्धिर्लुकि हलीत्यतो (७।३।८९) हलीत्यनुवर्तते एव किमपृक्त-ग्रहणेन । एवं तर्हि ज्ञापयति भवत्येषा परिभाषा यस्मिन् विधिरित्यादि । ततश्च हलीत्यनुवृत्तौ हलादौ स्यात् । अपृक्तग्रहणाद् वर्णमात्रे भवति प्रौर्णोदिति ॥७५॥

क्तल्युट्तुमुन् खलर्थेषु वासरूपविधिर्नास्ति ।७६।

वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् (३।१।९४) इत्यस्यैवायमर्थः परिभाषारूपेण पठ्यते । तथा ह्यस्त्रियामिति स्त्र्यधिकारात् प्राक् योऽसरूपोऽपवादः स विकल्पेनोत्सर्गं बाधते इति तत्रायमर्थः । क्तादीनान्तु स्त्र्यधिकारात् परेणावस्थानात् न तत्रास्य सूत्रस्य व्यापारः । तेन नपुंसके भावे क्तप्रत्ययो ल्युट् च भावे घञं नित्यमेव बाधते हसितं हसनमिति हास इति न भवति । तथा समानकर्तृकेषु तुमुन् (३।३।१५८) इच्छार्थेषूपपदेषु लिङ्लोटौ (३।३।१५७) नित्यमेव बाधते इच्छति भोक्तुमिति । तथातो युजिति (३।३।१२८) ईषद्दुःसुषु (३।३।१२६) इति खलं नित्यमेव बाधते ईषत्पानः सोमो भवतेति। यत्र त्वेते क्तादय एवोत्सर्गा अन्यस्तु स्त्र्यधिकारात् प्राग्-भूत एरज् (३।३।५६) अपवादः तत्र वासरूपविधि र्भवत्येव । तेनाज्विधौ भया-दीनामुपसंख्यानम् (३।३।५६ वा०) इत्यज्विधौ ल्युडपि भवति भयनं भीरिति न्यासः। अपात्रे वर्षणं यच्चेति कामन्दकप्रयोगश्चोपपद्यते। एवमाशिते भुवः करण-

भावयोरित्यत्र (३।२।४५) न्यासकारेण यदुक्तं घञं सारूप्यात् बाधते खच्, ल्युट्-पुनर्वाऽसरूपविधिना भवत्येव आशितम्भवन ओदन इति तदप्युपपद्यते । जयादि-त्येन तु क्तादिविषये वासरूपविधेरभावः प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्चेत्यत्र (३।३।१६३) लोटा समावेशार्थेन कृत्यग्रहणेन साधितः । यदुक्तं **स्त्र्यधिकारात् परेण वासरूपविधिरनित्य** इति । नित्ये हि तेनैव समावेशसिद्धेः । न्यासकारेण तु ण्यासश्रन्थो युजित्यत्र (३।३।१०७) आस्या आसनेति ण्यता सह युचः समावेश-मिच्छताऽस्त्रियामिति वासरूपनिषेधोऽयं **स्त्री प्रकरणे येऽपवादास्ते स्वप्रकरण-स्थानुत्सर्गान् बाधन्ते नान्यप्रकरणस्थानिति** दर्शितम् । ततश्च घञजपः क्तिन्-विषयेपि प्राप्नुवन्ति । तन्निवृत्त्यर्थश्च बहुवचनमाश्रयणीयमिति ।।७६।।

अनिनस्मन्-ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति ।७७।

लक्ष्यस्थित्या व्याप्तिन्यायाश्रयमूलकं कात्यायनवचनमेतत् परिभाषारूपेण पठ्यते । अर्थवत् परिभाषाया अनित्यत्वमस्याः मूलम् । तच्चाप्त्रादिसूत्रे (६।४।११) तुरिष्ठेमेयः स्विति—(६।४।१५४) वत् तृ इति सामान्यग्रहणेन सिद्धे अर्वणस्त्रसाविति (६।४।१२७) अर्वादेशतृशब्दपरिहारार्थं कृतेन तृन्तृचोर्भेदेनो-पादानेन ज्ञापितम् । यदि हि अर्थवत् परिभाषा नित्या स्यात्तदा तयैवार्वादेश-तृशब्दनिरासे सिद्धे तदर्थं तृन्तृचोर्भेदेनोपादानमनर्थकं स्यादिति । अत्रान्ग्रहणं तावदर्थवदनर्थकं च तदन्तविधिं प्रयोजयति । यथा राज्ञा साम्ना । उभयत्रापि अल्लोपऽन (६।४।१३४) इति भवति । इन् यथा दण्डी वाग्मी । उभयत्रापि इन् हन् पूषार्यम्णाम् (६।४।१२) इत्यनुवृत्तौ सौ चेति (६।४।१३) दीर्घः । असन्तं यथा सुपयाः सुश्रोताः । सर्वत्रात्वसन्तस्येति (६।४।१४) दीर्घः । मनन्तं यथा सुपामा सुप्रथिमा । सार्थके च निरर्थके च मनि मन इति (४।१।११) ङीप्प्रत्ययनिषेधः ।।७७।।

ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति ।७८।

व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन ।७६।

ग्रहणवता उच्चारणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्निषिध्यत इति । तेन सूत्रनडस्यापत्यं सौत्रनाडिरित्यत्र तदन्तविधिना नडादिभ्यः फक् (४।१।९९) न भवति । व्यपदेशिवद्भावश्च प्रातिपदिकग्रहणे नास्तीति । तेन सूत्रान्ताट्ठग् (४।२।६०) इति इहैव भवति संग्रहसूत्रमधीते सांग्रहसूत्रिकः । व्यपदेशिवद्-भावेन केवलान्न भवति सूत्रमधीते सौत्र इति । ज्ञापिते चैते परिभाषे येन विधिसूत्रे (१।१।७२) भाष्यकृता पूर्वादिनिः (५।२।८६) इत्यनन्तरं सूत्रं सपूर्वा-

च्च (५।२।८७) इत्यनेन योगेन । यदुक्तं किमर्थं सपूर्वादिनिर्विधीयते । पूर्वशब्देन प्रातिपदिकेन विशेषिते तदन्तविधिना सपूर्वाद्भविष्यति । केवलाच्च व्यपदेशिवद्भावेनेति नार्थोऽनेन । एवं तर्ह्येतद् ज्ञापयति । एते स्तः परिभाषे ग्रहणवतेत्यादी इति । अत एव च प्रत्ययविधौ ज्ञापनात् ग्रहणवतेत्यादिपरिभाषां प्रत्ययविधिविषयामाख्याय तेन गोस्त्रियोरुपसर्जनस्येत्यत्र (१।२।४८) गोशब्दान्तमाख्यायते । पुनश्चानयोः परिभाषयोः प्रत्याख्यानमुक्तम् । तत्राद्यायास्तावत् सिद्धं तु विशेषणविशेष्ययोर्यथेष्टत्वादिति विशेषणेन हि तदन्तविधिर्न विशेष्येण । तद्यत्रेष्यते तत्र तदन्तविधिर्यथा गोस्त्रियोरुपसर्जनस्येति (१।२।४८) । अत्र उपसर्जनगोशब्दान्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वः चित्रगुः । अत इञ् (४।१।९५) दाक्षिरित्यादौ तत्र प्रकृतं प्रातिपदिकमुच्चार्यमाणेन विशिष्यते । यत्र तु नेष्यते नडादिभ्यः फग् (४।१।८९) इत्यादौ तत्र गृह्यमाणमेव नडादि प्रकृतेन प्रातिपदिकेन विशिष्यते । व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेनेत्यस्याश्च प्रयोजनाभावादनुपगमः । उगितश्चेति (४।१।६) ङीप् अतिभवती भवतीति । अततेर्डः अः । तस्यापत्यमत इञ् (४।१।९५) इः इति निष्पन्नम् । तथा उपपदं प्रकृतं भयग्रहणेनाढ्यादिभिश्च विशिष्यते । ततस्तदन्तविधौ अभयङ्करो भयङ्करः अनाढ्यङ्करणः आढ्यङ्करणः । स्वस्रादिभिर्विस्तादिभिश्च प्रातिपदिकं विशिष्यते । परमस्वसा स्वसा द्विविस्ता विस्ता । रोण्या अण् (४।१।७८) आजकरोणः रौणः । रथसीताहलैश्च यद्विधौ प्रातिपदिकं विशिष्यते परमरथ्या रथ्या इत्यादौ केवलस्यापि व्यपदेशिवद्भावदर्शनात् । क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठगिति (४।२।६०) अत्र चान्तग्रहणं केवलनिवृत्त्यर्थमिति ।।७९।।

समासप्रत्ययविधौ तदन्तविधिप्रतिषेध उगिद्वर्णग्रहणवर्ज्जम् ।८०।

तेन श्रितादीनां सुबन्तविशेषणत्वेपि तदन्तविधिनिषेधात् परमकष्टश्रित इति न भवति । फगादिप्रत्ययविधौ नडादीनां प्रातिपदिकविशेषणत्वेपि तदन्तविधिनिषेधात् सूत्रनाडायन इति न भवति । उगिद्वर्णग्रहणवर्ज्जमिति वचनाच्च इह तदन्तविधिर्भवत्येव अतिभवती भवती दाक्षिरिति । **इयं च परिभाषा प्रमादात् परिभाषासु दृश्यते** । येन विधिसूत्रे (१।१।७२) वार्त्तिकमिदं तत्रैव प्रत्याख्यातं भाष्ये । तदुक्तम् । सिद्धन्तु विशेषणविशेष्ययोर्यथेष्टत्वादिति । तत्र समासविधौ तावत् सुपैव श्रितादयो विशिष्येरन् न श्रितादिभिः सुबन्तैरिति सिद्धस्तदन्तविध्यभावः । तथा प्रत्ययविधौ प्रातिपदिकेनैव नडादयो विशेषणीयाः । न च नडादीनां प्रातिपदिकमवयवोऽन्तः संभवतीति सिद्धो नडादेरेव फक् न तु तदन्ता-

दिति ॥८०॥

संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिर्नास्ति ।८१।

अनेन तरप्तमपौ घ इति (१।१।२२) प्रत्ययमात्रस्यैव घसंज्ञायां घरूपकल्पेति (६।३।४३) घपरतो ह्रस्व उच्यमानो घान्ते न भवति गौरी ब्राह्मणितरेति। ज्ञापकं चास्यार्थस्य सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४) इत्यत्रान्तग्रहणम्। अन्यथा हि सुप्तिङोः प्रत्ययत्वादेव प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्येति (परिभाषा ४४) अनेनैव तदन्तत्वे लब्धे अन्तग्रहणमिदमनर्थकं स्यादिति। ८१॥

समासान्तो विधिरनित्यः ।८२।

तेन बह्वाम्पीति ऋक्पूरब्धूःपथामानक्ष इति (५।४।७४) अकारो न भवति। ज्ञापिता चेयं भाष्यकृता द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु बहुव्रीहौ (६।२।१९७) इत्यत्र स्वरसूत्रेऽकृतसमासान्तमूर्धशब्दस्योपादानेन। नित्ये हि समासान्ते यथा पादिति ददिति च पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्य इति (५।४।१३८) वयसि दन्तस्य दत्रिति (५।४।१४१) कृतसमासान्तौ निर्दिष्टौ मूर्द्धशब्दोपि तथा निर्दिष्टः स्यात्। ततश्च मूर्धेष्विति निर्देशः स्यात्। तस्मादकृतसमासान्तो मूर्द्धसु इति निर्देशो ज्ञापयति अस्तीयं परिभाषेति। तेन द्विमूर्द्धा त्रिमूर्द्धा द्विमूर्धस्त्रिमूर्द्ध इत्युभयत्राप्यन्तोदात्तो भवति। ततश्च ज्ञापिता चेयं परिभाषा भाष्यकारेण। अतो यदुक्तं यस्मात् प्रत्ययविधिसूत्रे (१।४।१३) भागवृत्तिकृता समासान्तो विधिरनित्य इति नैषा परिभाषा भाष्ये ज्ञापकाभावादिति तदसमीक्षिताभिधानम् ॥८२॥

संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः ।८३।

संज्ञापूर्वकः संज्ञाहेतुको गुणवृद्ध्यादिरनित्यो भवति। तेन ज्योतिषमित्यत्र अधिकृत्य कृते ग्रन्थ इति (४।३।८७) अणि वृद्धिर्न भवति। पञ्चबाणः क्षिणोतीत्यत्र गुणो न भवति। अयं चार्थ ओर्गुण इत्यत्र (६।४।१४६) गुणग्रहणेन ज्ञापितः। ओरोदिति वक्तव्ये गुणग्रहणं संज्ञापूर्वकत्वेनानित्यत्वमस्य यथा स्यादित्येवमर्थम्। तेन धाम स्वायंभुवं ययुरिति (कुमार २।१) ओर्गुणाभावादुवङ् सिध्यति ॥८३॥

अनित्यमागमशासनम् ।८४।

आगमविधायकं शासनं शास्त्रमनित्यम्। तेन अपि शाकं पचानस्येत्याने मुगिति (७।२।८२) मुक् न भवति। सागरं तर्त्तुमिच्छतीति च इट् न भवति।

ज्ञापितश्चायमर्थः स्तोश्चुना श्चुरित्यत्र (८।४।४०) नुममकृत्वा स्तोरिति निर्देशेन । अन्यथा हि तत्र स् च तुश्चेति समाहारद्वन्द्वे ङसि नुमि स्तुन इति निर्देशः स्यात् ॥८४॥

अङ्गाधिकारे तस्य तदुत्तरपदस्य च ।८५।

कार्यं भवतीति शेषः । तेन अस्थिदधीति (७।१।७५) अनङ् प्रियास्थ्ना प्रियसक्थ्ना इत्येवमादावपि सिध्यति । ग्रहणवतेति तदन्तविधिनिषेधो न भवति । ज्ञापकं चात्र युजेरसमासे (७।१।७१) इत्यत्र असमासग्रहणम् । तद्धि अश्वयुगित्यत्र नुम् मा भूदित्येवमर्थम् । यदि चाङ्गाधिकारे तस्य तदुत्तरपदस्य ग्रहणं नाभविष्यत्तदा युजेर्नुमोऽश्वयुगित्यत्र कः प्रसङ्गो यन्निषेधार्थमसमासग्रहणं स्यात् ॥८५॥

पर्जन्यवदिह लक्षणप्रवृत्तिः ।८६।

इह शास्त्रे पर्जन्यवत् मेघवल्लक्षणं प्रवर्तते । तदुक्तं भाष्ये (६।१।१२७) कृतकारि खल्विदं शास्त्रं मेघवत् नाकृतकारि दहनवत् । यदि ह्यकृतकारि स्यात् दीर्घस्य दीर्घो न भवति दहनोपि दग्धं न दहति । यदा तु कृतकारि तदा कृतमपि कारयति । यथा खट्वाढकादौ दीर्घः सिध्यति । मेघो हि जले स्थले च प्रवर्षति । ज्ञापकमत्र प्रवाहणस्य ढ (७।३।२८) इत्यनेन प्रवाहणस्यापत्यं प्रावाहणेय इति शुभ्रादित्वाड्ढकि उभयपदवृद्धिविधानम् । तत्र च पूर्वपदस्य प्रशब्दस्य विभाषोत्तरपदस्य तु वाहनशब्दस्यापि नित्यं वृद्धिः । न च प्रवाहणेयीभार्य इनि वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्येति (६।३।३९) पुंवद्भावप्रतिषेधार्थमिदं वृद्धिविधानं स्यात् । जातेश्च (६।३।४१) इत्यनेनैव प्रतिषेधस्य सिद्धत्वात् । गोत्रं च चरणैः सहेति (भाष्ये ४।१।६३) जातित्वमत्र । तस्माद् ज्ञापकमेव वृद्धिविधानमिति ॥८६॥

चानुकृष्टमुत्तरत्र नाभिसंबध्यते ।८७।

तेन वदः सुपि क्यप् चेति (३।१।१०६) अत्र चकारेणानुकृष्टस्य यतो भुवो भावे (३।१।१०७) इत्यत्रानुवृत्तिर्न भवति ब्रह्मभूयमिति । स्वरितत्वात् प्रतिज्ञानलब्धमेवैतत् वचनरूपेण पठ्यते । ज्ञापकं चात्र अव्ययेऽयथाभिप्रेताख्याने कृञः क्त्वाणमुलाविति (३।४।५९) णमुलधिकारे णमुल्वचनम् । तद्धि उत्तरार्थम् । यदि चानुकृष्टमपि उत्तरत्र अनुवर्त्तते तदा लाघवार्थं क्त्वा चेत्येवावक्ष्यत् । अनित्या चेयं परिभाषा । अनित्यत्वमस्या नुम्विभक्तिषु चेति (८।४।११) चानु-

कृष्टमपि विकल्पं निवर्त्तयितुम् एकाजुत्तरपदे णः इति (८।४।१२) पुनर्णग्रहणादवसीयते ।।८७।।

अर्थाद्विभक्तिविपरिणामः ।८८।

लोकत एव सिद्धोयमर्थः पठ्यते । तथाहि उच्चानि गृहाणि अस्य देवदत्तस्य । आमन्त्रयस्वेत्युक्ते षष्ठीं द्वितीयया विपरिणम्यैनं देवदत्तमिति सम्बन्धः क्रियते । एवं शास्त्रेपि । आङो नाऽस्त्रियामित्यत्र (७।३।१२०) घेरिति षष्ठ्यन्तमनुवर्तमानमर्थं पर्यालोच्य पञ्चम्या विपरिणम्यते । तेनायमर्थो भवति । घेरुत्तरपदस्याङः शब्दस्य नाभाव इति । एवमतो येय इत्यत्र (७।२।८०) पञ्चम्यन्तस्यात इत्यस्य प्रकृतस्याने मुगित्यत्र (७।२।८२) षष्ठ्यन्ततया विपरिणामः । आने परतोऽकारस्य मुगिति । तेन पचमानादि सिध्यति ।।८८।।

उदित् सवर्णं गृह्णाति न सवर्णमात्रम् ।८९।

उदिद्वर्णोऽणुदित्सवर्णस्येति (१।१।६९)स्थानप्रयत्नाभ्यां विशिष्टमेव सवर्णं गृह्णाति न सवर्णमात्रम् । तेन चोः कुरिति (८।२।३०) कुग्रहणे हकारग्रहणं न भवति । ज्ञापकं चात्र न विभक्तौ तुस्मा इत्यत्र (१।३।४) तुग्रहणं कृत्वापि पृथक् सकारकरणमिति ।।८९।।

सर्वविधिभ्य इड्विधिर्बलीयान् ।९०।

अनया श्वयित्वेत्यत्र सम्प्रसारणात् पूर्वमिडेव भवति । ततो न क्त्वा सेडिति (१।२।१८) कित्त्वप्रतिषेधात् सम्प्रसारणाभावः सिध्यति । ज्ञापकं चात्र यदयं सनि ग्रहगुहोश्च (७।२।१२) इत्युगनुकर्षणार्थं चकारं करोति । अन्यथा हि रुरूषतीत्यादौ इको झलिति (१।२।९) सनः कित्त्वे श्र्युकः कितीत्येव (७।२।११) प्रतिषेधः सिद्ध इति किमुकोऽनुकर्षणेन । पश्यति त्वाचार्यः इड्विधिर्बलवानिति तस्मिन् पूर्वं कृते झलादित्वाभावात् कित्त्वं नास्तीति । ततश्चकारेणोगनुकर्षणं करोति ।।९०।।

सर्वविधिभ्यो लोपविधिर्बलवान् ।९१।

अनया परिभाषया तानि सन्तीति अस्तेर्यणादेशात् पूर्वं लोपः सिद्धो भवति । ज्ञापकं चास्याः सत्त्वे प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणमिति सूत्रम् (१।१।६२)। यदि हीयं नाभविष्यत्तदा प्रागेव प्रत्ययकार्यं कृत्वा पश्चात् प्रत्ययलोपादिष्टसिद्धौ सूत्रमिदमनर्थकं स्यादिति । भाष्ये त्वियं परिभाषा नोपगता प्रयोजनाभावात् । यथोक्तोदाहरणस्य प्रकारान्तरेण साधितत्वात् वार्णादाङ्गं बलीय इति ।।९१।।

प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणम् ।९२।

इयमपि नोपगतैव अर्थवद्ग्रहणपरिभाषयैव तदर्थस्यावगतत्वात् । तथा चापृक्त एकाल्प्रत्यय (१।२।४१) इत्यत्र प्रत्ययग्रहणं कृतम् । न्यासकारेण तु विज इडिति (१।२।२) सूत्रे यदियमुपन्यस्ता तथानुन्यासकारेणापि वल इति सूत्रे (६।३।११८) प्रत्ययस्यैव केवलस्य ग्रहणं कृतं तद्व्याख्यानाद् वचनमेव लघ्विति सौकर्य्यार्थम् ॥६२॥

नानर्थकेऽलोन्त्यविधिः ।६३।

इयमपि भाष्ये नोपगता । एतत्प्रयोजनानां प्रकारान्तरेण सिद्धत्वात् । तथा ह्यस्याः प्रयोजनमव्यक्तानुकरणस्यात इताविति (६।१।६८) अच्छब्दस्य पररूपे तथा हलि लोप (७।२।११३) इद्रूपस्य लोपे ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च (६।४।११६) इत्यभ्यासलोपे, अत्र लोपोऽभ्यासस्येति (७।४।५८) इत्यभ्यासलोपे च अलोन्त्यविधानम् मा भूदिति। अत्र च यथाक्रमं नाम्रे डितस्यान्त्यस्य तु वेति (६।१।६६)ज्ञापकात् अनादेशे कृते अन्त्य[नकार]लोपात् द्विशकारनिर्देशेनाभ्यास-लोपस्य सिद्धत्वादत्रग्रहणसामर्थ्याच्च सर्वादेशविज्ञानं भविष्यतीति किमनया । अत एव च तस्य लोप इति सूत्रे (१।३।६) तस्य-ग्रहणं सूत्रकारेण सर्वलोपार्थं कृतमिति । येपि चैतामुपगच्छन्ति तेप्यनभ्यासविकारेष्विति शेषमस्याः पठन्ति। तेनाजीगणदित्यत्र ई च गण (७।४।६७) इत्यलोऽन्त्यस्येति ईकारः सिध्यति ॥६३॥

निमित्तिकार्यं न तन्निमित्तस्य ।६४।

निमित्तित्वेन कार्यं निमित्तिकार्यं तन्निमित्तस्य निमित्तत्वेनोपात्तस्य न भवति । यथा अचो रहाभ्यां द्वे इति (८।४।४६) अनचि चेति (८।४।४७) यरो द्विर्वचनं यरन्तर्भावे सति रहोर्न भवति । रहाभ्यामिति निमित्तत्वेनोपा-दानात् । ज्ञापकं चात्र ग्रामह्रदोत्तरपदात् (४।२।१४२) स्पर्द्धायामाङ इति (१। ३।३१) यथाक्रममचो रहाभ्यां द्वे इति अनचि चेति द्विर्वचनाकरणमिति । श्रुता-नुमितपरिभाषाया एवायं प्रपञ्चः ॥६४॥

न हि कार्यो निमित्तत्वेनाश्रीयते ।६५।

कार्यभाक् यत्तत् कार्यं प्रति निमित्तं न भवति इत्यर्थः । तेन शयिता शायक इत्यत्र शीङो ङित्त्वे सति क्ङिति चेति (१।१।५) गुणवृद्धिप्रतिषेधो न भवति । अरिरिषतीत्यत्र च द्विर्वचनेऽचीति (१।१।५६) स्थानिवद्भावो न भवति । यदि हि स्यात् इषो द्विरुक्तौ अरीषतीति स्यात् । ज्ञापकं चात्र दीधीवेवीटामिति (१।१।६) ङितोरपि दीधीङ्-वेवीङोर्गुणप्रतिषेधवचनम् । यदा

च क्ङिति चेति अनिग्लक्षणाया अपि वृद्धेर्निषेध इति पक्षस्तदेदं ज्ञापकम्। अन्यथा तु दीधीवेवीग्रहणमिग्लक्षणवृद्धिप्रतिषेधार्थमेव स्यात् न ज्ञापकम्। आदीध्यकः आवेव्यकः। तत्राधिकरणे शेतेरिति (३।२।१५) शीङः श्तिपि कृते गुणनिर्देशो ज्ञापकः कार्यः। प्रायिकं चैतत् नहि कार्यी निमित्तत्वेन आश्रीयत इति। अन्यथा हि द्विर्वचनेऽचीत्यत्र (१।१।५९) अचीति किमित्युक्त्वा जेघ्रीयते देध्मीयते इति यत् प्रत्युदाहृतं तद् विरुध्यते अङ्गद्वयवैकल्यात्। यथा ह्यत्र यङ-जादिर्न भवति तथा द्विर्वचननिमित्तमपि न भवति। यङन्तस्य द्विर्वचनकार्या-भ्युपगमात् कार्यिणश्च निमित्तत्वाभावात्। किञ्च ओः पुयण्ज्यपर इति (७।४।८०) सूत्रे पूङ् पवने पिपविषत इत्यत्र सनि स्मिपूङिति (७।२।७४) इटि गुणावादेशयोर्द्विर्वचनेऽचीति (१।१।५९) स्थानिवत्त्वमुक्तं न्यासकृता कथं घटते द्विर्वचनविधौ सनः कार्यित्वात्। तथा हि प्रायिकत्वादेवास्य वचनस्य शाधी-त्यत्र शा हाविति (६।४।३५) शादेशस्य धिभावं प्रति समानाश्रये हाविति धित्व-मुक्तम्। यदि हि धिभावस्य स्थानी हिशब्दो निमित्तं न भवेत् समाननिमित्ता-भावादभिमतं न स्यादिति ॥९५॥

इतरेतराश्रयाण्यपि हि कार्याणि प्रकल्पन्ते ।९६।

इतरेतराश्रयाणि हि कार्याणि विरोधात् न प्रवर्तन्ते इति न्यायः। तदुक्त-**मितरेतराश्रयत्वादप्रसिद्धिरिति**। तदपवादोऽयमारभ्यते। अपिशब्दः क्वचिदर्थे। अयं चात्र भावः। यत्र विरोधो नास्ति तत्र क्वचिदितरेतराश्रयाण्यपि प्रवर्त्तन्ते इत्यर्थः। यथा लोके वनसिंहयोः परस्परापेक्षापि रक्षायै प्रकल्पते तथा शास्त्रे ऐतिकायनः औपगव इति वृद्धिसंज्ञाभावितस्यैकारौकारस्य वृद्धिसंज्ञाप्रक्लृप्तिः। अन्यथा हि शाला-रै-नौ-प्रभृतिषु सावकाशा वृद्धिसंज्ञा अत इतरेतराश्रया न स्यात्। ज्ञापकं चात्र इग्यणः संप्रसारणमिति (१।१।४५)। अत्र हि संप्रसार-णेन यणः स्थाने इको भाव्यन्ते यणः स्थानिनाञ्च इकां सम्प्रसारणसंज्ञेति इतरेतराश्रयत्वमिति। कथमेतदन्यथा प्रकल्पेत यदि हीतरेतराश्रयमपि क्वचिन्न स्यादिति ॥९६॥

नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थः ।९७।

भिन्नार्थत्वादन्यदपि शब्दरूपं नञा इवेन च यदा युक्तं भवति तदा सदृ-शाधिकरणे सदृशे पदार्थे प्रयुज्यते। तेनाञ्चेश्छन्दस्यसर्वनामस्थानमिति (६।१।१७०) सर्वनामस्थानसदृशमसर्वनामस्थानं विभक्तिर्गृह्यते। तथा ह्यर्थ इति। तथा हि तादृश एवार्थः प्रतीयत इत्यर्थः। अनेन चास्य वाक्यार्थस्य प्रतीतिसिद्धत्वं दर्शयति। **प्रतीतिश्च मानसं प्रत्यक्षं प्रमाणम्**। तद्यथा ब्राह्मण-

शब्दः क्षत्रियाद्भिन्नार्थोऽपि यदा नञा इवेन वा युज्यते, तदा सादृश्यात् क्षत्रियार्थमाह अब्राह्मणोयं ब्राह्मण इवायमिति। इह नञा युक्तं सदृशबोधकमिति वचनेन पर्युदासो नञर्थ आख्यातः। प्रायिकत्वं चास्याः अकर्तरि च कारक इति (३।३।१९) निर्देशेन ज्ञापितम्। नित्ये ह्येतस्मिन् नञ्युक्तकर्तृसादृश्यादेव कारकप्रतीतिः स्यात्। प्रायिकत्वेन चास्य प्रसज्यप्रतिषेधो नञर्थोऽस्तीति अपुनरुक्तमपुनर्गेयमित्यादीनां सिद्धिः। अनित्यत्वमस्याः ओषधेश्च विभक्तावप्रथमायाम् (६।३।१३२) इत्यत्र विभक्तिग्रहणाद् विज्ञायते। यदि हि सा नित्या स्यात् प्रथमायाः प्रतिषेधादन्यत्र विभक्तावेव भविष्यतीति विभक्तिग्रहणं न कुर्यात्। कृतं च तज्ज्ञापयति अनित्यैषा परिभाषेति ॥९७॥

प्रतिपदविधानाद् योगविभागो गरीयान् ।९८। (क)

प्रतिपदविधानात् शब्दमुच्चार्य विधानात् योगविभागो गरीयान्। अतो योगविभागे लाघवेनैव सिद्धे किमर्थं ग्रन्थगौरवकारि प्रतिपदविधानमिति न चोदनीयमित्यर्थः। गरीयस्त्वञ्च योगविभागस्य यौक्तमेव। तथा ह्येकयोगे ग्रन्थगौरवेप्येकैव वाक्यार्थप्रतीतिरुपादीयते। योगविभागे तु प्रतियोगं भिन्नबुद्ध्युदयात् व्यक्तं प्रतिपत्तिगरीयस्त्वम्। एतेन जभोऽचि रधेः नेट्यलिटीति (७।१।६१-२) सूत्रत्रयेण सिद्धौ किमर्थं द्विः रधिग्रहणमिति न वाच्यम् ॥९८॥

अबाधकान्यपि निपातनानि भवन्ति ।९९।

नेयं परिभाषा नापि भाष्यवचनम्। बाधकान्येव निपातनानीति भाष्ये व्यवस्थापनात्। जयादित्येन त्वियं लक्ष्यस्थित्यनुरोधात् दर्शिता अबाधकान्यपि निपातनानीति। तेन पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेष्विति (४।३।१०५) निपातनस्याबाधकत्वात् सायं-चिरं-प्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्य इति (४।३।२३) पुराशब्दात् ट्युट्युलोस्तुडागमो भवति। तेन **दधतः पुरातनमुनेर्मुनितामिति** भारवेः (६।१९) **पुरातनीर्नदीरिति** माघस्य (१२।६०) प्रयोग उपपन्नो भवति। ज्ञापकं चात्र वृत्तिकारदर्शनग्रहाविष्टा दर्शयन्ति त्रयाणामित्यस्य सिद्धये त्रेस्त्रय इति सूत्रम् (७।१।५३)। यदि बाधकान्येव निपातनानि भवन्ति तदा त्रीणामिति प्राप्ते तद्बाधकरूपेण निजां त्रयाणां गुणः श्लावित्यत्र (७।४।७५) त्रयाणामिति निपातनेनैव सिद्धत्वात् तत् सूत्रं नारभेत। यदा त्वबाधकान्यपि निपातनानि भवन्ति तदा त्रीणामिति प्रसक्तस्याप्रयोगाय त्रेस्त्रय इति सूत्रमर्थवद् भवति ॥९९॥

योगविभागादिष्टसिद्धिः ।१००।

योगविभागादिष्टमेव सिध्यति । न चातिव्याप्तिः शङ्कनीयेति भावः । तेन इद्गोण्या इति (१।२।५०) अत्रेदिति योगविभागेन पञ्चसूचिः दशसूचिरित्येव सिध्यति । युक्तञ्चैतत् यस्माद् योगविभागो गरीयान् प्रयत्नः, लघीयसा चोपादानेन सिद्धौ तत् प्रयत्नस्याश्रयणसामर्थ्यात् अवश्यमिष्टोपायतास्य कल्पनीयेति ॥१००॥

अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी ।१०१।

युक्तिसिद्धञ्चैतत् समुदायस्य सर्वानुग्राहित्वेन प्राधान्यात् । तेनावयवाश्रयात् समुदायाश्रयमेव कार्यं प्रवर्तते । तद्यथा दीधीवेवीटामित्यत्र (१।१।६) दीङ् क्षये धीङ् आधारे वेञ् तन्तुसन्ताने वी गत्यादौ इत्येतेषां ग्रहणं न भवति ॥१०१॥

श्रुतानुमितयोः श्रौतः सम्बन्धो गरीयान् ।१०२।

न्यायसिद्ध एवायमर्थः । तथाहि लोके ब्राह्मणा भोज्यन्ताम् माठरकौण्डिन्यौ परिवेविष्टामिति माठरकौण्डिन्ययोः साक्षात् श्रुतेन परिवेषणेन ब्राह्मणत्वादनुमितं भोजनं बाध्यते । एवं शास्त्रेपि अचो रहाभ्यां द्वे इत्यत्र (८।४।४६) रहाभ्यामिति साक्षात् श्रुतेन निमित्तभावेन यरन्तर्भावादनुमितं कार्यित्वं रहो र्बाध्यते । तेन ग्रामह्लदो मद्रह्लद इति रेफस्य द्विर्वचनं न भवति ॥१०२॥

सम्प्रसारणं सम्प्रसारणाश्रयञ्च कार्यं बलीयः ।१०३।

तेन शुशावयिषति अशूशवदिति विभाषा श्वेरिति (६।१।३०) णौ च संश्चङोरिति (६।१।३१) सम्प्रसारणपूर्वरूपत्वाभ्यामन्तरङ्गमपि वृद्ध्यादिकं बाध्यते । ज्ञापकं चात्र सहिवहोरोदवर्णस्येति (६।३।११२) अवर्णग्रहणं न्यासकृतोक्तम् । सम्प्रसारणपूर्वरूपत्वे कृते ऊढ इत्युकारस्य मा भूदित्येवमर्थम् । एतच्चाप्रयोजनं संप्रसारणात् प्रागेव परत्वात् न मु ने (८।२।३) इति योगविभागेन सिद्धेषु ढत्वधत्वष्टुत्वढलोपेषु ततः सम्प्रसारणपूर्वरूपत्वाभ्यां परत्वादोत्वे कृते संप्रसारणं पूर्वरूपत्वञ्च विधास्याम इति न किञ्चिदनिष्टं नाम । तदेतदवर्णग्रहणं संप्रसारण-तदाश्रयपूर्वरूपत्वयोर्बलीयस्त्वस्य ज्ञापकमिति । **क्वचिदिति सशेषा चेयं परिभाषा** । तेन ब्रह्म जिनातीति ब्रह्मज्य इति आतोऽनुपसर्गे कः (३।२।३) इति, आह्वः प्रह्व इत्यत्रातश्चोपसर्गे (३।१।१३६) इति कप्रत्यये संप्रसारणं पूर्वरूपत्वं च बाधित्वा आकारलोपः । तस्यासिद्धत्वादियङुवङौ न भवतः । अन्यथा ब्रह्मजियः आहुवः प्रहुवः इति स्यादित्येवमर्थ इत्याहुः । भाष्यकारेण त्वियं परिभाषा लिट्यभ्यासस्योभयेषामित्यत्र (६।१।१७) पठिता ।

तथा च तत्रोक्तम् 'इहाभ्याससंप्रसारणस्यावकाशः इयाज उवाच । हलादिशेषस्यावकाशः चिच्छिदतुर्बिभिदतुरिति । वव्रश्चेत्यत्र परत्वात् हलादिः शेषः प्राप्नोति तत्र कृते वकारस्य संप्रसारणप्रसङ्गः । तस्मात्तन्निवृत्त्यर्थं हलादिशेषादभ्याससंप्रसारणं पूर्वविप्रतिषेधेनेति वक्तव्यम् । न वा सम्प्रसारणवलीयस्त्वात् अन्यत्रापि । सम्प्रसारणं सम्प्रसारणाश्रयं च कार्यं बलीयो भवतीति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । रमाल्लोपेयङुवङ्यणः । भृष्टं भृष्टवान् रमः सम्प्रसारणं वलीयस्त्वात् । आल्लोपः-जुहुवतुः जुहुवुः आल्लोपात् संप्रसारणपूर्वरूपत्वे वलीयस्त्वात् । उवङ्—शुशुवतुः । उवङः संप्रसारणं बलीयस्त्वाद् । तत्र कृते यणादेशः प्राप्नोति तस्माच्च पूर्वरूपत्वं संप्रसारणस्य बलीयस्त्वादिति । यद्यपि पुनर्नैतानि संप्रति प्रयोजनानीत्यादिना ग्रन्थेन भाष्ये एव प्रत्याख्यायन्ते तथापि प्रत्याख्यानात् व्याख्यानगौरवद्वारेण परिभाषावचनमेतल्लघीय इति ॥१०३॥

अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः कृतमपि शास्त्रं निवर्त्तयन्ति ।१०४।

विशेषेण ऊहो निश्चयो व्यूहः विशेषेणाकृतनिश्चयाः पाणिनीयाः प्रवर्त्तितमपि लक्षणं व्यावर्त्तयन्तीत्यर्थः । इयं परिभाषा भाष्ये द्यौकामिः सौत्थितिः, वैक्षमाणिरित्यादौ वृद्धियणादेशयोर्युगपत् प्राप्तिं दर्शयितुमुपन्यस्ता । अनयैव च पपुषः पश्येत्यपि सिध्यति । तथाहि यद्यपि पपिवस्शव्दात् शस् विहितः तथापि अकृतव्यूहा इति वचनात् पपा वस् शस् इति स्थिते सम्प्रसारणबलीयस्त्वात् प्राक् संप्रसारणं ततो वलादित्वाभावादिण् न भवति । अल्लोपस्तु भवतीति ! लिङ्गं चास्याः गोरतद्धितलुकीति (५।४।९२) अतद्धितग्रहणम् । तद्धि सुब्लुकि प्रतिषेधो मा भूदित्येवमर्थं क्रियते राजगवीयतीति । अत्र च पूर्वमेव निष्पन्नष्टच् उत्तरकालं क्यचि कृते सुब्लुकि यदा प्रवृत्तोपि टच् निवर्त्तते तदैतदर्थवद्भवतीति । **नहि प्रवृत्तं वचनशतेनापि निवर्त्तत इति न्यायस्यायमपवादः** लक्ष्यस्थित्या क्वचिदेवाश्रीयते । अन्यथा ह्यानुपूर्व्या सिद्धत्वमितिवचनमिदमनर्थकं स्यादित्याहुः ॥१०४॥

यथोद्दिष्टं संज्ञापरिभाषम् ।१०५।

कार्यकालं संज्ञापरिभाषम् ।१०६।

संज्ञा च परिभाषा च यथोद्दिष्टं यथोद्देशस्थ एव व्याप्रियते । संज्ञा च परिभाषा च समाहारद्वन्द्वः, तत् कार्यकाले व्याप्रियते कार्यदेशस्थं व्याप्रियते इत्यर्थः। व्युत्पन्नाव्युत्पन्नप्रतिपत्तृभेदाच्चेमौ कार्यकालीयोद्देशपक्षौ । यथेष्टं च भाष्यकारेणानयोः परिभाषयोस्तत्र तत्राश्रयणादेव प्रामाण्यमिति । तथा हि यथो-

द्देशपक्षमाश्रित्य जीवताद् भवानित्यत्र परत्वात् ङिच्च (१।१।५३) इत्यस्मादनेकाल् शित् सर्वस्येति (१।१।५५) सर्वादेशः तातङुक्तः । तथा कार्यकालपक्षे संयोगान्तस्य लोपः (८।२।२३) झलो झलि(८।२।२६) ह्रस्वादङ्गादिति (८।२।२७) षष्ठीसप्तमीपञ्चमीनिर्द्देशानां षष्ठी स्थानेयोगा (१।१।४९) तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य (१।१।६६) तस्मादित्युत्तरस्येति (१।१।६७) परिभाषासु कर्त्तव्यासु असिद्धाभावो दर्शितः ॥१०६॥

अनन्त्यविकारोऽन्त्यसदेशस्य ।१०७।

अनन्त्यस्य ये विकारास्ते अन्त्यसमानदेशस्यान्त्यनिकटवर्तिनो भवन्ति । तद्यथा विद्धमिति संप्रसारणं यकारस्य भवति न वकारस्य । यशांसीति सान्तमहत इति (६।४।१०) दीर्घः यकारशब्दाकारस्य न भवति । तक्ष्णा तक्ष्णि इत्यत्र अल्लोपोऽन (६।४।१३४) इत्यकारलोपः तकाराकारस्य न भवति । इहात्यमार्ट् मिमार्जिषतीति मृजेर्वृद्धिः (७।२।११४) अडागमाभ्यासेकारयोर्न भवतीति । विदुष इति वसोः सम्प्रसारणमिति (६।४।१३१) विदेर्वकारस्य न भवतीति । इयञ्च परिभाषा ष्यङः सम्प्रसारणमित्यत्र (६।१।१३) भाष्यकारेण पठिता । तत्रैव धात्वादेः षः सः (६।१।६४) णो नः (६।१।६५) इति इहैव स्यात् सोता नेता, सिञ्चति नमतीत्यादौ च न स्यादित्यतिप्रसङ्गमुद्भाव्य पुनः प्रत्याख्याता । उक्तप्रयोजनानि च प्रकारान्तरेण साधितानि । यदुक्तं विद्धमिति वकारस्य न भवति न संप्रसारणे संप्रसारणमिति (६।१।३७) वचनात् । यशांसीति य शब्दाकारस्य दीर्घो न भवति नोपधायाः(६।४।७) इत्यनुवृत्तेरित्यादि । किन्तु प्रत्याख्यानात् परं वचनमेवैतत् साधीय इति । अतिप्रसङ्गश्च लक्ष्यानुरोधादगत्या खलु परिभाषाश्रयणमिति वचनान्न भवति । दृश्यते चानया व्यवहारः । तथा हि—

अदसोऽद्रेः पृथङ्मुत्वं केचिदिच्छन्ति लत्ववत् ।
केचिदन्त्यसदेशस्य केचिदिच्छन्ति नोभयोः ॥

नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुड् भवति पूर्वविप्रतिषेधेन ।१०८।

तेन मधूनामिति नुटि कृते अजादित्वाभावात् इकोऽचि विभक्ताविति (७।१।७३) नुम् न भवति । चतसृणामिति अचि र ऋत इति (७।२।१००) रत्वं न भवति । क्रोष्टूनामिति विभाषा तृतीयादिष्वचीति (७।१।९७) तृज्वन्न भवति । पूर्वविप्रतिषेधश्च नामायं विप्रतिषेधे परमित्यत्र (१।४।२) परशब्दस्य इष्टवाचित्वात् लब्धः सूत्रार्थो वचनरूपेण पठ्यते ॥१०८॥

गणकार्यमनित्यम् ।१०९।

अयमर्थः क्षमूष् सहन इत्यस्य भिदादित्वादेवाङि सिद्धे षित्करणेन ज्ञापितः। तेन अदादित्वाच्छब्लुको भावात् "न विश्वसेत् पूर्वविरोधितस्य", "मण्डपे शयामि तत्परम्" इत्यादि सिध्यति । शयामीति परस्मैपदं तु अनुदात्तङित इति (१।३।१२) ङिल्लक्षणमात्मनेपदं व्यभिचरतीति अस्यार्थस्य सूचितत्वात् ॥१०९॥

पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने ।११०।

सर्वस्य द्वे इति सूत्रे (८।१।१) कात्यायनवचनमेतत् परिभाषारूपेण पठ्यते । द्विर्वचने कर्त्तव्ये पूर्वत्रासिद्धत्वं नास्ति । तेन द्रोढा द्रोढा द्रोग्धा द्रोग्धेति दुहेस्तृचि कृते ढत्वकुत्वयोः सर्वस्य द्वे इति द्विर्वचनं भवति । अन्यथा ढत्व-कुत्वयोः पूर्वत्रासिद्धत्वात् प्रथमं द्विर्वचनं ततो वा द्रुहेति (८।२।३३) घत्वविकल्पः । तत्रैतन्न लभ्यते । यदा प्रकृतेर्घत्वं तदाभ्यासस्यापीति नियमाभावात् ढत्वमपि कदाचित् स्यात् । ततश्च द्रोढा द्रोग्धेति अनिष्टमपि स्यादिति । इह यथा राजाराजेति पदमात्राश्रयो नलोपस्ततो वीप्साद्यपेक्षं बहिरङ्गं द्विर्वचनं पश्चाद् भविष्यति तथा द्रोढा द्रोढेत्यादौ विभाषिता ढत्वादयोऽन्तरङ्गाः प्रथमं भविष्यन्ति ततो द्विर्वचनमित्येवं सिद्धिर्न वाच्या । यस्मादन्तरङ्गा अपि पूर्वस्मिन् बहिरङ्गे असिद्धा भवन्त्येव । औजढदित्यत्रान्तरङ्गस्यापि ढत्वादेरसिद्धत्वात् ह्तशब्दो द्विरुच्यत इति असिद्धसूत्रे (८।२।१) न्यासः । यद्येवमौजढदित्यत्र द्विर्वचने कर्तव्ये कथमसिद्धं ढत्वादेः पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचन इति न्यायात् । उच्यते । अनित्यञ्चैतद्वचनम् उभौ साभ्यासस्येति (८।४।२१) सूत्रकरणात् । नित्ये ह्यस्मिन् अनितेरिति (८।४।१९) णत्वं कृत्वा कृतणत्वस्य द्विर्वचने सिद्धं प्राणिणिषतीति किमुभौ साभ्यासस्येत्यनेन ॥११०॥

विधिविधानविधिभाजां त्रयाणां सन्निधाने तदन्तविधिरिष्यते ।१११।

तेन एचोऽयवायाव इति (६।१।७८) एच इति विधानमस्ति । विधीयते अनेनेति कृत्वा अयादेशो विधिरप्यस्ति । विधीयतेऽसाविति कृत्वा विधिभाग् नास्तीति तदन्तविधेरभावात् एज्मात्रस्यैव स्थानित्वं भवति । एजन्तस्य स्थानित्वे तु चयनं चायक इत्यादावनेकाल्त्वात् सर्वादेशोऽयादयः स्युः । अयं च येनविधिसूत्रस्यैव (१।१।७२) सामर्थ्यलब्धोऽर्थः परिभाषारूपेण पठ्यते । तथा हि तत्र येनेति साधकतमं करणं निर्दिश्यते । न चाकर्तृक करणमस्तीति कृत्वा सामर्थ्यात् कर्त्ताप्यर्जितः । स पुनरन्तशब्देनावयववाचिना समुदायरूपः प्रकाशितः । स च त्रिभिः प्रकारैः सन्निहितो भवति । क्वचिन्निर्देशात् यथा ईदूदेद्

द्विवचनमिति (१।१।११) द्विवचनं कर्तृभूतं निर्दिष्टम्। तथा हि ईदादिभिः करणैः प्रगृह्यसंज्ञां विदधाति। क्वचित् प्रकरणात्। यथा एरजिति (३।३।५६)। तत्र धातोरित्यधिकारात् धातुः प्रकरणात् कर्त्ता सन्निहितः इकारेण करणेनाचं विदधाति। क्वचित् सामर्थ्यात्। यथा इको झलिति (१।२।६) तत्र धातोरेव सन् विधीयत इति सामर्थ्यात् धातुः कर्त्ता सन्निहित इका करणेन सनः कित्त्वं विदधाति। तदेवमीदूदेद् द्विवचनम् (१।१।११) इत्यादौ प्रगृह्यसंज्ञादेर्विधीयमानस्य विधेरीदूदेदादेश्च करणस्य विधानस्य द्विवचनादेः कर्त्तुश्च विधिभाजः संभवात् येन विधिस्तदन्तस्येति (१।१।७२) तदन्तविधिः प्रवर्त्तते। एचोयवायाव (६।१।७८) इत्यादौ तु न प्रवर्तते विधिभाजोऽसंभवात्। तस्मादेतत्सूत्रार्थोयं विधिविधानविधिभाजां त्रयाणां सन्निधाने तदन्तविधिरिति ॥१११॥

पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानिवत् ।११२।

अनेन पाक्तिर्याष्टिरित्यत्र पूर्वत्रासिद्धाधिकारीये कुत्वे षत्वे च कर्त्तव्ये णिलोपस्य स्थानिवत्त्वाभावाद् झलि परतः कुत्वं षत्वं च सिध्यति। एतच्च नाग्लोपिशास्वृदितामित्यत्र (७।४।२) भाष्ये ज्ञापितम्। तथा हि तत्र भाष्ये अममालदित्यादौ अजादेशस्य स्थानिवत्वादेव णौ चङ्परे ह्रस्वो न भविष्यति किमग्लोपिनामिति प्रतिषेधेन। तत्रोक्तं यत्र स्थानिवद्भावो नास्ति तदर्थं अत्यरराजदिति। न ह्यत्र टिलोपोऽजादेशः। किं तर्हि हलचोरादेशः। ततः पुनरुक्तं तर्हि अग्लोपिनां नेति प्रतिषेधोप्यत्र न प्राप्नोति। न ह्यत्रागेव लुप्यते किं तर्ह्यन्योपि। अथ योऽत्राग् लुप्यते तदाश्रयो निषेधः [स्यात्]—एवं तर्हि योऽत्राग् लुप्यते तदाश्रयः स्थानिवद्भावो न भविष्यतीत्युक्त्वा उपसंहृतम्। एवं तर्हि सिद्धे सत्यग्लोपिनां नेति यत् प्रतिषेधं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यः—इत आरभ्य उत्तरत्र स्थानिवद्भावो न भवतीति। तेन पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानिवदित्युपपन्नं भवतीति। अनित्या चेयं परिभाषा न पदान्तसूत्रे (१।१।५८) द्विर्वचनग्रहणात्। तेन वेतस्वानित्यत्र अकारलोपस्य स्थानिवत्त्वात् सकारान्तं पदं न भवतीति रुत्वाभावः। भाव्यर्थं वास्यर्थमिति यणादेशस्य स्थानिवत्वात् व्योरिति (६।१।६६) न लोपः। प्रहिणोति प्रमीणीत इति गुणेत्त्वयोः स्थानिवत्त्वात् हिनुमीनेति (८।४।१५) णत्वमिति ॥११२॥

निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः ।११३।

हेतोरपाये तत्कार्यमपि अपैति विनश्यतीत्यर्थः। निमित्तेन निर्वृत्तं नैमित्तिकम्। वुञ्छणादौ (४।२।८०) कुमुदादित्वाट्ठक्। अनेन राजागमनमाचष्टे

राजानमागमयतीति आख्यानात् कृदन्तात् णिचि कृल्लुगिति (३।१।२६ वा०) कृतो निवृत्तौ तन्निमित्ता षष्ठीसमासनिवृत्तिः। तथा विभक्तिनिमित्तं पदत्वं निवृत्तम्। ततश्च तन्निमित्तनलोपाभावात् प्रकृतिवच्च कारकमिति (३।१।२६ वा०) प्रकृतिवत् कारकातिदेशात् नकारान्तादेव राजन्शब्दात् द्वितीया भवति। ज्ञापकं चास्यार्थस्य उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य (८।४।६१) इत्यादौ षकारनिवृत्तौ तन्निमित्तठकारस्य थकारोच्चारणमिति निर्देशः। अपिशब्दात् क्वचित् कारणापाये कार्यं नापैति। यथा तदस्यास्तीति (५।२।९४) वर्त्तमानकालविवक्षायां कृतो मतुप् पुत्रवान् भविष्यतीति भविष्यत्कालविवक्षायां वर्त्तमाननिवृत्तावपि न निवर्त्तते। तदुच्यते। प्रवृत्तं वचनशतेनापि न निवर्त्तते इति। लोके च जपाकुसुमसन्निधौ स्फटिके रागस्तन्निवृत्तौ निवर्त्तत एव ॥११३॥

प्रकृतिवदनुकरणं भवति ।११४।

तेन कश्चिदाह द्विः पठति। तमन्योऽनुकरोति द्विः पठतीत्याह इति। अत्र प्रकृतिवद्भावात् पदयोस्तिङ्ङतिङ इति (८।१।२८)[पठतेः] निघातः सिध्यति। एकपदत्वे स न स्यात्। ज्ञापकं चात्रार्थे परिव्यवेभ्यः क्रियः (१।३।१८) इत्यादौ निर्देशे क्रीत्यादेरनुकरणशब्दस्य विभक्त्युत्पत्त्यर्थं प्रातिपदिकत्वाभ्युपगमेपि धातुत्वाश्रयमियङादेशकरणमिति। न चात्र प्रकृतिभावादधातुरिति (१।२।४५) प्रातिपदिकसंज्ञानिषेधः शङ्कनीयः। यतोऽधातुरिति न प्रसज्यप्रतिषेधः धातुर्न्न भवतीति किं तर्हि पर्युदासः धातोरन्यत् प्रातिपदिकमिति। क्रीप्रभृतयश्च शब्दा अनुकरणे न धातवः प्रकृतिवत्तया च धातवः इति धातुत्वाधातुत्वाभ्यां धातोरन्ये भवन्ति। तथा च क्षियो दीर्घादित्यत्र (८।२।४६) सूत्रे क्षिय इति पर्युदासाश्रयात् प्रातिपदिकसंज्ञा भविष्यतीति न्यासः (II 996)। विपराभ्यां जेः (१।३।१९) इत्यादौ प्रकृतिवद्भावादियङ्प्राप्तिः सौत्रत्वात् परिहरणीया ॥११४॥

क्वचिदपवादविषयेप्युत्सर्गोऽभिनिविशते ।११५।

तेन प्रदीयतां दाशरथाय मैथिलीति अत इञ् (४।१।९५) विषये प्राग्दीव्यतोऽण् (४।१।८३) सिध्यति। युक्तिसिद्धमेवैतत्। उत्सर्गलक्षणं हि सामान्यम्। सामान्य (स्य) सर्वविषये प्रवृत्तिरविरुद्धा इति। ज्ञापकं चात्र कटं कारको व्रजतीति द्वितीयार्थमकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोरिति (२।३।७०) षष्ठीनिषेधवचनम्। तद्धि भविष्यति अण् कर्मणि चेति (३।३।१२) अपवादविषये ण्वुलि सत्युपपद्यते नान्यथा। क्वचिद्ग्रहणेन च परिहृत्यापवादविषयमुत्सर्गोऽभिनिविशते इति व्यवस्था सूच्यते। तेन निन्यतुः निन्युरित्यादौ प्रागुपजातनि-

मित्तोपीयङ् कृते द्विर्वचने न भवितव्यमत्रापवादार्थत्वादनया(?) एरनेकाच इति (६।४।८२) यणिति प्रवर्त्तते ।।११५।।

गर्भवट्टाबादयो भवन्ति ।११६।

यथा गर्भो मध्येऽवतिष्ठते तथा टाबादयः स्त्रीप्रत्ययाः प्रातिपदिकस्वाद्यो-र्मध्ये भवन्तीत्यर्थः । मध्ये प्रथमं स्त्रीप्रत्ययास्ततः स्वादयः ततः तरबादयो वेति यावत् । तेन ङ्याब्ग्रहणप्रत्याख्यानप्रस्तावे ङ्याप्सूत्रे (४।१।१) यदुक्तं कालितरेत्यादौ प्रकर्षप्रत्ययेपि कृते गर्भवत् मध्य एव स्त्रीप्रत्ययो भविष्यतीति तदुपपन्नं भवति । ज्ञापकं चास्यार्थस्य न यासयोरिति (७।३।४५) इत्त्वप्रति-षेधवचनम् । यदि गर्भवट्टाप् न स्यात् तदा त्यदाद्यत्वादौ कृते सुपः परेण स्यात् यका सकेत्यत्र प्रत्ययस्थात् (७।३।४४) इतीत्त्वप्राप्तिरेव नास्ति सुपः परत्वादापः । तत् किं निषेधेन । तदेतन्निषेधवचनमस्यार्थस्य ज्ञापकमिति ।।११६।।

सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम् ।११७।

औचित्यादेवैतदुच्यते । सूत्रं हि लक्ष्यपराधीनं सूचकमात्रं वस्तु संज्ञावत् उपलक्षणमित्युच्यते । न चावश्यं लक्षणे लक्ष्यं प्रवर्तते । तस्य लक्ष्यपरत्वा-ल्लिङ्गलक्षणं वचनलक्षणञ्च सूत्रेष्वकिञ्चित्करं न प्रवर्त्तते । ततो येन केनचिल्लिङ्गेन येन केनचिद् वचनेन च निर्द्देशः कर्तव्यः न तस्य तन्त्रता अवसेया । यथा वन्धुनि वहुव्रीहाविति (६।१।१४) नपुंसकलिङ्गेन निर्द्देशो-ऽतन्त्रः । ग्रीवाभ्योऽण् चेति (४।३।५७) वहुवचननिर्द्देशोऽतन्त्रः । ज्ञापकमप्य-त्रार्थे अर्द्धं नपुंसकमिति (२।२।२) नपुंसकग्रहणम् । आ कडारादेका संज्ञेति (१।४।१) एकाग्रहणम् ।।११७।।

ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र ।११८।

इदमप्युचितमेव । ज्ञापकं हि नाम न वाचकं, किं तर्हि इङ्गितेन सूचकं क्वचिदेव इष्टसिद्धावाश्रीयते न सर्वत्रेति युज्यते ज्ञापकसिद्धं न सार्वत्रिकमिति । तेन ज्ञापकसाधितमात्मनेपदानित्यत्वादि न सर्वत्र प्रयोज्यम् । किन्तु विशिष्ट-प्रयोगदर्शनात् क्वचिदेव ।।११८।।

अगत्या खलु परिभाषाश्रीयते ।११९।

इदमपि यौक्तमेवोच्यते । परिभाषा हि न पाणिनीयानि वचनानि, किं तर्हि नानाचार्याणाम् । तत्र पाणिनीये शब्दानुशासने यत्रैव क्वचिदिष्टविषये मुख्य-लक्षणेनासिद्धिः तत्रैवैता गत्यन्तरमपश्यद्भिराश्रीयन्ते । न तु यत्रैतासां समा-

श्रयणे दोष एव प्रत्युपपद्यते तत्रैताः समाश्रीयन्ते । एतेन परिभाषासञ्जनेन नानिष्टमित्युक्तं भवति । तेन राज्ञः क च (४।२।१४०) राजकीयमित्यत्र एकदेशविकृतमनन्यवद् भवतीति परिभाषया अल्लोपोऽन (६।४।१३४) इति न प्रवर्त्तते ॥११९॥

भवति व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न संदेहादलक्षणम् ।१२०।

व्याख्यानादाचार्यपरम्परोपदेशात् सन्देहेऽपि विशेषोऽवगतो भवति यतस्तस्मान्नेह संदेहं प्राप्यालक्षणं लक्षणाप्रवृत्तिः । उपदेशात् सन्देहमपास्य लक्षणं प्रवर्तनीयमित्यर्थः । इयं च परिभाषा लणित्यत्र (प्रत्याहारे षष्ठे) भाष्यकारेण ज्ञापिता । यदुक्तम् । किमर्थं पुनरयं वर्णोच्छित्ताविव णकारः सन्देहहेतुरनुबद्धोपि पुनरनुबध्यते । यस्मादनेनाण् ग्रहणेष्विण् ग्रहणेषु च संदेहः किं पूर्वेण णकारेण परेण वेति । एवं तर्ह्येतज्ज्ञापयत्याचार्यः अस्त्येषा परिभाषा व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति । तेनाण् ग्रहणानि सर्वाणि पूर्वेण णकारेण अणुदित्सवर्णस्य (१।१।६९) इत्येकं परेण । इण् ग्रहणानि तु परेणैवेति निश्चीयते।

इति तावत् ज्ञापकसिद्धा वचनसिद्धा न्यायसिद्धाश्च काश्चन परिभाषा वचनानि च कानिचिद् यथाबोधमस्माभिर्विवृतानि । एवमनया दिशा अन्यान्यपि शब्दक्रियोपयोग-न्यायवाक्यानि लिङ्गोदाहरणाभ्यां समनुगन्तव्यानि ॥१२०॥

इति वैयाकरणगजपञ्चाननश्रीपुरुषोत्तमदेवविरचिता ललिताख्या परिभाषा (-वृत्तिः) समाप्ता ॥

संहिताप्रकरणं चतुर्थम् ।

वेदे खल्वपि वेदान्त इतिहासपुराणयोः ।
सर्वत्र नैत्यकः सन्धिः क्वचिदेव विभाषितः ॥१॥
कथाख्यायिकयोश्चैव काव्यनाटकयोस्तथा ।
बालनीत्युपदेशेषु समं सन्धिः समाश्रितः ॥२॥
न केवलं पदान्येव सन्धीयन्ते नियोगतः ।
वाक्येऽन्तर्निरपेक्षाणि वाक्यान्यपि विशारदैः ॥३॥
सन्धायैव यथा ब्रूयुः पदवाक्ये सुमेधसः ।
शिष्यास्तथाऽनुशिष्याः स्युर्वाचः सम्यग्गृहीतये ॥४॥

उच्चारण में वर्णों (स्वरों तथा स्वराधिरूढ व्यञ्जनों) के परसंनिकर्ष (अत्यन्त निकटता) को **संहिता** कहते हैं यथा 'कृष्णः' में क् ऋ ष् ण् अ विसर्जनीय में संहिता है। ये संहिता से उच्चारित हैं। इसी प्रकार **'रामेण', 'हरिषु'** में यथाक्रम र् आ म्, ए ण् अ में तथा ह् अ र् इ स् उ में संहिता है। ऐसे संनिकर्ष के होने पर जो ध्वनि में विकार उत्पन्न होता है उसे 'सन्धि' कहते हैं, जैसे प्रकृत उदाहरणों में 'न्' को 'ण्' हुआ है और अ+इ के स्थान में 'ए' हुआ है। अतः **संहितायाम्** (६।१।७२) यह अधिकार सूत्र है जिसका अर्थ है कि संहिता के होने पर अगले सूत्रों की प्रवृत्ति होगी। **संहितायाम्—यह विषय-सप्तमी है=संहितायां विषये=कार्यी तथा निमित्त की संहिता होने पर।** इसीलिये विराम (संहिता का अभाव) में सन्धि नहीं होती। विराम वक्ता के अधीन है। पद में विराम का संभव ही नहीं (एक पद में सगद्गद-वाक् ही रुकता है)। पदसमूहात्मक वाक्य में विराम का संभव है, अतः वाक्य में सन्धि ऐच्छिक मानी जाती है। वक्ता को विराम कहाँ अभिप्रेत हो सकता है, यह विवेचनीय है।

सन्धि कहाँ आवश्यक है (अपरिहार्य है) और कहाँ ऐच्छिक है (वक्ता की इच्छा पर निर्भर है) इस विषय में व्याकरणशास्त्रियों की एक कारिका प्रसिद्ध है—

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥

कारिका में संहिता शब्द सन्धिपरक है। एक अखण्डपद में सन्धि नित्य है, अर्थात् प्रातिपदिक अथवा धातु के साथ विभक्ति अथवा दूसरे प्रत्यय का योग होने पर सन्धि नित्य होती है, जैसे राम+औ=रामौ। भो+अ+ति =भवति। इण् (इ)+शतृ (अत्)=यत्।

धातु और उपसर्ग के योग में भी सन्धि नित्य होती है, जैसे उप+एति= उपैति। प्र+नमति=**प्रणमति**। उप एति अथवा प्रनमति नहीं कह सकते। यहाँ **उपसर्ग तथा तिङन्त दोनों असमस्त पद हैं**। लोक में सुबन्त का सुबन्त के साथ समास होता है, तिङन्त के साथ नहीं।

समास में भी सन्धि नित्य होती है। **समास पदविधि है,** पदों का समास होता है, पर इन पदों को विना सन्धि के नहीं उच्चारण कर सकते जैसे **रामार्जुनौ। इन्द्राग्नी। आद्यन्तौ। गवानयनम्। यथोपदिष्टम्।** यहाँ राम+ अर्जुनौ, इन्द्र+अग्नी, आदि+अन्तौ, गो+आनयनम्, यथा+उपदिष्टम् नहीं कह सकते। **सर्पिर्मधुनी। ऋग्यजुषम्। विपाट् छुतुद्र्यौ। तल्लाभः। तज्जयः। मनोरथः। संयोगः।** इन समासों का भी विना सन्धि के सर्पिष् मधुनी। ऋच् यजुषम्। विपाश् शतुद्र्यौ। तद्लाभः। तद्जयः। मनस् रथः। सम् योगः ऐसे नहीं उच्चारण कर सकते।

परन्तु वाक्य में एक पद की दूसरे पद के साथ सन्धि वक्ता के अधीन होती है, अर्थात् वक्ता की इच्छा पर निर्भर है कि वह वाक्य में कहाँ विराम करे और कहाँ न करे। **जहाँ विराम होगा अर्थात् संहिता नहीं होगी, वहीं सन्धि नहीं होगी।** पर वाक्य में दो-तीन स्थान ही हो सकते हैं जहाँ विराम होने से सन्धि न हो। वाक्य में जहाँ सन्धि होने से उच्चारण में क्लिष्टता आजाए, अथवा अस्पष्टता[1] आजाए (वर्ण-व्यक्ति-परिच्छेद न हो

---

१. आचार्य का व्यवहार भी इस में ज्ञापक है। झलां जश् झशि (८।४।५३) में झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से 'जश्' के श् को 'ड्' आदेश होना चाहिये था। वह इसलिये नहीं किया कि ऐसा करने से प्रत्याहार के ग्रहण में सन्देह हो जायगा, शिष्य को आचार्य के विवक्षित का विस्पष्ट बोध न हो सकेगा। अल्पाच्तरम् (२।२।३४) में 'चोः कुः' से प्राप्त कुत्व नहीं किया। यदि करते तो अच्प्रत्याहार का वोध न होता। इसी प्रकार अट्कुप्वाङ् नुम्व्यवायेपि (८।४।२) में 'नुम्' के 'म्' को शास्त्र-प्राप्त अनुस्वार नहीं किया। यदि करते तो अनुस्वारमात्र का बोध होता जो अनिष्ट है, नुम्स्थानिक अनुस्वार का वोध न हो सकता।

सके), वहाँ वक्ता को विराम इष्ट होता है। जहाँ कादम्बरी आदि में विशेषणों की दीर्घ शृङ्खला में समस्त अथवा असमस्तपद पढ़े हैं वहाँ भी एकप्राणयोग के असंभव होने से विराम अपरिहार्य हो जाता है। श्लोक चाहे एक वाक्य हो चाहे दो वाक्य, उसके प्रत्येक पाद पर विराम नहीं माना जाता, दूसरे और तीसरे पादों के बीच अवश्य विराम माना जाता है। वक्ता की ऐसी ही इच्छा होती है। **निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते। सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः,** इत्यादि में सन्धि का न करना कवि का असामर्थ्य है। ऋषियों की कृतियों में ऐसे स्थान पर अवश्य सन्धि होती है—**न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा** (कठ० उ० १।१।२७)। गद्यवाक्यों के अन्त्य आदि पदों के बीच में संसर्ग (सम्बन्ध) न होने पर भी सन्धि हो जाती है—**तिष्ठतु दध्यशान त्वं शोकन**। यहाँ 'दधि' (पूर्ववाक्य का अन्त्य पद) का उत्तर वाक्य के आदि पद 'अशान' के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं। 'दधि' 'तिष्ठतु' के साथ अन्वित है और 'अशान' 'त्वम्' के साथ, तो भी सन्धि हो गई। इसी प्रकार **तिष्ठतु कुमारी च्छत्रं हर देवदत्तात्**—यहाँ भी वाक्यभेद होने पर 'कुमारी' तथा 'छत्र' का परस्पर सम्बन्ध न होने पर भी कुमारी के दीर्घ 'ई' को तुक् हो गया।

वाक्यभेद होने पर भी निरुक्तलक्षण सन्धि केवल व्याकरणशास्त्र में ही प्रसिद्ध है, अन्यत्र साहित्य में दुर्लभ है कोई ऐसा न समझे, इस हेतु हम उपनिषदों से कुछ उदाहरण देते हैं—**उद्यंस्तमो भयमपहन्त्यपहन्ता ह वै भयस्य तमसो भवति य एवं वेद** (छा० उ० १।३।१)। **भगवन्तं वा अहं विविदिषाणीत्युषस्तिरस्मि चाक्रायणः** (छां० उ० १।११।१)। **अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेन किञ्चनानावृतम्** (बृह० उ० २।५।१८)। **सोहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति** (बृह० उ० ४।३।१५)। **आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः** (प्रश्न० उ० १।५)। **अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते** (कठ० उ० २।३।१४)।

सन्धि संस्कृत का भूषण भी है। यह भूषण आरोपित अथवा आहार्य नहीं। राधेय कर्ण के सुवर्ण कुण्डल की तरह सहज है। यही कारण है कि प्राचीन वैदिक तथा लौकिक साहित्य में सन्धि की प्रचुरता आश्चर्यजनक है। संहिताओं में, ब्राह्मणों में, रामायण, महाभारत में सर्वत्र संहित पद पढ़े हैं,[1] असंहित

---

१. यह एक भ्रान्ति है कि वेदसंहिताओं में आदि में मन्त्र विना सन्धि

नहीं। उपनिषदों की मधुर स्वाभाविक सरल रचना में, गुरुशिष्य संवादों में भी कोई एक पङ्क्ति सन्धिरहित नहीं मिलती। जनसाधारण के लिए लिखे गये अत्यन्त सुबोध-संस्कृतमय पुराणों में भी स्थान-स्थान पर सन्धियुक्त ही पदवाक्य दीखते हैं। बालोपयोगी हितोपदेशादि में भी सन्धियुक्त ही गद्य-पद्य सन्दर्भ मिलता है। ऐसा जानकर अध्यापक वर्ग को सन्धि का गौरव छात्रों के हृदयपटल पर अङ्कित करना चाहिये और सन्धि को वैकल्पिक कहकर इसके प्रति अनादर नहीं बढ़ाना चाहिये।

संस्कृत का यह स्वभाव है कि कुछ एक स्थलों को छोड़कर एक दूसरे के अनन्तर उच्चारण प्रसङ्ग में दो स्वर अपने-अपने स्वरूप में अवस्थित नहीं रह सकते। अर्थात् स्वरों का आनन्तर्य नहीं पाया जाता है। अतः एक स्वर के अनन्तर दूसरे स्वर की संभावना होते ही, उन दोनों के स्थान में या तो वैसा ही एक दीर्घ स्वर उच्चारित किया जाता है। या उन में से एक व्यञ्जन के रूप में परिणत हो जाता है, या उन दोनों के स्थान में पूर्व का अथवा पर का ही रूप रह जाता है। **स्वरों का आनन्तर्य संक्षेप, प्रवाह तथा सौन्दर्य का विघातक है।**

ऐसे ही **अघोष व्यञ्जन तथा घोषवान् व्यञ्जन एक-दूसरे के अनन्तर उच्चारण नहीं किये जाते।** यदि ऐसा संभावित हो तो पहला अघोष भी घोषवान् रूप में बदल जाता है, अथवा पहला घोषवान् वर्ण अगले अघोष वर्ण के प्रभाव से स्वयम् भी अघोष बन जाता है। इसे हम समीकरण अथवा सरलीकरण कह सकते हैं। बौद्ध (बुद्धिस्थ) तवर्ग के अनन्तर चवर्ग के उच्चारण की सम्भावना होते ही तवर्ग चवर्ग में विपरिणत हो जाता है और टवर्ग के उच्चारण की संभावना होते ही टवर्ग में। यह एकवर्गीकरण है अथवा समीकरण है इसी प्रकार पूर्व अननुनासिक वर्ण के अनन्तर अनुनासिक

के पद रूप में पढ़े थे, कालान्तर में संहितापाठ का जन्म हुआ। ऋक्प्रातिशाख्य पदप्रकृतिः संहिता (२।१।१) में पदप्रकृति को अन्यपदार्थ-प्रधान बहुव्रीहि मानकर (पदानि प्रकृतिरस्याः) ऐसा माना जाता है। वस्तुतः यह प्रातिशाख्य के रचयिता शौनक का स्वकृतान्त हो सकता है। सर्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं। प्रातिशाख्यों के लिये पद मूलभूत हैं, अतः उनका ऐसा अभ्युपगम निर्दोष है। पदानां प्रकृतिः पदप्रकृतिः ऐसा षष्ठीसमास ही युक्त है। पदपाठ का संहितापाठ आधार है।

वर्ण आ रहा है इस संभावना के होते ही उसे भी अनुनासिक रूप में उच्चारित किया जाता है। यह भी समीकरण है। अनन्तरभावी 'ल्' को देखकर पूर्व तवर्ग को जो लत्वापत्ति होती है वह भी समीकरणार्थक है। साथ ही वर्ण-परुषता को हटाकर ध्वनिसुकुमारता को लाती है। स्थान व प्रयत्न की एकता से उच्चारण में सौकर्य उत्पन्न होता है और ध्वनिसाम्य से माधुर्य उपजता है।

बस सारे सन्धि नियम इन दो-तीन मूलभूत तत्त्वों पर अवलम्बित हैं।

अच्सन्ध्यधिकारः प्रथमः।

१. **इको यणचि** (६।१।७७)। इक् के स्थान में यण् आदेश होता है संहिता विषय में। यहाँ 'इकः' स्थानषष्ठी है। 'अचि' औपश्लेषिक अधिकरण में सप्तमी है। नदी+उदकम्—यहाँ 'नदी' के ई के साथ 'उदक' का 'उ' (अच्) उपश्लिष्ट (=प्रत्यासन्न) है, पर यह इक् भी है, जैसे 'ई' इक् है। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि किस इक् को यण् हो, प्रकृत सूत्र इस विषय में कुछ नहीं कहता। अतः अनियमे नियमकारिणी परिभाषा पढ़ते हैं—**तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** (१।१।६६), अर्थात् सप्तमी का निर्देश (उच्चारण) करके जो कार्य विधान किया जाता है वह पूर्व को ही होता है (पर को नहीं)। इस पर भी शङ्का होती है कि सुधी+उपास्यः—यहाँ पूर्व में दो इक् हैं—ई तथा उ। क्या दोनों को यण् होगा? नहीं, सप्तमीनिर्दिष्ट से अव्यवहितपूर्व इक् (ई) को यण् होगा, व्यवहित पूर्व 'उ' को नहीं। इसीलिए इस परिभाषा-सूत्र में निर्दिष्टग्रहण किया है। **'निर्दिष्ट' में निर् नैरन्तर्य का द्योतक है। दिश् धातु का उच्चारण अर्थ है।** अतः निर्दिष्ट का 'नैरन्तर्येण उच्चारित' ऐसा अर्थ होता है। सूत्र में 'तस्मिन्'—यह सप्तमी का अनुकरण है। 'इति' शब्द स्वरूप-परता के निरास के लिये है। सूत्र में स्थानी इक् (इ, उ, ऋ, लृ) भी चार हैं, और आदेश यण् (य्, व्, र् ल्) भी चार हैं। चार इक् वर्णों का एक साथ नैरन्तर्येण संनिवेश असंभव है, तो प्रश्न होता है किस एक इक् के स्थान में कौन सा एक यण् आदेश हो। इस का नियम करने के लिये परिभाषा पढ़ते हैं—**यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** (१।३।१०)। यहाँ 'सम' शब्द समानसंख्यापरक है। यथासङ्ख्यम् अव्ययीभाव समास है। पदार्था-नतिवृत्तिरूप यथाशब्द के अर्थ में समास हुआ है। सङ्ख्या शब्द क्रम का उपलक्षक है। सूत्र में **अनुदेशः** (=पश्चात् उच्चारण) के बल पर उद्देशी तथा अनुदेशी शब्दों का अध्याहार किया जाता है। **उद्देशी** (पूर्वोच्चारित)

शब्दों का **अनुदेशी** (पश्चात् उच्चारित) शब्दों के साथ सम्बन्ध उन में अवस्थित क्रम के अनुसार होता है जब उद्देशी तथा अनुदेशी समसंख्यक हों। इस परिभाषा के अनुसार इ के स्थान में य्, उ के स्थान में व्, ऋ के स्थान में र् और लृ के स्थान में ल् होगा। इस परिभाषा की प्रवृत्ति के लिये उद्देशी स्थानी हो सकते हैं, जिन्हें अनुदेशी आदेश विधान किये जाते हैं, जैसे प्रकृत सूत्र में। उद्देशी प्रकृतियां भी हो सकती हैं जिनसे अनुदेशी प्रत्यय विधान किये जाते हैं, जैसे **तूदी-शलातुर-वर्मती-कूचवाराड् ढक्-छण्-ढञ्-यकः** (४।३।९४)—यहाँ प्रथम 'तूदी' से प्रथम प्रत्यय ढक् होता है, द्वितीय 'शलातुर' से द्वितीय प्रत्यय छण्, इत्यादि। तौदेयः। शालातुरीयः। वार्मतेयः। कौचवार्यः। यदि उद्देशी तथा अनुदेशी समसंख्यक नहीं हैं तो उनका यथाक्रम सम्बन्ध नहीं होता। **लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः** (१।४।९१)। यहाँ उद्देशी लक्षण आदि अर्थ चार हैं और अनुदेशी प्रति आदि निपात तीन हैं। दोनों अनुवाद्य हैं, कर्मप्रवचनीय संज्ञा विधेय है। यह कर्मप्रवचनीय संज्ञा उक्त चारों अर्थों में तीनों निपातों की होती है। प्रथम अर्थ में प्रथम 'प्रति' निपात की, इस क्रम से नहीं।

इक् के स्थान में यण्—यहाँ नियम करने के लिये एक दूसरी परिभाषा भी है—**स्थानेऽन्तरतमः** (१।१।५०)। प्रसङ्ग होने पर प्राप्ति योग्य आदेशों में से वह आदेश होता है जो स्थानी के अन्तरतम (सदृशतम) हो। प्रकृत में 'इ' का उच्चारण-स्थान तालु है, अर्थात् 'इ' तालव्य है। इस के स्थान में 'य्' आदेश होगा जो तालव्य है, अन्तरतम होने से। 'उ' के स्थान में व् होगा, कारण कि स्थानी 'उ' तथा आदेश 'व्'—दोनों समानस्थानिक हैं। 'व्' आदेश अन्तरतम है। **आन्तर्य (=साहश्य) स्थान, अर्थ, गुण (=प्रयत्न), प्रमाण— इन चार निमित्तों से होता है।** इन के उदाहरण यथावसर दिये जायेंगे।

पूर्व सूत्र **षष्ठी स्थानेयोगा** (१।१।४९) से 'स्थाने' की अनुवृत्ति आने पर पुनः यहाँ 'स्थाने' ऐसा क्यों पढ़ा? इसलिये कि जहाँ अनेक प्रकार से आन्तर्य का संभव है, वहाँ स्थान-कृत आन्तर्य बलवान् होता है। चि+तृ(=चेता)। स्तु+तृ (=स्तोता)—यहाँ प्रमाण से (लघु के स्थान में लघु, दीर्घ के स्थान में दीर्घ) 'अ' गुण होना चाहिये (अ, ए, ओ की गुण संज्ञा है), पर स्थान के आन्तर्य से इ को ए तथा उ को ओ गुण होता है।

'अन्तरतमः'—यहाँ तमप् प्रत्यय करके क्यों पढ़ा है? (तमप् अतिशायन अर्थ में तद्धित है) इसका उत्तर हल्सन्धि प्रकरण में देंगे।

सन्धि चार प्रकार की हो सकती है—पदान्त सन्धि (पद के अन्त की दूसरे पद के आदि के साथ, यही वाक्य सन्धि होती है), अपदान्त सन्धि (पद के भीतर निमित्त तथा निमित्ती के होने पर), समास-सन्धि (समास-घटक पदों में), उपसर्ग-सन्धि (उपसर्ग, जो अव्यय होने से सुब्लुक् होकर प्रत्यय-लक्षण से पद हैं, की तिङ् आदि के साथ सन्धि)। हम यथासम्भव इन चार प्रकार की सन्धियों के उदाहरण क्रमशः देंगे।

पदान्तसन्धि—कनीयांसि (छन्दांसि) देवेष्वासन् (देवेषु+आसन्), ज्यायांस्यसुरेषु (ज्यायांसि+असुरेषु) (मै० सं० ४।७।५), देवताओं के पास थोड़े छन्द (मन्त्र) थे, असुरों के पास अधिक थे। ब्रह्मचर्यमानी कथं मध्वश्नीयाम् (मधु+अश्नीयाम्) (श्वेतकेतु का उत्तर)। ऋच्यध्यूढं (ऋचि+अध्यूढं) साम गीयते (छां० उ० १।६।१)। दध्यशान (दधि+अशान), दही को खा। द्वीप्याचक्राम (द्वीपी+आचक्राम) मेषीम्, चीते ने भेड़ को आ दबाया। पयसि दध्यातनक्ति, दूध में जामन देता है। ब्रह्म कर्त्रस्य (कर्तृ+अस्य) जगतः, ब्रह्म इस जगत् का कर्ता है।

अपदान्त सन्धि— मत्याम् (मति+आम्), बुद्धि में। धेन्वाम् (धेनु+आम्), धेनु में। तन्वाम् (तनु+आम्), शरीर में। हूह्वौ (हूहू+औ) नाम गन्धर्वौ। कर्त्री (कर्तृ+ङीप्) कटस्य, चटाई बनाने वाली स्त्री। अत्र ग्रन्थस्य प्रणेत्रा (प्रणेतृ+टा=आ) प्रमत्तम्, यहाँ ग्रन्थ के बनाने वाले ने प्रमाद किया है।

समाससन्धि—सुध्युपास्यः (सुधी+उपास्यः) स परात्परः पुरुषः, वह महत्तत्त्व से परे विद्यमान पुरुष शुभ विचारवालों से उपास्य है। दध्योदनं (दधि+ओदनं) भुङ्क्ष्व (दही मिश्रित भात खा)। पर्ययः (परि+अयः) कालस्य, समय का अतीत होना। पदानामन्वयः (अनु+अयः)। न्यङ् (नि+अङ्=अञ्च्+क्विन्+सु)-नीच-खर्व-ह्रस्वाः स्युः (अमर), न्यङ्, नीच, खर्व, ह्रस्व—ये पर्याय हैं। न्यङ्गं (नि+अङ्गं) विवाहे वर्जयेत्, अंगहीन को विवाह विषय में छोड़ दे। मन्वादयः (मनु+आदयः) प्रणेतारः स्मृतीनाम्। अयं स्त्र्युत्सवः (स्त्री+उत्सवः), यह स्त्रियों का उत्सव है। मात्रर्थम् (मातृ+अर्थम्) इयं शाटिका मया क्रीता। पित्रादेशः (पितृ+आदेशः) पालनीयः।

उपसर्ग सन्धि—सर्वे साकं न्यलिप्सत (नि+अलिप्सत) (ऋ० १।१।६१) सभी एक साथ तिरोहित हो गये। छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् (अनु+

अगच्छत्) राजा दिलीप ने गौ का छाया की तरह पीछा किया ।

'सुध्युपास्यः' (सुध् य् उपास्यः) आदि में यण् होने पर सुध् य् आदि संयोगान्त पद बन जाते हैं। अब आचार्य का शासन है—**संयोगान्तस्य लोपः** (८।२।२३), अर्थात् संयोगान्त पद का लोप हो जाता है। यहाँ षष्ठीनिर्दिष्ट (संयोगान्तस्य पदस्य) को लोपरूप कार्य विधान किया है। ऐसा कार्य सारे षष्ठी-निर्दिष्ट के स्थान में नहीं होता, किन्तु उसके अन्त्य अल् (वर्ण) के स्थान में होता है । एतदर्थं आचार्य परिभाषा पढ़ते हैं—**अलोऽन्त्यस्य** (१।१। ५२)। इस से यहाँ 'य्' आदि का लोप प्राप्त होता है । पर ऐसा होने पर इष्टरूप-सिद्धि नहीं होगी । अतः वार्तिककार वार्तिक पढ़ते हैं—**यणः प्रतिषेधो वक्तव्यः**, प्रसक्त यण् का लोप मत हो । अब सुध्युपास्यः, मन्वादयः, मात्रर्थम् में यण् का लोप नहीं हुआ ।

२. एचोऽयवायावः (६।१।७८)। एच् के स्थान में यथाक्रम अय्, अव्, आय्, आव् आदेश होते हैं अच् परे रहते संहिता विषय में। एच्=ए, ओ, ऐ, औ । पूर्वसूत्र से 'अचि' की अनुवृत्ति आ रही है ।

पदान्त—श्रेयसयीहते (श्रेयसे ईहते) **कश्चित्**, कोई (ही) कल्याण के लिए चेष्टा करता है । **आसनयास्ते** (आसने आस्ते) **गुरुः, अधः शिष्याः । एतयेधन्ते** (एते एधन्ते) **पुण्यशीलाः । इमयृध्यन्ति** (इमे ऋध्यन्ति) **कर्मिणः**, यह कर्मासक्त लोग समृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं। **शिशवियम्** (शिशो इयम्) **आयाति ते सवित्री**, हे बच्चे, यह तेरी माता आ रही है । **अलमवनत्यायुद्धतता** (अलम् अवनत्यै उद्धतता) **नराणाम् । उभावपि** (उभौ अपि) **भ्रातरौ समं संस्कृते दक्षिणौ**, दोनों भाई संस्कृत में एक समान निपुण हैं। **असावुत्तुङ्गः** (असौ उत्तुङ्गः) **शाखी शाल्मलीनाम् ।**

अपदान्त—हरये (हरे+ए) **रोचते भक्तिः । मुनये** (मुने+ए) **स्वदते तत्त्वमीमांसा । गवे** (गो+ए) **घासः । नायकः** (नै+अकः) **पथा नेता भवति लोकानाम् । अग्निः पविता पदार्थानामिति पावकः** (पौ+अकः) **संविज्ञायते ।** अग्नि पदार्थों को पवित्र (निर्मल) करता है, अतः 'पावक' नाम से कहा जाता है ।

३. वान्तो यि प्रत्यये (६।१।७९)। यकारादि प्रत्यय परे होने पर 'ओ', 'औ' को वान्त आदेश, अर्थात् 'ओ' को अव् और 'औ' को आव् आदेश होता है। सूत्र में 'यि' पढ़ा है। यह 'य्' का सप्तमी एक० में रूप है। इस से यकारादि ऐसा अर्थ कैसे लिया गया? इस का उत्तर एक परिभाषा से दिया

जाता है—**यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** (१।१।७२ वा०), जहाँ सप्तमी निर्देश से अल्मात्र (वर्णमात्र) का ग्रहण करके कार्य विधान किया जाता है, वहाँ तदादि (वह वर्ण है आदि जिसका) वर्ण परे होने पर कार्य होता है, अतः प्रकृत में 'यि' से यकारादि परे होने पर—ऐसा अर्थ लिया जाता है। पूर्व सूत्र से अच् परे रहते ही वान्त आदेश हो सकता था, यकारादि प्रत्यय परे होने पर प्राप्ति नहीं थी, सो अपूर्व विधान किया है। **गोर्विकारो गव्यम्** (गो+यत्)। **गव्यं पयः सुखं भवति वत्सेभ्यः,** गोक्षीर बच्चों के लिये हितकर होता है। **नाव्यम्** (नौ+यत्) **इदं जलमतार्यमनाविकेन,** जो नाविक (नाव चलाने वाला) नहीं है, उसके लिए यह जल तैरकर पार करने योग्य नहीं। **शङ्कव्यं** (शङ्कु+ यत्—शङ्को+यत्, गुणद्वारा) दारु, खूंटा बनाने के योग्य लकड़ी। **पिचव्यः**(पिचुः=तूलः=रूई+यत=पिचो+यत्, गुण होकर) **कार्पासः,** रूई बनाने योग्य कपास। **कमण्डलव्या मृत्तिका,** कमण्डलु बनाने योग्य मिट्टी। **बाभ्रव्यः**—बभ्रोर्गोत्रापत्यम् (बभ्रो+यञ् गर्गादि होने से गोत्रापत्य में यञ् प्रत्यय, ओर्गुणः से गुण)। **माण्डव्यः** (मण्डु+यञ्), मण्डु नामक ऋषि का गोत्रापत्य। इस ऋषि के विषय में याज्ञवल्क्य स्मृति (   ) में कहा है—**अचोरोऽपि चोरतां यातो माण्डव्यो व्यवहारतः,** माण्डव्य जो चोर नहीं था, पर न्यायालय में व्यवहार द्वारा चोर सिद्ध हो गया। सूत्र में 'यकारादि **प्रत्यय** परे होने पर' ऐसा कहा है, अतः **गोयानम्, नौयानम्**—यहाँ वान्त आदेश नहीं होता।

४. **गोर्यूतौ छन्दसि** (वा०)। छन्दस् (वेद) में 'यूति' शब्द परे होने पर 'गो' को वान्त आदेश होता है—**आ नो मित्रावरुणा घृतैं गव्यूतिमुक्षतम्** (ऋ० ३। ६२।१६), हे मित्र वरुण देवताओ, इस हमारी गव्यूति (गोस्थान) को जल से सेचन करो।

५. **अध्वपरिमाणे च** (वा०)। लोक में भी 'गो' को वान्तादेश होता है 'यूति' शब्द परे होने पर यदि समुदाय अध्वपरिमाण (मार्ग का माप) का वाचक हो—**गव्यूतिः स्त्री क्रोशयुगम्** (अमर), दो कोस परिमित मार्ग 'गव्यूति' कहलाता है।

६. **धातोस्तन्निमित्तस्यैव** (६।१।८०)। यादि प्रत्यय परे धातु के एच् को तभी वान्त आदेश होता है जब वह धातु का एच् (ओ, औ) तन्निमित्तक=यादि-प्रत्यय-निमित्तक हो, अन्यथा नहीं। यह नियमसूत्र है, पूर्वशास्त्र से अतिप्रसक्त का संकोच करता है। **लव्यम्** (लू+यत्—लो+यत्, आर्धधातुकनिमित्तक गुण)। **पव्यम्** (पू+यत्—पो+यत्, (आर्धधातुकनिमित्तक गुण)। यहाँ धातु लू, पू

एजन्त नहीं थी, यत् प्रत्यय के निमित्त से गुण होकर एजन्त बनी है, अतः धातु का एच् तन्निमित्तक=यादि-प्रत्यय-निमित्तक है। अतः प्रकृत सूत्र का विषय है। **पक्वं सस्यमिति लव्यम्,** अनाज पक गया है, अतः काटने योग्य है। **पूर्वं परिपव्याः पश्चाद् रन्धनीयाः शालयः,** पहले चावलों को साफ कर लीजिये, पीछे राँधिये। **किमवश्यभाव्यं मे तादृशेन दुर्दैवेन,** क्या मेरा ऐसा दुर्भाग्य अवश्य होगा? 'भाव्य' में 'ओरावश्यके' से 'भू' से ण्यत् प्रत्यय हुआ है।

सूत्र में 'एव' इष्ट का नियम करने के लिये पढ़ा है। वाक्य में 'एव' जहाँ पढ़ा गया हो उस से अन्यत्र नियम (अवधारण) होता है। अतः प्रकृत सूत्र में धातु का नियम किया है—**धातोश्चेत् स्यात् तन्निमित्तस्यैव,** ऐसा अर्थ है एच् के तन्निमित्तक होने पर चाहे वह एच् धातु का है, चाहे अधातु का, निर्विघ्न रूप से वान्त आदेश होगा—बाभ्रव्यः अवश्यलाव्यम्। लव्यम्। पर **ओयते** (आङ् पूर्वक वेञ् तन्तुसन्ताने से कर्मणि लट्)—यहाँ सम्प्रसारण तथा गुण होकर एकादेश 'ओ' परादिवद्भाव से धातु का 'ओ' ही है। पर यह तन्नि-मित्तक (यादि=यक् प्रत्यय-निमित्तक) नहीं। अतः वान्त आदेश नहीं हुआ। इसी प्रकार **औयत** (वेञ्—कर्मणि लङ्। आट्, वृद्धि एकादेश)—यहाँ तन्नि-मित्तक एच् न होने से वान्त आदेश नहीं हुआ।

७. **लोपः शाकल्यस्य** (८।३।१९)। अवर्णपूर्वक पदान्त य्, व्, का विकल्प से लोप होता है 'अश्' परे होने पर। अश्—यह प्रत्याहार ग्रहण है। सूत्र में 'शाकल्य' का पूजार्थ ग्रहण है। (८।३।१७) से अवर्णपूर्व तथा 'अश्' की अनुवृत्ति आ रही है।

एत एधन्ते पुण्यशीलाः। एतयेधन्ते पुण्यशीलाः। इम ऋध्यन्ति लोकाः। इमयृध्यन्ति लोकाः। आसन आस्ते गुरुः। आसनयास्ते गुरुः। शिश इयमायाति ते सवित्री। शिशवियमायाति ते सवित्री। बट एत आयान्ति गुरुचरणाः। बटवेतयायान्ति गुरुचरणाः। अलमवनत्या उद्धतता नराणाम्। अलमवनत्या-युद्धतता नराणाम्, मनुष्यों की उच्छृङ्खलता अवनति के लिए पर्याप्त है। **श्रिया उद्यच्छते सर्वः, न च लभते, श्रियायुद्यच्छते सर्वः, न च लभते,** सब कोई लक्ष्मी के लिये उद्यम करता है, पर (सब कोई) प्राप्त नहीं करता। **मुक्ता उत्तिष्ठते यतिः, मुक्तावुत्तिष्ठते यतिः,** यति मोक्ष के निमित्त यत्न करता। **उभा अपि भ्रातरौ समं सुधियौ। उभावपि भ्रातरौ समं सुधियौ। ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति** (स्थविरयायति) (मनु० २।१२०), वृद्ध के आते ही युवक के प्राण ऊपर की ओर गति करते हैं। इन उदाहरणों में य्, व्

के लोप होने पर स्वरसन्धि नहीं होती, कारण कि वृद्ध्यादि विधायक शास्त्रों (जो षष्ठ अध्याय में पड़े हैं) की दृष्टि में त्रिपादीस्थ (अष्टम अध्याय के अन्त्य तीन पादों के भीतर पढ़ा हुआ लोपः शाकल्यस्य (८।३।१९) शास्त्र असिद्ध है, प्रवृत्त हुआ ही नहीं। पूर्वत्रासिद्धम्। इस सूत्र की सविस्तर व्याख्या तृतीय खण्ड में पृष्ठ १५६ पर दी गई है।

८. **एकः पूर्वपरयोः** (६।१।८४)। यह अधिकार सूत्र है। यह अधिकार ख्यत्यात्परस्य (६।१।११२) सूत्र से पहले तक चलता है। अर्थ है—ख्यत्यात्परस्य सूत्रावधि से पूर्व तक वक्ष्यमाण सूत्रों में जो गुण आदि आदेश विधान किये जायेंगे वह पूर्व, पर—दोनों के स्थान में एक आदेश होते हैं।

शङ्का—सूत्र में 'पूर्व पर' का ग्रहण क्यों किया? यह इस लिये किया है कि एक साथ दोनों के स्थान में एक आदेश हो। 'पूर्व पर' का स्थानिनिर्देश के लिये ग्रहण किया है। यदि 'पूर्वपर' का ग्रहण न हो तो स्थानिनिर्देश के न होने से आद्गुणः (अचि) आदि वक्ष्यमाण सूत्रों में किसे गुण आदि हो? यह कोई प्रयोजन नहीं। बिना पूर्वपर ग्रहण के भी आद् गुणः (अचि) आदि में 'आत्'—यह पञ्चमी 'अचि' इस सप्तमी को षष्ठी में बदल देगी, **तस्मादित्युत्तरस्य** इस वचन के बल पर। तथा 'अचि'—यह सप्तमी 'आत्' इस पञ्चमी को षष्ठी में बदल देगी, **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य**, इस वचन के बल पर। इस तरह (षष्ठी प्रक्लृप्ति से) दोनों के स्थान में एक आदेश हो जाएगा, '**पूर्वपरयोः**' कहने से कुछ प्रयोजन नहीं। नहीं। **सप्तमी तथा पञ्चमी एक साथ षष्ठी की प्रकल्पिका नहीं हो सकतीं**। कारण कि 'अचि'—यह सप्तमी यणादेश आदि विधि में चरितार्थ हो चुकी है, आत्—यह पञ्चमी तो कहीं चरितार्थ नहीं हुई है, अतः यह सप्तमी को षष्ठी में बदल सकेगी। इस अवस्था में 'पूर्वपरयोः' के ग्रहणाभाव में केवल पर जो अच् है उसके स्थान में आदेश होगा। इसी प्रकार **वृद्धिरेचि**—सूत्र में आत्—यह पञ्चमी गुणविधि में चरितार्थ हो चुकी है, 'एचि'—यह सप्तमी अचरितार्थ है, अतः इस पञ्चमी को षष्ठी में बदल सकेगी, जिससे वृद्धि आदेश पूर्व अवर्ण को ही होगा। अतः युगपत् आदेश हो इस बोध के लिए पूर्व-पर-ग्रहण प्रयोजनवान् है।

सूत्र में 'एक' ग्रहण क्यों किया? पूर्व तथा पर के स्थान में विधीयमान आदेश एक ही होगा। लोक में **अनयोर्मृत्पिण्डयोर्घटं कुरु** (इन दो मिट्टी के ढेलों (गोलों) का घड़ा बना दो) ऐसा कहने पर एक घड़ा बनाया जाता है,

'एकं घटं कुरु' ऐसा कहना अनावश्यक समझा जाता है। ठीक है। पर वहाँ एकीकृत दो पिण्डों का एक घड़ा बनाया जाता है। यहां तो दो भिन्न स्थानी हैं, पूर्व तथा पर। स्थानिभेद से आदेश-भेद का प्रसङ्ग होता है। जैसे भिन्न, छिन्न आदि में स्थानिभेद से निष्ठा के 'त्' तथा पूर्व 'द्' को पृथक् नत्व होता है, वैसे यहाँ भी पृथक् आदेश होने लगेगा, अतः पृथक् आदेश की निवृत्ति के लिये 'एक' ग्रहण आवश्यक है।

९. आद् गुणः (६।१।८७)। अवर्ण से अच् परे रहते दोनों पूर्व तथा पर के स्थान में एक गुण रूप आदेश होता है संहिता विषय में।

पदान्त सन्धि—पश्योदेति (पश्य+उदेति) **सविता**। आन्तरतम्य से 'अ' तथा 'उ' के स्थान में 'ओ' गुण हुआ। **चन्द्रभागेरावती चोरुजले** (चन्द्रभागा +इरावती च+उरुजले) **निम्नगे**, चनाव तथा रावी नदियाँ बहुतजलवाली हैं। 'आ' तथा 'इ' के स्थान में 'ए' गुण हुआ है, 'अ' तथा 'उ' के स्थान में 'ओ, स्थान-आन्तर्य से। **ओदकान्ताद्** (आ+उदकान्ताद्) **आ वनान्तात्प्रियं प्रोष्यमनुव्रजेत्**, प्रवास करते हुए प्यारे बन्धु के पीछे तडागादि तक अथवा वनान्त तक जाये।

अपदान्त सन्धि—न कर्म लिप्यते नरे (नर+इ)। **विपाट्शुतुद्र्यावापगे भूरिजले**। आपगे=आपगा+शी (ई)।

समास सन्धि—वेदोपनिषदमधीष्व। वेदोपनिषदम्—यह समाहार अर्थ में द्वन्द्व समास है। **गुडाका योगनिद्रा स्यात् तस्या ईशो यतो भवान्। तेन प्रोक्तो गुडाकेशः**॥ गुडाका+ईशः=**गुडाकेशः**। **गङ्गोदकं सेवस्व**। **हितोपदेशमाकर्णय**। **प्राक् सूर्योदयाद् विहर शरीरस्वास्थ्याय**। **धनिकधारणिकावुत्तमर्णाधमर्ण-पर्यायौ**। उत्तम+ऋणः=उत्तमर्णः। अधम ऋणः=अधमर्णः। समास का विग्रह ऐसे है—उत्तम ऋणे। अधम ऋणे। ऋण के विषय में उत्तम (=उत्कृष्ट), ऋण के विषय में अधम(=निकृष्ट)। यहाँ उत्तमर्ण, अधमर्ण में 'अ' तथा 'ऋ' के स्थानमें अर् गुण हुआ है। **उरण् रपरः** (१।१।५१)। उः= ऋ का षष्ठी एकवचन। अर्थ—'ऋ' के स्थान में जो अण् शास्त्र से विधीय-मान हो वह 'रपर' होता हुआ ही प्रवृत्त होता है। प्रकृत में अ गुण (जो अण् प्रत्याहारान्तर्गत है) रपर होता है, अर्थात् अर् (रेफ-शिरस्क अ) होता है। **रेफ द्वारा स्थानी ऋकार के साथ स्थानसाम्य हो जाता है**। **कृष्णर्धिः** (कृष्ण +ऋद्धिः)। **पापर्द्धिः** (पाप+ऋद्धिः), मृगया, शिकार खेलना। **पापर्द्धिकः**= व्याध, शिकारी।

उपसर्गसन्धि—ललाटलिखितं प्रोञ्छितुं (प्र+उञ्छितुं) **कः समर्थः। प्रेक्षां** (प्र+ईक्षां) **प्रेक्षते** (प्र+ईक्षते) **श्रमविरतः श्रमी। अग्निं प्रेन्धते** (प्र+इन्धते) **याजकाः,** यज्ञ कराने वाले पुरोहित अग्नि को प्रज्वलित करते हैं।

१०. **अन्तादिवच्च** (६।१।८५)। पूर्व तथा पर के स्थान में जो एकादेश विधान किया है वह पूर्व के अन्त की तरह होता है और पर के आदि की तरह। यह रूपातिदेश नहीं। व्यपदेशातिदेश ही है। एकादेश को पूर्व का अन्त मानकर अथवा पर का आदि मानकर जो कार्य प्राप्त होता है वह हो जाता है। जैसे पूर्व शब्द का अन्त और पर शब्द का आदि उस पूर्व व पर शब्द के अन्तर्भूत होने से उसका अवयव माना जाता है वैसे ही एकादेश भी। ब्रह्मबन्धु—यह प्रातिपदिक है। ऊङ्—यह स्त्री प्रत्यय है। इन(दो)प्रातिपदिक तथा अप्रातिपदिक के स्थान में जो एकादेश होता है वह प्रातिपदिक के अन्त की तरह (अन्तवत्) होता है, जिसका फल यह होता है कि 'ब्रह्मबन्धू' से ङ्याप्प्रातिपदिकात् से 'सु' आदि प्रत्यय ला सकते हैं। वृक्षौ—यह 'औ' सुप् प्रत्यय है। 'वृक्ष' का 'अ' असुप् है। इनका एकादेश 'औ' आदिवद्भाव से सुप् है, जिससे 'वृक्षौ' को 'सुबन्त' कह सकते हैं।

शङ्का—इस परिभाषा के पढ़ने की क्या आवश्यकता थी? स्थानिवद्भाव से ही आदेश पूर्वान्तवत् तथा परादिवत् हो जाता। नहीं। यहाँ स्थानिवद्भाव प्राप्त ही न था। कारण कि पूर्वपरसमुदाय यहाँ एकादेश का स्थानी है, एकादेश से वही निवृत्त होता है। **निवृत्तिधर्मा स्थानी।** समुदाय की निवृत्ति अवयवों की निवृत्ति के विना होती नहीं, अतः अवयवों का स्थानित्व आनुमानिक है, अतः स्थानिवद्भाव से तदाश्रय कार्य (स्थानिनिमित्तक कार्य) की एकादेश में अप्राप्ति होने से अन्तादिवद्भाव का विधान किया है।

११. **वृद्धिरेचि** (६।१।८८)। अवर्ण से एच् (प्रत्याहार) परे पूर्व व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है। पूर्व सूत्र 'आद् गुणः' से आत् की अनुवृत्ति आ रही है। **यह सूत्र आद् गुणः का अपवाद है।** आद् गुणः उत्सर्ग=सामान्य शास्त्र है और वृद्धिरेचि विशेष=अपवाद शास्त्र है। **उत्सर्ग का व्यापक विषय होता है और अपवाद का व्याप्य। अच् व्यापक के अन्तर्गत एच् व्याप्य है।**

पदान्त सन्धि—इष्वैकया। (इष्वा+एकया) **प्राविध्यद् वालिनं रामः,** राम ने एक बाण से वाली को बींध दिया। **सामुद्रेण जलेनौकः** (जलेन+ओकः) **प्लावितः पतगस्य,** समुद्र के जल द्वारा पक्षी का घोंसला बहाया गया। **महतैश्वर्येण महानस्य दर्पः सञ्जातः। इदं नामौषधमनुभूतपूर्वमिति महद्**

उपकरिष्यत्यातुरस्य, यह औषध (दवाई) पहले अनुभव में आचुकी है, अतः रोगी के लिये बहुत लाभकारी होगी। इन उदाहरणों में सर्वत्र स्थान आन्तर्य से वृद्धि एकादेश 'ऐ' आदि हुआ है।

अपदान्त सन्धि—एतौ मनुष्यौ। एतौ हाहौ गन्धर्वौ। नेदं मनुष्ययोः कर्म, इदं हाहौः, यह दो मनुष्यों का कृत्य नहीं, यह दो हाहा नाम के गन्धर्वों का है। **सर्वः श्रियै** (श्रिय्+आट्+ङे) **स्पृहयति। श्रीः किल श्रेया भवति।**

समास-सन्धि—महत्खलु मे तत्र दर्शनौत्सुक्यम् (दर्शन+औत्सुक्यम्)। **देशैक्यं** (देश+ऐक्यम्) **सर्वथा रक्षणीयम्। रामः स्वौजसा** (स्व+ओजसा) **भुवनैकवीरतां** (भुवन+एकवीरतां) **यातः। रक्तपा तु जलौकायां स्त्रियां भूम्नि जलौकसः** (अमर)। ओकस् (=गृह, निवास स्थान) नपुं० है और 'ओक' (अदन्त) पुं० है।

अन्तातिवद्भाव वर्णाश्रय विधि में नहीं होता, इसीलिये 'खट्वाभिः' यहाँ अन्तवद्भाव न होने से (अर्थात् खट्व के 'अ' तथा टाप् के 'आ' के स्थान में दीर्घ एकादेश 'आ' के पूर्व का अन्तवत् न होने से) अतो भिस ऐस् (७।१।९) से 'भिस्' को 'ऐस्' नहीं होता। ह्वा (ह्वे) से णल् परे रहते सम्प्रसारण तथा पूर्वरूप होकर 'हु' के 'उ' को पर 'आ' का आदिवत् न मानने से णल् को आत औ णलः (७।१।३४) से 'औ' आदेश नहीं होता। अस्यै अश्वः, यहाँ स्याट् (स्या) आगम और विभक्ति ङे (ए) के स्थान में वृद्धि एकादेश 'ऐ' हुआ है, उस के परादिवत् न होने से वक्ष्यमाण '**एङः पदान्तादति**' से पूर्वरूप एकादेश नहीं होता।

१२. **एत्येधत्यूठ्सु** (६।१।८९)। अवर्ण से परे एजादि एति (इण् गतौ) तथा एधति (एध वृद्धौ) और ऊठ् होने पर पूर्व अवर्ण तथा पर अच् के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है। **ऊठ् के विषय में यह सूत्र 'आद्गुणः' का अपवाद है, और एति एधति के विषय में वक्ष्यमाण 'एङि पररूपम्' का अपवाद है। न तत्सत्यं यच्छलमभ्युपैति** (अभि+उप+एति) मनु०। **अभ्युपैमि यद्युक्तमुक्तं भवता,** जो आप ने युक्त वचन कहा है, मैं उसे स्वीकार करता हूँ। **नाकाले प्रैति कश्चिदिति केचित्,** कुछ लोगों का ऐसा मत है कि अकाल मृत्यु नहीं होती। **प्रैधन्तां साधवः सर्वे,** सभी सज्जन लोग बढ़ें। **प्रष्ठौही बालगर्भिणी** (अमर)। प्रष्ठं जनिष्यमाणानामग्रगामिनं वत्सं वहतीति प्रष्ठौही, जो गौ अभी वाला ही है और गर्भिणी होती है, उसे प्रष्ठौही कहते हैं। यहाँ **वहश्च** (३।२।६४) से 'ण्वि' प्रत्यय, **वाहः** (४।१।६१) से ङीष्, **वाह ऊठ्** (६।४।१३२) से 'व्' को ऊठ्

सम्प्रसारण और **सम्प्रसारणाच्च** (६।१।१०८) से पूर्व रूप होता है। प्रष्ठ+ऊही—इस अवस्था में वृद्धि एकादेश होकर 'प्रष्ठौही' रूप सिद्ध होता है।

एजादि (एच् आदि) एति, एधति क्यों कहा? **अपेहि** (अप+इहि) रे जाल्म, हे अविवेकी पुरुष दूर हो। **अपेतं युवाम्,** तुम दोनों दूर हो जाओ। यहाँ वृद्धि नहीं होती। इण् गतौ का प्रयोग तो है, पर वह एजादि नहीं। 'एधति' यद्यपि एजादि है, पर एध् णिच् के लुङ् में माङ्-योग में **मा भवान् इदिधत्** ऐसा प्रयोग सुलभ होगा। तब एध् के एजादि न होने से प्र+इदिधत्=प्रेदिधत् में वृद्धि नहीं होगी। कई लोगों का ऐसा मत है कि लुङ् में ण्यन्त एध् का अनभिधान (अ-प्रयोग) होता है। इसके अनुसार सूत्र में 'एजादि' यह 'एति' का ही विशेषण है।

उपेहि **पुत्र, दृढं परिरभस्व माम्,** पुत्र मेरे पास आओ, और मुझे दृढतया आलिङ्गन करो। यहाँ उपेहि=उप+आङ्+इहि। आङ् (आ) तथा इ को गुण एकादेश 'ए' होकर उप+एहि—इस अवस्था में परादिवद्भाव से एङादि धातु मानकर वक्ष्यमाण एङि पररूपम् (६।१।८४) से प्राप्त पररूप को एत्येधत्यूठ्सु द्वारा विधीयमान वृद्धि बाध लेती है, पर वक्ष्यमाण **ओमाङो-श्च** (६।१।९५) से पूर्वान्तवद्भाव से एकार में आङ्त्व को स्वीकार कर प्राप्त हुए पररूप को नहीं बाधती, कारण कि **पुरस्तादपवादा अनन्तरान्विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्** ऐसी परिभाषा है। भाव यह है कि पूर्वपठित अपवाद के प्रथमोपस्थित बाध्य को बाधने से चरितार्थ हो जाने से क्षीणशक्तिक हो जाने से पश्चादुपस्थित बाध्य के साथ स्पर्धा होने पर पर होने से उत्तरविधि होती है, और अपवाद बाधित हो जाता है। अतः पररूप होकर 'उपेहि' रूप निष्पन्न होता है।

१३. **अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम्** (वा०)। अक्ष से 'ऊहिनी' शब्द के परे रहते वृद्धि एकादेश होता है। **अक्षौहिणी** (सेना)। ऊहः=समूहः। ऊहोऽस्या अस्तीति अक्षौहिणी। वक्ष्यमाण **पूर्वपदात्संज्ञायामगः** (८।४।३) से णत्व होता है। अक्षाणामूहिनी—ऐसा विग्रह है। अक्ष का ऊह के साथ समास करने पर तो अन्तरङ्ग गुण हो जाने के पीछे मत्वर्थीय इनि प्रत्यय आने पर **अक्षोहिणी—ऐसा रूप होगा।**

१४. **स्वादीरेरिणोः** (वा०)। 'स्व' से ईर, तथा ईरिन् आनेपर वृद्धि एकादेश होता है। गुण प्राप्त था। **स्वैरविहारः,** स्वेच्छा पूर्वक भ्रमण। **स्वैरालापः,** गुप्त संलाप। स्वैरम् (क्रिया-वि०)—**पश्चात्स्वैरं गज इति व्या-**

हतं सत्यवाचा (वेणी० ३।६), पीछे धीरे से हाथी (मारा गया है) ऐसा सत्य-भाषी युधिष्ठिर ने कहा। स्वैरी=स्वेच्छाचारी, व्यभिचारी।

न मे जनपदे स्तेनो न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्नि र्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

स्वेनेरितुं (स्वेन ईरितुं) शीलमस्येति स्वैरी।

१५. **प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु** (वा०)। प्र से ऊह, ऊढ, ऊढि, एष, एष्य के परे होने पर पूर्व 'अ' तथा पर अच् के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है। ऊह, ऊढ, ऊढि के विषय में गुण का अपवाद है, एष, एष्य के विषय में वक्ष्यमाण एङि पररूप का अपवाद है। **प्रौहः। प्रौढः। प्रौढिः। प्रैषः। प्रैष्यः।** 'प्रौहः' का प्रयोग दुर्लभ है। प्रौढ=तरुण, परिपाकप्राप्त, बढ़ा हुआ। प्रौढि=परिपक्वावस्था, वृद्धि, महत्त्व। प्रैष=उत्कृष्ट द्वारा अपकृष्ट का कार्य में लगाना। प्रैष्य—नौकर। ऊढ—वह् का क्तान्त रूप है, यह सार्थक है; पर ऊठवत् (क्तवत्वन्त) का एकदेश 'ऊढ' अनर्थक है। **अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य** ऐसी परिभाषा है। अतः यहाँ वृद्धि नहीं होगी—**प्रोढवान्**। प्रैष तथा प्रैष्य में इष् से घञ् तथा ण्यत् होने पर निष्पन्न हुए एष तथा एष्य का ग्रहण है। वार्तिक में 'एष' के साहचर्य से 'एष्य' भी अनव्यय लिया जाता है, अतः प्रपूर्वक ण्यन्त इष् (एषि) से क्त्वा को ल्यप् करने पर गुण एकादेश होगा, वृद्धि नहीं। **प्रैष्यं प्रेष्य स्वयमपि प्रस्थितः। प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च** (३।३।१६३) यहाँ आचार्य प्रैष का (प्रेषणं, स्वापेक्षयाऽपकृष्टस्याज्ञापनम्—अर्थ में) प्रयोग कर रहे हैं।

१६. **ऋते च तृतीया समासे** (वा०)। तृतीया तत्पुरुष समास में 'ऋत' शब्द के उत्तरपद होने पर अवर्णान्त पूर्वपद के 'अ' तथा 'ऋत' के ऋ के स्थान में वृद्धि (आर्) होती है (गुण नहीं)। **सुखेन ऋतः** (गतः, संगतो वा) =**सुखार्तः। दुःखेन ऋतः=दुःखार्तः।** तृतीयासमास में वृद्धि विधान की है, अतः **परमम् ऋतः=परमर्तः**, यहाँ द्वितीयासमास में वृद्धि नहीं हुई, यथाप्राप्त गुण हुआ है। समास न होगा, तो वृद्धि भी नहीं होगी—**सुखेन ऋतः = सुखेनर्तः** (गुण)।

१७. **प्र-वत्सतर-कम्बल-वसनार्णदशानामृणे** (वा०)। अर्थ स्पष्ट है। गुण के प्रसङ्ग में वृद्धि विधान की जारही है। **प्रार्णम्।** (प्र+ऋणम्), बढ़ा हुआ ऋण। **वत्सतरार्णम्।** (बछड़े के निमित्त ऋण)। **कम्बलार्णम्। वसनार्णम्।** वसन=वस्त्र। **ऋणार्णम्** (ऋण चुकाने के लिये लिया गया ऋण)। **दशार्ण**

(नदी विशेष)। **दशार्णा नाम जनपदः**। 'ऋण' का 'जल' तथा 'दुर्ग' भी अर्थ है। **सम्पत्स्यन्ते कतिचिद्दिनस्थायिहंसा दशार्णाः** (मेघ० २३)।

१८. **उपसर्गादृति धातौ** (६।१।६१)। अवर्णान्त उपसर्ग से ऋकारादि धातु के परे होने पर पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है। गुण का अपवाद है। **अबलं सबलं वा यतिमयतिं वा सममुपार्च्छति मृत्युः**, बलहीन हो अथवा बलवान् हो, यति (जितेन्द्रिय) हो अथवा अजितेन्द्रिय, मृत्यु सभी को आती है। **महात्मानं दर्शकाः प्रार्च्छन्ति लोकाः**, महात्मा को देखने के लिये लोग आगे बढ़ रहे हैं। ऋ अथवा ऋच्छ् गत्याद्यर्थक तुदादि का प्रयोग है। **प्रार्चन्त्यृषयः परमेश्वरमृग्भिः**, ऋषि लोग परमेश्वर की ऋचाओं से स्तुति करते हैं। **प्रार्चन्ति**=प्र+ऋचन्ति। ऋच स्तुतौ तुदादिः।

शङ्का—पूर्व कह आये हैं कि एकादेश पूर्व का अन्तवत् और पर का आदिवत् होता है (अन्तादिवच्च)। अब यहाँ वृद्धि एकादेश आर् का रेफ पूर्व का अन्तवत् होने से पदान्त है। और पदान्त रेफ को खर् परे रहते अथवा अवसान में विसर्जनीय हो जाता है **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (८।३।१५) ऐसा हल्सन्धि में कहेंगे। अतः उपार्च्छति, प्रार्च्छति में 'र्' को विसर्ग हो जाना चाहिये। ठीक है, पर अन्तवद्भाव से पदान्त र् को विसर्ग नहीं होता, यह हम आचार्य के व्यवहार से जानते हैं। आचार्य उभयथर्क्षु (८।३।८) में तथा कर्तरि चर्षिदेवतयोः (३।२।१८६) में अन्तवद्भाव से पदान्त रेफ को विसर्ग नहीं करते।

१९. **वा सुप्यापिशलेः** (६।१।६२)। आपिशलि आचार्य के मत में अवर्णान्त उपसर्ग से ऋकारादि सुप्-धातु परे रहते विकल्प से वृद्धि होती है। ऋषभमात्मन इच्छति **ऋषभीयति**, अपने लिए बैल चाहता है। यहाँ सुप आत्मनः क्यच् से सुबन्त 'ऋषभम्' से क्यच् प्रत्यय होकर 'ऋषभीय' यह क्यजन्त धातु बन जाती है। यह सुप्-धातु है। अथवा नामधातु। इससे पूर्व 'प्र' उपसर्ग का योग करें तो **प्रार्षभीयति**'—ऐसा वृद्धि-युक्तरूप भी होगा, और वृद्धि-रहित गुणयुक्त 'प्रर्षभीयति' भी।

२०. **एङि पररूपम्** (६।१।६४) अवर्णान्त उपसर्ग से परे यदि एङादि धातु हो तो पूर्व व पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है। यह 'वृद्धिरेचि' का अपवाद है। कुछ लोग 'वा सुप्यापिशलेः' की इस सूत्र में अनुवृत्ति मानते हैं और वाक्यभेद से इस प्रकार व्याख्या करते हैं—एङादौ सुपि वा।

प्राङ् मित्र एषत्वर्वाची गौरुपेषतु (अथर्व० ६।६७।३)। यहाँ एषृ गतौ भ्वा० आ० का प्रयोग है। परस्मैपद में प्रयोग छान्दस है।

प्रेजन्ते (प्र+एजन्ते) **पिप्पलपल्लवानि पवनेन,** वायु के वेग से पीपल के पत्ते हिलते हैं। **अग्निना वा कक्षमुपोषेत्** (२।४।७), अग्नि से तृणों को जला दे। **उपोषति** (उप+ओषति) **गृह्येनसामपहत्यै,** पाप के नाश के लिये गृहस्थ उपवास करता है। **उपेडकीयति। उपोदनीयति।** एडकं मेषमात्मन इच्छति=एडकीयति। ओदनमात्मन इच्छति=ओदनीयति। उपसर्गयोग होने पर विकल्प से पररूप होगा—उपेडकीयति। उपैडकीयति। उपोदनीयति। उपौदनीयति।

२१. **एवे चानियोगे** (वा०)। जब 'एव' नियोग, नियम, अवधारण अर्थ का वाचक न हो (जैसा कि इस का प्रायिक अर्थ है), तब पूर्व अवर्ण तथा 'एव' के 'ए' के स्थान में पररूप एकादेश होता है—**क्वेव भोक्ष्यसे,** कहाँ खाओगे? यहाँ अनवक्लृप्ति=असंभावना अर्थ है। ऐसा वाक्य तब बोला जाता है जब कोई भोजनार्थ निमन्त्रित होने पर विलम्ब से आया हो और उस कारण उसे स्थान न मिला हो अथवा जब उसे अनेक निमन्त्रण प्राप्त हुए हों। अन्यत्र नियोग (नियम) अर्थ में तो यथाप्राप्त वृद्धि ही होगी—**इहैव भव मान्यत्र गाः,** यहीं रहो, अन्यत्र मत जाओ।

२२. **शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्** (वा०)। शक+अन्धु आदि में पररूप एकादेश होता है—शक+अन्धुः=**शकन्धुः** (शकानामन्धुः)। यहाँ वक्ष्यमाण 'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्ण दीर्घ एकादेश प्राप्त था। **कर्कन्धुः।** कर्काणामन्धुः। 'कर्कन्धु' बेर के वृक्ष का भी नाम है। **कर्कन्धूनामुपरि तुहिनं रञ्जयत्यग्रसन्ध्या** (शाकुन्तल)। कुलस्य अटा=कुलटा। या कुलान्यटन्ती शीलं भिनत्ति सा कुलटा, जो घर-घर घूमती हुई अपने चरित्र का भ्रंश करती है। अट् से पचाद्यच्। अण् होने पर कुलान्यटतीति 'कुलाटी' ऐसा रूप होगा। जो अप्रयुक्त है। सीम+अन्तः=**सीमन्तः** (माँग)। सीमन्तोन्नयन, माँग-निकालना। **सीमन्तिनी** (सीमन्तोऽस्या अस्तीति)=स्त्री। अन्यत्र सीमान्तः=सीम्नोऽन्तः, देश की सीमा का अन्त। 'सीमन्' (स्त्री०) नकारान्त प्रातिपदिक है। डाप् प्रत्यय आने पर 'सीमा' आकारान्त भी होता है। **मनीषा** (मनस्+ईषा), **लाङ्गलीषा** (लाङ्गल+ईषा)। **हलीषा** (हल+ईषा), **पतञ्जलिः** (पतत्+अञ्जलिः) आदि की सिद्धि के लिये भट्टोजि दीक्षित वार्तिक में 'तच्च टेः, ऐसा अधिक पढ़ते हैं। पर यह अंश भाष्य में उपलब्ध नहीं है। भाष्य-प्रदीप में 'मनीषिन्' शब्द पृषोदरादि होने से साधु है—ऐसा कहा है। इस आधार पर दूसरे शब्दों की भी पृषोदरादित्व की कल्पना करनी चाहिये। **मनस ईषा** मनीषा आदि

षष्ठीसमास हैं। पतन्तोऽञ्जलयो यस्मिन् स पतञ्जलिः—यह बहुव्रीहि है। अर्थ है—जिसके प्रति नमस्य होने से हाथ जुड़ जाते हैं। 'सारङ्ग' में भी पर-रूप हुआ है ऐसा दीक्षित का मत है। सारं=शारम् अङ्गमस्येति सारङ्गः=चातकः। सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम् (मेघ०)। सारङ्गः स्तोककश्चातकः समाः (अमर)। चातके हरिणे पुंसि सारङ्गः शबले त्रिषु (अमर)। सारङ्ग का हस्ती, मयूर अर्थ भी है। मार्तण्डः=सूर्यः मृतादण्डाज्जायते। अण् तद्धित। आचार्य का अपना प्रयोग भी है—प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् (१।३।४२)। व्यवहृपणोः समर्थयोः (२।३।५७)। यहाँ सम+अर्थः =समर्थः। सम=समान। अश्मन्तम् (चूल्हा)। अश्मनोप्यन्तोऽत्र अश्मन्तम् (अश्म+अन्तम्)।

२३. ओत्वोष्ठयोः समासे वा (वा०)। ओतु (=विडाल) तथा ओष्ठ के उत्तरपद होने पर पूर्व अवर्ण तथा इनके 'ओ' के स्थान में विकल्प से पररूप एकादेश होता है— अयं स्थूलोतुः। अयमपरः कृशौतुः। 'ओतु' स्त्रीलिङ्ग में विल्ली का वाचक है। इयं स्थूलोतुः। इयमपरा कृशौतुः। वकारस्य दन्तोष्ठं स्थानम्, दन्तौष्ठमिति वा। बिम्बसदृश ओष्ठोऽस्या विम्बोष्ठी विम्बौष्ठी वा। प्रोष्ठो मत्स्यभेदः।

> द्वैपायनोष्ठपुटनिः सृतमप्रमेयं
>
> पुण्यं पवित्रमथ पापहरं शुभ च।
>
> यो भारतं समधिगच्छति वाच्यमानं
>
> किं तस्य पुष्करजलैरभिषेचनेन ॥ (हरिवंश १।२)।

समासाभाव में यथाप्राप्त वृद्धि ही होगी—तवौतुः। तवौष्ठः।

२४. ओमाङोश्च (६।१।९५)।* अवर्णान्त से ओम् व आङ् परे रहते पूर्व पर के स्थान में पर-रूप एकादेश होता है—का ओम् इत्यवोचत्। कोम् इत्यवोचत्, किस ने ओम् ऐसा कहा? यदमात्यैर्मतमुपन्यस्तं तत्रोमिति ब्रूमः, मन्त्रियों ने जो विचार रखा है, उसे हम स्वीकार करते हैं। शिवाय ओं नमः। शिवायों नमः। उपेहि पुत्रक। परिष्वजस्व मां पीडितम्, पुत्र आओ, मुझे

---

* इस पररूप में एक रहस्य निहित है। ईश्वर अव्यय (अविकारी) है। उसका नाम ओम् भी अव्यय है। आर्यों की यह इच्छा रही कि उच्चारण में भी ओम् अव्यय रहे, विकृत न हो। इसका सांहितिक विकार वे सह नहीं सकते थे।

दृढतया आलिङ्गन करो। पीडितम्—यह क्रियाविशेषण है। पीडितम्=गाढम्। उपेहि। यहां आ+इहि—इस अवस्था में गुण होकर 'एहि' रूप होता है। तब अन्तादिवच्च से पूर्वान्तवद्भाव होने से आङ् व्यपदेश होने से प्रकृत सूत्र से 'उप+एहि' में पररूप एकादेश होता है।

२५. **अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ** (६।१।९८) अव्यक्त=अस्फुट वर्ण के अनुकरण (जो स्फुट वर्ण होता है, पर कुछ सादृश्य को लेकर अव्यक्त वर्ण का अनुकरण होता है) का जो 'अत्' शब्द, उससे 'इति' परे होने पर दोनों के स्थान में पररूप एकादेश 'इ' होता है—**पटदिति पटिति**। यह विधि अनेकाच् अनुकरण को ही होती है, एकाच् को नहीं, अतः **स्रत् इति=स्रदिति**। **घटदिति गम्भीरमम्बुदै र्नदितम्**—इस वाक्य में घटत् इति—यहाँ पररूप एकादेश क्यों नहीं हुआ? यहाँ 'घटद्'—दकारान्त अनुकरण शब्द जानना चाहिये।

२६. **अव्यक्तानुकरणे डाच्**, अव्यक्त के अनुकरण से स्वार्थ में डाच् प्रत्यय होता है कृ, भू, अस् के योग में। **डाचि द्वे बहुलम्** डाच् की विवक्षा में ही बहुलतया अनुकरण को द्वित्व हो जाता है। द्वित्व होने पर पर भाग को आम्रेडित कहते हैं।

२७. **नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा** (६।१।९९)। आम्रेडित के अन्त्य तकार मात्र को विकल्प से पररूप होता है—**पटत्पटा करोति। पटत् पटदिति**। यहाँ हल्सन्धि में वक्ष्यमाण **झलां जशोऽन्ते** (८।२।३९) से 'त्' को जश् 'द्' हो गया।

२८. **अकः सवर्णे दीर्घः** (६।१।१०१) अक् से सवर्ण अच् परे होने पर पूर्व पर दोनों के स्थान में दीर्घ एकादेश होता है—

पदान्तसन्धि—न हि धन्वाभिवर्षति पर्जन्यः, मरुभूमि पर मेघ नहीं बरसता। धन्वन् नपुं० भी है। **रमाऽध्यास्त आसनम्**, रमा आसन पर बैठती है। **नभसीरम्मदः** (नभसि इरम्मदः) **प्रावृषि वर्तते**। इरम्मदः=मेघज्योतिः। **साधूपविश** (साधु+उपविश), अच्छी तरह बैठो।

विमलद्यूद्भासते (विमलद्यु+उद्भासते) **वासरम्**, निर्मलगगन वाला दिन खूब चमकता है। **नगरं कर्तॄद्धस्य** (कर्तृ+ऋद्धस्य) **कर्मणः**, इस समृद्ध कर्म का करने वाला सार नगर है।

अपदान्त सन्धि—रामात् (राम+आत्) **परं पुरुषमहं न जाने। हाहा** (हाहा+टा) **गन्धर्वेणेदं कृतं न मनुष्येण**।

समाससन्धि—**वेदान्तेषु रमते यतिः प्रायेण,** यति उपनिषदों में प्रायः रमण करता है। **इदमल्पोदकं सरः, इदं च बहूदकम्,** यह तालाब थोड़े जल-वाला है, और यह बहुत जलवाला है। **परीक्षां** (परि+ईक्षां) **प्रतीक्षते** (प्रति+ईक्षते) **वार्षिकीम्,** वर्ष के अन्त में होने वाली परीक्षा की प्रतीक्षा करता है। **सतीशश्रीशयोः कतरस्मिंस्तव रतिः,** (सती+ईश) शिव, (श्री+ईश) विष्णु——इन दो में से किस में तेरी भक्ति है? **सूक्तं** (सु+उक्तं) **सुरसं भवति दुरुक्तं च विरसम्।** **बन्धुरं तून्नताननतम्** (तु+उन्नत+आनतम्)—अमर। ऊँची नीची (भूमि) को 'बन्धुर' कहते हैं। **धारासारै र्वर्षति देवः,** मूसलाधार वृष्टि हो रही है। धारा+आसारः=धारासारः। **पितृणान्मुक्तस्य देवदत्तस्य निर्वृणोति चेतः,** पितृऋण से मुक्त हुए देवदत्त का मन शान्त हो गया है। सूत्र में **सवर्ण अच् परे रहते दीर्घ एकादेश कहा है,** अतः कुमारी शेते, यहाँ 'श्' के 'ई' का सवर्ण होने पर भी अच् न होने से दीर्घ एकादेश नहीं हुआ।

२८. **नाज्झलौ** (१।१।१०)। अच् व झल् परस्पर सवर्ण नहीं होते, यह निषेध आक्षरसमाम्नायिक (प्रत्याहार सूत्रों में पढ़े हुए) ह्रस्व 'इ' तथा 'श्' के परस्पर सावर्ण्य का निषेध करता है। सावर्ण्यविधि (तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्) तथा सावर्ण्य निषेध (नाज्झलौ) से पूर्व ग्रहणक-शास्त्र अणुदित्सवर्णस्य के अनिष्पन्न होने से 'नाज्झलौ' में 'अच्' अपने सवर्णों का ग्राहक नहीं हो सकता।[1]

उपसर्ग-सन्धि—**स काले प्राकुरुत** (प्र+अकुरुत) **कर्माणि सिद्धिं चालभत।** **गुरुमुपागां** (उप+अगां) **व्याकरणं चाध्यगीषि,** मैं गुरु के पास गया और मैंने व्याकरण पढ़ा।

२६. **एङः पदान्तादति** (६।१।१०९)। पदान्त एङ् से परे ह्रस्व 'अ' हो तो पूर्व पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है—**अम्ब! देहि मेऽम्बु,** मातः, मुझे जल दो। **प्रियेऽतिक्रामति कालः, प्रस्थेयं नः,** हे प्रिये, समय निकल रहा है, हमें चलना चाहिये। **तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये** (भर्तृ-

---

१. प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।१०२) तस्माच्छसो नः पुंसि (६।१।१०३)। नादिचि (६।१।१०४)। दीर्घाज्जसि च (६।१।१०५) अमि पूर्वः (६।१।१०७)। ङसिङसोश्च (६।१।११०) ऋत उत् (६।१।१११)। ख्यत्यात् परस्य (६।१।११२)—इन सूत्रों का सोदाहरण व्याख्यान इस ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड में देखें। सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०८) की व्याख्या भी वहीं देखें।

हरि), ये लोग जो परहित का स्वार्थ के लिये नाश करते हैं वे मानुषराक्षस हैं। **कोऽतिभारः समर्थानाम् ? प्रभोऽनुगृहाण माम् । त्वमसि मे शरणम् ।**

३०. **सर्वत्र विभाषा गोः** (६।१।१२२)। सर्वत्र लोक में तथा वेद में एङन्त 'गो' के एङ् को अत् (ह्रस्व अ) परे रहते विकल्प से प्रकृतिभाव (प्रकृति=अपने स्वरूप में स्थिति) होता है, पक्ष में पूर्व 'ओ' तथा पर 'अ' के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है—**गो-अभिकामा वयम् । गोऽभिकामा वयम् । अपशवो वा अन्ये गो-अश्वेभ्यः पशवो गोश्वाः ।** इस सूत्र में **प्रकृत्याऽन्तः पादमव्यपरे** (६।१।११५) से 'प्रकृत्या' की अनुवृत्ति आती है।

३१. **अवङ् स्फोटायनस्य** (६।१।१२३)। स्फोटायन आचार्य के मत में 'गो' के एङ् (ओ) को अवङ् (अव) आदेश होता है अच् परे रहते। इस सूत्र में 'अति' की निवृत्ति हो चुकी है, 'अचि' की अनुवृत्ति मानी जाती है। सूत्र में स्फोटायन ग्रहण पूजार्थ है, 'विभाषा' की अनुवृत्ति आ ही रही है। **गवाश्वप्रभृतीनि च** (२।४।११)। **गवाश्वम्** (गावश्च अश्वाश्च समाहृताः)। **गो-अश्वाः। गोऽश्वाः ।**

यह व्यवस्थित विभाषा है । अतः **गवाक्षः**—यहाँ नित्य अवङ् आदेश होता है। **वातायनं गवाक्षः** (अमर)। **गोरक्षीव गवाक्षः । गवादनी**=गोचर, चरागाह। यहाँ भी नित्य अवङ् होता है।

३२. **इन्द्रे च नित्यम्** (६।१।१२४)। इन्द्र शब्द परे होने पर 'गो' के एङ् (ओ) को नित्य अवङ् आदेश होता है—**गवेन्द्रः** (गवामिन्द्रः), गोस्वामी, अथवा श्रेष्ठ वृषभ।

प्रकृतिभाव

३३. **प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्** (६।१।१२५)। प्लुत (त्रिमात्रिक अच्) तथा प्रगृह्य संज्ञक अच् (जिन्हें कहेंगे) अच् परे रहते नित्य ही प्रकृत्या=अपने स्वरूप में अवस्थित रहते हैं। इसे **प्रकृतिभाव** कहते हैं।

प्रकृतिभाव की प्रवृत्ति के लिये प्रथम प्लुत विधान का व्याख्यान करते हैं। प्लुतविधि आष्टमिक है।

३३. **वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः** (८।२।८२)। यह अधिकार सूत्र है। वाक्य के 'टि'-भाग को प्लुत होता है और वह प्लुत आदेश उदात्त होता है। वक्ष्यमाण सूत्रों में यह उपस्थित होगा।

३४. **प्रत्यभिवादेऽशूद्रे** (८।२।८३)। शूद्रवर्जित प्रत्यभिवाद (अभिवादन के उत्तर में आशीर्वचन) में वाक्य के 'टि' को उदात्त प्लुत आदेश होता है।

यह प्लुत तभी होता है जब प्रत्यभिवाद-विषयक वाक्य के अन्त में नाम अथवा गोत्र का उच्चारण हो—**अभिवादये देवदत्तोऽहं भोः** (अभिवादवाक्य)। **आयुष्मानेधि देवदत्त ३** (प्रत्यभिवादवाक्य)। पर आयुष्मानेधि—यहाँ वाक्य के 'टि'-भाग को प्लुत नहीं होता।

३५. **स्त्रियां न (वा०)**। स्त्रीविषयक प्रत्यभिवाद में प्लुत नहीं होता—**अभिवादये गार्ग्यहं भोः** (अभिवाद-वाक्य)। **आयुष्मती भव गार्गि** (प्रत्यभिवाद वाक्य)।

३६. **भो-राजन्य-विशां वेति वक्तव्यम् (वा०)** वाक्यान्त में 'भोः' शब्द को क्षत्रिय अथवा वैश्य-जातीय नाम को विकल्प से प्लुत होता है—**आयुष्मानेधि भोः ३ (भोः)। आयुष्मानेधीन्द्रवर्म ३न्**, हे इन्द्रवर्मन्, तू चिरायु हो। **आयुष्मानेधीन्द्रपालित ३**।

३७. **दूराद्धूते च (८।२।८४)**। दूर से आह्वान (बुलाना, सम्बोधन करना) अर्थ में वाक्य के टि भाग को प्लुत होता है। सूत्र में 'हूत'=ह्वान। नपुंसके भावे 'क्त' है। अभिमुखीकरण में तात्पर्य है। आह्वान हो चाहे न हो। **जहाँ जब तक प्राकृत यत्न से अधिक यत्न न किया जाय तब तक सन्देह रहता है कि उच्चारित शब्द सुना गया है अथवा नहीं, वह 'दूर' होता है।** 'दूर' सापेक्ष शब्द है। इस के अर्थ का कोई और लक्षण नहीं किया जा सकता। **देवदत्त ३ अत्र न्वसि**, देवदत्त ! क्या तू यहाँ है ? **यज्ञदत्त ३ इदमानय**, यज्ञदत्त ! यह लाओ। यहाँ प्लुत होने से सवर्ण दीर्घ सन्धि नहीं हुई। आह्वान न होने पर भी दूर से सम्बोधन होने पर प्लुत होकर प्रकृतिभाव होगा—**सक्तून्पिब देवदत्त ३**।

३८. **गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम् (८।२।८६)**। दूर सम्बोधन के विषय में ऋकार-भिन्न अनन्त्य (जो अन्त्य नहीं) गुरु अक्षर को भी पर्याय से प्लुत होता है प्राग्देशवासी आचार्यों के मत से। 'अन्त्य' को तो पहले से ही प्राप्त है। अनृतः, यह षष्ठ्यन्त है। न ऋत्=अनृत्। तस्य अनृतः। **दे ३ वदत्त। देवद ३ त्त। देवदत्त ३ इह क्षिप्रमायाहि**, यहाँ जल्दी आओ।

३९. **अप्लुतवदुपस्थिते (६।१।१२९)**। **अनार्ष इतिकरण को 'उपस्थित' कहते हैं। ऋषिर्वेदः। तत्र भवः=आर्षः। तद्भिन्नः=अनार्षः।** ऋगादि के पदपाठ में 'इति' शब्द द्वारा किसी एक पद को समुदाय से पृथक् करके अपने स्वरूप में अवस्थित किया जाता है, उस 'इति' शब्द को 'उपस्थित' कहते हैं। जब लौकिक प्रयोग में ऐसे 'इति' शब्द का प्रयोग हो तो उसके परे रहते प्लुत अप्लुतवत् हो जाता है विकल्प से, अर्थात् प्लुत-निमित्तक प्रकृति-भाव विकल्प

से नहीं होता—सुश्लोक ३ इति। सुश्लोकेति। श्लोकः=यशः। **पद्ये यशसि च श्लोकः** (अमर)। सुश्लोकः=सुयशाः।

४०. **ई३ चाक्रवर्मणस्य** (६।१।१३०)। प्लुत इकार अच् परे रहते चाक्रवर्मण आचार्य के मत से अप्लुतवत् होता है, अर्थात् इसे प्लुत-निमित्तक कार्य नहीं होता, प्रगृह्य संज्ञा होकर प्रकृतिभाव नहीं होता। 'इति' परे रहते अप्लुतवत् विधि प्राप्त थी, अन्यत्र अप्राप्त, अतः यह उभयत्र विभाषा है। **अस्तु हीत्यब्रवीत्। अस्तु हि ३ इत्यब्रवीत्। चिनुहीदम्। चिनुहि ३ इदम्।**

४१. **ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्** (१।१।११)। ईद् आदि द्विवचन के विशेषण हैं। विशेषणेन तदन्तविधिः। ईदन्त, ऊदन्त, एदन्त, द्विवचन की प्रगृह्य संज्ञा है। **मुनी आसाते** (दो मुनि बैठते हैं)। **साधू ईशमुपासाते**। (दो सज्जन ईश्वर की उपासना करते हैं)। **शेवहे आवाम्, त्वं प्रतिजागृहि,** हम (दो) सोते हैं, तुम चौकसी करना। **प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि** (गीता)। **किलाटः कूर्चिका चेति क्षीरस्य विकृती उभे** (हलायुध), खोआ और कूर्चिका (रबड़ी) दोनों दूध के रूपान्तर हैं। **यौ पत्येते अप्रतीतौ** (अथर्व० ७।२६। १), जो अपराङ्मुख होते हुए अधिकार रखते हैं। पत् दिवादि ऐश्वर्यार्थक। इन उदाहरणों में प्रगृह्य संज्ञा होकर प्रकृतिभाव हुआ है।

४२. **अदसो मात्** (१।१।१२)। 'अदसः' यह षष्ठयन्त है। मात्—यह 'म' की पञ्चमी है। 'म' में 'अ' उच्चारणसौकर्य के लिये है। अदस्-सम्बन्धी 'म्' से परे ईत् (ई), ऊत् (ऊ) प्रगृह्य होते हैं। प्रगृह्य होने से प्रकृतिभाव होता है—**अमी ईश्वरा धनेन मत्ता विदुषो नाद्रियन्ते**, वे धनी लोग धन से मत्त हुए विद्वानों का आदर नहीं करते। **अमू अङ्गने कस्य कुलस्यावतंसौ,** वे दो स्त्रियाँ किस कुल का भूषण हैं?

४३. **शे** (१।१।१३)। सुपां सु-लुक्—(७।१।३९) से विहित सुप् का आदेश 'शे' का इस सूत्र में ग्रहण है। 'शे' की प्रगृह्य संज्ञा होती है। प्रगृह्य होने से प्रकृतिभाव होता है—**अस्मे इन्द्राबृहस्पती**। अस्मे=अस्मभ्यम्।

४४. **निपात एकाजनाङ्** (१।१।१४)। एकाच्-रूप निपात प्रगृह्यसंज्ञक होता है, पर आङ् (जो एकाच्-रूप निपात है) प्रगृह्य नहीं होता—**इ इन्द्रः**। 'इ' विस्मय का द्योतक है। **उ उमेशः**। 'उ' वितर्क का द्योतक है। अर्थ है—क्या यह उमेश (शिव) हो सकता है? आङ् की प्रगृह्यसंज्ञा ही का निषेध किया है, अतः जो अङित् 'आ' है उसकी प्रगृह्य संज्ञा होती ही है—**आ एवं किल तत्**, हाँ मुझे स्मरण आ गया। वह ऐसा ही था। **आ एवं नु मन्यसे,**

हो सकता है तू ऐसा समझता है। वाक्यालङ्कार में अथवा स्मरण अर्थ में 'आ' अङित् होता है, अर्थान्तर में ङित्।

ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः।

एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित्॥

आङ्+उष्णम्=**ओष्णम्**=ईषदुष्णम्=कोसा। आङ् एति=**ऐति**। मर्यादा अथवा अभिविधि अर्थ में—**ओदकान्तात्** (आङ्+उदकान्तात्)। **प्रियो जनोऽनुगन्तव्यः।**

४५. **ओत्** (१।१।१५)। ओदन्त निपात की प्रगृह्य संज्ञा होती है। प्रगृह्य होने से अच् परे रहते प्रकृतिभाव होता है—**अहो अनर्थः**, कितना अनर्थ (अनिष्ट) है। **किमिदमिष्टमुताहो अनिष्टम्**, क्या यह इष्ट है अथवा अनिष्ट? **किमेष सत्यो वृत्तान्त आहो असत्यः?** कारिका में अनुक्त सप्तम्यर्थक 'आ' भी ङित् आङ् होता है, जिस कारण आङोऽनुनासिकश्छन्दसि (६।१।१२६) से उसे अनुनासिक हो जाता है—**अभ्र आँ अपः।**

४६. **सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे** (१।१।१६)। सम्बुद्धि-निमित्तक ओकार 'प्रगृह्य' होता है अवैदिक 'इति' शब्द परे रहते शाकल्याचार्य के मत में। शाकल्य ग्रहण पूजार्थ है। **वायो इति। वायविति। भानो इति। भानविति।** अनार्ष 'इति' शब्द परे रहते यह प्रगृह्य संज्ञा-विकल्प कहा है, अतः आर्ष (वैदिक) इतिशब्द परे रहते प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती, तो प्रकृतिभाव नहीं होता—**एता गा ब्रह्म बन्धवित्यब्रवीत्** (उसने कहा हे ब्रह्मबन्धो, ये गौएँ हैं)। सम्बुद्धि-निमित्तक 'ओ' की वैकल्पिकी प्रगृह्य संज्ञा की है, अतः **गवित्ययमाह**, उसने 'गो' ऐसा कहा। अनुकार्य अनुकरण के भेद की अविवक्षा में अनुकरण 'गो' के अनर्थक होने से विभक्ति नहीं आई।

४७. **उञः** (१।१।१७)। उञ् निपात की शाकल्याचार्य के मत में प्रगृह्य संज्ञा होती है अनार्ष 'इति' शब्द परे होने पर। शाकल्य ग्रहण विभाषा के लिये है। **उ इति। विति।**

४८. **ऊँ** (१।१।१८)। पूर्व सूत्र से उञः की अनुवृत्ति आ रही है। उञ् को ऊँ (दीर्घ अनुनासिक) आदेश होता है अनार्ष 'इति' शब्द परे रहते। और उसकी प्रगृह्य संज्ञा होती है। विभाषार्थ शाकल्यग्रहण इस सूत्र में भी अनुवृत्त है, जिससे तीन रूप निष्पन्न होते हैं—**उ इति। विति। ऊँ इति।**

४९. **ईदूतौ च सप्तम्यर्थे** (१।१।१९)। इस सूत्र में 'शाकल्यस्येतावनार्षे' की निवृत्ति हो चुकी है। ईदन्त ऊदन्त शब्द जो सप्तम्यर्थ में वर्तमान हो, प्रगृह्य-

संज्ञक होता है। प्रगृह्य होने से अच् परे रहते प्रकृतिभाव होता है—**सोमो गौरी अधिश्रितः।** यहाँ **सुपां सु-लुक्**—(७।१।३९) से सप्तमी का लुक् हुआ है। सप्तमी का अर्थ विद्यमान है। गौरी=गौर्याम्। **अध्यस्यां मामकी तनू** (=मामक्यां तन्वाम्)—यहाँ पदकाल में इति शब्द परे होने पर प्रगृह्य संज्ञा प्रयोजनवती होती है।

सूत्र में 'ईदूतौ' क्यों कहा? **प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भवाति।** यहाँ 'अग्ना' में अग्नि शब्द से परे सप्तमी को 'डा' आदेश हुआ है। सप्तमी का अर्थ तो है, 'ईदन्त' शब्दरूप नहीं है। संहितापाठ में प्रगृह्य-संज्ञा का प्रयोजन न होने पर भी पद-पाठ में प्रयोजन है। यहाँ 'इति' परे रहते प्रगृह्य संज्ञा हो जाती यदि 'ईदूतौ' ऐसा न पढ़ते।

सप्तम्यर्थे ऐसा क्यों पढ़ा? **वाप्यश्वः। नद्यातिः।** इसलिये कि यहाँ वापी, नदी (ईदन्त शब्दों की प्रगृह्य संज्ञा न हो)। वाप्यश्वः, नद्यातिः—यहाँ **संज्ञायाम्** (२।१।४४) से सप्तमीसमास है। सप्तम्यर्थ यहाँ भी है, तो फिर प्रगृह्य संज्ञा क्यों नहीं होती? उत्तर—**जहत्स्वार्था वृत्तिः** (समास के घटक अवयव) अपना-अपना अर्थ छोड़ देते हैं, वे वर्ण की तरह अनर्थक होते हैं, समास ही अर्थवान् होता है, इस पक्ष में सप्तम्यर्थ ही नहीं है। **अजहत्स्वार्था वृत्तिः**(समास के घटक अवयव अपने-अपने अर्थ को छोड़ते नहीं, इस पक्ष में उपसर्जन पद (प्रकृत में सप्तम्यन्त वापी, नदी) स्वार्थमात्र में पर्यवसित नहीं होता किन्तु अपने से सम्बद्ध प्रधानार्थ में उपसङ्क्रान्त हो जाता है। अतः सूत्र में अर्थ ग्रहण-सामर्थ्य से वाक्य में जितना केवल असंसृष्ट (प्रधान से असम्बद्ध) अर्थ अवगत होता है उसी का ग्रहण होता है, संसृष्ट का नहीं।

५०. **इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च** (६।१।१२७)। शाकल्याचार्य के मत में पदान्त इक् को प्रकृतिभाव तथा ह्रस्व होता है असवर्ण अच् परे रहते। **एङः पदान्तादति** (६।१।१०९) से 'पदान्त' पद की अनुवृत्ति आ रही है। सूत्र में ह्रस्व विधान के सामर्थ्य से ही प्रकृतिभाव सिद्ध था, अतः प्रकृतिभाव के अनुकर्षण के लिये चकार पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं थी, ऐसा भाष्य में कहा है। शाकल्यग्रहण पूजार्थ है। विकल्प विधान में तात्पर्य है—**न साक्षि आत्मनः समः** (भा० शां० ३२१।५३)। पक्ष में **साक्ष्यात्मनः** (साक्षी आत्मनः) होगा। **द्वीपि अत्र वने प्रधानम्। द्वीप्यत्र वने प्रधानम्,** चीता इस वन में मुख्य है। 'पदान्त' क्यों कहा? गौर्यौ (गौरी+औ)—यहाँ ह्रस्व तथा प्रकृतिवद्भाव नहीं हुए।

५१. **न समासे** (वा०)। समास में पदान्त इक् को यह विधि नहीं होती —वाप्यश्वः। नद्यातिः।

५२. **सिति च** (वा०)। सित् प्रत्यय परे होने पर पदान्त इक् को यह विधि नहीं होती। **पर्शूनां समूहः पार्श्वम्। पर्श्वा णस् वक्तव्यः** इस वार्तिक से 'पर्शू' शब्द से समूहार्थ में णस् (सित् प्रत्यय) आता है। **सिति च** (१।४।१६) सूत्र से सित् प्रत्यय परे पूर्व की पद-संज्ञा है।

५३. **ऋत्यकः** (६।१।१२८) ऋत्—ह्रस्व ऋकार परे होने पर पदान्त अक् को प्रकृतिभाव होता है और ह्रस्व होता है शाकल्याचार्य के मत में। शाकल्यग्रहण पूजार्थ है। आरम्भ सामर्थ्य से ही यणादेश के साथ समावेश सिद्ध है—**स्वायां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम्**—यहां प्रकृतिभाव तथा ह्रस्व नहीं हुआ। **ब्रह्म ऋषिरिव ब्रह्म ऋषिः।** प्रकृतिभाव तथा ह्रस्व। **ब्रह्मर्षिः।** गुण। **यथ ऋतव ऋतुभि र्यन्ति साधु** (ऋ० १०।१८।६)। **अग्निर्वै देवानां पात्नीवतो नेष्ट ऋत्विजाम्** (शां० ब्रा० २८।३)। नेष्टृ का प्रथमान्त नेष्टा। **मा मात्रा शार्यपसः पुर ऋतोः** (ऋ० २।२८।५)। पुरा ऋतोः—यहाँ पदान्त अक् (आ) को प्रकृतिभाव तथा ह्रस्व हुआ है। (हे वरुण!) समय से पहले मेरा शरीराङ्ग शीर्ण मत हो। **स्राक्त्येन मणिन ऋषिणेव मनीषिणा** (अथर्व० ८।५।८)। मणिना ऋषिणा—इस अवस्था में मणिना के 'आ' को प्रकृतिभाव तथा ह्रस्व हुआ है। **पञ्चर्तवो हेमन्तशिशिरयोः समासेन** (ऐ० ब्रा० १।१)। हेमन्त तथा शिशिर के एकीकरण से ऋतुएँ पांच हैं। यहाँ प्रकृतिभाव तथा ह्रस्व के अभाव में गुण हुआ है।

यह विधि समास में भी होती है। **नमः परम ऋषिभ्यः** (प्रश्न० उ० प्र० ६)। यहाँ पदान्त अक् के दीर्घ न होने से केवल प्रकृतिभाव हुआ है अथवा पर्जन्यवत्सूत्रप्रवृत्ति होती है, अतः ह्रस्व को भी ह्रस्व हुआ है। **सप्तऋषीणाम् सप्तर्षीणाम्। खड्गे तु निस्त्रिंशचन्द्रहासासिऋष्टयः** (अमर)। ऐसा क्षीरस्वामिकृत अमरोद्घाटन में पाठ है। यहाँ समास में प्रकृतिभाव हुआ है। पदान्त अक् ('असि' का 'इ') पहले ही ह्रस्व है। पदान्त अक् को यह विधि कही है, अतः आर्छत् में (आट् ऋच्छत्) में आट् आगम के ऋच्छ धातु का अवयव होने से अक् (आ) पदान्त नहीं है, अतः आटश्च (६।१।९०) से वृद्धि एकादेश हो गया॥

इत्यच्सन्धिः।

हल्सन्ध्यधिकारो द्वितीयः।

अष्टाध्यायी प्रक्रियाप्रधान ग्रन्थ नहीं। इसका प्रकरणशः निवन्धन हुआ है। **ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्** (६।१।७१)—यह ह्रस्व को पित् कृत् परे रहते तुक् आगम विधान करता है। इस प्रसङ्ग से आचार्य संहिताऽधिकारीय तुक् का भी यहीं विधान करते हैं। **संहितायाम्** (६।१।७२)—यह अधिकार सूत्र है। **अनुदात्तं पदमेकवर्जम्** (६।१।१५८) यहाँ तक यह अधिकार चलता है। इस अवधि तक वक्ष्यमाण सूत्रों में जो कार्य विधान किया जायगा, वह संहिता विषय में होता है। इस संहिताधिकार का प्रथम सूत्र है—

५४. **छे च** (६।१।७३)। पूर्व सूत्र से 'ह्रस्वस्य तुक्' की अनुवृत्ति है। छकार परे रहते संहिता विषय में ह्रस्व को तुक् (त्) आगम होता है। कित् होने से यह आगम पूर्व ह्रस्व का अन्तावयव वनता है। **आद्यन्तौ टकितौ**। इच्छति। गच्छति। यच्छति। तुक् के त् को (१८४) से चवर्ग (च्) होता है। यहाँ ह्रस्व ही आगमी है (ह्रस्व को आगम विधान किया है), तदन्त नहीं। अतः **चिच्छिदतुः, चिच्छिदुः**—यहाँ तुक् अभ्यास का अवयव नहीं, अतः हलादिः शेष से इसकी निवृत्ति नहीं होती। यद्यपि ह्रस्व (जिसे तुक् हुआ है) अभ्यास का अवयव है, पर अवयव का अवयव समुदाय का अवयव नहीं माना जाता। **नावयवावयवः समुदायावयवो भवति**।

५५. **आङ्माङोश्च** (६।१।७४)। आङ् (ईषद् आदि चार अर्थों में पढ़ा हुआ ङित् आ) तथा प्रतिषेधवाचक माङ् को छकार परे रहते संहिता विषय में तुक् आगम होता है—**सभासु मौनमपण्डितानामाच्छादनं भवति**, सभाओं में मूर्खों का मौन आच्छादन (संवरण, ढकना) है। **आच्छायाऽस्य तरोः, अस्य च प्रच्छाया, तेनात्र निषीदामः** (इस वृक्ष की थोड़ी छाया है, इसकी घनी छाया है, अतः हम यहां वैठते हैं)। **आच्छायमत्र तरुतले निषत्स्यामः** (जव तक छाया रहेगी, इस वृक्ष के नीचे वैठेंगे)। **मा च्छित्थाः परप्राणान्** (दूसरे के प्राणों को मत काट)। पदान्त विषय में विकल्प कहेंगे, आङ्, माङ् को (जो पदान्त हैं) तुक् नित्य हो, एतदर्थ इस सूत्र का आरम्भ हुआ है।

५६. **दीर्घात्** (६।१।७५)। दीर्घ से परे छकार होने पर पूर्व दीर्घ को तुक् आगम होता है—**ह्रीच्छति दुष्कृतेन** (दुष्कर्म से लज्जित होता है)। **न यज्ञगतेन ब्राह्मणेन म्लेच्छितव्यम्** (यागानुष्ठान करते हुए ब्राह्मण को अपशब्द नहीं उच्चारण करना चाहिये)। **अपचाच्छायते शत्रून् विकर्तनकुलकुमारः** (सूर्यवंशी कुमार शत्रुओं को बार-बार काटता है)। अप-पूर्वक छो छेदने धातु से यङ्, लट्।

५७. **पदान्ताद्वा** (६।१।७६)। दीर्घात्, छे तुक् की अनुवृत्ति है। पदान्त दीर्घ से परे जो छकार उस से पूर्व पदान्त दीर्घ को तुक् विकल्प से होता है। **शोकेन हृताच्छाया** (हृता छाया) मुखस्य। छाया=कान्ति। **अल्पा खलु कुटीच्छाया** (कुटीछाया)।

५८. **अतो रोरप्लुतादप्लुते** (६।१।११३)। इस सूत्र में **एङः पदान्तादति** (६।१।१०९) से 'अति' की अनुवृत्ति है और **ऋत उत्** (६।१।१११) से उत् की। सूत्र में 'अतः'—यह पञ्चम्यर्थ में तसिप्रत्ययान्त अव्यय है। 'रोः'—यह 'रु' की षष्ठी है। स-सजुषो रुः (८।२।६६) से पदान्त स् तथा सजुष् के ष् को 'रु' आदेश होता है। 'रु' में 'उ' इत् है। अतः, अति में तत्काल 'अ' के ग्रहण के लिये तपर किया है। अर्थ—अप्लुत 'अ' से उत्तर रु (उकारानुबन्धविशिष्ट र्) को 'उ' आदेश होता है अप्लुत 'अ' परे रहते। देव! **एवमुपस्थिते प्रत्यवस्कन्दं काल्यं कलयन्ति मन्त्रिणः। अतोऽत्र भवच्छासनं प्रतीक्षन्ते** (महाराज! ऐसी स्थिति में मन्त्री लोग प्रत्याक्रमण को प्राप्तकाल समझते हैं। अतः इस विषय में महाराज की आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहे हैं)। यहाँ 'अतस्' के 'स्' को रु (र्) होकर प्रकृतसूत्र से 'रु' को 'उ' होता है, पश्चात् (६।१।८७) से गुण एकादेश (ओ), तब (६।१।१०९) से पूर्वरूप एकादेश। **असह्यः शिशिरोऽशरणेन** (गृह-शून्य के लिये शिशिर (जाड़ा) असह्य है)। **ईश्वरोऽस्मिञ्जगति साक्ष्यन्तर्भूतेषु राजते।** ईश्वरोऽस्मिन्—यहाँ भी पूर्ववत् प्रक्रिया है। कुछ विशेष नहीं। **किं कर्म किमकर्मेति कवयोप्यत्र मोहिताः।** उत्व, गुण एकादेश, पूर्वरूप, यण्।

यहाँ यह शङ्का नहीं होनी चाहिये कि रुत्व पूर्वत्रासिद्धीय (त्रैपादिक) है। उस के इस षाष्ठविधि 'उत्व' के लिये असिद्ध होने से उत्व सम्भव ही नहीं। यदि ऐसा हो तो यह उत्वविधान व्यर्थ हो जाता है। रुत्व उत्व का आश्रय है। जिसका जिस विधि में आश्रयण किया गया है, वह उस विधि के लिए कैसे असिद्ध हो सकता है?

सूत्र में 'अतः' क्यों पढ़ा ? इसलिये कि **इयमोषधिरतिसारयति मलम्**— यहाँ 'रु' को उत्व नहीं हो सका।

'अतः' में 'तपर' क्यों किया ? **अकरुणाः पुरुषा अमी**। यहाँ 'पुरुषाः' में दीर्घ आकार होने से उत्व नहीं हुआ ।

सानुबन्ध 'रु' को 'उ'—ऐसा क्यों कहा ? **स्वरत्र न संशयः** (यहाँ स्वर्ग है, इसमें कुछ संशय नहीं)। 'स्वर्'—यह रकारान्त अव्यय है। (स-सजुषो रुः) से यहाँ स् को 'रु' नहीं हुआ।

'अति' ऐसा क्यों कहा ? **शाल्मली वृक्ष इहोद्याने प्रांशुतमः**। यहाँ 'अ' को तपर किया है जिससे **सायमिति वृक्ष आश्रीयते पतङ्गैः**, यहाँ वृक्ष आश्रीयते में दीर्घ आकार परे होने पर 'रु' को उत्व नहीं हुआ।

'अप्लुतात्'—ऐसा क्यों कहा ? **सुस्रोता३अत्र न्वसि** (हे सुस्रोतः क्या तू यहाँ है ?)। दूराद्धूते (८।२।८४) से जो दूर से बुलाने अर्थ में प्लुत हुआ है वह इस उत्व विधि के लिये असिद्ध है। अतः यदि प्लुत का निषेध न करते तो यहाँ भी उत्त्व हो जाता।

५९. **हशि च** (६।१।११४)। पूर्वसूत्र से 'अतः' की अनुवृत्ति आ रही है। अत् (अ) से परे हश् (प्रत्याहार) परे रहते 'रु' को उत्व होता है—**भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः**। रुत्व। उत्व, आद्गुण। **अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा। धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः। तस्माद् धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत्**। (मनु० ८।१५)

६०. **एतत्तदोः सुलोपो ऽको र्नञ्समासे हलि** (६।१।१३२)। एतद् तथा तद् जो ककार-रहित हों और जो नञ्समास में वर्तमान न हों, उन के 'सु' (प्र० एक०) का लोप हो जाता है हल् परे रहते। एतद्, तद् का 'सु' वही लिया जाता है जो इनके अर्थ से सम्बद्ध है, अर्थात् प्रथमा एक वचन 'सु'। स्वार्थ में अकच् प्रत्यय जो टि-भाग से पूर्व होता है, अतः तन्मध्यपतितस्तद् ग्रहणेन गृह्यते इस न्याय से एतद्, तद् के ग्रहण से साकच्क एतद्, तद् (एतकद्, तकद्) का भी ग्रहण होता है, अतः प्रकृत विधि में ऐसे एतद् और तद् का पर्युदास किया है। **स बहु ददाति स्तोकं च भुङ्क्ते। एष स्तोकं ददाति बहु च भुङ्क्ते। पद्भ्यां स कुरुते पापं यः कलिङ्गान् प्रपद्यते** (ऋते तीर्थयात्रायाः)। **स महदुपकुरुते लोकस्य यो रामायणं प्रकुरुते** (वह लोक का बड़ा उपकार करता है जो रामायण की कथा करता है)। **स चापलमाचरति। तं गर्हते गुरुः**।

सूत्र में 'अकोः' ऐसा विशेषण क्यों दिया ? **एषको ददाति। सको ददाति**।

एषकः=एषः। सकः=सः। यहाँ यथाप्राप्त 'रु' को उत्व, आद्गुण होकर इष्टरूप सिद्ध हुआ है।

'अनञ्समासे'—ऐसा क्यों कहा ? **असः शिवो या प्रतिमा। अनेषः क्षत्रियकुमारो यो भीलुकः।** नञ्समास के उत्तरपदार्थ प्रधान होने से यहाँ 'सु' एतद् तद्-सम्बन्धी ही है।

'हलि'—ऐसा क्यों कहा ? **एषोऽत्र तिष्ठति ब्राह्मणवटुः। सोऽयं विकर्तनकुलकुमारो यं दिदृक्षते लोकः।**

६१. **सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम्** (६।१।१३४)। 'स' के प्रथमा एकवचन 'सु' का लोप हो जाता है अच् परे रहते, यदि लोप होने पर पाद की पूर्ति हो जाय (अक्षराधिक्य न हो)—**सेदु राजा क्षयति चर्षणीनाम्** (ऋ० १।३२।१५), वह राजा वरुण (सब) प्रजाओं पर शासन करता है। **सौषधीरनुरुध्यसे।** 'पाद' से केवल ऋक्पाद ही नहीं लिया जाता, श्लोक पाद भी लिया जाता है, ऐसा भी मत है। इस मत के अनुसार

सैष दाशरथी रामः सैष राजा युधिष्ठिरः।
सैष कर्णो महात्यागी सैष भीमो महाबलः॥

यहाँ भी सुलोप उपपन्न होता है।

६२. **रोऽसुपि** (८।२।६९) पर ये वार्तिक पढ़े हैं—

रूपरात्रिरथन्तरेषु रुत्वं वाच्यम्। अहन् के न् को पदान्त विषय में सुप् न परे होने पर 'रु' हो, ('र्' न हो)—अहोरूपम् (=अह्नो रूपम्)। यहाँ अहन् से (समास होने से) प्रातिपदक के अवयव सुप् (षष्ठ्येकवचन अस्) का लुक् हुआ है। **गतमहो रात्रिरेषा।** 'एकदेशविकृतमनन्यवद् भवति' इस न्याय से **अहोरात्रः** (अहानि च रात्रयश्च, समाहारद्वन्द्व)। **अहोरात्रः कियानपि तस्येतो गतस्य। न च काचित्प्रवृत्तिः** (उसे यहाँ से गये हुए कितने ही दिन हो गये हैं, कोई समाचार नहीं मिला)। **अहोरूपम्। व्यभ्रमिति भास्वदहोरूपम्** (बादल नहीं है, अतः दिन प्रकाशमान है)। **अहोरथन्तरम्**=अहश्च रथन्तरं नाम साम च।

६३. **अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः।** 'रोऽसुपि' से जो रेफ विधान किया है, अथवा जो अन्यथा प्राप्त है उसे पक्ष में रेफ आदेश विधान किया जा रहा है, विकारनिवृत्ति के लिये। वार्तिक में आदि शब्द प्रकारार्थक है। अहरादि अथवा पत्यादि कोई गण नहीं है—**अहर्पतिः।** पक्ष में अहःपति (विसर्ज-

नीय)। अह्नः पतिः=अहर्पतिः सूर्यः। **गीर्पतिः** (गिरः पतिः) =बृहस्पति। **धूर्पतिः** । **स्वर्चक्षा रथिरः**। स्वर्+चक्षाः=स्वर्चक्षाः। **उषर्बुधोऽग्निः**। उषसि बुध्यत इति।

६४. **मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि** (८।३।१)। यह सूत्र छान्दस है। वेद में मत्वन्त व वस्वन्त पद को रुत्व करता है सम्बुद्धि परे रहते। पूर्व सूत्र **तयोर्य्वावचि संहितायाम्** (८।२।१०८) से 'संहितायाम्' की अनुवृत्ति आ रही है। यह अनुवृत्ति (अधिकार) अष्टम अध्याय की परिसमाप्ति तक चलता है।

६५. **अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा** (८।३।२)। यह भी अधिकार सूत्र है। अत्र=इस रुत्व प्रकरण में जिसके स्थान में रुत्व विधान किया जायगा उस वर्ण के पूर्व वर्ण को विकल्प से अनुनासिक होता है ऐसा अधिकार जानना चाहिये। रुत्व विधि के साथ अनुनासिक विधि संनियुक्त है। **कानाम्रेडिते** (८। ३।१२) तक रुत्व प्रकरण है।

६६. **आतोऽटि नित्यम्** (८।३।३)। अट् (प्रत्याहार) परे होने पर 'रु' से पूर्व जो आकार, उसे नित्य अनुनासिक होता है। **दीर्घादटि समानपादे** (८।३।९) से जो रुत्व विधान करेंगे, उसके विषय में पूर्व सूत्र से अनुनासिक-विकल्प प्राप्त होने पर यह नित्यविधान के लिये वचन है। **महाँ असि**। **महाँ इन्द्रो य ओजसा**। **देवाँ अच्छादीव्यत्**। इन उदाहरणों में (८।३।१७) से 'रु' को 'य्' होता है और उस 'य्' का (८।३।१९) से लोप हो जाता है। 'अटि' ऐसा क्यों कहा? **भवांश्चरति**। **भवांश्छादयति**—यहाँ परे अट् न होने से 'रु' से पूर्व वर्ण से परे अनुस्वार होता है।

६७. **अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः** (८।३।४)। इस सूत्र में अन्य शब्द अध्याहार्य है। उस अध्याहार्य अन्य शब्द को अपेक्षित करके 'अनुनासिकात्' यह पञ्चमी प्रयुक्त हुई है। अनुनासिक से अन्य जो 'रु' से पूर्व वर्ण, जिसे अनुनासिक नहीं हुआ (अनुनासिक विधि के वैकल्पिक होने से), उससे परे अनुस्वार आगम होता है। अथवा 'अनुनासिकात्'—यह ल्यब्लोपे पञ्चमी है, अनुनासिकं परित्यज्य=अनुनासिकाभावे—ऐसा दीक्षितानुसारी व्याख्यान है। कुछ लोग सूत्रस्थ 'पर' को ही अन्यार्थक ससझते हैं और अध्याहार को अनावश्यक समझते हैं। अनुनासिक से पर =अन्य अनुस्वार होता है। अर्थात् जिस पक्ष में अनुनासिक नहीं होता उस पक्ष में अनुस्वार आगम होता है। वह आगम किसे होता है? 'रु' से पूर्व को ही, यह शब्दोक्त है। वह आगम होता है, यह व्याख्यान-लभ्य है। उदाहरण उत्तरत्र वक्ष्यमाण रुत्वविधायक सूत्रों की

व्याख्या में देंगे।

६८. **समः सुटि** (८।३।५)। सम् को 'रु' (र्) हो जाता है सुट् (स्) आगम परे होने पर। 'सम्' उपसर्ग है। 'कृ' को सुट् आगम होता है जब 'कृ' से पूर्व सम् अथवा परि उपसर्ग हो और जब सुट्-सहित 'कृ' का भूषण (अलंकृत करना) अर्थ हो। **सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे** (६।१।१३७)। सम्+स्+कृ+तृच्+सु=सं र्स्कर्ता=संस्स्कर्ता। सँस्स्कर्ता। यहाँ 'रु' को **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (८।३।१५) से खर् परे रहते विसर्जनीय प्राप्त हुआ। उसे **वा शरि** (८।३।३६) से विकल्प से 'स्' प्राप्त हुआ, कारण कि परे शर् (स्) पड़ा है। '**वा शरि**' को व्यवस्थित विभाषा मानकर यहाँ नित्य ही सकार होता है। अथवा **समः सुटि** सूत्र में सुटि —यहाँ द्विसकार (स्सुटि) निर्देश है। द्वितीय सकार विध्यन्तर के लिये है। विसर्जनीय को सकारादेश हो, इस के लिये है। अथवा यहाँ रुत्व विधि में अनिष्ट प्रसक्ति (वैकल्पिक सत्व) होने से सकार का ही विधान है। इसे ही वक्ष्यमाण वचन द्वारा कहा जाता है—

६९. **संपुंकानां सो वक्तव्यः** (वा०), अर्थात् सम्, पुम्, कान्—सम्बन्धी म् तथा न् को 'स्' होता है। इस से नित्य 'स्' होकर अनुस्वार और अनुनासिक के विकल्प से उक्त दोनों रूप साधु निष्पन्न हुए।

७०. **समो वा लोपमेके** (भाष्य)—रुप्रकरण में 'सम्' का लोप होता है, ऐसा भी मत है। अलोऽन्त्यस्य से अन्त्य अल् 'म्' का लोप होता है। अनुस्वार व अनुनासिक का विकल्प होने से एकसकार वाले दो रूप होंगे—संस्कर्ता। सँस्कर्ता।

७१. **पुमः खय्यम्परे** (८।३।६)। पुमः यहाँ 'पुम्' से षष्ठी हुई है। खयि—खय्+इ=सप्तम्येकवचन। 'अम्पर' यह 'खयि' का विशेषण है। 'अम्परे' यह बहुव्रीहि है—अम्परो यस्मात् सोऽम्परः, तस्मिन् अम्परे। 'अम्' प्रत्याहार है, जैसे 'खय्'। 'पुम्' के 'म्' को रुत्व होता है अम्परक खय् परे रहते। **पुंस्कामा स्त्री। पुँश्चली।** पुमांसं (पुमन्तरं) चलतीति पुंश्चली स्वैरिणी। 'पुंस्कामा इत्यादि में **कुप्वो ≍क≍पौ च** (८।४।३५) विकल्प से विसर्जनीय और जिह्वामूलीय की प्राप्ति होने से यहाँ भी सकारादेश का विधान जानना चाहिये। अथवा पूर्व सूत्र से ही द्विसकारक निर्देश है, इस पक्ष में 'सकार' की अनुवृत्ति आ रही है। रुत्व की अनुवृत्ति होने पर भी यहाँ उसका सम्बन्ध नहीं है।

'खयि' ऐसा क्यों कहा? **पुंदासः।** पुंगवः (पुमांश्चासौ गौश्च)।

'अम्परे' ऐसा क्यों कहा ? **पुंक्षीरम्** । **पुंक्षुरः** । यहाँ खय् (क्) तो है, पर वह अम्परक नहीं । खय् (क्) से परे 'ष्' है ।

पर-ग्रहण क्यों किया ? खय् से पूर्व यदि अम् होगा, तो यह विधि नहीं होगी—**पुमाख्यः** (पुमांसमाचष्टे) । **पुमाचारः** (पुंस आचारः) ।

७२. **ख्याञादेशे न** (वा०) । **पुंख्यानम्** । यहाँ चक्षिङ् को ख्याञ् आदेश हुआ है । इसमें वार्तिककार द्वारा उक्त विधि का निषेध किया गया है ।

७३. **नश्छव्यप्रशान्** (८।३।७) । 'नः'—यह 'न्' का षष्ठ्यन्त रूप है । छवि छव् (प्रत्याहार) का सप्तम्येकवचनान्त । **अप्रशान्**—यह लुप्तषष्ठीक पद है । =अप्रशामः । प्रपूर्वक शम् से कर्तरि क्विप्, उपधा-दीर्घ, तथा **क्विबन्ता धातुत्वं न जहति** इस न्याय से क्विबन्त के धातु होने से **मो नो धातोः** (८।२।६४) से 'म्' को 'न्' । ततः नञ्-समास । अर्थ—नकारान्त पद को रुत्व होता है अम्परक छव् परे होने पर, पर 'प्रशान्' को यह विधि नहीं होती । अलोन्त्यस्य से अन्त्य अल् 'न्' को रुत्व होता है । रुत्व होने पर विकल्प से अनुस्वार व अनुनासिक होते हैं—**भवांश्छादयति** । **भवाँश्छादयति** । रुत्व होने पर तत्स्थानिक विसर्ग को 'स्' होकर श्चुत्व से 'श्' हो जाता है । **भवांश्चिनोति** । **भवाँश्चिनोति** । **भवांष्टीकते** । **भवाँष्टीकते** । (आप जाते हैं) । विसर्जनीयस्थानिक 'स्' को ष्टुत्व से 'ष्' होता है । **भवांस्तरति** । **भवाँस्तरति** । **चक्रिंस्त्रायस्व** । **चक्रिँस्त्रायस्व** (हे विष्णो) बचाओ) ।

'पदस्य' ऐसा क्यों कहा ? **हन्ति** । (८।१।१६) से 'पदस्य' का अधिकार है। 'हन्ति' में 'न्' अपदान्त है । यह अधिकार **अपदान्तस्य मूर्धन्यः** (८।३।५५) यहाँ निवृत्त होता है ।

'अम्परे' ऐसा क्यों कहा ? **सन् त्सरुः**=शोभनः खड्गमुष्टिः । यहाँ छव् (त्) है, पर वह अम्परक नहीं है ।

प्रशान् का पर्युदास क्यों किया ? **प्रशान् तनोति कार्यंणि स्वानि** । प्रशान् =शान्तः, अक्षुभितः ।

७४. **दीर्घादटि समानपादे** (८।३।९) । दीर्घ अच् से उत्तर पदान्त नकार को रुत्व होता है अट् परे होने पर, यदि वे निमित्त तथा निमित्ती अर्थात् नकार व अट् समानपाद में हों । पूर्वसूत्र उभयथर्क्षु (८।३।८) में ऋक्षु—यह प्रकृत है, अतः यहाँ ऋक्पाद ही लिया जाता है, लौकिक श्लोकपाद नहीं—**परिधीं रति** (परिधीन् अति) । **देवाँ अच्छादीव्यन्** (देवान् अच्छादीव्यन् । यहाँ **महाँ इन्द्रो य ओजसा** । (महान् इन्द्रो···) ।

दीर्घात्—ऐसा क्यों कहा? अहन्नहिम् अरिणात्सप्त सिन्धून् (ऋ० ४।२८।१)। यहाँ पदान्त 'न्' से पूर्व दीर्घ नहीं है। अतः रुत्व नहीं हुआ।

'समानपादे'—ऐसा क्यों कहा? यातुधानानुपस्पृश[1]। (ऋ० १०।८७।२)

७५. **नॄन्पे** (८।३।१०)। 'नॄन्' के नकार को 'रु' होता है 'प' शब्द परे होने पर। 'प' में अकार उच्चारणार्थ है। **नॄँः पाहि। नॄँः पाहि। नॄँः प्रीणीहि। नॄँः प्रीणीहि।**

कुछ लोग (८।३।८) से 'उभयथा' की अनुवृत्ति मानते हैं। उनके अनुसार रुत्व नहीं भी होगा—नॄन्पाहि इत्यादि।

७६. **स्वतवान्पायौ** (८।३।११)। 'स्वतवान्' शब्द के नकार को रुत्व होता है 'पायु' शब्द परे होने पर। तु वृद्धौ—यह छान्दस धातु है। इससे औणादिक असुन् प्रत्यय हुआ है। स्वं तवो वृद्धि र्यस्यासौ स्वतवान्। पायुः= पाता, रक्षिता। **स्वतवाँ पायुरग्ने।**

७७. **कानाम्रेडिते** (८।३।१२)। कान् के नकार को रुत्व होता है, आम्रेडित परे होने पर। अष्टमाध्याय के प्रथमपाद के प्रारम्भ में द्विर्वचन विधान किया है। **'सर्वस्य द्वे'** (८।१।१) यह अधिकार सूत्र है। जिसे द्विर्वचन कहा है उससे पर स्थान में होने वाले शब्दस्वरूप को **'आम्रेडित'** कहते हैं—तस्य परमाम्रेडितम् (८।१।२)। कान् कान् इस अवस्था में द्वितीय 'कान्' आम्रेडित है। यहाँ वीप्सा अर्थ में द्विरुक्ति हुई है—**कांस्कान् ब्राह्मणानामन्त्रयिष्यसे। बहु ते संचयनीयम्। काँस्कानर्थान् संचेष्यसे।** पर **कान्कान् पुरुषानाद्रियसे,** किन कुत्सित पुरुषों का आदर कर रहे हो? यहाँ वीप्सा अर्थ में द्विरुक्ति नहीं, अतः द्वितीय 'कान्' आम्रेडित नहीं। **कस्कादि गण** (कस्कादिषु च८।३।४८) में 'कांस्कान्' का पाठ होने से यहाँ 'रु-स्थानिक-विसर्ग को नित्य ही 'स्' हो जाता है। कस्कादिगण-पठितों के कुछ एक उदाहरण दिये जाते है—**कस्कः** (कौन कौन)। **कस्कोऽत्रभोः? कौतुस्कुतः। कौतुस्कुतो भवान्,** आप कहाँ कहाँ से आये हो? **सर्पिष्कुण्डिका**=घी की कुण्डिका। यहाँ **इणः षः** (८।३।३९) से इण् से परे विसर्जनीय को ष् होता है। ऐसे ही **धनुष्कपालम्**—यहाँ भी। कस्कादि आकृति गण है।

७८. **ढो ढे लोपः** (८।३।१३)। ढकार का ढकार परे होने पर लोप हो

---

१. ऋचा का पूर्वार्ध है—अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानान् उपस्पृश जातवेदः समिद्धः। यातुधानान् प्रथम पाद के अन्त में है और 'उपस्पृश' द्वितीय पाद के आदि में है।

जाता है। यद्यपि यह पदाधिकार के अन्तर्गत है तो भी पदान्त ढकार के असंभव होने से यह विधि अपदान्त ढ् को होती है। **लीढम्** । **उपगूढम्** । लिह + क्त। हो ढः (८।२।३१) से ह् को ढ् होता है। **झषस्तथो र्धोऽधः** (८।२।४०) से 'त्' को ध्। अब ष्टुत्व विधि से इस् 'ध्' को आन्तरतम्यात् ढ् होता है। तब प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति से पूर्व 'ढ्' का लोप होता है। **ष्टुत्व** (८।४।४१) प्रकृत सूत्र की दृष्टि में असिद्ध नहीं होता, कारण कि इस विधि में ढ् का निमित्तत्व रूप से आश्रयण किया गया है। असिद्ध होने पर तो इसकी अपनी प्रवृत्ति कहीं भी न हो सकेगी। तो यह निर्विषय हो जायगा।

परन्तु यह कहा जा सकता है कि जहाँ औत्पत्तिक ढकार है (जो शास्त्रकृत नहीं) जैसे '**श्वलिड् ढौकते**'—यहाँ, वहाँ '**ढो ढे लोपः**' सावकाश रहेगा। नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। जश्त्व के एकपदाश्रित होने से अन्तरङ्ग होने से अथवा '**पूर्वत्रासिद्धम्**' से लोप के असिद्ध होने से पहले जश्त्व हो जायगा। निमित्त ढकार के सिद्ध होने पर भी जश्त्व से कार्यी ढकार का अपहार हो जायगा। पर ढ-लोप निर्विषय होने से जश्त्व का अपवाद क्यों न हो? नहीं, यह अपवाद नहीं हो सकता, कारण कि 'लीढ' आदि में इसके विषय का संभव है (जहाँ जश्त्व का विषय नहीं)। लीढ में (ढो ढे—यहाँ सप्तमी-निर्देश होने से परका पूर्व के साथ आनन्तर्य होना चाहिये) दोनों ढकारों का आनन्तर्य है, श्रवण होने से ष्टुत्व के असिद्ध होने से जो शास्त्रकृत अनानन्तर्य प्राप्त होता है, उसे सूत्रारम्भसामर्थ्य से (ढो ढे लोपः शास्त्र व्यर्थ मत हो इस कारण) बाधा जाता है। **श्वलिड् ढौकते**—यहां न तो श्रुतिकृत आनन्तर्य है, जश्त्व होने पर दो ढकारों के अश्रवण से, और न ही शास्त्र कृत आनन्तर्य है, जश्त्व के ढ-लोप के प्रति सिद्ध होने से। **जश्त्व** विधायक **झलां जशोऽन्ते** (८।२।३९) ढो ढे लोपः से पूर्ववर्ती है। अतः शास्त्र से जश्त्व असिद्ध नहीं। अतः '**श्वलिड् ढौकते**' यह ढ-लोप का विषय नहीं।

७९. रो रि (८।३।१४)। रेफ का रेफ परे होने पर लोप हो जाता है। यहाँ यह संशय होता है कि यहाँ सानुबन्धक 'रु' का ग्रहण है अथवा निरनुबन्धक रेफ का। यह संशय क्यों है? इसलिये कि रोः रि, रः रि—दोनों प्रकार की संहिता का संभव है। यदि सानुबन्धक का ग्रहण माना जाय, तो **इन्दूरथः, अग्नीरथः** तो सिद्ध हो जायेंगे, पर **नीरक्तम्** (निर् + रक्तम्) **दूरक्तम्** (दुर् + रक्तम्) सिद्ध नहीं होंगे। यदि रेफ का ग्रहण मानते हैं तो नीरक्तम् दूरक्तम् तो सिद्ध हो जायेंगे, पर इन्दूरथः, अग्नीरथः—ये सिद्ध नहीं होंगे।

निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य—यह परिभाषा है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं। यह परिभाषा वर्णग्रहण में नहीं लगती। मनोरथः—यहाँ (५९) की दृष्टि में (७९) के असिद्ध होने से 'रु' को उत्व होता है।

स्वर्+राट्=स्वाराट् (इन्द्रः)। स्वः स्वर्गस्तत्र राजते। स्वराज्यं स्वाराज्यमेव न संशयः, अपना राज (शासन) निः सन्देह स्वर्गराज है। स्वर्+राज्यम्। रेफ का लोप होने पर ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः (६।३।१११) से पूर्व अण् 'अ' को दीर्घ। पुनः पुना रमत आरामे (पुनर्+रमते)—यहाँ भी पूर्ववत् प्रक्रिया जानें। नैकस्य हेतो रक्षांसि पृथिव्यां हन्तुमर्हसि (रा० ६।८०।३८)। हेतो स्—हेतोर् रक्षांसि=हेतो रक्षांसि।

प्रकृत सूत्र में अधिकृत 'पदस्य' यह विशेषणषष्ठी ली जाती है। विशेषणषष्ठी होने पर 'पदस्य' इसका ऐसे सम्बन्ध किया जाता है—पद का अवयव जो रेफ उसका रेफ परे रहते लोप होता है, जिससे अपदान्त रेफ का भी लोप होता है। अतः यङ्लुगन्त धातु जर्गृध् तथा पास्पर्द्ध् के लङ् म० पु० ए० में जश्त्व-कृत धातु के धकार-स्थानिक 'द्' को रुत्व होने पर धातु के गुणकृत अपदान्त रेफ का लोप हो जाता है।

८०. खरवसानयोर्विसर्जनीयः (८।३।१५)। रेफान्त पद को खर् (प्रत्याहार) परे तथा अवसान (विराम) में विसर्जनीय होता है। अलोऽन्त्यस्य से अन्त्य अल् 'रेफ को विसर्ग होता है। खर् परे रहते—पयः पिबति। धानाः खादति। अवसान में—संवसथं याति कुमारः। मातरं वन्दते वत्सः। पर वह्नि र्वहति हवींषि देवेभ्यः, यहाँ 'वह्निर्' के रेफ को विसर्जनीय नहीं हुआ, न यहाँ खर् परे है और नही अवसान है। नृकुट्यां भवः=नार्कुटः। नृपतेरपत्यं नार्पत्यः—यहाँ वृद्धि के बहिरङ्ग होने से तदाश्रित रेफ के असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे इस परिभाषा से असिद्ध होने से विसर्जनीय नहीं हुआ।

८१. रोः सुपि (८।३।१६)। 'रु' का जो रेफ, उसे सुप् (सप्तमी बहु०) परे रहते विसर्जनीय होता है। विसर्जनीय पूर्व से सिद्ध था, सो यह नियमार्थ प्रारम्भ है। सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः। सुप् परे 'रु' के ही रेफ को विसर्जनीय होता है, दूसरे रेफ को नहीं—यशःसु। पयःसु। सर्पिःषु इस अन्त्य उदाहरण में विसर्जनीय-कृत व्यवाय (व्यवधान) के होने पर भी प्रत्यय के 'स्' को ष् हो गया है—नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि (८।३।५८)। गीर्षु (गीर्+सु) रमते गीर्ष्पतिरिवापरः, दूसरे बृहस्पति की तरह वह अनेकवाणियों में रमण करता है। धूर्षु (धूर्+सु) युङ्क्ते धुर्यान् नियन्ता (सारथि)।

८२. **भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य योऽशि** ((८।३।१७)। भोस्, भगोस्, अघोस् (सभी सम्बोधनार्थक अव्यय) तथा अवर्णपूर्वक शब्द के रु-सम्बन्धी रेफ को 'य्' आदेश होता है अश् (प्रत्याहार) परे होने पर—**भो इहायाहि, अस्ति मे कार्यं त्वया,** श्रीमन् इधर आइये, मुझे आप से कुछ काम है। **भगो अत्र तिष्ठ, यावदहं प्रत्यावत,** आप यहीं ठहरिये, जब तक मैं (न) लौटूँ। **अघो बहु ददासि यदर्थिषु दक्षिणोऽसि।** अवर्ण पूर्वक शब्द—**स्वैरेव पुण्यैः कर्मभिर्यान्ति लोका महत्त्वम्।** लोकास्—लोकार्। ससजुषो रुः (८।२।६६) से स् को रु (र्)। इस 'रु' को य्, उसका वक्ष्यमाण 'हलि सर्वेषाम्' से लोप। **अकृपणा ददति धनं कृपणेभ्यो याचकेभ्यः,** उदार लोग वेचारे भिखारियों को धन देते हैं। अकृपणास्—यहाँ स् को रु, रु को य्, 'य्' का वक्ष्यमाण हलि सर्वेषाम् से लोप हो जाता है। **वृद्ध आयाति मन्थरम्,** बूढ़ा धीरे-धीरे आ रहा है। **मन्द इति मन्दायते कृत्ये,** अस्वस्थ है, अतः कर्तव्य में सुस्त है।

सूत्र में 'अशि' ऐसा क्यों कहा? देवाः सन्ति—यहाँ 'रु' को 'य्' नहीं हुआ। यद्यपि यहां विसर्जनीय विधि के प्रति रु-स्थानिक यत्व के असिद्ध होने से विसर्जनीय हो जायगा, तो भी विसर्जनीय स्थानिवद्भाव से 'रु' ही है, तो उसे 'य्' हो जायगा, यदि सूत्र में अश्-ग्रहण न हो। 'रु' के उकार के अनुबन्ध होने से 'रु' को यत्व अल्विधि है यह शङ्का नहीं करनी चाहिये। 'रु'-समुदाय का आश्रयण है, यथा **ग्रहोऽलिटि दीर्घः** से विहित दीर्घ ईट् को स्थानिवद्भाव से इट् मान कर 'अग्रहीत्'—यहाँ 'इट ईटि' से सिच् का लोप किया जाता है। अर्थात् समुदाय इट् का आश्रयण होने से अल्विधि न होने से स्थानिवद्भाव होता है। 'रु' को 'य्' विधान किया है, अतः **प्रातरुत्तिष्ठन्त्यनलसाः, न पुनरलसाः।** प्रातर् तथा पुनर् रेफान्त प्रातिपदिक हैं। इनका रेफ स्वतः सिद्ध है, 'रु' का रेफ नहीं। अतः इस रेफ को य् नहीं हुआ।

८३. **व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य** (८।३।१८)। शाकटायन (शकटगोत्रज ऋषि) के मत में भो भगो अघो सम्बन्धी-य् तथा अवर्णपूर्वक पदान्त य्, व् के स्थान में लघूच्चारित य्, व् आदेश होते हैं अश् परे होने पर। व् च य् च=व्यौ। तयोर्व्योः। **लघुः प्रयत्नोऽस्य=लघुप्रयत्नः। अतिशयेन लघुप्रयत्नः =लघुप्रयत्नतरः। उच्चारण में स्थान तथा करण** (जिह्वा के अग्र, उपाग्र, मध्य, मूल) **की शिथिलता ही लघुप्रयत्नतरता है।** य् व् का हल्का सा उच्चारण। **भगो यत्र। अघो यत्र। क आस्ते कयास्ते। अस्मायुद्धर** (रज्जुशारदीरपः)। अस्मा उद्धर (रज्जुशारदीरपः)। असावादित्यः (असौ+आदित्यः)।

असा आदित्यः । द्वावत्र (तिष्ठतः) । **द्वा अत्र** (तिष्ठतः) ।

८४. **लोपः शाकल्यस्य** (८।३।१९) । पदान्त वकार यकार का अश् परे रहते विकल्प से लोप होता है । शाकल्य ग्रहण विभाषा के लिये है । पूर्व सूत्र से जब लघुप्रयत्नतर व्, य् आदेश नहीं होते तो भी पक्ष में व्, य् का श्रवण होता है । उदाहरण पूर्व सूत्र में दिये जा चुके हैं ।

८५. **ओतो गार्ग्यस्य** (८।३।२०) । ओकार से उत्तर य् का लोप होता है अश् परे रहते आचार्य गार्ग्य के मत में—भो अत्रावधेहि । भो इदं गृहाण । यह नित्यविधि है । गार्ग्य ग्रहण पूजार्थ है । पूर्व सूत्र से अलघुप्रयत्न का जो वैकल्पिक लोप विधान किया है, उसकी इससे निवृत्ति विधान की है । लघु-प्रयत्नतर 'यकार' तो होता ही है—भो अत्र । भो यत्र । अघो अत्र । अघो यत्र ।

८६. **उञि च पदे** (८।३।२१) । अवर्ण पूर्व पदान्त व्, य् का लोप होता है उञ् परे होने पर—**स उ एक विंशतिः । स उ एकाग्निः** । सूत्र में 'पदे' ऐसा क्यों कहा ? तन्त्रे उतम्—**तन्त्रयुतम्** । यहाँ वेञ् तन्तुसन्ताने धातु को सम्प्रसारण 'उ' हुआ है । भूतपूर्व ञकार को लेकर इस 'उ' को 'उञ्' समझा जा सकता है पर यह उञ् पद नहीं, अतः यकार का लोप नहीं हुआ । यदि यह मत है कि उञ् प्रतिपदोक्त निपात है, तब लाक्षणिक होने से (लक्षण =सम्प्रसारण शास्त्र से निष्पन्न होने से) वेञ् आदेश उञ् का ग्रहण नहीं होगा, तो पदग्रहण उत्तरार्थ रहेगा ।

८७. **हलि सर्वेषाम्** (८।३।२२) । हल् परे होने पर भो भगो अघो तथा अवर्णपूर्व पदान्त यकार का सब आचार्यों के मत में लोप होता है—(८२) में 'अशि' की अनुवृत्ति यहाँ की जाती है और वह 'हलि' का विशेषण होता है । तो यह विधि अश् रूप हल् परे रहते होती है—**भो भूमिदेवाः किमि-त्युदाध्वे । ग्लायति धर्मः । अभ्युत्तिष्ठत्यधर्मः** । हे विप्रो, आप उदासीन क्यों हैं, धर्म की हानि हो रही है, अधर्म बढ़ रहा है । **द्रविणान्धमूढा हसन्ति तपो-धनानकिञ्चनान्** । भो भगो आदि से यकार-लोप का संभव है, पर अवर्ण-पूर्व व् भी सुलभ है—**वृक्षं वृश्चतीति वृक्षवृट्** (वृक्ष काटने वाला), **तमाचष्टे यः स वृक्षवयति** । णाविष्ठवद्भाव से टि का लोप । 'वृक्षवि' से क्विप् । णेरनिटि से णिच् (इ) का लोप । वृक्षव् । वृक्षव् करोति—यहाँ अश्-रूप हल् परे न होने से अवर्णपूर्व पदान्त 'व्' का लोप नहीं होता ।

८८. **मोऽनुस्वारः** (८।३।२३)। पूर्व सूत्र से 'हलि' की अनुवृत्ति आ रही है । 'पदस्य' यह अधिकृत है । यह 'पदस्य' 'मः' (म् का षष्ठयन्त रूप) का

विशेषण है और विशेषण से तदन्तविधि होती है। अर्थ—पदान्त 'म्' को अनुस्वार होता है हल् परे होने पर—**मातरं वन्दे**। **कथां प्रकुरुते** (कथा करता है)। **मालां गुम्फति**। पर—**वन्दे मातरम्**—यहाँ अनुस्वार नहीं होता, परे हल् नहीं है। **स्वाध्यायमधीते** (वेद पढ़ता है)। यहाँ अनुस्वार नहीं होता, परे अच् है, हल् नहीं। **गम्यतां पुनर् दर्शनाय** (जाइये फिर भी दर्शन देना),—यहाँ 'म्' पदान्त नहीं, अतः हल् (य्) परे होने पर भी अनुस्वार नहीं हुआ।

८९. **नश्चापदान्तस्य झलि**(८।३।२४)। 'नः'—यह 'न्' का षष्ठ्यन्त रूप है। 'चकार' पूर्वसूत्र में पढ़े हुए 'मः' के अनुकर्षण के लिये है। 'अपदान्तस्य' दोनों मः तथा नः का विशेषण है—'न्' को अनुस्वार—**विस्रंसिष्यते** (विस्रन्सिष्यते) **कायः कालेन** (समय में शरीर जीर्ण हो जायगा)। **अनिर्वेदप्राप्याणि श्रेयांसि** (श्रेय+नुम् स्+शि) (हताश न होने से ही कल्याण की प्राप्ति हो सकती है)। साधूनीमानि **गव्यादीनि सर्पींषि** (सर्पि+नुम् स्+शि)। यह गव्य आदि घृत अच्छे हैं। मकार को अनुस्वार—**इदमनुक्तमपि गंस्यते** (यह बिना कहे ही अवगत हो जायगा)। **एष आक्रंस्यते सूर्यः** (अभी सूर्य चढ़ेगा)। **गुरो व्याकरणमधिजिगांसे** (गुरु जी, मैं व्याकरण पढ़ना चाहता हूँ)। यहाँ इङ् को 'गम्' आदेश हुआ है। 'गम्' के 'म्' को अनुस्वार हुआ है। अपदान्त न्, म् को अनुस्वार विधान किया है, अतः राजन् भुङ्क्ष्व—यहाँ 'न्' के पदान्त होने से अनुस्वार नहीं हुआ। झल् परे रहते अनुस्वार विधान किया है, अतः **गम्यते, रम्यते**—यहाँ झल् न होने से अनुस्वार नहीं होता।

९०. **मो राजि समः क्वौ** (८।३।२५)। क्विबन्त राज् परे होने पर सम् उपसर्ग के 'म्' को 'म्' आदेश होता है, यथाप्राप्त अनुस्वार नहीं होता—**सम्राट्**। **साम्राज्यम्** (सम्राजो भावः)। क्विवन्त 'राज्' परे रहते यह विधि कही है, अतः **संराजते विनेयः प्रश्रयप्रकर्षेण,** (शिष्य विनय के अतिशय से शोभा पाता है)—यहाँ 'सम्' के 'म्' को अनुस्वार हो गया।

९१. **हे मपरे वा** (८।३।२६)। 'मपरे'—यह बहुव्रीहि है। मः परो यस्मात् तस्मिन्। मकारपरक हकार परे होने पर पदान्त 'म्' को म् आदेश विकल्प से होता है, पक्ष में यथाप्राप्त अनुस्वार होगा—**किं ह्मलयति**। **किम् ह्मलयति**। **कथं ह्मलयति**। **कथम् ह्मलयति**।

९२. **यवलपरे यवला वा** (वा०)। यवलपरक हकार परे होने पर मकार को यथासंख्य य्, व्, ल् विकल्प से होते हैं। आन्तरतम्य से म् के स्थान में अनुनासिक यँ्, वँ्, लँ् आदेश होंगे—**किय्ँ ह्यः**। **किं ह्यः**। **किवँ् ह्वलयति**।

किं ह्वलयति। कि लँ ह्लादयति। किं ह्लादयति।

९३. **नपरे नः** (८।३।२७)। 'नपरे'—यह बहुव्रीहि है। पूर्वतः अनुवृत्त 'हे' का विशेषण है। नः यह प्रथमान्त है। इस का अकार उच्चारणार्थ है। नकारपरक हकार परे होने पर पदान्त 'म्' को विकल्प से नकारादेश होता है—किन् ह्नुते (क्यों छिपाता है)। **किं ह्नुते। कथन् ह्नुषे। कथं ह्नुषे।**

९४. **ङ्णोः कुक् टुक् शरि** (८।३।२८) (९१) से 'वा' की अनुवृत्ति आ रही है। ङ्णोः—यह षष्ठी है। पदान्त ङ्, ण् को यथासङ्ख्य कुक्, टुक् विकल्प से आगम होते हैं शर् परे होने पर। **प्राङ्क् शेते** (पूर्व की ओर सोता है)। **प्राङ् शेते। प्राङ्क् षष्ठः** (पूर्व में छठा)। **प्राङ्षष्ठः। प्राङ्क् साये। प्राङ् साये।** मकारान्त अव्यय सायम् के अतिरिक्त षो अन्तकर्मणि से घञ् करके व्युत्पादित साय शब्द भी है। णकार को टुक् (ट्)—वण् ट् शेते। वण् शेते।

इन आगमों को कित् किस लिये किया है? इसलिये कि पूर्व का अन्तावयव हो जाने से प्राङ् क् शेते—यहाँ पूर्वपद के झलन्त होने से शश्छोऽटि (८।४।६३) से श् को छ् हो सके। पूर्वान्त होने से ही प्राङ्क् साये—यहाँ **सात्पदाद्योः** (८।३।१११) से षत्व का प्रतिषेध होता है, परादि होने पर तो 'स्' के पदादि न होने से षत्व का प्रतिषेध न हो सकेगा। वण् ट् साये—यहाँ टुक् के पूर्वान्त होने से 'ट्' के पदान्त होने से **न पदान्ताट्टोरनाम्** (८।४।४२) से ष्टुत्व का प्रतिषेध हो जाता है।

९५. **डः सि धुट्** (८।३।२९)। डः—यह पञ्चमी है। पञ्चमी-निर्देश के बलीयान् होने से 'सि' इस सप्तमी को षष्ठी में विपरिणत कर दिया जाता है। डकारान्त पद से परे सकारादि पद को धुट् (ध्) आगम विकल्प से होता है। **कति ते सन्तः। षट्त्सन्तः। षट् सन्तः।** 'ध्' को 'खरि च' से चर् 'त्'। परादिवद्भाव के लिये टित् किया है, ताकि 'न पदान्ताट्टोरनाम्' से ष्टुत्व का निषेध हो जाय।

९६. **नश्च** (८।३।३०)। यहाँ सि, धुट्, वा की अनुवृत्ति आ रही है। 'नः' यह पञ्चमी है। नकारान्त पद से उत्तर सकार को धुट् का आगम विकल्प से होता है। **भवान्त्सदसि शोभते। भवान् सदसि शोभते। सन्त्सन् कथमनार्यमाचरसि। सन्सन् कथमनार्यमाचरसि** (सज्जन होते हुए आप अनार्य व्यवहार क्योंकर कर रहे हैं)। धुट् स्थानिक चर्त्व (त्) के **'नश्छव्यप्रशान्'** द्वारा विहित रुत्व के प्रति असिद्ध होने से 'रुत्व' नहीं होता।

९७. शि तुक् (८।३।३१)। पदान्त नकार को विकल्प से तुक् (त्)

विशेषण है और विशेषण से तदन्तविधि होती है। अर्थ—पदान्त 'म्' को अनुस्वार होता है हल् परे होने पर—**मातरं वन्दे**। **कथां प्रकुरुते** (कथा करता है)। **मालां गुम्फति**। पर—**वन्दे मातरम्**—यहाँ अनुस्वार नहीं होता, परे हल् नहीं है। **स्वाध्यायमधीते** (वेद पढ़ता है)। यहाँ अनुस्वार नहीं होता, परे अच् है, हल् नहीं। **गम्यतां पुनर् दर्शनाय** (जाइये फिर भी दर्शन देना),—यहाँ 'म्' पदान्त नहीं, अतः हल् (य्) परे होने पर भी अनुस्वार नहीं हुआ।

८९. **नश्चापदान्तस्य झलि**(८।३।२४)। 'नः'—यह 'न्' का षष्ठ्यन्त रूप है। 'चकार' पूर्वसूत्र में पढ़े हुए 'मः' के अनुकर्षण के लिये है। 'अपदान्तस्य' दोनों मः तथा नः का विशेषण है—'न्' को अनुस्वार—**विस्रंसिष्यते** (विस्रन्सिष्यते) **कायः कालेन** (समय में शरीर जीर्ण हो जायगा)। **अनिर्वेदप्राप्याणि श्रेयांसि** (श्रेय+नुम् स्+शि) (हताश न होने से ही कल्याण की प्राप्ति हो सकती है)। साधूनीमानि **गव्यादीनि सर्पींषि** (सर्पि+नुम् स्+शि)। यह गव्य अदि घृत अच्छे हैं। मकार को अनुस्वार—**इदमनुक्तमपि गंस्यते** (यह बिना कहे ही अवगत हो जायगा)। **एष आक्रंस्यते सूर्यः** (अभी सूर्य चढ़ेगा)। **गुरो व्याकरणमधिजिगांसे** (गुरु जी, मैं व्याकरण पढ़ना चाहता हूँ)। यहाँ इङ् को 'गम्' आदेश हुआ है। 'गम्' के 'म्' को अनुस्वार हुआ है। अपदान्त न्, म् को अनुस्वार विधान किया है, अतः राजन् भुङ्क्ष्व—यहाँ 'न्' के पदान्त होने से अनुस्वार नहीं हुआ। झल् परे रहते अनुस्वार विधान किया है, अतः **गम्यते**, **रम्यते**—यहाँ झल् न होने से अनुस्वार नहीं होता।

९०. **मो राजि समः क्वौ** (८।३।२५)। क्विबन्त राज् परे होने पर सम् उपसर्ग के 'म्' को 'म्' आदेश होता है, यथाप्राप्त अनुस्वार नहीं होता—**सम्राट्**। **साम्राज्यम्** (सम्राजो भावः)। क्विबन्त 'राज्' परे रहते यह विधि कही है, अतः **संराजते विनेयः प्रश्रयप्रकर्षेण**, (शिष्य विनय के अतिशय से शोभा पाता है)—यहाँ 'सम्' के 'म्' को अनुस्वार हो गया।

९१. **हे मपरे वा** (८।३।२६)। 'मपरे'—यह बहुव्रीहि है। मः परो यस्मात् तस्मिन्। मकारपरक हकार परे होने पर पदान्त 'म्' को म् आदेश विकल्प से होता है, पक्ष में यथाप्राप्त अनुस्वार होगा—**किं ह्मलयति**। **किम् ह्मलयति**। **कथं ह्मलयति**। **कथम् ह्मलयति**।

९२. **यवलपरे यवला वा** (वा०)। यवलपरक हकार परे होने पर मकार को यथासंख्य य्, व्, ल् विकल्प से होते हैं। आन्तरतम्य से म् के स्थान में अनुनासिक यँ, वँ, लँ आदेश होंगे—**किँ यँह्यः**। **किं ह्यः**। **किँ वँ ह्वलयति**।

किं ह्वलयति । कि लँ्ह्लादयति । किं ह्लादयति ।

९३. **नपरे नः** (८।३।२७)। 'नपरे'—यह वहुव्रीहि है। पूर्वतः अनुवृत्त 'हे' का विशेषण है। नः यह प्रथमान्त है। इस का अकार उच्चारणार्थ है। नकारपरक हकार परे होने पर पदान्त 'म्' को विकल्प से नकारादेश होता है —किन् ह्नुते (क्यों छिपाता है)। **किं ह्नुते। कथन् ह्नुषे। कथं ह्नुषे।**

९४. **ङ्णोः कुक् टुक् शरि** (८।३।२८) (९१) से 'वा' की अनुवृत्ति आ रही है। ङ्णोः—यह षष्ठी है। पदान्त ङ्, ण् को यथासङ्ख्य कुक्, टुक् विकल्प से आगम होते हैं शर् परे होने पर। **प्राङ्क् शेते** (पूर्व की ओर सोता है)। **प्राङ् शेते। प्राङ्क् षष्ठः** (पूर्व में छठा)। **प्राङ्षष्ठः। प्राङ्क् साये। प्राङ् साये।** मकारान्त अव्यय सायम् के अतिरिक्त षो अन्तकर्मणि से घञ् करके व्युत्पादित साय शब्द भी है। णकार को टुक् (ट्)—वण् ट् शेते। वण् शेते।

इन आगमों को कित् किस लिये किया है? इसलिये कि पूर्व का अन्तावयव हो जाने से प्राङ् क् शेते—यहाँ पूर्वपद के झलन्त होने से शश्छोऽटि (८।४।६३) से श् को छ् हो सके। पूर्वान्त होने से ही प्राङ्क् साये—यहाँ **सात्पदाद्योः** (८।३।१११) से षत्व का प्रतिषेध होता है, परादि होने पर तो 'स्' के पदादि न होने से षत्व का प्रतिषेध न हो सकेगा। वण् ट् साये —यहाँ टुक् के पूर्वान्त होने से 'ट्' के पदान्त होने से **न पदान्ताट्टोरनाम्** (८।४।४२) से ष्टुत्व का प्रतिषेध हो जाता है।

९५. **डः सि धुट्** (८।३।२९)। डः—यह पञ्चमी है। पञ्चमी-निर्देश के बलीयान् होने से 'सि' इस सप्तमी को षष्ठी में विपरिणत कर दिया जाता है। डकारान्त पद से परे सकारादि पद को धुट् (ध्) आगम विकल्प से होता है। **कति ते सन्तः। षट्त्सन्तः। षट् सन्तः।** 'ध्' को 'खरि च' से चर् 'त्'। परादिवद्भाव के लिये टित् किया है, ताकि 'न पदान्ताट्टोरनाम्' से ष्टुत्व का निषेध हो जाय।

९६. **नश्च** (८।३।३०)। यहाँ सि, धुट्, वा की अनुवृत्ति आ रही है। 'नः' यह पञ्चमी है। नकारान्त पद से उत्तर सकार को धुट् का आगम विकल्प से होता है। **भवान्त्सदसि शोभते। भवान् सदसि शोभते। सन्त्सन् कथमनार्यमाचरसि। सन्सन् कथमनार्यमाचरसि** (सज्जन होते हुए आप अनार्य व्यवहार क्योंकर कर रहे हैं)। धुट् स्थानिक चर्त्व (त्) के **'नश्छव्यप्रशान्'** द्वारा विहित रुत्व के प्रति असिद्ध होने से 'रुत्व' नहीं होता।

९७. शि तुक् (८।३।३१)। पदान्त नकार को विकल्प से तुक् (त्)

आगम होता है शकार परे होने पर । (पूर्वसूत्र में पञ्चम्यन्त 'नः' यहाँ अनुवृत्त हुआ षष्ठयन्त में बदल जाता है)—**अपि भवाञ्च् शयितः सुखम्** (आप सुख पूर्वक तो सोये ?)। वक्ष्यमाण '**स्तोः श्चुना श्चुः**' से तुक् (त्) को च्। और इस च् के योग से भवान् के 'न्' को ञ्। यहां पूर्वान्त तुक् क्यों पढ़ा, पूर्वानुवृत्त परादि धुट् का ही विधान करते ? उसे भी चर्त्व से 'त्' हो जाता। यह इसलिये पढ़ा है कि **भवाञ्च्छयितः**—यहां छत्व हो सके। 'च्' के पदान्त होने से **शश्छोऽटि** से श् को 'छ्' हो जायगा। यदि ऐसा है तो **कुर्वञ्च्शेते**—यहाँ कुर्वन् के 'नकार' को अपदान्त होने से **अट्कुप्वाङ्**—(८।४।२) से णत्व प्राप्त होता है (णत्वविधि के प्रति श्चुत्व के असिद्ध होने से 'न्' ही पड़ा है, 'ञ्' नहीं)। इस का क्या समाधान है ? **न भाभूपूकमिगमिप्यायीवेपाम्** (८।४।३४) से योगविभागलब्ध 'स्तोः श्चुना' में 'न' की अनुवृत्ति की जाती है। अर्थ होता है—चवर्ग योग में णत्व नहीं होता है (दूसरा योग होता है 'श्चुः' जिस में 'स्तोः श्चुना' अनुवृत्त होता है)।

९८. **ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्** (८।३।३२)। ङमः—यह पञ्चमी है। ह्रस्वात्=ह्रस्व से परे जो='ङम्', तदन्त पद से परे अच् को ङमुट् (ङम्) आगम होता है। सूत्र में नित्यग्रहण पूर्वत्र अनुवर्तमान 'वा' की निवृत्ति के के लिये है। ङ्, ण्, न् से परे यथासंख्य ङ्, ण्, न् होते हैं। ङकारान्त से ङुट्—**प्रत्यङ्ङास्ते** (पीछे बैठता है)। **प्रत्यङ्ङात्मा**=अन्तरात्मा। णकारान्त से णुट्—**सुगण्णीशः स भवति न केवलः सुगण्**। नकारान्त से नुट्—**अस्मिन्नुद्याने किमपि कामनीयकं कुसुमानाम्**। सूत्र में 'नित्य' का अभीक्ष्ण अर्थ समझा जाता है, जैसा कि नित्यवीप्सयोः (८।१।४) इस सूत्र में। आचार्य के व्यवहार से भी इस अर्थ की समर्थना होती है। **तिङ्ङतिङः** (८।१।२८)। **तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ** (४।३।२)—यहाँ ङमुट् किया है। **सुप्तिङन्तं पदम्** (१।४।१४)। **सनाद्यन्ता धातवः** (३।१।३२)—यहाँ नहीं किया। **सन्नन्तान्न सनिष्यते**—यहां किया भी है और नहीं भी। ऐसा भी विचार है कि लोक में ह्रस्वपूर्वक पदान्त णकार दुर्लभ है। सुगण् विच्प्रत्ययान्त है और लोक में विच् दुर्लभ है। इसीलिये आचार्य ने '**इको यणचि**' आदि में णुट् आगम कहीं भी नहीं किया। और इसीलिये प्रातिशाख्यकार **ङ्नौ चेद् ध्रस्वपूर्वौ स्वरे पदान्तौ**, आदि में णकार का उपदेश नहीं करते।

सूत्र में ह्रस्वपूर्वक क्यों कहा ? **गुरून्नासयत्यासनेषु**—यहाँ नुट् नहीं हुआ। **प्राङाक्रमते सूर्यः**, पूर्व दिशा में सूर्य उदय हो रहा है।

परमदण्डिनौ । परमदण्डिना—यहाँ नुट् क्यों नहीं हुआ । यहां भी उत्तरपद का अन्त्य नकार है, अतः पदान्त है, पदान्त होने से नुट् की प्राप्ति है । नहीं । **उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ** इस परिभाषा से प्रत्ययलक्षण का प्रतिषेध होने से उत्तरपद 'पद' नहीं माना जाता(हाँ उत्तरपद के आदि को कोई विधि कर्तव्य हो, तो प्रत्ययलक्षण से उत्तरपद अवश्य 'पद' होता है) । समाधानान्तर यह भी है—**उञि च पदे** (८।३।२१)—यहाँ से सप्तम्यन्त 'पदे' की अनुवृत्ति की जाती है, जिस से अजादि पद परे होने पद ङमुट् होता है, अतः औ तथा टा (आ) के अजादि पद न होने से ङमुट् की प्राप्ति ही नहीं है।

९९. **मय उञो वो वा** (८।३।३३) । मय (प्रत्याहार) से उत्तर उञ् (उ) को विकल्प से 'व्' आदेश होता है अच् परे रहते—**शमु अस्तु वेदिः । शम्वस्तु वेदिः । तदु अस्य परेतः । तद्वस्य परेतः । किमु आवपनम् । किम्वावपनम् ।** उञ् (निपात) के प्रगृह्य होने से प्रकृतिभाव की प्राप्ति होने पर व् विधान किया है । शम्वस्तु वेदिः आदि में अनुस्वार विधायक शास्त्र **मोऽनुस्वारः** (८।३।२३) की दृष्टि में वत्व असिद्ध है, जिस से परे हल् न होने से 'म्' को अनुस्वार नहीं होता ।

(विसर्जनीय सन्धिः)

१००. **विसर्जनीयस्य सः** (८।३।३४) । यहाँ खरवसानयोर्विसर्जनीयः (८।३।१५) से 'खरि' की अनुवृत्ति की जाती है । खर् परे रहते विसर्ग को सकार आदेश होता है—**शुष्कास्तिष्ठन्ति वृक्षा अवग्रहे,** वृष्टि के प्रतिबन्ध से वृक्ष सूखे खड़े हैं । **बालश्चर्वति चणकान्** । यहाँ विसर्ग को सकार होकर चवर्ग के योग से श्चुत्व (श्) हो गया है । **तमश्छादयति दिशः । देवदत्तष्टीकते गेहम् ।** यहाँ विसर्ग को स् होकर ष्टुत्व (ष्) हुआ है । **देवदत्तः कथयति । यज्ञदत्तः खादति । पयः पिबति । पादपः फलति**—यहाँ क्, ख्, प्, फ् (खर्) परे रहने पर भी विसर्जनीय को 'स्' क्यों नहीं होता ? इस का उत्तर आगे कहेंगे ।

१०१. **शर्परे विसर्जनीयः** (८।३।३५) । शर्परे—यह बहुव्रीहि है । शर् परो यस्मात् स शर्परः, तस्मिन् । यह पूर्वतोऽनुवृत्त 'खरि' का विशेषण है । शर्परक खर् परे रहते विसर्जनीय को विसर्जनीय आदेश होता है (पूर्वसूत्र से विधीयमान 'स्' नहीं होता)—**नापितः क्षुरमादत्ते** (नाई उस्तरे को ग्रहण करता है) । यहाँ 'क्षुर' में आदि में क् (खर्) है और इस से परे ष् (शर्)

है। अतः विसर्ग को विसर्ग ही आदेश हुआ, स् नहीं हुआ। **बालैः प्सातमोदनम्** (बच्चों ने भात खाया)। यहाँ 'प्स्' शर्परक खर् है। ओदन नपुं० भी है। **विहाय वासः क्षौमं कार्पासं परिधत्ते** (रेश्मी वस्त्र परित्याग कर कपास के वस्त्र धारण करता है। **शोभनः त्सरुरस्य कौक्षेयकस्य** (इस तलवार की मुट्ठी सुन्दर है)। यहाँ 'त्स्' शर्परक खर् है। **घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्** (ऋ० १०।१०३।१)। मनुष्यों के लिये शुभ मेंह बरसाने वाला बादल।

सूत्र में 'स्' के निषेध के लिये 'न' इतना ही कह देते। विसर्जनीय को विसर्जनीय आदेश विधान क्यों किया? इसलिये कि यहां विसर्जनीय को जो कोई विकार प्राप्त होता हो वह मत हो, विसर्जनीय ही रहे। इस कारण वक्ष्यमाण विसर्ग को जिह्वामूलीय उपध्मानीय आदेश नहीं होंगे।

१०२. **वा शरि** (८।३।३६)। विसर्जनीय को विसर्जनीय आदेश विकल्प से होता है शर् परे होने पर—**शिशुः शेते। शिशुश्शेते। देवः षण्मुखः शम्। देवष्षण्मुखश्शम्। सतां सद्भिः सङ्गः कथमपि हि पुण्येन भवति। सतां सद्भिस्सङ्गः कथमपि हि पुण्येन भवति।** शर् खर् प्रत्याहारान्तर्गत है, अतः (१००) से नित्य सकार प्राप्त था। पक्ष में विसर्जनीय आदेश हो, एतदर्थ इस सूत्र का आरम्भ हुआ है।

१०३. **खर्परे शरि वा लोपो वक्तव्यः** (वा०)। शर् से परे खर् होने पर विसर्जनीय का विकल्प से लोप हो जाता है—**अस्तीह मे कार्यम्, अत स्थास्यामि द्वित्रान् दिवसान्। अतः स्थास्यामि। अतस्स्थास्यामि। चिरमस्य यश स्थाता। चिरमस्य यशः स्थाता।** (इस का यश चिर तक रहेगा)।

१०४. **कुप्वोः ≍क ≍पौ च** (८।३।३७)। कुः=कवर्गः। पुः=पवर्गः। तयोः कुप्वोः। कवर्ग तथा पवर्ग परे होने पर विसर्जनीय के स्थान में यथासंख्य (यथाक्रम) ≍क, ≍प (जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय) आदेश होते हैं और विसर्जनीय भी—**न हि गिरयः कम्पन्ते वातेन। न हि गिरय≍ कम्पन्ते वातेन। न हि वृक्षाः खादन्ति फलानि स्वप्रसूतानि। न हि वृक्षा≍ खादन्ति फलानि स्वप्रसूतानि। पतगाः पतन्ति पर्वतेभ्यः। पतगा≍ पतन्ति पर्वतेभ्यः। अभीष्टानि नः फलानि फलन्ति पादपाः। अभीष्टानि न≍ फलानि फलन्ति पादपाः।** सूत्र में क्, प् उच्चारण के लिये हैं। आदेश तो जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय ही होते हैं। **विसर्जनीयस्य सः** (१००) की प्राप्ति होने पर ही इस सूत्र का आरम्भ हुआ है, अतः यह उस का बाधक है। **शर्परे विसर्जनीयः**—इस का बाध नहीं होता—**वासः क्षौमम्**। कारण कि पूर्वत्रा-

सिद्धे नास्ति विप्रतिषेधोऽभावादुत्तरस्य, अर्थात् पूर्वत्रासिद्धीय प्रकरण में पर विप्रतिषेध (पर-बलीयस्त्व) नहीं होता, पूर्व की दृष्टि में पर (उत्तर) के न होने से।

१०५. **सोऽपदादौ** (८।३।३८)। अपदादि कवर्ग, पवर्ग परे रहते विसर्जनीय को 'स्' आदेश होता है। पदस्यादिः=पदादिः। स न भवतीत्यपदादिः। तस्मिन्। सूत्र में व्यत्यय से एकवचन प्रयुक्त हुआ है। अपदाद्योः कुप्वोः ऐसा विशेष्य-विशेषण भाव सम्बन्ध है। अपदादि कवर्ग पवर्ग पाश, कल्प, क, काम्य—इन प्रत्ययों में ही मिलेगा। **याप्ये पाशप्,** 'निन्द्य' अर्थ में पाशप् (पाश) तद्धित प्रत्यय विधान किया है। **इदं पयस्पाशम्,** यह घटिया (निकम्मा) दूध है। ईषद् असमाप्त्यर्थ में कल्पप् (कल्प) प्रत्यय विधान किया है। **प्रदोष इति तमस्कल्पं वर्तते न सन्तमसम्,** रात्रि का प्रारम्भ है, अतः कुछ अन्धेरा है, गाढ़ अन्धकार नहीं। **इदं पयस्कम्** (यह अल्प जल है), **नैनेनार्थसिद्धिः। यशस्काम्यति जनः** (हर एक यश की कामना करता है)। पद के आदि कवर्ग, पवर्ग होगा, तो यह विधि नहीं होगी—**यशः कामयते। यश ≍कामयते। पयः पिबति। पय≍पिबति। स्वः कमनीयं सर्वस्य लोकस्य** (स्वर्ग हर एक की चाह का विषय है)।

१०६. **सोऽपदादावित्यनव्ययस्येति वक्तव्यम्** (वा०)। अपदादि कवर्ग पवर्ग परे होने पर अनव्यय-सम्बन्धी विसर्जनीय को ही सकार आदेश होता है, अतः **प्रातःकल्पा शर्वरी। स्वः काम्यति पुण्येन** (पुण्य के द्वारा स्वर्ग की इच्छा करता है) यहाँ नहीं होता।

१०७. **रोः काम्ये नियमार्थम्** (वा०)। काम्यच् प्रत्यय परे होने पर 'रु' के विसर्ग को ही 'स्' होता है रेफमात्र-स्थानिक विसर्ग को नहीं—**पयस्काम्यति। यशस्काम्यति।** पर **गीः काम्यति** विप्रः (विप्र वाणी की इच्छा करता है)। **धूः काम्यति।**

१०८. **उपध्मानीयस्य कवर्गे परतः सकार आदेशो भवतीति वक्तव्यम्** (वा०)। इस वार्तिक का यह प्रयोजन है कि जब यह माना जाता है कि उब्ज् उपध्मानीयोपध पढ़ा है, तब **अभ्युद्गः समुद्गः** ऐसा रूप निष्पन्न हो सके। उब्ज आर्जवे से **हलश्च** (३।३।१२१) से घञ् करने पर **चजोः कु घिण्ण्यतोः** (७।३।५२) से कुत्व होने पर, उपध्मानीय के स्थान में **झलां जशोऽन्ते** (८।२।३९) से बकार होने पर **अभ्युब्गः, समुब्गः** ऐसा अनिष्ट रूप प्रसक्त होगा। इस अनिष्ट के वारण के लिये प्रकृत वार्तिक पढ़ा है। अब उपध्मानीय के स्थान

में **झलां जशोऽन्ते** (८।२।३९) से दकार होने पर इष्टरूप **अभ्युद्गः, समुद्गः** सिद्ध हो जाता है।

१०९. **इणः षः** (८।३।३९)। इण् (प्रत्याहार) से परे विसर्जनीय को षकार आदेश होता है अपदादि कवर्ग, पवर्ग परे रहते। अपदादि कवर्ग, पवर्ग का पाशप्, कल्पप्, क, काम्यच्—इन प्रत्ययों में संभव है। **इदं सर्पिः। इदं च सर्पिष्पाशम्** (यह घी है, और यह निन्द्य=निकम्मा घी है) इति कुतो वेत्थ? **इदं सार्षपं तैलमपि सर्पिष्कल्पमित्यायुर्वेदविदः। शाखान्तर आम्नातं यजुरपि यजुष्कमिति पश्यन्ति तैत्तिरीयाः। सर्पिष्काम्यति, मेदस्वी स्यामिति,** मैं स्थूल हो जाऊँ, इसलिये घी चाहता है।

सूत्र में 'अपदादि' क्यों कहा? इस लिये कि पदादि कवर्ग पवर्ग परे रहते यह विधि नहीं होती—**अग्निः करोति शीतं दूरे। अग्निः पचति भोजनम्। वायुः कारयति कौक्षं रवम्** (वायु पेट में गुड़ गुड़ शब्द उत्पन्न करता है)।

यहाँ से अगले सूत्रों में सः, तथा इणः षः—यह दोनों अनुवृत्त होते हैं। इण् से परे जो विसर्जनीय होगा उसे षकार होता है, अन्यत्र सकार, ऐसा जानना चाहिये।

११०. **नमस्पुरसोर्गत्योः** (८।३।४०)। गतिसंज्ञक नमस् तथा पुरस् के विसर्जनीय को स् आदेश होता है कवर्ग पवर्ग परे रहते। यहाँ से अपदादि की निवृत्ति हो गई है। **साक्षात्प्रभृतीनि च** (१।४।७४) से 'नमस्' की वैकल्पिकी गति संज्ञा है। **पुरोऽव्ययम्** (१।४।६७) से पुरस् की। **नमस्कर्ता वै देवान् श्रेयसा युज्यते**। यहाँ नमस् 'गति' है। कृ से ताच्छील्य में तृन् किया है। **गुरुं द्रष्टुं नमस्कर्तुं च यामि। नमस्कर्तव्या इमे वेदं शुश्रुवांसो विद्वांसः। विनेतारमाचार्यं पुरस्कृत्य धन्यमात्मानमाकलयति विनेयः** (अपने अध्यापक आचार्य का सत्कार करके शिष्य अपने को धन्य समझता है)। गति संज्ञा के अभाव में **नमः कृत्वा देवं प्रसीदति प्रणतः**,—यहाँ विसर्जनीय को 'स्' नहीं हुआ (गति संज्ञा के अभाव के कारण ही क्त्वा को ल्यप् नहीं हुआ, जिससे नमः कृत्वा—ये दो पृथक् पद रहते हैं)। **पुरः करोति**—यहाँ नगरवाची पुर् शब्द का शसन्त प्रयोग है, अतः गतिसंज्ञा न होने से सकार आदेश नहीं हुआ।

१११. **इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य** (८।३।४१)। इच्च उच्च तौ इदुतौ। इदुतावुपधे यस्य स समुदाय इदुदुपधः, तस्य यो विसर्जनीयः। इ, उ (ह्रस्व) उपधा है जिस समुदाय की वह 'इदुदुपध' हुआ, उसका जो विसर्जनीय, इस प्रकार वैयधिकरण्य से सम्बन्ध है। 'अप्रत्ययस्य'—यह भी व्यधिकरण ही है,

अर्थ—अप्रत्यय का, प्रत्यय-भिन्न शब्दरूप का जो विसर्जनीय, उसे षकारादेश होता है, कवर्ग पवर्ग परे रहते। **निस्, दुस्, बहिस्, आविस् चतुर्, प्रादुस्**—यहाँ इदुदुपध अप्रत्ययरूप शब्द का विसर्ग मिलता है—**निष्कृतं याति नक्तमभीताऽभिसारिका** (निष्कृतम्=संकेतस्थानम्)। **निष्पीतं मया पयः, नास्त्यवशेषः। इदं ते दुष्कृतं कोपयिष्यति गुरुम्। यत्क्षेपीयः पीयते तद् दुष्पीतं भवति** (जो बहुत जल्दी पीया जाता है वह बुरी तरह पिया जाता है)। **योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स साधुभिर्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः** (मनु० २।१६८)। **बहिष्पीतं त्वया पय इति जाने। अनुपलब्धपूर्वं किमप्याविष्करोत्ययं विज्ञः** (प्रकट करता है)। **चतुष्कपालः पुरोडाशः।** (चतुर्षु कपालेषु संस्कृतः)। **सूचकेन तेन प्रादुष्कृतोऽस्यापराधः** (प्रादुष्कृतः—प्रकटीकृतः)। 'अप्रत्ययस्य' ऐसा क्यों कहा ? **अग्निः करोति। वायुः करोति**—यहाँ प्रत्यय-सु-सम्बन्धी विसर्ग है, अतः षत्व नहीं हुआ।

मातुः करोति वचनम्। पितुः करोत्याज्ञाम्—यहाँ षत्व क्यों नहीं होता ?

यहाँ **ऋत उत्** (६।१।१११) से ङस् के 'अ' तथा मातृ, पितृ के ऋ के स्थान में 'उ' एकादेश होता है। यह आदेश रपर (उर्) होता है। मातुर् स्। पितुर् स्। **रात्सस्य** (८।२।२४) से 'स्' का लोप हो जाता है। अब रेफ को विसर्जनीय होता है। रेफ के अप्रत्यय होने से यह प्रत्यय-विसर्जनीय नहीं, अतः प्रकृत सूत्र से षत्व प्राप्त होता है। उत्तर—वक्ष्यमाण कस्कादिगण में **'भ्रातुष्पुत्रः'** पढ़ा है यह ज्ञापक है कि जहाँ 'उ' एकादेश से सम्पन्न हुआ है उस के उपधा होने पर भी षत्व नहीं होता, अन्यथा 'भ्रातुष्पुत्रः' का ग्रहण व्यर्थ रहता। प्रकृत सूत्र से ही षत्व सिद्ध हो जाता।

११२. **पुम्मुहुसोः प्रतिषेधो वक्तव्यः** (वा०)। पुम्स्, मुहुस्—दोनों अव्युत्पन्न प्रातिपदिक हैं, और उदुपध हैं। इनके विसर्जनीय के अप्रत्यय-सम्बन्धी होने से षत्व प्राप्त था, उसका निषेध कर दिया है। **सम्पुंकानां सो वक्तव्यः** इस वचन के अनुसार रुत्व न होकर सकारादेश हो जाने से विसर्जनीय के अभाव में पुम्स् के विषय में प्रतिषेधवचन अनर्थक ही है। पक्षान्तर में अर्थवान् है—**पुंस्कामा। मुहुः कामा। मुहु⌣ कामा।** '**मुहुस्कामा**—यह अपपाठ है। **दुष्पुरुषस्य भावः कर्म वा दौष्पुरुष्यम्।** यहाँ वृद्धि तद्धितापेक्षिणी होने से बहिरङ्ग है, अतः असिद्ध है। उदुपधता के अविहत होने से षत्व निर्बाध होता है।

११३. **तिरसोऽन्यतरस्याम्** (८।३।४२)। तिरस्-सम्बन्धी विसर्जनीय को

विकल्प से सकार आदेश होता है, कवर्ग, पवर्ग परे होने पर—**तपोधना एते न तिरस्कर्तव्याः । न तिरः कर्तव्याः । उत्तमान्न तिरस्कर्तुमर्हति जघन्यः ।** पक्ष में 'तिरः कर्तुम्'—यह भी । सूत्र में तिरस् गतिसंज्ञक का ग्रहण है । तिरोऽन्तर्धौ (१।४।७१) से गति संज्ञा विधान की है । अतः **तिरः कृत्वा काण्डं गतः,** काण्ड को एक ओर हटा कर निकल गया । यहाँ सकार आदेश नहीं होता ।

११४. द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोऽर्थे (८।३।४३) । 'द्विस्' आदि के इदुदुपध होने पर भी सुच्-प्रत्ययान्त होने से (१००) से षत्व की प्राप्ति नहीं थी । अतः यह अप्राप्त विभाषा है । कृत्वोऽर्थ में वर्तमान द्विस्, त्रिस्, चतुर् के विसर्जनीय को विकल्प से षकार होता है कवर्ग, पवर्ग परे होने पर—**द्विः करोति द्विष्करोति पाप्मानम् । त्रिः करोति । त्रिष्करोति । चतुः करोति । चतुष्करोति । दिनस्य द्विष्पचत्योदनम्** (दिन में दो बार भात पकाता है) । **द्विः पचति । त्रिष्पचति । त्रिः पचति । चतुष्पचति** (चार बार पकाता है) । सुच् प्रत्यय क्रियाभ्यावृत्तिगणन में विधान किया गया है । अतः **चतुष्कपालः पुरोडाशः**—यहाँ कृत्वोऽर्थ के न होने से षत्व-विकल्प नहीं होता, किन्तु (१११) से नित्य षत्व होता है ।

११५. इसुसोः सामर्थ्ये (८।३।४४) । सामर्थ्य=व्यपेक्षा=परस्पर-सम्बन्ध । इस्, उस् प्रत्ययों का ग्रहण है । इस् उस् प्रत्यय-सम्बन्धी विसर्जनीय को विकल्प से षकार आदेश होता है जब सामर्थ्य होने पर परे कवर्ग, पवर्ग हो—**सर्पिष्करोति** (सर्पिः करोति) **बलं पुरुषस्य । सर्पिष्पीयतां यदि ते कामः** (सर्पिः पीयताम्) । 'सामर्थ्य होने पर'—ऐसा क्यों कहा ? **तिष्ठतु सर्पिः पिब त्वमुदकम्**—यहाँ इसन्त सर्पिस् का सम्बन्ध 'तिष्ठतु' के साथ है, पिब के साथ नहीं । यदि **'उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि'** ऐसा अभ्युपगम है, तो प्रकृत में अप्रत्यय-सम्बन्धी विसर्जनीय होने से (१११) से नित्य षत्व प्राप्त होने पर यह विकल्प विधान किया है, ऐसा जानना चाहिये ।

११६. नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य (८।३।४५) । समास विषय में इस् तथा उस् के विसर्जनीय को जो उत्तरपदस्थ न हो, नित्य ही षकार आदेश होता है कवर्ग पवर्ग परे होने पर—**सर्पिष्कुण्डिका । धनुष्कपालम् । सर्पिष्पानम्** (घी का पीना) ।

उत्तरपद का विसर्जनीय न हो, ऐसा क्यों कहा ? परमसर्पिः- कुण्डिका —यहाँ **परमं च तत् सर्पिश्च परमसर्पिः** (बढ़िया घृत) । इस कर्मधारय समास में 'सर्पिस्' उत्तरपद है । इसका 'कुण्डिका' के साथ षष्ठी समास हुआ

है। **परमसर्पिषः कुण्डिका परमसर्पिः कुण्डिका**। पूर्वसूत्र से यहाँ विकल्प भी नहीं होता।

सूत्र में अनुत्तरपदस्थस्य का ग्रहण इस बात का ज्ञापक है कि इस् उस् प्रत्ययों के विषय में प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेः—यह परिभाषा नहीं लगती। यदि यह परिभाषा यहाँ भी लगती तो इसी से केवल सर्पिस् का ग्रहण होता (सृप् से इस् प्रत्यय का विधान होने से), तदन्त (सर्पिरन्त) का नहीं। अतः वाक्य में भी पूर्व सूत्र से **परमसर्पिष्करोति, परमसर्पिः करोति**—षत्व विकल्प होता है।

११७. अतः कृ-कमि-कंस-कुम्भ-पात्र-कुशा-कर्णीष्वनव्ययस्य (८।३।४६)। अकार से पर अनव्यय विसर्जनीय जो उत्तरपदस्थ न हो, उसे नित्य सकारादेश होता कृ, कम्, कंस, कुम्भ, पात्र, कुशा, कर्णी परे होने पर—**अयस्कारः** (लोहकार)। **चित्ताभोगो मनस्कारः**(अमर)। मनस्कार=समाधान, अवधान, प्रणिधान (क्षीरस्वामी)। **पयस्कामः शिशुः**। **अयस्कंसः** (लोहे का प्याला)। **पयस्कंसः** (दूध का प्याला)। अयस्कुम्भ इति दुर्भेदः। विषमुखः पयस्कुम्भः, दूध का घड़ा जिससे मुंह पर विष है। '**पयस्कुम्भी**—यहाँ भी नित्य विसर्जनीय को सकार होता है। **प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्**—ऐसी परिभाषा है। **अयस्पात्रम्**। **अयस्पात्री**। **पयस्पात्रम्**। **पयस्पात्री**। **अयस्कुशा**। **पयस्कुशा**[1]। **अयस्कर्णी** (अय इव कर्णौ यस्याः सा। नासिकोदर—से ङीष्)।

शुनस्कर्णः—यहाँ प्रकृत सूत्र में 'कर्णी'-ग्रहण से सत्व की प्राप्ति नहीं है। कस्कादिगण में पाठ से सत्व सिद्ध होता है। 'षष्ठ्या आक्रोशे' (६।३।२१) से षष्ठी का अलुक्।

सूत्र में 'अतः' ऐसा क्यों कहा? **गीः कारः** (गिरं करोति=व्याकरोति)। **धूः कारः** (धुरं करोतीति)। 'अतः'—यह तपर क्यों पढ़ा? **भाः करणम्** (भासः करणम्=ज्योतिष्करणम्)। यदि ऐसा है तो 'भास्कर' में सत्व कैसे होगया? कस्कादिगण में पाठ से सत्व सिद्ध होता है। 'अनव्ययस्य'—ऐसा क्यों कहा? **स्वः कारः**। **पुनः कारः**। घञन्त के साथ मयूरव्यंसकादि तत्पुरुष समास है।

समास में ही यह विधि होती है। अतः **यशः करोति प्रतिपादनमर्थाना-**

---

१. लोहकारस्याङ्गाराकर्षणयष्टिः कुशा। तदर्थस्याविवक्षायां ङीष् न कृतः।

र्थिषु (याचकों को धनदान यशस्कर होता है। **यशः कामयते** (न च तस्य कृते यतते)।

उत्तरपदस्थ न हो, ऐसा क्यों कहा ? **परमपयःकारः । परमपयः कामः ।** यहाँ पयस् के स् का विसर्जनीय उत्तरपदस्थ है, अतः 'अ' से परे कृ, कम् के परे होने पर भी सत्व नहीं हुआ।

११८. **अधः शिरसी पदे** (८।३।४७)। अधश्च शिरश्च अधः शिरसी। षष्ठी के स्थान में प्रथमा का प्रयोग है। 'पदे'—यह स्वरूपग्रहण है, सुप्तिङन्त लक्षण पारिभाषिक 'पद' का ग्रहण नहीं। अधस् तथा शिरस् के विसर्जनीय को जो उत्तरपदस्थ न हो, सकार आदेश होता है 'पद' शब्द परे होने पर समास विषय में—**शिरसः पदम्=शिरस्पदम्** (शिरः स्थानम्)। **पदस्याधः=अधस्पदम्** (पाओं के नीचे)। यह मयूरव्यंसकादि समास है।

११९. **कस्कादिषु च** (८।३।४८)। 'कस्क' इत्यादि गण पठित प्रातिपदिकों में विसर्जनीय को यथायोग सकार, षकार आदेश होता है कवर्ग, पवर्ग परे रहते। इण् से परे जो विसर्जनीय हो उसे षकारादेश, अन्यत्र सकारादेश—यही 'यथायोग' का अर्थ है। **'कुप्वो ⌣क ⌣पौ च'—इसका यह अपवाद है। कस्कस्तत्र समागतः** (कौन-कौन वहाँ आया)। वीप्सा अर्थ में द्विर्वचन हुआ है। **कौतस्कुतास्तत्र लोकाः समवायन्** (वहाँ कहाँ-कहाँ से आये हुए लोग इकट्ठे हुए)। **कुतस्कुत आगताः**—'तत आगतः' इस अर्थ में अण्। **अव्ययानां भमात्रे टि-लोपः**, इस वचन से 'कुतस्' के 'टि' अस् का लोप। **भ्रातुष्पुत्रः । शुनस्कर्णः । सद्यस्कालः । सद्यस्क्रीः** । सम्पदादि होने से 'क्री' से भाव में क्विप्। **सद्यस्क्रीः=सद्यः क्रयणम्** (सोम का अभी-अभी खरीदना), तत्र भवः क्रतुः **साद्यस्क्रः** । क्रतुशब्दः सोमयागे रूढः। **कांस्कान् पश्यसि वल्लभान्स्वकानिह समवेतान्** (यहाँ इकट्ठे हुए किन-किन अपने प्यारों को देखते हो)। **अयस्काण्डः** । मेदस्पिण्डः। **मेदस्पिण्ड इवायं जनः सुखं क्रमितुमपि नालम्** । चकार के पाठ से यह गण आकृति गण है, ऐसा हम जानते हैं। अतः जो भी शिष्ट प्रयोगों में उपचार (=विसर्जनीय स्थानिक स्, ष्) देखा जाता है, उस की कस्कादियों में पाठ से समाधि समझनी चाहिये। यथा **परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ (गीता)** यहाँ 'परस्पर' शब्द में।

इससे आगे (८।३।४९) से (८।३।५४) तक छन्दोमात्रगोचर सूत्र हैं। वे इस ग्रन्थ का विषय नहीं हैं, अतः उन्हें यहाँ नहीं पढ़ा गया। (८।३।५५) से पादान्त तक षत्व-विधि-विषयक सूत्र हैं। उनका इस ग्रन्थ के पहले चार खण्डों

में यथावसर सोदाहरण व्याख्यान हो चुका है। पुनरुक्ति से कुछ लाभ नहीं। हाँ कुछ एक सूत्र अव्याख्यात रह गये हैं उनका यहाँ सोदाहरण व्याख्यान किया जाता है—**प्रतिपाद्यस्य कात्स्न्र्याय** ।

१२०. **अपदान्तस्य मूर्धन्यः** (८।३।५५)। इससे जो पदाधिकार आ रहा था, वह यहां निवृत्त हो गया है। अब यहाँ से पाद की समाप्ति तक 'अपदान्तस्य' यह और 'मूर्धन्यः'—यह अधिकृत जानने चाहियें। आदेश-प्रत्यययोः (८।३।५९) इत्यादि वक्ष्यमाण सूत्रों में ये दोनों अधिकृत होंगे।

१२१. **सहेः साडः सः** (८।३।५६)। साड् रूप को प्राप्त हुए सह् धातु के 'स्' को मूर्धन्य आदेश (ष्) हो जाता है—**तुराषाट्** (इन्द्रः)। **पृतनाषाट्**। जहाँ सह् का साड् रूप नहीं होगा वहाँ मूर्धन्य नहीं होगा—**तुरासाहं पुरोधाय धाम स्वायम्भुवं ययुः** (कुमार० २।१)।

१२२. **इण्कोः** (८।३।५७)। यह भी अधिकार सूत्र है। जो भी अपदान्त 'स्' को मूर्धन्य आदेश विधान किया जायगा वह सभी इण् अथवा कवर्ग स परे के 'स्' को होगा, ऐसा जानना चाहिये। यह अधिकार भी पाद की समाप्ति तक चलेगा।

१२३. **अवाच्चालम्बनाविदूर्ययोः** (८।३।६८)। पूर्वसूत्र 'स्तन्भेः' से स्तन्भेः की अनुवृत्ति यहाँ आ रही है। **उपसर्गात् सुनोतिसुवति**—(८।३।६५) से 'उपसर्गात्' अनुवृत्त है अतः सूत्रार्थ यह हुआ—स्तन्भ् धातु के सकार को 'अव' उपसर्ग के कारण मूर्धन्य आदेश होता है, जब उपसर्ग-सहकार से धात्वर्थ आलम्बन (आश्रयण) अथवा आविदूर्य (सामीप्य) हो। आलम्बन में—**त्रिविष्टब्धकमवष्टभ्याऽऽस्ते यतिः। पर्पमवष्टभ्य चरति पङ्गुः**। आविदूर्य में—**अवष्टब्धा शत्रुसेनेति सन्नहनीयं प्रत्यवस्कन्दाय**, शत्रु सेना समीप है, अतः प्रत्याक्रमण के लिये तैयार हो जाना चाहिये। आलम्बनादि अर्थ न होगा तो षत्व नहीं होगा—**अवस्तब्धो वृषलः शीतेन**, शूद्र सरदी से अकड़ गया है।

१२४. **वेः स्कन्देरनिष्ठायाम्** (८।३।७३)। 'वि' उपसर्ग से उत्तर स्कन्दिर् गतिशोषणयोः के स् को विकल्प से मूर्धन्य आदेश होता है, पर निष्ठा (क्त, क्तवतु) परे रहते ऐसा नहीं होता—**विस्कन्ता** (वि-स्कन्द्-तृच्)। **विष्कन्ता**। **विस्कन्तुम्**। **विष्कन्तुम्**। **विस्कन्तव्यम्**। **विष्कन्तव्यम्**। सूत्र में 'वा'-ग्रहण की अनुवृत्ति **सिवादीनां वा**—(८।३।७१) से आ रही है। **अनिष्ठायाम्**—यह पर्युदास है, अतः निष्ठाभिन्न निष्ठासदृश कृत् प्रत्यय परे रहते ही यह विधि होती है अन्यत्र नहीं—**विस्कन्त्स्यति**। निष्ठा में भी **'विस्कन्नः'** यही षत्वरहित

एक रूप होगा ।

१२५. **परेश्च** (८।३।७४) । परिपूर्वक स्कन्द् के 'स्' को ष् विकल्प से होता है । पृथग्योगकरण सामर्थ्य से 'अनिष्ठायाम्' की अनुवृत्ति नहीं होती, अतः निष्ठा में भी वैकल्पिक षत्व होगा—**परिस्कन्ता** (परि-स्कन्द्-तृ च्) । **परिष्कन्ता । परिस्कन्तुम् । परिष्कन्तुम् । परिस्कन्तव्यम् । परिष्कन्तव्यम् । परिस्कन्नः । परिष्कण्णः ।**

१२६. **परिस्कन्दः प्राच्यभरतेषु** (८।३।७५) । पूर्वसूत्र से मूर्धन्यादेश प्राप्त होने पर तदभाव निपातन किया है । प्राग् दिग्वर्ती भरत लोग 'परिस्कन्द' ऐसा षत्वरहित प्रयोग करते हैं। अमर भृत्य अर्थ में 'परिस्कन्द' का पाठ करता है—**पराचितपरिस्कन्दपरजातपरैधिताः ।**

१२७. **समासेऽङ्गुलेः सङ्गः** (८।३।८०) । समास में अङ्गुलि से परे उत्तरपद सङ्ग के 'स्' को षत्व होता है । **अङ्गुलिषङ्गः** (अङ्गुल्योः अङ्गुलीनां वा सङ्गः), उंगलियों का चिपकना, उँगलियों का लगाना) । **अङ्गुलिषङ्गो गाः सादयति,** उँगली लगाकर बैलों को हाँकता है । **अङ्गुलिषङ्गा यवागूः,** विलेपी जो उँगलियों को चिपक जाती है । समास के अभाव में षत्व नहीं होगा—**यवाग्वामङ्गुलेः सङ्गः ।**

१२८. **भीरोः स्थानम्** (८।३।८१) 'भीरु' शब्द से उत्तरपद 'स्थानम्' के स् को षत्व होता है समास में—**अपराद्धानां भीतविद्रुतानां देवतायतनानि भीरुष्ठानानि जायन्ते,** डर कर भागे हुए अपराधियों के लिये देवमन्दिर छिपने के स्थान बन जाते हैं ।

१२९. **अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः** (८।३।८२) । 'अग्नि' से उत्तरपद स्तुत् (स्तु क्विप्), स्तोम, सोम के 'स्' को 'ष्' हो जाता है समास में—**अग्निष्टुत् पुरोहितः । अग्निष्टोमो नाम यागः । अग्नीषोमौ देवते ।** यहाँ **ईदग्नेः सोमवरुणयोः** (६।३।२७) से अग्नि को दीर्घ 'ई' होने पर ही यह विधि होती है, अन्यत्र नहीं—**अग्निसोमौ माणवकौ,** अग्नि तथा सोम नाम के लड़के । जब अग्नि ज्योति का पर्याय है और सोम लताविशेष का, तब भी षत्व नहीं होता —**अग्निसोमाविमौ ।**

१३०. **ज्योतिरायुषः स्तोमः** (८।३।८३) । ज्योतिस्, आयुस् इन से परे उत्तरपद 'स्तोम' के 'स्' को ष् हो जाता है—**ज्योतिष्टोमः । आयुष्टोमः ।** **'शरि विसर्गलोपो वा वाच्यः'** इस वार्तिक से विसर्ग का विकल्प से लोप होने पर ऐसे भी कहेंगे—**ज्योतिष्टोमः । आयुष्टोमः ।**

१३१. **मातृपितृभ्यां स्वसा** (८।३।८४) मातृ, पितृ शब्दों से परे उत्तर-पद 'स्वस्' के 'स्' को 'ष्' हो जाता है समास में—**मातृष्वसा पितृष्वसा च समं मयि स्निह्यतः**, मेरी मौसी तथा बूआ मुझ में एक समान स्नेह करती हैं।

१३२. **मातुः पितुर्भ्यामन्यतरस्याम्** (८।३।८५)। मातुर्, पितुर् इन षष्ठ्यन्त पूर्वपदों से परे उत्तरपद 'स्वसृ' के 'स्' को षत्व विकल्प से होता है। **मातुः ष्वसा। मातुः स्वसा। पितुः ष्वसा। पितुः स्वसा। विभाषा स्वसृपत्योः** (६।३।२४) से यहाँ विकल्प से षष्ठी का अलुक् होता है। समास के अभाव में **मातुः स्वसा, पितुः स्वसा**—ऐसा ही नित्य रूप होगा।

१३३. **अभिनिसस्तनः शब्दसंज्ञायाम्** (८।३।८६)। अभिनिस् (उपसर्गद्वय) पूर्वक स्तन् धातु के 'स्' को 'ष्' विकल्प से हो जाता है जब समुदाय शब्द-संज्ञा हो—**अभिनिष्टानो विसर्जनीयः। अभिनिस्तानो विसर्जनीयः।** शब्द-संज्ञा न होने पर **अभिनिस्तनति मृदङ्गः**—यहाँ षत्व नहीं होता। उदाहरणों में विकल्प से उपसर्ग निस् के स् के स्थान में हुए विसर्ग का पाक्षिकलोप हुआ है।

१३४. **निनदीभ्यां स्नातेः कौशले** (८।३।८९)। नि, नदी—इनसे उत्तर-पद कृदन्त स्ना परे रहते 'स्ना' के 'स्' को ष् होता है, जब समुदाय से कौशल (चातुर्य) की प्रतीति हो—**निष्णातोऽयं भिषक् शालाक्ये। निष्णातोऽयं विप्र ऋचां व्याख्याने।** यहाँ **'स्नान'** धात्वर्थ **कौशल रूप अर्थ से निगीर्ण हो गया है।** श्रीमद्भागवतकार **'निष्ण'** शब्द का भी प्रयोग करता है। विरलप्रयोगों का व्यवहार उसका स्वभाव है। **नद्यां स्नाति तत्र कुशलः=नदीष्णः**, जो नदी के आवर्त आदि विषम स्थानों को, नदी की गहराई, वेग, प्रवाह आदि को खूब जानता है। **यहाँ भी स्नान क्रिया अत्यन्त अध्यवसित हो जाती है।** अतः रघुवंश में प्रयोग है—**ततः समाज्ञापयदाशु सर्वानानायिनस्तद्विचये नदीष्णान्** (१६।७५), तब महाराज कुश ने सब नदीकुशल जालिक (मत्स्य-ग्राही लोगों) को उस (वलय) के ढूंढने का आदेश दिया। कौशल अर्थ के न होने पर **यद्यपि नद्यां निस्नातोऽस्मि तथाप्यस्यां सरस्यां सिष्णासामि**, यहाँ 'निस्नात' में षत्व नहीं हुआ। **कामं नदीस्नातोऽयम्। अतारकत्वान्नद्यवतारे स्नातः, न तु नदीमध्ये। यः कश्चिदर्थो निष्णातः स्वरुच्या तु परस्परम्** (याज्ञ० २।८४)। यहाँ 'व्यवस्थित' अर्थ में प्रयुक्त 'निष्णात' में जो षत्व हुआ है वह अपाणिनीय समझना चाहिये।

१३५. **सूत्रं प्रतिष्णातम्** (८।३।९०)। सूत्र विषय में 'प्रतिष्णात' यह

'शुद्ध' अर्थ में निपातन किया है। अन्यत्र 'प्रतिस्नात' ऐसा षत्व रहित रूप होगा। **कथं जानीषे प्रतिस्नातोऽयमिति ?** कैसे जानते हो इस ने अभी-अभी स्नान किया है ? **आर्द्रोऽस्य चन्दनचर्चः। अत एव।** इस का चन्दन लेप गीला है। इसी से।

१३६. **प्रष्ठोऽग्रगामिनि** (८।३।९२)। अग्रगामी अर्थ में 'प्रष्ठ' (प्रतिष्ठत इति) शब्द निपातन किया है। **रघुकुलप्रष्ठो रामः। पुलस्त्यकुलप्रष्ठो रावणः। प्रष्ठौही बालगर्भिणी** (गौः) में 'प्रष्ठ' प्रथम अर्थ में उपचरित हुआ है, अग्रगामित्व=नेतृत्व आदि कुछ भी विवक्षित नहीं।

१३७. **वृक्षासनयोर्विष्टरः** (८।३।९३)। वृक्ष तथा आसन अर्थ में 'विष्टर' शब्द निपातित किया है। **विष्टरो वृक्षः। विष्टर आसनम्। अयं विष्टरः, सुखमास्तां भवान्।** अन्यत्र विपूर्वक स्तृ से 'अप' प्रत्यय आने पर 'विस्तर' रूप होगा—**विस्तरेण ब्रूहि येन विवक्षितं ते विशदतरं स्यात्।**

१३८. **छन्दोनाम्नि च** (८।३।९४)। छन्दोविशेष का नाम होने पर 'विष्टार' (वि—स्तृ—घञ्) निपातन किया है। **विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः। विष्टारो बृहती छन्दः।** अन्यत्र **कियान् विस्तारोऽस्यागारस्य। कियांश्चायामः,** इस कमरे की चौड़ाई कितनी है और लम्बाई कितनी ?

१३९. **अम्बाम्ब-गो-भूमि-सव्याऽप-द्वि-त्रि-कु-शेकु-शङ्कवङ्गु-मञ्जि-पुञ्जि-परमे-बर्हिर्दिव्यग्निभ्यः स्थः** (८।३।९७)। अम्ब, आम्ब, गो, भूमि, सव्य, अप, द्वि, त्रि, कु, शेकु, शङ्कु, अङ्गु, मञ्जि, पुञ्जि, परमे, बर्हिस्, दिवि, अग्नि—इन से परे उत्तरपद 'स्थ' के 'स्' को षत्व होता है—**अम्बष्ठः। आम्बष्ठः। गोष्ठः। भूमिष्ठः। सव्येष्ठः।** बाईं ओर बैठने वाला। यहाँ तत्पुरुषे कृति बहुलम् (६।३।१४) से सप्तमी का अलुक् हुआ है। **अपष्ठः** (अप तिष्ठतीति, दूरे तिष्ठतीत्यर्थः)। **द्विष्ठः। द्विष्ठा अपि हेतवो भवन्ति। त्रिष्ठः। कुष्ठः** (कुष्ठो (नामौषधिः, चर्मरोगविशेषश्च)। **शेकुष्ठः। शङ्कुष्ठः। शङ्कुष्ठं पश्य वायसम्। अङ्गुष्ठः। अङ्गुर्हस्तः, तत्र तिष्ठतीति। मञ्जिष्ठः।** मञ्जि (स्त्री०) नई कोंपलों का गुच्छा अथवा लता। **पुञ्जिष्ठः।** पुञ्जि (स्त्री०)=पुञ्ज, राशि, उत्कर। **परमेष्ठः** (परमे द्युलोके स्थानम्)। सप्तम्या अलुक्। **बर्हिष्ठः**=बर्हिषि कुशे तिष्ठतीति। **दिविष्ठः**=दिवि तिष्ठतीति। **इन्द्रादयो दिविष्ठा देवाः, ब्राह्मणा भूमिष्ठा भूमिदेवाः।** अग्निष्ठः। **अग्निष्ठं यत्तेजस्तन्मेऽस्तु।**

१४०. **स्था-स्थिन्-स्थॄणाम् इति वक्तव्यम्** (वा०)। विच्प्रत्ययान्त स्था,

इनि-प्रत्ययान्त स्थिन्, तथा औणादिक ऋप्रत्ययान्त 'स्थृ' परे रहते भी 'स्' को षत्व होता है—**सव्येष्ठाः । परमेष्ठी ब्रह्मा । सव्येष्ठा सारथिः ।**

१४१. **सुषामादिषु च** (८।३।९८) । 'सुषामा' आदि शब्दों में सकार को मूर्धन्य आदेश होता है—**शोभनं साम यस्यासौ सुषामा ब्राह्मणः। दुष्षामा। निष्षामा ब्राह्मणः** (निर्गतं साम यस्मात्) । **निष्षेधः । दुष्षेधः** । यहाँ 'सु' शब्द के कर्मप्रवचनीय होने से तथा निर् दुस् के क्रियान्तर सम्बन्धी होने से सिध् धातु के प्रति अनुपसर्ग होने से इनका इस गण में पाठ किया है । निर्गतः सेधः=निष्षेधः । अथवा **सेधतेर्गतौ** (८।३।११३) इति प्रतिषेध को बाधने के लिये यहाँ पाठ किया है । **सुषन्धिः** (शोभनः सन्धिः) । **दुष्षन्धिः । सुष्ठु । दुष्ठु । 'अपदुःसुषु स्थः'** इस उणादि सूत्र से 'कु' प्रत्यय । जहाँ शिष्ट-प्रयोगों में षत्व दीखता है पर शास्त्र ने उसका विधान नहीं किया वह सब सुषामादि होने से साधु है, ऐसा समझना चाहिये । **अविहितलक्षणो मूर्धन्यः सुषामादिषु द्रष्टव्यः**—ऐसा भाष्य है ।

१४२. **एति संज्ञायामगात्** (८।३।९९) । इण्, कवर्ग से परे एकारपरक 'स्' को 'ष्' हो जाता है संज्ञाविषय में यदि वह 'स्' गकार से परे न हो—**हरिषेणः । वारिषेणः** । संज्ञाविषय में यह विधि होती है, अन्यत्र नहीं—**पृथुः सेनाऽस्य राज्ञः, पृथुसेनो राजा** । 'गकार' से परे होने से **विष्वक्सेनः** (विषूची व्यापिका सेनाऽस्य)—यहाँ षत्व नहीं हुआ ।

१४३—**ह्रस्वात्तादौ तद्धिते** (८।३।१०१)। ह्रस्व से उत्तरवर्ती स् को मूर्धन्य आदेश होता है तकारादि तद्धित परे होने पर । तर, तम, तय, त्व, तल्, तस्, त्यप्—ये तादि तद्धित प्रत्यय इस विधि के प्रयोजक हैं । तर—**इदं सर्पिः । इदं च सर्पिष्टरम्**, यह घी है, यह बढ़िया घी है । तम—**गव्यं हि सर्पिष्टमम् ।** तय—**चतुष्टये ब्राह्मणानां निकेताः ।** त्व—**ब्रह्मचर्येण मृत्युमपहत्य सर्वायुष्ट्वं लभते ।** तल्—**पादबन्धाभावो यजुष्टा** (यजुष्ट्वम्) । तस्—**बहिष्टः शैवः अन्तस्तु कौलः ।** त्यप्—**निष्टचश्चण्डालादिः** (निर्गतो वर्णाश्रमेभ्यः) । **आविष्टचः**=आविर्भूतः=प्रकटः ।

सूत्र में तादि तद्धित क्यों कहा ? **सर्पिस्साद् भवति—सात्पदाद्योः** (८।३।१११) से प्रत्यय सकार को षत्व का निषेध होने पर भी प्रकृति सकार (सर्पिस् का सकार) को हो जाता ।

ह्रस्व से क्यों कहा ? **इयं गीः, इयं च गीस्तरा** (यह बढ़िया वाणी है) । तद्धित क्यों कहा ? सर्पिस्तरति—यहाँ तादि तिङन्त है ।

१४४. तिङन्तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः (वा०)। ह्रस्व से परे यदि तिङन्त का स् हो तो तादि तद्धित परे होने पर भी षत्व नहीं होता—**बलीयांस इमे भिन्द्युस्तरामिमं प्राकारम् ।**

१४५. सुनोतेः स्यसनोः (८।३।११७) । षुञ् अभिषवे (स्वादि) के सकार को मूर्धन्यादेश नहीं होता स्य, सन् परे होने पर—**नाभिषुताः सोमाः, अभिसोष्यन्तेऽद्य प्राह्णे । परिसोष्यामि सोममिन्द्राय सोमप्रियाय । अभ्यसोष्यं सोमम्, कल्पश्चेदभविष्यम्,** मैं सोमरस निकालता, यदि स्वस्थ होता। **उपसर्गात् सुनोति**—(८।३।६५) तथा **प्राक् सितादड्व्यवायेपि** (८।३।६३) इन दोनों का अपवाद है ।

'सन्' परे रहते क्या उदाहरण है ? यदि कहो 'सुसूषति' । यह कोई उदाहरण नहीं । **स्तौतिण्यो**—(८।३।६१) इस नियम से ही षत्व-भूत सन् परे रहते अभ्यास इण् से परे धातु के 'स्' को षत्व नहीं होगा । यदि कहो **'अभिसुसूषते'**—यह उदाहरण है। यह भी कोई उदाहरण नहीं । **स्थादिष्वभ्यासेन**—(८।३।६४) सूत्र में **'अभ्यासस्य'**—ग्रहण नियमार्थ है । इस नियम से स्थादियों को ही उपसर्गस्थ निमित्त से अभ्यास के सकार को 'ष्' होता है । अतः षत्व की प्राप्ति ही नहीं । तो प्रकृत सूत्र का निर्दोष उदाहरण यह है—अभिसुसूष (सन्नन्त धातु) से क्विप् करने पर, अतो लोपः से 'अ' का लोप, षत्व के असिद्ध होने से रुत्व, विसर्ग । **अभिसुसूः ।**

१४६. सदेः परस्य लिटि (८।३।११६) । सद् धातु के 'स्' को मूर्धन्य नहीं होता लिट् परे रहते । द्विर्वचन होने पर दो सकारों के सम्भव होने पर स्थादिष्वभ्यासेन—से अभ्यासोत्तर 'स्' को उपसर्गनिमित्तक 'ष्' प्राप्त होता है उसका निषेध है—**अभिषसाद । परिषसाद । निषसाद । विषसाद ।** प्रतिपूर्वक सद् को तो **सदिरप्रतेः** (८।३।६६) से अभ्यास को भी षत्व नहीं होता—**प्रतिससाद ।**

१४७. स्वञ्जेश्चोपसंख्यानम् (वा०) । **परिषस्वजे । परिषस्वजाते । परिषस्वजिरे । अभिषस्वजे । परिष्वङ्गः परिरम्भो भवति । अभिष्वङ्गश्च पराभव इत्युपसर्गकृतोऽर्थभेदः ।** स्वञ्ज् संयोगान्त है, तो भी इस से परे अपित् लिट् विभाषा कित् माना जाता है, जिस से अनुषङ्ग (न्) का लोप हो जाता है ।।

इति हल्सन्धौ षत्वविधिः ।

अथ हल्सन्धौ णत्वविधिः ।

१४८. **रषाभ्यां नो णः समानपदे** (८।४।१)। रेफ तथा षकार से परे न् को ण् होता है एक ही पद में । सूत्र में समानशब्द का अर्थ 'एक' है । यह विधि तभी होती है जब निमित्त (र्, ष्) तथा निमित्ती 'स्' एकपदस्थ हों—रेफ से—**आस्तीर्णम्** (आङ—स्तॄ+न=आङ्स्तिर्+न=आस्तीर् न)। **विस्तीर्णम्** । **अवगूर्णम्**(अव—गुर्+न= अव—गूर्+न) । **अवगूर्णस्तेन दण्डो वृषले प्रहर्तुम्** । अवगूर्णः=उद्यतः=उठाया । षकार से—**कुष्णाति** । **पुष्णाति** । **मुष्णाति** ।

षकार का ग्रहण क्यों किया ? **कुष्णाति** आदि में वक्ष्यमाण ष्टुत्व विधि से णत्व सुलभ हो जायगा । ठीक है । षकार का उत्तरार्थ ग्रहण है, अट्कुप्वाङ्—(१५०) से अड्व्यवाय में भी णत्व कहेंगे, वह णत्व षकार के अट् से व्यवहित होने पर भी हो जाय इसलिये षकार का निमित्तरूप से उपादान किया है ।

'समानपद में'—ऐसा क्यों कहा ? अग्निर्नयति । **वायुर्नयति** । यहाँ निमित्त रकार तथा निमित्ती न् भिन्नपदस्थ हैं ।

१४९. **ऋवर्णाच्चेति वक्तव्यम्** (वा०)। **तिसृणाम्** । **चतसृणाम्** । **मातृणाम्** । **पितृणाम्** ।

शङ्का—इस वार्तिक के विना ही 'ऋ' से 'न्' को णत्व हो जायगा । ऋ वर्ण के भीतर जो रेफ उस निमित्त से हो जायगा । नहीं ऐसा नहीं हो सकता । सूत्र में रेफवर्ण का णत्व के प्रति निमित्तभाव कहा है । **ऋ में वर्तमान रेफ वर्ण का एकदेश है, वर्ण नहीं** । जो कार्य वर्ण को कहा गया हो वह उसे नहीं हो सकता, कारण कि वर्णैकदेश वर्ण नहीं हैं, वे वर्णच्छायानुकारी हैं । उत्तर—**रश्रुतिसामान्यनिर्देशात् सिद्धम्** । सूत्र में रेफश्रुतिमात्र का ग्रहण किया है, वर्ण अवर्ण के भेद की अविवक्षा है । वर्णात्मक रेफव्यक्ति का ही ग्रहण अभिप्रेत नहीं, अतः रेफश्रुति सामान्य (रेफत्व जो ऋ में विद्यमान है) से णत्व निर्बाध हो जायगा और वार्तिक की अपेक्षा नहीं होगी ।

शङ्का—ऐसी रेफश्रुति स्वीकार करने पर भी ऋ में जो रेफ उसमें दोनों ओर अज्भक्ति के कारण व्यवधान होने से णत्व न हो सकेगा । नहीं । यह कोई दोष नहीं । क्षुभ्नादिगण में **नृनमन, तृप्नोति** के ग्रहण से ज्ञापित होता है कि अज्भक्ति व्यवधायिका नहीं होती । अथवा क्षुभ्नादियों में इन के पाठ से यह ज्ञापित होता है कि ऋवर्ण से परे भी 'न्' को णत्व होता है ।

१५०. **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** (८।४।२)। अट् च कुश्च पुश्च आङ् च नुम् च=अट्कुप्वाङ्नुमः, तैर्व्यवायः=व्यवधानं, तस्मिन्। अट् (प्रत्याहार) कवर्ग, पवर्ग, आङ् तथा नुम्—द्वारा व्यवधान होने पर भी अर्थात् निमित्त, ऋ, र्, ष् तथा कार्यी न् के बीच में आने पर भी) 'न्' को णत्व हो जाता है। चाहे अट् आदि व्यस्त रूप से (एक एक करके) व्यवधायक हों, चाहे समस्तरूप से (इकट्ठे होकर)। **अट् व्यवाय में—करणम्। हरणम्। किरिणा** (=सूकरेण)। **गिरिणा। कुरुणा। गुरुणा।**

कवर्गव्यवाय में—अर्केण। अर्केणोदितमात्रेण तमो निरस्तम्। यहाँ क् तथा अट् (ए) का व्यवधान है। **मूर्खेण। मूर्खेणात्मा संशये पातितः।** यहाँ भी ख् (कवर्ग) तथा ए (अट्) का व्यवधान है। **गर्गेण। गर्गेणेक्षितं देवदत्ताय** (गर्ग नामक ज्योतिषी ने देवदत्त के दैव का पर्यालोचन किया)। **अर्घेण। अर्घेण क्रेयार्थानामुत्तरोत्तरं वर्धमानेन कदर्थ्यते लोकः** (क्रेय वस्तुओं के अधिकाधिक बढ़ते हुए दाम से लोग तंग आ रहे हैं)। **पवर्गव्यवाय में—दर्पेण। दर्पेण हतो दशाननः।** प् तथा अट् (ए) का व्यवधान है। **रेफेण नकारस्य णत्वं क्रियते। तमिमं प्रातिशाख्यकारा विनाममाचक्षते** (रकार न् को 'ण्' में बदल देता है, इसे प्रातिशाख्यकार 'विनाम' कहते हैं)। **गर्भेण। गर्भेणार्भकं धत्ते धात्री मासान्नव** (माता नौ मास तक बच्चे को पेट में धारण करती है)। **चर्मणा। चर्मणा परिवृतो रथश्चार्म्मः। वर्म्मणा। वर्मणा सन्नद्धो वर्मित उच्यते, स एव व्यूढकङ्कटः।**

आङ्-व्यवाय में—**पर्याणद्धम्।** (परि+आङ्+नह्+क्त)। **परिणद्ध-पर्याणद्धयोरर्थे विशेषो न कश्चन।** आङ् अट् प्रत्याहारान्तर्गत है, तो अट्-व्यवाय कहने से यहाँ णत्व सिद्ध था, तो आङ्ग्रहण क्यों किया? इसलिये कि आङ् निपात पद है, और पदरूप व्यवाय होने पर (१८१) से णत्व का निषेध कहेंगे। वह निषेध यहाँ न हो। उस निषेध के बाधनार्थ आङ् पढ़ा है, अन्यथा व्यर्थ होता।

नुम्-व्यवाय में—**बृंहणम्** (=वर्धनम्)। **उपबृंहणम्** (=वर्धनम्)। **अनर्थकेन शब्दजालेन ग्रन्थकलेवरस्योपबृंहणेन किम्। बृंहितं करिगर्जितम्,** हाथी के चिंघाड़ने को 'बृंहित' कहते हैं। यहाँ 'बृहि' धातु को नुम् होकर झल परे होने से अनुस्वार हुआ है। वस्तुतः सूत्र में नुम् से अनुस्वार का ग्रहण अभिप्रेत है, चाहे वह नुम्स्थानिक हो चाहे न्-स्थानिक। अतः तृंहणम् यहाँ अनुस्वार नुम्-स्थानिक नहीं, नुम् का प्रसङ्ग न होने से। यहाँ अनुस्वार

'तृन्ह्' के मूलभूत 'न्' को हुआ है। 'नुम्' होने पर भी जहाँ अनुस्वार नहीं होगा वहाँ णत्व नहीं होगा—**प्रेन्वनम्**। यहाँ इवि व्याप्तौ धातु को नुम् हुआ है। पर झल् परे न होने से इसे अनुस्वार नहीं हो सका।

अट् आदि का ही व्यवधान णत्व विधि का प्रतिबन्धक नहीं, वर्णान्तरकृत व्यवधान तो प्रतिबन्धक ही होता है—**दर्शनमर्चनं च सतां पुण्याय भवति। केयं तर्जना मम। नाहमेतां गणये। रामस्य रावणेन सह रोमहर्षणं जन्यमजनि। अनागस एवं भर्त्सनं न युक्तम्।**

इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥ (दण्डी)

१५१. **पूर्वपदात्संज्ञायामगः** (८।४।३)। 'पूर्वपद'—यहाँ पूर्वपदस्थ निमित्त के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। पूर्वपदस्थ निमित्त ऋ, र, ष् से परे 'न्' को णत्व होता है संज्ञा विषय में, जब निमित्त और निमित्ती में 'ग्' का व्यवधान न हो—**द्रुणसः** (बड़ी नासिका वाला)। **खरणाः। खरणसः** (तीक्ष्ण नासिका वाला)। **वाध्रीणसः** (गैंडा)। **शूर्पणखा**। संज्ञा न होने पर **शूर्पनखी** ऐसा णत्वरहित ङीपन्त रूप होगा। **शूर्प इव नखा यस्याः सा। आग्रहायणी पौर्णमासी** (अगहन की पूर्णिमा)। **रामस्यायनं रामायणम्। कञ्चुको वारवाणोऽस्त्री** (अमर)। वारमाच्छादकं वानमस्य। गकार का व्यवधान न हो ऐसा क्यों कहा? **ऋगयनम्** (ऋचामयनम्)। **समराङ्गनम्**। यहाँ गकार के व्यवधान से णत्व नहीं होता। **नरवाहन** (=कुबेर), **रघुनाथ** (=राम) आदि में संज्ञा होने पर भी णत्व नहीं होता।

कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि यह सूत्र नियम करता है। पूर्वपदस्थ निमित्त से यदि णत्व हो तो संज्ञा विषय में ही हो, अन्यत्र नहीं। समास भी 'समानपद' ही है, समास होने से ऐकपद्य हो जाता है। समासपदरूप समानपद में निमित्त और निमित्ती के होने से पूर्व शास्त्र से प्राप्ति होने पर नियम कर दिया है कि संज्ञा में ही यह विधि हो। पूर्वपद, उत्तरपद सम्बन्धी शब्द होने से पूर्वपद के प्रति जो उत्तरपद है, तत्स्थ 'न्' को ण् की निवृत्ति इस नियम से होती है—**चर्मनासिकः। खारपायणः**। खरपस्य गोत्रापत्यम्। नडादि होने से फक् तद्धित प्रत्ययः। यहाँ 'खर' पूर्वपद के लिये 'प' उत्तरपद है, आयनप्रत्ययान्त नहीं। **मातृभोगीणः**। मातुर्भोगः शरीरम्। यद्यपि भोग शब्द साँप की फणा अथवा शरीर अर्थ में रूढ है, तो भी शिष्ट प्रयोग-प्रामाण्य से शरीर-सामान्य में भी प्रयोग साधु है। **मातृभोगाय हितः=मातृभोगीणः।**

यहाँ भी नकार तद्धितस्थ है, उत्तरपदस्थ नहीं। अतः प्रकृत नियम से णत्व की निवृत्ति नहीं होती।

जिन के मत में पूर्व सूत्र में समानपद का अर्थ 'जो नित्य समानपद' (एक-पद) है, ऐसा है, जो समानपद से अखण्डपद समझते हैं उनके मत में प्रकृत सूत्र अपूर्व विधि है, पूर्वशास्त्र से अप्राप्ति होने पर यह णत्व-विधान है।

१५२. **वनं पुरगा-मिश्रका-सिध्रका-शारिका-कोटराग्रेभ्यः** (८।४।४)। पूर्वपदस्थ निमित्त से संज्ञा विषय में 'वन' के 'न' को 'ण' होता है जब पूर्वपद पुरगा आदि हों—**पुरगावणम्**। **मिश्रकावणम्**। **सिध्रकावणम्**। **शारिकावणम्**। **कोटरावणम्**। **अग्रेवणम्**। पूर्व शास्त्र से णत्व सिद्ध था, फिर क्यों विधान किया? **सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः**। इन्हीं से परे वन के नकार को 'ण' होता है, अन्य पूर्वपद होने पर नहीं—**कुबेरवनम्**। **शतधारवनम्**। **असिपत्रवनम्**।

१५३. **प्र-निर्-अन्तः-शरेक्षु-प्लक्षाऽऽम्र-कार्ष्य-खादिर-पीयूक्षाभ्योऽसंज्ञायामपि** (८।४।५)। **प्रवणे जुहोति**। **प्रवणे यष्टव्यम्**। प्रवण=निम्न। **निर्वणे प्रणिधीयते**। अन्तर्—**अन्तर्वणे क्वचित्पल्वलानि सन्ति**। **शरवणम्** (शराणां वनम्)। **इक्षुवणम्** (इक्षूणां वनम्)। **प्लक्षवणम्**। प्लक्ष=किंशुक। **आम्रवणम्** (आम्राणां वनम्)। **कार्ष्यवणम्**। **खदिरवणम्**। खदिर=खैर। **पीयूक्षावणम्**।

१५४. **विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः** (८।४।६)। ओषधिवाची, वनस्पतिवाची पूर्वपद (जिसमें णत्व का निमित्त हो) से परे 'वन' के 'न' को 'ण' विकल्प से होता है। ओषधिवाची से—**दूर्वावणम्**। **दूर्वावनम्**। **मूर्वावणम्**। **मूर्वावनम्**। वनस्पतिवाची से—शिरीषवणम्। शिरीषवनम्। बदरीवणम्। बदरीवनम्।

१५५. **द्व्यक्षर-त्र्यक्षरेभ्य इति वक्तव्यम्** (वा०)। देवदारुवनम्। भद्रदारुवनम्। यहाँ णत्व नहीं होता, कारण कि यहाँ पूर्वपद चतुरक्षर है। सूत्र में वृक्ष और वनस्पति के प्रसिद्ध भेद की उपेक्षा करके सामान्यरूपेण 'वनस्पति' शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः **शिरीषवणम्** इत्यादि उदाहरण संगत होते हैं। वृक्ष और वनस्पति का भेद ऐसा माना जाता है—

> **फली वनस्पतिर्ज्ञेयो वृक्षाः पुष्पफलोपगाः।**
> **ओषध्यः फलपाकान्ता लता गुल्माश्च वीरुधः॥** इति।

अमर का पाठ भी है—**वानस्पत्यः फलैः पुष्पात्तैरपुष्पाद् वनस्पतिः**।

१५६. अह्नोऽदन्तात् (८।४।७)। अदन्त जो पूर्वपद तत्स्थ निमित्त से परे 'अहन्' के 'न्' को ण् हो जाता है—पूर्वाह्णः (पूर्वम् अह्नः)। अपराह्णः (अपरम् अह्नः)। प्राह्णः (प्रारम्भोऽह्नः)।

अदन्त पूर्वपद से, ऐसा क्यों कहा? निर्गतोऽह्नः=निरह्नः (प्रादि समास)। दुरह्नः। सूत्र में 'अह्न' अदन्त प्रथमान्त पढ़ा है, अतः दीर्घाह्नी शरद् (दीर्घाण्यहानि यस्यां सा (बहु०), यहाँ णत्व नहीं होता, उत्तरपद अदन्त नहीं, किन्तु ईकारान्त है।

१५७. वाहनमाहितात् (८।४।८)। आहितवाची जो पूर्वपद तत्स्थ निमित्त से उत्तर 'वाहन' के 'न्' को ण् हो जाता है। आहित=आरोपित=लदा हुआ। इक्षुवाहणम् (ऐसा शकट जिस पर गन्ना लदा हुआ है)। शरवाहणम्। दर्भवाहणम्। यदि पूर्वपद आहितवाची न होगा तो निमित्त होने पर भी णत्व नहीं होगा—दाक्षिवाहनम्=दाक्षिस्वामिकं वाहनम्, वाहन=गाड़ी जिस का स्वामी दक्ष का पुत्र दाक्षि है।

१५८. पानं देशे (८।४।९)। पूर्वपदस्थ निमित्त से परे 'पान' शब्द के 'न्' को 'ण्' होता है जब समुदाय देश का नाम हो। यहाँ 'पान' में कर्मणि ल्युट् जानना चाहिये (कृत्यल्युटो बहुलम्)—पीयत इति पानम्, क्षीरादि। क्षीरं पानं (पेयं) येषां ते क्षीरपाणा उशीनराः। मुख्यरूप से 'क्षीरपाण' मनुष्यों की संज्ञा है। पर तत्सम्बन्धात् देशाभिधान भी है। सुरापाणाः प्राच्याः (सुरापानं पेया येषां ते)। सौवीरपाणा वाह्लीकाः। सौवीर=कांजी।

१५९. वा भावकरणयोः (८।४।१०)। भाववाची अथवा कर्मवाची जो 'पान' शब्द, उसके 'न्' को पूर्वपदस्थ निमित्त से 'ण्' होता है विकल्प से—क्षीरपाणं (क्षीरपानं) वर्तते ब्राह्मणानाम्। सुरापाणं (सुरापानं) क्षत्रियाणां समराङ्गनगतानाम्। कषायपाणं (कषायपानम्) बहूपकरोत्यातुरस्य। करण में—क्षीरपाणः कंसः क्षीरपान इति वा। क्षीरं पीयतेऽनेनेति क्षीरपाणः।

सुप्रपाणं भवत्वघ्न्याभ्यः (ऋ० ५।८३।८)। यहाँ कर्म में ल्युट् है। प्रकृतसूत्र से णत्व की प्राप्ति नहीं।

१६०. वाप्रकरणे गिरिनद्यादीनामुपसंख्यानम् (वा०)। गिरिणदी। गिरिनदी। गिरिनदीफेनोपमं जीवितम्। स्वर्णदी (स्वर्नदी) मन्दाकिनी। चक्रणितम्बा (चक्रनितम्बा) योषा।

१६१. प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च (८।४।११)। 'पूर्वपदात्' तथा 'वा' की अनुवृत्ति आ रही है। पूर्वपदस्थ निमित्त से प्रातिपदिक के अन्त में जो

नकार, नुम् का जो नकार तथा विभक्तिस्थ जो नकार, उसे विकल्प से 'ण्' होता है।

प्रातिपदिकान्त न् को—**माषवापिणौ। माषवापिनौ** (दो माष को बोने वाले)। माषान् वपतीत्येवंशीलो माषवापी। माषवापिन् में ताच्छील्य में णिनि (इन्) प्रत्यय हुआ है। 'वापिन्'—यह नकारान्त प्रातिपदिक है। **गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः**—इस वचन के अनुसार कृदन्त 'वापिन्' के साथ समास होने से प्रातिपदिकरूप जो उत्तरपद उसी का नकार होने से वैकल्पिक णत्व होता है। **क्षीरपायिण उशीनराः क्षीरपायिन** इति वा।

नुम् के 'न्' को—**माषवापाणि (माषवापानि** इति वा) क्षेत्राणि। 'माषवाप' से 'शि' परे नपुंसकस्य झलचः (७।१।७२) से नुम् हुआ है।

विभक्तिस्थ न् को—**व्रीहिवापेण (व्रीहिवापेन) माषवापेण (माषवापेन)** वा **कृतकृत्यमात्मानं मन्यतेऽयं कृषीवलः। इन्द्रमहेण (इन्द्रमहेन) चरति ऐन्द्रमहिकः**। णत्वविधि में सर्वत्र अट्कुप्वाङ् नुम् का व्यवाय ही सह्य है, वर्णान्तर का व्यवाय होने पर कहीं भी णत्व नहीं होता। पूर्वपदाधिकार होने से उत्तरपद जो प्रातिपदिक उस के अन्त्य 'न्' को ण् होता है, अतः **गर्गभगिनी** (गर्गाणां भगिनी)—यहाँ णत्व की प्राप्ति ही नहीं, यहाँ उत्तरपद ईकारान्त सुबन्त है, नकारान्त प्रातिपदिक नहीं। यदि गर्गाणां भगो गर्गभगः, सोऽस्या अस्तीति **गर्गभगिनी**, ऐसा विग्रह है तो नकार के तद्धितस्थ होने से (उत्तरपदस्थ न होने से) 'अट्कुप्वाङ्' से नित्य णत्व होता है, यथा मातृभोगीणः—यहाँ। तद्धितस्थ होने से ही निमित्त और निमित्ती भिन्नपदस्थ नहीं हैं।

भुवनप्रथितप्रख्यानां क्षत्रियपुङ्गवानां भूरेषेति कस्य नेहाभिमानः (जगत्-प्रख्यात क्षत्रिय-धुरन्धरों की यह भूमि है, इस पर किसे अभिमान नहीं?)। यहाँ 'भुवनप्रथितप्रख्यानाम्' में विभक्तिस्थ 'न्' को ण् क्यों नहीं होता? उत्तर—**असिद्धे शस्य यवचनं विभाषा**—ऐसा भाष्य है। इसका अर्थ है—चक्षिङ् को ख्याञ् आदेश विधान किया है वह वस्तुतः ख्शादि है। 'श्' के स्थान में जो य् आदेश होता है उसे असिद्धकाण्ड में पढ़ा हुआ समझना चाहिये। असिद्ध काण्ड से अभिप्राय त्रिपादी है, पूर्वत्रासिद्धीय प्रकरण है। अब य् के असिद्ध होने से 'श्' विद्यमान है और 'श्' के व्यवधान होने से 'णत्व' नहीं होता।

माषवापाणि—में नुम् अङ्ग-भवत्, अङ्ग का अवयव है, उत्तर पदस्थ 'न्' नहीं, अतः इसका पृथक् ग्रहण किया है।

१६२. **युवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः** (वा०)। **आर्ययूना। क्षत्रिययूना।** प्रातिपदिकान्त 'न्' होने से वैकल्पिक णत्व प्राप्त था। **प्रपक्वानि। प्रपक्वानीमानि फलानि, इमानि च शलाटूनि** (कच्चे)।

१६३. **एकाजुत्तरपदे णः** (८।४।१२)। इस सूत्र में जो 'णः' की अनुवृत्ति होने पर भी पुनः 'णः' का ग्रहण किया है वह विकल्पाधिकार की निवृत्ति को स्पष्ट करने के लिये है, अतः यह नित्यविधि है। एकाच् उत्तरपदं यस्मिन् समासे स एकाजुत्तरपदः समासः, एकाच् वाला उत्तरपद जिस समास में है वह समास 'एकाजुत्तरपद' है। पूर्वपदाधिकार से 'समासे' यह उपस्थित है। एकाच् उत्तरपद वाले समास में पूर्वपदस्थ निमित्त से उत्तर प्रातिपदिकान्त न्, नुम् के न्, तथा विभक्तिस्थ 'न्' को नित्य ण् होता है—**अयं ब्रह्महा, अयं चापि। द्वाविमौ ब्रह्महणौ। इन्द्र एवैको वृत्रहा। वृत्रहणौ न भवतः।** नुम्—**क्षीरपाणि ब्राह्मणकुलानि।** विभक्ति—**क्षीरपेण बालेन त्वरितं साधीयो वृध्यते** (दूध पीने वाला बच्चा शीघ्र ही बहुत अच्छा बढ़ता है)।

१६४. **कुमति च** (८।४।१३)। पूर्वपदस्थ निमित्त से कवर्गवान् उत्तरपद में प्रातिपदिकान्त नकार, नुम् के नकार तथा विभक्तिस्थ नकार को नित्य णत्व होता है। प्रातिपदिकान्त न्—**पुरा ऽऽर्या वस्त्रयुगिणो बभूवुः, अद्यत्वे बहुवाससस्ते** (प्राचीन आर्य दो वस्त्र पहनते थे, आजकल वे बहुत वस्त्रधारण करते हैं)। **वृषगामिणौ शिवौ** (पार्वतीपरमेश्वरौ) **सर्वस्यास्य लोकस्येशाते। स्वर्गकामिणो लोका अग्निष्टोमादिभिर्यजन्ते।** नुम्—**खरयुगाणीमानि रथेषु योगमर्हन्ति।** विभक्ति—**खरयुगेण युक्तो रथः समरेषूपयोगं याति।**

१६५. **अन्तः** (८।४।२०)। यहाँ **अनितेः** (८।४।१९) से 'अनितेः' की अनुवृत्ति आ रही है। अर्थ—उपसर्गस्थ निमित्त से परे अन् (प्राणने, साँस लेना) के पदान्त 'न्' को ण् हो जाता है। **पदान्तस्य** (८।४।३७) का यह अपवाद है। **हे प्राण्। हे पराण्।** ये क्विबन्त प्रयोग हैं। सूत्र में 'अन्त' शब्द से पद का अन्त लिया जाता है। अन् धातु का 'न्' तो अव्यभिचाररूपेण अन्त्य ही है।

कुछ लोग पूर्वसूत्र के अनितेः को मिलाकर 'अनितेरन्तः' एकयोग पढ़ते हैं। 'अन्त' का अर्थ समीप है और समीप से एकवर्णव्यवहित लिया जायगा, अन्यथा अन् धातु का नकार सर्वत्र उपसर्गस्थ निमित्त के समीप ही है।

प्राणिति । यहाँ **पूर्वस्मादपि विधौ स्थानिवद्भावः**, ऐसा अर्थ स्वीकार करने से (अचः परस्मिन्पूर्वविधौ सूत्र का यह भी अर्थ है) एकादेश के स्थानिवत् होने से वर्णद्वय का व्यवधान हो जायगा तो णत्व नहीं होगा, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये । **पूर्वत्रासिद्धीय कार्य** (जैसे यहाँ णत्व) **की कर्तव्यता में स्थानिवत् नहीं होता** । पर '**तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु**' इस वार्तिक से स्थानिवद्भाव का णत्वविधि में अनिषेध कहा है । तो ऐसा समझना चाहिये कि पूर्वस्मादपि विधौ—यह स्थानिवद्भाव अनित्य है । **पर्यनिति**—वर्णद्वय (य्, अ) का व्यवधान होने से णत्व नहीं होता ।

वे लोग जो अनितेरन्तः इस प्रकार एकयोग पढ़ते हैं उन्हें भी पदान्त 'न्' के णत्व के लिये 'अन्तः'—यह दूसरा योग पढ़ना होगा ।

१६६. **हन्तेरत्पूर्वस्य** (८।४।२२) । उपसर्गस्थ निमित्त से परे अकारपूर्वक हन् धातु के 'न्' को 'ण्' होता है । तपरकरण से ह्रस्व 'अ' ही लिया जायगा । सूत्र में 'हन्तेः' यह अवयव अर्थ में षष्ठी है । **प्रहण्यते । परिहण्यते । असकृत् प्रहण्यतेऽयं पन्था लोकेन । नायमप्रहतः । परिहण्यते दुर्जनो लगुडैः** (ताड्यत इत्यर्थः) । **प्रहणनम् । परिहणनम्** । (=परिघातः) ।

'अत्पूर्व' ऐसा क्यों कहा ? **प्रघ्नन्ति**— यहाँ णत्व नहीं होता ।

'तपर' क्यों किया ? **पूर्वैः प्राघानीति नायमप्रहतपूर्वः पन्थाः** । प्राघानि (=प्र+हन्+चिण्) । यहाँ हन् के 'न्' से पूर्व दीर्घ 'आ' है ।

शङ्का—**प्रहन्ति । परिहन्ति**—यहां णत्व क्यों नहीं होता ? यहाँ भी उपसर्गस्थ निमित्त 'प्र' में र् तथा 'परि' में र् है और नकार से पूर्व अत् (अ) है । उत्तर—अनुस्वार-विधायक **शास्त्र नश्चापदान्तस्य झलि** (८।३।२४) की दृष्टि में प्रकृत सूत्र असिद्ध है । अतः 'न्' को अनुस्वार हो जाता है । अब इस अनुस्वार को **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** (८।४।५८) से परसवर्ण 'न्' हो जाता है । यह परसवर्णलभ्य न् प्रकृत सूत्र (८।४।२२) की दृष्टि में असिद्ध है, अर्थात् उसके लिये यह अनुस्वार ही है, अतः णत्व का प्रसङ्ग ही नहीं ।

१६७. **अन्तरदेशे** (८।४।२४) । अन्तर् शब्द से परे अत्पूर्वक हन् के 'न्' को 'ण्' होता है जब समुदाय देश का नाम न हो—**अन्तर्हण्यते । शुचाऽन्तर्हण्यते मनः** ।

अदेशे ऐसा क्यों कहा—**अन्तर्हननो देशः** । अप् प्रत्ययान्त को देशाभिधान होने पर निपातन से णत्व होता है—**अन्तर्घणो देशः** । अन्तर् शब्द की अङ्, कि प्रत्यय तथा णत्व के लिये औपसंख्यानिक उपसर्ग संज्ञा सिद्ध है—**अन्तः-**

शब्दस्याङ्-किविधि-णत्वेषूपसर्गत्वं वाच्यम्। इस से अन्तर् के उपसर्ग होने से पूर्वसूत्र से ही णत्व सिद्ध था। देशाभिधान में न हो, इस लिये यह सूत्र पढ़ा है।

१६८. **अयनं च।** (८।४।२५)। अन्तर् शब्द से परे 'अयन' के 'न्' को 'ण्' होता है जब देश का अभिधान न हो। **अन्तरयणं वर्तते। अन्तरयणं शोभनमस्य नगरस्य।**

१६९. **उपसर्गाद् बहुलम्** (८।४।२८)। पूर्वसूत्र 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' छन्दोविषयक है। इसमें नस् का सामान्येन ग्रहण है। अस्मद् का आदेश नस् लिया जाता है और नासिका का आदेश 'नस्' भी। तो भी अस्मदादेश 'नस्' ही कार्यी है, धातुस्थादि से परे उसी का संभव होने से। प्रकृत सूत्र में दोनों प्रकार का नस् कार्यी है। बहुल ग्रहण से इस सूत्र की प्रवृत्ति लोक में भी होती है। **उपसर्ग-ग्रहण** प्रादि का उपलक्षक है, नस् आदेश के अक्रियावाची होने से उसके प्रति प्रादि की उपसर्गता नहीं है—**यत्क्रियायुक्ताः प्रादयस्तं प्रति गत्युपसर्गसंज्ञा भवन्ति। प्रणः शूद्रः। प्रणसो राजा। प्रगता नासिकाऽस्य। उपसर्गाच्च** (५।४।११९) से अच् समासान्त। **प्रणसं मुखम्।**

१७०. **कृत्यचः** (८।४।४।२९)। पूर्वसूत्र से 'उपसर्गात्' की अनुवृत्ति आ रही है। कृति=कृति प्रत्यये=कृत्प्रत्ययस्थे (नकारे)। इसका षष्ठी में विपरिणाम होता है। 'अचः' यह पञ्चमी है। कृत्स्थ जो नकार अच् से परे, उसको णत्व होता है उगसर्गस्थ निमित्त के कारण। **अन (ल्युट्), मान (मुक् सहित शानच्), कानच्, चानश्, अनीय (अनीयर्), अनि, इनि (णिनि), निष्ठादेश—ये कृत्प्रत्यय इस विधि के प्रयोजक हैं। अन—प्रयाणम्। परियाणम्। प्रमाणम्।** (प्रमीयतेऽनेनेति)। **धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः। परिमाणम्। किंपरिमाणा इमे वृक्षाः। इमे निघाः** (=समानारोहपरिणाहाः)। **मान—लुण्टाकैः परीयमाणो ग्रामः काले सम्प्राप्तै रक्षिभी रक्षितः। अनीय—प्रयाणीयम्। सम्प्रति प्रयाणीयं त्वया। अतिक्रामति कालः। अनि** (आक्रोश)—**अप्रयाणिस्ते वृषल नाकं प्रति भूयात्। इनि** (णिनि)—**प्रयायिणः। पथाऽनेन समेन प्रयायिणः सुखं गन्तव्यमासादयन्ति। निष्ठादेश—प्रज्ञया हीनः समृद्ध्या प्रहीणो भवति। अस्माभि र्विप्रहीणाया मातुर्नो न भवेत्सुखम्** (रा० २।३१।१७)। वि+प्र+हीन=विप्रहीण। सर्वत्र 'अट्कुप्वाङ्' का ही व्यवधान सह्य है, अतः **प्रस्थानम्, प्रस्थास्यमानः**—यहाँ णत्व नहीं होता।

सूत्र में अचः (अच् से परे) ऐसा क्यों कहा ? **परिभुग्नकन्धरः** । भुजो कौटिल्ये । यहाँ निष्ठा-नकार अच् से परे नहीं, अतः णत्व नहीं हुआ ।

१७१. **निर्विण्णस्योपसंख्यानम्** (वा०) । निर्पूर्वक विद् (होना, प्राप्त करना, विचार करना) से निष्ठाप्रत्यय के न् को णत्व होता ही है, यद्यपि यहाँ 'न' से पूर्व अच नहीं है । निष्ठा-न को ण होने पर पूर्व द् को ष्टुत्व से णत्व । **निर्विण्णोऽहमत्र वासेन । निर्विण्णोऽहमावर्तिन्या कार्यव्यृद्धचा**, बार-बार कार्य की असफलता से मैं निराश हो गया हूँ ।

१७२. **णेर्विभाषा** (८।४।३०) । ण्यन्त धातु से विहित जो कृत्प्रत्यय तत्स्थ जो नकार, उसे विकल्प से णत्व होता है उपसर्गस्थ निमित्त के होने पर— **काले कृत्येषु प्रयापणं** (प्रयापनं) **प्रैष्याणामर्थवद् भवति** (प्रयापणं=प्रस्थापनम्) । **स्वामिना कृत्यसिद्धये प्रयाप्यमाणा** (प्रयाप्यमानाः) **न विलम्बन्ते भृत्याः । सम्प्रति प्रयापणीयाः** (प्रयापनीयाः) **कुमारा गुरुकुलाय** ।

सूत्रवृत्ति में विहित-विशेषण क्यों पढ़ा है ? इस लिये कि प्रयाप्यमाण आदि में यक् प्रत्यय-कृत व्यवधान होने पर भी वैकल्पिक णत्व हो जाय ।

१७३. **हलश्चेजुपधात्** (८।४।३१) । हलः यह पञ्चमी है । इजुपधात्— यह बहुव्रीहि है । इच् उपधा यस्य धातोः, तस्मात् । इजुपध-ग्रहणसामर्थ्य से हल् से 'हलादि' अर्थ लिया जायगा, न कि विशेषण होने से हलन्त, कारण कि इजुपध धातु नियम से हलन्त ही होगा, फिर जो 'हलः' कहा है, उससे हलादि का ग्रहण होगा । **उपसर्गात्, कृत्यचः, विभाषा**—इन पदों की अनुवृत्ति आ रही है । हलादि जो इजुपध धातु उसके कृत्स्थ न् को (जो अच्पूर्वक हो) विकल्प से णत्व होता है उपसर्गस्थ निमित्त से परे होने पर— **प्रकोपणं** (प्रकोपनं) **साधूनाममङ्गलं भवति** (प्रकोपण=कुपित होना) ।

इजुपध क्यों कहा ? **प्रवपणं परिवपणं वा केशानां प्रवृद्धानां मनःस्वास्थ्याय भवति** । यहाँ (१७०) से नित्य णत्व होता है ।

हलादि क्यों कहा ? **प्रेहणयुक्ताः प्रोहणकुशलाः स्युरिति नायं नियमः** (चेष्टायुक्त वितर्क कुशल हों, यह कोई नियम नहीं) । यहाँ (१७०) से नित्य णत्व होता है

१७४. **इजादेः सनुमः** (८।४।३२) । 'हलः' की यहाँ अनुवृत्ति है । इजादि कहने से हलन्त लिया जायगा । इजादि (इच् आदि) जो हलन्त धातु जिसे नुम् आगम हो चुका है, से विहित जो कृत्प्रत्यय तत्स्थ अच्परक नकार को णत्व होता है—**प्रेङ्खणम्** (=प्रेङ्खा, झूला) । **प्रोम्भणम्** (भरना) । कृत्यचः (१७०)

से णत्व सिद्ध ही था, तो पुनः विधान क्यों किया है। सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः, नियम के लिए ऐसा किया है। सनुम् को यदि ण् हो तो इजादि धातु के विषय में ही हो, अन्य किसी धातु के विषय में नहीं। **प्रमङ्गनम्। परिमङ्गनम्।** गत्यर्थक धातुओं में 'मगि' पढ़ी है।

शङ्का—यह विधि ण्यन्त धातुओं से नित्य विधि के लिये हो सकती है (जिससे नियमार्थता का भङ्ग हो जायगा)। नहीं। यहाँ 'हलः' ऐसा अधिकार है। ण्यन्त धातु अजन्त होती है, हलन्त नहीं, अतः वहाँ नित्य विधि के लिये यह सूत्र नहीं हो सकता।

१७५. **वा निंस-निक्ष-निन्दाम्** (८।४।२३)। उपसर्गस्थ निमित्त से उत्तर इन धातुओं के 'न्' को विकल्प से णत्व होता है। णिसि चुम्बने, णिक्ष रोपे, णिदि कुत्सायाम्—ये णोपदेश धातुएँ हैं। इन्हें **उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य** (८।४।१४) से नित्य णत्व प्राप्त होने पर विकल्प विधान किया है—**अम्बाभिः प्रणिंसिताः (प्रनिंसिताः) शिशवो वर्धन्ते। प्रणिक्षिता (प्रनिक्षिताः) गुरवः शपेयुः** (क्रुद्ध हुए गुरुजन शाप देंगे)। **निन्दनं साधूनां गर्ह्यं भवति, किमुत प्रणिन्दनम् (प्रनिन्दनम्)।**

१७६. **न भा-भू-पू-कमि-गमि-प्यायी-वेपाम्** (८।४।३४)। इन धातुओं से परे कृत्स्थ नकार को णत्व नहीं होता उपसर्गस्थ निमित्त होने पर। **कृत्यचः** से जो प्राप्ति थी उसका निषेध है। ओप्यायी वृद्धौ भ्वादि आत्मनेपदी पढ़ी है। डुवेपृ कम्पने भ्वा० आ०। शेष स्पष्टार्थ हैं। भा—**विमला द्यौरिति प्रभानं ताराणां हरतितरां चेतः। प्रभानं रजन्याः प्रभातमिति वा विभातमिति वोच्यते। तदेव व्युष्टम् इति व्यपदिश्यते।** भू—**स्वजनकृतेन परिभवनेन किमपि दुःखायते स्वान्तम्। पू—तितउः परिपवनं भवति।** सूत्र में पूञ् पवने का ग्रहण है। पूङ् पवने को णत्व होता ही है—**प्रपवणं सोमस्य।** कमु कान्तौ—**प्रकमनं वेदाधिगमस्य वैदिकस्य कर्मयोगस्य च श्रेयसे पुंसाम्। सम्बाध इति प्रगमनं निरुध्यते सार्थस्य** (रास्ता तंग है इसलिये काफिले की गति रुक रही है)। प्यायी—**प्रप्यानश्चन्द्रः** (कलाभिर् वर्धितुमुपक्रान्तः) वेप्—**प्रवेपमानानि गात्राणि भयेन।**

१७७. **ण्यन्तानां भादीनामुपसंख्यानं कर्तव्यम्** (वा०)। ण्यन्त भा-भू आदि धातुओं के विषय में भी उक्त निषेध होता है—**प्रभापनमग्नेः समिद्भिः क्रियते।**

१७८. **षात्पदान्तात्** (८।४।३५)। पदान्त षकार से परे 'न्' को णत्व नही होता—**निष्पानं मधुरस्यास्य युज्यते न सावशेषं पानम्। कटुरिति**

दुष्पानोऽयमगदः (यह औषध कड़वी है, अतः इसे पीना कठिन है)। **सर्पिष्पान-मायुष्यं भवति** । सूत्र में 'पदान्त'—यह सप्तमी समास है—पदेऽन्तः पदान्तः। **गोमानयम् इत्यनेन सुसर्पिष्केण भवितव्यम्** । **शोभनं सर्पिरस्येति सुसर्पिष्कः** । शेषाद् विभाषा से कप् समासान्त हुआ है। यहाँ पद में अन्त ष् नहीं, किन्तु क है, अतः णत्व-निषेध नहीं हुआ ।

१७९. **नशेः षान्तस्य** (८।४।३६)। षान्त नश् के 'न्' को उपसर्गस्थ निमित्त से णत्व नहीं होता। णश अदर्शने णोपदेश है। इसे नित्य णत्व प्राप्त था। **दुराचारस्य प्रनष्टा कीर्तिः प्रनष्टं च धनम्** । षान्त न होने पर णत्व निर्बाध होगा—**प्रणश्यन्ति निराकृतीनि** (=निःस्वाध्यायानि) **प्रतिग्रह-रुचीनि विप्रकुलानि** । 'षान्त' से षान्त भूतपूर्व भी लिया जाता है—**व्यसनेषु प्रसङ्क्ष्यसि चेद् ध्रुवं प्रनङ्क्ष्यसि** (यदि तू व्यसनों में प्रसक्त होगा, निश्चित ही नष्ट ही जायगा)।

१८०. **पदान्तस्य** (८।४।३७)। पदान्त नकार को णत्व नहीं होता—**सुकर्माण्येव नृनुन्नर्ति नयन्ति । दुष्कर्माण्येव मनुष्यानवनर्ति गमयन्ति । अरीन् पराणुदति** (शत्रुओं को परे धकेलता है)। **रिपून् गां गमयति** (शत्रुओं को भूमि पर गिराता है)। **पुरुषेण कृतः पौरुषेयो वेद इति केचित्** । यहाँ पुरुषेण में 'अ' पदान्त है, 'न्' नहीं। अतः णत्व हो गया। **आकरे पद्मरागाणां जन्म काचमणेः कुतः** । यहां 'पद्मरागाणाम्' में पदान्त 'म्' है, 'न्' नहीं। अतः णत्व हो गया। **सर्वत्र णत्व विधि में 'अट्कुप्वाङ् नुम्' का व्यवाय सह्य है।**

१८१. **पदव्यवायेऽपि** (८।४।३८) निमित्त निमित्ती का पदद्वारा व्यवधान होने पर भी णत्व नहीं होता—**अत्र क्षेत्रे माषकुम्भवापेन पर्याप्तेन भवितव्यम्** । यहाँ प्रातिपदिकान्त—से वैकल्पिक णत्व प्राप्त था। पूर्वपद 'माषकुम्भ' में णत्व का निमित्त 'ष्' विद्यमान है। 'वापेन' का 'न्' विभक्तिस्थ है। पर 'कुम्भ' पद का व्यवाय है, अतः णत्व रुक गया। 'कुम्भ' 'माषकुम्भ' समास में उत्तरपद है। पद न होता तो कु, पु का व्यवाय होने पर भी विकल्प से णत्व हो जाता। चतुरङ्गयोगेन रावणस्य नियन्त्रयति युद्धतर्षं मन्दोदरी। चतुरङ्ग=शतरंज। योग=उपाय। यहाँ 'अङ्ग' पद का व्यवाय होने पर 'कुमति च' से जो नित्य णत्व (विभक्तिस्थ न् को) वह रुक जाता है। **प्रावन-द्धाक्षोऽप्ययं सर्वं पश्यत्यान्तरेण ज्योतिषा** । प्रावनद्ध में णह बन्धने से क्त प्रत्यय हुआ। णोपदेश होने से उपसर्ग निमित्त से णत्व प्राप्त था। 'अव'-पद-कृत व्यवाय से नहीं हुआ।

१८२. पदव्यवायेऽतद्धित इति वक्तव्यम् (वा०)। तद्धित प्रत्यय परे रहते पद का व्यवधान होने पर णत्व-निषेध नहीं होता। **इन्धनमिच्छाम इति शुष्कगोमयेणार्थिनो वयं नार्द्रगोमयेण** (हमें ईंधन चाहिये, अतः हमें सूखे गोवर की अपेक्षा है, गीले गोवर की नहीं। **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१।४।१७) से मयट् से पूर्व की पदसंज्ञा है। अतः 'गो' पद है। मयट् कप्-प्रत्ययावधिक स्वादि हलादि प्रत्ययों में से एक है।

१८३. **क्षुभ्नादिषु च** (८।४।३९)। (८।४।३४) से 'न' की अनुवृत्ति है। क्षुभ्ना इत्यादि शब्दों के नकार को णत्व नहीं होता। 'क्षुभ्ना' यह स्वरूपग्रहण है, धातुग्रहण नहीं—**क्षुभ्नाति**। **क्षुभ्नीतः**। **क्षुभ्नन्ति**—यहाँ अजादेश (आ को ई, आ-लोप) के स्थानिवद् भाव से निषेध सिद्ध होता है। पर **क्षोभणः**—यहां णत्व होता है 'क्षुभ्ना' रूप न होने से। **नृनमनः** (नॄन् नमयतीति तत्संज्ञः)। पूर्वपदात्—से णत्व की प्राप्ति थी। **हरिनन्दी**। **हरिनन्दनः**। **गिरिनगरम्**। ये भी संज्ञाशब्द हैं। यहाँ भी (८।४।३) से णत्व की प्राप्ति थी। **नरीनृत्यते**। अट्कुप्वाङ्—से णत्व की प्राप्ति थी। **तृप्नोति**। तृप प्रीणने। व्यत्ययेन श्नु। **शरवनम्** (संज्ञा)। **कुबेरवनम्**। **क्षुभ्नादि आकृतिगण है**। **अविहितलक्षणः णत्वप्रतिषेधः क्षुभ्नादिषु द्रष्टव्यः**, जहां भी शिष्ट प्रयोगों में निमित्त होने पर णत्व हुआ नहीं, पर शास्त्र से निषेध विहित नहीं, वहाँ क्षुभ्नादि होने से ऐसा हुआ है—यह जानना चाहिये। **त्रिभुवनम्**। **त्रिनयनः**। **त्रिनेत्रः**। (८।४।३) से संज्ञा में णत्व प्राप्त था। **तमस्तु राहुः स्वर्भानुः** (अमर)। आचार्य का अपना प्रयोग है—प्रष्ठोऽग्रगामिनि (८।३।९२)। **रघुनाथः** में णत्वाभाव का भी यही समाधान है। **करेणुमिव दिग्धेन विद्धां मृगयुना वने** (रा० २। १०।२६)। दिग्ध=दिग्धक=विषलिप्त बाण। मृगयु=व्याध। 'मृगयुना' में 'कुमति च' से विभक्तिस्थ 'न्' को नित्य णत्व प्राप्त था।

१८४. स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।४०)। स् च तुश्च स्तुः तयोः समाहारः (सौत्रं पुंस्त्वम्)। तस्य स्तोः। श् च चुश्च तयोः समाहारः, तेन श्चुना। 'तु' तथा 'चु' तवर्ग तथा चवर्ग के ग्राहक हैं। 'श्चुना' में सहार्थ में तृतीया है। **सूत्र में स्थानी और आदेश की यथासङ्ख्यता है, निमित्त और कार्यी की नहीं।** श्चुना इस तृतीयान्त से निमित्त का निर्देश किया है। सकार को शकार तथा चवर्ग—दोनों के साथ योग होने पर शकार होता है। योग=संयोग, संनिपात। **हरिश्शेते महार्णवे**। **रामश्चिनोति कुसुमानि**। यहाँ 'हरिस्, रामस् के स् को रुत्व विसर्ग हो जाने पर विसर्ग को 'स्' आदेश होता है। हरिस्+

शेते—यहाँ 'श्' के योग में 'स्' को श् हुआ है। रामस्+चिनोति—यहाँ चवर्ग के योग में 'स्' को 'श्' हुआ है।

ताच्छब्द्यम्[1], उसके लिये होने से उसके व्यपदेश से व्यपदिष्ट करना। यहां 'तद्' के द् का 'श्' के साथ योग है। 'श्' को जो 'छ्' हुआ है, उसे आगे कहेंगे। **तच्चैतन्यं**[2] **पुरुषस्य स्वरूपम्**। तद्=तस्मात्। यहाँ चवर्ग के योग से तवर्ग को चवर्ग हुआ है। **उच्छिनत्ति**[3] **शत्रुम्**। **इन्द्रजिज्जयति**[4]। **क्षिप्रकारिञ्झटिति**[5] **दूरमपसर**। यज्+नः=**यज्ञः** (यज्+ञः)। मस्ज्—**मज्जति**[6]। भ्रस्ज्—**भृज्जति**[6]। यहाँ सकार का चवर्ग के साथ योग होने पर चवर्गादेश हुआ है।

१८५. **शात्** (८।४।४४)। श् से **परे** तवर्ग को श्चुत्व (चवर्ग) नहीं होता। पूर्वशास्त्र से अतिप्रसक्त का वारण किया है—**प्रश्नः**। प्रच्छ्+नः=प्रश्+नः)। **विश्नः** (विच्छ्+नः)=गति। यहां 'छ्' को **च्छ्वोः शूडनुनासिके च** (६।४।१९) से 'श्' आदेश होता है।

१८६. **ष्टुना ष्टुः** (८।४।४१)। पूर्व सूत्र से 'स्तोः' की अनुवृत्ति आ रही है। सकार और तवर्ग को षकार और टवर्ग के योग में यथासंख्य षकार और

---

१. तच्छब्दस्य भावः=ताच्छब्द्यम्—यहाँ 'तच्छब्द' में प्रयत्न-आन्तरतम्य से दकार के स्थान में जकार होता है। द्, ज्—दोनों संवार, नाद, घोष तथा अल्पप्राण है। तब 'ज्' को वक्ष्यमाण खरि च ८।४।५५ से चर्त्व होकर 'च्' हो जाता है।

२. यहाँ भी तद्+चैतन्यम्, इस अवस्था में द् को 'ज्' होकर 'खरि च' से चर्त्व होता है।

३. उद् छिनत्ति—यहाँ भी द् को ज्' होकर चर्त्व विधि से च् होता है।

४. इन्द्रजित् जयति—यहाँ झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से जश्त्व विधि से 'त्' को 'द्' हो जाता है। तब श्चुत्व विधि से 'द्' को 'ज्' होता है। **झलां जशोऽन्ते** की दृष्टि में स्तोः श्चुना श्चुः असिद्ध है, अतः पहले **झलां जशोऽन्ते** की प्रवृत्ति होती है।

५. यहाँ तवर्ग अनुनासिक 'न्' को चवर्ग 'झ्' के साथ योग होने पर अनुनासिक चवर्ग 'ञ्' होता है।

६. यहाँ श्चुत्व विधि से पहले सकार को शकार हो जाता है, तब झलां जश् झशि (८।४।५३) से जश्त्व होकर श् को 'ज्' हो जाता है।

टवर्ग होते हैं—**रामष्षष्ठः** (रामस् षष्ठः) **क्रमेणैषाम्** । **हरिष्टीकते** (हरिस्+टीकते), हरि जाता है । **न हि पिष्टं** (पिष्+तम्) **पिष्यते,** पीसे हुए को दुबारा नहीं पीसा जाता । **पितृशुश्रूषां कृषीष्ट देवदत्तः** (कृषीष्+त) । **कृषीष्ठा** (कृषीष्+थाः) **नैःश्रेयसिकं कर्म नित्यम्** । **तट्टीका** (तद्+टीका) **नोपलभ्यते** । **अग्निचिड् ढौकते गृहं कृतकृत्यः** (अग्निचित्+ढौकते), अग्निचयन करने वाला कार्य समाप्त करके घर जा रहा है । यहाँ पहले जश्त्व विधि से अग्निचित् के 'त्' को 'द्' होता है, पश्चात् ष्टुत्व विधि से द्' को 'ड्' होता है । **चक्रिण्ढौकसे, कदा पुनरुपढौकिष्यसे,** हे विष्णो जा रहे हो, फिर कब आओगे ? यहाँ 'न्' को टवर्ग का योग होने पर ष्टुत्व विधि से अनुनासिक टवर्ग 'ण्' होता है ।

१८७. **न पदान्ताट्टोरनाम्** (८।४।४२) । इस सूत्र में 'अनाम्'—यह लुप्तषष्ठीक पद है । अनाम्=अनामः । पदान्त टवर्ग से परे नाम् को छोड़कर सकार, तवर्ग को ष्टुत्व न हो । पूर्व शास्त्र से अतिप्रसक्त का इससे वारण किया है—**षट् सन्तस्ते सन्ति,** वे छः सज्जन हैं । **मधुलिट् सायं निलीयते** पद्मे, भौंरा सायं कमल के भीतर निलीन हो जाता है । **मधुलिट् तरति** ।

'पदान्तात्' ऐसा क्यों कहा ? ईट्टे । यहाँ ईड स्तुतौ धातु से लडादेश 'ते' प्रत्यय है । यहाँ टवर्ग 'ड्' अपदान्त है, अतः ष्टुत्व हो गया । 'त्' को 'ट्' हुआ । धातु के 'ड्' को '**खरि च**' से चर्त्व (ट्) ।

'टोः' ऐसा क्यों कहा ? **इदं सर्पिः, इदं सर्पिष्टमम्** । सर्पिस्—यहां इण् से परे प्रत्यय इस् के 'स्' को 'ष्' होता है । अथवा **उणादयो ऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि** इस वचन के अनुसार सर्पिस् में इस् प्रत्यय न होने से **ह्रस्वात्तादौ तद्धिते** (८।३।१०१) से 'स्' को ष् हुआ है, ऐसा जानना चाहिये । यह 'ष्' ष्टुत्व विधि के लिए सिद्ध है । तमप् प्रत्यय परे रहते पूर्व की **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१।४।१७) से पद-संज्ञा है । अतः षकार पदान्त है । इस के योग में तमप् के 'त्' को ष्टुत्व (ट्) होता है । सूत्र में केवल 'नाम्' को ष्टुत्व का निषेधाभाव कहा है । तिस पर वार्तिककार वार्तिक पढ़ते हैं—

१८८. **अनाम्नवतिनगरीणामिति वक्तव्यम्** (वा०) । षण्णाम्[1] (छः का) ।

---

१. षष्—आम् । षष् नुट् आम् । षष् नाम् । नाम् परे रहते पूर्व की पदसंज्ञा होने से (स्वादिष्व०) से जश्त्व से ष् को ड् । षड् नाम् । षड् णाम् (१८७) । अब प्रत्यय परे होने से (१९२) से ड् को नित्य अनुनासिक ण् ।

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥

षण्णवतिः पुरुषाः। षण्णवतिः स्त्रियः। षण्णवतिः पुस्तकानि। षडधिका नवतिः=षण्णवतिः । षण्णगर्यः (=षट्संख्याका नगर्यः) । छः नगरियाँ । षण्णगर्यः (षट् नगर्यः) ये दो पृथक् पद हैं । समास नहीं है। संख्यावाची पूर्व-पद का समानाधिकरण उत्तरपद के साथ संज्ञा में ही समास होता है ऐसा नियम है—दिक्सङ्ख्ये संज्ञायाम् (२।१।५०) ।

१८९. तोः षि (८।४।४३) । पूर्व सूत्र से 'न' की अनुवृत्ति है । तवर्ग को षकार परे ष्टुत्व नहीं होता है—सन् षष्ठः **अस्मिन्षण्डे पादपानां विरला एव फलिनाः** । षकार के पूर्ववर्ती होने पर तो यथा प्राप्त ष्टुत्व होगा—**पेष्टा** (पेष्+ता), पीसने वाला । **पेष्टुम्,** पीसने को ।

१९०. शात् (८।४।४४) । शकार से उत्तर तवर्ग को श्चुत्व नहीं होता —**प्रश्नः** (प्रच्छ्+नः=प्रश्+नः)। **विश्नः** (विच्छ्+नः=विश्+नः)= गति । सूत्र में 'न' की अनुवृत्ति है । 'न' से ही निषेध्य का संकेत मिलता है। 'श्चुत्व' की अनुवृत्ति नहीं । इसी लिये वृत्ति में '**यदुक्तं तन्न**' ऐसा कहा है ।

१९१. यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा (८।४।४५) । पदान्त ग्रहण की अनुवृत्ति है । न पदान्तात्—सूत्र के 'पदान्तात्' को षष्ठी में विपरिणत किया जाता है । 'पदान्त' यर् का विशेषण है । पदान्त यर् (प्रत्याहार) से अनुना-सिक परे होने पर यर् को विकल्प से अनुनासिक होता है। यहाँ यर् से स्पर्शरूप यर् लिया जाता है। **एतन्मुरारेर्मतम्** । (एतद् मुरारेर्मतम्) । **दिक्स्थो नागः=दिङ् नागः,** दिग्नाग इति वा । पक्ष में (८।२।३९) से जश्त्व (ग्) । **यद् उत्पद्यते तन्नश्यतीति निसर्गः** (पक्ष में तद् नश्यति) । **षण्मासा दक्षिणायनम्** । (पक्ष में षड्मासाः) । षण्मासा उत्तरायणम् । **अहो अस्य वाङ्-माधुरी।** (पक्ष में वाग्माधुरी) । **व्याकरणं हि वाङ्मलानां** (पक्ष में वाग्मलानां) **चिकित्सितम्** । **क्षुन्मे** (क्षुद् मे) **बलवती जाता** (मार्कं० पु० ८।३५), मुझे बहुत भूख लगी है । **आपश्च मूलानि च =अम्मूलम्** (पक्ष में जश्त्व से अब्मूलम्) । **वाङ् नेतृतमा प्रजानाम्** (वाणी जनता की सबसे बढ़िया नेत्री है) । **तत्र ब्रह्मे-तिहासमिश्रम् ऋङ्मिश्रं गाथामिश्रं**[1] **भवति** (निरुक्त) । यर् पदान्त न होगा तो अनुनासिक नहीं होगा—

---

१. गाथाशब्देन ब्राह्मणगता ऋच उच्यन्ते (आश्व० श्रौ० ५।७ पर नारायण

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च ।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा ॥ (भा० आदि०)

मृद्नाभि कण्टकान् । मथ्नामि शत्रून् । परुषाक्षरैः क्षुम्नाति गुरून् ।

शङ्का—**चतुर्मुखः**—यहाँ रेफ के यर् अन्तर्गत होने से णत्व प्राप्त होता है, वह क्यों नहीं होता ? स्पर्शों में स्थानप्रयत्न-साम्य से सुलभ (चरितार्थ) हुआ अनुनासिक केवल स्थान-साम्य से रेफ को नहीं होता । **स्थानेऽन्तरतमे**—ऐसा सप्तम्यन्तपाठ स्वीकार करके अर्थ होगा—णकार आदेश अन्तरतम पदान्त यर् के स्थान में होता है, अतः स्थान और प्रयत्न दोनों से सदृशतम स्पर्श में चरितार्थ हो जाता है, रेफ केवल स्थान साम्य होने से आदेश ण् का सदृशतम स्थानी नहीं ।

१९२. **प्रत्यये भाषायां नित्यम्** (वा०) । **लौकिके वैदिके च वाङ्मये समं विशारदः ।** वाच् से विकारार्थक मयट् प्रत्यय । **'वाग्मय'** नहीं कह सकते । **यन्मदीयं तन्मात्रं मार्गामि, नातोऽधिकम् ।** 'तन्मात्र' में प्रमाण अर्थ में मात्रच् प्रत्यय है । **कियन्मात्रं जलम्,** जल कितना गहरा है ? **गोधुङ्मानयं ग्रामः,** इस ग्राम में बहुत से गोप हैं । यहाँ भूम्नि (बहुत्व में) मतुप् प्रत्यय है ।

मदोदग्राः ककुद्मन्तः (रघुवंश) इस प्रयोग में द् को अनुनासिकादि मतुप् प्रत्यय परे होने पर नित्य अनुनासिक क्यों नहीं हुआ । **मादुपधायाश्च मतोर्वो ऽ यवादिभ्यः** (८।२।९)—यहाँ यवादियों में 'ककुद्' ऐसा दकारान्त पाठ निपातित किया है । तत्सामर्थ्य से 'द्' अवस्थित रहेगा ।

चिदेव चिन्मात्रम्—यहाँ मात्र प्रत्यय नहीं तो भी निपातन से नित्य अनुनासिक होता है । यहाँ 'मात्र' अवधारण अर्थ में स्वतन्त्र प्रकृति है । मयूरव्यंसकादि तत्पुरुष समास है ।

१९३. **अचो रहाभ्यां द्वे** (८।४।४६) । 'यरः'—यह पूर्वसूत्र से अनुवृत्त है । सूत्र में 'अचः' यह पञ्चमी है । रहाभ्याम् । रश्च हश्च रहौ, ताभ्याम् । यह भी पञ्चमी है । अच् से परे जो रेफ और हकार, उनसे परे यर् को विकल्प से द्वित्व होता है,—**आर्य्याः (आर्याः) सावधानमिदं श्रूयताम् । अर्क्कम् (अर्कम्) अर्च्चन्त्यार्याः ।** अर्चन्ति में भी द्वित्व का विकल्प होकर अर्च्चन्ति रूप होगा । **ब्रह्म्मा (ब्रह्मा) देवानां प्रथमः सम्बभूव । अपह्नुते (अपह्नुते) ऋणम् ऋणिकः,** ऋणी ऋण से इन्कार करता है । **न ह्य्यस्ति कर्म न फलतीति** (पक्ष में न ह्यस्ति), ऐसा नहीं होता कि कर्म फल न दे । **आर्त्तपरित्रा-**

टीकाकार का वचन) । द्व्यन्तरस्वरयुक्तासु कासु चिद् ऋक्षु गाथाशब्दो रूढः (लौ० गृ० २५।१९ पर देवपाल का वचन) ।

णाय वः शस्त्रं न प्रहर्त्तुमनागसि (पक्ष में आर्त०, प्रहर्तुम्) आपका शस्त्र पीड़ितों की रक्षा के लिये है, निरपराध पर प्रहार करने के लिये नहीं।

१६४. **अनचि च** (८।४।४७) अचः, यरः—दोनों पद अनुवृत्त हैं। अच् से परे यर् को विकल्प से द्वित्व होता है, जब यर् से परे अच् न हो—**दद्ध्यत्र। मध्द्ध्वत्र। सुद्ध्युपास्यः।** यण् सन्धि होकर अच् से परे यर् (द ध् य् अत्र, मधु व् अत्र, सुध् य् उपास्यः) ध् मिल जाता है, जिससे परे अच् नहीं (हल् य् अथवा व् है)। इस ध् को प्रकृत सूत्र से द्वित्व होता है—द ध् ध् य् अत्र, म ध् ध् व् अत्र, सु ध् ध् य् अत्र। पूर्व 'ध्' को (८।४।५३) से जश् 'द्' होता है। यण् होने पर और स्थानिवद्भाव से उसके पदान्त होने पर संयोगान्तस्य लोपः (८।२।२३) से संयोगान्त य्, व् का लोप प्राप्त होता है। उसके वारण के लिये वार्तिक पढ़ते हैं—

१६५. **यणः प्रतिषेधो वाच्यः**(वा०)। संयोगान्त यण् का लोप नहीं होता। शङ्का—ननु स्थानिवद्भाव से अच् परे रहते द्विर्वचन न हो सकेगा। नहीं।

१६६. **स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ** (१।१।५६), अर्थात् आदेश स्थानी के तुल्य (तुल्यधर्मा) होता है कार्य के प्रति, पर स्थानी अल् को आश्रित करके जो कार्य प्राप्त होता हो उसकी कर्तव्यता में आदेश स्थानिवत् नहीं होता। प्रकृत में ई (पदान्त अथवा 'उ' पदान्त को जो यण् वह अल्स्थानिक है, स्थानी अल् के आश्रित है। **अनचि च**—यह द्वित्व विधि है। अतः इस विधि के लिये स्थानिवद्भाव नहीं होगा, तो परे अच् न होने से द्वित्व निर्बाध होगा। नहीं, ऐसा नहीं। परिस्थिति—विशेष में अल्विधि में भी स्थानिवद् भाव होता है। उस परिस्थिति विशेष को कहते हैं—

१६७. **अचः परस्मिन्पूर्वविधौ** (१।१।५७)—यह अल्विधि में स्थानिवद्भाव का विधायक है। अचः—यह स्थाने षष्ठी है। परस्मिन्—यह निमित्त में सप्तमी है। पूर्वविधौ—यह षष्ठीसमास है और विषय में सप्तमी है। अर्थ है—परनिमित्तक अजादेश (अच् के स्थान में आदेश) स्थानिवत् होता है, जब अनादिष्ट अच् से पूर्व को विधि (कार्य) कर्तव्य हो। प्रकृत सुध्य् उपास्यः (द ध् य् अत्र, म ध् व् अत्र में भी) में यण् परनिमित्तक कार्य है। यह यण् इक् के स्थान में हुआ है, अतः यह अजादेश (अच् के स्थान में आदेश) है। अनादिष्ट अच्=सुधी का 'ई' दधि, मधु का इ, उ) से पूर्व विद्यमान 'ध्' को द्वित्व निषेध-रूप कार्य की कर्तव्यता में यह अजादेश स्थानिवत् होगा, तो द्वित्व नहीं हो सकेगा। इस प्रकार स्थानिवद्भाव प्राप्त होने पर उसका निषेध कहते हैं—

१९८. न पदान्त-द्विर्वचन-वरे-यलोप-स्वर-सवर्णानुस्वार-दीर्घ-जश्-चर्-विधिषु (१।२।५८)—यह पूर्व सूत्र का अपवाद है। पूर्वसूत्र से अतिप्रसक्त स्थानिवद्भाव का प्रतिषेध करता है। पदान्त विधि में तथा द्विर्वचन आदि विधियों की कर्तव्यता में परनिमित्तक अजादेश स्थानिवत् नहीं होता। अतः स्थानिवद्भाव न होने से परे अच् न होने से 'ध्' को द्वित्व सिद्ध होता है।

सूत्रार्थबोध की परिपूर्णता के लिये इस त्रिसूत्री का विशद सविस्तार सोदाहरण-प्रत्युदाहरण व्याख्यान करते हैं—

(१) स्थानी और आदेश के एक दूसरे से पृथक् (भिन्न) होने से स्थान्याश्रय कार्य आदेश को नहीं प्राप्त होता, अतः यह अतिदेश प्रारम्भ किया जाता है। स्थानिना तुल्यं वर्तत इति स्थानिवत्, स्थानी के समान कार्य को प्राप्त होता है। स्थान्याश्रय कार्यों की कर्तव्यता में आदेश स्थानिवत् होता है अर्थात् स्थान्याश्रय कार्यों को प्राप्त होता है, पर स्थान्यल् (अल्-रूप स्थानी) के आश्रित कार्यों की कर्तव्यता में स्थानिवद्भाव नहीं होता। इस परिभाषा का 'स्थानिवदादेशः'—यह अंश लोकन्याय सिद्ध है। **यो यत्स्थानापन्नः स तद्धर्मं लभते,** जो जिस के स्थान में होता है वह उसके धर्म (भाव, कर्म आदि) को प्राप्त कर लेता है, यथा **गुरुवद् गुरुपुत्रे वर्तितव्यम्।** अलाश्रयविधि में निषेध के लिये इस सूत्र की रचना हुई है। धातु, अङ्ग, तद्धित, अव्यय, सुप्, तिङ्, पद—इनके आदेश स्थानिवद्भाव के उदाहरण हैं। धात्वादेश धातुवत् होता है। **अस्ते र्भूः** (२।४।५२)। आर्धधातुक-विवक्षा में अस् को 'भू' आदेश विधान किया है। आदेश हो जाने के पीछे धातोः (३।१।९१) इस अधिकार सूत्र से तव्यत् आदि प्रत्यय होते हैं—**भविता। भवितुम्। भवितव्यम्।** यह तभी संभव है जब 'भू' आदेश स्थानिवत् हो, अर्थात् जब इसमें स्थानी 'अस्' का धर्म धातुत्व आजाय। इसी प्रकार ब्रू के स्थान में हुए वच् आदेश (**ब्रुवो वचिः**) की स्थानिवद्भाव से धातु संज्ञा है, तभी इस से धात्वधिकारोक्त तव्यादि प्रत्यय होते हैं—**वक्ता। वक्तुम्। वक्तव्यम्।** अङ्ग का आदेश अङ्गवत् होता है। किम् को विभक्ति परे रहते 'क' आदेश होता है, **किमः कः** (७।२।१०३)। किम् अङ्ग है। इसका आदेश 'क' भी अङ्गवत् होता है, जिससे अदन्त अङ्ग से विहित टा को इन (आदेश), भिस् को ऐस् (आदेश) तथा अङ्ग को दीर्घ हो जाते हैं। **केन। काभ्याम्। कैः।** कृत् का आदेश कृत्वत् होता है। 'क्त्वा' कृत् है। इसका आदेश ल्यप् भी कृत्वत् होता है, जिससे **प्रकृत्य, प्रहृत्य** में **ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्** (६।१।७१) से तुक् हो जाता है। तद्धित का आदेश तद्धितवत् होता है।

दाधिकम् (दध्ना संस्कृतम्)। तद्धित ठक् को 'इक' आदेश (**ठस्येकः**) होता है, यह आदेश भी तद्धित ही है, जिससे 'दाधिक' की **कृत्तद्धितसमासाश्च** (१।२।४६) से प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा विभक्ति आती है—**दाधिकम्**। ट्यु, ट्युल् तद्धित प्रत्यय हैं। इनके आदेश अन (तुट्-सहित तन) की भी तद्धित संज्ञा होने से प्रातिपदिकसंज्ञा होकर प्रथमा विभक्ति आती है—**अद्यतनम्**। अव्यय का आदेश अव्ययवत् होता है। 'क्त्वा' की अव्यय संज्ञा है—**क्त्वातोसुन्कसुनः** (१।१।४०)। क्त्वा के आदेश ल्यप् की भी। **प्रकृत्य**। **प्रहृत्य**। **उपस्तुत्य**। अव्यय होने से सुप् का लुक् होता है। सुप् का आदेश सुप्वत् होता है। **ङेर्यः**। ङे सुप् है, इसका आदेश 'य' भी, अतः 'रामाय'—यहाँ सुपि च (७।३।१०२) से अङ्ग को दीर्घ हुआ है। तिङ् का आदेश तिङ्वत् होता है। **अकुरुताम्**। **अकुरुतम्**। ताम्, तम्—ये तस्, थस् (जो तिङ् हैं) के आदेश हैं। ये भी स्थानिवद्भाव से तिङ् हैं, अतः अकुरुताम्, अकुरुतम् की पदसंज्ञा होती है। सुप्तिङन्तं पदम्। पद का आदेश पदवत् होता है—**ग्रामो वः स्वम्**। **जनपदो नः स्वम्**। युष्माकम्, अस्माकम् के स्थान में वस्, नस् आदेश भी पद हैं, जिससे स् को रुत्व हो जाता है (और 'रु' को खर् परे रहते विसर्ग)।

सूत्र में स्थानिवत् में 'वत्' क्यों पढ़ा है? वत् न होने पर स्थानी आदेशः—इस प्रकार सामानाधिकरण्य होने पर **वृद्धिरादैच्** की तरह स्थानी आदेश की संज्ञा हो जायगा। **संज्ञा संज्ञी का बोध करा कर निवृत्त हो जाती है।** इस कारण **आङो यमहनः** (१।३।२८) से विहित आत्मनेपद आवधिष्ट—यहीं होगा। स्थानी आङ् हन् से नहीं हो सकेगा। इष्ट यह है कि स्थानी से भी हो—**आहत शिरः स्वं भित्तौ देवदत्तः** (देवदत्त ने दीवार के साथ अपने सिर को टकराया)। वत्-करण से स्थान्याश्रय कार्य भी होता है।

'आदेश'-ग्रहण क्यों किया? स्थानी सम्बन्धि-शब्द है। आदेश शब्द का उच्चारण न करने पर स्थानिवत् कहने से आदेश की प्रतीति हो जायगी। उत्तर—आनुमानिक आदेश को भी स्थानिवद्भाव हो सके इसलिये आदेश ग्रहण किया है। एरुः (३।४।८६), यहाँ लोट्-सम्बन्धी 'इ' को 'उ' आदेश विधान किया है। इकार से इकारान्त स्थानी अनुमित होता है, उकार से उकारान्त आदेश। 'ति' के स्थान में 'तु'—यह आनुमानिक स्थान्यादेश भाव है। यहाँ स्थानिवत् हो जाय, इस कारण सूत्र में आदेश-ग्रहण किया है। स्थानिवत् होने से पचतु, पचन्तु—यह तिङन्त होने से 'पद' हैं।

अनल्विधौ=अल्विधौ न, ऐसा क्यों कहा? **दिव औत्** (७।१।८४) से व्

(अल्, एकवर्णमात्र) को जो 'औ' आदेश होता है, वह स्थानी अल् व् को मान कर (आश्रयण करके) हल्ङ्याब्भ्यः—(६।१।६८) से जो सुलोप प्राप्त होता है, वह नहीं होता स्थानिवत् न होने से—**द्यौः** । न् के स्थान में आदेश 'आ' स्थानिवत् नहीं होता स्थान्यल् 'न्' के आश्रित विधि हल्ङ्यादि-सुलोप की कर्तव्यता में । स्थानिवत् न होने से सुलोप की प्राप्ति ही नहीं—**पन्थाः** । तद् के 'द्' (अल्) को विभक्ति परे रहते **त्यदादीनामः** (७।२।१०२) से 'अ' आदेश होता है । यह आदेश स्थान्यलाश्रय विधि सुलोप की कर्तव्यता में स्थानिवत् नहीं होता, जिससे (हल् से परे न होने से) सुलोप नहीं होता—**सः** ।

अनल्विधौ—ऐसा न कहकर अनलः (षष्ठ्यन्त) ऐसा न्यास कर देते, तो भी अल् के स्थान में विधि की कर्तव्यता में—ऐसा अर्थ सुलभ होता । विधिग्रहण क्यों किया ? वह इसलिये किया है कि अलाश्रयो विधिः=अल्विधिः—ऐसा उत्तरपदलोपी समास हो सके । **अला विधिः**=अल्विधिः । **अलः परस्य विधिः** अल्विधिः । **अलो विधिः**=अल्विधिः । **अलि विधिः**=अल्विधिः ।

अला विधि में स्थानिवद्भाव नहीं होता—**व्यूढोरस्केन** । यहाँ विसर्ग के स्थान में सकार आदेश हुआ है । विसर्ग स्थानी है । और अयोगवाह होने से **'अयोगवाहानामट्सूपसंख्यानम्'** इस वचन से अट् प्रत्याहारान्तर्गत है । यदि यहाँ स्थानिवद्भाव हो जाय तो अट् कुप्वाङ्—से विसर्ग-कृत व्यवधान होने पर णत्व हो जायगा ।

अल् से परे को विधि करनी हो तो स्थानिवद्भाव नहीं होता । **द्यौः** । **पन्थाः** । **सः** । यहाँ स्थानी अल् व्, न्, द् से परे सुलोप की कर्तव्यता में स्थानिवत् न होने से सुलोप नहीं होता ।

अल् के स्थान में विधि में—**द्युकामः** (दिवं कामयते, दिवि कामोऽस्येति वा) । यहाँ स्थानी व् को **दिव उत्** (६।१।१३१) से 'उ' आदेश हुआ । स्थानी-अल्=व् के आश्रित **लोपो व्योर्वलि** (६।१।६६) से 'व्' का लोप प्राप्त होता है, यदि यहाँ आदेश 'उ' स्थानिवत् हो । यह लोप अलाश्रय विधि है, अतः स्थानिवद्भाव नहीं होता, जिससे वलि लोप रुक जाता है । यदि कहो स्थानिवद्भाव होने पर भी दिव उत् इस उत्व-विधान-सामर्थ्य से ही व्-लोप नहीं होगा (लोप होने पर उत्वविधान व्यर्थ हो जायगा) । नहीं । ऐसा कहना ठीक नहीं । **द्युयानम्** इत्यादि में उत्व चरितार्थ है, यहाँ व्-लोप का प्रसङ्ग ही नहीं ।

अल् के परे होने वाली विधि में—**यज्+क्तः=इष्टः** । **क इष्टः** । यहाँ स्थानी-य् के परे होने पर तदाश्रित हशि च (६।१।११४) से रु को उत्व

(क-स्-कर्—क उ) प्राप्त होता है यदि आदेश इ (सम्प्रसारण-लब्ध) स्थानिवत् हो। उत्व स्थान्यलाश्रय विधि है, अतः स्थानिवद्भाव नहीं होता, जिस कारण उत्व रुक जाता है। यदि कहो स्थानिवद्भाव होने पर इष्ट सिद्धि हो जायगी उत्व करने पर, **आद्गुणः** से गुण, तथा अवादेश होने पर स्थानिवद्भाव से य् परे होने पर हलि सर्वेषाम् (८।३।२२) से 'व्' का लोप हो जायगा। और क इष्टः—यह इष्टरूप सिद्ध हो जायगा। यह ठीक है, पर ऐसा होने पर पक्ष में '**कयिष्टः**' यह इष्ट रूप सिद्ध न हो सकेगा। सिद्धान्त में **भो-भगो-अघो**—सूत्र से अश् परे रहते पदान्त 'य्' का विकल्प से लोप होता है। जिससे दोनों इष्ट रूप क इष्टः, कयिष्टः सुलभ हो जाते हैं।

जैसा कि पूर्व कह आये हैं, अलाश्रय विधि में अल् स्थानी का अवयव अल् लिया जाता है। उस अल् के आश्रित विधि में ही स्थानिवत् नहीं होता। आदेश के अवयव-अल् के आश्रित विधि में स्थानिवत् होता ही है—**रामाय**। यहाँ **सुपि च** इस दीर्घ विधि में यञादित्व का आश्रयण है। यञ् (य्) आदेश का अवयव अल् है (स्थानी ङे का नहीं)। स्थानिवद्भाव से सुप्त्व आने पर दीर्घ सिद्ध होगा।

स्थान्यल् का आश्रयण चाहे प्राधान्येन हो, चाहे विशेषणत्वेन, स्थानिवत् कार्य नहीं होता, अतः क्त्वा का वलादित्व (जो इट् विधि में विशेषणरूप से इष्ट है) ल्यप् आदेश में नहीं आता, जिससे '**प्रपठ्य**' आदि में वलादिलक्षण इट् नहीं होता।

(२) पूर्वसूत्र में अनल्विधि में स्थानिवद्भाव कहा है। अल्विधि में स्थानिवद्भाव के लिये इस सूत्र का आरम्भ हुआ है। **आदेशः स्थानिवत्**—यह पूर्वसूत्र से अनुवृत्त है। इस सूत्र में 'अचः' यह स्थानषष्ठी है। यह स्थानी का निर्देश है। 'परस्मिन्'—यह निमित्तसप्तमी है। 'पूर्व विधौ'—यह विषयसप्तमी है। अजादेश जो परनिमित्तक वह स्थानिवत् होता है, स्थान्याश्रयकार्य को प्राप्त होता है जब पूर्व को विधि कर्तव्य हो। **आदेश होने से पहले जो स्थानी से पूर्व अवस्थित है वह 'पूर्व' लिया लाता है। पटयति। अवधीत्। बहुखट्वकः। 'पटुमाचष्टे'** इस अर्थ में 'पटु' से णिच् करने पर टि-लोप ('उ' का लोप) करने पर उस टि-लोप के स्थानिवद्भाव से **अत उपधायाः** (७।२।११६) से वृद्धि नहीं होती। यहाँ टि-लोप (उ का लोप) अजादेश है, उ (अच्) को लोप रूप आदेश हुआ है। यह लोप **णाविष्ठवद्भावः** इस वचन से णिच् के निमित्त से हुआ है, अतः परनिमित्तक है। पट् णिच्+शप्+ति—इस अवस्था में

णिच् को मानकर पट् की उपधा=पकारोत्तरवर्ती अकार को वृद्धि प्राप्त होती है। स्थानिवद्भाव होने से उपधा ट् होती है, 'अ' नहीं। **अवधीत्**। हन् को वध (अदन्त) आदेश होता है। आर्धधातुक प्रत्यय सिच् की विवक्षा में **अतो लोपः** (६।४।४८) से 'अ' का लोप। इसके स्थानिवत् होने से **अतो हलादेर्लघोः** (७।२।७) से हलन्तलक्षणा वृद्धि नहीं होती। यहाँ 'अ' का लोप परनिमित्तक अजादेश है। वृद्धि पूर्वविधि है। आदेश होने से पूर्व अवस्थित वकारोत्तरवर्ती 'अ' को वृद्धि प्राप्त होती है। बहुखट्वकः। **आपोऽन्यतरस्याम्** (७।४।१५) सूत्र से खट्वा के टाप् को ह्रस्व होता है। इस ह्रस्व के स्थानिवत् होने से **ह्रस्वान्तेऽन्त्यात्पूर्वम्** (६।२।१७४) से विहित स्वर नहीं होता। **इस स्वर सूत्र का अर्थ है**—नञ्—सु से परे ह्रस्वान्त उत्तरपद के ह्रस्व से पूर्व को उदात्त होता है कप् समासान्त प्रत्यय परे होने पर। प्रकृत में 'नञ्' नहीं है, 'बहु' है। उत्तर सूत्र **बहोर्नञ्वदुत्तरपदभूम्नि** से 'बहु' से भी नञ् से जो स्वर प्राप्त होता है उसका अतिदेश किया है। प्रकृत उदाहरण में टाप् को ह्रस्व अजादेश है। यह **यर** कप् प्रत्यय के आश्रित होने से परनिमित्तक है। (अन्त्य) ह्रस्व से पूर्व को उदात्त, यह पूर्वविधि है। अजादेश के स्थानिवत् होने से ह्रस्वान्ते—यह स्वर रुक जाता है।

'अचः' ऐसा क्यों कहा? प्रश्नः। अक्राष्टाम्। आगत्य। **च्छ्वोः शूडनुनासिके च** (६।४।१९) से प्रच्छ्+नः—यहाँ च्छ् को श् आदेश होता है। यह अजादेश परनिमित्तक है, अनुनासिक (न्) को मानकर हुआ है, पर यह 'च्छ्' के स्थान में हुआ है, अतः अजादेश नहीं। तुक् विधि पूर्वविधि है, उस की कर्तव्यता में स्थानिवत् नहीं होता, जिस से तुक् रुक जाता है। **अक्राष्टाम्**। **झलो झलि** (८।२।२६) से सिच् का लोप परनिमित्तक है, पर यह अजादेश नहीं। कृष् के ष् को षढोः कः सि (८।२।४१) से ककारादेश की कर्तव्यता में (जो पूर्वविधि है) स्थानिवत् नहीं होता, जिससे ककारादेश रुक जाता है। **आगत्य—वा ल्यपि** (६।४।३८) से अनुनासिक लोप (गम् के म् का लोप) परनिमित्तक आदेश है, ल्यप् को मानकर हुआ है। पर यह अजादेश नहीं। अतः पूर्वविधि तुक् की कर्तव्यता में स्थानिवत् नहीं होता, तो तुक् हो जाता है, अन्यथा अनुनासिक (म्) के स्थानिवद्भाव से ह्रस्व से परे पित् कृत् न होने से तुक् न हो सकता।

परस्मिन् (परनिमित्तक) ऐसा क्यों कहा? **युवजानिः**। **वधूटीजानिः**। **वैयाघ्रपद्यः**। **आदीध्ये**। **युवजानिः—यहाँ जायाया निङ्** (५।४।१३४) से विहित

समासान्त निङ् जो 'जाया' के अन्त्य 'आ' के स्थान में होता है, परनिमित्तक नहीं, अतः पूर्व विधि लोपो व्योर्वलि से 'य्'-लोप की कर्तव्यता में यह आदेश स्थानिवत् नही होता, जिस से युवजाय् नि—इस अवस्था में लोपो व्योर्वलि (६।१।६६) से य्-लोप हो जाता है—**युवजानिः** (युवति र्जाया यस्य सः)। **वैयाघ्रपद्यः**। व्याघ्रस्येव पादावस्य स व्याघ्रपात् (व्याघ्रपाद्)। व्याघ्रपादो गोत्रापत्यं वैयाघ्रपद्यः। यञ्। **पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः** (५।४।१३८)। 'पाद' के अन्त 'अ' का लोप (समासान्त) होता है, यह परनिमित्तक नहीं। **अतः पादः पत्** (६।४।१३०) से पद्भाव की कर्तव्यता में स्थानिवत् नहीं होता, जिस से पद्भाव नहीं रुकता। **आदीध्ये**—आङ् पूर्व दीधीङ् से लट् उत्तम पुरुष एकवचन। यहाँ **टित आत्मनेपदानां टेरे** (३।४।७९) से इट् के स्थान में जो 'ए' आदेश होता है, वह परनिमित्तक नहीं। अतः **यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः** (७।४।५३) से यकारादि तथा इकारादि प्रत्यय परे रहते दीधी तथा वेवी के अन्त का लोप (जो यहाँ पूर्वविधि है) उस की कर्तव्यता में यह स्थानिवत् नहीं होता, जिस से दीधी के अन्त का लोप नहीं होता। 'ई' को यण् होकर '**आदीध्ये**' रूप सिद्ध होता है।

'पूर्व विधि की कर्तव्यता में' ऐसा क्यों कहा ? हे **गौः**। **बाभ्रवीयाः**। **नैधेयः**। हे गौः—यहाँ **गोतो णित्** (७।१।९०) से 'गो' को वृद्धि अजादेश है और सर्वनामस्थान विभक्ति को निमित्त मानकर हुआ है, अतः परनिमित्तक है। सम्बुद्धि लोप जो परविधि है (पूर्वविधि नहीं) की कर्तव्यता में यह वृद्धि आदेश स्थानिवत् नहीं होता जिस से एङ् न होने से **एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः** (६।१।६९) से सम्बुद्धि 'सु' का लोप नहीं होता। **बाभ्रवीयाः**—बाभ्रव्यस्य शिष्याः, **वृद्धाच्छः** (४।२।११४) से छ प्रत्यय शैषिक होता है। **आपत्यस्य च तद्धिते ऽनाति** (६।४।१५१) से हल् से उत्तर तद्धित-यकार के लोप की कर्तव्यता में अवादेश स्थानिवत् नहीं होता। बभ्रोर्गोत्रापत्यं बाभ्रव्यः। बभ्रु+यञ्। बभ्रो य (**ओर्गुणः** ६।४।१४६ से गुण)। बाभ्रो+य (आदि वृद्धि)। बाभ्रव्य (**वान्तो यि प्रत्यये** (६।१।७९) से 'ओ' को अवादेश। बाभ्रव्य+ईय् (छ)। यहाँ अवादेश परनिमित्तक अजादेश है। **पर** यादि प्रत्यय यञ् को मानकर हुआ है। पूर्व-विधि की कर्तव्यता में स्थानिवद्भाव कहा है। यहाँ पूर्वविधि नहीं है। किन्तु 'य्' का लोप परविधि कर्तव्य है, अतः ओस्थानिक अच्-आदेश स्थानिवत् नहीं होता, जिस से हल् (व्) से उत्तर तद्धित यकार का लोप हो जाता है। **नैधेयः** (निधिर्नाम कश्चित् तस्यापत्यम्)—यहाँ निधि से अपत्यार्थ में ढक्

होता है। **इतश्चानिञः** (४।१।१२२)—यह **द्वयच्क** प्रातिपदिक से अपत्यार्थ में ढक् का विधान करता है। नि धा से 'कि' प्रत्यय होने पर आतो लोप इटि च (६।४।६४) से 'आ' का लोप होकर निधि रूप निष्पन्न होता है। 'आ' लोप अजादेश है और परनिमित्तक भी है। पूर्वविधि कर्तव्य न होने से यह स्थानिवत् नहीं होता। ढक् परविधि है। अतः ढक् विधि के प्रति स्थानिवत् न होने से 'निधि' **द्वयच्क** रहता है, तो ढक् हो जाता है, अन्यथा **त्र्यच्क** (नि धा इ) हो जाने से ढक् न हो सकता।

(३) पदान्तादि चरन्त शब्दों का द्वन्द्व समास है। इस का विधि शब्द के साथ षष्ठीसमास है। विधि शब्द का पदान्त आदि प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है। **द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते। विधिशब्द कर्मसाधन भी है। और भावसाधन भी। द्विर्वचन के साथ अन्वित हुआ यह भावसाधन है, अन्यत्र कर्मसाधन है।** विधीयते क्रियत इति विधिः कार्यम्। पूर्वसूत्र से अतिप्रसक्त हुए स्थानिवद्भाव का प्रतिषेध किया जा रहा है।

पदान्त विधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता। पद के चरम अवयव को जब विधि (कार्य) कर्तव्य हो। **कौ स्तः। यौ स्तः। तानि सन्ति। यानि सन्ति।** यहाँ 'अस्' के 'अ' का लोप जो **श्नसोरल्लोपः** (६।४।१११) से क्ङित् सार्वधातुक परे रहते होता है वह परनिमित्तक है, अनादिष्ट अच् (अस् का 'अ') से पूर्व अवस्थित कौ, यौ, तानि, यानि के औ, इ को आव् तथा यण् की कर्तव्यता में स्थानिवत् नहीं होता।

व्याकरण शास्त्र पदों का संस्कारक है, स्वतन्त्र पदान्तरनिरपेक्ष पदों का संस्कार होता है, वाक्य का नहीं, तो 'स्तः' आदि के प्रक्रिया-काल में 'कौ' आदि पूर्वावस्थित ही नहीं, तो स्थानिवद्भाव की प्राप्ति ही नहीं, तो निषेध व्यर्थ है। यह शङ्का व्यर्थ है। यह कोई राजशासन नहीं कि पदसंस्कार के लिये शब्दानुशासन किया जाय। आचार्य का ऐसा अभिप्राय नहीं। आचार्य वाक्यसंस्कार को भी व्याकरण का प्रयोजक मानते हैं। यह **युष्मद्युपपदे स्थानिन्यपि मध्यमः** इत्यादि शास्त्र से सूचित होता है।

द्विर्वचन विधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता। **दद्ध्यत्र। मद्ध्वत्र।** यण् आदेश परनिमित्तक है, उस के स्थानिवद्भाव से **'अनचि च'** से धकार को द्विर्वचन नहीं हो सकता था, इस वचन से (स्थानिवद्भाव के निषेध से अच् परे न रहने से) हो जाता है।

'वरे' जो अजादेश हो वह पूर्वविधि के प्रति स्थानिवत् नहीं होता—

अप्सु यायावरः प्रवपेत् पिण्डान् । यङन्त याय (या + यङ्) से **यश्च यङः** (३।२।१७६) से वरच् प्रत्यय होता है, **अतो लोपः** (६।४।४८) से अ-लोप पर-निमित्तक है, उसके स्थानिवद्भाव से **आतो लोप इटि च** (६।४।६४) से आ-कार का लोप हो जाता, इस वचन से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाने से परे अजादि क्ङित् आर्धधातुक प्रत्यय न होने से नहीं होता ।

य-लोप विधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता । कण्डूतिः (कण्डूया, खुजली) । कण्डूय (यगन्त कण्डु) से क्तिच् प्रत्यय करने पर **अतो लोपः** से यक् के 'अ' का लोप परनिमित्तक है । **लोपो व्योर्वलि** (६।१।६६) से पूर्वविधि य्-लोप की कर्तव्यता में इस के स्थानिवत् होने से य्-लोप न हो सकता, इस वचन से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाने से 'अ' का व्यवधान न होने से य्-लोप हो जाता है । पूर्व वरे-सम्बन्धी विधि में भी यङ् के य् का लोप अतो लोपः के स्थानिवत् न होने से ही सिद्ध होता है ।

स्वरविधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता—**चिकीर्षकः** । **जिहीर्षकः** । चिकीर्ष, जिहीर्ष (सन्नन्त कृ, सन्नन्त हृ) से ण्वुल्, अतो लोपः परनिमित्तक है, लिति (६।१।१९४) से लित्प्रत्यय से पूर्व उदात्त होता है, इस स्वर की कर्तव्यता में स्थानिवत् नहीं होता । इस से चिकीर्षकः, जिहीर्षकः में 'ई' उदात्त होता है, स्थानिवद्भाव होने पर तो 'ष' उदात्त होता ।

सवर्णविधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता—**शिण्ढि** । **पिण्ढि** । शिष् पिष् के लोट् मध्यमैकवचन में **रुधादिभ्यः श्नम्** (३।१।७४) । हित्व, धित्व, ष्टुत्व, जश्त्व होने पर **श्नसोरल्लोपः** (६।४।१११) से क्ङित् सार्व-धातुक परे श्नम् (न) के 'अ' का लोप परनिमित्तक है पूर्वविधि अनुस्वार को अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (८।४।५८) से परसवर्ण की कर्तव्यता में स्था-निवत् नहीं होता ।

अनुस्वार विधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता—**शिंषन्ति** । **पिंषन्ति** । **नश्चापदान्तस्य झलि** (८।२।२४) से अनुस्वार की कर्तव्यता में **श्नसोरल्लोपः** से अल्लोप स्थानिवत् नहीं होता । सवर्णविधि के उदाहरण में भी स्थानिवद्भाव के निषेध से ही अनुस्वार की सत्ता होती है, अन्यथा अल्लोप के स्थानिवद्भाव से परे झल् न होने से अनुस्वार ही न हो सकता, तो अनुस्वार को परसवर्ण कहाँ से होता ।

दीर्घ विधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता—**प्रतिदीव्ना** । **प्रति-दीव्ने** । 'प्रतिदिवन्' से तृतीयैकवचन टा, तथा चतुर्थ्येकवचन ङे परे पूर्व की

'भ'—संज्ञा होती है। **अल्लोपोऽनः** (६।४।१३४) से अन् के 'अ' का लोप पर-निमित्तक है। इस के स्थानिवद्भाव से **हलि च** (८।२।७७) से दीर्घ न हो सकता। कारण कि स्थानिवद्भाव से प्रतिदिवन् का व् हल्परक नहीं है। अब इस वचन से स्थानिवद्भाव का निषेध होने से व् हल्परक है, अतः दीर्घ हो जाता है।

जश् विधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता—**सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे** (वा० स० १८।९)। **बब्धां ते हरी धानाः** (निरुक्त ५।१२)। समाना ग्धिः सग्धिः (समाशः, एक साथ भोजन)। अद् से क्तिन्। **बहुलं छन्दसि** (२।४।३९)से अद् को घस्लृ आदेश। **घसि-भसोर्हलि** (६।४।१००) से उपधा-लोप। **झलो झलि** (८।२।२६) से 'स्' का लोप। **झषस्तथो र्धोऽधः** (८।२।४०)से क्तिन् के 'त्' को 'ध्'। उपधा लोप के स्थानिवत् होने से **झलां जश् झशि**(८।४।५३) से घकार को जश्त्व (ग्) न हो सकता। इस वचन से हो जाता है। **बब्धाम्**—भस् से लोट् प्रथम पुरुष द्विवचन में शप् के स्थान में श्लु, द्विर्वचन, अभ्यास कार्य। **घसिभसोर्हलि**— से उपधालोप। झलो झलि से सकारलोप। **झषस्त-थोर्धोऽधः** से ताम् के त् को ध्। उपधा-लोप के स्थानिवद्भाव से **झलां जश् झशि** से जश्त्व (भ् को ब्) न हो सकता। इस वचन से होता है।

चर् विधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता—जक्षतुः। जक्षुः। अक्षन्नमीमदन्त पितरः[1] (वा० सं० १९।३६)। लिट् प्रथमपुरुष द्विवचन बहुवचन में अद् को घस्लृ (घस्) आदेश। गमहनजनखनघसाम्—(६।४।९८) से घस् की उपधा 'अ' का लोप। द्विर्वचन। अभ्यास कार्य। उपधा-लोप के स्थानिवद्भाव से घस् के 'घ्' को चर्त्व (क्) नहीं हो सकता था। इस वचन से होता है। शासि-वसि-घसीनां च (८।३।६०) से ज क् स् अतुस्—में स् को ष्। कषोर्योगे क्षः। अक्षन्—अद् के लुङ् प्रथमपुरुष बहुवचन में घस्लृ (घस्) आदेश। 'च्लि' का **मन्त्रे घस-ह्वर-नश**—(२।४।८०) से लुक्। **गमहनजन-खनघसाम्**—से उपधा लोप (घकारोत्तरवर्ती 'अ' का लोप)। इस के स्थानि-वद्भाव से **खरि च** (८।४।५५) से चर्त्व (घ् को क्) न हो सकता। इस वचन से होता है।

स्वर-दीर्घ-यलोपेषु लोपाजादेश एव न स्थानिवत् (वा०)। स्वर दीर्घ यलोप की कर्तव्यता में लोपाजादेश ही स्थानिवत् नहीं होता, जैसा कि ऊपर

---

१. यह काशिकानुसारी पाठ है। यजुः १९।३६ में **'अक्षन्पितरोऽमीमदन्त'** ऐसा पाठ है।

दिये हुए उदाहरणों में अच् के स्थान में लोपरूप आदेश होने पर स्थानिवद्भाव का निषेध दिखाया है), अन्यत्र तो होता ही है—**बहुखट्वकः** (बह्व्यः खट्वाः सन्त्यस्य), **किर्योः**(किरि=सूकर+ओस्), **गिर्योः**(गिरि+ओस्), **वाय्वोः**(वायु+ओस्)—यहाँ स्थानिवद्भाव होने से स्वर, दीर्घ, य-लोप नहीं होते। **बहुखट्वकः** (कप् प्रत्ययान्त)—यहाँ **आपोऽन्यतरस्याम्** (७।४।१५) से 'खट्वा' के टाप् को ह्रस्व हुआ है। **ह्रस्वान्तेऽन्त्यात्पूर्वम्** (६।२।१७४)— यह कप् प्रत्यय परे रहते पूर्वपद 'नञ्' अथवा 'सु' होने पर ह्रस्वान्त से पूर्व को उदात्त विधान करता है। यह स्वर पूर्व पद 'बहु' होनेपर भी होता है—बहोर्नञ्वदुत्तरपदभूम्नि (६।२।१७५)। प्रकृत में स्थानिवद्भाव से 'आ' (दीर्घ) के कप् से पूर्व होने से उक्त स्वर नहीं होता।

१९९. **यणो मयो द्वे भवत इति वक्तव्यम्** (वा०)। कुछ लोग इस वार्तिक में 'यणः' इसे पञ्चमी समझते हैं और 'मयः' को षष्ठी। अर्थ होगा—अच् से परे जो यण् उससे परे 'मय्' को द्वित्व होता है। **उल्क्का**। **वल्म्मीकः**। दूसरे लोग 'मयः'—इसे पञ्चमी समझते हैं और 'यणः' को षष्ठी। अर्थ होगा—अच् से परे जो 'मय्' उससे परे यण् को द्वित्व होता है। **दध्य्य**। **मध्व्वत्र**।

२००. **शरः खयो द्वे भवत इति वक्तव्यम्** (वा०)। यदि 'शरः' यह पञ्चमी है और 'खयः' षष्ठी है तो **स्त्थालः, स्त्थाता**—ये उदाहरण होंगे। यदि 'खयः' पञ्चमी है, और 'शरः' षष्ठी है तो **वत्स्सरः, अप्स्सराः**—ये उदाहरण होंगे।

२०१. **अवसाने च यरो द्वे भवत इति वक्तव्यम्** (वा०)। **वाक्क्**। **वाक्**। **त्वक्क्**। **त्वक्**। **षट्ट्**। **षट्**। **तत्त्**। **तत्**।

२०२. **नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य** (८।४।४८)। 'आदिनी' उत्तरपद होने पर पूर्वपद पुत्र को जो 'अनचि च' में वैकल्पिक द्वित्व प्राप्त होता है, वह नहीं होता जब आक्रोश (निन्दा) की प्रतीति हो—सूत्र में 'न' प्रसज्यप्रतिषेध में पृथक् पद है। 'आदिनी' यह अद् (खाना) से ताच्छील्य अर्थ में णिनि-प्रत्ययान्त का ङीबन्त रूप है। **पुत्रादिनी त्वमसि पापे!** हे दुष्टे तू पुत्र को खाने वाली है। यदि आक्रोश अभिप्रेत नहीं, तत्त्व कथन है तो यथाप्राप्त वैकल्पिक द्वित्व होगा—**पुत्त्रादिनी सर्पिणी**। **पुत्त्रादिनी शिशुमारी व्याघ्री**।

२०३. **तत्परे चेति वक्तव्यम्** (वा०)। जब पुत्र से परे पुत्र शब्द हो, तब भी 'आदिनी' उत्तरपद होने पर आक्रोश के गम्यमान होने पर 'पुत्र' को

द्वित्व नहीं होता—**पुत्रपुत्रादिनी त्वमसि पापे** (हे दुष्टे तू पुत्र के पुत्र को खाने वाली है)।

२०४. **वा हतजग्धपर इति वक्तव्यम्** (वा०)। 'हत' अथवा 'जग्ध' परे होने पर पुत्र को विकल्प से द्वित्व होता है—**पुत्त्रहती। पुत्रहती। पुत्त्रजग्धी। पुत्रजग्धी।** पुत्रो हतोऽनया, पुत्रो जग्धोऽनया (पक्ष में पुत्त्रहता इत्यादि)। **अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा** (४।१।५३) से अन्तोदात्त बहुव्रीहि से वैकल्पिक ङीष्।

२०५. **चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेः** (वा०)। पुष्करसद् के अपत्य पौष्करसादि आचार्य के मत में चय् (च्, ट्, त्, क्, प्) को द्वितीय—छ्, ठ्, थ्, ख्, फ्) आदेश हो जाते हैं शर् परे रहते। तकार को थकार—**वथ्सः** (वत्सः)। ककार को खकार—**अख्षरम्** (**अक्षरम्**)। पकार को फकार—**अफ्-सराः।** (**अप्सराः**)।

२०६. **शरोऽचि** (८।४।४९)। पूर्वसूत्र से 'न' अनुवृत्त है। अच् से परे 'शर्' को द्वित्व नहीं होता अच् परे होने पर। यह **अचोरहाभ्यां द्वे** से जो वैकल्पिक द्वित्व प्राप्त होता है, उसका निषेध करता है—**कर्षत्यजां ग्रामम्। तमिस्रायां वर्षतीवाञ्जनं नभः** (अन्धेरी रात में आकाश मानो अञ्जन बरसा रहा है)। **आकर्षः** (=कषः) **सुवर्णपरीक्षायां युक्ततमो गण्यते। अक्षदर्शः** (अक्षदर्शक, व्यवहार का आलोचक, व्यवहारद्रष्टा, न्यायाधीश)।

'अचि' ऐसा क्यों कहा? दश्श्र्यते—यहाँ अच् परे न होने से 'अचो रहा-भ्यां द्वे' से विकल्प से यर् 'श्' को द्वित्व होता है।

२०७. **त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य** (८।४।५०)। 'न' अनुवृत्त है। तीन अथवा तीन से अधिक संयुक्त वर्णों के होने पर जो भी द्वित्व प्राप्त होता है वह शाकटायन (शकट का गोत्रापत्य) आचार्य के मत में नहीं होता—**इन्द्रः। चन्द्रः। उष्ट्रः। राष्ट्रम्। भ्राष्ट्रम्।** यह **अनचि च** (८।४।४७) की प्राप्ति का निषेध है। पाणिनि के मत में द्वित्व होगा—**इन्न्द्रः। चन्न्द्रः।** इत्यादि।

२०८. **सर्वत्र शाकल्यस्य** (८।४।५१)। शाकल्याचार्य (शकलगोत्रापत्य) के मत में द्विर्वचन नहीं होता—**अर्कः। मर्कः। ब्रह्मा। अपह्नुते।**

२०९. **दीर्घादाचार्याणाम्** (८।४।५२)। सभी आचार्यों के मत में दीर्घ से परे 'यर्' को द्वित्व नहीं होता—**दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु।** प्राच्य लोगों में दाप् लवने का प्रयोग प्रसिद्ध है—**दाति बर्हिः** (कुशा को काटता है)। उदीच्य (उत्तर भारत के लोग) दा से व्युत्पन्न ष्ट्रन्प्रत्ययान्त दात्र शब्द का प्रयोग करते हैं। **उदुम्बरवर्णानीमानि पात्राण्यौदुम्बराणि न** (ताम्बे के वर्ण

वाले ये पात्र ताम्बे के नहीं हैं)। **मूत्रपदेन निर्गतः** (पेशाव के बहाने से निकल गया)। **दर्भपवित्रपाणिराचार्यः प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म** (कुशापीड हाथ में धारण किये पूर्वाभिमुख होकर आचार्य ने ये सूत्र बड़े यत्न से बनाए)।

२१०. **अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः** (८।४।५७)। यहाँ पूर्व सूत्र वावसाने (८।४।५६) से 'वा', 'अवसाने' यह अनुवृत्त है। अप्रगृह्य-संज्ञक जो अण् अवसानमें वर्तमान हो उसे विकल्प से अनुनासिक आदेश होता है। ईदूदेद् द्विवचनम्° आदि से प्रगृह्य संज्ञा की है। जो अण् (अ, इ, उ) प्रगृह्य न हो उसे अनुनासिक आदेश विकल्प से होता है— **दधिँ। दधि। मधुँ। मधु। कुमारीँ। कुमारी**। 'अणः' ऐसा क्यों कहा ? **कर्तृ। हर्तृ**। यहाँ 'ऋ' अण् नहीं है। अण्-ग्रहणानि पूर्वेण णकारेण।

'अप्रगृह्यस्य'—ऐसा क्यों कहा ? अग्नी। वायू।

२११. **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** (८।४।५८)। अनुस्वार को यय् परे रहते परसवर्ण आदेश होता है। शकि शङ्कायाम्। उछि उञ्छे। कुडि दाहे। टुनदि समृद्धौ। कपि चलने—ये इदित् धातुएँ हैं। इन्हें **इदितो नुम्धातोः** (७।१।५८) से नुम् (न्) आगम होता है। इस 'न्' को **नश्चापदान्तस्य झलि** (८।३।२४) से झल् परे रहते अनुस्वार हो जाता है। **शङ्कितः। शङ्कितुम्। शङ्कितव्यम्**। यहाँ अनुस्वार को पर 'क्' का सवर्ण 'ङ्' (अनुनासिक) होता है। आदेश स्थानी के अन्तरतम (सदृशतम) होना चाहिये, अतः क् के सवर्णों ख्, ग्, घ्, ङ् में से ङ् ही अन्तरतम है, आनुनासिक्य धर्मवाला होने से, अतः परसवर्ण 'ङ्' होता है। **उञ्छिता। उञ्छितुम्। उञ्छितव्यम्**—यहाँ ञ् ही अन्तरतम आदेश है, अतः वही होता है, छ् आदि नहीं। **कुण्डिता। कुण्डितुम्। कुण्डितव्यम्**। यहाँ ण् ही अन्तरतम परसवर्ण आदेश है, अतः वही होता है। स्थान प्रयत्न-साम्य से ड् के ट, ठ, ड्, ढ्, ण् सभी सवर्ण हैं। **नन्दिता। नन्दितुम्। नन्दितव्यम्**। यहाँ अनुस्वार के स्थान में सदृशतम परसवर्ण 'न्' होता है। **कम्पिता। कम्पितुम्। कम्पितव्यम्**। यहाँ अनुस्वार के स्थान में सदृशतम परसवर्ण 'म्' अनुनासिक है, अतः वही होता है, फ् आदि अननुनासिक नहीं हैं।

कुर्वन्ति। कृषन्ति—यहाँ **नश्चापदान्तस्य झलि** (८।३।२४) की दृष्टि में अट् कुप्वाङ् (८।४।२) असिद्ध है, अतः पहले नकार को अनुस्वार होता है। इस अनुस्वार को पुनः परसवर्ण नकार हो जाता है। इसके असिद्ध होने से

णत्व नहीं होता। **एवमनुस्वारीभूतो णत्वमतिक्रामति,** इस प्रकार अनुस्वार हुआ २ णत्व से बच जाता है।

ययि (यय् परे रहते) ऐसा क्यों कहा? **आक्रंस्यतेऽचिरात्सूर्यः** (अभी सूर्य चढ़ेगा)। **मयेदानीं गंस्यते** (मैं अब जाऊँगा)।

२१२. **वा पदान्तस्य** (८।४।५९)। पदान्त अनुस्वार को यय् परे रहते विकल्प से परसवर्ण होता है—**ग्रामङ् गच्छति। ग्रामं गच्छति। नगरम्प्रविशति। नगरं प्रविशति। वाचन्तनोति वाग्मी। वाचं तनोति वाग्मी। ईशाः कथञ्चिन्मनसाम्वभूवुः। ईशाः कथंचिन्मनसां बभूवुः** (ज्यों त्यों अपने मनों पर वश पा सके)। **तङ् कथञ्चित्रपक्षण्डयमानन्नभःस्थम्पुरुषोऽवधीत्** (तं कथं चित्रपक्षं डयमानं नभः स्थं पुरुषोऽवधीत्), उस रंग विरंगे पक्षों वाले आकाश में उड़ते हुए पक्षी को पुरुष ने कैसे मार डाला?

२१३. **तो र्लि** (८।४।६०)। पदान्त तवर्ग को लकार परे रहते परसवर्ण आदेश होता है—**जगदिदं तज्जं तल्लयं तदंश्च भवति** (यह जगत् उस ब्रह्म से उत्पन्न होता है उसमें लीन होता है और उसीसे प्राणित होता है)। **सोम-सुत्**+लुनाति सोमलताः—यहाँ तवर्ग 'त्' को 'ल्' होकर **सोमसुल्लुनाति** ऐसा रूप होगा। **महाँल्लाभोऽनेन** लब्धः—यहाँ **यवला द्विधा भवन्ति सानुनासिका निरनुनासिकाश्च।** इस वचन के अनुसार न् (अनुनासिक) के स्थान में आन्तर-तम्य से (सदृशतम होने से) आनुनासिक्य-धर्मवान् लँ् आदेश होता है।

२१४. उदः **स्था-स्तम्भोः पूर्वस्य** (८।४।६१)। 'सवर्णः'—यह अनुवृत्त है। यद्यपि यह (२११) में समस्त पढ़ा है। उद् से उत्तर स्था, स्तम्भ् को पूर्वसवर्ण आदेश होता है—**उत्थाता। उत्थातुम्। उत्थातव्यम्। उत्थानम्।** आदेः परस्य (१।१।५४) से पर स् को पूर्व (उपसर्ग का अन्त्य द्) का सवर्ण 'थ्' आदेश होता है। अघोष महाप्राण स् के स्थान में वैसा ही 'थ्' होता है—**उत्थ्थानम्।** पक्ष में वक्ष्यमाण **झरो झरि सवर्णे** (८।४।६५) से थ् का विकल्प से लोप हो जाता है। **उत्थानम्।** लोपाभाव पक्ष में थकार का ही श्रवण होता है, उसे खरि च (८।४।५५) से चर्त्व नहीं होता। पूर्वसावर्ण्य से लब्ध थ् चर्त्व विधि (खरि च) के प्रति असिद्ध है। ऐसा ही स्तम्भ् के विषय में जानें—**उत्तम्भिता। उत्तम्भितुम्। उत्तम्भितव्यम्। उत्तम्भनम्। केनेयं द्यौरुत्तम्भितुं शक्या। न हि पुरुषकृतिरेषा भवति।**

इन उदाहरणों में थकार श्रवण के विषय में दाधिमथ पं० शिवदत्त शास्त्री का कथन विमर्शयोग्य है। उनका कहना है कि यदि चर्त्व के प्रति पूर्वसवर्ण

असिद्ध हो तो भाष्यस्थ वार्तिक **उदः पूर्वत्वे स्कन्दे रोगे च** के उदाहरण **'उत्कन्दो रोगः'** यहाँ भी थकार श्रवण-प्रसङ्ग लिखना होगा। पर भाष्यस्थ अष्टाध्यायी-पाठ के अनुसार थकार की चर्त्व विधि के प्रति असिद्धता की संभावना ही नहीं।

२१५. **झयो होऽन्यतरस्याम्** (८।४।६२)। 'पूर्वस्य सवर्णः' की अनुवृत्ति है। पदान्त 'झय्' से उत्तर 'ह्' को पूर्व का सवर्ण आदेश होता है विकल्प से—**प्रियमधुरा वाग्घन्ति शुचम्**। संवृतकण्ठ, नादवान्, घोषवान्, महाप्राण 'ह्' को वैसा ही वर्ग-चतुर्थ 'घ्' होता है। पूर्वसवर्ण के अभाव में वाग् हन्ति (वाक्+हन्ति)। यहाँ (८।२।३९) से 'क्' को जश्त्व ग् हुआ है। **मन्त्रविद्धन्ति विषम्**। ह् को पूर्वसवर्ण 'ध्' हुआ है। पक्ष में मन्त्रविद् हन्ति। **शिष्यो व्यसनं जिहासति। गुरुः शिष्येण तद्धापयति** (गुरु शिष्य से उस व्यसन को छुड़वाता है)। पक्ष में तद् हापयति। **कुशलो रज्जुसृड् ढसत्यकुशलम्** (चतुर रस्सी बाँटने वाला अचतुर पर हंसता है)। यहाँ ह् को पूर्वसवर्ण 'ढ्' हुआ है। पूर्व 'ट्' को (८।२।३९) से 'ड्'। पक्ष में रज्जुसृड् हसति। यहाँ भी पूर्व ट् को (८।२।३९) से ड्।

झय् से 'परे' ऐसा क्यों कहा? **भवान् हसति भूतिमान् सन्नभूतिम्, तन्न युक्तम्**—यहाँ 'न्' 'झय्' नहीं है, अतः पूर्वसवर्ण नहीं हुआ।

२१६. **शश्छोऽटि** (८।४।६३)। पदान्त 'झय्' से परे अट्-परक शकार को विकल्प से छकार होता है—**शश्वच्छान्ति निगच्छति** (गीता०)। पक्ष में शश्वच् शान्ति निगच्छति। यहाँ (१८४) से 'त्' को श्चुत्व 'च्' हुआ है। **तच्छ्रुत्वा हर्षदं वृत्तं परं व्यस्मेष्ट सः** (उस हर्षदायक समाचार को सुनकर वह अति विस्मित हुआ)। यहाँ तद् श्रुत्वा—इस अवस्था में पदान्त झय् 'द्' से परे 'श्रुत्वा' के 'श्' को विकल्प से 'छ्'। 'द्' को श्चुत्व से 'ज्'। इस 'ज्' को 'खरि च' (८।४।५५) से चर् (च्)। सन् शम्भुः—सञ्शम्भुः। यहाँ श्चुत्व से '...ो 'ञ्' हुआ है। श्चुत्व के असिद्ध होने से (९७) से पाक्षिक तुक्—सञ् तुक् (त्) शम्भुः=**सञ्च्शम्भुः**। तुक् के त् को श्चुत्व (च) तथा छत्व-विकल्प से सञ्च् छम्भुः। वक्ष्यमाण झरो झरि सवर्णे (२१९) से 'च्' का पाक्षिक लोप—सञ्छम्भुः।

सञ्च्छम्भुः—यहाँ **नश्छव्यप्रशान्** (८।३।७) के प्रति श्चुत्व तथा तुक् के असिद्ध होने से रुत्व क्यों नहीं होता? इसलिये कि **शश्छोऽटि** (८।४।६६) से विधीयमान छत्व भी तो **नश्छव्यप्रशान्** के प्रति असिद्ध है, तो 'छ्' के न होने से 'न्' को रुत्व का प्रसङ्ग ही नहीं।

२१७. **छत्वममीति वाच्यम्** (वा०) अम्परक 'श्' को भी विकल्प से छत्व होता है, ऐसा कहना चाहिये—**तच्छ्लोको व्यश्नुते दिशः** (उसका यश दिशाओं को व्याप रहा है)। यहाँ श् झय् से परे है, पर ल्-परक है, अतः सूत्र से छत्व की प्राप्ति नहीं थी। 'ल्' 'अम्' प्रत्याहार के अन्तर्गत है।

२१८. **हलो यमां यमि लोपः** (८।४।६४)। इस सूत्र में (८।४।६२) से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति है। **शिशुः शेते शय्यायाम्**। 'शय्या' में एक यकार क्यप् प्रत्यय का है। दूसरा **अयङ् यि क्ङिति** (७।४।२२) से शी धातु के ई को अयङ् आदेश से प्राप्त। तीसरा **'अनचि च'** (८।४।४७) से द्वित्व द्वारा प्राप्त। इन तीन यकारो में मध्यम यकार का प्रकृत सूत्र से विकल्प से लोप होता है। लोपाभाव में **'शय्य्या'** ऐसा त्रियकारक रूप होता है। **द्वादशाऽऽदित्याः**। अदितेरपत्यम् इस अर्थ में ण्य प्रत्यय। एक यकार ण्य का है। दूसरा **'यणो मयो द्वे वा'** इस वार्तिक से लब्ध। तकार से परे 'य्' का लोप। लोपाभाव पक्ष में **आदित्य्यः। आदित्यो देवताऽस्य स्थालीपाकस्येत्यादित्य्यः**। 'सास्य देवता' इस अर्थ में ण्य प्रत्यय। मध्यम यकार का प्रकृत सूत्र से वैकल्पिक लोप। यमां यमि—यहाँ यथासंख्य सम्बन्ध होता है। अतः कोऽस्य माहात्म्यं वेद। 'माहात्म्यम्' में हल् से परे यम् 'म्' है और उससे परे य् है। दोनों 'यम्' प्रत्याहारान्तर्गत हैं पर म् ('यम्') से परे म् (यम्) नहीं, किन्तु 'य्' है। अतः 'म्' का लोप न हो सका।

२१९. **झरो झरि सवर्णे** (८।४।६५)। पूर्व सूत्र से 'हलः' यह अनुवृत्त है। (८।४।६२) से अन्यतरस्याम् भी अनुवृत्त है। हल् से परे झर् का विकल्प से लोप हो जाता है सवर्ण झर् परे होने पर। **प्रत्त्तम्। अवत्त्तम्**। यहां तीन तकार हैं। एक क्त प्रत्यय का। दूसरा अच उपसर्गात्तः (७।४।४७) से दा के आकार के स्थान में आदेश द्वारा प्राप्त। तीसरा 'खरि **च**' से धातु के द् को चर्त्वद्वारा प्राप्त। अब चौथा **'अनचि च'** से द्विर्वचन द्वारा प्राप्त। प्रकृत सूत्र से एक मध्यम तकार का अथवा दो मध्यम तकारों का लोप हो जाता है।

झर् का—ऐसा क्यों कहा? शाङ्‌र्गम् (शृङ्गस्य विकारः)। अण्। ऋकार को रपर वृद्धि। यहाँ ङकार हल् (रेफ) से परे है और सवर्ण-झर्-परक है, पर यह स्वयं झर् नहीं, अतः इस ङ् का लोप नहीं होता।

झर् परे रहते, ऐसा क्यों कहा? प्रियाः पञ्चाऽस्येति प्रियपञ्चा। तेन **प्रियपञ्च्ञा। अल्लोपोऽनः** (६।४।१३४) से 'अ' का लोप। स्तोः श्चुना से श्चुत्व 'ञ्'। **पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानिवत्** (पूर्वत्रासिद्धीय=त्रिपादीस्थ कार्य

की कर्तव्यता में स्थानिवत् नहीं होता, 'अचः परस्मिन्पूर्वविधौ' से प्राप्त था)। इस स्थिति में ञ् च् इस आनुपूर्वी में 'च्' झर् है वह हल् (ञ्) से परे भी है, पर परे ञ् है जो झर् नहीं है। अतः 'च्' का लोप नहीं होता।

सवर्ण झर् परे रहते—ऐसा क्यों कहा ? तर्प्ता। तर्प्तुम्। तर्प्तव्यम्। पकार का तकार सवर्ण नहीं, स्थानभेद होने से।

यहाँ निमित्त-भूत झर् और कार्यी झर् के समानसंख्यक होने से यथा-संख्य कार्य होने से तर्प्ता आदि में लोप की प्राप्ति नहीं, तो लोप की निवृत्ति के लिये सवर्ण-ग्रहण क्यों किया ? उत्तर—सवर्ण-ग्रहण के सामर्थ्य से यहाँ यथासंख्य सम्बन्ध नहीं होता। यथासंख्य होने पर तो परे असवर्ण झर् मिलेगा ही नहीं, जिस की व्यावृत्ति के लिये सवर्ण-ग्रहण चरितार्थ हो।

सूत्र में सवर्णमात्र झर् परे रहते लोपविधि इष्ट है, समान वर्ण की परता में आग्रह नहीं। शिण्ढि। शिण्ड्ढ। पिण्ढि। पिण्ड्ढ। यहाँ ढकार परे रहते डकार का लोप होता है।

इति हल्सन्धिः।

इति सन्धिप्रकरणं चतुर्थम्परिसमाप्तम् ॥

लिङ्गानुशासनं नाम पञ्चमं प्रकरणम् ।

यदाऽभूत्संस्कृतं लोकव्यवहारस्य गोचरः ।
लिङ्गं तदापि दुर्वेदं सुतरां मेनिरे बुधाः ॥१॥

किमङ्ग साम्प्रतं यत्र सङ्कोचं परमं श्रितम् ।
अल्पं विज्ञसमज्यासु केवलं तत्प्रयुज्यते ॥२॥

अनवद्ये पदस्तोमे निर्दुष्टेऽपि पदान्वये ।
साधुत्वाद्धीयते वाक्यं ध्रुवं लिङ्गविपर्ययात् ॥३॥

तस्माल्लिङ्गं बुभुत्सूनां बालानां हितकाम्यया ।
लिङ्गानुशासनं ह्यत्र पाणिनीयं विवृण्महे ॥४॥

संस्कृत में लिङ्गज्ञान भाषान्तरापेक्षया अधिक अपेक्षित है। यहां विशेष्य के लिङ्ग के अनुसार समानाधिकरण विशेषण का लिङ्ग होता है और उद्देश्य के लिङ्ग के अनुसार प्रायेण विधेय का भी। सर्वनाम भी लिङ्गविषय में नामों का अनुसरण करते हैं। लिङ्ग के अज्ञान, अयथार्थ ज्ञान अथवा विपर्यय ज्ञान से जो क्षति होती है वह कही नहीं जा सकती। लिङ्ग-विषयक भ्रंश से समस्त वाक्य भ्रष्ट हो जाता है, यहाँ तक कि वह श्राव्य (श्रवणार्ह) भी नहीं रहता, भले ही उसमें संस्कार-च्युति कुछ भी न हो, सुबन्त तथा तिङन्त पद सभी संस्कारवान् हों और क्रिया-कारक-सम्बन्ध सर्वथा निर्दुष्ट हो। जब संस्कृत लोकभाषा थी, जब इसका नाम ही 'भाषा' था, जब सामान्य जनता पांसुलपाद हालिक भी उदात्तादि स्वर-युक्त शब्दों का उच्चारण करते थे और जब **ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं चाधीयते** इस भाष्यवचन के अनुसार गाँव-गाँव में स्वाध्याय-घोष होता था तब भी सन्दर्भ शुद्धि के लिये लिङ्गज्ञान आवश्यक माना जाता था। यह ठीक है कि तब लिङ्गानुशासन की इतनी आवश्यकता नहीं थी, लोकव्यवहार से भी लिङ्ग सुगृहीत हो सकता था।

'लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य' ऐसा भाष्यकार का वचन भी है। पर इस तरह लिङ्गज्ञान चिरकाल-साध्य होता, सन्देहानास्कन्न तथा अभिव्यापक भी न होता। अतः लोकमात्र के सुहृद्भूत आचार्यपाणिनि ने लिङ्ग का अनुशासन करना प्रयोजनवान् जाना। पश्चाद्भावी कोषकारों ने भी नामों के साथ लिङ्ग का अनुशासन करना अपरिहार्य माना, नामों के पर्यायों अथवा नाना अर्थों के निर्देश मात्र से अपने को कृतार्थ नहीं समझा। अब जबकि संस्कृत लोकभाषा नहीं रही, ग्रन्थमात्र में व्यवस्थित तथा विद्वत्समाजमात्र-व्यवहार्य रह गई है, लिङ्गानुशासन की उपकारकता और बढ़ गई है। विद्वज्जन भी लिङ्गविषय में बहुधा स्खलन करते देखे जाते हैं। वे भी प्रतिदिन के व्यवहार की भाषा के प्रभाव से बच नहीं सकते और तत्तद्भाषा में प्रयुज्यमान तत्सम तथा तद्भव शब्दों के लिङ्ग से भ्रान्त होकर संस्कृत में लिङ्ग-व्यत्यास करते हैं। उनके प्रबोधन के लिये भी लिङ्गानुशासन इष्ट ही है।

अंशतः असाक्षात् रूप से लिङ्गानुशासन सूत्रकार ने अष्टाध्यायी में भी किया है। **स्त्रियां क्तिन्** इत्यादि सूत्र धातु से क्तिन् आदि प्रत्ययों का स्त्रीत्व के अभिधेय होने पर विधान करते हैं। **पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण** इत्यादि पुंस्त्व के अभिधेय होने पर संज्ञाविषय में 'घ' आदि विधान करते हैं तथा **नपुंसके भावे क्तः, ल्युट् च** इत्यादि नपुंसकत्व के अभिधेय होने पर क्त, ल्युट् आदि का विधान करते हैं। समस्त पदों के लिङ्ग को तो साक्षात् रूप से **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** इत्यादि सूत्रों से दर्शाते हैं। इस सूत्रसङ्घात के होने पर भी लिङ्ग विषय में बहुत कुछ वक्तव्य शेष रह जाता है, अतः सूत्रकार अष्टाध्यायी के अनुबन्ध के रूप में लिङ्गानुशासन नाम का पृथक् प्रकरण जोड़ते हैं।

स्वभावतः कुछ शब्द **त्रिलिङ्गी** होते हैं यथा—तटः। तटी। तटम्। शकटः। शकटी। शकटम्। शाटकः। शाटिका। शाटकम्। विषाणः (सींग)। विषाणी। विषाणम्।

कुछ **नियम से पुंलिङ्ग** होते हैं यथा—कायः। हस्तः। पाणिः। कुक्षिः। ग्रन्थिः। अलिः। दर्पणः। उपायः। अपायः। सर्गः। आपीडः। शेखरः। स्तबकः। समुद्गकः। मकरन्दः। मरन्दः। भागधेयः (=कर, बलि)। अलकः (लटा)। कुन्तलः (केश)।

कुछ **नियम से स्त्रीलिङ्ग** यथा—तनुः (=शरीर)। तनूः (=शरीर)। सम्पद्। विपद्। आपद्। प्रतिपद् (प्रथमातिथि)। प्रतिश्रुत् (गूंज)। चमूः

(=सेना)। चम्पूः (=गद्य-पद्यमय काव्य)। जम्बूः (जामुन)। आजूः (विष्टि, वेतन, कर्म)। अन्दूः (शृङ्खला, निगड)। वासू=वाला (नाटक में प्रयोक्तव्य)। दर्विः (कलछी)।

कुछ नियम से नपुंसक यथा—वनम्। उद्यानम्। किसलयम्। माल्यम्। प्रकीर्णकम् (=चामर)। पिच्छम् (मोर का पंख)। बर्हम् (मोर का पंख)। जम्बु, जाम्बवम् (जामुन)। भागधेयम् (=दैव)। केयूरम् (=बाहुबन्द)। दधि। मधु। पवित्रम् (=कुश)। यवसम् (घास)। अङ्गुलीयकम्। कुण्डलम्। कङ्कणम्। मुकुटम्।

कुछ स्त्री व पुँलिङ्ग दोनों यथा—मुष्टिः। अयं मुष्टिः। इयं मुष्टिः। मणिः। योनिः। तिथिः। वस्तिः (नाभि से नीचे का भाग)। बाहुः। भुजः। भुजा। कन्दुः (तन्दूर)। प्रणालः। प्रणाली। मरीचिः (=किरण)। इषुः(=बाण)। हनुः। मृत्युः। मुनिः। अयं मुनिः। इयं मुनिः। कपिः। अयः कपिः। इयं कपिः (=वानरी)।

कुछ पुन्नपुंसक—मण्डपः। मण्डपम्। (=जनाश्रय)। अष्टापदः (स्वर्ण)। अष्टापदम् (=स्वर्ण)। वलयः (=कटक=कड़ा)। वलयम्। जानुः। अयं जानुः। इदं जानु। किरीटः। किरीटम्। पल्लवः (कोंपल)। पल्लवम्। मुकुलः (अधखिली कली)। मुकुलम्। शाकः। शाकम्। दिवसः। दिवसम्। वासरः (=दिन)। वासरम्। दैवतः (=देवता)। दैवतम्। ओदनः। ओदनम्। वर्षः। वर्षम्।

पुँल्लिङ्ग आदि शब्दों में पुम्स् आदि भावप्रधान निर्देश हैं। पुंस्त्वं लिङ्गमस्येति पुँल्लिङ्गः (अर्थः)। स्त्रीत्वं लिङ्गमस्येति स्त्रीलिङ्गः। नपुंसकत्वं लिङ्गमस्येति नपुंसकलिङ्गः। वैयाकरण लिङ्ग को अर्थनिष्ठ मानते हैं, अतः मुख्यया वृत्त्या पुँल्लिङ्ग आदि विशेषण अर्थ के हैं, शब्दार्थ के अभेदोपचार से शब्द के ये विशेषण संगत होते हैं। अतः हम कहते हैं—यह शब्द पुँल्लिङ्ग है, यह स्त्रीलिङ्ग है, यह नपुंसकलिङ्ग है।

अथ पाणिनीयं लिङ्गानुशासनम्।

लिङ्गम्। (१) स्त्री॰ (२)। ये दो अधिकारसूत्र हैं। प्रथम अधिकार इस शास्त्र की समाप्ति तक है। द्वितीय अधिकार 'ताराधारा ज्योत्स्नादयश्च' इस सूत्र तक है।

३. **ऋकारान्ता मातृदुहितृस्वसृपोतृननान्दरः।** मातृ आदि ये पाँच ऋका-

रान्त प्रकृतियां स्त्रीलिङ्ग हैं। ङीप् के निषेध से ये प्रयोग में भी अनादिष्ट (ऋकारान्त रूप में) रहती हैं। कर्तृ आदि यौगिक शब्दों से तथा क्रोष्टृ आदि रूढ शब्दों से ङीप् प्रत्यय के आने से प्रयोग में ये ऋकारान्त नहीं रहते। तिसृ चतसृ—ये स्त्रीत्व में त्रि चतुर् के स्थान में आदेश हैं। अतः ये ऋकारान्त प्रकृतियां नहीं हैं।

४. **अन्यूप्रत्ययान्तो धातुः**। धातु से अनि, ऊ प्रत्यय द्वारा व्युत्पन्न शब्दरूप स्त्रीलिङ्ग होता है। उणादयो व्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि—यह शास्त्रान्तर का मत है। इस का आश्रयण करके प्रकृत सूत्र का निर्माण हुआ है—अनिप्रत्ययान्त—सरणिः (मार्ग)। धरणिः (पृथिवी)। धमनिः (नाड़ी, धौंकनी)। अमनिः (गति)। अवनिः। ऊ प्रत्ययान्त—वधूः। चमूः (सेना)। तनूः। खर्जूः। कच्छूः। कच्छूरस्यास्तीति कच्छुरः। दर्द्रूः—(दाद)। दर्द्रूरस्यास्तीति दर्द्रुणः। क्विप्प्रत्ययान्त कण्डू भी स्त्रीलिङ्ग है। कण्डूः। कण्डूरस्यास्तीति कण्डूलः। कर्षू करीषाग्नि (सूखे हुए ओपलों की अग्नि) अर्थ में पुँल्लिङ्ग है, नदी अर्थ में स्त्रीलिङ्ग है—**कर्षूः पुंसि करीषाग्नौ कर्षूर्नद्यां स्त्रियां मतः**।

सूत्र में प्रत्यय ग्रहण क्यों किया? दिव परिकूजने से क्विप् करके वकार को ऊठ् होने पर 'द्यूः'—यह शब्दरूप निष्पन्न होता है। यह विशेष्य-लिङ्गक रहेगा।

५. **अशनिभरण्यरणयः पुंसि च**। अनिप्रत्ययान्त अशनि (तडित्, बिजली)। भरणिः (नक्षत्र विशेष)। अरणिः (अग्नेर्योनिः, काष्ठ जिसे मथ कर अग्नि निकाली काति है)।—यह पुँल्लिङ्ग भी हैं। पूर्व सूत्र से इनकी स्त्रीलिङ्गता ही प्राप्त है। इयमयं वाऽशनिः। अथर्वसंहिता (७।१०९।४) में 'अशनि' का स्त्री० में प्रयोग आया है—वृक्षमिवाशन्या जहि यो अस्मान् प्रतिदीव्यति।

६. **मिन्यन्तः**। मि-प्रत्ययान्त तथा नि-प्रत्ययान्त शब्दस्वरूप स्त्रीलिङ्ग होता है—**मिप्रत्ययान्त**—नेमिः (प्रधि, चक्रान्त)। भूमिः। **निप्रत्ययान्त**—ग्लानिः।

७. **वह्निवृष्ण्यग्नयः पुंसि**। वह्नि, वृष्णि (वृष्णि वंश का मूल पुरुष) अग्नि—ये पुँल्लिङ्ग होते हैं। यह पूर्वसूत्र का अपवाद है।

८. **श्रोणियोन्यूर्मयः पुंसि च**। श्रोणि (कटि)। ऊर्मिः (लहर)। इयम् अयं वा श्रोणिः। अमर इसे स्त्रीलिङ्ग ही मानता है—**कटिः श्रोणिः ककुद्मती**।

९. **क्तिन्नन्तः**। क्तिन्प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग होता है। क्तिन्प्रत्यय स्त्रियां

क्तिन् से स्त्रीत्व के अभिधेय होने पर विहित है। कृतिः। भित्तिः। छित्तिः। मृतिः। भूतिः। सूतिः।

१०. **ईकारान्तश्च**। ई प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग होता है—अवीः (रजस्वला स्त्री)। तरीः (नौका)। स्तरीः (धूम्रां)। तन्त्रीः (वीणा की तार)। लक्ष्मीः। 'ई' औणादिक प्रत्यय है।

११. **ऊङाबन्तश्च**। ऊङ् प्रत्ययान्त तथा आबन्त (टाप्, डाप्, चाप् प्रत्ययान्त) स्त्रीलिङ्ग होते हैं। **ऊङन्त**—कुरूः (कुरोरपत्यं स्त्री)। ब्रह्मबन्धूः। निन्दितब्राह्मणी। **आबन्त**—विद्या। खट्वा। दिशा। केका। ईहा। स्पृहा। भिदा।

१२. **य्वन्तमेकाक्षरम्**। एकाच्क जो ईकारान्त, ऊकारान्त वह स्त्रीलिङ्ग होता है—श्रीः (श्रयन्त्येनाम्)। यहाँ 'श्रि' धातु से क्विप् परे दीर्घ हुआ है। 'ई' प्रत्यय नहीं है। भूः। पर प्रतिभू (अनेकाच्क) नियम से स्त्रीलिङ्ग नहीं। **वैदर्भी रीतिः सौभाग्यलाभप्रतिभूः पदानाम्,** यहाँ स्त्री० है, पर **मातृकागतानां प्रमादानां लेखका न प्रतिभुवः,** यहाँ पुंल्लिङ्ग है। प्रतिभूः=ज़ामिन।

१३. **विंशत्यादिरा नवतेः**। 'विंशति' से लेकर 'नवनवति' तक के संख्यावाचक शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं—**विंशत्या छात्रैः सम्भूय समुत्थितमत्र कर्मणि,** बीस छात्रों ने मिलकर कार्य किया। **विंशतिः पात्राणां त्रपुलेपं लम्भिता,** बर्तनों की एक कोड़ी को कलई कराई गई। **षष्टये (षष्ट्यै) विद्यास्नातकेभ्यो विद्यावारिधय उपाधयः प्रदिष्टाः**। स्मरण रहे विंशति आदि नवनवति तक संख्येयपरक होते हुए भी एकवचन में प्रयुक्त होते हैं।

१४. **दुन्दुभिरक्षेषु**। अक्ष (—पाशक) वाची 'दुन्दुभि' स्त्रीलिङ्ग होता है। अमर का पाठ भी है—**स्याद्भेर्यां दुन्दुभिः पुंसि स्यादक्षे दुन्दुभिः स्त्रियाम्**। **दुन्दुभ्या किल तत्कृतं पतितया यद् द्रौपदी हारिता,** पासे ऐसे पड़े कि द्रौपदी हारी गई।

१५. **नाभिरक्षत्रिये**। 'नाभि' जो क्षत्रियवाची न हो वह स्त्रीलिङ्ग होता है। इयं नाभिः (शरीराङ्ग)। **सा नौ नाभिः परमं जामि तन्नौ** (ऋ० १०।१०।४)। नाभिः कस्तूरिकामदः। इसीलिये कस्तूरी मृग को नाभिमृग भी कहते हैं।

१६. **उभावप्यन्यत्र पुंसि**। दोनों दुन्दुभि तथा नाभि उक्तार्थ से अन्यत्र पुंल्लिङ्ग होते हैं। दुन्दुभिर्नामाऽसुरः। दुन्दुभिः=वरुण।

नाभिर्मुख्यनृपे चक्रमध्यक्षत्रिययोः पुमान् ।
द्वयोः प्राणिप्रतीके स्यात् स्त्रियां कस्तूरिकामदे ॥ (मेदिनी)

मेदिनी के अनुसार प्राण्यङ्ग में भी 'नाभि' उभयलिङ्ग है ।
रभस के अनुसार भी प्राण्यङ्ग में 'नाभि' उभयलिङ्ग है—

मुख्यराट्क्षत्रिये नाभिः पुंसि प्राण्यङ्गके द्वयोः ।
चक्रमध्ये प्रधाने च स्त्रियां कस्तूरिकामदे ॥

अतः भारवि के

समुल्लसत्पङ्कजपत्रकोमलैरुपाहितश्रीण्युपनीवि नाभिभिः (किरात० ८।२४) इस पद्य में 'नाभि' का पुंल्लिङ्ग में प्रयोग उपपन्न होता है । अन्यथा 'कोमलैः' —यह दृढभक्तिः में 'दृढ' की तरह सामान्ये नपुंसक में प्रयोग जानना चाहिये ।

१७. **तलन्तः** । तल्प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग होता है । **तस्य भावस्त्वतलौ** (५।१।११९) से तल् भावार्थक तद्धित है । स्त्रीत्वविवक्षा में तलन्त से टाप् आता है—मनुष्यता । पशुता । गोता । पटुता । शुचिता । **ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल्** से समूहार्थ में तल् होता है । 'सहाय' शब्द से भी समूहार्थ में तल् होता है— ग्रामता । जनता । बन्धुता । सहायता । **ग्राम एकस्मिन्नधिकृतः स्थायुक उच्यते । ग्रामतायां तु गोप इति** । **स्थायुकोऽधिकृतो ग्रामे गोपो ग्रामेषु भूरिषु** (अमर) । **प्रायेणाज्ञाऽत्रत्या जनता । देवदत्तः स्वदेश उतं स्यूतं च वासो वस्ते, बहु च मान्यते बन्धुतया** । स्वार्थ में भी तल् प्रत्यय होता है, ऐसा तलन्त भी स्त्रीलिङ्ग होता है—देव एव देवता ।

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ (मनु० ७।८) ।

वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता (तै० सं० २।१।१।१) । **यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति** (निरुक्त० ७।१।४) ।

१८. **भूमिविद्युत्सरिल्लतावनिताभिधानानि** । भूमि के पर्याय स्त्रीलिङ्ग हैं—

भूर्भूमिरचलानन्ता रसा विश्वम्भरा स्थिरा ।
धरा धरित्री धरणी क्षोणी ज्या काश्यपी क्षितिः ॥
सर्वंसहा वसुमती वसुधोर्वी वसुन्धरा ।
गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी क्ष्माऽवनिर्मेदिनी मही ॥ (अमर)

उणादियों में 'पृथवी' रूप भी साधु है । **क्षितिक्षान्त्योः क्षमा**—इस अमर वचन से 'क्षमा भी पृथिवी अर्थ में साधु है । 'कु' का विरल प्रयोग है । 'कुमुद' आदि समस्त पदों में प्रयोग देखा जाता है—कौ मोदत इति कुमुदम् । कुजो भौमः ।

विद्युत् के पर्याय स्त्रीलिङ्ग हैं—

शम्पा-शतह्रदा-ह्रादिन्यैरावत्यः क्षणप्रभा ।
तडित्सौदामनी विद्युच्चञ्चला चपला अपि ॥ (अमर)

यहाँ अमर के पाठ में कुछ विवेचन की अपेक्षा है । तडित् तथा ह्रादिनी कड़कती बिजली का नाम होना चाहिये । जिसे 'वज्र' नाम से पुकारते हैं । ऐरावतेन एकदिक् **ऐरावती** । सुदाम्ना पर्वतेन एकदिक् **सौदामनी** । 'सौदा-मिनी' यह कोई शब्द नहीं ।

सरित् के पर्याय स्त्रीलिङ्ग होते हैं—

अथ नदी सरित् ।
तरङ्गिणी शैवलिनी तटिनी ह्रदिनी धुनी ।
स्रोतस्वती द्वीपवती स्रवन्ती निम्नगाऽऽपगा ॥ (अमर)

'ह्रादिनी' ऐसा भी पाठ है । 'स्रोतस्विनी' भी नदी का पर्याय है ।

लता के पर्याय स्त्रीलिङ्ग होते हैं—

वल्ली तु व्रततिर्लता ।

लता विशेष प्रतानिनी, वीरुध्, गुल्मिनी—भी स्त्रीलिङ्ग हैं । पर 'उलप' पुँल्लिङ्ग है ।

वनिता (स्त्री) के पर्याय स्त्रीलिङ्ग होते हैं—

स्त्री योषिद् अबला योषा नारी सीमन्तिनी वधूः ।
प्रतीपदर्शिनी वामा वनिता महिला तथा ॥

महिला के साथ **महेला** रूप भी प्रसिद्ध है । **'वनिता'** जातरागा स्त्री को भी कहते हैं । **'वधू'** अचिरोढा तथा स्नुषा को भी कहते हैं ।

१९. **यादो नपुंसकम्** । यादस् (नदीवाचक) नपुंसक होता है । नदी नाम होने से पूर्व सूत्र से स्त्रीत्व प्राप्त था । अमर का पाठ भी है—**यादांसि जल-जन्तवः** । नदीवाचक यादस् का प्रयोग विरल है । समुद्र के नामों में यादसां

पतिः, यादसां नाथः प्रसिद्ध हैं।

२०. **भाः स्रुक्-स्रग् दिग्-उष्णिग्-उपानहः।** भास् (सकारान्त, ज्योतिः), स्रुक् (स्रुच्=स्रुवा), स्रक् (स्रज्—प्रथमा, पुष्पमाला), दिक् (दिश्—प्रथमा), उष्णिक् (उष्णिह् छन्दोविशेष का नाम), उपानत् (उपानह्—प्रथमा)—ये स्त्रीलिङ्ग हैं। **येयं सूर्यादीनां भाः सा नैतेषां निजा भवति। तस्य भासा सर्वमिदं विभातीति श्रुतेः। अल्पेयं स्रुक्। अल्पं गृह्णात्याज्यम्। एतासां सुमनसां शोभनां स्रजमेकां ग्रथान। स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम्** (रघु० ८।४६)। **दिगियं प्रदर्शिता लक्ष्यसाधनायाः। लक्ष्यान्तराण्यप्यनयैव दिशा साध्यन्ताम्। इयमुष्णिक् छन्दः। इयं त्रिष्टुप्। इयं पूर्वोपानत्। इयमपरोपानत्। इमे उपानहौ।** यह जूते का दायाँ पैर है, यह बायाँ। ये दोनों पैर हैं।

२१. **स्थूणोर्णे नपुंसके च।** स्थूणा (स्त्री०)। स्थूणम् (नपुं०)। ऊर्णा (ऊन) स्त्री०। ऊर्णम् (ऊन) नपुं०। **स्थूणा काष्ठमयी द्विकर्णिका का नाम है** (दीक्षित)।

२२. **गृहशशाभ्यां क्लीबे।** यह नियमसूत्र है। गृह से परे स्थूणा, तथा शश से परे ऊर्णा उत्तरपद हो तो ये नपुंसक होते हैं। नपुंसक होने से ह्रस्व हो जाता है—**ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य। इदं गृहस्थूणम्। इदं शशोर्णम्। शशोर्णं शशलोमनि**—ऐसा अमर का पाठ भी है। स्नानीयवस्त्रक्रियया पत्त्रोर्णमिवोपयुज्यते (मालविका)। यहां 'पत्त्र' से परे उत्तरपद ऊर्णा का नपुंसक लिङ्ग में प्रयोग है। यहाँ पूर्व सूत्र से 'पत्त्रोर्णा' भी पक्ष में साधु होगा। **पत्त्रोर्णं धौतकौशेयम्**—अमर।'पत्त्रोर्ण' धुले हुए रेशम का नाम है।

२३. **प्रावृट्-विप्रुट्-रुट्-विट्-त्विषः।** प्रावृष् (बरसात), विप्रुष् (बूंद), रुष् (क्रोध), विष् (विष्ठा), त्विष् (ज्योति)—ये स्त्रीलिङ्ग हैं। **संवत्सरे प्रावृष्यागतायां प्र मण्डूका अवादिषुः** (ऋ० ७।१०३।६)। **न हि मुख्या विप्रुष उच्छिष्टं कुर्वन्ति। तथाप्येताः परिहरेत्।** मुंह से गिरती हुई बूँदे भोजन को जूठा नहीं बनातीं, तो भी इनका परिहार करे। **महत्या रुषाऽऽविष्टोऽयं तापसो मां स्म धाक्षीन्नः,** बहुत बड़े क्रोध से आविष्ट (व्याप्त) यह तपस्वी कहीं हमें जला न दे। **त्याज्यं विषोपहतं** (विषा उपहतं) **पयः। त्विषां पतिरहस्करः,** सूर्य ज्योतियों का स्वामी है।

२४. **दर्वि-विदि-वेदि-खनि-शान्य्-अश्रि-वेशि-कृष्य्-ओषधि-कट्यङ्गुलयः**

—ये स्त्रीलिङ्ग हैं । दर्विः । पाक्षिक ङीष् आने पर 'दर्वी' भी । **दर्विः कम्बिः खजाका च** (अमर) । **इयमेव पृथिवी वेदिः** (श० ब्रा० १२।८।२।३६) । **खनिः स्त्रियामाकरः स्यात्** (अमर) । शानि (शानी भी)=शाणः । 'अश्रि' नाम कोण का है । अमर का पाठ भी है—**कोणस्तु स्त्रियः पाल्यश्रिकोटयः ।** पालि, अश्रि, कोटि—ये समानार्थक स्त्रीलिङ्ग हैं । **चीयते बालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषिः ।** (मुद्रा० १।३) । **अवृष्ट्या क्लिष्टा कृषिः,** वृष्टि के अभाव से खेती नष्ट हो गई । **इयमोषधिरुत्तमा । एनां सेवस्व । कटिः श्रोणिः ककुद्मती** (अमर) । 'ककुद्मती' के साहचर्य से कटि और श्रोणि दोनों स्त्रीलिङ्ग हैं । **अङ्गुल्या निर्दिशत्यर्थम्, न च वाचा ब्रवीति ।**

२५. **तिथि-नाडि-रुचि-नालि-धूलि-किकि-केलि-च्छवि-रात्र्यादयः ।** तिथि आदि स्त्रीलिङ्ग हैं । अमर के अनुसार 'तिथि' पुंल्लिङ्ग भी है—**तिथयो द्वयोः ।** भारवि का प्रयोग भी है—**तस्य भुवि बहुतिथास्तिथयः** (किरात० १२।२) । यदि यहाँ 'तिथि' शब्द का स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग हो तो विशेषण 'बहुतिथ्यः' ऐसा होगा । डट् प्रत्यय है । तिथुक् आगम है । टित्त्व के कारण ङीप् प्रत्यय होना चाहिये । नैषध में श्रीहर्ष का प्रयोग भी है—**निखलान्निशि पूर्णिमा तिथीन्** (नैषध० २।७६) । **भङ्गस्तरङ्ग ऊर्मि र्वा स्त्रियां वीचिः** (अमर) । यहाँ काकाक्षिगोलक न्याय से 'वा' का सम्बन्ध ऊर्मि और वीचि दोनों के साथ है, अर्थात् ऊर्मि वीचि—दोनों पुंल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग हैं । धूलि स्त्री० है । अमर का पाठ भी है—

रेणु र्द्वयोः स्त्रियां धूलिः पांसुर्ना न द्वयो रजः ।

रेणु पुं० स्त्री० दोनों है । धूलि केवल स्त्री० । पांसु पुं० । रजस् नपुं० ।

'किकि' नारिकेल वृक्ष, किकीदिव सुवर्णचटक का नाम है । अन्य आभिधानिक 'केलि' को उभयलिङ्ग मानते हैं, पुंल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग । 'केलि' क्रीडा अथवा रमणार्थ क्रीडा को कहते हैं ।

२६. **शष्कुलि-राजि-कुट्य-अशनि-वर्ति-भ्रुकुटि-त्रुटि-वलि-पङ्क्तयः ।** शष्कुलि कर्ण-मार्ग को कहते हैं, कचौड़ी को भी । राजि=पङ्क्ति । ङीष् होकर राजी । राजयः (राज्यः) सन्त्यस्येति राजीवं कमलम् । कुटि (कुटिया) । अशनि (बिजली) । अमर इसे उभयलिङ्ग मानता है—**अशनिर्द्वयोः ।** वर्ति बत्ती का नाम है—**इयममृतवर्तिर्नयनयोः** (उ० रा० च०) । भ्रुकुटिः (भ्रुवोः कुटिः कौटिल्यम्) । **आविशतीमं नरापसदं क्रोधः । बद्धाऽनेन भ्रुकुटिः ।** भ्रुकुटि को भ्रूकुटि, भ्रकुटि, भृकुटि—ऐसा भी लिखा जाता है । त्रुटि=लेश, कण । सूक्ष्म

एला (छोटी इलायची) को भी 'त्रुटि' कहते हैं। वलि नाम वल, झुरी का है। वलयः सन्त्यस्य वलिनः, वलिभः। **वलीमुखो वानरः**। तिसृणां वलीनां समाहारः त्रिवलि। **दृश्यते चारुपङ्क्तिरलक्तकाङ्का** (विक्रमोर्वशी ४।६)।

२७. **प्रतिपदापद्विपत्सम्पच्छरत्संसत्परिषदुषःसंवित्क्षुत्पुन्मुत्समिधः**। **प्रतिपत्पाठशीलस्य विद्येव तनुतां गता** (रा० ५।५६।३१)। **महतीयमापद् उपनता। विपदेषा भयङ्करा। परभोग्या भवति सम्पदनपत्यानाम्**, निःसन्तान पुरुषों की सम्पत्ति को दूसरे भोगते हैं। **विद्वद्भूयिष्ठा संसदेषा। श्रोत्रियबहुला परिषदियम्। इयं व्युच्छत्युषाः**, पौ फट रही है। **इयं संविन्नोऽस्तु, न वयं मिथः कलहायिष्यामहे**, यह हमारी प्रतिज्ञा हो कि हम आपस में नहीं झगड़ेंगे। **हा वराको महत्या क्षुधा पीड्यते। शक्यं नाम श्वमांसादिभिरपि क्षुत् प्रतिहन्तुम्**—यहाँ शक्यम्—यह सामान्योपक्रम में नपुंसक है। **पुदिति नरकस्याख्या।** तस्यास्त्रायत इति पुत्रः। **महतीनां मुदामवसरोऽयम्। समिध आहर सौम्य! इमाः समिधः।**

२८. **आशीर्धूःपूर्गीर्द्वारः**। **अमोघाः प्रतिगृह्णन्तावर्घ्यानुपदमाशिषः** (रघु० १।४४)। आशिस् सकारान्त स्त्री०। **इयमस्याक्षस्य धूर्भग्ना**। अक्षस्य धूः= अक्षधूः। **तिसृणां पुरां भेत्ता त्र्यम्बको देवः। अर्थवत्य इमा गिरः सदृश्योऽस्य विचक्षणस्य। दीयन्तां सर्वा द्वारः, रजोविक्षिपो वाति वातः**, सब द्वार बन्द कर दिये जायें, धूलि उड़ाती हुई वायु चल रही है। **वाग्घि करणमर्थाभिधानस्य। अनया द्वारा सर्वमभिधीयते।** द्वार् रकारान्त स्त्री० है। द्वार (अकारान्त) नपुंसक है। 'अस्य द्वारा' ऐसा प्रचरित प्रयोग असाधु है।

२९. **अप्सुमनस्समा-सिकता-वर्षाणां बहुत्वं च**। अप् (जल), सुमनस् (पुष्प), समा (वर्ष, संवत्सर), सिकता (रेत), वर्षा (वरसात)—ये स्त्रीलिङ्ग हैं। इन का बहुवचन में प्रयोग होता है। **आपस्तावत्। इमा आपः** (जल लाइये, यह जल है)। **अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्** (मनु० १।८)। **अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति** (मनु० ५।१०९)। 'अपान्नपात्' अग्नि का नाम है। 'अप्' नित्य बहुवचनान्त प्रयुक्त होता है। सुमनस् प्रायः बहुवचन में प्रयुक्त होता है। अतः वृत्तिकार द्विवचनान्त प्रयोग करता है—**अघ्रासातां सुमनसौ**। 'समा' प्रायेण बहुवचनान्त है। आचार्य ने स्वयम् इसका एकवचन में प्रयोग किया है—**समां समां विजायते** (५।२।१२)। **समांसमीना गौः**। **तेनाष्टौ परिगमिताः समाः कथं चित्** (रघु० ८।९२)। **दुर्लभं सिकतासु तैलम्**। सिकताकण (रेत के दाने) के अर्थ में एकवचन में भी प्रयोग निर्दोष है—**एका सिकता**

तैलदानेऽसमर्था, खार्यप्यसमर्था (भाष्य)। 'वर्षा' नियम से बहुवचनान्त है—कदाचिद् वर्षास्वपि न वर्षति वारिवाहः, कभी-कभी बरसात (वर्षर्तु) में भी मेंह नहीं बरसता। ग्रीष्मे पञ्चाग्निमध्यस्थो वर्षासु स्थण्डिलेशयः (याज्ञ० ३।५२)। इन शब्दों के विषय में अमर का ऐसा वचन है—

> आपः सुमनसो वर्षा अप्सरः सिकता समाः।
> एते स्त्रियां बहुत्वे स्युरेकत्वे प्युत्तरत्रयम्॥

इस वचन के अनुसार अप्सरस् का बहुत्व भी प्रायिक है। अतः उर्वशी नामाप्सराः—एकवचनान्त प्रयोग उपपन्न होता है।

देवतावाची सुमनस् पुं० है—सुपर्वाणः सुमनसः (अमर)।

३०. स्रक्-त्वग्-ज्योग्-यवागू-वाग्-नौ-स्फिजः। स्रक् (पुष्पमाला) के विषय में पूर्व कह चुके हैं। उन्मथिता त्वगस्य देवदारोः करिणा कण्डूलेन कण्डूं विनिनीषुणा, खुजलाते हुए हाथी ने इस देवदारु वृक्ष की छाल उखाड़ दी। ज्योक् का अर्थ अप्रसिद्ध है। वाच् क्विप्प्रत्ययान्त है। धातु के अच् को दीर्घ होता है। वक्तीति वाक्।

> वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः।
> तां यः स्तेनयेद् वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः॥ (मनु० ४।२५६)।

यवागू—यवाग्वा जुहोति। नौ—इयं नौस्तितीर्षूणां भवसागरम्। स्फिक् (स्फिच् की प्रथमा, नितम्ब)। गुर्वी स्फिगस्या अङ्गनायाः, तेनेयं मन्थरं याति।

३१. तृटि-सीमा-संबध्याः। तृटि तथा सम्बध्या—यह अत्यन्त अप्रसिद्ध हैं। कोषकार भी इन्हें संग्रहीत नहीं करते। सीमन्, सीमा (डाबन्त) दोनों स्त्रीलिङ्ग हैं—परा सीमा स्नेहस्य। अविदिता सीमा यासां ता अविदितसीमानो विभूतयः, ऐश्वर्य जिसकी सीमा जानी नहीं गई।

३२. चुल्लि-वेणि-खार्यश्च। इष्टकचिता चुल्लिरेषाऽत्यल्पेति न साधीय-उपकरोति पाकस्य। वेण्या व्याकुलाया बन्धनं वेणिसंहार उक्तः कविना। तिसृणां वेणीनां समाहारस्त्रिवेणि। उप खार्यां द्रोणः, द्रोण खारी से अधिक होता है। अधिकः खार्या द्रोणः।

३३. तारा-धारा-ज्योत्स्नादयश्च। या इमास्तारा दिवि द्योतन्ते ताः स्वयंज्योतिषः। निशिताऽस्य क्षुरस्य धारा। मैनं स्प्राक्षी र्वत्स! अहो अभिख्या ज्योत्स्नायाः, चाँदनी की कितनी शोभा है।

३४. **शलाका स्त्रियां नित्यम्**। शलाका (टाबन्त) नित्य स्त्रीलिङ्ग होता है। **इयं तन्तुवायशलाका। इदं हि साधकतमं करणं वानस्य**। सूत्र में नित्य-ग्रहण क्यों किया? पूर्व सूत्र अथवा पूर्व सूत्रों से विकल्प की अनुवृत्ति नहीं, जिसकी निवृत्ति के लिये नित्य ग्रहण चरितार्थ हो। ठीक है। यही नित्य-ग्रहण इस बात का ज्ञापक है कि पूर्व सूत्रों में जिन तिथि, आदि शब्दों का स्त्रीत्व कहा है, वह नित्य नहीं। वे लिङ्गान्तर (पुं०) में भी देखे जाते हैं।

इति स्त्रीलिङ्गाधिकारः।

अथ पुँल्लिङ्गाधिकारः।

३५. **पुमान्**। यह अधिकार है। वक्ष्यमाण सूत्रों में पुमान् (पुँल्लिङ्ग) यह अधिकृत जानना चाहिये।

३६. **घञन्तः**। घञ्प्रत्ययान्त तथा अप्प्रत्ययान्त पुँल्लिङ्ग होते हैं—(**घञ्**)—रागः। पाकः। त्यागः। अवतारः। अवस्तारः। अध्यायः। न्यायः। (**अप्**)—करः। गरः। गदः। मदः। स्तवः। पवः। **समजः=समुदायः। समजः पशूनाम्। महानस्य रागः संगीते। ओपः पाको धीयतेऽस्यामित्योषधिः। प्रशस्योऽस्य त्यागोऽर्थानाम्। रम्य एष नद्या अवतारः** (घाट)। **अवस्तारो जवनिका भवति। स्वस्य शाखाया अध्ययनं स्वाध्याय इत्युच्यते**। वेदाध्यायः (वेद का पढ़ना)। अध्याय नाम वेद का भी है—**उभयमन्वध्यायम्** (निरुक्त), नञ् वेद में प्रतिषेध तथा उपमा—दोनों अर्थों में आता है। 'न्याय' अभ्रेष, औचित्य, युक्ति, स्वर आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। स्वर अर्थ में कुमारसंभव में प्रयोग है—

उद्घातः प्रणवो यासां न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम्।
कर्म यज्ञः फलं स्वर्गस्तासां त्वं प्रभवो गिराम्॥ (२।१२)

जिन वाणियों का उपक्रम 'ओम्' से होता है, जिनका तीन स्वरों (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित) से उच्चारण होता हैं जिनका प्रतिपाद्य कर्म यज्ञ है और फल स्वर्ग है, उनका तू स्रोत है। इस सूत्र पर दीक्षित का कहना है कि नपुंसकत्व-विशिष्ट भाव के अभिधान में क्त, ल्युट् के विधान होने से घञ्, अप् होंगे नहीं, तथा स्त्रीत्व-विशिष्टभाव के अभिधान में क्तिन् आदि से घञ् आदि बाधित हो जायेंगे, अतः पारिशेष्य से पुंस्त्व-विशिष्ट भाव अर्थ में घञ्, अप् होंगे। कर्मादि के अभिधायक जो घञ्, अप्, तदन्त तो विशेष्यलिङ्गक होंगे (विशेष्य का लिंग लेंगे)। अत एव सम्बन्धमनुवर्तिष्यते—ऐसा भाष्यस्थ प्रयोग उपपन्न होता है। शेषं पुंवत् इत्यादि प्रयोग भी देखा जाता है।

३७. घाजन्तश्च । घप्रत्ययान्त तथा अच्प्रत्ययान्त पुँल्लिङ्ग होते हैं। घ— आकरः । **अयमाकरो गुणानाम्** । **एत्य तस्मिन्कुर्वन्तीत्याकरः** । आलयः=गृह । **आलीयतेऽस्मिन्नित्यालयः** । **निकाय्यनिलयालयाः** (अमर) । दन्तच्छदः । ओष्ठः । दन्ताश्छाद्यन्तेऽनेनेति । गोचरः । संचरः (=मार्गः) । वहः (=स्कन्धः) । व्रजः (=गोष्ठः) । व्यजः (तालवृन्तम्, पंखा) । आपणः (एत्य पणन्तेऽत्रेति, दुकान) । निगमः (वेद) ।

'गोचर' का मूल अर्थ है—चरागाह, गवादनी । गावश्चरन्त्यत्रेति । इन्द्रिय-विषय को भी 'गोचर' कहते हैं—**इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्**—(कठ० उ०) । **न रसानुभूतिः सर्वस्य गोचरः** । भागवतकार 'गोचर' शब्द को स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग करता है—**स्त्रीशूद्रद्विजवन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा** । यह उसका प्रमाद है । 'श्रुतिगोचरा'—यह षष्ठी तत्पुरुष है । वहुव्रीहि नहीं । अतः वाच्यलिङ्ग नहीं हो सकता । अच्—चयः । जयः । अयः (शुभ दैव) । क्षयः । उपसर्गयोग से संचय, समुच्चय, विचय, प्रचय आदि भी पुँल्लिङ्ग हैं । इसी प्रकार जय, विजय, संजय, पराजय आदि भी पुँल्लिङ्ग हैं । **निर्गतोऽयोऽस्मादिति निरयो नरकम्** । **जाने ऽचिरात्ते समुदेष्यत्ययः**, मैं समझता हूँ जल्दी ही तेरा भाग्य उदय होगा । **अयः शुभावहो विधिः** (अमर) ।

३८. **भय-लिङ्ग-भग-पदानि नपुंसके** । भयम् । यह अच्प्रत्ययान्त है । पूर्व-सूत्र से पुँल्लिङ्गता प्राप्त थी । **महद्भयमुपस्थितम्** । **अदूर आस्कन्तारः । सद्यः कर्तव्यो दुर्गसंश्रयः** । लिङ्गं मेढ्रं भवति । अच्प्रत्ययान्त होने से पूर्वसूत्र से पुंस्त्व प्राप्त था । **भगं स्त्रीयोनिः** । भग घ-प्रत्ययान्त है । इसे भी पूर्वशास्त्र से पुंस्त्व प्राप्त था । भग नानार्थक है । इसके नाना अर्थ ये हैं—

भगं श्रीकाममाहात्म्यवीर्ययत्नार्कयोनिषु (अमर) ।

अर्क (सूर्य) अर्थ में तो 'भग' पुँल्लिङ्ग ही है । योनि से अतिरिक्त अर्थ में दूसरे कोषकार 'भग' को पुँल्लिङ्ग मानते हैं—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥

वेद में भी ऐश्वर्य आदि अर्थ में 'भग' पुँल्लिङ्ग है—**आ नो भर भगमिन्द्र द्युमन्तम्** (ऋ० ३।३०।३९) ।

'पद' अच्प्रत्ययान्त है । पद्यत इति पदम् ।

३९. **नङन्तः ।** नङ्प्रत्ययान्त पुँल्लिङ्ग होता है—यज्ञः । यत्नः । विश्नः । प्रश्नः । रक्ष्णः । विश्न तथा रक्ष्ण अप्रसिद्ध हैं ।

४०. **याच्ञा स्त्रियाम् । याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा** (मेघ०) । नङ्प्रत्ययान्त होने से पूर्व सूत्र से पुंस्त्व प्राप्त था ।

४१. **क्यन्तो घुः ।** घुसंज्ञक धातुओं से 'कि' प्रत्यय करके व्युत्पादित शब्द पुं० होता है । प्रधिः (नेमि) । उपधिः (छल, कपट) । उपाधिः (विशेषण) । विधिः (विधान, दैव)। निधिः । सन्निधिः (समीपता, विद्यमानता) । जलधिः । उदधिः (समुद्र) । शेवधि (=निधि) । **विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेहमस्मि,** विद्या ब्राह्मण के पास आई (और बोली), मेरी रक्षा कर, मैं तेरा निधि हूँ । आधि (मानसी पीड़ा) । **वामाः कुलस्याधयः,** इससे विपरीत आचरणवाली स्त्रियाँ कुल का रोग होती हैं । यहाँ आधि का औपचारिक प्रयोग है । व्याधिः (शारीरिक रोग) । 'कि' प्रत्यय जिसे लिड्वद्भाव कहा है वह यहां विवक्षित नहीं । ददिर्गाः । गा दत्तवान्, गा दत्तवती ।

४२. **इषुधिः स्त्री च ।** किप्रत्ययान्त 'इषुधि' स्त्री० भी होता है । पूर्वसूत्र से केवल पुँल्लिङ्गता ही प्राप्त थी । **अयम् इषुधिः । इयमिषुधिः । इषुधिः सङ्काः पृतनाश्च सर्वाः पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः** (ऋ० ६।७५।५) । यहाँ इषुधि पुं० है । अमर भी इषुधि को उभयलिङ्ग मानता है—**तूणोपासङ्गतूणीर-निषङ्गा इषुधिर्द्वयोः ।** तूण, उपासङ्ग, तूणीर, निषङ्ग—ये सब पुँल्लिङ्ग हैं ।

४३. **देवासुरात्म-स्वर्ग-गिरि-समुद्र-नख-केश-दन्त-स्तन-भुज-कण्ठ-खड्ग-शर-पङ्काभिधानानि ।** देव, असुर आदि के नाम पुँल्लिङ्ग होते हैं—

देवनाम—

> **अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधाः सुराः ।**
> **सुपर्वाणः सुमनसस्त्रिदिवेशा दिवौकसः ॥**
> **आदितेया दिविषदो लेखा अदितिनन्दनाः ।**
> **आदित्या ऋभवोऽस्वप्ना अमर्त्या अमृतान्धसः ॥**
> **बर्हिर्मुखा क्रतुभुजो गीर्वाणा दानवारयः ।**
> **वृन्दारका दैवतानि पुंसि वा देवताः स्त्रियाम् ॥**

इन पद्यों में 'अमराः' आदि में बहुत्व अतन्त्र है । अमर आदि देव के पर्याय हैं । त्रिदशाः=तृतीया यौवनाख्यैव दशा येषां ते । अत एव निर्जराः । शोभनं पर्व चरितं येषां ते सुपर्वाणः । दिवम् ओको वासस्थानं येषां ते दिवौकसः । अदन्त 'दिव' शब्द भी है । अथवा पृषोदरादि होने से साधुत्व जानना चाहिये ।

गीर् एव निग्रहानुग्रहसमर्थो वाणो येषां ते गीर्वाणाः। प्रशस्तं वृन्दमस्त्येषां वृन्दारकाः। 'दैवत' (देवता एव दैवतम्) विकल्प से पुं०। देवता नियतस्त्री-लिङ्ग है। अमृतम् अन्धोऽन्नं येषां तेऽमृतान्धसः। अन्धस् नपुं० सकारान्त प्राति-पदिक है।

असुरनाम —

असुरा दैत्यदैतेयदनुजेन्द्रारिदानवाः।
शुक्रशिष्या दितिसुताः पूर्वदेवाः सुरद्विषः॥

यहाँ 'असुराः' आदि में बहुवचन अतन्त्र है। दितेरपत्यं दैत्यः। ङीषन्त 'दिती' शब्द से ढक् होने पर दैतेय (दित्या अपत्यम्)। दनोरपत्यं दानवः। दनो-र्जातः=दनुजः। पूर्वं देवाः पूर्वदेवाः, पूर्वे च ते देवाश्च। अनयाद् देवत्वाद् भ्रष्टा इति स्वामी।

आत्म-नाम—**क्षेत्रज्ञः। आत्मा। पुरुषः।**

स्वर्ग-नाम—**(स्वरव्ययं) स्वर्ग-नाक-त्रिदिव-त्रिदशालयाः।**
सुरलोकः..............................॥

यहाँ स्वर् अव्यय है। स्वर्ग, नाक, त्रिदिव, त्रिदशालय, सुरलोक—ये पुँल्लिङ्ग हैं।

गिरि (पर्वत) नाम—

महीध्रे शिखरि-क्ष्माभृदहार्य-धर-पर्वताः।
अद्रि-गोत्र-गिरि-ग्रावाऽचल-शैल-शिलोच्चयाः॥

महीं धरतीति महीध्रः। महीधरः भी। भूधरः भी। शिखराणि सन्त्यस्येति शिखरी। सानुमान् भी। सानवः सानूनि वा सन्त्यस्य। क्ष्मां बिभर्तीति क्ष्मा-भृत्। भूभृत् भी। अहार्यः—हर्तुं न शक्यः। पर्ववान् पर्वतः। ग्रावन् नका-रान्त प्रातिपदिक है। शैलः—शिलानामयम्। शिलानाम् उच्चयः समुच्चयः शिलोच्चयः।

समुद्र-नाम—

समुद्रोऽब्धिरकूपारः पारावारः सरित्पतिः।
उदन्वान् उदधिः सिन्धुः सरस्वान् सागरोऽर्णवः॥
रत्नाकरो जलनिधि र्यादःपतिरपां पतिः। (अमर)

आपो धीयन्ते स्मिन्निति अब्धिः। न कुं (पृथ्वीं) पृणाति मर्यादापालना-दिति **अकूपारः।** पारमावृणोतीति **पारावारः।** अर्णांसि जलानि सन्त्यस्येत्य-**र्णवः।** यादसां नदीनां यादसां जलजन्तूनां वा पतिः **यादःपतिः।**

नख-नाम—पुनर्भवः कररुहो नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम् । अमर के अनुसार नख तथा नखर पुन्नपुंसक हैं ।

केश-नाम—चिकुरः कुन्तलो वालः कचः केशः शिरोरुहः (अमर) ।

दन्त-नामः—रदना दन्ता रदाः (अमर) ।

बहुवचन अतन्त्र है । द्विरद (हस्ती) में 'रद' का प्रयोग प्रसिद्ध है । स्तन तथा कुच पुंल्लिङ्ग हैं । वक्षोजः, वक्षोरुहः (पुं०) इसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं ।

भुज-नाम—भुजबाहू प्रवेष्टे दोः । (अमर)

रघुवंश में दोस् का नपुंसकलिङ्ग में प्रयोग आया है । यह लिङ्गानुशासन से समर्थित नहीं ।

तमुपाद्रवदुद्यम्य दक्षिणं दो र्निशाचरः (१५।२३) ।

कण्ठ, गल पुँल्लिङ्ग हैं ।

खड्ग-नाम—खड्गे तु निस्त्रिंश-चन्द्रहासाऽसि-ऋष्टयः ।
कौक्षेयको मण्डलाग्रः करवालः कृपाणवत् ॥ (अमर)

निर्गतस्त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्यः=निस्त्रिंशः । कुक्षौ भवः कौक्षेयकः । मण्डलाकृति अग्रमस्येति मण्डलाग्रः । श्लोक में 'वति' प्रत्यय पूरणार्थ है ।

शर (बाण) के नाम—

पृषत्क-बाण-विशिखा अजिह्मग-खगाशुगाः ।
कलम्ब-मार्गण-शराः पत्री रोपः...... ॥

पर्षति सिञ्चति असृजा पृषत्कः ।

पङ्कनाम—निषद्वरस्तु जम्बालः पङ्कोऽस्त्री शादकर्दमौ (अमर) ।

निषीदन्तं वृणोतीति निषद्वरः । अमर के अनुसार 'पङ्क' नपुंसक भी है । शीयन्तेऽस्मिन्निति शादः । 'शाद' नव तृण को भी कहते है । शाद्वला भूः । हरी-हरी घास वाली भूमि ।

४४. त्रिविष्टपत्रिभुवने नपुंसके । यह पूर्व सूत्र का अपवाद है । तृतीयं विष्टपं त्रिविष्टपम् । तृतीयं भुवनं त्रिभुवनम् । 'त्रिभुवन' का यह अर्थ (स्वर्ग) अन्यत्र अविदित है । इसे ही वेद में 'तृतीयं धाम' कहा है ।

४५. द्यौः स्त्रियाम् । स्वर्गवाची द्यो तथा दिव् स्त्री० हैं । अमर का पाठ भी है—द्योदिवौ द्वे स्त्रियां क्लीबे त्रिविष्टपम् । मनीषितं द्यौरपि येन दुग्धा (रघु० ५।३३) ।

४६. इषुबाहू स्त्रियां च । यह भी पूर्वसूत्र (४६) का अपवाद है । वेद में 'इषु' प्रायः स्त्रीलिङ्ग है—

इषूर्या एवां संविद्म ता नः सन्तु सदा शिवाः (अथर्व० ११।६।६) ।
यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे (शु० यजु० १६।३) । लोक में भी स्त्रीलिङ्ग में व्यवहार देखा जाता है—

इष्वैकया मया विद्धो बालिशेन वलीमुखः ।
अनुद्धाराः शरास्तेन रोपिता मयि वाङ्मयाः ॥ अभिनन्दकृत रामचरित (१।१०२) ।

मैंने मूर्खतावश एक बाण से वानर (वाली) को बींध दिया (पर) उसने मुझमें (अनेक) वाणीरूपी बाण चुभो दिए जिन्हें निकाला नहीं जा सकता ।

अमर भी इषु शब्द को उभयलिङ्ग मानता है—**रोप इषुर्द्वयोः** । बाहु स्त्री० विरलप्रयोगतम है ।

४७. **बाणकाण्डे नपुंसके च ।** बाण शब्द दूसरे कोषकारों के अनुसार पुं० ही है । प्रयोग भी यत्र तत्र पुँल्लिङ्ग में मिलता है । 'काण्ड' बाण तथा दूसरे अर्थों में पुन्नपुंसक है—

काण्डोऽस्त्री दण्डबाणार्ववर्गावसरवारिषु (अमर) ।

'काण्ड' का वर्ग अर्थ 'कर्मकाण्ड' आदि शब्दों में उपलब्ध होता है । अथवा ग्रन्थ के वर्ग आदि विभाग के अर्थ में—इति **वाक्यपदीय आगमसमुच्चयो नाम प्रथमं काण्डम्** (प्रथमः काण्डः) । 'अवसर' अर्थ 'अकाण्डे' (=अनवसरे=अकस्मात्) पद में प्रसिद्ध है—**अकाण्डविवर्तनदारुणो विधिः**, दैव जो एकदम बदलने से क्रूर हो गया है ।

४८. **नान्तः** । नान्त प्रातिपदिक पुँल्लिङ्ग होता है—राजन् (राजा) । ऋभुक्षिन् (ऋभुक्षा) । तक्षन् (तक्षा) । वृत्रहन् (वृत्रहा) । इसका अपवाद 'मन्-द्वयच्कोऽकर्तरि' नपुंसकप्रकरण में पढ़ेंगे ।

४९. **क्रतु-पुरुष-कपोल-गुल्फ-मेघाभिधानानि** । क्रतु (यज्ञ) आदि के नाम पुँल्लिङ्ग होते हैं । क्रतुः । यज्ञः । यागः । सवः । मन्युः । मखः । सप्ततन्तुः । अध्वरः । ध्वरति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः । (निरुक्त) न ध्वरति हिनस्ति यजमानम् इत्यध्वरः ।

पुरुषनाम—पुम्स् (पुमान्) । पञ्चजनः । पूरुषः ।

मनुष्या मानुषा मर्त्या मनुजा मानवा नराः ।
स्युः पुमांसः पञ्चजनाः पुरुषाः पूरुषा नरः ॥

श्लोक में बहुवचन अविवक्षित है । मनोरपत्यं जातिः **मनुष्यः** । **मानुष** इत्यपि । मनोरपत्यं पुमान् **मानवः** । **'पुरुष'** में दीर्घत्व अन्येषामपि दृश्यते

(६।३।१३७) से हुआ है। नरः 'नृ' का प्र० बहु०।

कपोल, गण्ड—ये पुं० हैं। गण्डस्थल (नपुं०) में स्थलशब्द प्रशंसावाचक है। कपोलों की प्रशंसा उन की विस्तीर्णता में है। अतः प्रशस्तौ गण्डौ गण्डस्थले।

गुल्फ, पादग्रन्थि—पुं० हैं। गुल्फः प्रपदः ऐसा सिद्धान्तकौमुदीस्थ पाठ है। यह चिन्त्य है। 'प्रपद' में पुंस्त्व दुर्लभ है। **प्रारम्भः पदस्य प्रपदम्**—नपुंसकत्व ही साधु है। अन्यच्च। गुल्फ प्रपद नहीं। 'प्रपद' पादाग्र में रूढ है।

मेघनाम—

> **अभ्रं मेघो वारिवाहः स्तनयित्नुर्बलाहकः।**
> **धाराधरो जलधरस्तडित्वान् वारिदोऽम्बुभृत्॥**
> **घन-जीमूत-मुदिर-जलमुग्-धूमयोनयः।**

'अभ्र' को छोड़कर शेष सभी पुं० हैं। **बलाहकः**=वारीणां वाहकः। पृषोदरादिः। जीमूतः=जीवनस्य मूतः=जलस्य प्रसेवः। 'जीवन' नाम पानी का है। **जीवनं भुवनं दकम्**। मोदन्तेऽनेनेति मुदिरः।

५०. अभ्रं नपुंसकम्। यह (४९)का अपवाद है। अपो विभर्त्तीति अभ्रम्। अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टिः (श० ब्रा०)।

५१. उकारान्तः। प्रभुः। इक्षुः। 'हनु' उभयलिङ्गक है। उभयलिङ्गता में भी ऐसा विवेक है—

> **हनुर्हट्टविलासिन्यां नृत्यारम्भे गदे स्त्रियाम्।**
> **द्वयोः कपोलावयवे ... ...** ॥ (मेदिनी)

हट्टविलासिनी=रूपाजीवा=वेश्या। करेणु (हाथी) पुं० है, हथिनी अर्थ में स्त्री०।

करेणुरिभ्यां स्त्री नेभे(ना इभे)—अमर। 'जानु' भी उभयलिङ्ग है—**जानूरुपर्वाष्ठीवदस्त्रियाम्** (अमर)। जानु, ऊरुपर्व, अष्ठीवत्—तीनों उभयलिङ्ग हैं।

५२. धेनु-रज्जु-कुहु-सरयु-तनु-रेणु-प्रियङ्गवः स्त्रियाम्। धेनु आदि उकारान्त प्रातिपदिक स्त्री० हैं। यह (५१) का अपवाद है। धिनोतीति धेनुः। **धेनुं प्राहुर्मातरं मङ्गलानाम्। अतस्तामभ्यर्चन्ति हिन्दवः। रज्ज्वा समुद्धरति शारदमुदकमुदपानात्**, कूंए से रस्सी द्वारा ताज़ा जल निकालता है। तनु=शरीर। **तन्वीयं ते तनुरसहा सूर्यातपस्य**। 'रेणु' पुं० भी है। **रेणुर्द्वयोः** (अमर)।

५३. **समासे रज्जुः पुंसि च।** समास के उत्तरपद के रूप में प्रयुक्त रज्जु पुं० भी होता है—**मुञ्जरज्जवश्चिरस्थायिन्यो भवन्ति। चिरस्थायिनो वा भवन्ति।**

५४. **श्मश्रु-जानु-वसु-स्वाद्व् अश्रु-जतु-त्रपु-तालूनि नपुंसके।** यह (५१) का अपवाद है। श्मश्रूणि सन्त्यस्येति श्मश्रुलः (दाढ़ी मूँछ वाला)। श्मश्रु=मुख-लोम। 'जानु' अमर के अनुसार उभयलिङ्ग है। पुं० वा नपुं०। किरण, अग्नि, कुबेर— इन अर्थों में 'वसु' पुं० है। स्वादु (स्वाद्य वस्तु) विशेष्य रूप में नपुं० है। **अश्रूणि विमुच्य याति प्रसादं शोककलुषा धीः। जतुनो विकारा जातुषा अलङ्कारा वह्निभोज्या भवन्ति। त्रपुणो विकारास्त्रापुषाणीमानि पात्राणि। तालुनि भवं तालव्यं वर्णम्** (तकारादि)।

५५. **वसु चार्थवाचि। स्वयं प्रदुग्धेऽस्य गुणैरुपस्नुता वसूपमानस्य वसूनि मेदिनी** (किरात०)। वसूनि सन्त्यस्येति वासवः।

५६. **मद्गु-मधु-सीधु-शीधु-सानु-कमण्डलूनि नपुंसके च।** मद्गु आदि उकारान्त होने से पुं० तो हैं ही, नपुंसक भी होते हैं। अयं मद्गुः। इयं मद्गुः। 'मधु' मद्य, पुष्परस तथा क्षौद्र (शहद)—इन अर्थों में नपुं० है। वसन्त अर्थ में पुँ० है। सीधु, शीधु—समानार्थक हैं। **स्फुरदधरसीधवे तव वदनचन्द्रमा रोचयति लोचनचकोरम्** (गीतगोविन्द)। **शीधुनि प्रसक्त एष वराको न चिरं जीविष्यति। सानूनि गन्धः सुरभी करोति** (कुमार०)। अयं कमण्डलुः। इदं कमण्डलु।

५७. **रुत्वन्तः।** रु-अन्त, तथा तु-अन्त शब्द पुं० होता है—मेरुः। सेतुः।

५८. **दारु-कसेरु-जतु-वस्तु-मस्तूनि नपुंसके।** यह (५७) का अपवाद है। दारु=काष्ठ। **दारुणो विकारः=दारुमयो हस्ती।** कसेरु=तृणविशेष। जलज कन्द (स्वामी)। मस्तु (दही की मलाई, छास)।

५९. **सक्तुर्नपुंसके च।** 'सक्तु' का नपुंसकलिङ्ग में प्रयोग दुर्लभ है। निरुक्त में भी **सक्तुः सचतेः। दुर्धावो भवति।** यहाँ पुंलिङ्ग में प्रयुक्त हुआ है।

६०. **प्राग्रश्मेरकारान्तः।** यह अधिकार सूत्र है। रश्मिदिवसाभिधानानि (१००) से पहले तक के सूत्रों में अकारान्त अधिकृत समझना चाहिये।

६१. **कोपधः।** कोपध अकारान्त पुं० होता है—स्तबकः। कल्कः। कल्क के नाना अर्थ हैं—१. खली। २. लई। ३. मैल। ४. दम्भ, धोखा। ५. चूर्ण। **तां लोध्रकल्केन हृताङ्गतैलाम्।** (कुमार ७।९)।

६२. **चिबुक-शालूक-प्रातिपदिकांशुकोल्मुकानि नपुंसके।** यह (६१) का

अपवाद है। **चिबुकं सुदृशः स्पृशामि यावत्** (भा० वि० २।३४)। शालूक=जलकुमुद का मूल, सिङ्घाड़ा। **प्रतिपदं भवं प्रातिपदिकम्**। **चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य** (शाकुन्तल १।३४)। **धुन्वन्कल्पद्रुमकिसलयान्यंशुकानीव वातैः** (मेघ० ६२)।

धूमायन्त इवाश्लिष्टाः प्रज्वलन्तीव संहताः।
उल्मुकानीव मेऽमी स्वा ज्ञातयो भरतर्षभ॥

इव अश्लिष्टा इतिच्छेदः।

६३. **कण्टकाऽनीक-सरक-मोदक-चषक-मस्तक-पुस्तक-तडाक-निष्क-शुष्क-वर्चस्क-पिनाक-भाण्डक-पिण्डक-कटक-षण्डक-पिटक-तालक-फलक-पुलाकानि नपुंसके च।** कण्टक आदि कोपध नपुंसक भी होते हैं और यथाप्राप्त पुँल्लिङ्ग भी। **चरणे मे कण्टको लग्नः। तीक्ष्णाग्रमिदं कण्टकम्। पादलग्नं करस्थेन कण्टकेनैव कण्टकम्** (उद्धरेत्)। क्षुद्र शत्रु को तथा किसी भी तंग करने वाले को भी 'कण्टक' कहते हैं। रोमाञ्च को 'कण्टक' कहते हैं। अतः कण्टकित-गात्रः=रोमाञ्चिततनुः। 'अनीक' नानार्थक है। सेना अर्थ में—**दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा** (गीता १।२)। समूह अर्थ में—**नवाम्बुदानीक-मुहूर्तलाञ्छने** (रघु० ३।५३)। वेद में अनीक (१) अग्रभाग, तथा (२) मुख अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—१. **रथेषु नोऽनीकेष्वधिश्रियः** (ऋ० ८।२०।१२)। **अग्निर्वै देवानामनीकम्** (श० ब्रा०)। **अग्निमनीकं कृत्वा** (श० ब्रा०)। २. **चित्रं देवानामुदगादनीकम्** (ऋ० १।११५।१)। स्वनीक (=तेजस्विन्) का प्रयोग वेद में आया है—ऋ० ७।२।२३। 'सरक' मद्य, मद्यपान तथा मद्यपानपात्र को कहते हैं—२. **चक्रुरथ सह पुरन्ध्रिजनैरयथार्थसिद्धिसरकं महीभृतः** (माघ० १५।८०)। **प्रापि चेतसि सविप्रतिसारे सुभ्रुवामवसरः सरकेण** (माघ० १०।२०)।

सरकं शीधुपात्रे स्याच्छीधुपाने च शीधुनि (विश्व)।
चषकोऽस्त्री पानपात्रं सरकोप्यनुतर्षणम् (अमर)।

'रायमुकुट' के अनुसार चषक आदि चारों मद्यपानपात्र अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। **अस्मिन्महात्मनि गुणगौरवात्ससम्भ्रमं नमति मस्तको लोकस्य** (मस्तकं लोक-स्येति वा)। 'पुस्तक' का पुं० में प्रयोग वात्स्यायनीय कामसूत्र (नागरक वृत्त) तथा पञ्चतन्त्र में आया है। अन्यत्र प्रायः नपुं० में देखा गया है। तटाक, तडाक, तडाग—इस प्रकार भिन्नानुपूर्वी में इस शब्द का प्रयोग मिलता है। **अस्माद् ग्रामाद्बहिर्नातिदूरे तटाकः। पद्माकरस्तडागोऽस्त्री**[1] (अमर)। शुष्क

१. प्रशस्तभूमिभागस्थो बहुसंवत्सरोषितः।
जलाशयस्तडागः स्यादित्याहुः शास्त्रकोविदाः॥ (शब्दार्थचिन्तामणि)

का विशेष्य रूप में प्रयोग अन्वेष्य है। वर्चस्क (अवस्कर, विष्ठा) का पुं० में प्रयोग दुर्लभ है। कुत्सितं वर्चः = वर्चस्कम्। अन्यत्र भी 'वर्चस्क' को पुं० तथा नपुं० दोनों माना है—**गूथं पुरीषं वर्चस्कमस्त्री विष्ठाविषौ स्त्रियौ** (अमर)। पुलाक (=तुच्छ धान्य)। **पर्याप्त एकः पुलाकः स्थाल्या निदर्शनाय** (भाष्य)। अमर इसे केवल पुं० में पढ़ता है—

स्यात्पुलाकस्तुच्छधान्ये संक्षेपे भक्तसिक्थके।

६४. **टोपधः।** टकारोपध अकारान्त शब्द पुं० होता है—घटः। पटः।

६५. **किरीट-मुकुट-ललाट-वट-वीट-शृङ्गाट-कराट-लोष्टानि नपुंसके।** **किरीटमस्यास्ति** इति किरीटी अर्जुनः। अमर 'किरीट' को पुन्नपुंसक मानता है। 'मुकुट' को नित्य नपुंसक मानता है। यह भेद है। ललाट नित्य नपुं० है। अमर का पाठ भी है—**ललाटमलिकं गोधिः।** पृथुललाटः पृथु ललाटमस्य। विशालभालः। वट (वृक्ष) को पुं० ही होना चाहिये। वराटक अर्थ में, अथवा रज्जु अर्थ में नपुंसक हो सकता है। वीट=गुली। शृङ्गाट=चतुष्पथ। शृङ्गाटक भी इसी अर्थ में। **शृङ्गाटकचतुष्पथे** (अमर)। लोष्ट (ढेला)। समानि लोष्टाश्मकाञ्चनानि (लोष्टम् अश्मा काञ्चनं च) यस्य स समलोष्टाश्मकाञ्चनः। कोषान्तर में 'लोष्ट' पुँल्लिङ्ग भी है। स्मरण रहे 'लोष्ठ' कोई शब्द नहीं।

६६. **कुट-कूट-कपट-कवाट-तर्पट-नट-निकट-कीट-कटानि नपुंसके च।** कुट =वृक्ष। कुट=घट। घटः कुटनिपौ (अमर)। यह नपुंसकलिङ्ग में अ-प्रसिद्ध है। **कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्** (अमर)। शिखर अर्थ में कूट पुन्नपुंसक है। राशि अर्थ में पुन्नपुंसक है—**पुञ्जराशी तूत्करः कूटमस्त्रियाम्** (अमर)। **वर्धयन्निव तत्कूटानुद्धतैर्धातुरेणुभिः** (रघु० ४।७१)। तत्कूटान्=तच्छिखराणि। अभ्रकूटम्=मेघराशिः। अन्नकूटम्=भोज्यराशिः। **कपटोऽस्त्री व्याज-दम्भोपधयश्छद्मकैतवे** (अमर)। कवाट=कपाट। **कः कवाटम्** (कपाटम्) **आहन्ति,** कौन दरवाजा खटखटा रहा है? तर्पट=तर्बट (=वर्ष)। यह अत्यन्त अप्रसिद्ध है। कट=चटाई। **किंकृतोऽयं कटः? केनेदमकारि कटम्?**

६७. **णोपधः।** णकारोपध अकारान्त पुँल्लिङ्ग होता है—गुणः। गणः। पणः। पाषाणः।

६८. **ऋण-लवण-पर्ण-तोरण-रणोष्णानि नपुंसके।** ऋण (उद्धारः, उदञ्चनम्)। **ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्** (मनु० ६।३५)। अमर के अनुसार तोरण 'अस्त्री' है—**तोरणोऽस्त्री बहिर्द्वारम्।** **तोरणं वन्दनमालिकाभिरलङ्कृतम्।** 'रण' भी अमर के अनुसार अस्त्री० है—अस्त्रियाँ

समरानीकरणाः । पुँल्लिङ्ग में रघुवंश का प्रयाग भी है—**रणः प्रववृते तत्र भीमः प्लवगरक्षसाम्** (१२।७१)। 'उष्ण' की नपुंसकता औष्ण्य अर्थ को लक्ष्य करके कही गई है, ऐसा प्रतीत होता है। आपटे-कृत कोष भी इस हमारे विचार का समर्थन करता है। उदाहरण मृग्य है।

६९· **कार्षापण-स्वर्ण-सुवर्ण-व्रण-चरण-वृषण-विषाण-चूर्ण-तृणानि नपुंसके च । कार्षापणः कार्षिकः स्यात्** (अमर)। अमर के अनुसार अष्टापद को छोड़कर सभी सुवर्ण पर्याय केवल नपुं० हैं। **व्रणोऽस्त्रियाम् ईर्ममरुः क्लीबे** (अमर)। **अद्यापि न संरोहन्ति व्रणा अस्य वराकस्य**, इस बेचारे के घाव अभी तक नहीं भर रहे हैं। **व्रणान्यस्य क्षतजं स्रवन्ति । विषमेस्मिन्पथि क्षतो मे चरणो वामेतरः ।** 'चरण' का नपुं० में प्रयोग विरल है। वेदशाखा अथवा वेद-शाखा के अध्येता अर्थ में भी 'चरण' पुँल्लिङ्ग ही है। कठकलापादयश्चरणाः। **वृषण=अण्डकोश**। अमर इसे पुं० में ही पढ़ता है।—**मुष्कोऽण्डकोशो वृषणः ।** विषाण का तो तीनों लिङ्गों में प्रयोग देखा जाता है—विषाणः। विषाणी। विषाणम्। विषाण शृङ्ग तथा गजदन्त का नाम है। अतः विषाणिन्=हस्तिन्। सुगन्धीकरण के साधन रूप द्रव्य अर्थ में चूर्ण नपुं० है—**चर्णानि वासयोगाः स्युः** (अमर)। **चूर्णो धूलौ क्षारभेदे चूर्णानि वासयुक्तिषु** (मेदिनी)। वासस्य सुरभीकरणस्य योगा उपाया वासयोगाः। त एव वासयुक्तयः।

७०. **थोपधः** । थकारोपध अकारान्त पुं० होता है। रथः।

७१. **काष्ठ-पृष्ठ-सिक्थोक्थानि नपुंसके** । यह पूर्व का अपवाद है। काष्ठम्—

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद् भूतसमागमः ॥ (हितो०)।

जैसे महासागर में दो लकड़ियाँ (बहती हुई) (अकस्मात्) एक दूसरे से मिल जाती हैं और मिलकर जुदा हो जाती हैं वैसे ही यह प्राणियों का संयोग (और वियोग) है।

पृष्ठम्—**आर्द्रीक्रियन्तां पृष्ठानि वाजिनाम् । सिक्थम्**, उबाले हुए चावल, अथवा उबाले हुए चावलों का गोला, मोम। **ग्रासोद्गलितसिक्थेन का हानिः करिणो भवेत् । इमाः सिक्थवर्तयः साधवो न भवन्ति**, ये मोमवत्तियां अच्छी नहीं हैं। **उक्थं हि सामविशेषो भवति । य उक्थमधीते वेद वा स औक्थिकः**

७२. **काष्ठा दिगर्था स्त्रियाम्** । दिशावाची 'काष्ठा' शब्द स्त्री० होता है। दिग्ग्रहण उत्कर्ष आदि अर्थों का उपलक्षण है।

काष्ठा दारुहरिद्रायां कालमानप्रकर्षयोः ।
स्थानमात्रे दिशि च स्त्री दारुणि स्यान्नपुंसकम् ।। (मेदिनी) ।

काशन्ते प्रकाशन्ते इति काष्ठा दिशः । काष्ठा व्याप्नोत्यस्यावदातं यशः । परां काष्ठां गतमस्य व्याकरणविज्ञानम् । काष्ठा=प्रकर्षः । इयं सूपकारप्रयोज्या काष्ठा यां दारुहरिद्रामप्याहुः । काष्ठा=हल्दी ।

७३. तीर्थ-प्रोथ-यूथ-गाथानि नपुंसके च । तीर्थ शब्द नानार्थक है—
निपानागमयोस्तीर्थमृषिजुष्टजले गुरौ (अमर) ।

तीर्थ=निपान । तीर्थं नीयन्ते गावः सलिलपायनाय । आगम (शास्त्र)—तीर्थकरः शास्त्रकार इत्यनर्थान्तरम् । तीर्थंकर इति जैनेषु प्रसिद्धोऽपभ्रंशः । तीर्थम् =गुरुः—तीर्थान्मया तौर्यत्रिकं शिक्षितम् । समानो गुरुरस्माकमिति सतीर्थ्या वयम् । सभी अर्थों में तीर्थ पुन्नपुंसक है । अयं तीर्थः । इदं तीर्थम् । यदध्यासितमर्हद्भिस्तद्धि तीर्थं प्रचक्षते (कु० सं० ६।५६) । 'प्रोथ' अश्वनासिका को कहते हैं—घोणा तु प्रोथमस्त्रियाम् (अमर) । यूथानि संचारयति यूथनाथो गजः । गाथः । गाथम् (गीत) । 'गाथा' स्त्री० भी प्रसिद्ध है ।

७४. नोपधः । नकारोपध अकारान्त पुं० होता है—इनः (सूर्यः, स्वामी) । इनकान्तः=सूर्यकान्तः । इनेन स्वामिना सह वर्तमाना सेना । फेनः । फेनोऽस्यास्तीति फेनिलमरिष्टवारि ।

७५. जघनाजिन-तुहिन-कानन-वन--वृजिन-विपिन-वेतन-शासन-सोपान-मिथुन-श्मशान-रत्न-चिह्नानि नपुंसके । यह पूर्व का अपवाद है ।

पश्चान्नितम्बः स्त्रीकट्याः क्लीबे तु जघनं पुरः (अमर) । स्त्रीकटी के अगले भाग को 'जघन' कहते हैं । जघने भवः=जघन्यः । जघनमिव जघन्यः । अजिनं चर्म कृत्तिः स्त्री (अमर) । मृगाजिनम्=मृगचर्म । तुहिन= हिम । तुषारस्तुहिनं हिमम् (अमर)। विचितानि मया काननानि, न च सीतोपलब्धा क्वचित् । इदं सवनं (=सजलं) वनम् । शक्यमिह दन्तिनो निर्वापयितुम् (=अभिषेचयितुम्) । वृजिन पाप अर्थ में नित्य नपुं० है—सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि (गीता) । इस उदाहरण में नपुंसकलिङ्गता स्पष्ट नहीं है । कुटिल (कुञ्चित) केश के अर्थ में वृजिन पुं० है—केशेऽपि वृजिनः (अमर) । वृजिनं कल्मषे क्लीबे केशे ना कुटिले त्रिषु (रभस) । सोपान (सीढ़ी) । प्लवा ह्येते यज्ञा भवोत्तरणस्य सोपानानि वा स्वर्गारोहणस्य । रामः सीता चेति मिथुनं परिकल्पितं विधात्राऽसदृशसंयोगकारिता च स्वस्य वितथीकृता । इदं स्त्रीरत्नं कस्य कुलस्यावतंसः ।

७६. **मान-यानाभिधान-नलिन-पुलिनोद्यान-शयनासन-स्थान-चन्दनाऽऽलान-समान-भवन-वसन-संभावन-विभावन-विमानानि नपुंसके च।** प्रमाण अर्थ में 'मान' नपुं० है। अत्र वेदादृते किमन्यन्मानम्। कियन्मानमस्याज्यस्य। प्रस्थः। चित्तसमुन्नति अर्थ में पुं० है—**मानो हि महतां धनम्।** 'यान' के नानार्थ हैं, पर किसी एक अर्थ में भी पुँल्लिङ्गता अप्रसिद्ध है। रथादयो यानानि भवन्ति। देवानां मर्त्यानां च भिद्यन्ते यानानि। रामोऽभिधानमस्येति रामाभिधानो हरिः। 'अभिधान' की पुँल्लिङ्गता में प्रयोग अन्वेष्य है। नलिनम्=कमलम्। कमल के सभी पर्याय नपुंसक हैं। 'पद्म' को कोषकार पुमान् भी मानते हैं, पर साहित्यपण्डित इसका पु० में प्रयोग नहीं सहते। कहीं कहीं पुं० प्रयोग मिलता है—

> **वसन्ते शीतभीतेन कोकिलेन वने रुतम्।**
> **अन्तर्जलगताः पद्माः श्रोतुकामा इवोत्थिताः॥**

पुलिन भी नपुं० ही प्रसिद्ध है—**पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरिताम्** (उ० रा० च०)। **तोयोत्थं पुलिनम्।** **आलानं गजबन्धनम्।** आ लीयतेऽत्रेति। आलान=बन्धन-स्तम्भ को कहते हैं। प्रयोग में यह भी नित्य नपुं० दीखता है। व्योमयानं विमानोऽस्त्री (अमर)।

> **विमानो व्योमयाने च सप्तभूमिगृहेपि च।**
> **घोटके यानमात्रे च पुन्नपुंसकयोर्मतः॥**

७७. **पोपधः।** पकारोपध अकारान्त पुंल्लिङ्ग होता है—यूपः। दीपः। निपः (घटः)।

७८. **पाप-रूपोडुप-तल्प-शिल्प-समीपाऽन्तरीपाणि नपुंसके।** यह पूर्व का अपवाद है। **हरि र्हरति पापानि। क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।** **उडुपं तु प्लवः कोलः** (अमर)। **तितीर्षु र्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्** (रघु० १)। उडुप=नौका। तलपम्=शय्या।

स्रग्विणं तल्प आसीनं तमर्हयेत् प्रथमं गवा (मनु० ३।३)। गवा=मधुपर्केसे। गो-साध्य मधुपर्क को 'गो' कहा है। अट्ट=शिरोगृह। मृदङ्गवादनं शिल्पमस्येति मार्दङ्गिकः। शष्पं बालतृणम्। कन्या नामान्तरीपम्।

विशेषण रूप में पाप त्रिलिङ्गी है—

> **पापा ऋतुमती कन्या पापो राजा निरक्षरः।**
> **पापं व्याधकुलं हिंस्रं पापो विप्रश्च सेवकः॥**

७९. **शूर्प-कुतुप-कुणप-द्वीप-विटपानि नपुंसके च। प्रस्फोटनं शूर्पमस्त्री। शूर्पो हि वितुषीकरणोपायः। अयं हि धान्यात् तुषं विविनक्ति। अल्पा कुतूः कुतुपः, सैव कुतुपम्** (काशिका)। अमर तो 'कुतुप' को नियतपुँल्लिङ्ग मानता है—**कुतूः कृत्तेः स्नेहपात्रं सैवाल्पा कुतुपः पुमान्।** सूत्र में पाठान्तर 'कुतप' है। यह उभयलिङ्ग है—**अंशोऽष्टमोऽह्नः कुतपोऽस्त्रियाम्।** स्मृतिकार का वचन भी है—

दिवसस्याष्टमे भागे मन्दी भवति भास्करः।
स कालः कुतपो ज्ञेयः पितॄणां दत्तमक्षयम्॥

'कुणप' नाम शव का है। अमर इसे केवल पुं० मानता है। **कुणपः शवमस्त्रियाम्।** कुणपान् अश्नन्ति ये ते कुणपाशनाः कौणपाः (राक्षसाः)। **द्वीपोऽस्त्रियामन्तरीपं यदन्तर्वारिणस्तटम्** (अमर)। **लङ्का नाम द्वीपः सम्प्रति भारतेऽन्तर्न भवति। स्तम्बेपि विटपोऽस्त्रियाम्** (अमर)। **विटपः पल्लवे षिड्गे विस्तारे स्तम्बशाखयोः** (विश्व०)। विटपा विटपानि वा सन्त्यस्येति विटपी वृक्षः।

८०. **भोपधः।** भकारोपध अकारान्त पुं० होता है—स्तम्भः। कुम्भः।

८१. तलभं नपुंसकम्। पूर्व का अपवाद है।

८२. **जृम्भं नपुंसके च।** 'जृम्भ' स्त्रीलिङ्ग में भी प्रसिद्ध है। अतः यह त्रिलिङ्गी है—जृम्भः। जृम्भा। जृम्भम् (जंभाई)। उपचार से कोंपल के विकास को भी जृम्भ (अथवा जृम्भा) शब्द से कहा जाता है।

८३. **मोपधः।** मकारोपध अकारान्त पुं० होता है। सोमः। भीमः। स्तोमः। होमः।

८४. **रुक्म-सिध्म युध्मेध्म-गुल्माऽध्यात्म-कुङ्कुमानि नपुंसके।** 'रुक्म' स्वर्ण का नाम है। **रुक्मं हि सर्वं रोचयतीत्यन्वर्थं नाम।** 'रुक्म' से मत्वर्थीय इनि करके 'रुक्मिन्' सिद्ध होता है। रुक्मी महाराज भीष्मक का ज्येष्ठ पुत्र था। उसकी बहिन 'रुक्मिणी' थी। 'सिध्म' किलास (सिहुला) का नाम है। **किलाससिध्मे नपुंसके** (अमर)। छान्दोग्योपनिषद् में किलास का पुं० में प्रयोग आया है—**श्वेतकेतुर्हारुणेय आस। तं ह किलासो जग्राह।** सिध्मानि सन्त्यस्येति सिध्मलः। 'युध्म' (युद्ध, योद्धा, बाण, धनुष्) वेदमात्रगोचर है और वेद में यह पुं० में देखा जाता है। लोक में इसका प्रयोग नहीं। इध्म (जलाने की लकड़ी)। **इन्धनं त्वेध इध्ममेधः समित् स्त्रियाम्** (अमर)। एध (अदन्त) पुं० है, एधस् (सकारान्त) नपुं० है। **इध्मं च बर्हिश्च इध्माबर्हिषी।** वेद में 'इध्म' पुं० में भी देखा जाता है—अयं त इध्म आत्मा जातवेदः। गुल्म

झाड़ी का नाम है। अमर इसे पुं० में पढ़ता है—**अप्रकाण्डे स्तम्बगुल्मौ।** **अध्यात्मम्**—यह अव्ययीभाव होने से नपुं० है। **आत्मनि अधि=अध्यात्मम्।** विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव है। **अध्यात्मं भवम्** **आध्यात्मिकम्।** कुङ्कुम (केसर)। **काश्मीरजन्मनः कुङ्कुममिति नामान्तरम्।**

८५. **सङ्ग्राम-दाडिम-कुसुमाऽऽश्रम-क्षेम-क्षौम-होमोद्दामानि नपुंसके च।** सङ्ग्राम आदि मोपध अदन्त शब्द नपुं० में भी प्रयुक्त होते हैं। संग्राम का नपुं० में प्रयोग दुर्लभ है। कुसुम भी नपुं० में ही प्रयुक्त हुआ मिलता है—**उदेतिः पूर्वं कुसुमं ततः फलम्।** अयं जाबालेराश्रमः। इदं जाबालेराश्रमम्। **कुशलं क्षेममस्त्रियाम्** (अमर)। **प्रजानां योगश्च क्षेमश्चेत्युभयं राज्ञा साध्यम्।** 'क्षेम' यद्यपि नपुं० भी है, 'योगक्षेम'—यह समस्त पद प्रायः पुं० में ही देखा जाता है—योगक्षेमौ। नपुं० एक० अथवा द्विवचन में भी प्रयोग होता है—योगक्षेमे। योगक्षेमम्। **अलभ्यलाभो योगः स्यात्क्षेमो लब्धस्य पालनम्** (याज्ञ० १।१००)। क्षौमम्=रेशमी वस्त्र। **क्षुमाया विकारः क्षौमम्।** क्षौमं दुकूलम्। **क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतम्** (शाकुन्तल ४।४)। पुं० में प्रयोग दुर्लभ है। अयमग्नौ होमः। इदमग्नौ होमम्। 'उद्दाम' नानार्थक है। यह विशेषणरूपेण प्रयुक्त हुआ मिलता है अतः विशेष्यानुसारी इस का लिङ्ग होता है।

८६. **योपधः।** यकारोपध अकारान्त पुँल्लिङ्ग होता है—**समयः। हयः।** (घोड़ा)।

८७. **किसलय-हृदयेन्द्रियोत्तरीयाणि नपुंसके।** यह पूर्व का अपवाद है। **पल्लवोऽस्त्री किसलयम्** (अमर)। नये पत्ते को पल्लव या किसलय कहते हैं। पल्लव तो पुन्नपुंसक है, किसलय केवल नपुंसक है। **अनाविद्धं रत्नं किसलयमलूनं कररुहैः** (शाकुन्तल)। **अहो रुचिराणि सन्ध्यारागरक्तानि पिप्पलकिसलयानि। इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्** (कठोप०)। **संव्यानमुत्तरीयं स्यात्,** ओढ़ने की चादर को उत्तरीय कहते हैं। इसे **प्रावार** (पुं०) **उत्तरासङ्ग** (पुं०) तथा **बृहतिका** (स्त्री०) भी कहते हैं। निचले भाग में पहने हुए वस्त्र को **अन्तरीय** (नपुं०) तथा **उपसंव्यान** (नपुं०) कहते हैं।

८८. **गोमय-कषाय-मलयाऽन्वयाऽव्ययानि नपुंसके च। गोविट् गोमयमस्त्रियाम्। शुष्को गोमयः करीष उच्यते। एतावद् गोमयं पर्याप्स्यति रसवतीलेपाय। तुवरस्तु कषायोऽस्त्री** (अमर)। कसैला रस। 'कषाय' काढ़े का भी नाम है। **कोष्ठबन्धे वनपुष्पादिकषायं प्रशंसन्ति वैद्याः।** अन्वयः। **वाक्ये**

पदानामन्वयः। अन्वयो वंशः, कुलम्। 'अन्वय' का नपुं० में प्रयोग मृग्य है। शश्वदित्यव्ययः। शश्वदित्यव्ययम्। इमे शब्दा अव्यया अव्ययानि वा।

८९. रोपधः। रकारोपध अकारान्त पुं० होता है—क्षुरः। अङ्कुरः।

९०. द्वाराऽग्र-स्फार-तक्र-वक्र-वप्र-क्षिप्र-क्षुद्र-नार-तीर-दूर-कृच्छ्र-रन्ध्राऽश्र-श्वभ्र-भीर-गभीर-क्रूर-विचित्र-केयूर-केदारोदराऽजस्र-शरीर-कन्दर-मन्दार-पञ्जराजर-जठराऽजिर-वैर-चामर-पुष्कर-गह्वर-कुहर-कुटीर-कुलीर-चत्वर-काश्मीर-नीराऽम्बर-शिशिर-तन्त्र-यन्त्र-क्षत्र-क्षेत्र-मित्र-कलत्र-चित्र-मूत्र-सूत्र-वक्त्र-नेत्र-गोत्राऽङ्गुलित्र-भलत्र-शस्त्र-शास्त्र-वस्त्र-पत्र-पात्रच्छत्राणि नपुंसके। यह पूर्व सूत्र का अपवाद है। द्वार—इदं प्रवेशद्वारम्। इदं च निर्गमद्वारम्। हस्ताग्रमग्रहस्त इति शब्दभेदो नार्थभेदः। 'स्फार' प्रायेण विशेषणरूप से प्रभूत अर्थ में प्रयुक्त होता है, तब यह वाच्यलिङ्गक होता है—स्फारा प्रीतिः। स्फारः प्रेमा। स्फारं प्रेम। पर कहीं-कहीं प्रभूतत्व, बाहुल्य, प्राचुर्य अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, तब यह नपुं० है। तत्र स्फारम्=स्फातिः। कोपकार कम्पन, धड़कन आदि अर्थों में 'स्फार' को पुँल्लिङ्ग मानते हैं। तक्र—ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्याय। वक्र=टेढ़। अष्टौ वक्राण्यस्येत्यष्टावक्र ऋषिविशेषः। वप्र—स्याच्चयो वप्रमस्त्रियाम् (अमर)। वप्र=खाई आदि खोदने से उद्धृत मृत्तिकाराशि, रेत का टीला। अमर के अनुसार 'वप्र' पुं० भी है। पर्वत की ऊपरी भूमि के अर्थ में 'वप्र' पुं० है—तीव्रं महाव्रतमिवात्र चरन्ति वप्राः (माघ० ४।५८)। नदी आदि के किनारे को भी 'वप्र' कहते हैं—ध्वनयः प्रतेनुरनुवप्रमपाम् (किरात० ६।४)। मुहूर्त के $\frac{1}{15}$ अंश को 'क्षिप्र' कहते हैं। इस अर्थ में क्षिप्र नपुं० है। क्षिप्रेणाप्स्यामि ग्रामम् इति मे निश्चिता मतिः। क्षुद्र (नपुं०) वेद में रजः कण आदि अर्थ में देखा जाता है। नार—नराणां समूहः नारम्। नारं द्यति कलहेनेति नारदशब्दं व्युत्पादयन्ति व्युत्पत्तिकुशलाः। नार (नपुं०) 'शुण्ठी' को भी कहते हैं। तीर, दूर, कृच्छ्र—सुविदित हैं। रन्ध्र =छिद्र। इदं क्रौञ्चरन्ध्रम्। इदं हि कार्तिकेयेन क्रौञ्चे नाम सानुमति कृतम्। रन्ध्रोपनिपातिनोऽनर्थाः। यहाँ 'रन्ध्र' दोष, त्रुटि, आघात-सुलभ स्थान आदि अर्थ में उपचरित है। अश्र=अस्र=अश्रु। अश्राणि (अस्राणि) मुहुरुपचितानि दृष्टिं विलुम्पन्ति मे। श्वभ्रं रन्ध्रम्। श्वभ्रं प्रविष्टः सहसा महोरगः। गभीर (गभीरिका), गम्भीर ध्वनिजनक पटह। गभीरोऽस्य ध्वनिरिति गभीरं दुन्दुभिरुच्यते। क्रूर नपुं० उबाला हुआ चावल। बाज तथा बगुला अर्थ में क्रूर पुं० है। विचित्र नपुं० नानावर्ण, विस्मय। इसका प्रायः विशेषणरूपेण प्रयोग

मिलता है, तब यह वाच्य-लिङ्गक होता है। केयूर=अङ्गद=बाहुबन्द।

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्।। (रा०४।६।२२-२३)।

केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वलाः (भर्तृ० नीति० १७)। **'केदार'** क्षेत्रवाची अथवा आलवाल (किआरी)—वाची पुं० ही यत्र तत्र मिलता है। **लूयते केदारः स्वयमेव** (काशिका)। **अपां पूर्णाः केदाराः** (=आलवालानि)। **अजस्रम्**—यह अव्यय है और अव्यय होने से अलिङ्गक है। अमर के अनुसार **'कन्दर'** पुं० तथा स्त्री० (कन्दरा) है, नपुंसक नहीं। **दरी तु कन्दरो वा स्त्री**। गुफा अर्थ में दूसरे कोषकार 'कन्दर' को नपुंसक भी मानते हैं। अङ्कुश अर्थ में **कन्दर** नियत पुं० है। मन्दारस्य पुष्पं मन्दारम्। मन्दाराणां माला=मन्दारमाला। मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा (शाकुन्तल)। **इदं लौहं पञ्जरं शुकस्य**। अस्थिपञ्जरम्। अजरमिति ब्रह्मणोऽभिधानम्, न जीर्यतीति। **जठरोदरतुन्दम्** (अमर)। जठर, उदर, तुन्द (=पेट) तीनों नपुं० हैं।

यावद् भ्रियेत जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं तु समागृह्णन् नरो भवति किल्बिषी।। (श्रीमद्भागवत)

'अजिर' अङ्गन का नाम है। अङ्गनं चत्वराजिरे (अमर)। रणाजिरं समराङ्गनमिति पर्यायौ। पुष्कर नानार्थक है—

पुष्करं करिहस्ताग्रे वाद्यभाण्डमुखे जले।
व्योम्नि खड्गफले पद्मे तीर्थौषधिविशेषयोः।। (अमर)

हाथी के सूँड का अग्र-भाग, मृदङ्ग का मुख, जल, आकाश, तलवार का मुष्टिव्यतिरिक्त अग्रभाग, कमल, तीर्थविशेष तथा ओषधि-विशेष—इन सब अर्थों में 'पुष्कर' नपुंसक है।

गह्वर=गुहा। **देवखातबिले गुहा गह्वरम्**। **गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश** (रघु० २।२६)। **इमानि हिमवतो गिरेर्गह्वराणि सुखं श्रयन्ते निर्वेदमाप्ता महर्षयः**। ह्रस्वा कुटी कुटीरः (काशिका)। यहाँ पुंस्त्व में उदाहरण दिया है। इस के अनुसार कुटीर पुन्नपुंसक है। ऐसा ही दूसरे आभिधानिक मानते हैं। अमर कुलीर को पुंल्लिङ्ग में पढ़ता है—**स्यात्कुलीरः कर्कटः**। आपटे कोष में 'कुलिर' एतदानुपूर्वीक को पुन्नपुंसक पढ़ा है। कुलीर=केकड़ा। काश्मीर(केसर)

=काश्मीरजन्म । **काश्मीर-मृगनाभिकृताङ्गरागाम्** (चौर० ८) । काश्मीरेषु भवं काश्मीरम् । इदं सावधारणं वाक्यम्—काश्मीरेष्वेव भवतीति काश्मीर-मित्यर्थस्य विवक्षितत्वात् । 'शिशिर' यहाँ केवल नपुंसक माना है । आचार्य शिशिर को वेद में केवल नपुंसकलिङ्ग मानते हैं, तभी तो **हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च च्छन्दसि** (२।४।२८) से परवल्लिङ्गता की प्राप्ति होने पर पूर्ववल्लिङ्गता का विधान करते हैं। लोक में शिशिर उभयलिङ्ग है—**हेमन्तः शिशिरोऽस्त्रियाम्** (अमर) । **षड् ऋतवो भवन्ति ग्रीष्म-वर्षा-शरद्-हेमन्त-शिशिर-वसन्ताः । अति-क्रान्तप्रायं शिशिरम् । अवतरतीदानीं वसन्तः ।** तन्त्र—**सूत्रेषु लिङ्गवचनम-तन्त्रम्** (=अविवक्षितम्) । **पत्नी किल गृहपत्नी भवति । एतत्तन्त्रं हि गृह-तन्त्रम्** (पत्नी घर की स्वामिनी होती है, घर का सारा धन्दा इस के अधीन होता है) । क्षत्र (क्षत्रिय-जाति) । **ब्रह्मक्षत्रे विशः शूद्रा इति चत्वारो वर्णाः । क्षत्रं हि ब्रह्म वर्धयति ।** मित्र—**आपत्स्वपयान्ति मित्राणि । देवदत्तो मे मित्रम् । चिरस्य तं दृष्टवानस्मि ।** यहाँ 'तम्' यह उद्देश्य देवदत्त का परामर्शक होने से पुँल्लिङ्ग निर्देश है । अमित्र (=शत्रु) पुं० है—**स्यातामित्रौ मित्रे च सहजप्राकृतावपि** (माघ० २।३६) । **तस्य मित्राण्यमित्रास्ते** (दशकु०) । **प्रकृत्य-मित्रा हि सतामसाधवः** (किरात० १४।२१) । 'अमित्रा' (स्त्री का विशेषण होने पर) भी प्रयुक्त होता है—**अमित्रा मित्ररूपेयं पाणिगृहीती मम** (श्रीरामा-यणे) । पत्नीवाची होता हुआ भी 'कलत्र' नित्य नपुंसक है—**यद्भर्तुरेव हित-मिच्छति तत्कलत्रम्** (भर्तृ० २।६८) । **अङ्गुलित्र—अङ्गुलीस्त्रायते ज्याघा-ताद् इत्यङ्गुलित्रम् ।**

९१. **शुक्रमदेवतायाम्** । देवता ,अग्नि आचार्य—इन अर्थों को छोड़कर अन्यत्र शुक्र नपुं० होता है । शुक्रो देवता । शुक्रोऽग्निः । शुक्रो दैत्यगुरुः ।

शुक्रं तेजोरेतसी च बीजवीर्येन्द्रियाणि च । (अमर)

ये 'शुक्र' के पर्याय हैं । शुक्रिलः पुरुषः, बहुवीर्य इत्यर्थः ।

९२. **चक्र-वज्राऽन्धकार-साराऽवार-पार-क्षीर-तोमर-शृङ्गार-भृङ्गार-मन्दा-रोशीर-तिमिर-शिशिराणि नपुंसके च ।** 'चक्र'=रथाङ्ग (पहिया)। सेना राष्ट्र आदि अर्थों में नपुंसक है। 'चक्रवाक' अर्थ में पुँल्लिङ्ग है । 'वज्र' हीरे तथा अशनि (कड़कती बिजली) का नाम है। दोनों अर्थों में यह पुन्नपुंसक है । अन्धकार—**अन्धं करोतीत्यन्धकारोऽन्धकारं वा । अहो मोहान्धकारमावृणोति माम् । परि-त्रायस्व ।** '**सार**' बल, स्थिरांश (निष्कर्ष, निचोड़) अर्थों में पुं० है, न्याय्य अर्थ

में नपुं० । सारो बलम् । असारो निःसारो वा दुर्बलः । स्नेहस्य तत्फलमसौ प्रणयस्य सारः (मालती० १।६) । नैतत्सारम् (न्याय्यम्) । अवारपारे गच्छतीति अवारपारीणः । अयम् अवारो नद्याः । असावपारः । क्षीर पुं० भी है, पर प्रयोग दुर्लभ है । 'शृङ्गार' रसविशेष अर्थ में पुं० है । सिन्दूर, लवङ्ग, आर्द्रक अर्थों में 'शृङ्गार' नपुं० है । **भृङ्गारः कनकालुका** (अमर) । इस वचन के अनुसार 'भृङ्गार' केवल पुं० है । भृङ्गारः=कनककुम्भः । दूसरे कोषकार इसे पुन्नपुंसक मानते हैं । स्वर्ण तथा लवङ्ग अर्थ में भृङ्गार नपुं० है । मूलेऽस्योशीरमस्त्रियाम् (अमर) । उशीर=खश । 'तिमिर' अन्धकार अर्थ में नपुंसक है । राहु अर्थ में विकल्प से पुँल्लिङ्ग है । इस सूत्र में 'शिशिर' पुन्नपुंसक कहा है । (९०) में केवल नपुं० । यह विरोध है । इस सूत्र में प्रक्षेप प्रतीत होता है ।

९३. **षोपधः** । षकारोपध अदन्त शब्द पुँल्लिङ्ग होता है—वृक्षः । वृषः । मेषः ।

९४. **शिरीषर्जीषाऽम्बरीष-पीयूष-पुरीष-किल्बिष-कल्मषाणि नपुंसके च** । शिरीष आदि प्रातिपदिक पुन्नपुंसक हैं—**शिरीषं कुसुमानीतराणि दूरमतिशेते सौकुमार्येण** । शिरीषो वृक्षः । शिरीषं पुष्पम् । ऋजीष=तवा । **ऋजीषं पिष्टपचनम्** (अमर) । यहाँ ऋजीष केवल नपुं० में पढ़ा है । दूसरे कोषकार भी इसे नपुंसक में ही पढ़ते हैं । अम्बरीष भाट अर्थ में नियतनपुंसक है—**क्लीबेऽम्बरीषं भ्राष्ट्रो ना** (अमर)। नरकविशेष, सूर्य, किशोर अर्थों में अम्बरीष पुं० है । पीयूष (अमृत) का केवल नपुंसक में प्रयोग मिलता है । अमर का पाठ भी है—**पीयूषममृतम् सुधा** । अभिनव गोदुग्ध (वयाई हुई गौ के पहले सात दिन तक का दूध) अर्थ में पीयूष पुँ० है—**पीयूषोऽभिनवं पयः** । अमर का टीकाकार मुकुट **'पेयूष'** पढ़ता है । पुरीष (विष्ठा) नित्यनपुंसक है, इस का पुं० में प्रयोग दुर्लभ है । वेद में 'पुरीष' जलवाची है, वहाँ भी यह नपुं० है । किल्बिष (पाप, अपराध) भी नपुंसक ही है । **नित्यं किल्बिषाणि कुर्वतोऽस्य नोद्विजते मनः** । कल्मष उभयलिङ्ग है । अर्थ—मालिन्य, धब्बा, पाप । **दग्धान्यस्य कल्मषाणि यज्ञेन तपसाऽनाशकेनेति राध्यत्ययं नाकाय** ।

९५. **यूष-करीष-मिष-विष-वर्षाणि नपुंसके च** । यूष=रसा, झोल, शोरबा । **सतीनकयूषो हि परं पुष्टिकरो भवति** । करीष=शुष्क गोमय । **तत्तु शुष्कं करीषोऽस्त्री** (अमर) । **इमे करीषा इमानि करीषाणि वा साधु ज्वलन्ति** । **'मिष'** स्पर्धा अर्थ में पुं० है । व्याज (बहाना) अर्थ में नपुं० । **स्वं नियोगमननुतिष्ठासता नियोज्येन न दुर्लभानि मिषाणि**, अपना कार्य न करना चाहते

हुए नौकर को बहाने ढूँढना मुश्किल नहीं। **विषं भवतु मा वा भूत् फणाटोपो भयङ्करः।** पुंलिङ्ग में प्रयोग दुर्लभ है। 'विष' का जल अर्थ भी है। **विषं पीत्वा क्षयं गतः,** इसका जल पीकर घर गया—ऐसा भी अर्थ है। **विषं जलधरैः पीतं मूर्छिताः पथिकाङ्गनाः,** विष मेघों ने पिया यात्रियों की विरहिणी स्त्रियां मूर्छित हो गई। यहाँ विरोधाभाष के परिहारार्थ 'विष' का दूसरा अर्थ 'जल' लिया जाता है। वर्ष (वृष्टि, संवत्सर)—**नभसि नभो नवं वर्षं वर्षति सुखयति च लोकं निदाघसंतप्तम्,** श्रावण मास में आकाश नया जल बरसाता है और गरमी की रुत से तपे हुए लोगों को सुख देता है।

९६. **सोपधः।** सकारोपध अदन्त शब्द पुं० होता है—वत्सः। वायसः। महानसः। पुं० में दीक्षित द्वारा दिया हुआ उदाहरण। अमर तो इसे नित्य नपुं० मानता है—**रसवत्यां तु पाकस्थानमहानसे ।** तर्कसङ्ग्रह आदि में 'महानस' का पुँल्लिङ्ग में प्रयोग मिलता है। कोषान्तर में 'महानस' पुँल्लिङ्ग भी है।

९७. **पनस-विस-बुस-साहसानि नपुंसके।** पनस(पुं०)—कटहल। पनसम् =कटहल का फल। विस (कमलनाल)। **पाथेयमुत्सृज बिसं ग्रहणाय भूयः** (विक्रम० ४।१५)। **विसमलमशनाय स्वादुपानाय तोयम्** (भर्तृ० ३।२२)। खाने के लिये कमलनाल पर्याप्त है, पीने के लिये स्वादु जल (सुलभ है)। बुस—बूर, भूसी। **कडङ्गरो बुसं क्लीबे** (अमर)। साहस—**तेन खलु साहसमाचरितं यज्जायां जरठामप्रतिविधाय प्रव्रजितम्,** उसने निश्चय ही क्रूर कर्म किया जो अपनी वृद्धा पत्नी के भोजनादि का प्रवन्ध किये बिना संन्यास ले लिया।

९८. **चमसांऽस-रस-निर्यासोपवास-कार्पास-वास-मास-कास-कंस-मांसानि नपुंसके च।** अयं चमसः (इदं चमसम्) आज्यहोमोपकरणम्। अंस=स्कन्ध। **स्कन्धो भुजशिरोंऽसोऽस्त्री** (अमर)। अंसल इति बलवत आख्या। अंसोऽत्र बल उपचरितः। 'रस' का नपुंसकलिङ्ग में प्रयोग मृग्य है। निर्यास—वृक्षादियों से जो रस, दूध, गूंद आदि निकलता है वह सब 'निर्यास' है। गाढ़ द्रव को भी निर्यास कहते हैं। उपवास का नपुंसकलिङ्ग में प्रयोग दुर्लभ है। कार्पास का तीनों लिङ्गों में प्रयोग देखा जाता है—कार्पासः। कार्पासम्। कार्पासी, रुई का बना हुआ वस्त्र। कर्पास्या विकारः। अण्। वास (गन्ध, निवास)। नपुंसक में प्रयोग दुर्लभ है। मास उभयलिङ्ग है, तो भी प्रयोग प्रायः पुँल्लिङ्ग में होता है। द्वौ द्वौ मासावृतुः। षण्मासा उत्तरायणम्। कास (खाँसी) अन्य कोषकार स्त्रीलिङ्ग में 'कासा' पढ़ते हैं, पर नपुं० में नहीं। **अति क्लिश्नाति त्वां कासः, कासमर्दः कश्चित् सेव्यताम्।** 'कंस' मद्य आदि के प्याले को कहते हैं। **कंसो-**

ऽस्त्री पानभाजनम् (अमर)। 'मांस' कीट, कृमि के अर्थ में पुं० भी है।

९९. कंसं चाप्राणिनि। अप्राणिवाची कंस नपुं० है। पुं० में राजविशेष का नाम।

१००. रश्मिदिवसाभिधानानि। किरण तथा दिन के नाम पुँल्लिङ्ग होते हैं—रश्मि (किरण) के पर्याय—

किरणोस्र-मयूखांऽशु-गभस्ति-घृणि-रश्मयः।
भानुः करो मरीचिः स्त्रीपुंसयोर्दीधितिः स्त्रियाम्॥ (अमर)

दिन के पर्याय—दिवसः। वासरः। घस्रः।

१०१. दीधितिः स्त्रियाम्। ऐसा ही ऊपर दिये हुए अमर के पाठ में भी स्पष्ट है। अचिरोदितस्य व्यपेतारुणिम्न आदित्यस्य दीधितयोऽमृतगर्भा इति ता नित्यं सेवेत।

१०२. दिनाहनी नपुंसके। यह (१००) का अपवाद है। अतियन्ति ते दिनानि, न चेष्टाय चेष्टसे। बहून्यहानि तस्येतो गतस्य, न चावर्तते, उसे यहाँ से गये हुए बहुत दिन हो गये हैं, अभी तक लौटा नहीं।

१०३. मानाभिधानानि। मापने के साधनों के नाम पुँल्लिङ्ग होते हैं—कुडवः। प्रस्थः। तण्डुलप्रस्थो मे प्रदीयताम्, कुडवस्तु नेष्यते।

१०४. द्रोणाढकौ नपुंसके च। द्रोण तथा आढक पुं० तथा नपुं० होते हैं—द्रोणो व्रीहिः। आढको मुद्गः। समुदितयोरेतयोः कियन्मूल्यम्। व्रीहिद्रोणं चिक्रीष्यते। इदं माषाढकं विचिक्रीष्यते।

१०५. खारीमानिके स्त्रियाम्। अधिको द्रोणः खार्याम् (द्रोण खारी से अधिक है)।

१०६. दाराक्षत-लाजाऽसूनां बहुत्वं च। दार (पत्नी, स्त्री), अक्षत (साबत चावल), लाज (लाजा), असु (प्राण)—यह पुं० हैं तथा बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं—कथं महाराजदशरथस्य धर्मदारा इयं कौसल्या (उ० रा० च०)। अक्षताः पान्तु पान्त्वक्षता इति श्राद्धमन्त्रः। विवाहे वरवध्वोरावपन्ति लाजान्कन्याः। विविधव्याध्युपसृष्टोऽयञ्जनो नाद्याप्यसून् मुञ्चति।

१०७. नाड्यपजनोपपदानि व्रणाङ्गपदानि। व्रण, अङ्ग, पद (जो व्रण को छोड़कर स्वतन्त्रतया प्रयुक्त हुए नित्य नपुंसकलिङ्ग होते हैं) पुँल्लिङ्ग होते हैं जब क्रम से नाडी, अप, जन उपपद (=पूर्वपद) हों—व्रणोऽस्त्रियामीर्ममरुः (अमर)। अयं व्रणः। इदं व्रणम्। अयं ते व्रणः स्रवति पूयम्। इदं ते व्रणं पूयते। पर नाडीव्रणो मेऽद्यापि न संरोहति। परिपोषमेतु मेऽङ्गम्। पर

अपाङ्गो नेत्रप्रान्तः स्यात् । कुरवः पाण्डवानां शङ्कापदं बभूवुः । पर कुरु-पञ्चालानां जनपद एवः ।

१०८. मरुत्-गरुत्-तरद्-ऋत्विजम् । मरुत्, गरुत् (पक्ष), तरत्, ऋत्विज्—ये पुँल्लिङ्ग हैं । मरुत्=देव, वायु । मरुत्वान्=इन्द्रः (देवेन्द्रः) । वायु के सभी नाम पुं० हैं—

श्वसनः स्पर्शनो वायु र्मातरिश्वा सदागतिः ।
पृषदश्वो गन्धवहो गन्धवाहानिलाशुगाः ॥
समीरमारुतमरुज्जगत्प्राण-समीरणाः ।
नभस्वद्वात-पवन-पवमान-प्रभञ्जनाः ॥

मातरिश्वन्—नकारान्त प्रातिपदिक है । मातरि अन्तरिक्षे श्वयति गच्छतीति मातरश्विा । पृषन्मृगविशेषोऽश्वोऽस्येति पृषदश्वः । पृषन्त्यम्बुकणा अश्वा अस्येति वा । गन्धस्य वहः गन्धवहः (षष्ठीसमास) । अच् प्रत्यय । गन्धं वहतीति गन्धवाहः । उपपदसमास । अण् प्रत्यय । गरुत्=पक्ष । **गरुत्मान्** । प्रशस्तौ गरुतौ पक्षौ स्तोऽस्य । गरुडः । ऋत्विज्—पुरोहित । प्र० एक० ऋत्विक् ।

१०९. **ऋषि-राशि-दृति-ग्रन्थि-क्रिमि-ध्वनि-वलि-कौलि-मौलि-रवि-कपि-कवि-मुनयः ।** यह सभी पुँल्लिङ्ग हैं । **ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः ।** तांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भु स्वयमभ्यानर्षदिति श्रुतिः । **सर्वस्य नन्तव्या इमे तेजसां राशयः । दृतिश्चार्मणो भवतीति तत्स्थं जलं नाददते हिन्दवः । अपत्यं नाम दम्पति-हृदयसंश्लेषणो ग्रन्थिः । महानयं दुन्दुभिध्वनिः श्रूयते । राज्ञे वलीनुपहरन्ति प्रजाः । प्रणतेन मौलिना समुपसर्पति भृत्यः स्वामिनम् ।** रवि, (सूर्य) के सभी नाम पुँल्लिङ्ग हैं । कपि, कवि, मुनि—ये पुँल्लिङ्ग हैं । क्षीरस्वामी अयं कपिः, इयं कपिः (वानरी)—इस प्रकार अमर (३।५।२) की व्याख्या में उदाहरण पढ़ते हैं । **स्त्रीपुंसाधिकार** में अमर का पाठ है—**मुनिर्वराटकः स्वातिः** । यहाँ स्पष्ट रूप से 'मुनि' की स्त्रीपुंसलिङ्गता कही गई है । 'कवि' का पुंस्त्व निरपवाद है ।

११०. ध्वज-गज-मुञ्ज-पुञ्जाः । ये पुँल्लिङ्ग हैं—ध्वजोऽस्या अस्तीति ध्वजिनी सेना । अयं विनीयो मुञ्जः (विनीयः=शोध्यः) । पुञ्जो राशिः । **अहो तमः पुञ्जोऽयं निकुञ्जः ।**

१११. हस्त-कुन्ताऽन्त-व्रात-वात-दूत-धूर्त-सूत-चूत-मुहूर्ताः । ये सभी पुँल्लिङ्ग हैं—अयं मे दक्षिणो हस्तः । अयं मे सव्यः । कुन्तः प्रासः (भाला) । कुन्तः

प्रहरणमस्येति कौन्तिकः। कुलस्यान्तः प्रभुस्त्रियः। नानाजातीया अनियतवृत्तय उत्सेधजीविनः सङ्घा व्राताः (काशिका ५।३।११३)।

अमर 'मुहूर्त' को पुन्नपुंसक मानता है—ते (क्षणाः) तु मुहूर्तो द्वादशाऽस्त्रियाम्।

११२. **षण्ड-मण्ड-करण्ड-भरण्ड-वरण्ड-तुण्ड-गण्ड-मुण्ड-पाषण्ड-शिखण्डाः**। यह सभी पुँल्लिङ्ग हैं। 'षण्ड' बैल (साँड) का नाम है। 'षण्ड' समूह को भी कहते हैं इस अर्थ में यह नपुं० भी है—**कलरवमुपगीते षट्पदौघेन धत्तः कुमुदकमलषण्डे तुल्यरूपामवस्थाम्** (माघ० ११।१५)। मण्ड (पिच्छ, माँड, फेन)। **नीवारौदनमण्डमुष्णमधुरं पर्याप्तमाचामति** (उ० रा० च०)। दधि आदि के सार को मण्ड कहते हैं। करण्ड=बाँस की बनी हुई टोकरी अथवा पिटारी। **कस्यायं ताम्बूलकरण्डः?** 'भरण्ड' यह स्वामी, राजा, बैल, कृमि आदि का नाम है। 'वरण्ड'=मिट्टी का ढेर, हाथी पर बैठने के लिये आसन, हौदह, दीवार। तुण्ड (मुंह) अर्थ में इसका नपुं में ही प्रयोग मिलता है—**दशनविहीनं जातं तुण्डम्** (चर्पटमञ्जरी)। कुत्सा की विवक्षा में ही प्रयोग देखा जाता है—**बाढं ब्रवीषि, अनियन्त्रितत्वात्ते तुण्डस्य** (ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य)। पुं० में 'तुण्ड' शिव का नाम है। 'गण्ड' नानार्थक है। कपोल, मुखपार्श्व, गजगण्डस्थल, छाला, गांठ आदि सभी अर्थों में गण्ड पुँल्लिङ्ग है। 'मुण्ड' पुं० मूँडे सिर वाले पुरुष का, मूँडे हुए गंजे सिर का, नाई का, मस्तक का नाम है। सामान्य रूप से सिर अर्थ में यह नपुंसक है—**पलितमस्य मुण्डम्, तथापि विषयासङ्गं न जहाति**। वेदविरुद्ध व्रतादि आचरण, अथवा ऐसा आचरण करने वाले पुरुष को 'पाषण्ड' कहते हैं। दम्भ अथवा दाम्भिक पुरुष को भी 'पाषण्ड' कहते हैं। शिखण्ड अथवा शिखण्डक काकपक्ष का नाम है। 'शिखण्ड' सिर की चोटी पर काटते समय छोड़े हुए बालों के गुच्छे का भी नाम है, जिसे आज कल 'चोटी' कहते हैं। शिखण्ड मोर की पूँछ को भी कहते हैं। अतः मोर को 'शिखण्डिन्' कहते हैं।

११३. **वेशांश-पुरोडाशाः**। वेश, अंश, पुरोडाश—ये० पुँल्लिङ्ग होते है। वेश—**वेशो वेश्याजनसमाश्रयः। न ह्येतद्युज्यते वेशाः पुरेऽन्तः स्युरिति। सकृदंशो निपतति** (सकृत्कन्या प्रदीयते) (मनु० ९।४७), विभाग (दाय-विभाग) एक बार ही होता है। **यदुत्तिष्ठति कृष्यादिभ्यस्तस्य षष्ठोंऽशो राज्ञो भवतीति राजा षष्ठांशभुगुच्यते। सोऽयं राज्ञो रक्षानिर्वेशः। पुरो दाशन्त एनमिति पुरोडाशः।**

११४. **ह्रद-कन्द-कुन्द-बुद्बुद-शब्दाः**। ये पुँल्लिङ्ग हैं। वैरीनाग इति

प्रथते काश्मीरेषु ह्रदो यतो वितस्ता प्रभवति । अगाधजलो जलाशयो ह्रदः । शर्कराकन्द इति कन्देषु मधुरतमः । कुन्दः =चम्बेली का पौधा । कुन्दम् चम्बेली का फूल । कुन्द 'शाण' अर्थ में नित्य पुँल्लिङ्ग है—त्वष्टुरयं त्वाष्ट्रः कुन्दः । बुद्बुद=बुलबुला । सततं जातविनष्टाः पयसामिव बुद्बुदाः पयसि (पञ्च० ५।७) । नित्यः शब्द इति वैयाकरणाः, अनित्य इति च नैयायिकाः ।

११५. अर्घ-पथि-मथ्यृ भुक्षि-स्तम्ब-नितम्ब-पूगाः । ये सभी पुं० हैं । इनमें पथिन्, ऋभुक्षिन्—नकारान्त प्रातिपदिक हैं । अर्घ=पूजासामग्री, मूल्य ।

आपः क्षीरं कुशाग्रं च दधि सर्पिः सतण्डुलम् ।
यवः सिद्धार्थकश्चैव अष्टाङ्गो ऽर्घः प्रकीर्तितः ॥

पण्यानामर्घान् संस्थापयेन्नृपः, राजा विक्रेय पदार्थों का मूल्य नियत करे । अयं पन्थाः । अयमपन्थाः । इदमपथम् ।

विपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः ।
तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम् ॥

मथिन्—मन्थनदण्ड । सुष्ठु तष्टोऽयं मन्थास्तक्षकेण । 'ऋभुक्षिन्' इन्द्र का नाम है । ऋभुक्षा दारयति पुराण्यसुराणामिति पुरन्दर इति समाख्यायते । स्तम्ब, झाड़ी, गेहूँ आदि की बाली, गुच्छा, खेती काटने की दराँती । सभी अर्थों में स्तम्ब पुं० है । पश्चान्नितम्बः स्त्रीकट्याः (अमर) । उपचार से पर्वत के ढलान को भी 'नितम्ब' कहते हैं—सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् (भर्तृ० १।१९) । 'पूग' समूह का नाम है—सम्प्रति वर्षपूगा उपरतानां तातचरणानाम् । 'पूग' सुपारी को भी कहते हैं—ताम्बूलप्रियोऽयम् । पूगोऽप्यस्य प्रियः ।

११६. पल्वल-पल्लव-कफ-रेफ-कटाह-निर्व्यूह-मठ-मणि-तरङ्ग-तुरङ्ग-गन्ध-मृदङ्ग-सङ्ग-समुद्ग-पुङ्खाः । अमर के अनुसार 'पल्लव' पुन्नपुंसक है—पल्लवोऽस्त्री किलयम् । मन्देनापि वातेन पिप्पलपल्लवाः परिप्लवन्ते, थोड़ी सी वायु से भी पीपल के नये पत्ते हिलने लगते हैं । अमर के अनुसार पल्वल नपुं० है—वेशन्तः पल्वलं चाल्पसरः । गाहन्ते कर्दमकलिलानि पल्वलानि कासराः (=महिषाः) । प्रकुपिता वातपित्तकफा रोगाय कल्पन्ते । रेफ=रकार । द्वौ रेफौ वाचकेऽस्य द्विरेफो भ्रमरः । श्रेयं (श्रीञ् पाके, यत्) नो नवनीतम् । स्वः कटाहो मे दीयताम् । मूल में 'निर्यूह' पाठ चाहिये । निर्यूह के नाना अर्थ हैं—द्वार्यापीडे क्वाथरसे निर्यूहो नागदन्तके (अमर) । निर्यूह=द्वार, आपीड (बाहिर

निकली हुई लकड़ी), काढ़े का रस, खूंटी। अमर के अनुसार 'मणि' स्त्री० भी है। अयं मणिः। इयं मणिः। बाण के उस भाग को जिसमें पंख लगे हुए होते हैं, पुङ्ख कहते हैं। बाण चलाने में जो सिद्धहस्त हो उसे 'कृतपुङ्ख' कहते हैं—**कृतहस्तः सुप्रयोगविशिखः कृतपुङ्खवत्** (अमर)।

११७. **सारथ्यतिथि-कुक्षि-बस्ति-पाण्यञ्जलयः।** सारथि आदि इकारान्त शब्द पुँल्लिङ्ग हैं। सारथि और इसके पर्याय सभी पुं० हैं—यन्ता (यम्—तृच्-सु), नियन्ता, क्षत्ता (क्षद्-तृच्), संग्रहीता (सम्—ग्रह् + तृच्), प्राजिता(प्र—अज् + तृच्—सु)। नास्ति तिथिरस्येत्यतिथिः।

तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे त्यक्ता येन महात्मना।
अतिथिः स हि विज्ञेयः शेषः प्राघूर्णिकः स्मृतः॥

वस्तिः = नाभि का अधोभाग। दानेन पाणि र्न तु कङ्कणेन (विभाति)। **इमे श्रद्धालवः श्रद्धेयेऽस्मिन्विदुरे महाजने श्रद्धाकुसुमाञ्जलीनर्पयन्ति। नाञ्जलिना पयः पिबेदिति** सूत्रकाराः।

इति पुल्लिङ्गाधिकारः।

अथ नपुंसकाधिकारः।

११८. **नपुंसकम्।** यह अधिकार सूत्र है। वक्ष्यमाण सूत्रों में नपुंसकम्—यह अधिकृत जानना चाहिये।

११९. **भावे ल्युडन्तः।** भाववाची जो ल्युट् प्रत्यय तदन्त प्रातिपदिक नपुंसक होता है—गमनम्। श्रवणम्। भ्रमणम्। भक्षणम्। हसनम्। हिंसनम्। दानम्। भरणम्। पोषणम्। बन्धनम्। क्रयणम्। आकुञ्चनम्। प्रसारणम्। भाव में ल्युट् ऐसा क्यों कहा? पचनोऽग्निः। यहाँ करण में ल्युट् है। राजधानी (नगरी)। यहाँ अधिकरण में ल्युट् है।

१२०. **निष्ठा च।** भाव में जो निष्ठा (क्त क्तवतु) तदन्त प्रातिपदिक नपुंसक होता है। **अवसितं हसितं प्रसितं मुदा विलसितं ह्लसितं स्मर-भासितम्।** (भट्टि १०।६)। यहाँ 'हसितम्' में भावे क्त है, ऐसे ही विलसितम् (=विचेष्टितम्) में भी। अतः ये नपुंसक हैं। **उभावलञ्चक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम्** (रघु० २।१८)। यहाँ 'गताभ्याम्' में 'गत' में 'क्त' भाव में है। **पैतृकं गतमनुहरन्तेऽश्वाः, मातृकं गावः,** घोड़े पिता की चाल का स्वभाव से

अनुकरण करते हैं, गौएँ माता की चाल का। उष्ट्राणां विवाहेषु गीतं गायन्ति गर्दभाः।

१२१. त्वष्यञौ तद्धितौ। भाव में त्व, ष्यञ्। किं नाम गोत्वम्? सास्नादिमत्त्वं गोत्वम्। मनुष्यत्वम्।

गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं वक्तुः सैव शंसति॥

अदेवा ऋभवः पुनर् देवत्वमापुः। असुराः स्वैरपचरितैः मर्त्यत्वं ययुः। कवित्वं दुर्लभं लोके। पटस्य शुक्लः, पटस्य शौक्ल्यम् अत्रार्थेऽविशेषः? चतुरस्य भावः चातुर्यम्। निपुणस्य भावः=नैपुण्यम्। विशारदस्य भावः=वैशारद्यम्। मधुरस्य भावः=माधुर्यम्। समग्रस्य भावः सामग्र्यम्। उचितस्य भावः=औचित्यम्। अर्हतो भावः=आर्हन्त्यम् (योग्यता)। ष्यञ् को षित्त्व किया है, तत्सामर्थ्य से ष्यञन्त स्त्रीलिङ्ग भी होते हैं—चातुरी। नैपुणी। वैशारदी। माधुरी। सामग्री। औचिती। आर्हन्ती।

स्वार्थ में जो ष्यञ्, तदन्त भी नपुं० होता है—चातुर्वर्ण्यम् (चत्वारो वर्णाः)। चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः (गीता)। चातुराश्रम्यम् (=चत्वार आश्रमाः)। सामीप्यम्। सान्निध्यम्। सौख्यम् (सुखमेव सौख्यम्)।

१२१. कर्मणि च ब्राह्मणादि-गुणवचनेभ्यः। ब्राह्मणस्य भावः कर्म वा ब्राह्मण्यम्। कवेः कर्म काव्यम्। कविः क्रान्तदर्शनः, तस्य भावः काव्यं प्रज्ञत्वम्—देवस्य पश्य काव्यम् (ऋ० १०।५५।५)। मन्दस्य भावः कर्म वा मान्द्यम्। मूढाल्पापटुनिर्भग्या मन्दाः। मान्द्य=मूर्खता, अल्पता, सुस्ती (रुग्णता), दौर्भाग्य। तातस्य मान्द्यमिति चिन्ताऽऽचामतीव माम्, पिताजी अस्वस्थ हैं, इस कारण चिन्ता मुझे खाये जा रही है। अलसस्य भावः=आलस्यम्। न लसतीति अलसः। आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः।

१२२. यद्य-ढग्-यग्-अञ्-अण्-वुञ्-छाश्च भावकर्मणि। यत्—स्तेनस्य कर्म स्तेयम्। स्तेयम् इति महापातकमाहुः। य—सख्यं साप्तपदीनमुच्यते। ढक्—कपेर्भावः कर्म वा कापेयम्—एतदप्यस्य कापेयं यदर्कमुपतिष्ठति। यक्—आधिपत्यम्। अधिपतेर्भावः कर्म वा। पुरोहितस्य कर्म=पौरोहित्यम्। नरकाय मतिस्ते चेत् पौरोहित्यं समाचर। (पञ्च० २।६३)। अञ्—औष्ट्रम् (उष्ट्रस्य भावः)। कौमारम्। कैशोरम्। तिस्रोऽवस्थाः शरीरस्य कौमार्यं यौवनं जरा। कैशोरं हि निसर्गतो मुग्धं भवति। अण्—यूनो भावः=यौवनम्। स्थविरो

वृद्धः। तस्य भावः स्थाविरम्। यौवनं हि विरूमपि सुरूपं करोति। स्थाविरं च रूपवत्यपि वैरूप्यमुत्पादयति। शैशवं निसर्गसुन्दरं भवति। शुचे र्भावः शौचम्। सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् (मनु० ५।१०६)। वुञ्—अहो मानोज्ञकं सुमनसाम्। छ—अच्छावाकस्य ऋत्विग्विशेषस्य कर्म अच्छावाकीयम्।

१२३. अव्ययीभावः। अव्ययीभाव समास नपुंसकलिङ्ग होता है। नपुंसक होने से ह्रस्व हो जाता है—अधिस्त्रि कथा वर्तते, स्त्रियों के विषय में बात हो रही है। इदमुन्मत्तगङ्गं नाम देशः।

१२४. द्वन्द्वैकत्वम्। समाहारार्थ द्वन्द्व समास नपुंसकलिङ्ग होता है—पाणी च पादौ च पाणिपादम्। शीतेन जडीभूतं न प्रसरति पाणिपादम्। गवाश्वं नोऽस्तु (गावश्चाश्वाश्च समाहृताः)।

१२५. अभाषायां हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च। अभाषा अर्थात् वेद में हेमन्तशिशिर पुं० है तथा अहोरात्र—यह समास नपुंसकलिङ्ग है। सूत्र में वचन-ग्रहण अतन्त्र है। हेमन्तश्च शिशिरञ्च हेमन्तशिशिरौ। अहानि च रात्रयश्च अहोरात्राणि। अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी (ऋ० १०।१९०।२)।

१२६. अनञ्कर्मधारयस्तत्पुरुषः। यह अधिकार सूत्र है। वक्ष्यमाण सूत्रों में यह अधिकृत जानना चाहिये। नञ् तत्पुरुष तथा कर्मधारय-भिन्न तत्पुरुष नपुंसक होता है।

१२७. राजाऽमनुष्यपूर्वा सभा। राजपर्याय तथा अमनुष्य (=रक्षः पिशाच आदि) पूर्वपद होने पर सभान्त तत्पुरुष नपुंसक होता है—नृपतिसभम्। इनसभम्। इनसभेस्मिन्सभ्या न वाचि स्वतन्त्राः, तेन सभापतेर्हितमाचरितुमनीश्वराः। इदं रक्षःसभं यत्र हिंस्यते सत्यम्।

१२८. सुरा-सेनाच्छाया-शाला-निशा स्त्रियां च। सुराद्यन्त तत्पुरुष नपुं० होता है और स्त्रीलिङ्ग भी—यवसुरम्। यवसुरा। (यवानां सुरा)। दुर्बलमिदं ब्राह्मणसेनम्। दुर्बलैषा ब्राह्मणसेना, प्रतिरोद्धुमपि शत्रून्नालं किमुत प्रत्यवस्कन्तुम्। स्थितो मध्याह्नः। तिग्मं तपति तपनः, कुड्यच्छायं (कुड्यच्छायाम्) समाश्रयामः। इदं विद्याशालम् (इयं विद्याशाला) प्रकृष्यते विद्याशालान्तरात्। इदं श्वनिशं (इयं श्वनिशा वा) यत्र (कृष्णचतुर्दश्यां) श्वान उपवसन्ति। जब सभा शब्द सङ्घातवाची हो तो सभान्त तत्पुरुष नित्य नपुं० होता है—इदं स्त्रीसभं याति, यह स्त्रीसमुदाय जा रहा है।

१२९. **अनल्पे छाया ।** छायान्त तत्पुरुष नित्य नपुं० होता है जब पूर्वपद बहुत्व का वाचक हो—

इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम् ।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः ॥ (रघु० ४।२०)

यहाँ इक्षूणां छाया=इक्षुच्छायम् । इक्षुओं के बहुत्व से छाया भी बह्वी होती है । ईक्षुच्छायनिषादिन्यः—यही पाठ साधु है, 'इक्षुच्छायानिषादिन्यः' ऐसा नहीं । एकत्वावच्छिन्न इक्षु अथवा द्वित्वावच्छिन्न इक्षुओं की छाया इतनी होती ही नहीं कि जिसमें सूर्यातप से बचाओ के लिये बैठा जाय ।

१३०. **परवत् ।** उक्तलक्षण तत्पुरुष से भिन्न तत्पुरुष परवल्लिङ्ग होता है—यह सूत्र **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (२।४।२६) का स्मारक है, अपूर्व-विधि नहीं है । अतः द्वन्द्व भी परवल्लिङ्ग होता है । तत्पुरुष—अर्धं पिप्पल्याः =अर्धपिप्पली । द्वन्द्व—कुक्कुटमयूर्यौ (कुक्कुटश्च मयूरी च) । **रात्राह्नाहाः पुंसि** (२।४।२९) इस का अपवाद पढ़ा है—पूर्वं रात्रेः=**पूर्वरात्रः । अपरं रात्रेः=अपररात्रः । अपररात्रोऽस्य** स्वाध्यायकालो वर्णितः । **पूर्वाह्णः** सामगानस्य समयः। **अपराह्णः** पिण्डपितृयागस्य कालः, यं कुतप इत्याहुः। **द्व्यह-**स्तस्येतः प्रस्थितस्य, जानेऽद्य पाटलिपुत्रं प्राप्तः स्यात् । पर संख्यापूर्वक 'रात्र' क्लीव होता है—**पञ्चरात्रं पञ्चरात्रस्य यागस्य प्रारब्धस्य ।**

१३१. **अपथपुण्याहे नपुंसके । इदमपथम् । इदं जहाहि । अयं पन्थाः । अनेन याहि । अद्य पुण्याहं यदत्र भवद्भिः संभाविता नो गृहाः ।** 'सुदिनाह' भी नपुंसक होता है । **अद्य सुदिनाहं यदत्रभवतां दर्शनेनात्मानं पुनीमहे ।**

१३२. **संख्यापूर्वा रात्रिः ।** इसका उदाहरण (१३०) में दे चुके हैं । संख्या पूर्वपद न होगा तो यथाप्राप्त पुं० होगा—सर्वरात्रः । **अयं तत्तच्चिन्तयानः सर्वरात्रं जार्गात, तेन प्रजागरकृशः संवृत्तः ।**

१३३. **द्विगुः स्त्रियां च ।** चकार से नपुं० भी होता है । ऐसा विवक्षित है। त्रिलोकी । पञ्चमूली । त्रिभुवनम् । पञ्चपात्रम् ।

१३४. **इसुसन्तः ।** हविः । हवींषि भुञ्जत इति हविर्भुजो देवाः । धनुः । **शार्वं धनुर्भङ्क्त्वा रामः सीतामुपयेमे ।**

१३५. **अर्चिः स्त्रियां च ।** इसन्त होता हुआ भी अर्चिस् स्त्री० भी होता है । अमर का पाठ भी है—**ज्वालाभासोर्न पुंस्यर्चिः । सौरर्मचिः सायमग्निं संक्रामति । एता अग्नेरर्चिषो दक्षिणाभिमुखमुदीरते,** ये अग्नि की ज्वालायें दक्षिण की ओर उठ रही हैं ।

१३६. छदिः स्त्रियामेव । इसन्त छदिस् (छत) स्त्रीलिङ्ग ही होता है। पुराणीयं नश्छदिर्वर्षाभिषिक्ता प्रश्च्योतति, तेनातङ्कामः, यह हमारी पुरानी छत वर्षा से टपक रही है, इससे हम तंग आरहे हैं। अमर में पटलं छदिः ऐसा पाठ है। यहाँ 'पटल' नपुं० के साहचर्य से छदिस् भी नपुं० है, ऐसा स्वीकार करना अमर के व्याख्याताओं की भूल है।

१३७. मुख-नयन-लोह-वन-मांस-रुधिर-कार्मुक-विवर-जल-हल-धनाऽन्नाभिधानानि। मुख आदि के नाम नपुंसक होते हैं।

मुख के नाम—वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम् (अमर)। वक्त्रं चास्यं च वक्त्रास्ये। चन्द्रप्रतिस्पर्धि वक्त्रम्। वदनं प्रसादसदनं महात्मनाम्।

विदुषां वदनाद्वाचः सहसा यान्ति नो वहिः।
याताश्चेन्न पराञ्चन्ति द्विरदानां रदा इव॥ (भामिनी विलास)।

अनियन्त्रणं तुण्डं मुहेराणाम् (मुर्खाणाम्)। रमणीयतानिकेतनमाननम्। दग्धेनानेन लपनेनोचितमनुचितं वा किं किं न लपतिम्। मातैव मुखमस्येति मातृमुखो मूर्खः।

नयन के नाम—

लोचनं नयनं नेत्रमीक्षणं चक्षुरक्षिणी।
दृग्दृष्टी च............ (अमर)

लोचन, विलोचन एकार्थक हैं। उमामुखे व्यापारयामास विलोचनानि। चक्षुश्च अक्षि च चक्षुरक्षिणी। अमर पठित दृश् (प्र० एक० दृक्) तथा दृष्टि स्त्री० हैं।

जल के नाम—आपः स्त्रीभूम्नि वार्वारि सलिलं कमलं जलम्।
पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं वनम् (दकम्)॥

कबन्धमुदकं पाथः पुष्करं सर्वतोमुखम्।
अम्भोऽर्णस्तोय-पानीय-नीर-क्षीराऽम्बु-शम्बरम्॥

इन अमर-पठित-जल के पर्यायों में अप् नित्य स्त्री० है और बहुवचन में ही प्रयुक्त होता है—अच्छा इमा आपः। शक्यमिह स्वस्य प्रतिच्छाया द्रष्टुम्। इदं विमलं वाः (वार् का प्र० एक०)। इदमपि विशदं वारि। अर्णांसि सन्त्यस्येति अर्णवः।

१३८. सीरार्थोदनाः पुंसि। यह पूर्व का अपवाद है। सीरो हलम्। सीरः प्रयोजनमस्येति सैरिको हालिकः। अर्थ (=धन)। अर्थाः पादरजोपमाः।

'अर्थ' के नाना अर्थ हैं। सभी अर्थों में यह पुँल्लिङ्ग है—**अर्थोऽभिधेय-रै-वस्तु-प्रयोजन-निवृत्तिषु (अमर)**। पुरीषशब्दस्य वेदे कोऽर्थः, लोके च कः ? यहाँ अर्थ =अभिधेय=वाच्य। रै=धन। वैशेषिकाणां सप्त पदार्थाः। **प्रयोजन**—कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न धार्मिकः। **निवृत्ति**—मशकार्थो धूमः। ओदन पुं० होता है। अन्य कोषकार ओदन को नपुं० भी मानते हैं—ओदनोऽस्त्री सदीदिविः (अमर)।

१३९. **वक्त्र-नेत्राऽरण्य-गाण्डीवानि पुंसि च।** यहाँ कही हुई वक्त्र आदि की पुंल्लिङ्गता अत्यन्त अप्रसिद्ध है। हाँ गाण्डीवं पुन्नपुंसकम्—ऐसा अमर-वचन भी है।

मन्थनदण्ड की रस्सी को भी 'नेत्र' कहते हैं। इस अर्थ में भी 'नेत्र' नपुंसक ही है। महाभारत आदिपर्व श्लोक सं० ११२४ में प्रयोग भी है—**मन्थानं मन्दरं कृत्वा तथा नेत्रं च वासुकिम्।**

१४०. **अटवी स्त्रियाम्।** यह भी (१३७) का अपवाद है। **सीतां विचिन्वद्भिरटवीतो ऽटव्याहिण्डिता वानरैः।** अरण्यानी भी स्त्री० है। महद् अरण्यमरण्यानी।

१४१. **लोपधः।** लकारोपध अदन्त प्रातिपदिक नपुंसक होता है—कुलम्। कूलम्। स्थलम्। पावनमिदं द्विजकुलम्। पित्सति नद्याः कूलम्। सर्वतः सम्प्लुतोदके वयमुच्चैः स्थलमारुक्षाम।

१४२. **तूलोपल-ताल-कुसूल-तरल-कम्बल-देवल-वृषलाः पुंसि। पिचुस्तूल इत्यनर्थान्तरम्।** करका वर्षोपलः। तालो नाम वृक्षः। कुसूलः=धान्य-संग्रह स्थान, कोठला। तरलो मध्यहारगः। हार का मध्यमणि। **दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयतां कम्बलः कौण्डिन्याय। कम्बलः सास्ना। सोऽस्यास्तीति कम्बली गौः (अनड्वान्)।** इस अर्थ में कम्बलिन् का प्रयोग **'गन्त्री कम्बलिवाह्यके'** इस अमर के पाठ में आया है। देवलो महर्षिः। असितो देवलो व्यासः (गीता)। वृषल—अवस्तब्धो वृषलः शीतेन।

१४३. **शील-मूल-मङ्गल-कमल-तल-मुसल-कुण्डल-पलल-मृणाल-बाल-निगल-पलाल-खिल-शूलाः पुंसि च।** 'शील' 'बड़ा साँप' अर्थ में पुंल्लिङ्ग है। स्वभाव, चरित्र अर्थ में नियम से नपुंसक है—शीलं परं भूषणम्। खलोपासनाद् विनश्यति शीलम्। तथा हि ते शीलमुदारदर्शने तपस्विनामप्युपदेशतां गतम् (कुमार० ५।३६)। 'मूल' किसी अर्थ में भी पुँल्लिङ्ग में प्रयुक्त हुआ नहीं मिलता। सर्वत्र नपुंसक में प्रयोग हुआ है—वार्धके मुनिवृत्तीनाम् इक्ष्वा-

कूणां तरुमूलानि गृही भवन्ति । बद्धमूलस्य मूलं हि महद्वैरतरोः स्त्रियः (माघ० २।३८) । **मङ्गलं भगवान् विष्णुः ।** भद्रं भद्रं वितर भगवन् भूयसे मङ्गलाय । (मालती०) पुं० में भी क्वाचित्क प्रयोग होता है । साल पुं० वृक्षविशेष अथवा वृक्षसामान्य का नाम है । प्राकार (दीवार) को भी कहते हैं । प्रयोग पुं० में मिलता है । 'कमल' सारस पक्षी, मृगविशेष, ब्रह्मा—इन अर्थों में पुं० है । पद्म अर्थ में नपुं० है । **कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम्** (काव्य प्रकाश १०) । 'तल' ऊपरी भाग—प्रासादतलम् । **अस्मिन्महीतलेऽल्पे महाभागाः परार्थे जीवन्ति ।** यहाँ 'तल' का कुछ विशेष अर्थ नहीं । **प्रहृष्टाश्छात्रास्तलानि ददति,** छात्र प्रसन्न होकर तालियाँ बजाते हैं । **फणी मयूरस्य तले निषीदति** (ऋतु०) । मयूरस्य तले=मोर के नीचे । खड्गमुष्टि के अर्थ में 'तल' पुं० है । 'तल' वृक्ष के अर्थ में भी । **मुसलमिदमियं च पातकाले मुहुरनुयाति कलेन हुंकृतेन** (मुद्रा० १।४) ।

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।
मुसलोलूखले चैव[1] बध्यते यास्तु वाहयन् ।। (मनु० ३।६८) ।

'मुसल' गदा का भी नाम है । मुसल (मुसलं वा) अस्यास्तीति मुसली बलरामः । कुण्डलः कुण्डलं वास्यास्ती कुण्डली सर्पः ।

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले (रा० ४।६।२२) ।

पलालोऽस्त्री स (काण्डः, नालम्) निष्फलः (अमर) । 'पलल' मांस अर्थ में नपुं० है । **पिशितं मांसं पललं क्रव्यमामिषम्** (अमर) । राक्षस अर्थ में पुं० है । **अथास्त्रियां मृणालं बिसम्** (अमर) । बाल तथा बाल के पर्याय सभी पुं० हैं—**चिकुरः कुन्तलो वालः कचः केशः शिरोरुहः** (अमर) । निगल=निगड । लोहशृङ्खला । निगडः संजातोऽस्येति निगडितः । निगलितः । निगडितोऽपराद्धः कारां नीयते रक्षिभिः । खिल=अप्रहत । इस अर्थ में 'खिल' त्रिलिङ्गी है । अप्रहतो भूभागः खिलः । अप्रहतं भूखण्डं खिलम् । अप्रहता भूः खिला । 'परिशिष्ट अंश' अर्थ में खिल पुन्नपुंसक है—**अथर्ववेदे कुन्तापसूक्तानि खिलानि** (खिला वा) । शूल आयुध तथा रोग (तीव्र वेदना) अर्थ में पुन्नपुंसक है । सूली भी अर्थ है । **इदं निशम्य शूलमिवोपजायते श्रवणयोः । शूलो नामायुधमस्यास्तीति शूली रुद्रः ।**

---

१. कण्डनी चोदकुम्भश्च—ऐसा पाठान्तर है ।

१४४. शतादिः संख्या । शतम् । सहस्रम् । शतं पुरुषाः । सहस्रं स्त्रियः। शतं पुस्तकानि । सहस्रं समाः (=संवत्सराः) ।

१४५. शतायुतप्रयुताः पुंसि च । यह पूर्व सूत्र का अपवाद है । अयुत= दस हजार । प्रयुत=दस लाख । इन का पुं० में प्रयोग अन्वेष्य है ।

१४६. लक्षा कोटिः स्त्रियाम् । **वा लक्षा नियुतं च तत्** (अमर) । इस अमर वचन के अनुसार लक्ष नपुं० भी होता है ।

कियती पञ्चसहस्री कियती लक्षाऽथ कोटिरपि कियती ।
औदार्योन्नतमनसां रत्नवती वसुमती कियती ॥
त्रिंशतं कोटीर्जनानशात्सम्राडशोकः ।

१४७. शङ्कुः पुंसि । शङ्कुः=दस करोड । सम्प्रति वङ्गलादेश इति समाख्यायमाने भूभागे शङ्कुर्जनाः पुराऽवात्सुः ।

१४८. मन्द्वयच्कोऽकर्तरि । द्वयक्षर मन्नन्त प्रातिपदिक जो कर्तृवाची न हो, वह क्लीव होता है—वर्म । भर्म (स्वर्ण) । चर्म । 'द्वयक्षर' ऐसा क्यों कहा ? अणिमा । गरिमा । महिमा । ये अनेकाच् हैं, अतः नपुंसक नहीं हैं (पुंल्लिङ्ग हैं) । ब्रह्म वर्म ममान्तरम् (ऋ० ६।७५।१९) । **एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः** (ऋ० १०।९०।३) ।

'अकर्तरि' ऐसा क्यों कहा ? ददातीति दामा (मनिन्प्रत्ययः) । यह दामन् पुं० है ।

१४९. ब्रह्मन् पुंसि च । ब्रह्मन् चतुर्मुख देवता विशेष 'अब्जयोनि' अर्थ में पुं० है । असंग अनुपहित परमत्मा, मन्त्र, प्रार्थना, ब्राह्मण-जाति अर्थों में नपुंसक है । **तेषामाविरभूद् ब्रह्मा परिम्लानमुखश्रियाम्** (कुमार० २।२) । **यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः** (कठ० उ० १।२।२५) । **सदसद्विलक्षणया माययोपधीयते ब्रह्मेति शाङ्करा अद्वैतिनः** ।

१५०. नामरोमणी नपुंसके । यह (१४८) का प्रपञ्चमात्र है ।

भग्ना अभिधानकृतो विवरीतारश्च यत्र विभ्रान्ताः ।
नामानि तानि भङ्क्तुं गहनमहो अध्यवसिताः स्मः ॥ (क्षीरस्वामी)

तदिदमाकस्मिकं वृत्तं हर्षयति नो रोमाणि ।

१५१. असन्तो द्वयच्कः । असु-प्रत्ययान्त द्वयक्षर प्रातिपदिक नपुं० होता है—यशः । पयः । तपः । तेजः । मनः । वर्चः (तेज, विष्ठा) । 'द्वयच्क' ऐसा क्यों कहा ? चन्द्रमाः । अनेकाच् होने से पुं० है ।

१५२. **अप्सराः स्त्रियाम्** । यह भी असुन्प्रत्ययान्त है । 'अप्सरस्' प्रायः बहुवचन में प्रयुक्त होता है । कभी-कभी एकवचन में भी—**उर्वशी नामाप्सराः**।

१५३. **त्रान्तः** । छत्रम् । पत्त्रम् । पात्रम् । सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् इस औणादिक सूत्र से विहित ष्ट्रन् का यहाँ ग्रहण है और हु-या-मा० सूत्र से विहित त्रन् का भी । अष्टाध्यायीस्थ **दाम्नीशस्०** (३।२।१८२) सूत्र से विहित ष्ट्रन् का भी । दात्रम् । नेत्रम् । शस्त्रम् । योत्रम् । योक्त्रम् । तोत्त्रम् (आर) । स्तोत्रम् । सेत्रम् । सेक्त्रम् । मेढ्रम् (=लिङ्गम्) । पत्त्रम् ।

१५४. **यात्रा-मात्रा-भस्त्रा-दंष्ट्रा-वरत्राः स्त्रियामेव । वर्षा इति स्थिता यात्रा विजिगीषूणां क्षत्रियाणाम् । कया मात्रया सेवितव्योऽयमगदः**, यह औषध (मुझे) कितनी मात्रा में लेनी चाहिये । **इयं लोहकारभस्त्रा यां धमनिमप्याहुः । आश्यां दंष्ट्रायां विषमस्त्येत्याशीविषः सर्पः** । वरत्रा=चर्म की पेटी जो अश्वादि की छाती के नीचे बांधी जाती है ।

१५५. **भृत्राऽमित्र-च्छात्र-पुत्त्र-यन्त्र-वृत्र-मेढ्रोष्ट्राः पुंसि** । भृत्र आदि सब पुं० है । न मित्रममित्रः । तस्य मित्राण्यमित्रास्ते, उसके मित्र तेरे शत्रु हैं । 'अमित्र' में औणादिक इत्रच् प्रत्यय हुआ है, ऐसा मानना भ्रान्ति है । वर्तमान सूत्र से परवल्लिङ्गता का निषेध हो जाता है । अमि चमि० औणादिक सूत्र से 'क्त्र' प्रत्ययान्त मानने से भी दोष आता है । इडागम होने पर 'इत्र' प्रत्यय हो जाता है । प्रत्यय स्वर से 'अमित्र' मध्योदात्त हो जायगा, जो अनिष्ट है । नञ् समास में स्वर भी ठीक रहता है । अव्यय पूर्वपद प्रकृति-स्वर होने से 'अमित्र' आद्युदात्त रहेगा । **नञो जरमरमित्रमृताः** (६।२।११६) की प्राप्ति नहीं, कारण कि उस सूत्र का बहुव्रीहि समास विषय है ।

१५६. **पत्र-पात्र-पवित्र-सूत्र-च्छत्राः पुंसि च** । पत्र शब्द नानार्थक है, पर सभी अर्थों में नपुंसक में ही प्रयोग मिलता है । **पत्रं नैव यदा करीरविटपे सूर्यस्य किं दूषणम्** (भर्तृ०) । पत्रम्=पक्षः । यह अर्थ पत्ररथः (=पक्षी) में प्रसिद्ध है । पत्रे पक्षौ स्तोऽस्येति पत्री पक्षी । पत्रं वाहनं भवति । **दिशः पपात पत्रेण वातनिष्कम्पकेतुना** (रघु० १५।४८) में यह अर्थ प्रसिद्ध है । पात्रं भाजनमित्यनर्थान्तरम् । **पात्रमयं बटुर्गुरोराशिषाम्** । पात्र=अर्ह, योग्य । आढक अर्थ में पात्र पुंल्लिङ्ग है । 'छत्र' छत्रक, कुकुरमुत्ता अर्थ में पुं० है ।

१५७. **बल-कुसुम-शुल्ब-पत्तन-रणाभिधानानि** । बल आदि के पर्याय नपुं० होते हैं । बल के नाम प्रायः ये हैं—

द्रविणं तरः सहो-बल-शौर्याणि स्थाम शुष्मं च। (अमर)

इनमें तरस् का प्रायः 'तरसा' इस रूप में ही लोक में प्रयोग होता है। अतः सुवन्तप्रतिरूपक अव्यय मान लिया जाता है। ऐसे ही सहस् के विषय में जानें। वेद में इन दोनों के दूसरी विभक्तियों में भी रूप मिलते हैं—**सहोऽसि सहो मयि धेहि** (शु० यजुः १६।६)। 'स्थामन्'—यह नकारान्त प्रातिपदिक है। इसका अर्थ 'अश्वत्थामन्' शब्द में स्पष्ट है। **अश्वस्येव स्थाम बलं यस्य सोऽश्वत्थामा।** 'शुष्म' अदन्त प्रातिपदिक है। यह वेदमात्रगोचर है। 'शुष्मिन्' इन्द्र के विशेषण के रूप में वेद में बहुशः प्रयुक्त हुआ है। 'शुष्मन्' नकारान्त प्रातिपदिक अग्नि अर्थ में पुं० है—**बर्हिः शुष्मा कृष्णवर्त्मा** (अमर)। शुल्व=ताँबा। इसके पर्याय ये हैं—

अथ ताम्रकम्।

शुल्बं म्लेच्छमुखं द्वयष्ट-वरिष्ठोदुम्बराणि च (अमर)।

म्लेच्छदेशो मुखमुत्पत्तिरस्येति म्लेच्छमुखम्। द्वे हेमरूप्ये अश्नुते स्म इति द्वयष्टम्। उदुम्बर। उदुम्बरस्य विकार औदुम्बरो घटः। पत्तन, नगर, पुर, पुटभेदन, स्थानीय—ये सब नपुं० हैं। वस्तुतः इनका पर्यायत्व अदूरविप्रकर्षात् (थोड़ा भेद होने से) है, ये पुरविशेष की संज्ञायें हैं। 'रण' के नाम बाहुल्येन नपुंसक हैं—

युद्धमायोधनं जन्यं प्रधनं प्रविदारणम्।
मृधमास्कन्दनं संख्यं समीकं साम्परायिकम्॥ (अमर)

युद्धम्। आयोधनम्। जन्यम्। प्रधनम्। प्रविदारणम्। मृधम्। आस्कन्दनम्। संख्यम्। समीकम्। साम्परायिकम्। पुं० में 'सम्पराय' भी है—**युद्धायत्योः सम्परायः** (अमर), सम्पराय युद्ध और परलोक का नाम है। बहुत से युद्ध के नाम पुंल्लिङ्ग भी हैं—

सम्प्रहाराऽभिसम्पात-कलि-संस्फोट-संयुगाः।
अभ्यामर्द-समाघात-सङ्ग्रामाऽभ्यागमाऽहवाः॥

कलहविग्रहौ।

कुछ एक स्त्रीलिङ्ग हैं—**संयत्-समित्याजि-समिद्युधः।** संयत्। समिति। आजि। समित्। युध्। कर्तरि क्विबन्त युध्। (योद्धृ, योध) त्रिलिङ्गी है।

अचिरातीतायां युधि युधां वराः शतशः क्षत्रियाः स्वस्य देशस्य रक्षार्थे जीवितमहासुः ।

कुछ एक पुन्नपुंसक भी हैं—समर, अनीक, रण ।

१५८. **पद्म-कमलोत्पलानि पुंसि च** । पद्म आदि कुसुम-वाचक होने पर भी द्विलिङ्गक हैं । प्रयोग में तो इनकी पुँल्लिङ्गता अप्रसिद्ध है ।

पद्म को 'कमल' अर्थ में कोषकार पुंन्नपुंसक मानते हैं । कवि लोग पुं॰ में प्रयोग नहीं चाहते । आलङ्कारिक मम्मट आदि पुंस्त्व में प्रयोग को दोष मानते हैं । कमल भी 'पद्म' अर्थ में नपुं॰ ही है । सारस पक्षी का तथा ब्रह्मा का वाचक 'कमल' पुं॰ है । उत्पल शब्द की नीलोत्पल में रूढि है । इसका भी नपुं॰ में ही प्रयोग मिलता है ।

१५९. **आहव-संग्रामौ पुंसि** । स्पर्धयाऽऽहूयन्तेऽत्रेत्याहवः ।

१६०. **आजिः स्त्रियामेव** । 'आजि' स्त्रीलिङ्ग ही होता है । यह पूर्व सूत्र का अपवाद है । वेद में आजि पुं॰ है । अर्थभेद भी है, स्पर्धा से दौड़ लगाना अर्थ है । **तावाजिमाजतुः** । दौड़ के मैदान को भी 'आजि' कहते हैं ।

१६१. **फलजातिः** । फलवाची शब्द नपुंसक होते हैं—**आमलक्याः फलमामलकम् । आम्रस्य फलम् आम्रम् । आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे**—यहाँ आम्र वृक्ष अभिप्रेत है, अतः पुँल्लिङ्ग में प्रयोग हुआ है । पर **हरीतक्याः फलानि हरीतक्यः** (स्त्री॰) ।

१६२. **वृक्षजातिः स्त्रियामेव** । कहीं ही ऐसा है । हरीतकी । आमलकी ।

१६३. **वियज्जगत्सकृत्शकन्-पृषत्-शकृद्-यद्-उदश्वितः** । वियत् आदि नपुंसक हैं । वियत् (=आकाश) और वियत् के कई एक पर्याय नपुंसक हैं—अभ्र, व्योमन्, पुष्कर, अम्बर, नभस्, गगन, अनन्त, सुरवर्त्मन्, ख, विष्णुपद । **उडुसहस्रैरपि मण्डितं वियन्न तथा वितमस्कं भवति यथैकेनोडुपतिना । त्रीणीमानि जगन्ति भगवति परमात्मनि सविकाशमासतेऽतिरिच्यते च सः ।** सकृत्=शकृत् । तालव्यादि अधिक प्रसिद्ध है । **शकृत् करोतीति शकृत्करिर्वत्सः** । शकन्—यह शकृत् का आदेश है । द्वितीया बहु॰ शस् प्रभृति विभक्तियों में ही इस के रूप उपलब्ध होते हैं । वेद में प्रायः प्रयोग पाया जाता है, लोक में अति विरल है । पृषत्=बिन्दु । कुछ लोग इसका बहुवचन में ही प्रयोग मानते हैं । पुं॰ में 'चितकबरा हिरन' अर्थ में पृषत (अदन्त पुं॰) तथा 'पृषन्ति' (पुं॰, बूंद) का प्रयोग मिलता है—**पयःपृषन्तिस्पृष्टा वान्ति वाताः**

शनैः शनैः । उदश्वित् (छास) । **यदि प्रात नित्यमुदश्वित्पास्यसि शमिष्यति ते पित्तम् ।**

१६४. **नवनीतावतानाऽनृताऽमृत-निमित्त-वित्त-चित्त-व्रत-रजत-वृत्त-पलितानि ।** नवनीत आदि सभी नपुं० हैं। नवनीत (मक्खन)। नवनीतं नवोद्धृतम् (अमर)। नवनीतमिव कोमलमस्य हृदयम् । अवतान=वितान (उल्लोच, चँदोआ) । अवतान का प्रसिद्ध अर्थ है फैलाव, धनुष् का खींचना, लतादि का प्रतान । अमर 'व्रत' को 'अस्त्री' मानता है—**नियमो व्रतमस्त्री** । पलित= वृद्धत्व के कारण बालों की श्वेतता । स्वार्थ में ष्यञ् करके 'पालित्य' का भी प्रयोग होता है। **पलितं (पालित्यं) जातमस्य शिरस इति पलितशिराः ।** यहाँ अर्श आदि होने से मत्वर्थीय अच् जानना चाहिये ।

१६५. **श्राद्ध-कुलिश-दैव-पीठ-कुण्डाऽङ्काङ्ग-दधि-सक्थ्य-क्ष्याऽऽस्याऽऽस्पदाऽऽकाशकण्व-बीजानि ।** श्रद्धावत्कर्म श्राद्धं पिण्डपितृयागः। कुलिश=वज्र । कुलिशं पाणावस्येति कुलिशपाणिर् इन्द्रः । अङ्क गोद अर्थ में नपुंसक भी है, अर्थान्तर चिह्नादि में सर्वत्र पुं० है। दधि, सक्थि (रान) अक्षि की नपुंसकता प्रसिद्ध है। आस्य (मुख) भी नियत नपुंसक है। आस्पद=स्थान । **एते गुणसंस्तवान्नः स्नेहस्यास्पदं जाताः । इमे च सूचका इति शङ्कास्पदम् ।** कण्व= पाप । **महदिदं कण्वं यद्विज्ञोप्यजानान इव चिकीर्षसि ।** बीज—यह उपचरित तथा अनुपचरित सभी अर्थों में नपुंसक है। **प्रजानामपरागे राज्ञोऽतितीक्ष्णतैव बीजमिति विद्धि ।**

१६६. **दैवं पुंसि च ।** यह (१६५) का अपवाद है। पूर्वजन्मकृतं कर्म तद् दैवमिति कथ्यते । **दैवमविद्वांसः प्रमाणयन्ति**—इत्यादि स्थलों में 'दैव' नपुं० है। 'दैव' दैवविवाह के अर्थ में प्रयुक्त हुआ पुं० होता है।

१६७. **धान्याऽऽज्य-सस्य-रूप्य-पण्य-वर्ण्य-धृष्य-हव्य-कव्य-काव्य-सत्याऽपत्य-मूल्य-शिक्य-कुड्य-मद्य-हर्म्य-तूर्य-सैन्यानि ।** धान्य आदि सैन्यान्त ये शब्द नपुं० हैं।

यस्य त्रैवर्षिकं धान्यं निहितं भृत्यवृत्तये ।
अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ॥

आज्य, सर्पिस्, घृत—सभी नपुं० है। वर्ण्य (कुङ्कुम=केसर) अर्थ में नपुं० है। वर्णनीय, व्याख्येय अर्थ में वाच्यलिङ्गक है। **वर्ण्यो गुणग्रामः । वर्ण्यं सूत्रम् (व्याख्येयमित्यर्थः) । वर्ण्या त्रिसूत्री ।** हव्यं=हविः । **कव्यम् पितृभ्यो**

देयमन्नम् । काले हि हव्यकव्ये प्रदीयेते नाकाले । देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति (अथर्व० १०।८।३२) । यहाँ कविः=क्रान्तदर्शनः, तस्य भावः । शिक्य=छिक्का । कुड्यमिदं जीर्णमिति पतनोन्मुखं वर्तते । येन माद्यन्ति तन्मद्यम् । न पतति पिताऽनेनेत्यपत्यं पुत्रः । बह्वपत्यः=बहुप्रजः । हर्म्य= धनियों का वास-स्थान । हर्म्यादि धनिनां वासः (अमर) । वार्धुषिकाणां श्रीयुतानां हर्म्याणि सासूयं पश्यन्त्युत्सेधजीविनः, वृद्धिजीवी धनियों के महलों को श्रमजीवी क्रोधभरी दृष्टि से देखते हैं । सेनैव सैन्यम्, स्वार्थ में ष्यञ् ।

१६८. द्वन्द्व-वर्ह-दुःख-वडिश-पिच्छ-बिम्ब-कुटुम्ब-कवच-वर-शर-वृन्दारकाणि । द्वन्द्वं कलहयुग्मयोः (अमर) । स्त्रीपुंसयोरिदं द्वन्द्वं (कलहं) को नामाभिरोचयेत् ।

परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत् ।
अस्मिन्द्वये रूपविधानयत्नः पत्युः प्रजानां विफलोऽभविष्यत् ॥
(कुमार० ७।६६) ।

वर्ह=पिच्छ=मयूर पंख । वर्हे सतोऽस्येति वर्ही (बर्हिण इत्यपि) । कुटुम्ब, कुटुम्बक, दोनों नपुं० हैं—उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् । 'वर' मनाक्प्रिय (कुछ अच्छा) अर्थ में नपुंसक है—वरं शून्या शाला । याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा (मेघ०) । प्रसन्न हुए देवता आदि से जो मांगा जाता है उसे भी 'वर' कहते हैं, वह नित्य पुं० है, वर एषः, नाशीः । बाण-पर्याय शर नित्य पुमान् है, पर जलवाची 'शर' नपुंसक है (मेदिनी) । 'दधि का अग्रभाग' (मलाई) अर्थ में भी शर पुं० ही है । वृन्दारक देवता अर्थ में प्रयुक्त होता है, मनोज्ञ तथा मुख्य (श्रेष्ठ) अर्थ में भी । सर्वत्र पुं० में प्रयोग मिलता है ।

१६९. अक्षमिन्द्रिये । निरोधाच्चेतसोऽक्षाणि निरुद्धान्यखिलान्यपि (पञ्च० २।१५४) । पाशक (पासा), व्यवहार (मुकद्दमा), चक्र की धुरा, छकड़ा (अथवा छकड़े का पहिया), तराजू की डंडी आदि अर्थों में अक्ष पुं० है ।

इति नपुंसकाधिकारः ।

अथ स्त्रीपुंसाधिकारः ।

१७०. स्त्रीपुंसयोः । यह अधिकार सूत्र है ।

१७१. गो-मणि-यष्टि-मुष्टि-पाटलि-वस्ति-शाल्मलि-त्रुटि-मसि-मरीचयः ।

अयं गौः (पुंगवः,वृषः) इयं गौः (स्त्रीगवी) । अयं मणिः । इयं मणिः । रत्नं मणिर्द्वयोः (अमर) । **परार्ध्योऽयं मणिः । अनर्घेयं मणिः** 'यष्टि' का पुं० में प्रयोग मृग्य है । **इयं यष्टिर्जरठस्य मेऽवलम्बनाय । पुत्रि ! मा साहसं कृथाः, असहेयं तेऽङ्गयष्टि** (=तेरा कोमल शरीर) **रस्य तपोभरस्य । वेत्थ देवदत्त ममायं मुष्टिः किमनुभवति**, देवदत्त जानते हो मेरी मुट्ठी में क्या है ? **अहो दृढा मुष्टिर्मल्लस्य ।** कोषकार तो 'पाटलि' (एक श्वेतरक्त पुष्पविशेष) को स्त्री० ही मानते हैं । यह वही शब्द है जो पाटलिपुत्र (पटना का पुरातन नाम) में श्रूयमाण है । अतः पाटलिपुत्र को पुष्पपुर अथवा कुसुमपुर भी कहते हैं। 'शाल्मलि' को भी कोषकार पुं० ही मानते हैं । त्रुटि (लव, लेश, कण), अथवा क्षण का चतुर्थ भाग । सर्वत्र स्त्री० है । मसि उभयलिङ्ग है । 'मषी' ऐसे भी लिखा जाता है । **भानुः करो मरीचिः स्त्रीपुंसयोः** (अमर) । **उष्णैः सवितुर्मरीचिभिः सन्तप्यामहे । अचिरोदितस्यादित्यस्य मरीचीः सेवेत दृशोरुपकाराय ।**

१७२. **मृत्यु-सीधु-कर्कन्धु-किष्कु-कण्डु-रेणवः । अन्तो नाशो द्वयोर्मृत्युः** (अमर) । **जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च** (गीता) । **विशुद्धस्य हि मे मृत्युः पुत्रजन्मसमो भवेत्** (मृच्छकटिक) । **क्षत्रियस्य हि रणे मृत्युरिष्टः । किष्कुर्हस्तचतुष्टयम् ।** किष्कु प्रकोष्ठ को भी कहते हैं । कण्डु (पुं०, स्त्री०) =कण्डू (स्त्री०) खुजली । 'कण्डुर' पुं० =खुजलाना । रेणु=धूलि । तुरगखुरहतो रेणुर्गच्छतां नो मुखमावृणोति ।

१७३. **गुणवचनमुकारान्तं नपुंसकं च ।** पटुरयं विप्रः । पट्वीयं विप्रा । पटि्वदं विप्रकुलम् ।

१७४. **अपत्यार्थस्तद्धिते ।** उपगोरपत्यं पुमान् औपगवः । उपगोरपत्यं स्त्री औपगवी । जरत्कारोरपत्यं पुमान् जारत्कारवः । जरत्कारोरपत्यं स्त्री जारत्कारवी ।

इति स्त्रीपुंसाधिकारः ।

अथ पुन्नपुंसकाधिकारः ।

१७५. **पुन्नपुंसकयोः ।** यह अधिकार सूत्र है ।

१७६. **घृत-सूत-मुस्त-क्ष्वेलितैरावत-पुस्तक-बुस्त-लोहिताः ।** अर्धर्च आदि गण में जो घृतादि का पाक्षिक पुंस्त्व कहा है वह वेदमात्रगोचर जानना चाहिये—**अर्धर्चादौ घृतादीनां पुंस्त्वाद्यं वैदिकं ध्रुवम्** (अमर) । वेद में 'घृत' का अर्थ जल भी है । 'सूत'—यह पारद (पारा) अर्थ में पुन्नपुंसक है । 'सारथि'

अर्थ में केवल पुं०। मुस्त (एक प्रकार का घास)। यह तीनों लिङ्गों में देखा जाता है—मुस्तः। मुस्तम्। मुस्ता।

विस्रब्धं क्रियतां वराहततिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले (शाकुन्तल २।६)। क्ष्वेडित=क्ष्वेडा, सिंह-गर्जन, संग्राम-घोष। 'ऐरावत'=इन्द्र का हाथी। 'महान निर्जल भूविस्तार' अर्थ में 'ऐरावत' नपुं० है। 'पुस्तक' का कामसूत्र तथा पञ्चतन्त्र में पुँल्लिङ्ग में प्रयोग आया है। प्रायः यह नपुंसक में प्रयुक्त होता है। 'बुस्त'=भूने हुए मांस का ऊपरी भाग, फल का छिलका। 'लोहित' रुधिर अर्थ में नपुं० है। मङ्गल-ग्रह के अर्थ में पुँल्लिङ्ग है।

१७७—**शृङ्गाघ-निदाघोद्यम-शल्य-दृढाः।** चारुशृङ्गी गौः। चारू शृङ्गी चारुणी शृङ्गे वा स्तोऽस्या इति। पर्वत के शिखर को भी शृङ्ग कहते हैं—**अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभिः** (मेघ०)। प्राधान्य, प्रभुता को भी शृङ्ग कहते हैं—**शृङ्गं स दृप्तविनयाधिकृतः परेषामत्युच्छ्रितं न ममृषे न तु दीर्घमायुः** (रघु० ९।६२)। प्राधान्य अर्थ 'शृङ्गार' शब्द में भी विद्यमान है—**शृङ्गं प्राधान्यमियर्तीति शृङ्गारो रसः।** शृङ्ग नाम पिचकारी का भी है—**वर्णोदकैः काञ्चनशृङ्गमुक्तैः** (रघु० १६।७०)। इन सभी अर्थों में शृङ्ग का नपुंसकलिङ्ग में ही प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। 'अघ' शब्द नानार्थक है—**अंहोदुःखव्यसनेष्वघम्** (अमर)। 'अघ' नाम पाप, दुःख, विपत्ति का है। सूतक-पातक आदि के कारण स्मार्त आशौच को भी 'अघ' कहते हैं। पर सब अर्थों में 'अघ' नपुंसक ही मिलता है। **अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्** (मनु० ३।११८)। **अघं ते भुञ्जते पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्** (गीता ३।१३)। **न वधूष्वघानि विमृशन्ति** (किरात० ६।४५)। यहाँ अघ=हानि, आघात। **क्रियादघानां मघवा विघातम्** (किरात० ३।५२) यहाँ अघ=दुःख, विपत्ति, अनिष्ट। **न वर्धयेदघाहानि** (मनु० ५।८४), आशौच के दिनों को बढ़ाये नहीं। निदाघ=ग्रीष्म ऋतु का नाम है। **ज्येष्ठाषाढौ निदाघः।** गरमी को भी 'निदाघ' कहते हैं। नपुंसक में निदाघ का प्रयोग मृग्य है। उद्यमः=उद्योगः। यह नित्य पुं० है। इस का प्रकृत सूत्र में प्रक्षेप हुआ है ऐसा प्रतीत होता है। 'शल्य' क्ष्वेडा(वंश=बाँस), शङ्कु (=खूँटा), शर (=बाण) अर्थों में नपुंसक है, और श्वाविध् (सेहा) अर्थ तथा मदनवृक्ष के अर्थ में पुँल्लिङ्ग है। दृढ का विशेषण रूप में तीनों लिङ्गों में प्रयोग मिलता है।

१७८. **व्रज-कुञ्ज-कुथ-कूर्च-प्रस्थ-दर्पार्भा-र्धर्च-दर्भ-पुच्छाः।** व्रज, समूह,

गोष्ठ आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है, पर सर्वत्र पुं० दीखता है। **नेत्रव्रजाः पौर-जनस्य तस्मिन्विहाय सर्वान्नृपतीन्निपेतुः** (रघु० ६।७)। **निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे** (अमर)। **चल सखि कुञ्जं सतिमिरपुञ्जं शीलय**[1] **नीलनिचोलम्** (गीतगोविन्द)। 'कुथ' शब्द तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त होता है— कुथः। कुथम्। कुथा। कुथ=हाथी की शोभा के लिये चित्रित वस्त्र, अथवा दरी। कूर्च नानार्थक है। कूर्च=गुच्छा, दाढ़ी, मयूरपंख। **लम्बकूर्चा इमे तापसाः।** लम्वाः कूर्चाः लम्वानि कूर्चानि वा येषां ते। **स्नुः प्रस्थः सानुरस्त्रियौ** (अमर)। **प्रस्थोऽस्त्रियां मानभेदे।** दर्प का नपुं० में प्रयोग दुर्लभ है। अर्भ—यह छन्दोमात्र-गोचर है। लोक में तो 'अर्भक' का ही प्रयोग देखा जाता है। अर्भ, अर्भक अल्प, बच्चा— इन दो अर्थों का वाचक है, पर नपुंसक में बच्चे अर्थ में प्रयोग दुर्लभ है। अर्धमृचः=अर्धर्चः। अर्धर्चम्।

१७९. **कबन्धौषधायुधान्ताः।** कवन्ध, औषध, आयुध, अन्त—ये पुन्नपुं० हैं। जलवाची 'कबन्ध' नपुं० है—**कबन्धमुदकं पाथः** (अमर)। सिर कटे हुए देह के अर्थ में कवन्ध पुन्नपुंसक है—**कबन्धोऽस्त्री चेष्टायुक्तमपमूर्धकलेवरम्** (अमर)। 'औषध' प्रायः नपुंसक में प्रयुक्त होता है। अमर इसका नपुं० में ही पाठ करता है—**आयुधं तु प्रहरणं शस्त्रमस्त्रम्।** अयम् अन्तः। इदमन्तम्। **अथाऽस्त्रिया-मन्तः** (अमर)। इस पर क्षीरस्वामी का वचन है—**धर्मिवृत्तित्वेप्यस्त्रीलिङ्गः —कुलस्यान्तः प्रभुस्त्रियः।**

१८०. **दण्ड-मण्ड-खण्ड-शव-सैन्धव-पार्श्वाऽऽकाश-कुश-काशाऽङ्कुश-कुलिशाः।** कुणपः शवमस्त्रियाम् (अमर)। सिन्धुज अश्व अथवा अश्वसामान्य अर्थ में सैन्धव पुं० है। लवण अर्थ में पुन्नपुंसक है। **बाहुमूले उभौ कक्षौ पार्श्वमस्त्री तयोरधः** (अमर)। **पिठरं क्वथदतिमात्रं निजपार्श्वानेव दहतितराम्** (पञ्च० १।३२४)। **वा पुंस्याकाशविहायसी** (अमर)। घटेनोपहित आकाशः=घटा-काशः। **तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः** (तै० उ० २।१)। **सम्प्रति साभ्रमाकाशम्, इतो होरायां तु निरभ्रमभूत्** (अब आकाश मेघाच्छन्न है, इससे एक घंटा पहले मेघरहित था)। कुश, काश (तृणविशेष)—दोनों पुन्नपुंसक हैं। **कुशं काशं वाऽलम्ब्य कलहाय मा युक्थाः।** **अङ्कुशोऽस्त्री सृणिः स्त्रियाम्** (अमर)। **त्यजति तु यदा मोहान्मार्गं तदा गुरुरङ्कुशः** (मुद्रा० ३।६)। **विक्रीते**

---

१. 'शीलय' का 'धारय' अर्थ में प्रयोग किया है। शील उपधारणे चुरादि। उपधारण का अर्थ अभ्यास है। धारणमात्र नहीं। अतः यह प्रयोग असाधु है।

करिणि किमङ्कुशे विवादः। वृत्रस्य हन्तुः कुलिशं कुण्ठिताश्रीव लक्ष्यते (कुमार० २।२०)।

१८१. **गृह-मेह-देह-पट्ट-पटहाऽष्टापदाऽम्बुद-ककुदाश्च** । गृह का पुं० में प्रयोग अन्वेष्य है। मेह (=मूत्र) का पुं० में ही प्रयोग देखा जाता है। देह पुन्नपुंसक है (काय केवल पुंल्लिङ्ग है)। **देहो ह्यात्मना सन्दिह्यते नास्तिकैः। नश्वरं देहं भौतिकत्वात्**। ललाटपट्टः। ललाटपट्टम्। **ध्मातः शङ्खः, ताडितो-युद्धपटहः। सज्जाः सैनिकाः**। अष्टापद (अस्त्री०) के विषय में पूर्व कहा जा चुका है। अम्बुद (=मेघ)। इस का नपं० में प्रयोग दुर्लभ है। ककुद पर्वत शिखर, वृष का कुहान, श्रेष्ठ, प्रधान आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है—त्रिककुत् पर्वतः। यहाँ 'ककुद' को अ-लोप (अन्त्य 'अ' का लोप) समासान्त होता है। ककुद्मान् (बढ़े हुए कुहानवाला) वृषभ। यहाँ ककुद् दकारान्त है। **इक्ष्वाकुवंश्यः ककुदं नृपाणाम्** (रघु० ६।७१)। यहाँ 'ककुद' का श्रेष्ठ अर्थ है।

इति पुन्नपुंसकाधिकारः।

१८२. **अविशिष्टलिङ्गम्**। अब ऐसे शब्दों के विषय में कहेंगे जो तीनों लिङ्गों में समानरूप रहते हैं। तत्तल्लिङ्गवाचकताप्रयुक्त-कार्यविशेषशून्याः शब्दाः साम्प्रतमधिक्रियन्त इत्यर्थः।

१८३. **अव्ययं कति-युष्मदः**। **अव्यय**—श्वः। ह्यः। ऐषमः। परुत्। परारि। सम्प्रति। साम्प्रतम्। सकृत्। अभीक्ष्णम्। अद्धा। अञ्जसा। सुष्ठु। अपष्ठु। कति पुरुषाः। कति स्त्रियः। कति पुस्तकानि। कति—यति (जितने), तति (उतने) का उपलक्षण है। 'युष्मद्' अस्मद् का उपलक्षण है। यूयं पुरुषाः। यूयं स्त्रियः। वयं पुरुषाः। वयं स्त्रियः।

१८४. **ष्णान्ता संख्या**। षट् पुरुषाः। षट् स्त्रियः। षट् पुस्तकानि। पञ्च पुरुषाः। पञ्च स्त्रियः। पञ्च पुस्तकानि।

१८५. **शिष्टा (संख्या) परवत्**। षकारान्त नकारान्त संख्या से भिन्न संख्यावचन वाच्य के लिङ्ग को ग्रहण करते हैं—एकः पुरुषः। एका स्त्री। एकं पुस्तकम्। द्वौ पुरुषौ। द्वे स्त्रियौ। द्वे पुस्तके। त्रयः पुरुषाः। तिस्रः स्त्रियः। त्रीणि पुस्तकानि। चत्वारः पुरुषाः। चतस्रः स्त्रियः। चत्वारि पुस्तकानि। विंशति आदि संख्याओं के विषय में पूर्व कहा जा चुका है।

१८६. **गुणवचनं च**। गुणवाचक शब्द वाच्य (अभिधेय) के लिङ्ग का ग्रहण करते हैं—

शुक्लः पटः । शुक्ला पटी । शुक्लं पटम् । मृदुः पुरुषः । मृदुः (मृद्वी) स्त्री । मृदु विप्रकुलम् ।

१८७. **कृत्याश्च** । गन्तव्यो ग्रामः । गन्तव्या ग्रामटिका । गन्तव्यं नगरम् ।

१८८. **करणाधिकरणयोर्ल्युट् च** । सक्तुधानो घटः । सक्तुधानी घटी । सक्तुधानं घटम् । पलाशशातनः कुठारः । पलाशशातनी कुठारिका ।

१८९. **सर्वादीनि सर्वनामानि** । अयं पुमान् । इयं स्त्री । इदं नपुंसकम् । स पुरुषः । सा स्त्री । तत्पुस्तकम् ॥

इति विवृतियुतं पाणिनीयं लिङ्गानुशासनं वृत्तम् ॥

लिङ्गानुशासनशेषः

आचार्य ने सूत्रशैली का आश्रयण करके अतिसंक्षेप से लिङ्ग का अनुशासन किया है। इसमें बहुत कुछ वक्तव्य रह गया है। उसे अंशतः कहते हैं। हर्षवर्धन ने अपने लिङ्गानुशासन में अतिरुचिर छन्दों में इकाराद्यन्त समान-लिङ्गक शब्दों का निबन्धन किया है, जो प्रायः पाणिनीय लिङ्गानुशासन में अनुक्त रह गये हैं। इसलिये संग्राह्य हैं और इस लिये भी कि वे छन्दो-लालित्य के कारण चित्ताकर्षक हैं और अनायास संस्मार्य हैं। अतः हर्षवर्धन के कुछ एक पद्य उद्धृत करते हैं।

प्रथमं तावत् इकारान्त शब्दों का अनुक्रमण करते हैं—

ओषधि-पद्धति-पक्षति-पङ्क्ती-
वर्तनि-वाशि-वितर्दि-पुरन्ध्रीः।
अङ्गुलि-काकलि-शारि-शरारी-
स्तुन्दि-तुरीषुधि-दीधिति-वर्तीः॥

एताञ्शब्दान् स्त्रियां विद्यात्, ओषधि आदि इकारान्त स्त्रीलिङ्ग हैं ऐसा जाने। 'पक्षति' पक्ष-मूल को कहते हैं। 'वर्तनि' मार्ग अथवा प्रवाह को, वाशि तक्षण-साधन (वसूला) को, 'पुरन्ध्री' कुटुम्बिनी स्त्री को, 'वितर्दि' वेदि को, 'शारि' सारिका, अथवा पर्याण (काठी) को, 'शरारि' (=शराटि) पक्षिविशेष को, 'तुन्दि' नाभि को, 'तुरि' (=कूच) नामक (जुलाहे के साधन-विशेष) को, 'दीधिति' किरण को, 'वर्ति' वत्ती को कहते हैं।

भ्रुकुटि-कुटि-कटीति-त्रोटि-कोट्याजि-राजि-
च्छवि-कृषि-रुचि-वीचि-श्रेणि-निः श्रेणि-वेणीः।
वटि-तुटि-खनि-हानि-ग्लानिनेम्यश्रि-नीवी-
ग्रहणि-विपणि-वेशीः पालिधूल्यालिनालीः॥

भ्रुकुटि आदि इकारान्त स्त्रीलिङ्ग हैं। कुटि=कुटी। कटि=श्रोणि=कमर। ईति=उपद्रव, दैवी आपद्। ये छः मानी जाती हैं—

अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषिकाः शलभाः शुकाः।
अत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः॥

त्रोटि=चोंच। आजि=युद्ध। वीचि=लहर। निः श्रेणि=सीढ़ी। खनि=खान, आकर। नेमि=चक्रप्रान्त। इसका दूसरा नाम 'प्रधि' है, जो पुंल्लिङ्ग है। नीवि (=नीवी)=मूल धन, स्त्री का जघनवस्त्र अथवा उसकी ग्रन्थि। विपणि (=विपणी)=बाजार। इसे 'पण्यवीथिका' भी कहते हैं। पालि=पङ्क्ति। आलि (=आली)=पङ्क्ति, सखी।

अरणि-करणि-पार्ष्णि-च्छर्दि-शुक्त्यति-शक्तीः
समिति-वसति-हेतीर्गृष्टि-विष्ट्यभ्रि-यष्टीः।
रजनि-धमनि-नाभीरावलि-श्रेणि-भङ्गीः
खलि-लिपि-लिबि-दर्वीः शष्कुली-वेदि-नान्दीः॥

अरणि आदि इकारान्त स्त्रीलिङ्ग हैं। 'अरणि'=अग्निमन्थनकाष्ठ। 'करणि' का नञ्पूर्वक आक्रोश अर्थ में प्रयोग होता है—अकरणिस्ते वृषल भूयात्। पार्ष्णि=पादमूल, एड़ी। छर्दि=वमन। शुक्ति=सीपी। आति=चील (पक्षी)। हेति=आयुध। गृष्टि=सकृत् प्रसूता गौ। विष्टि=निर्वेतन श्रम अथवा निर्वेतन श्रमी। इस दूसरे अर्थ में भी यह स्त्री० है। अभ्रि=कुद्दाल। रजनि (=रजनी)=रात। धमनि (धमनी)=धौंकनी अथवा नस। खलि=पिण्याक=खल। दर्वि (=दर्वी) कड़छी। इसे खजाका भी कहते हैं। शष्कुलि (=शष्कुली)=कचौड़ी, कर्ण का बाह्य भाग। मूल श्लोक में द्वितीयान्त द्वन्द्व-समास पढ़े हैं।

स्नायु-प्रियङ्गू दनु-काकु-कङ्कू
रज्ज्वाखु-पर्शूस्तनु-कच्छु-चञ्चूः।

स्नायु आदि उकारान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं ऐसा जानें। स्नायु=सिरा=पट्ठा। प्रियङ्गु=लताविशेष। आखु=चूही। पर्शु (पर्शू)=पसली। तनु=शरीर। कच्छु (कच्छू)=खुजली। चञ्चु=चोंच।

बहुस्वरः पुंसि भवेदसन्त-
स्त्वन्योऽसमस्तः सुमनोऽप्सरस्तः ।
द्वयच्कं तु वेधोजरसौ विहाय
विहायसा साकमसन्तमन्ये ॥

अनेकाच्क असन्त शब्द पुंल्लिङ्ग होता है । सुमनस् (पुष्प) तथा अप्सरस् अनेकाच् असन्त हैं तो भी ये स्त्रीलिङ्ग हैं । पर जब ये समस्त होते हैं तो ये वाच्यलिङ्गक होकर पुं० भी हो सकते हैं—शोभनानि मनांसि येषां ते सुमनसो देवाः पण्डिताश्च । अप्सरोभिः सह वर्तमानाः साप्सरसः सिद्धचारणाः । **इनके अतिरिक्त अनेकाच्क असन्त पुं० होते हैं**—वेधस् (ब्रह्मा) । चन्द्रमस् । विडौजस् (इन्द्र) । उशनस् (शुक्राचार्य)। अनेहस् (समय) तथा समस्त सुयशस्, सुवर्चस् आदि अन्यपदार्थप्रधान होने से वाच्यलिङ्गक होकर पुं० तथा स्त्री० भी होते हैं । जरस् (बुढ़ापा)—यह 'जरा' का आदेश है । स्वतन्त्र प्रकृति नहीं । 'विहायस्' को यह कोषकार (हर्षवर्धन) नपुं० मानता है । अमर **वा पुंस्याकाश-विहायसी**—विहायस् तथा आकाश को पुन्नपुंसक स्वीकार करता है । **द्वयच्क (द्विस्वर) असन्त नपुंसक होते हैं**—यशस् । वर्चस् । तेजस् । तपस् । पयस् । वक्षस् (छाती) इत्यादि ।

शाटक-कीट-वराटक-वण्टा
निष्कुट-वाट-कवाट-किटाट्टाः ।
जूट-कटाह-कटावट-पट्टाः
कण्टक-कङ्कट-कोष्ठ-कुटाङ्काः ॥

ये अकारान्त शब्द पुं० होते हैं । शाटक (धोती) । वराटक=कौड़ी । निष्कुट—गृहाराम (घर का बागीचा) । किट=काण्डपट । अट्ट=रेशमी वस्त्र अथवा अन्न । जूट=केश-बन्धन, समूह । कट=चटाई । अवट=गर्त, गढ़ा । कङ्कट=सन्नाह । कुट=घट, हलाग्र ।

मण्डप-मण्ड-वरण्डक-गण्डा
दण्डक-दण्ड-गुडानक-षण्डाः ।
खण्ड-शिखण्ड-कपर्दक-पिण्डा
वर्ग-समुद्ग-मृदङ्ग-तरङ्गाः ॥

ये अकारान्त शब्द पुं० हैं । मण्डप=जनाश्रय । मण्ड=मांड, पीछ ।

दण्डक—वृत्तविशेष । वरण्डक=परिवार । ग्रानक=पटह, ढोल । शिखण्ड=काकपक्ष । कपर्दक=वराटक=कौड़ी । समुद्ग (=समुद्गक)=मञ्जूषा ।

गर्त-मुहूर्त्त-वतंसक-कोशाः
कर्ण-पर्णौ करण-कङ्कण-कोणाः ।
वङ्क्षण-दर्पण-बाण-किणांशाः
शाण-गणौदन-शोण-यवाद्याः ॥

गर्त ग्रादि ग्रकारान्त शब्द पुं० होते हैं । गर्त=गढ़ा । ग्रमर 'मुहूर्त्त' को पुन्नपुंसक मानता है—ते (क्षणाः) तु मुहूर्त्तो द्वादशाऽस्त्रियाम् । वतंस=ग्रवतंस=शिरोभूषण, ग्रथवा भूषणमात्र । ग्रमर 'कङ्कण' को नपुं० मानता है—कङ्कणं करभूषणम् । 'वङ्क्षण' ऊरु-सन्धि का नाम है । 'ग्रोदन' भी ग्रमर के ग्रनुसार पुन्नपुंसक है । 'शोण' नदविशेष का नाम है ।

सार्थ-वरूथ-निशीथ-रथार्थ-
प्रोथ-लवाः शपथावसथान्ताः ।
सङ्घ-निदाघ-घुणार्घ-निघौघा
विघ्न-घटाऽङ्कुश-गुल्म-गुणोद्घाः ॥

ये सार्थ ग्रादि ग्रकारान्त शब्द पुं० हैं । सार्थ=पथिकसंघात । वरूथ=रथगुप्ति (दारुमयी वृति जो रथ को रथान्तर से टकराने से वचाती है)। वरूथो रथगुप्तिर्या तिरोधत्ते रथस्थितिम्, ऐसा भी ग्रर्थ है । जिसकी ऊँचाई तथा घेरा बराबर हो उसे 'निघ' कहते हैं । समानारोहपरिणाहो वृक्षादिर्निघः । इस प्रसिद्ध ग्रर्थ में 'निघ' वाच्यलिङ्गक है । कन्दुक ग्रथवा पाप ग्रर्थ में यह विशेष्य होकर पुं० ही होता है । प्रोथ=ग्रश्वनासिका ग्रथवा सूकरमुख । ग्रावसथ=ग्रतिथि-गृह । एत्य वसन्त्यत्रेत्यावसथः । 'ग्रङ्कुश' ग्रमर के ग्रनुसार पुन्नपुंसक है—ग्रङ्कुशोऽस्त्री सृणिः स्त्रियाम् । उद्घ=प्रशस्त । कठोद्घः=प्रशस्तः कठः ।

स्यन्दन-मस्तक-पुस्तक-पुस्ता
घर्म-रथोपल-घर्म-बुसार्माः ।
तण्डुल-तूल-कुसूल-चषालाः
कम्बल-साल-कलाप-कपोलाः ॥

पुस्तक का पुं० में विरल प्रयोग है । पुस्त=लेप्य । घर्म=गरमी, ग्रीष्म

ऋतु । अर्म=नेत्ररोग । तूल=रूई । कुसूल=अन्नाद्य-संग्रहणार्थं कोष्ठ । चषाल=यज्ञयूप का वलय । कम्बल=कम्बल, सास्ना ।

रेफ-कफ-ज्वर-संयुग-सङ्ख्या
स्तम्ब-नितम्ब-मद-च्छद-पुङ्खाः ।
वस्त्रदशा विटपः पटहार्भ-
व्रातपटाः पिटकः करटश्च ॥

ये रेफ आदि अकारान्त शब्द पुं० हैं। रेफ=रथ, अनवद्य । संयुग=रण । सङ्ख्य=रण । अमरादि 'संख्य' पढ़ते हैं और उसे नपुं० मानते हैं । छद=पत्र । पुङ्ख=शरवृन्त । वस्त्रदशाः—यह नित्य बहुवचनान्त है । अन्यत्र 'दशा' शब्द स्त्री० है । दशाऽवस्था । अर्भ=(अर्भक)=शिशु । पिटक=स्फोट (फोड़ा) तथा पिटारी । करट=करिकपोल, काक ।

त्सरुर्मरूर्वारु-चरूरु-मृत्यवः
पुरुः पशुः शङ्कु-हनू ययुर्गडुः ।
कमण्डलु-स्थाणु-पलाण्डुपीलवः
सतर्कुरिक्षुर् ऋतु-सक्तवोऽसवः ॥

'त्सरु' आदि उकारान्त शब्द पुं० हैं । त्सरु=खड्गमुष्टि । मरु=मरुस्थल, धन्वदेश । उर्वारु (ककड़ी) । उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् (ऋ० ७।५९।१२) । अथर्वसंहिता (६।१४।२) में 'उर्वारु' स्त्री० में प्रयुक्त हुआ है—छिनद्म्यस्य बन्धनं मूलमुर्वार्वा इव । स्वार्थिक कन्प्रत्ययान्त 'उर्वारुक' नपुं० है । चरु=हविष्य । अमर के अनुसार 'मृत्यु' स्त्री० भी है । 'हनु' भी उभयलिङ्ग माना जाता है । पीलु वृक्षविशेष का नाम । पीलु फलवाची नपुं० है । तर्कु=तकला । सक्तु=सत्तु । असु=प्राण ।

रेणु-वेणु-बिन्दु-कन्दु-
कम्बु-कन्तु-जन्तु-तन्तु ।
पांसु-पीलु-सेतु-धातु-
मन्यु-मायु-पायु-जायु ॥

रेणु आदि उकारान्त पुं० हैं । अमर के अनुसार 'रेणु' स्त्री० भी है । 'वा कन्दुः स्वेदनी स्त्रियाम्, इस अमरवचन के अनुसार 'कन्दु' स्त्री० भी है । कम्बु=शंख । पीलु के विषय में कहा जा चुका है—पीलुर्वृक्षः फलं पीलु ।

'मायु' पित्त को कहते हैं। मन्यु=क्रतु, क्रोध, शोक। मन्युः शोके क्रतौ क्रुधि। पायु=गुद (नपुं०)। जायु=औषध।

त्रान्ता नपुंसके पुत्रवृत्रामित्रौपवस्त्रतः।
छात्राच्चान्ये तथा मन्त्रान्मित्रमन्यत्र भास्करात्॥

पुत्र, वृत्र, अमित्र, औपवस्त्र (उपवस्तुः कर्म औपवस्त्रमुपवासः), छात्र, मन्त्र से भिन्न त्रान्त नपुं० होते हैं। भास्कर अर्थ को छोड़कर 'मित्र' नपुं० होता है। यथा—इदं शास्त्रम्। इदं शस्त्रम्। इदमस्त्रम्। छत्रम्। आतपत्रम्। वर्षत्रम् (वृष्टि से बचाने वाला छाता)। दात्रम्। पवित्रम् (कुशापीड)। पत्रम् (पत्ता, वाहन, पंख)। पात्रम्। लवित्रम् (=दात्र)। क्षेत्रम्। नक्षत्रम्। लोप्त्रम् (चोरितक, चोरी का माल)। लोत्रम् (चोरी का माल)। खनित्रम् (कुद्दाल)। तोत्रम् (आर)। वादित्रम् (वाजा)। पतत्त्रम् (पंख)। वक्त्रम् (मुंह, (चेहरा)। नेत्रम्। स्तोत्रम्। सूत्रम्। श्रोत्रम्। चित्रम्। चरित्रम्। 'चरण' अर्थ में चरित्र पुं० है—चरित्रांस्ते शुन्धामि (वा० सं० ६।१४)। कलत्र (स्त्री, पत्नी)।

अजिरं पिठरं शिबिरं शिशिरं
शिखरं बडिशं कुलकं कबकम्।
निकुरुम्ब-कुटुम्ब-कदम्बक-भ
चिबुकं बुक-गैरिक-बिम्बमघम्॥

'अजिर' आदि नपुंसक हैं। अजिर=अङ्गन। बडिश=मच्छी का काँटा। कुलक—यह एकक्रियान्वित पाँच श्लोकों की संज्ञा है। कबक (लगाम। निकुरुम्ब=समूह। कदम्बक=समूह। भ=नक्षत्र। अघ=दुःख, पाप, व्यसन।

स्थण्डिल-मण्डल-मण्डल-मण्डं
शम्बलमञ्चल-वल्कल-वल्कम्।
जापक-यावक-युग्म-तटाकं
जाल-महानसमङ्गुलचेलम्॥

स्थण्डिल=चबूतरा। शम्बल=पाथेय। वल्कल, वल्क=वृक्ष-त्वक् (वृक्ष की छाल)। जापक=कालेयक। यावक=अलक्तक। तटाक=तालाब। महानस=पाकस्थान। अङ्गुल=प्रमाण—विशेष। चेल=वस्त्र। गर्हित अर्थ में 'शिष्यचेलम्' ऐसा उदाहरण जानें।

अथाऽलिङ्गकाः

संख्या ष्णान्ता युष्मदस्मत्कत्यव्ययमलिङ्गकम् ।
षट् काः षट् के च षट् कानि पञ्च तास्ते च तान्यपि ॥
त्वं स्त्री त्वं ना कुलं त्वं चाहं स्त्री नाहमहं कुलम् ।
कति स्त्रियः कति नराः कति तानि च वा हि दिक् ॥

षकारान्त नकारान्त संख्यावचन युष्मद्, अस्मद्, कति, अव्यय—ये अलिङ्गक हैं, अविशिष्ट-लिङ्गक है, अर्थात् तीनों लिङ्गों में ये समानाकार रहते हैं। श्लोकों में ही उदाहरण दिये हुए हैं ।

अजहल्लिङ्गाः

कुछ ऐसे शब्द हैं जो विधेय के रूप में उद्देश्य के साथ समानाधिकरण होते हुए भी उद्देश्य के लिङ्ग को नहीं लेते, अपने लिङ्ग में ही प्रयुक्त होते हैं, उन्हें अजहल्लिङ्ग कहते हैं । उनके कुछ उदाहरण देते हैं—

पतिर्नाम दैवतं स्त्रियाः, पति स्त्री के लिये देवता है । यहाँ पति (पुं०) उद्देश्य है । दैवत (नपुं०) विधेय है । दोनों का सामानाधिकरण्य है, पर 'दैवत' शब्द अपने लिङ्ग को नहीं छोड़ता । **वेदाः प्रमाणम्, स्मृतयः प्रमाणम् । वेदा आर्याणां नो धनम् । अविवेकः परमापदां पदम्**, अविवेक (विचार-शून्यता) आपदाओं का सबसे बड़ा कारण है । **पदमापदि माधवः**, माधव (कृष्ण) आपत्ति में हमारा रक्षक है । **देवदत्तो विनयमाहात्म्येन महतो लोकसमादरस्यास्पदं जातः । ते विपरीताचरणेन जनोद्वेगकारणमभूवन् । गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः । प्रकृतिर्जगतो निदानमिति साङ्ख्याः । भवादृशा एव भवन्ति भाजनान्युपदेशानाम्** (कादम्बरी), आप जैसे ही उपदेश (शिक्षा) के पात्र होते है । **रामः श्रेण्या रत्नं कुलस्य चावतंसः** । रत्न=अपनी जाति में उत्कृष्ट । जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमभिधीयते । 'अवतंस' शिरोभूषण अथवा भूषणमात्र को कहते हैं । यह पुं० है । **इयमङ्गना कस्यापि धन्यस्य कुलस्यावतंसः । स्त्री-शूद्र-द्विज-बन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचर** इति श्रीमद्भागवतकारः । गोचर' (घ-प्रत्ययान्त) नित्य पुं० है । विधेयैकदेश के रूप में प्रयुक्त हुआ भी अपने लिङ्ग को छोड़कर उद्देश्य (प्रकृत में 'त्रयी') के लिङ्ग को नहीं लेता । 'श्रुतिगोचरः'—यह षष्ठीसमास है । श्रुतेर्गोचरः श्रुतिगोचरः । **श्रीमद्भागवत में श्रुति-'गोचरा'—यह अपपाठ है । देव्यै धारिण्यै भ्रात्रा वीरसेनेन**

मालविकोपायनं प्रेषिता। (मालविका) ऋषीणां प्रातिभस्य चक्षुषः किं नामाविषयः ? इदमङ्गुलीयकं राज्ञः प्रतिग्रहः (राजा की ओर से भेंट है)। वामाः कुलस्याधयः, विपरीताचरणवाली स्त्रियां घर का रोग होती हैं। आधि पुं० है। कृष्णः शरणं मम, कृष्ण मेरा रक्षक है। चरणौ ते शरणं यामि। 'चरण' पुं० है और द्विवचनान्त प्रयुक्त हुआ है। विधेय शरण नपुं एक० है। अनिर्वेदः श्रियो मूलम्। देवताः शरणं यामः। यहाँ उद्देश्य देवता स्त्री० बहुवचनान्त है। यत्र समाजे मूर्खाः प्रधानमुपसर्जनं च पण्डिताः स चिरं नावतिष्ठते। द्रव्यमियं ब्राह्मणी, मासषट्केनैनयाऽमरकोषः कण्ठे कृतः। यह ब्राह्मणी होनहार है, इसने छः मास में समग्र अमरकोष कण्ठस्थ कर लिया। कृताः शरव्यं हरिणास्तवासुराः (शाकुन्तल)। शरव्य (नपुं०) = लक्ष्य। (ब्रह्महा) लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्यात् (मनु० ११।७३)। आत्मानमुपमां कृत्वा स्वेषु दारेषु रम्यताम् (रा० ५।२१।८)। 'उपमा' नित्य स्त्री० विधेय है, 'आत्मन्' उद्देश्य नित्य पुं० है। अन्तपालांश्च कुर्वीत मित्राण्याटविकांस्तथा (का० नी० स० १३।५)। अन्तपाल = सीमारक्षक। प्राणानस्मै तदहमुचितां दक्षिणां दातुमीहे (   )। 'दक्षिणा' विधेय स्त्री० है। 'प्राण' पुं० बहुवचनान्त है। 'दक्षिणा' शब्द अपने लिङ्ग को नहीं छोड़ता। कुरुते न खलु स्वेच्छया शलभानिन्धनमिद्धदीधितिः (माघ १६।३५), इद्धदीधिति = प्रदीप्त अग्नि अपनी इच्छा से सलहों को इंधन नहीं बनाती है। यहाँ उद्देश्य शलभ पुं० बहुवचनान्त है और विधेय इन्धन नपुं० एक० है। कारणं तु कृतान्तोत्र द्रष्टव्यो मद्विवासने (रा० गौरीसियो-सम्पादित २।१६।१२)। अथान्धकारं गिरिगह्वराणां दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन् (रघु० २।४६)। सीताविवासनेनापराद्धे पि रामे न मया (जनकेन) मन्युः कार्यः, रामो हि मे पुत्त्रभाण्डम् (पुत्रसदृश है)। हस्तावलम्बो भवति सुहृत्सचिवचेष्टितम् (का० नी० स० २।४६)। यहाँ उद्देश्य सुहृत्सचिवचेष्टितम् नपुं० है और इसका विधेय 'हस्तावलम्बः' पुं० है। यह अपने लिङ्ग को छोड़कर विधेय के लिङ्ग को नहीं लेता। अभिज्ञानं मया दत्तमर्चिष्मान् स महामणिः (रा० ६।१२६।४६)। अभिज्ञायतेऽनेनेत्यभिज्ञानम्। करणे ल्युट्। 'अभिज्ञान' विधेय है। इक्ष्वाकुरासीत् ककुदं नृपाणाम्। इक्ष्वाकु राजाओं में श्रेष्ठ था।

विधेयप्राधान्यात्तल्लिङ्ग-ग्रह :

ऐसा देखा जाता है कि जब वक्ता को विधेय का प्राधान्य विवक्षित होता

है तब उद्देश्य का परामर्शक सर्वनाम उद्देश्य के लिङ्ग को न लेकर विधेय के ही लिङ्ग को ले लेता है। यह भी एक रोचक विषय है। इसे हम वैदिक व लौकिक उदाहरणों से विस्पष्ट करते हैं—**सा नौ नाभिः परमं जामि तन्नौ** (ऋ० १०।१०।४, अथर्व० १८।१४)। यहाँ 'नाभिः', तथा 'जामि' विधेय हैं। उद्देश्य तृतीय-चरणोक्त गन्धर्व तथा योषा है। 'नाभि' विधेय के स्त्रीलिङ्ग होने से उद्देश्य के प्रत्यवमर्शक तद् का स्त्री० (सा) में प्रयोग हुआ, और जामि (= जामित्व=बन्धुत्व) विधेय के नपुं० होने से उद्देश्य के प्रत्यवमर्शक सर्वनाम 'तद्' का नपुं० में प्रयोग हुआ है। इसमें विधेय-प्राधान्य ही कारण है। ऐसा ही अन्यत्र जानें।

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत् स्मृतम् (मनु० २।१०६)। **सर्वत्र ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत्** (मनु० ९।३१९)। यहाँ सर्वनाम 'तद्' विधेय 'दैवत' के न केवल लिङ्ग को लेता है, वचन को भी, यद्यपि 'ब्राह्मणाः' यह बह्वर्थ (उद्देश्य) इससे प्रत्यवमृष्ट है।

बालोपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ (मनु० ७।८)।

इस मनुवाक्य में राजा को 'महती देवता' (महान् देव) कहा है। एतद् सर्वनाम पूर्वार्ध-गत भूमिप का प्रत्यवमर्शक है, इसे उसका लिङ्ग लेना चाहिये था, पर विधेय-प्राधान्य के कारण यह विधेय देवता (स्त्री०) के लिङ्ग को लेता है।

दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम्।
तीर्थं तद्धव्य-कव्यानां प्रदाने सोऽतिथिः स्मृतः ॥ (मनु० ३।१३०)

इस मनुवचन के उत्तरार्ध में दो विधेय हैं—(१) तीर्थ (नपुं०), (२) अतिथि (पुं०)। अतः क्रम से सर्वनाम का नपुं० तथा पुं० में प्रयोग हुआ है।

तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगङ्गाजलार्द्रैः।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूना-
मत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः ॥

इस मेघदूत के पद्य में 'स्कन्द' उद्देश्य है और 'तेजस्' विधेय है। भगवान् 'स्कन्द' को शिव का तेज कहा गया है जो उसने इन्द्र सेनाओं की रक्षा के लिये

अग्नि के मुख में रख दिया। 'तद्' 'स्कन्द' का संकेतक है, पर विधेय तेजस् (नपुं०) के लिङ्ग को लेता है, उद्देश्य स्कन्द (पुं०) के लिङ्ग को नहीं। 'सः' न कह कर 'तद्' कहा है। इस में विधेय प्राधान्य ही कारण है।

वहि लक्ष्मण निष्क्रामत्यगस्त्यो भगवानृषिः ।
औदार्येणावगच्छामि निधानं तपसामिदम् ॥ (रा० २।१२।२३)

यहाँ भगवान् अगस्त्य को तपस्या की निधि कहा है, जिसके लिये नपुं० निधान शब्द का प्रयोग किया है। अतः इदम् (नपुं०) प्रयुक्त किया है, अयम् (पुं०) नहीं।

न दास्यामीति शबलां प्राह राजन्कथंचन ।
एतदेव हि मे रत्नमेतदेव हि मे धनम् ॥
एतदेव हि सर्वस्वमेतदेव हि जीवितम् ॥ (रा० ३।५३।२३)

यह वसिष्ठ का विश्वामित्र के प्रति वचन है। शबला कामधेनु को रत्न, धन, जीवित कहा गया है। रत्न आदि विधेय हैं। अतः 'एतद्' नपुं० सर्वनाम का प्रयोग हुआ है। एषा (स्त्री०) का नहीं।

आर्यपादाविमौ मतौ (रा० २।११५।१६)। पादुकाओं को उद्देश्य करके 'आर्यपादौ' यह विधान किया है। विधेय की प्रधानता से ही इमे (पादुके) न कह 'इमौ' पुंल्लिङ्ग—निर्देश किया है।

ऋचो यजूंषि चान्यानि सामानि विविधानि च ।
एष ज्ञेयस्त्रिवृद् वेदः....................॥ (मनु० ११।२६४)।

यहाँ ऋचाओं आदि को 'त्रिवृत् वेद' कहा गया है। अतः विधेयप्राधान्य से 'एषः' पुं० एक० प्रयुक्त हुआ है। अन्यथा 'नपुंसकमनपुंसकेन' इस शासन के अनुसार नपुं० बहु० 'एतानि' प्रयुक्त होता।

तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः (उ० रा० च०)।

भवभूति के इस पद्य में 'प्रियजन' को कुछ विलक्षण द्रव्य कहा गया है। विधेय (द्रव्य) के प्राधान्य से तद् सर्वनाम ने 'द्रव्य' के लिङ्ग को लिया हैं, उद्देश्य 'प्रियजन' के लिङ्ग को नहीं।

एषैव महती लज्जा सदाचारस्य भूपतेः ।
यदकालभवो मृत्युस्तस्य संस्पृशति प्रजाः ॥ (राजत० ४।८४)।

राजतरङ्गिणी के इस पद्य में उत्तरार्ध-गत वाक्यार्थ उद्देश्य है और पूर्वार्ध-गत 'महती लज्जा' विधेय है। **वाक्यार्थः क्रिया** इस वचन के अनुसार वाक्यार्थ के क्रियार्थक होने से और क्रिया के अलिङ्गक होने से स्त्रीत्व पुंस्त्व कुछ भी न होने से पारिशेष्यात् नपुंसकलिङ्ग से ही उसका निर्देश किया जा सकता है, तो पूर्वार्ध 'एतद्' कहना चाहिये था, पर विधेय की प्रधानता की विवक्षा होने से 'एषा' कहा है। प्रजाओं में अकालमृत्यु का होना सदाचारी राजा के लिये बड़ी लज्जा (की बात) कही है।

सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः
संभावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम्। (शाकुन्तल)।

यहाँ भी पूर्वार्ध-गत वाक्यार्थ का नपुंसक से निर्देश न करके विधेय के अनुसार 'संभावना-गुण' के लिङ्ग 'तद्—पुं० (द्वितीया एक) ऐसा निर्देश किया है।

प्रसङ्ग से सर्वनामों के लिङ्ग के विषये में कुछ वक्तव्य है, उसे कहते हैं। पस्पशाह्निक में भाष्यकार **अथ गौरित्यत्र कः शब्दः। किं यत्तत्सास्नालाङ्गूल-ककुदखुरविषाण्यर्थरूपं स शब्दः**—ऐसा पढ़ते हैं। इस पर प्रदीपकार कैयट का वचन है—**उद्दिश्यमानप्रतिनिर्दिश्यमानयोरेकत्वमापादयन्ति सर्वनामान्तनि पर्यायेण तल्लिङ्गमुपाददत इति कामचारतः स शब्द इति पुँल्लिङ्गेन निर्देशः**, अर्थात् उद्देश्य (अनुवाद्य) तथा विधेय की एकता का प्रतिपादन (बोधन) करने वाले सर्वनाम पर्याय से उद्देश्य और विधेय के लिङ्ग को लेते हैं। इसमें कामचार है, नियम नहीं। वक्ता की इच्छा पर निर्भर है कि ऐसे सर्वनाम कब उद्देश्य के लिङ्ग को लें और कब विधेय के। इसीलिये भाष्य के उक्तपाठ में यद् शब्द के नपुंसक होते हुए भी तद् शब्द ने विधेय के लिङ्ग को लिया है। क्षीर-स्वामी ने भी अमरोद्घाटन (१।३।२१) में कैयटोक्ति का इस प्रकार अनुवाद किया है—**सर्वनाम्नामुद्दिश्यमानविधीयमानयोर्लिङ्गग्रहणे कामचारः**। प्रयोगों में उद्देश्य विधेय की एकता को प्रतिपादन करने वाले सर्वनाम यद्, तद् (अथवा एतद्) देखे जाते हैं। यद् उद्देश्य का प्रत्यवमर्शक होता है, तद् भी। तभी तो उद्देश्य विधेय के एकत्व का बोध होता है। अब यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या यद्, तद् (अथवा एतद्) दोनों ही एक समय उद्देश्य के लिङ्ग को लेते हैं, और दूसरे समय दोनों ही विधेय के लिङ्ग को। अथवा क्या ऐसा भी होता है कि जब यद् उद्देश्य के लिङ्ग को ले तब तद् (अथवा एतद्) विधेय

के लिङ्ग को ले ले ? उत्तर—सभी तरह का कामचार है, तथापि (अनुपपन्न होते हुए भी) तद् के लिङ्ग का विधेयानुसारी होना हमें अधिक भाता है, विधेय के साथ समभिव्याहृत (सहोच्चारित) भिन्नलिङ्गक तद् का प्रयोग हमें अखरता है। (दूसरों को अखरता है या नहीं, हम कह नहीं सकते)। भाष्यकार ने जैसे प्रयोग किया है वही रुचिरतर प्रकार है। उसी के अनुसार कालिदास ने रघुवंश (५।५४) में **शैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य** ऐसा प्रयोग किया है। यहाँ यद्, तद् सर्वनाम (उद्देश्य शैत्य तथा विधेय प्रकृति का अभेद बतला रहे हैं। यद् ने उद्देश्य शैत्य (नपुं०) के लिङ्ग को लिया है और तद् ने विधेय प्रकृति (स्त्री०) के लिङ्ग को। इसी प्रकार **नियमस्तु स यत्कर्मानित्यमागन्तुसाधनम्**—इस अमरवचन में 'तद्' ने विधेय (नियम पुं०) के लिङ्ग का अनुसरण किया है और यद् ने उद्देश्य कर्मन् नपुं० का। **तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः** (उ० रा० च०)। यहाँ भी तद् ने संनिकृष्टवर्ती विधेय 'द्रव्य' के लिङ्ग को लिया है।

पर हमारी रुचि व्यवहार की नियामिका नहीं हो सकती। व्यवहार लोकतन्त्र है, पुरुष-विशेष-तन्त्र नहीं। अतः **मुखं वा एतत् संवत्सरस्य यत् फाल्गुनी पौर्णमासी** (शां० ब्रा० ५।१)। **श्लेष्म वा एतद्यज्ञस्य यद् दक्षिणा** (तां० ब्रा० १६।१।१३)—इन वैदिक उदाहरणों में यद्, तद् (अथवा एतद्) दोनों विधेय के लिङ्ग को ले रहे हैं। उद्देश्य के साथ समभिव्याहृत भिन्नलिङ्गक यद् शब्द का प्रयोग हुआ है। उद्देश्य का प्रत्यवमर्शक यद् शब्द विधेय के लिङ्ग को क्यों ले ? इसमें क्या उपपत्ति है ? **पर व्यवहार उपपत्ति अथवा अनुपपत्ति को नहीं देखता।** लोकाभिमत ऐसी भी भाषितभङ्गी है, जिसका अनादर नहीं किया जा सकता। प्रकृत में 'श्लेष्मन्' का नपुं० में प्रयोग हुआ है, लोक में श्लेष्मन् पुं० है—**मायुः पित्तं कफः श्लेष्मा** (अमर)। **सा वीराशंसनं भूमिर्यातिभयप्रदा। शरीरसाधनापेक्षं नित्यं यत्कर्म तद्यमः** (अमर)। इन प्रयोगों में यद्, तद् दोनों उद्देश्य के लिङ्ग को ले रहे हैं। विधेय के साथ समभिव्याहृत भिन्नलिङ्गक तद् (सा, तद्) का प्रयोग हुआ है। **यदधमर्णेनोत्तमर्णाय मूलधनातिरिक्तं देयं तद् वृद्धिः** (काशिका ५।१।४७)। यहाँ 'वृद्धि' विधेय है। इसका समीपवर्ती तद् शब्द उसके लिङ्ग को न लेकर उद्देश्य 'देय' के लिङ्ग को ले रहा है, जिससे दोनों यद् तद् उद्देश्यलिङ्गानुसारी हो गये हैं।

यह एक प्रकार है, कामचार होने से प्रकारान्तर समाश्रय से 'सा वृद्धिः' भी कहें तो कोई दोष नहीं। इसी प्रकार **यदसन्दिग्धमप्रयोजनं च न तत्प्रेक्षावत्-**

प्रपित्सागोचरः (सां० कौ० में श्रीवाचस्पतिमिश्र का वचन)। तद् शब्द विधेय 'गोचर' के लिङ्ग को न लेकर उद्देश्य के ही लिङ्ग को लेता है जो उपपन्न है। जैसे यद् उद्देश्य का प्रत्यवमर्शक है, वैसे ही तद् भी। पर लिङ्गग्रहण में कामचार होने से यदि 'स प्रेक्षावत्प्रपित्सागोचरः' इस प्रकार विधेयानुसारी लिङ्ग का निर्देश करके कहते तो भी कोई दोष न होता। **यदावेदयते राज्ञे तद्भाषेत्यभिधीयते** (मिताक्षरा याज्ञ० २।६)। 'सा भाषा' ऐसा भी कह सकते थे। **तदनन्तरं गवयो गवयपदवाच्य इति ज्ञानं यज्जायते तदुपमितिः** (न्यायसि० मु०)। यहाँ भी विधेय के लिङ्ग का अनुसरण करते हुए सोपमितिः, ऐसा कह सकते थे। कामचार होने से।

अर्थभेदाल्लिङ्ग-भेदः।

यह भी एक रुचि का विषय है कि किस तरह अर्थ के बदल जाने से शब्द का लिङ्ग भी बदल जाता है। इसे यहाँ कोषान्तर-प्रामाण्य से दिखाते हैं। **प्रकीर्णकं चामरे स्याद् विस्तरे ना तुरङ्गमे** (मेदिनी)। **चामरं तु प्रकीर्णकम्** (अमर)। चँवर अर्थ में प्रकीर्णक नपुंसक है, 'अश्व' अर्थ में पुमान्। महाभारत में प्रयोग भी है—

> **आरूढाञ्शिक्षितैर्योधैः शक्त्यृष्टिपाशयोधिभिः।**
> **विध्वस्तचामरकुथान् विप्रविद्धप्रकीर्णकान्॥** (७।३५।३७)
> **शिवं भद्रं शिवः शम्भुः शिवा गौरी शिवाऽभया।**
> **शिवः कीलः शिवा क्रोष्टा भवेदामलकी शिवा॥** (शाश्वत)

शिवा=गौरी, पार्वती। शिवा=अभया=हरीतकी। शिवा=क्रोष्टा=गीदड़। गौरी फेरवयोः शिवा (अमर)। गीदड़ अर्थ में भी 'शिवा' टाबन्त स्त्रीलिङ्ग प्रयुक्त होता है, 'शिव' नहीं। **अयं शृगालेपि स्त्रीलिङ्गः** (क्षीरस्वामी)। शिवा=आमलकी=आमला।

> **पद्मा लक्ष्मी र्निधिः पद्मः पद्मानि गजबिन्दवः।**
> **संख्या-नाग विशेषौ च पद्मौ पद्मं सरोरुहम्॥** (शाश्वत)

निधिविशेष के अर्थ में पद्म पुं० है, संख्या-विशेष तथा नाग-विशेष के अर्थ में भी। कमल तथा गज बिन्दु के अर्थ में पद्म नपुं० है। हाथी के मुंह तथा सूंड पर लाल चिह्न को 'पद्म' कहते हैं, जिससे हाथी को 'पद्मी' भी कहा जाता है।

विश्वम्भरा भवेद् गोत्रा गोत्रा गोनिकुरुम्बकम् ।

नाम गोत्रं कुलं गोत्रं गोत्रश्च धरणीधरः ॥ (शाश्वत)

गोत्रा स्त्री० का अर्थ 'विश्वम्भरा', पृथिवी है और गो-निकुरुम्बक, गो-समूह भी। नाम, तथा कुल अर्थ में गोत्र नपुं० है। धरणीधर (पर्वत) के अर्थ में गोत्र पुँ० है। गोत्रान् पर्वतान् भिनत्तीति गोत्रभिद् इन्द्रः।

पुण्डरीकं सितच्छत्रं पुण्डरीकं सिताम्बुजम् ।

व्याघ्रोपि पुण्डरीकः स्यात् पुण्डरीकश्च दिग्गजः ॥ (शा०)

सफेद छाता, तथा सफेद कमल के अर्थ में पुण्डरीक नपुं० है, बाघ, सिंह तथा दिग्गज अर्थ में पुं० है।

एला गावश्च बहुला बहुलाः कृत्तिका अपि ।

बहुलः कृष्णपक्षोऽग्निर्बहुलो बहुलं शिति ॥ (शा०)

इलायची, गौ, कृत्तिका (छः नक्षत्र)—इन अर्थों में बहुल स्त्रीलिङ्ग (बहुला) में प्रयुक्त होता है। अग्नि तथा कृष्णपक्ष अर्थ में बहुल पुं० होता है। शिति (काला) अर्थ में बहुल वाच्यवल्लिङ्ग होता है।

कल्यं प्रभातं सज्जनं च कल्यो नीरोगदक्षयोः ।

कल्याणी वाक् च कल्याख्या कल्या कादम्बरी मता ॥ (शा०)

कल्य नपुं०=प्रभात। 'कल्य' सज्ज (तैयार), नीरोग, दक्ष (चुस्त, चतुर) अर्थ में पुँ० है। कल्या (स्त्री०)=कल्याणी (मङ्गलमयी) वाणी तथा कादम्बरी (सुरा)।

वरो जामातरि श्रेष्ठे देवतादेरभीप्सिते ।

मनागिष्टे वरं यच्च कश्चिदाह तदव्ययम् ॥ (शा०)।

'वर' जामाता जमाई, दामाद, प्रसन्न हुए देवता आदि से मांगने पर प्राप्त हुए पदार्थ में पुँ० है। श्रेष्ठ अर्थ में विशेष्य-लिङ्गक है। 'कुछ अच्छा' इस अर्थ में 'वर' नपुं० है। इस अर्थ में इसे कुछ लोग अव्यय मानते हैं।

तक्रे मरणचिह्ने स्यादरिष्टमशुभे शुभे ।

अरिष्टः कथ्यते काके निम्बकेनिलवृक्षयोः ॥ (शा०)

अरिष्ट शब्द तक्र (मठा), मरणासन्न अवस्था का चिह्न, शुभ, अशुभ अर्थ में नपुं० है। कौआ, निम्ब (नीम) रीठे का पेड़—इन अर्थों में अरिष्ट पुँ० है।

परिच्छदाल्पमानेषु धने कर्णविभूषणे ।

अक्षरावयवे मात्रा मात्रं कात्स्न्यावधारणे ॥ (शा०)

परिच्छद (=शोभोपकरण, साज समान), अल्प, मान, धन, कर्णभूषण,

अक्षर का अवयव—इन अर्थों में मात्रा स्त्री० का प्रयोग होता है। कृत्स्नता, (साकल्य) तथा अवधारण अर्थों में 'मात्र' नपुं० होता है। **ब्राह्मणो न हन्तव्य इति ब्राह्मणमात्रं न हन्यते।** ब्राह्मणमात्रम्=सर्वे ब्राह्मणाः। **तदेव तन्मात्रम्। चिदेव चिन्मात्रम्।**

दिग्गजः कज्जलं माता मारुताङ्गभुवः कपेः।
यथासंख्यं विनिर्दिष्टमञ्जनोऽञ्जनमञ्जना॥ (शा०)

अञ्जन पुं०=दिग्गज। अञ्जन नपुं०=काजल। अञ्जना स्त्री० मारुति हनूमान् की माता का नाम।

अब्जो धन्वन्तरौ चन्द्रे स्यादब्जं शङ्खपद्मयोः। (शा०)

अब्ज पुं०=धन्वन्तरि, चन्द्र। अब्ज नपुं०=शङ्ख, पद्म (कमल)।

पुत्रादौ तर्णके वर्षे वत्सो वत्सं च वक्षसि। (शा०)

वत्स पुं०=पुत्रादि, बछड़ा, वरस। वत्स नपुं०=छाती। **पाकस्थानं कुलालस्य पवनं पवनो मरुत्।** (शा०)

कुम्हार के पाकस्थान (जिस स्थान में वह कच्चे भाण्डों का पकाता है) के अर्थ में पवन नपुं० है, वायु अर्थ में पुं० है।

समीरणो गन्धवहो नासा गन्धवहा मता। (शा०)

वायु अर्थ में गन्धवह पुं० है। नासिका अर्थ में गन्धवहा स्त्री० है।

धान्यस्यावयवे लेशे कणः स्यात्पिप्पली कणा। (शा०)

धान्यावयव, लेश अर्थ में कण पुं० है। पिप्पली (मघा) अर्थ में कणा स्त्री० है।

जीवो जन्तौ गुरौ जीवं प्राणे जीवा धनुर्गुणे। (अजय)

जीव पुं०=जन्तु, बृहस्पति (गुरु)। जीव नपुं०=प्राण। जीवा स्त्री०= धनुष् को डोरी।

तरणि र्द्यु मणौ पुंसि कुमारीनौकयोः स्त्रियाम्। (मेदिनी)

सूर्य अर्थ में तरणि पुं० है। कुमारी नाम की ओषधि तथा नौका अर्थ में स्त्री० है।

दर्दुरस्तोयदे भेके वाद्यभाण्डाद्रिभेदयोः।
दर्दुरा चण्डिकायां स्याद् ग्रामजाले च दर्दुरम्॥ (विश्व०)।

मेघ, मेंडक, वाद्य-विशेष तथा पर्वत-विशेष के अर्थ में 'दर्दुर' पुं० है। चण्डिका (दुर्गा) अर्थ में दर्दुरा (स्त्री०) है। ग्राम-समूह के अर्थ में 'दर्दुर' नपुं० है।

कुशी फाले कुशो दर्भे कुशा वल्गा कुशं जले । (हैम)

फाल (लोहकार की अङ्गाराकर्षणार्थ लोह यष्टि) अर्थ में कुशी (ङीषन्त) स्त्री० है । 'जल' अर्थ में 'कुश' नपुं० है ।

अनूकं तु कुले शीले पुंसि स्याद् गतजन्मनि । (मेदिनी)

कुल तथा शील अर्थ में 'अनूक' नपुं० है । गत जन्म अर्थ में पुं० है ।

विशिखस्तोमरे शरे

विशिखा तु खनित्र्यां च रथ्यानलिकयोरपि । (मेदिनी)

'विशिख' तोमर (गुर्ज) तथा बाण अर्थ में पुं० है । खनित्री (कुद्दाल) रथ्या (नगरमध्यग-मार्ग), तथा नाली अर्थ में 'विशिखा' स्त्री० है ।

कञ्जः केशे विरिञ्चे च कञ्जं पीयूषपद्मयोः । (मेदिनी) ।

'कञ्ज' केश तथा विरिञ्च (विरिञ्चि, ब्रह्मा) अर्थ में पुं० है । अमृत तथा कमल अर्थ में नपुं० है ।

घटः समाधि-भेदेभशिरः कूट-कुटेषु च ।

घटा घटनगोष्ठीभ-घटनासु च योषिति ।। (मेदिनी) ।

'घट'—यह समाधि-भेद, हाथी के मस्तक का अन्दर को झुका हुआ भाग, घड़ा—इन अर्थों में पुं० है । घटना (जोड़ना), गोष्ठी, गजसमूह—इन अर्थों में स्त्री० है । टावन्त स्त्रीलिङ्ग 'घटा' का प्रयोग होता है ।

क्रोडः शनौ सूकरे ना न पुमानङ्करक्षसोः । (मेदिनी) ।

शनि (शनैश्चर) तथा सूअर अर्थ में 'क्रोड' पुं० है । अङ्क (गोद, भुजान्तर =भुजाओं के बीच का अवकाश) तथा राक्षस अर्थ में क्रोड पुं० नहीं होता । अश्वानामुरः क्रोडा (अमर) । कल्याणं क्रोडम् अङ्को यस्याः सा कल्याणक्रोडा स्त्री । न ना क्रोडं भुजान्तरे (अमर) ।

चण्डो ना तिन्तिडीवृक्षे यमकिङ्कर दैत्ययोः ।

चण्डा धनहरी-शङ्खपुष्प्योस्त्रिष्वतिकोपने ।

चण्डी कात्यायनीदेव्यां हिंस्रकोपनयोषितोः ।

यमकिङ्कर तथा दैत्य अर्थ में 'चण्ड' पुं० है । धनहरी शङ्खपुष्पी—इन ओषधियों के अर्थ में 'चण्डा' टावन्त स्त्री० है तथा 'अतिकोपन' अर्थ में 'चण्ड' तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त होता है । 'दुर्गा' अर्थ में तथा अतिकोपना स्त्री के अर्थ में 'चण्डी' यह ङीषन्त प्रयुक्त होता है ।

वर्णो द्विजादि-शुल्कादि-यशो-गुण-कथासु च।
स्तुतौ ना ना स्त्रियां भेदरूपाक्षरविलेपने ॥ (मेदिनी)

वर्ण शब्द ब्राह्मणादि, शुक्ल कृष्णादि, यश, गुण वर्णन, स्तुति— अर्थों में पुँ० है। ब्राह्मणो वर्णः। क्षत्रियो वर्णः। वैश्यो वर्णः। वर्णः=स्तुतिः। वर्णः प्रशस्तिरष्टविधमैथुनपरिहारलक्षणाऽस्यास्तीति वर्णी ब्रह्मचारी। अवर्णः। अवर्णम् (अकार वर्ण)। यहाँ अक्षर अर्थ में पुन्नपुंसक है। विलेपन अर्थ में प्रायः 'वर्णक' प्रयुक्त होता है।

करेणुर्गजयोषायां स्त्रियां पुंसि मतङ्गजे। (मेदिनी)

हथिनी के अर्थ में 'करेणु' स्त्री० है। हाथी के अर्थ में पुं०।

कारणं करणे हेतुवधयोश्च नपुंसकम्।
स्त्री यातनायाम् (मेदिनी)

कारण (साधन), हेतु, वध—इन अर्थों में 'कारण' नपुं० है। यातना (पीडा) अर्थ में स्त्री० 'कारणा'।

प्रवणो ना चतुष्पथे
क्रमनिम्नमहीभागोदरप्रह्वेषु च त्रिषु। (मेदिनी)।

'प्रवण' चतुष्पथ (चौराहा) अर्थ में पुं० है। ढलान वाली भूमि, उदर, प्रह्व (नत, प्रणत) अर्थों में 'प्रवण' त्रिलिङ्गी है।

धूर्तं तु खण्डलवणे धुस्तूरे ना विटे त्रिषु। (मेदिनी)

'धूर्त' 'एक प्रकार का नमक अर्थ में नपुं० है। 'धत्तूरा' अर्थ में पुं० है। 'विट' अर्थ में त्रिलिङ्गी है। यह कथन चिन्त्य है।

रक्तोऽनुरक्ते नील्यादिरञ्जिते लोहिते त्रिषु।
क्लीबं कुङ्कुमे ताम्रे प्राचीनामलके ऽसृजि ॥ (मेदिनी)

रक्त शब्द अनुरक्त, रंगा हुआ, लाल—इन अर्थों में त्रिलिङ्गी है। कुङ्कुम केसर, ताम्बा, पुराना आमला, रुधिर—इन अर्थों में नपुं० है।

निशान्तं त्रिषु शान्ते स्यात्क्लीबं तु भवनोषसोः। (मेदिनी)

निशान्त शब्द शान्त अर्थ में त्रिलिङ्गी है। गृह तथा उषा अर्थ में नपुं० है।

प्रसृतः सुप्रसारे स्याद् विनीते वेगिते त्रिषु।
अर्धाञ्जलौ तु पुंल्लिङ्गो जङ्घायां प्रसृता मता ॥ (मेदिनी)

प्रसृत सुप्रथित (अच्छी तरह फैला हुआ), विनीत तथा वेगित (वेगवान्) अर्थों में त्रिलङ्गी है। अर्धाञ्जलि अर्थ में पुं० है। जङ्घा अर्थ में स्त्री० (प्रसृता) है। अमर में भी तौ युतावञ्जलिः पुमान्—इस पाठ में 'प्रसृत' का 'तौ' पुँल्लिङ्ग से निर्देश किया है।

अष्टापदोऽस्त्री कनके शारीणां फलके पि च।
अष्टापदी चन्द्रमल्ल्यां शरभे मर्कटे पुमान्॥ (मेदिनी)

अष्टापद—यह स्वर्ण तथा अक्ष-फलक अर्थ में पुन्नपुंसक होता है। चन्द्रमल्ली नामक ओषधि के अर्थ में स्त्री० (अष्टापदी) होता है। शरभ तथा मर्कट (मकड़ी) अर्थ में पुं०।

एकपदं तत्काले नपुंसकं वर्त्मनि स्त्री स्यात्।

इयमेकपदी राजन्, राजन यह पगडंडी है। (मेदिनी)

मधु पुष्परसे क्षौद्रे मद्ये ना तु मधुद्रुमे।
वसन्तदैत्यभिच्चैत्रे स्याज्जीवन्त्यां तु योषिति॥ (मेदिनी)

मधु शब्द पुष्परस, क्षौद्र (शहद), मद्य (सुरा) अर्थ में नपुं० है। मधुद्रुम (आम्रवृक्ष), वसन्त, दैत्य विशेष, चैत्र (मास)—इन अर्थों में 'मधु' पुं० है। जीवन्ती नाम की ओषधि के अर्थ में स्त्री० है।

वस्नस्त्ववक्रये पुंसि वेतने स्यान्नपुंसकम्। (मेदिनी)

'वस्न' अवक्रय मूल्य अर्थ में पुं० है। अमर का पाठ भी है—**मूल्यं वस्नोऽप्यवक्रयः।**

अपानं तु गुदे क्लीबं पुंसि स्यात्तस्य मारुते। (मेदिनी)

'अपान' गुदा अर्थ नपुं० है। अपानवायु के अर्थ में पुं० है।

कठिनमपि निष्ठुरे स्यात्स्तब्धेपि त्रिषु नपुंसकं स्थाल्याम्।
कठिनी खटियकायामपि कठिना गुडशर्करायां च॥ (मेदिनी)

'कठिन' निष्ठुर (क्रूर), स्तब्ध (अकड़ा हुआ)—इन दो अर्थों मे तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त होता है। स्थाली (पाक-भाजन) अर्थ में नपुंसक है। 'कठिनी' इस स्त्रीलिङ्ग रूप में खड़िया मिट्टी अर्थ में प्रयुक्त होता है, कनिष्ठिका (उंगली) के अर्थ में भी। शर्करा (शक्कर) अर्थ में 'कठिना' (टाबन्त स्त्रीलिङ्ग) ऐसा प्रयोग होता है।

प्रसन्ना स्त्री सुरायां स्यात्स्वच्छसन्तुष्टयोस्त्रिषु । (मेदिनी)

प्रसन्ना (स्त्री०)=सुरा। स्वच्छ तथा सन्तुष्ट (प्रसन्न) अर्थ में प्रसन्न शब्द तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त होता है।

पिशुनं कुङ्कुमेपि च ।

कपिवक्त्रे च काले ना सूचकक्रूरयोस्त्रिषु ।
पृक्कायां पिशुना स्त्री ॥ (मेदिनी)

'पिशुन' कुङ्कुम (केसर) अर्थ में नपुं० हैं। काल अर्थ में पुं० है। सूचक (चुगलखोर) तथा क्रूर (निर्दय) अर्थों में तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त होता है। पृक्का (स्पृक्का, ओषधि विशेष) अर्थ में 'पिशुना' टावन्त स्त्री० का प्रयोग होता है।

मलिनं दूषिते कृष्ण ऋतुमत्यां तु योषिति । (मेदिनी)

मलिन—यह दूषित (मैला कुचैला, उपहत) में त्रिलिङ्ग है। ऋतुमती (रजस्वला स्त्री) के अर्थ में 'मलिनी' (गौरादि ङीषन्त) स्त्री० में प्रयुक्त होता है। मलिन शब्द ही स्त्रीत्वविवक्षा में ऋतुमती अर्थ में प्रयुक्त होता है, ऐसा मेदिनीकर का अभिप्राय प्रतीत होता है। दूसरे लोग 'मल' शब्द से मत्वर्थीय इनि करके स्त्रीत्व में ङीप् से 'मलिनी' को व्युत्पादित करते हैं। **स्त्रीधर्मिण्यपि चात्रेयी मलिनी पुष्पवत्यपि**—अमर।

वितानो यज्ञ उल्लोचे विस्तारे पुन्नपुंसकम् ।
क्लीबं वृत्तविशेषे स्यात्त्रिलिङ्गो मन्ततुच्छयोः ॥ (मेदिनी)

'वितान' यज्ञ अर्थ में, उल्लोच (चन्द्रोदय, चन्दोआ) और विस्तार अर्थ में भी पुन्नपुंसक है। छन्दोविशेष अथवा छन्दो जाति विशेष का नाम 'वितान' नपुं० है। 'मत्त' तथा 'तुच्छ' अर्थों में 'वितान' तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त होता है। **वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु** (शाकुन्तल)—यहाँ वैतान शब्द में यज्ञार्थक वितान शब्द विद्यमान है। **विद्युल्लेखाकनकरुचिरं श्रीवितानं ममाभ्रम्** (बिजली की रेखा से सुवर्ण सुन्दर कान्ति वाला मेघ मेरा चन्दोआ है)—विक्रम ४।१॥

प्रसाधनी तु कङ्कत्यां सिद्धौ वेशे प्रसाधनम् । (मेदिनी)

प्रसाधनी (प्रसाधन+ङीप्) कंघी अर्थ में स्त्री० है। प्रसाधन नपुं० सिद्धि तथा वेश (आकल्प) का वाचक है। **परिकर्म प्रसाधनम्**—अमर।

कुतपोऽस्त्रियां दौहित्रे वाद्ये छागजकम्बले ।
कुशे दिनस्याष्टमांशे ना सूर्ये ॥ (मेदिनी)

'कुतप'—यह दोहता, वाद्य, अज-लोम-निर्मित कम्बल, कुश, दिन का आठवाँ भाग—इन अर्थों में पुन्नपुंसक है । 'सूर्य' अर्थ में पुं० है ।

रामा योषा हिङ्गुनद्योः क्लीबं वास्तूक-कुष्ठयोः ।
ना राघवे च वरुणे रैणुकेये हलायुधे ॥
हये च पशुभेदे च त्रिषु चारौ सितेऽसिते । (मेदिनी)

रामा (स्त्री०) स्त्री, हिङ्गु (हींग), नदी अर्थों में प्रयुक्त होता है । वास्तूक (वथुआ) तथा कुष्ठ अर्थ में राम नपुं० है । चारु (सुन्दर, अभिराम), सित (सफेद), असित (काला) अर्थों में 'राम' तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त होता है।

वामं धने पुंसि हरे कामदेवे पयोधरे ।
वल्गु-प्रतीप सव्येषु त्रिषु नार्यां स्त्रियामथ ॥
वाभी-शृगाली-वडवा-रासभी करभीषु च । (मेदिनी)

'वाम' धन अर्थ में नपुंसक है । हर (रुद्र), कामदेव, पयोधर (स्तन) अर्थों में पुं० है । वल्गु (सुन्दर), प्रतीप (उलटा), सव्य (बाँया) अर्थों में त्रिलिङ्गी है । नारी, खच्चर, घोड़ी, गधी, ऊँट की बच्ची—इन अर्थों में स्त्री० है ।

अस्रः कोणे कचे पुंसि क्लीवमश्रुणि शोणिते । (मेदिनी)

'अस्र' कोना, बाल, केश अर्थ में पुं० है, आँसू और शोणित (रुधिर) अर्थ में नपुं० है ।

क्षुद्रः स्यादधम-क्रूर-कृपणाऽल्पेषु वाच्यवत् ।
क्षुद्रा व्यङ्गा-नटी-कण्टकारिका-सरघासु च ॥
चाङ्गेरी-वेश्ययो र्हिंस्रा-मक्षिकामात्रयोरपि । (मेदिनी)

'क्षुद्र' अधम (नीच), क्रूर, कृपण, अल्प—इन अर्थों में विशेष्य के लिङ्ग को लेता है । व्यङ्गा, नटी, कण्टकारिका (रेंगनी), सरघा (मधुमक्षिका), चाङ्गेरी (नोनी, चूक), वेश्या मक्खी, मात्रा—अर्थों में स्त्री० 'क्षुद्रा' का प्रयोग होता है ।

---

१. पिशुन सूचक होता है । यह सूचकत्व 'कुङ्कुम' में भी है । कुङ्कुम जहाँ भी पड़ा होता है वहाँ अपनी सत्ता को सूचित करता है, दूसरे किसी को कहने की अपेक्षा नहीं होती कि यहाँ कुङ्कुम है ।

गौरः श्वेतेऽरुणे पीते विशुद्धे चाभिधेयवत् ।
ना श्वेतसर्षपे चन्द्रे न द्वयोः पद्मकेसरे ।
गौरी त्वसञ्जातरजःकन्याशङ्करभार्ययोः । (मेदिनी)

'गौर' श्वेतादि अर्थों में विशेषणरूपेण प्रयुक्त हुआ विशेष्य के लिङ्ग को लेता है । सफेद तिल, चन्द्र अर्थ में 'गौर' पुं० है । पद्म किञ्जल्क अर्थ में पुन्नपुंसक है । गौरी (ङीषन्त) स्त्री० कन्या का नाम है जिसे अभी रजोदर्शन नहीं हुआ । गौरी भवपत्नी का भी नाम है ।

चक्रः कोके पुमान् क्लीबं व्रजे सैन्यरथाङ्गयोः ।
राष्ट्रे दम्भान्तरे कुम्भकारोपकरणास्त्रयोः ।
जलावर्तेऽपि (मेदिनी)

कोक (चक्रवाक) अर्थ में 'चक्र' पुं० है । व्रज (समूह), सेना, रथाङ्ग (चक्र), अस्त्र (यथा सुदर्शन चक्र) अर्थों में 'चक्र' नपुं० है । जलावर्त (भँवर) अर्थ में भी चक्र नपुं० है ।

भूरि र्ना वासुदेवे च हरे च परमेष्ठिनि ।
नपुंसकं सुवर्णे च प्राज्ये स्याद् वाच्यलिङ्गकः ।। मेदिनी)

'भूरि' वासुदेव आदि अर्थों में पुं० है । सुवर्ण अर्थ में नपुं० है और प्राज्य (बहुत) अर्थ में त्रिलिङ्गी है ।

कन्धरो वारिवाहे स्याद् ग्रीवायां कन्धरा मता । (मेदिनी)

पुं० कन्धर मेघ का नाम है । स्त्री० कन्धरा ग्रीवा (गर्दन) का नाम हैं ।

मत्सरा मक्षिकायां स्यान्मात्सर्यक्रोधयोः पुमान् (मेदिनी)

'मत्सरा' स्त्री० मक्खी का नाम है । 'मत्सर' पुं० मात्सर्य (डाह) तथा क्रोध का वाचक है ।

धीरो धैर्यान्विते स्वैरे बुधे क्लीबं तु कुङ्कुमे । (मेदिनी)

'धीर' धैर्यवान्, स्वैर (मन्द) बुध (विद्वान्) अर्थों में वाच्यलिङ्गक है । कुङ्कुम (केसर) अर्थ में नपुंसक है ।

स्वार्थिकानां प्रकृतिलिङ्गस्य व्यतिक्रमः

स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्तेऽपि, स्वार्थिक प्रत्यय प्रकृति के लिङ्ग व वचन को छोड़ भी देते हैं ऐसी परिभाषा है । लिङ्ग व्यतिक्रम के कुछ एक उदाहरण देते हैं—**देव एव देवता । दैवतम् ।** यहाँ देव पुं० से स्वार्थ

में (प्रकृति 'देव' के अपने अर्थ में) तल् प्रत्यय हुआ है। तलन्त देवता स्त्री० है। 'देवता' से स्वार्थ में अण् हुआ है। प्रकृति 'देवता' स्त्री० है, पर दैवत नपुं० है (और कभी-कभी पुं० भी होता है)। **ह्रस्वा कुतूः कुतुपः**। यहाँ ह्रस्वत्वोपाधिक 'कुतू' से स्वार्थ से डुपच् प्रत्यय हुआ है। कुतू (स्नेह=घृत, तैल आदि का चर्ममय भाजन) स्त्री० है, पर 'कुतुप' पुं० है। अमर का पाठ भी है—**कुतूः कृत्तेः स्नेहपात्रं सैवाल्पा कुतुपः पुमान्**। **ह्रस्वा शमी शमीरः**। **ह्रस्वा शुण्डा=शुण्डारः**। **ह्रस्वा कुटी कुटीरः**। यहाँ शमी आदि प्रकृतियाँ स्त्रीलिङ्ग हैं। स्वार्थ में रप्रत्यय है। रप्रत्ययान्त 'शमीर आदि पुं० हैं। **अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वान्** (योगभाष्य २।२५)। ईषदसमाप्ति (कुछ न्यूनता) के द्योत्य होने पर कल्पप् प्रत्यय का विधान हुआ है। अतः कल्पप् स्वार्थिक प्रत्यय है। अक्षिपात्र (प्रकृति) नपुं० है, पर कल्पप्प्रत्ययान्त पुं० हो गया, अभिधेय के लिङ्ग को लेने से। इसी प्रकार **गुडकल्पा द्राक्षा, तैलकल्पा प्रसन्ना** (=सुरा) —यहाँ भी प्रकृति गुड (पुं०) तथा तैल (नपुं०) के लिङ्ग को छोड़कर कल्पप्प्रत्ययान्त अभिधेय द्राक्षा, प्रसन्ना के लिङ्ग को लेता है। **धर्मे स्मृतयः प्रमाणं वेदाश्च प्रमाणतराः**। यहाँ प्रकृति प्रमाण नपुं० है, पर स्वार्थे तरप्प्रत्ययान्त अभिधेय 'वेद' के लिङ्ग को ले रहा है। वय एव **वायसः**। वयस् नपुं०—वयांसि पक्षिणः काका वा)। रक्ष एव **राक्षसः** (रक्षस् नपुं०—रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति)। प्रतिभा एव **प्रातिभम्** (प्रातिभेन चक्षुषा पश्यन्त्यृषयः)। गायत्री एव **गायत्रम्** (तत्सवितु र्वरेण्यमित्यृचो गायत्री छन्दः गायत्रं वा)। इयमनुष्टुप्। इदमानुष्टुभम्। **'वायस' आदि स्वार्थिक अण् प्रत्ययान्त हैं। ये सभी अपनी-अपनी प्रकृति के लिङ्ग को छोड़ रहे हैं**। प्रतिभा स्त्री० है, पर **'प्रातिभ'** नपुं० है। गायत्री, अनुष्टुप् स्त्री० हैं, पर अण् प्रत्ययान्त गायत्र, आनुष्टुभ नपुं० हैं। सन्निधिरेव **सान्निध्यम्**। उपमैव **औपम्यम्**। सेनैव **सैन्यम्**। मणिक एव **माणिक्यम्**। स्वभाव एव **स्वाभाव्यम्**। अन्यभाव एव **आन्यभाव्यम्** (**आन्यभाव्यं तु काल-शब्द व्यवायात्**—भाष्य)। माला एव **माल्यम्**। सन्निधि आदि प्रकृतियाँ पुं० हैं, पर स्वार्थे ष्यन्त सान्निध्य आदि नपुं० हैं। मुक्ता एव **मौक्तिकम्**। स्वार्थ में ठक् प्रत्यय है। मुक्ता स्त्री० है, पर मौक्तिक नपुं० है। व्याहृता वाग् **वाचिकम्** (व्याहृता=सन्दिष्टा)। यहाँ भी वाच् स्त्री० से स्वार्थ में ठक् प्रत्यय हुआ है। वाचिक नपुं० है। आवसथ एव आवसथ्यम्। स्वार्थ में 'ञ्य' प्रत्यय हुआ है। आवसथ (अतिथि गृह) पुं० है, पर **आवसथ्य** नपुं०। उर्वारुर् एव **उर्वारुकम्** (उर्वारु=ककड़ी)। उर्वारु स्त्री० है। **छिनद्म्यस्य बन्धनं मूलमुर्वार्वा इव**

(अथर्व० ६।१४।२)। स्वार्थ में कन् हुआ है। कन् प्रत्ययान्त उर्वारुक नपुं० है। **उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्यो र्मुक्षीय मामृतात्** (ऋ० ७।५९।१२)। **रक्षःपाशान्यशस्काम्यंस्तमस्कल्पानदुद्रुवत्** (भट्टि० ९।५९)। मोदकाः प्रकृताः प्राचुर्येण प्रस्तुता **मौदकिकम्**। यहाँ स्वार्थ में ठक् प्रत्यय हुआ है। मोदक (प्रकृति) पुं० है, स्वार्थ-ठक्-प्रत्ययान्त नपुं० है। परिभाषा में 'अपि' कहने से कहीं लिङ्गव्यतिक्रम नहीं भी होता—विनय एव **वैनयिकः**। उपाय एव **औपयिकः**। समय एव **सामयिकः**। यहाँ विनयादिभ्यष्ठक् (५।४।३४) से स्वार्थ में ठक् प्रत्यय होता है।

स्त्रीत्वं लोकात्

कुछ ऐसे शब्द हैं जिनके स्त्रीत्वाभिधायी होने में शास्त्रीय अथवा लौकिक कोई युक्ति प्रतीत नहीं होती, पर लोक में उन्हें स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त किया जाता है। विद्वानों के विनोद के लिये उन्हें यहाँ उपस्थित किया जाता है। **द्यूतोऽस्त्रियामक्षवती कैतवं पण इत्यपि**—ऐसा अमर का पाठ है। द्यूत अर्थ में 'अक्षवती' पढ़ा है। यह स्त्री० है। यह क्यों स्त्री० है। इसका उत्तर क्षीरस्वामी यही देते हैं—**स्त्रीत्वं लोकात्**। **जयन्ती** पताका का नाम है। यहाँ भी लोकव्यवहार ही स्त्रीत्व में एकमात्र कारण है। अम्लो रसोऽस्या अस्तीति **अम्लिका** चिञ्चा। चन्द्रोऽस्त्यस्याम् इति **चन्द्रिका**। यहाँ उभयत्र मत्वर्थीय ठन् (इक) प्रत्यय हुआ है। **मत्वर्थीय-प्रत्ययान्त का स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयोग हो, लिङ्गान्तर में न हो, इसमें कोई विनिगमिका नहीं**। ऐसा लोकव्यवहार है, यही कहना होता है। व्यजन नपुं० है, पर '**जलार्द्रा**' (जल से गीला हुआ पंखा) स्त्री० है। **दूषिका नेत्रयो र्मलः**। ण्वुल् प्रत्ययान्त दूषिका मल के वाच्य होने पर भी स्त्री० है, कारण कि लोक व्यवहार ऐसा है। रोगविशेष के अभिधायक ण्वुल्प्रत्ययान्त **विर्चचिका** (खुजली), **प्रवाहिका** (ग्रहणी), **विपादिका** (बिवाई) स्त्री० होते हैं। लोक व्यवहार ऐसा है। लोक इन्हें लिङ्गान्तर में प्रयुक्त करना नहीं चाहता। समूहार्थकप्रत्ययान्त प्रायः नपुंसकलिङ्ग देखे जाते हैं और यह युक्त ही है, समूह का अभिधान अन्य लिङ्ग पुं०, स्त्री० से कैसे हो, पर कुछ एक शब्द समूहार्थक होते हुए भी स्त्रीलिङ्ग हैं—पाशानां समूहः **पाश्या**। वातानां समूहो **वात्या** (आँधी)। तृणानां समूहः **तृण्या** (= तृणसंघातः)। रथानां समूहो **रथ्या**। धूमानां समूहो **धूम्या**। शिष्यश्चोपाध्यायश्च शिष्योपाध्यायौ। तयोः सम्बन्धः **शैष्योपाध्यायिका**। यहाँ 'कृत्त-

द्धितसमासेभ्यः सम्बन्धाभिधानं भावप्रत्ययेन' इस वचन के अनुसार भाव प्रत्यय वुञ् सम्बन्ध को कह रहा है। सम्बन्धाभिधायक-प्रत्ययान्त का स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग हो इसमें एकमात्र लोक व्यवहार ही नियामक है। इसी प्रकार काकोलूकस्य वैरम् (काकानामुलूकानां च वैरम्) इस अर्थ में **'काकोलूकिका'** यह नियम से स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है यद्यपि अभिधेय 'वैर' नपुंसक है। द्वौ पादौ ददाति, द्वौ द्वौ पादौ ददाति **द्विपदिकां** ददाति। द्वे द्वे शते ददाति—**द्विशतिकां** ददाति। यहाँ 'स्त्रीत्वं लोकात्' इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं कह सकते।

सामान्ये नपुंसकम्

जब विशेष की अविवक्षा में किसी अर्थ को सामान्य रूप से कहा जाता है है तो उस के वाचक शब्द को नपुंसक लिङ्ग से निर्देश किया जाता है। और यह उचित ही है। पुंस्त्व तथा स्त्रीत्व की अविवक्षा होने पर पारिशेष्यात् नपुंसक लिङ्ग से निर्देश प्राप्त होता है। **तस्याः किं जातम्,** उसके हाँ किसका जन्म हुआ (क्या जन्मा)? इस वाक्य में 'किम्' यह सामान्ये नपुंसक निर्देश है। विशेष-विवक्षा होते ही **तस्याः पुत्रो जातः, तस्याः पुत्री जाता** इस प्रकार पुँल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग से निर्देश होता है।

> **त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः।**
> **त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम्॥** (मनु० ३।२३५)।

यहाँ 'त्रीणि' यह सामान्योक्ति में नपुंसक-निर्देश है। विशेष की अविवक्षा करके कोई तीन चीजें इस अभिप्राय से नतुंसक-निर्देश युक्त ही है। पीछे वे तीन चीजें क्या हैं, उन्हें अपने-अपने वाचक शब्द से यथाप्राप्त लिङ्ग निर्देश करके कह दिया है।

> **सम्प्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन।**
> **धेनुरुष्ट्रो वहन्नश्वो यश्च दम्यः प्रयुज्यते॥** (मनु० ८।१५७)।

यहाँ भी सामान्योपक्रम करके विशेषाभिधान है, अतः 'भुज्यमानानि' यह नपुं० बहुवचन निर्देश युक्त ही है। वे भुज्यमान पदार्थ विशेष रूप से क्या-क्या हैं इसे धेनुरुष्ट्रः आदि से कह दिया गया है। सामान्य में प्रयुक्त नपुंसक विशेष अभिधेय धेनु (स्त्री०), उष्ट्र (पुं०) के साथ पश्चाद्भावी अभिसम्बन्ध के कारण निवृत्त नहीं होता।

सा देवी मम च प्राणा रावणेनोभयं हृतम् (रा० ३।६७।१५)। रावणेनोभयं हृतम्। पहले बौद्ध समाहार वश ऐसा कहा है, अतः 'उभयम्' नपुंसक एकवचन का प्रयोग हुआ है। पीछे विशेष विवक्षा में (व्यक्तितः परिच्छेदार्थं) किं तदुभयम्, वे दो पदार्थ क्या हैं इसको जुदा-जुदा कहने के लिये देवी तथा प्राण का अपने अपने लिङ्ग तथा वचन में प्रयोग हुआ है। **आकृतिपदार्थकस्य द्रव्यं न पदार्थः, द्रव्यपदार्थकस्य चाकृतिर्न पदार्थ इत्युभयोरुभयं पदार्थः** (भाष्य)। यहाँ विशेष द्रव्य और आकृति का बौद्ध एकीकरण करके 'उभयम्' इस नपुं० एक० से निर्देश किया है। **प्रकृतिप्रत्ययोभयसापेक्षत्वेन बहिरङ्गत्वात्**। प्रकृतिश्च प्रत्ययश्च प्रकृतिप्रत्ययौ, तावेवोभयम्, तत्र सापेक्षत्वात् ऐसा विग्रह है। यहाँ बौद्ध समाहार को नपुंसक एकवचनान्त 'उभयम्' से कहा है। यही उचित है। ऐसे ही **अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम्**। (भा० १२।६५५२)। यहाँ भी 'द्वयम्' नपुं० एक० का प्रयोग हुआ है।

पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥

(मनु० १२।११० के अनन्तर प्रक्षिप्त)

यहाँ भी सामान्योक्ति में 'आज्ञासिद्धानि चत्वारि' ऐसा नपुंसक लिङ्ग में प्रयोग करके विशेष विवक्षा में पुराणं मानवो धर्मः इत्यादि को अपने-अपने लिङ्ग से निर्देश किया है। आचार्य ने भी अष्टाध्यायी में संस्कृतं भक्षाः (४।२।१६) इत्यादि में संस्कृतम् आदि का सामान्ये नपुंसकम् इस अभ्युपगम के अनुसार नपुंसक से निर्देश किया है, अतः एव **यत्संस्कृतं भक्षाश्चेत् ते भवन्ति**—ऐसा वृत्तिकार का वचन है।

शक्यम् (पुं० एकवचनान्त) का प्रचुर प्रयोग देखा जाता है जब एतदभिहित प्रथमान्त कर्म भिन्नलिङ्ग व भिन्नवचन में प्रयुक्त होता है। इस पर काव्यालंकार सूत्रवृत्तिकार वामन का कहना है—**शक्यमिति रूपं लिङ्गवचनस्यापि कर्माभिधायां सामान्योपक्रमात्** (६।२।२३), ऐसी अवस्था में 'शक्य' के नपुं० एक० में प्रयोग की यही उपपत्ति दी गई है कि ऐसा निर्देश सामान्योपक्रम (विशेष की अविवक्षा से कथनारम्भ) में होता है। **अथवा पदानि संस्कृत्य संस्कृत्योत्सृज्यन्ते, पश्चाद्यथेष्टमभिसम्बन्धः क्रियते**—यहाँ संकेतित पदसंस्कारपक्ष में लिङ्गसर्वनाम नपुंसकम् इस वचन के अनुसार पहले से प्रवृत्त हुआ अन्तरङ्ग नपुंसकलिङ्ग भिन्नलिङ्गक शब्द के साथ सम्बन्ध होने पर निवृत्त नहीं होता।

शक्यमञ्जलिभिः पातुं वाताः केतकगन्धिनः (रा० ४।२८।८)। केतक (केवड़ा) के गन्ध से युक्त हवाएँ अञ्जलियों से पी जा सकती हैं। यहाँ प्रथमान्त कर्म 'वाताः' पुं० बहुवचनान्त है। **शक्यमापतितः सोढुं प्रहारो रिपुहस्ततः** (रा० २।६२।१६)। यहाँ भी सामान्योपक्रम में शक्यम् नपुं० एक० है, अभिहित कर्म 'प्रहारः' पुं० एक० है। **शक्यं श्वमांसादिभिरपि क्षुत् प्रतिहन्तुम्** (भाष्य)। यहाँ अभिहित प्रथमान्त कर्म क्षुध् स्त्री० है। **शक्यमरविन्दसुरभिरविरलम् आलिङ्गितुं पवनः** (शाकुन्तल)। **शक्यं मन्दारपुष्पाणि प्राप्तुं कश्यपवंशज** (हरिवंश २।८३।५५)। यहाँ केवल वचनभेद है। न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः (गीता)—यहाँ भी केवल वचनभेद है। **एवं हि प्रणयवती सा शक्यमुपेक्षितुं कुपिता** (मालविका०)। यहाँ 'प्रणयवती सा' कहकर 'शक्यम्' का प्रयोग सामान्योपक्रम से दुःसमाधान है। पदसंस्कार पक्ष का आश्रयण करने से इसका समाधान भी हमें अरुचिकर है। पदसंस्कार पक्ष के यत्र तत्र आश्रयण से यह दैवी वाक् अपभ्रंश-बहुला हो जायगी। शक्यम् के प्रयोग से अन्यत्र भी अन्य कृत्य प्रत्ययान्त के अभिधेय प्रथमान्त कर्मों में भिन्न लिङ्ग तथा वचन का प्रयोग होने लगेगा। **वासनाप्रावृषि क्षीणे संस्थितौ राममागते** (यो० वा० ४।३५।५७)। यहाँ 'क्षीणे' जो प्रावृषि (प्रावृष्-स्त्री० सप्तमी) का विशेषण है उसकी नपुंसकता का समाधान टीकाकार ने 'पदसंस्कार पक्ष में सामान्ये नपुंसक समझना चाहिये' ऐसे किया है। यह गड्डरिकाप्रवाहमात्र है, ऐसा ही समाधान सर्वत्र किया जाता है, पर यह तुच्छ है। यहाँ तक कि 'दृष्टभक्ति र्भवान्या' (मेघ० ३६) अथवा 'दृढभक्तिः' में शास्त्र से पुंवद्भाव के दुर्लभ होने से सामान्ये नपुंसकम् कहकर व्याख्याकार सन्तुष्ट हो जाते है! **द्रव्याणि नहि निर्देष्टुं शक्यं कात्स्र्न्येन नामभिः** (चरक, सूत्र० २७।४२६)। यहाँ भी द्रव्याणि प्रथमान्त कर्म बहुवचनान्त है और शक्यम् नपुं० एकवचनान्त है। 'सामान्योपक्रम' से समाधान दुष्कर है। जब द्रव्य का नपुंसक-बहुत्व पहले बुद्धिस्थ हो गया और उसे शब्द (द्रव्याणि) से कह दिया गया तो सामान्योपक्रम में शक्यम् नपुं० एकवचनान्त का प्रयोग कैसे उपपन्न हो सकता है? ऐसे स्थलों में पदसंस्काराश्रयण सामान्ये नपुंसकम्, अथवा सामान्योप-क्रमे नपुंसकम् की कल्पना व्यर्थ है। ऐसे स्थलों में (वाक्य के मध्य में) शक्य का लिङ्ग व वचन अभिधेय कर्म के अनुसार ही होना चाहिये। आदिकवि ने **आकारश्छाद्यमानो पि न शक्यो विनिगूहितुम्** (रा० ६।१७।६४)। **न शक्यस्तुल-यितुं व्यसनैः पश्य पुरुषर्षभः** (रा० ५।३७।१७)। यहाँ 'आकार' आदि अभि-

धेय कर्म के लिङ्ग वचन के अनुसार ही 'शक्यः' में पुं० एक० से निर्देश किया है। इसी प्रकार **नेयं जरयितुं शक्या सासुरैरमरैरपि** (रा० ५।५१।२४) यहाँ भी अभिधेय कर्म 'इयम्' के अनुसार 'शक्या' यह स्त्री० एक० में प्रयोग हुआ है। ऐसा ही अन्यत्र भी होना चाहिये। वाल्मीकि आदि वाक्पद्धति के निर्माता हैं, इन्हीं का अनुसरण उचित है। अभिधेय कर्म के उच्चारित होने से पूर्व विशेषाऽविवक्षा में सामान्ये नपुंसक समझ में आ सकता है, वाक्य-मध्य में अभिधेय कर्म के उच्चारण के पश्चात् 'शक्य' का सामान्ये नपुं० एक० में प्रयोग सर्वथा दुरुपपाद है।

लिङ्गसर्वनाम नपुंसकम्

जैसे सर्वनाम सभी नामों का परामर्शक होता है तथा उस-उस नाम के स्थान में प्रयुक्त हुआ उस-उस नाम की निवृत्ति करता है—देवदत्तश्च यज्ञदत्तश्च तौ। देवदत्तश्च यज्ञदत्तश्च विष्णुमित्रश्च ते, इसी प्रकार समानाकृतिक तथा समानार्थक अनपुंसक लिङ्ग (पुं० अथवा स्त्री०) नपुंसकलिङ्ग विशेषण भूत शब्दों के एक साथ श्रवण के प्रसङ्ग में तत्समानाकृति तत्समानार्थक नपुंसक-लिङ्ग शब्द का प्रयोग शेष रह जाता है और अनपुंसक लिङ्गों की निवृत्ति हो जाती है। तथा शेष-भूत नपुंसकलिङ्गक का एकवचन में प्रयोग होता है अथवा यथाप्राप्त वचनान्तर में भी—**इदं शुक्लं शाटकम्। एष शुक्लः शाटकः। एषा शुक्ला शाटिका।** इसे इस प्रकार कहेंगे—**इदं शुक्लम्। इमानि शुक्लानि।** इसे सूत्रकार **नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्** (१।२।६९)—इस शासन द्वारा कहते हैं। इसके कुछ एक साहित्य में आये हुए उदाहरण यहाँ प्रस्तुत करते हैं—

> **हविराज्यं पुरोडाशः कुशा यूपाश्च खादिराः।**
> **नैतानि यातयामानि कुर्वन्ति पुनरध्वरे॥** (रा० २।६१।१७)

यातयामं हविः। यातयामम् आज्यम्। यातयामः पुरोडाशः। यातयामाः कुशाः। यातयामाः खादिरा यूपाः। एतानि यातयामानि। 'एतद् यातयामम्' ऐसा भी कह सकते थे।

> **चन्द्रे लक्ष्मीः प्रभा सूर्ये गति र्वायौ भुवि क्षमा।**
> **एतच्च नियतं नित्यं त्वयि चानुत्तमं यशः॥** (रा० ३।६५।५)

लक्ष्मी र्नियता। प्रभा नियता। गति र्नियता। क्षमा नियता। यशो नियतम्। एतन्नियतम्। 'एतानि नियतानि' भी कह सकते थे।

> **मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम्।**
> **प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन्॥** (मनु० ४।३९)

मृदं प्रदक्षिणां (कुर्वीत)। गां प्रदक्षिणाम्। दैवतं प्रदक्षिणम्। विप्रं प्रदक्षिणम्। वनस्पतीन् प्रदक्षिणान्। (इमानि) प्रदक्षिणानि कुर्वीत। **शिष्ट नपुं० प्रदक्षिणानि** अनपुंसकलिङ्ग प्रदक्षिणाम् (स्त्री०), प्रदक्षिणम् (पुं०) तथा प्रदक्षिणान् (पुं०) की निवृत्ति कर देता है।

मृत्युर्जरा च व्याधिश्च दुःखं चानेककारणम्।
अनुषक्तं यदा देहे किं स्वस्थ इव तिष्ठसि॥

मृत्युर् अनुषक्तः। जराऽनुषक्ता। दुःखमनुषक्तम्। इदमनुषक्तम्। इमानि अनुषक्तानि। अनपुंसक अनुषक्तः (पुं०), अनुषक्ता (स्त्री०) विशेषणों के साथ प्रयुक्त हुआ नपुंसक 'अनुषक्तम्' शेष रह गया है और अनुषक्तः पुं० तथा अनुषक्ता (स्त्री०) की निवृत्ति हो जाती है। अतः लिङ्गसर्वनाम नपुंसकम्—यह व्यपदेश अन्वर्थ है।

तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः स्वाभाविको वेदविधिर्न कल्कः।
प्रसह्य वित्ताहरणं न कल्कस्तान्येव भावोपहतानि कल्कः॥
(भा० आदि० १।२७५)

तपो भावोपहतं कल्कः। अध्ययनं भावोपहतं कल्कः। भावोपहतो वेदविधिः कल्कः। भावोपहतं वित्ताहरणं कल्कः। तानि भावोपहतानि कल्कः। अनपुंसक का सहोक्त नपुं० भावोपहत शेष रहा है और उसका यथाप्राप्त बहुवचन में प्रयोग हुआ है।

प्रकीर्णकम्

अब यहाँ फुटकल रूप से किन्हीं एक शब्दों के लिङ्ग विषय में विमर्श उपस्थित करते हैं।

मतल्लिकामर्चचिकाप्रकाण्डमुद्घतल्लजौ—मतल्लिका आदि समास के उत्तरपद के रूप में प्रयुक्त हुए, प्रशस्त वाचक होते हुए अपने-अपने लिङ्ग को नहीं छोड़ते। मचर्चिका, मतल्लिका स्त्रीलिङ्ग हैं। प्रकाण्ड प्रशस्त अर्थ में नपुंसक है। उद्घ तथा तल्लज पुं० हैं। संघोद्घौ गण-प्रशंसयोः (४।३।८६) में 'उद्घ' प्रशंसा अर्थ में निपातित किया है। गोमतल्लिका=प्रशस्तो गौः। गोमर्चचिका=प्रशस्तो गौः। पण्डित-प्रकाण्डम्=प्रशस्तः पण्डितः। विद्वत्तल्लजः=प्रशस्तो विद्वान्। प्रशस्ता स्त्री=स्त्रीतल्लजः। इन सब में **प्रशंसावचनैश्च** (२।१।६६) से नित्य समास होता है। 'उद्घ' का प्रयोग असमास में भी होता है। **उद्घो मनुष्याणाम्**। उद्घः=प्रशस्तः।

प्रशस्तवाची 'प्रवेक' समास के उत्तरपद के रूप में प्रयुक्त हुआ नित्य पुं० होता है, विशेष्य चाहे किसी भी लिङ्ग में हो—**अयं पण्डितप्रवेकः । नारी प्रवेकैरिव दीप्यमानं तडिद्भिरम्भोधरमर्च्यमानम्** (रा० ५।७।७) । प्रशस्ता नार्यो नारीप्रवेकाः ।

'योनि' लौकिक साहित्य में उभय-लिङ्ग प्रसिद्ध है, वेद में इसका पुं० में प्रयोग अधिक देखा जाता है—**अयं ते योनि ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः** (ऋ० ३।२६।१०) ।

दृति पुं० का वैदिक उदाहरण—**यो हि वां मधुनो दृतिराहितो रथ-चर्षणे । ततः पिबतमश्विना ॥** (ऋ० ८।५।१९) ।

निरस्त (क्तान्त) प्रेषित इषु (फेंका हुआ बाण) अर्थ में पुं० है ।

स्यूतप्रसेवौ (अमर)—यहाँ द्वन्द्व में पाठ होने से क्तान्त 'स्यूत' भी पुं० है यह निश्चित होता है ।

विषाक्ते दिग्धलिप्तकौ (अमर) । विष-सम्पृक्त (विष में बुझाये हुए) बाण के अर्थ में दिग्ध तथा लिप्तक (दोनों क्तान्त) पुं० हैं । वस्तुतः यहाँ 'सागराम्बरा' (पृथिवी) की तरह **'विशेषणमहिम्ना विशेष्यार्थलाभः'** ऐसा समझना चाहिये ।

सुरङ्गा तिर्यग्भूखातः (क्षीरस्वामी) । यहाँ 'खात' (क्तान्त) का पुं० में प्रयोग विशेष अवधेय है ।

यमस्य सभा = **यमसभम्** । यहाँ शास्त्र से नपुंसकत्व अप्राप्त था । **शिशु-क्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः** (४।३।८८) में 'यमसभ' का निपातन किया है । अतः यहाँ नपुंसकत्व साधु है ।

'आदि' प्रथम अर्थ में नियम से पुं० होता है, अभिधेय चाहे किसी भी लिङ्ग में हो—**कृतमादिर्युगानां च सर्वेषां नात्र संशयः ।** (भा० आश्व० ४४। ९) । **लोकानामादिरव्यक्तं सर्वस्यान्तस्तदेव च** (भा० आश्व० ४४।१७) । अतः **आदिर्गर्गकुलम्** । **'रामायणमादिः काव्यम्'** ऐसा कहना चाहिये । आदिः = आद्यम् ।

गौरी-फेरवयोः शिवा (अमर) । 'शिवा' पर क्षीर स्वामी का कथन है—अयं शृगालेपि स्त्रीलिङ्गः । अमर के वचन से स्पष्ट है कि स्त्री० शिवा का अर्थ गीदड़ है । अन्यत्र भी अमर शृगाल के पर्यायों में स्त्री० शिवा को पढ़ता है—**स्त्रियां शिवा भूरिमाय-गोमायु-मृग-धूर्तकाः ।** **विबोध्यसेऽशिवैः** शिवारुतैः इस भारवि के पद्य में 'शिवा' से शृगाल ही अभिप्रेत है । **शिवः कीलः**

शिवा क्रोष्टा भवेदामलकी शिवा—इस शाश्वत के पाठ से भी यह स्पष्ट है कि शिवा (स्त्री०) का अर्थ शृगाल है।

'द्वारि द्वाःस्थे प्रतीहारः प्रतीहार्यप्यनन्तरे' इस अमरवचन की व्याख्या करते हुए महेश्वर ने कहा है—**अयं (प्रतीहारीशब्दः) पुंव्यक्तावपि स्त्रियाम्** अर्थात् प्रतीहार (पुरुष द्वारपाल) के अर्थ में प्रतीहारी (स्त्री०) का भी प्रयोग साधु है।

'होत्रा' ऋत्विक्-पर्याय नित्य स्त्रीलिङ्ग है। इसमें शब्दस्वाभाव्य के अतिरिक्त कुछ भी कारण नहीं—**इयं होत्रा। अयमृत्विक्।**

अमित्र शब्द का प्रायः पुँल्लिङ्ग में प्रयोग देखा जाता है। पाणिनीय लिङ्गानुशासन में इसे पुँल्लिङ्ग शब्दों के साथ पढ़ा है, पर रामायण में अनेकत्र इसका स्त्री० में प्रयोग आया है—**मातृरूपे ममामित्रे नृशंसे राज्यकामुके** (रा० २।७४।७)।

'चाटु' का प्रायः नपुंसक में प्रयोग देखा जाता है, पर 'चाटु' पुं० भी है—**अंगः संमार्जनायैव चाटवो येन शिक्षिताः।**

'कशिपु' पुन्नपुंसक है। अमर इसे नपुंसक में पढ़ता है—**कशिपु त्वन्नमाच्छादनं द्वयम्।** हलायुध इसे पुं० में पढ़ता है—**अन्नाच्छादने सद्भिरुभे कशिपुरुच्यते।**

वा **पुंस्याकाशविहायसी** (अमर)। इस वचन के अनुसार विहायस् (= आकाश) पुँल्लिङ्ग भी है। महाभारत में पुं० में प्रयोग भी है—**अहं पतिष्यामि विहायसम्** (भा० ८।१९०३)।

वाक्य मध्यस्थ विशेषण-रूप से प्रयुक्त हुआ 'पवित्र' शब्द श्रुतितुल्य प्राचीनों की उक्तियों में नपुंसक लिङ्ग को ले लेता है चाहे विशेष्य किसी भी भिन्न लिङ्ग में हो—

आपः पवित्रं परमं पृथिव्यामपां पवित्रं परमं च मन्त्राः। यह भी अवधेय है कि 'पवित्र' यहाँ एकवचनान्त प्रयुक्त हुआ है, यद्यपि विशेष्य बहुवचनान्त है।

कुमारेऽपि भृतिः स्त्री स्यान्मूल्येपि भरणेऽपि च (मेदिनी)। 'भृति' शब्द 'कुमार' अर्थ में भी स्त्री० है।

बन्दि—बन्दी (कैदी)। पुंव्यक्ति के लिये भी स्त्रीलिङ्ग बन्दि-बन्दी का प्रयोग होता है—**इमास्तिस्रो बन्दयः (बन्द्यः)**, ये तीन कैदी हैं।

प्रग्रह, उपग्रह (दोनों पुं०)—इन का स्त्रीव्यक्ति के लिये भी प्रयोग होता है—प्रग्रहांश्चतस्रः स्त्रियः कारातः कारान्तरं नयन्ति रक्षिणः, चार कैदी स्त्रियों को रक्षी लोग एक जेल से दूसरी जेल की ओर ले जा रहे हैं।

विष्टि (निर्वेतन कर्मकर अथवा निर्वेतन कर्मकरों का संघात)—यह स्त्री० है, कर्मकर चाहे पुंव्यक्ति हो। इमा विष्टयः।

यानपूर्वो युगशब्दः पुंसि—ऐसा हर्षवर्धन का कहना है—यानयुगः। अन्यत्र 'युग' नपुं० है—कृतयुगम्।

हनश्च वधः (३।३।७६) से अप् प्रत्ययान्त 'वध' शब्द निपातित किया है। **करण तथा अधिकरण अर्थ में 'वध' त्रिलिङ्ग होता है**, अत एव अथर्व० सं० (१।२०।३) में **'यद् वधं वरुण यावय'** में 'वध' का नपुंसक लिङ्ग में प्रयोग संगत होता है। वधम्=आयुधम्। हन्यतेऽनेनेति वधम्।

अध्वरधुरां धर्मराजो विवक्षते। यहाँ समासान्त 'अ' हुआ है। समासान्त प्रकृति-लिङ्गक होते हैं, अतः उत्तरपद 'धुर' के स्त्रीलिङ्ग होने से स्त्रीत्वविवक्षा में टाप् हुआ है।

अर्धं नावः=**अर्धनावम्।** यहाँ अर्धाच्च (५।४।१००) से टच् समासान्त हुआ है। अब टच्प्रत्ययान्त 'नाव' को प्रकृतिलिङ्गक होना चाहिये पर लिङ्ग के लोकाश्रित होने से 'अर्धनाव' का नपुं० में प्रयोग होता है।

स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद्धि यम्।
तमौरसं विजानीयात् पुत्रं प्राथमकल्पिकम्॥

ऐसा ही वसिष्ठ गृह्य (१७।१३) में पाठ है। **स्वयमुत्पादितः स्वक्षेत्रे संस्कृतायां प्रथमः।** यहाँ क्षेत्र के नपुं० होने पर भी उसका विशेषण 'संस्कृत' स्त्री० में प्रयुक्त किया गया है। यह कैसे हुआ? क्षेत्रशब्द पत्नीवाची है अतः संस्कृतायाम्—यह अर्थद्वारक स्त्रीलिङ्ग विशेषण उपपन्न होता है।

द्वयोर्मृत्युः इस अमर वचन के अनुसार मृत्यु पुं० तथा स्त्री० है। पुं० में इसके प्रायिक प्रयोग हैं—मृत्यु धावति पञ्चमः। जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः। मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः। स्त्री० में रामायण में प्रयोग आया है—

स तु सीतां विचेष्टन्तीमङ्केनादाय रावणः।
प्रविवेश पुरीं लङ्कां रूपिणीं मृत्युमात्मनः॥ (रा० ३।५४।११-१२)

अथ क्लीबेऽभिधानानि सर्वाणि कुमुदस्य हि।
रजतेऽतिदिशन्त्यार्या रुधिरस्य तु कुङ्कुमे॥ (नानार्थार्णव संक्षेप)

कुमुद के जितने भी नपुंसकलिङ्गी नाम हैं, आर्य लोग उन्हें कुङ्कुम के के अर्थ में भी प्रयुक्त करते हैं।

इति लिङ्गानुशासनशेषो निःशेषतामगात्।

इति श्रीचारुदेवशास्त्रिणः कृतिषु व्याकरणचन्द्रोदये

शिक्षादि प्रकरणपञ्चक निरूपणः पञ्चमः खण्डः समाप्तिमापत्।

प्रथमखण्डे परिशिष्टांशाः

गां दोग्धि पयः । यहाँ पयः-कर्मक गोसम्बन्धी दोहन अर्थ है । पयस् मुख्य कर्म है, ईप्सिततम होने से । 'गो' का उपादान निमित्तभाव से हुआ है, वस्तुतः विद्यमान अवधिभाव से नहीं । अवधिभाव के अभाव में अपादान संज्ञा न होने से 'गो' की कर्म संज्ञा हुई है । अतः हरदत्त मिश्र का कहना है—**यद्यपि गोरवधिभावो विद्यते तथाप्यविवक्षिते तस्मिन्निमित्तमात्रविवक्षायामुदाहरणोपपत्तिः ।** अतः अवधित्व की विवक्षा में 'गोः' (पञ्चम्यन्त) का भी प्रयोग होगा ।

भाष्यस्थ कारिका में परिगणित धातुओं में पच् धातु नहीं पढ़ी । दीक्षित-निर्मित कारिका में इस का पाठ अप्रामाणिक है । ऐसी स्थिति में तण्डुलानोदनं पचति—में 'तण्डुलान्' में द्वितीया की क्या उपपत्ति है ? भाष्यकार का वचन है—**द्व्यर्थः पचिः ।** इसके अनुसार उक्त वाक्य का 'तण्डुलान्विक्लेदयन्नोदनं निर्वर्तयति' ऐसा अर्थ है, जिससे द्विकर्म्मकता सूपपन्न हो जाती है ।

पृ० ८. टिप्पण नं० ६ को **'संपूर्वाद् विभाषा'** ऐसे पढ़ें ।

पृ० ९. दापि की द्विकर्मकता में अन्य उदाहरण—**अदित्सन्तं दापयति प्रजानन्** (वा० सं० ९।२४) । **निक्षेपस्यापहर्तारं तत्समं दापयेद् दमम्** (मनु० (८।१९२) ।

पृ० १०. टिप्पणस्थ अनुपूर्वक जन के विषय में माधव का वचन—**अनुपूर्वोऽयं यदाऽऽत्मजन्मपूर्वके प्रापणे वर्तते तदापि सकर्मकः—असौ कुमारस्तमजोऽनुजातः** (रघु० ६।७६) । जननेन तम्प्राप्त इत्यर्थः ।

पृ० १२. करण में तृतीया का अन्य उदाहरण—**न काषायैर्भवेद् यतिः,** गेरवे वस्त्रों से यति (संन्यासी) नहीं बन जाता ।

पृ० १३. न केवलं श्रूयमाणैव क्रिया इत्यादि वामन के वचन के उदाहरण के रूप में **अपुत्रः प्रसवेनार्थी तपस्तेपे स उत्तमम्** (भा० आदि० २१५।२०)—यह अधिक पढ़ें । 'हिरण्येनार्थिनः' में जो तृतीया-भाव में विवरण दिया है, वही यहाँ समझें ।

पृ० १५. क्रियया यमभिप्रैति—इस अर्थ में सम्प्रदान में चतुर्थी का अन्य उदाहरण—**रामाय प्रतिजानीते राजपुत्र्यास्तु मार्गणम्** (रा० ६।१२६।३६)।

पृ० १६. डुदाञ् का प्रयोग होने पर भी सम्प्रदान न होने से सम्बन्ध-मात्रविवक्षा में षष्ठी का अन्य उदाहरण—

अत्र युद्धं मया दत्तं रावणस्य पुनः पुनः।
पक्षतुण्डनखैर्घोरम्.....................॥ (रा० ३।७२।२०)।

पृ० २२. अपादान में पञ्चमी के अन्य उदाहरण—

ईयुर्गावो न यवसादगोपाः (ऋ० ७।१८।१०)।

आरोग्यं भास्करादिच्छेत् (=आरोग्यं शरीरस्वास्थ्यं भास्करादादातुमिच्छेत्)।

सर्वस्माज्जयमन्विच्छेत्पुत्रादिच्छेत्पराजयम्।

बले र्याचते वसुधाम्। माणवकात् पन्थानं पृच्छति।

जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्—इस वार्तिक की व्याख्या के अन्त में यह अधिक पढ़िये—

अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः। (मनु० २।२१३)

इस मनुवाक्य में 'प्रमदा' से सप्तमी कैसे हुई? वार्तिक से पञ्चमी प्राप्त होती है। ठीक है। स्वच्छन्दवाच ऋषयः—यही उत्तर है।

पृ० २३. भीत्रार्थानां भयहेतुः—इस सूत्र के उदाहरणों के साथ एक और वैदिक उदाहरण पढ़िये—

स चिन्नु त्वज्जनो मायी बिभाय (अथर्व० ५।११४)।

कपटी जन भी तुझ से डरता है।

'आख्यातोपयोगे' की व्याख्या के अन्त में यह अधिक पढ़ें—

शृणु मे मघवन्येन न दृश्यन्ते महीक्षितः (भा० ३।२१३)।

यहाँ भी 'उपयोग' न होने से आख्याता की अपादान संज्ञा नहीं हुई। अतः पञ्चमी का प्रसङ्ग न होने से शैषिकी षष्ठी (मे) हुई है।

पृ० २६. ल्यब्लोपे—वार्तिक की व्याख्या में एक और उदाहरण पढ़िये—

अयं तव शरीरस्य प्रमाणादिव निर्मितः। (चारुदत्त ४।२)

प्रमाणात्=प्रमाणमनुसृत्य।

पृ० २७. 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' की व्याख्या के अन्त में इतना अधिक पढ़ें—

पुष्येण योगः। यहाँ पुष्यकर्तृक चन्द्रकर्मक योग अर्थ है। 'कर्म' के नियम

से प्रतीयमान होने से, उभयप्राप्तौ कर्मणि इस नियम से पुष्येण—यहाँ कृद्योग-लक्षणा षष्ठी नहीं होती।

पृ० २६. उकप्रतिषेधे—इस वार्तिक के प्रत्युदाहरण में **कामुका एनं स्त्रियो भवन्ति** (तै० सं० ६।१६।६)—यह पढ़िये। यहाँ सूत्रोक्त षष्ठी-निषेध अवस्थित रहता है अतः 'एनम्'—यहाँ द्वितीया हुई है।

'अकेनोर्भविष्यत् काल को कहने वाले अक प्रत्यय' के स्थान में 'भविष्यत् काल में विहित अक प्रत्यय' ऐसा पढ़ें। तुमुण्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् (३।३।१०) से भविष्यत् अधिकार है। अतः सूत्र में भविष्यत् काल में विहित अक प्रत्यय का ग्रहण है, इस कारण **वर्षशतस्य पूरकः, पुत्रपौत्राणां दर्शकः**—यहाँ भविष्यत्ता की प्रतीति होने पर भी षष्ठी-निषेध नहीं हुआ। यहाँ अक (ण्वुल्) भविष्यत् अर्थ में विहित नहीं, प्रकरण से भविष्यत्ता का अवगम होता है।

पृ० ३४. निमित्त में सप्तमी का अन्य उदाहरण—

ये त्वाऽनुवादेऽयुरवृत्तिकर्शिताः (भा० ४।२२६)।

इस पर नीलकण्ठ की टीका—**पुनर्देहीति राजवचनं यदधिकारिणं प्रति तदनुवादः, तन्निमित्तम्।**

पृ० ३५. प्रातिपदिकार्थ में इतना और पढ़िये—अर्थ दो प्रकार का होता है—शक्य (१), लक्ष्य (२)। शक्यार्थ ही प्रातिपदिकार्थ है। प्रातिपदिक के उच्चारण करते ही नियम से अर्थ की प्रतीति होती है।

पृ० ३७. 'समया' के योग में' द्वितीया का एक वैदिक उदाहरण—

वि सिन्धवः समया सस्रुरद्रिम् (ऋ० १।७३।६)।

पृ० ३८. अन्तरा के योग में द्वितीया का एक वैदिक उदाहरण—

अन्तरा दम्पती शये (=शेते) ऋ० १०।१६२।४॥ अन्तरा=मध्ये।

पृ० ३६. विना के योग में द्वितीया के अन्य उदाहरण—**विना मलयमन्यत्र चन्दनं न प्ररोहति** (पञ्चतन्त्र १।४२)। **तान्प्रादेशमात्रं विना परिलिखति**, प्रादेश मात्र भूमि को छोड़कर रेखा करता है। **न होढेन विना चौरं घातयेन् नृपः**, राजा जब तक चोरी का माल चोर के पास न देख ले, तब तक उसे वध दण्ड न दे।

पृ० ४१. 'दूर' अर्थ वाले प्रातिपदिक से पञ्चमी का एक और उदाहरण—

दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम् (मनु० ३।१३०)। दूरात्=

पितृपितामहाद्यभिजनशुद्धिनिरूपणेन (कुल्लूक)।

दश रात्रीरशिवेना नव द्यून् (=दिवसान्)
अवनद्धं श्नथितमप्स्वन्तः । (ऋ० १।११६।२४)।

स विगाढरसो विलासिनां परिहासः स्मरणीयतां गतः ।
पुरि नः परमेधतेऽधुना गणरात्रं परिदेवितध्वनिः ॥
(अभिनन्दकृत रामचरित ३३।२०)

पृ० ४६. प्रकृत्यादिभ्यः—के अन्य उदाहरण—

प्रजया स विक्रीणीते पशुभिश्चोपदस्यति । (अथर्व० १२।४।२)

पशवोऽस्योपदस्यन्ति क्षीयन्त इत्यर्थः। पशुक्षय एवास्य क्षयः । **यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते** (निरुक्त १।१८)।

निगदः=पाठः। यहाँ निगदेन में प्रकृत्यादि होने से तृतीया हुई है।

व्यतीतपञ्चवर्षोपि **वयसा** वत बुद्धिमान् (क० स० सा० १४।४५)। द्वादशाब्दश्च **वयसा** (क० स० सा० १२४।२०४)।

धाता दधातु नौ रयिमीशानो जगतस्पतिः ।
स नः पूर्णेन यच्छतु ॥ (अथर्व० ७।१७।१)।

पूर्णं रयिं यच्छतु नापूर्णमित्याह। **गुरुं गोत्रेणाभिवादयेत्** (गोभिल गृह्य २।३।११) गोत्रेण=गोत्रनिर्देशपूर्वकम् । **नादित्याभिमुखो न जघनेन** (आसीत) —शां० गृ० ५।१२।२।

पृ० ५७. 'नमः' के योग में एक उदाहरण—

नमः समस्मात्पूर्वस्मा (=पूर्वस्मै) **अन्तरस्मा** (=अन्तरस्मै) **अमेधसाम्** (मुग्धबोध), उस प्रभु को नमस्कार हो जो सबसे पूर्व विद्यमान है और अज्ञानियों से परे (बाह्य) है।

अलमर्थक के योग में चतुर्थी के अन्य उदाहरण—**न मुक्तामणेः शाणस्तारतायै प्रभवति** (का० नी० सा० १।५), सान मोती की आभा को बढ़ा नहीं सकता। **परिष्कृतस्य रसिन इयमासुतिश्चारुर्मदाय पत्यते** (ऋ० ८।१।२६)। हे इन्द्र सुसंस्कृत रसवान् सोम रस को पीजिये (पिवा त्वस्य ऋचा का प्रथम चरणोपक्रम)। यह सुन्दर आसव तुझे मस्ती देने को समर्थ है। पत ऐश्वर्ये (समर्थ होना) दैवादिक धातु का प्रयोग है।

पृ० ५०. 'ऋते' के योग में पञ्चमी का एक वैदिक उदाहरण—

नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते (ऋ० १०।८६।१२)

हे इन्द्राणी, मैं अपने मित्र वृषाकपि (विष्णु) के बिना आनन्दित नहीं होता हूँ।

पृ० ५३. आङ् के योग में पञ्चमी के अन्य उदाहरण—

आ परितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् । (शाकुन्तल)

जब तक विद्वानों का परितोष न हो जाय मैं अपनी नाटक-खेलने की कला को निर्दोष नहीं मानता । **आ भक्ते र्दु:खम्** । **आ मुक्तेः संसारः**, जब तक मोक्ष नहीं होता तब तक आवागमन रहता है ।

पृ० ५६. कर्मत्व की अविवक्षा में शैषिक षष्ठी के अन्य उदाहरण=

एष वेद निधीनाम् (ऋ० ८।२०।६) । विदुष्टे (=विदुस्ते) **अस्य वीर्यस्य पूरवः** (ऋ० १।१३१।४) । **न तस्य विद्म पुरुषत्वता** (=पुरुषत्वेन, पुरुषतया) **वयम्** (ऋ० ५।४८।५) । वैषयिक अधिकरण की अविवक्षा में भी षष्ठी देखी जाती है—

चीरस्याकुशला देवी सम्यग्निवसने शुभा । (रा० २।३७)

६१. निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्—इस वार्तिक के उदाहरण के रूप में रामायणीय उद्धरण पढ़िये—

कस्मिन्वा कारणे त्यक्ता राघवेण महात्मना (७।४८।७) ।

६६. 'अनुरक्त' व 'अनुव्रत' के प्रयोग में द्वितीया के व्यवहार के विमर्श में ये अतिरिक्त विवेचनीय उदाहरण पढ़िये—**सात्यकिः कृतवर्मा च नारायणमनुव्रतौ** (भा० आदि० ६३।५) । **आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थिकाम्** (भा० शां० १८०।४७) । 'अभिकाम' के प्रयोग में भी विभक्ति (द्वितीया) विमृश्य है—**क्षिप्रं त्वामभिकामश्च विनशिष्यति पापकृत्** (भा० उ०१२।३०) ।

पृ० ७६. करणत्व की अविवक्षा में शैषिकी षष्ठी का अन्य उदाहरण—

अतृप्त एव कामानां पुरुं पुत्रमुवाच ह (भा० आदि० ७५।५५) ।

पृ० ७८. निमित्त में सप्तमी का एक वैदिक उदाहरण—

अधा हि त्वा पृथिव्यां शूरसातौ हवामहे तनये गोष्वप्सु (ऋ० ६। १६।१२) । यहाँ 'तनये' इत्यादीनां तनयाद्यर्थं तनयादिनिमित्तमित्यर्थः ।

सभाजने मे भुजमूर्ध्वबाहुः सव्येतरं प्राध्वमितः प्रयुङ्क्ते (१३।४३) । रघुवंश के इस पद्य में 'सभाजने' में स्पष्ट ही निमित्त में सप्तमी है । मल्लिनाथ यहाँ 'निमित्तात्कर्मयोगे' इस वार्तिक से सप्तमी की उपपत्ति मानता है । यह हमें अभिमत नहीं । उस वार्तिक का यह विषय नहीं । प्रकृत में कर्म 'मे' में कृद्योग-

लक्षणा षष्ठी हुई है। इस कर्म का सभाजन के साथ संयोग वा समवाय संबंध कुछ भी नहीं।

पृ० ८१. सुप्सुपा समास के अन्य उदाहरण—**नगरी सस्त्रीबालवयोधिका** (रा० २।४७।१०)। वयसाऽधिकः=वयोधिकः=जरठः। **यत्र-तत्र-शयः** (भारत)।

पृ० ८२. विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव का अन्य उदाहरण—**वनेन्तर् अन्तर्वणम्**। यहाँ (८।४।५) से 'वन' के 'न्' को णत्व होता है।

यथार्थ में प्रत्येकम्—यह वीप्सा अर्थ में उदाहरण दिया है। इसके विषय में कुछ विशेष वक्तव्य है। अदन्त अव्ययीभाव से सुब्लुक् नहीं होता, किन्तु सुप् के स्थान में 'अम्' आदेश हो जाता है। यह 'अम्' आदेश तृतीया और सप्तमी के स्थान में बहुलतया होता है। अम् आदेश करके 'प्रत्येकम्' कहेंगे, पर **प्रत्येकेन प्रत्येकस्मिन्** भी कह सकते हैं। प्रश्न यह है—क्या **फलाय निमितोऽपि नहि प्रत्येकं पादपः फली भवति**—ऐसा कह सकते है? नहीं। वीप्सा अर्थ में अव्ययीभाव क्रियाविशेषण होगा। वीप्सा (व्याप्ति) का विषय 'पादप' बहुवचनान्त ही प्रयुक्त होगा, अन्यथा वीप्सा द्योतित नहीं होगी। तो हमें फलाय निमिता **अपि नहि प्रत्येकं पादपाः फलिनो भवन्ति**। ऐसा ही कहना होगा। असमास में तो वीप्सा के विषय में द्विरुक्ति होती है—ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं चाधीयते। द्विरुक्ति वीप्सा की द्योतिका है। वाक्य में 'प्रत्येकम्' का इस तरह प्रयोग होगा—**येऽत्र पुर्यां साङ्गवेदविदस्ते प्रत्येकं निमन्त्रयितव्याः**। अत्र त्रिंशच्छात्राः सप्तम्यां श्रेण्याम्। **प्रत्येकं छात्रेभ्यः पारितोषिकाणि प्रदीयन्ताम्। विदितो ऽयमर्थः प्रत्येकं विदुषाम्** (हर एक विद्वान् को यह विदित है)। षष्ठ्यर्थ की विवक्षा में भी 'प्रत्येकस्य' ऐसा प्रयोग सर्वथा अनुपपन्न है, 'अम्' आदेश के नित्य होने से। जो हमने यहाँ कहा है उसके समर्थन के लिये देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रा भोज्यन्तामित्युक्ते न पुनरुच्यते प्रत्येकमिति, अथ च **प्रत्येकं भोज्यन्ते** (१।२।१) यहाँ भाष्य में तथा **सा पौरान्पौरकान्तस्य रामस्याभ्युदयश्रुतिः। प्रत्येकं ह्लादयामास**॥ रघुवंश (१२।३) में प्रत्येकम् का क्रिया-विशेषण रूपेण प्रयोग पर्याप्त है।

यथार्थ में अव्ययीभाव के प्रसिद्ध उदाहरण 'यथाशक्ति' का विग्रह ऐसे है—**शक्तिमनतिक्रम्य। यथावशम्। वशम् इच्छामनतिक्रम्य। यथावशं नयति दासमार्यः** (ऋ० ५।३४।६)। **यथाप्रदेशम्** (भारत ३।१२७१९)**प्रदेशः श्रुत्युपदेशः। श्रुत्युपदिष्टमनतिक्रम्य। यो ब्रह्म जानाति यथाप्रदेशम्। यथाप्रदेशमद्यापि धर्मेण**

परिपाल्यते (पृथिवी) (हरिवं० १६२०)। **यथाजोषम्=यथेच्छम्** (भा० ३।११०५४)।

पृ० ८५. वहिर्विकारम् के आगे यह पढ़िये—

बहिर्वेदि च यद् दानं दीयते तद्धि पौर्तिकम् (दानहेमाद्रि)।

पृ० ८६. पं० ४ में 'इस सूत्र में 'सरजसम्' यह अच्समासान्त सहित पढ़ा है'—ऐसा वाक्य समझना चाहिये। निरङ्कुशाः कवयः, अतः भारवि ने (किरात १०।२६) **सरजसमपहाय केतकीनां प्रसवम्**—में बहुव्रीहि में भी अच्समासान्त किया है।

६२. 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' से जो तृतीया समास विधान किया है, वह कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम् इस न्याय से **नखैर्निर्भिन्नः=नखनिर्भिन्नः** यहाँ भी होगा। 'निर्भिन्न' गति पूर्वक कृदन्त है।

६४. चतुर्थी तदर्थार्थ० सूत्र की व्याख्या में कस्मा इदं किमर्थम्। **अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्**। यह उदाहरण और पढ़ें। **अश्वघासः** (अश्वस्य घासः) यह जो यहाँ प्रत्युदाहरण दिया है यह क० स० सा० (१५।१२४) में पढ़ा है।

६५. पञ्चमी भयेन। सूत्र में 'भयेन' यह स्वरूपग्रहण है, कारण कि वार्तिककार भयभीतभीतिभीभिरिति वाच्यम् ऐसा पढ़ते हैं। **वृकात् त्रासः**—यहाँ समास नहीं होगा।

६६. षष्ठीसमास का अन्य उदाहरण—**दन्तानां राजा=राजदन्तः**। यहाँ उपसर्जन 'दन्त' का परनिपात हुआ है। **राजदन्तास्तु चत्वारो दशनानां पुरः स्थिताः** (त्रिकाण्डशेष)।

६८. अव्यय के साथ षष्ठीसमास-निषेध कहा है, पर भाष्यकार-वचन-प्रामाण्य से **सर्वपश्चात्** (सर्वेषां पश्चात्) यहाँ षष्ठीसमास साधु ही है।

मति (इच्छा) अर्थ वाली धातुओं से जो वर्तमान में विहित 'क्त' उसके साथ षष्ठीसमास का निषेध कहा है तो

ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसंमताः। (मनु० ३।३९)

यहाँ 'शिष्टसंमताः' में षष्ठीसमास कैसे हुआ? यहाँ 'संमत' शब्द प्रियवाची है, अतः निषेध का प्रसङ्ग ही नहीं।

६९. 'अक्षशौण्डः' के आगे **'दानशौण्ड'** पढ़िये। 'शौण्ड' यहाँ शक्तवाची है। कोषकार शौण्ड को 'मत्त' अर्थ में पढ़ते हैं।

शुण्डायां सुरायां प्रसितः शौण्डः। शैषिक अण्। **वनेऽन्तर्**—यहाँ अन्तर् शब्द अधिकरण प्रधान है, इसका 'मध्ये' अर्थ है। इसके योग में अवयवी को आधार मानकर उससे सप्तमी होती है जैसे वृक्षे शाखा यहाँ। जो अन्तर् शब्द अधिकरणमात्रवृत्ति है, उसका विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव समास होता है—**वने इत्यन्तर्वणम्।** प्रनिरन्तः शर—(८।४।२५) से णत्व।

पृ० १०३. पूर्वकालैक—सूत्र के 'पूर्वकाल' अंश का एक और उदाहरण—

पूर्वं कर्ता पश्चात् कर्म कर्मकर्ता।

पृ० १०३. समासविधायक शास्त्र में प्रथमानिर्दिष्ट उपसर्जन होता है (पृ० ८२)। और उपसर्जन का पूर्वनिपात होता है (पृ० ८२)। पर कुछ एक स्थलों में यह शास्त्र-विहित पूर्वनिपात बाधित हो जाता है। पूर्वनिपात के योग्य का परनिपात हो जाता है। इस परनिपात का शास्त्रकार **राजदन्तादिषु परम्** (२।२।३१) से विधान करते हैं। दन्तानां राजा = **राजदन्तः।** समास विधायक शास्त्र 'षष्ठी' में षष्ठी यह प्रथमानिर्दिष्ट है, अतः 'षष्ठ्यन्त दन्त उपसर्जन है, इसका पूर्व निपात होना चाहिये था। इस शास्त्र से परनिपात होता है।

पूर्वकालैक० सूत्र में 'पूर्वकाल' प्रथमानिर्दिष्ट है, अतः 'उपसर्जन' है। पर **सिक्तसंमृष्टम्** (पूर्वं संमृष्टं पश्चात् सिक्तम्, पहले झाड़ू से साफ किया गया, पीछे पानी से छिड़का गवा)। **नग्नमुषितम्** (पूर्वं मुषितं पश्चात् नग्नम्, पहले लूटा गया, पीछे नंगा किया गया)। यहाँ उपसर्जन संमृष्ट तथा मुषित का परनिपात हुआ है।

पृ० १०५. द्विगुसमास तत्पुरुष का ही एक भेद है यह कथन संशोध्य है। वस्तुतः द्विगु में तत्पुरुषत्व कुछ भी नहीं, केवल तत्पुरुषत्व-प्राप्य समासान्तों की प्राप्ति के लिये द्विगु की तत्पुरुष संज्ञा की है। **द्विगुश्च** (२।१।२३)।

पृ० १०६. समाहार द्विगु के विषय में इतना और पढ़िये—

पञ्चानां गवां समाहारः पञ्चगवम्। द्विगु की तत्पुरुष संज्ञा होने से **गोरतद्धितलुकि** (५।४।९२) से टच् समासान्त हुआ है। समाहार समूह का नाम है। समूह अर्थ में तद्धित क्यों नहीं हुआ? समास से ही तद्धितार्थ कह दिया गया है। यदि यहाँ समाहार (समूह) अर्थ में तद्धित होता **द्विगोर्लुगनपत्ये** (४।१।८८) से उसका लुक् होने पर गोरतद्धितलुकि की प्रवृत्ति न होने से टच् समासान्त न हो सकता, तो पञ्चगवम् यह इष्ट रूप सिद्ध न होता।

अब यहां यह विचार प्रसक्त होता है कि क्या **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (२।१।५१) में समाहार शब्द **भावसाधन** है, समाहरणं समाहारः, विप्रकी-

णानामेकत्र राशीकरणम्, पञ्चानां पूलानां समाहारः पञ्चपूली अथवा **कर्मसाधन** है—पञ्च पूलाः समाहृताः। समाहार भाव-साधन है, यहाँ घञ् भाव में हुआ है, यही निर्दोष पक्ष है। 'पञ्चकुमारि' यहाँ समाहार के कर्मसाधन होने पर पञ्च कुमार्यः समाहृताः यहाँ कुमारीरूप अर्थ के प्रधान होने से समास शास्त्र में प्रथमानिर्दिष्ट न होने से, एकविभक्तिक न होने से भी कुमारी शब्द उपसर्जन नहीं है, तो **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (१।२।४८) से ह्रस्व नहीं प्राप्त होता। हाँ, **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** (१।२।४७) से ह्रस्व हो जायगा। पर यहाँ निर्वाह होने पर भी पञ्च खट्वाः समाहृताः—यहाँ दोष आयेगा। 'वा आवन्तः' से उत्तरपद खट्वा के विकल्प से स्त्रीलिङ्ग होने पर उपसर्जन न होने से ह्रस्व न होने पर **द्विगोः** (४।१।२१) से अदन्तत्वाभाव में ङीप् न हो सकेगा। भाव-साधन मानने पर तो समाहारापेक्षया खट्वा के एकविभक्तिक (एक मात्र षष्ठ्यन्त) होने से उपसर्जन संज्ञा होने से ह्रस्व होकर ङीप् निर्बाध होगा। **पञ्चखट्वी**। समाहार का इस प्रकार अनेक विभक्तियोग होता है—समाहारः खट्वानाम्। समाहारं खट्वानां पश्य। समाहारेण खट्वानाम् इत्यादि।

पृ० १०८. 'क्तेन नञ्विशिष्टेनानञ्' सूत्र के उदाहरणों में ये और पढ़िये—**क्षालिताक्षालिते मुखे** (दशकु० ८)। क्षालिताक्षालित=कुछ धोया, कुछ न धोया)। **दग्धादग्धं मृतकम्** (दशकु० ८) (शव कुछ जला, कुछ न जला)।

पृ० ११२. शाकपार्थिवादि समास के उदाहरणों में इतना और पढ़ें—

आकृतिग्राह्यो गणः=आकृतिगणः। पराजेरसोढः (१।४।२६) में **परापूर्वको जिः पराजिः। पाकनिर्वर्त्या यज्ञाः पाकयज्ञाः। यक्षप्रियः कर्दमः=यक्षकर्दमः**। कर्पूरागरु-कस्तूरी-कक्कोलैर्यक्षकर्दमः (अमर)।

पृ० मयूरव्यंसकादि का एक अन्य उदाहरण—**मनोजवसः पितृसंनिभः**। संनिभातीति संनिभः। पित्रा सदृशः ऐसा अस्वपदविग्रह तत्पुरुष समास है।

पृ० ११५. नञ्तत्पुरुष के उदाहरणों में ये अधिक पढ़िये—

न मित्रम् अमित्रः। उणादियों में अमतीत्यमित्रः ऐसी व्युत्पत्ति भी है।

पृ० ११७. गतिसमास 'कणेहत्य' के विषय में यह अधिक जानिये—**कणे=कान्ति=इच्छा। कणे हतः=कान्तिहतः** (निरुक्त ५।११।१)। **कान्तिहतः=हतपानाद्यभिलाषः** (दुर्ग)।

'अन्तर्' शब्द प्रादियों में नहीं पढ़ा। परिग्रह (स्वीकार) अर्थ को छोड़कर इसकी गति संज्ञा विधान की है—अन्तरपरिग्रहे (१।४।६५)। अन्तर्हत्य मूषिकां श्येनो गतः—इतना अधिक पढ़िये।

पृ० ११८. प्रादि समास के उदाहरणों में इतना और पढ़िये—

त्रेधा हीयं वाग्वदति शनैरुच्चैरथ सूच्चैः (मै० सं० ४।६।४)। सुष्ठु उच्चैः =सूच्चैः=अधिक ऊँचे। **प्रारम्भो मुखस्य प्रमुखं मुखाग्रम्।** तमापतन्तं प्रमुखे प्रतिजग्राह दुर्धरम् (हरिवं० २।३१।१७)। प्रमुखे ओष्ठयोरिति नीलकण्ठः। **प्रारम्भो बाह्वोः प्रबाहुः। मुखं बाहू प्रबाहू च मनः सर्वेन्द्रियाणि च। रक्षत्व-व्याहतैश्वर्यस्तव नारायणोऽव्ययः॥** (वि० पु० ५।५)। **उपगत उत्तमम्= उपोत्तमः।** उत्तम (अन्तिम) का समीपवर्ती, अन्त्य से ठीक पूर्व। आचार्य का प्रयोग भी है—**झल्युपोत्तमम्** (६।१।१८०)।

पृ० १२१. 'अलंकुमारिः' के आगे **अलंपुरुषीणः। अलंकर्मीणः।** स्वार्थ में ख प्रत्यय। विग्रह—अलं पुरुषाय। अलं कर्मणे।

पृ० १२८. 'अगदंकार' की व्याख्या की समाप्ति पर यह और पठितव्य है—सुश्रुत (१।३७।१७) में रोग निवारक औषध के अर्थ में 'अगदङ्कर' प्रयोग मिलता है—**येषां गदानां ये योगाः प्रवक्ष्यन्ते तेऽगदङ्कराः।**

पृ० १३४. पं० ४ में ऊष्म के स्थान में 'उष्ण' पढ़िये।

'सुदिनाहम्' में सुदिन प्रशस्तवाची है—**सुदिनासु सभासु कार्यमेतत् प्रतिचिन्वीत विशेषतः स्वयं च।** वेद में भी इस अर्थ में प्रयोग मिलता है—

पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्।
(ऋ० २।२१।६)।

सुदिनत्वम्=प्रशस्तत्वं सुखकरत्वमित्यर्थः।

पृ० १३७. सभान्त तत्पुरुष की क्लीवता के उदाहरणों में **यमस्य सभा यमसभम्**—यह भी पढ़िये। इसकी क्लीवता शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्य-श्छः (४।३।८८) सूत्र में निपातित की है।

पृ० १४३. **विपरीतोऽध्वा**—यह अर्थ अमर के अनुसार दिया है।

अमर का पाठ—**व्यध्वो दुरध्वो विपथः कदध्वा कापथः समाः।** 'व्यध्व'= विप्रकृष्टोऽध्वा—यह अर्थ संभवतः अमर को विदित नहीं। प्राचीन साहित्य में इस अर्थ में 'व्यध्व' का प्रचुर प्रयोग है। अथर्व० १३।२।३१॥ श० ब्रा० ६।३। २।५॥ **व्यध्वोदकान्तयोश्च** (का० श्रौ० १०।८।१७)। महाभारत में भी इस अर्थ में प्रयोग मिलता है—**तूर्णं प्रत्यानयस्वैतान् कामं व्यध्वगतानपि।** व्यध्व-गतान्=दूरं गतान् (नीलकण्ठ)। अमर के पाठ में विपथः, तथा कापथः—ये दोनों अपाणिनीय हैं। 'पथ' स्वतन्त्र प्रकृत्यन्तर मानकर समाधान किया जाता है।

पृ० १४५. सर्वोपसर्जन समास (वहुव्रीहि) में 'समान' को स-भाव-विधायक शास्त्र— **ज्योतिर्जनपद-रात्रि-नाभि-नाम-गोत्र-रूप-स्थान-वर्ण-वयो-वचन-बन्धुषु** (६।३।८५) है। इसमें पूर्व सूत्र 'समानस्यच्छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु' से 'समानस्य' की अनुवृत्ति आ रही है। क्रमशः उदाहरण—**समानं ज्योतिर् नक्षत्रमस्याशौचस्येति सज्योतिराशौचम्,** जिस नक्षत्र के उदय होने पर जो आशौच प्रारम्भ हुआ उसके अस्त होने तक रहने वाला वह आशौच 'सज्योतिः' कहलाता है। **समानो जनपदोऽस्येति सजनपदः। वयं न केवलं सजनपदाः समानग्रामा अपि। समाना रात्रिरस्य जागरस्येति सरात्रिर्जागरः।** समाना नाभिरस्य सनाभिः। **नाभिर्गर्भाशयः।** ऐसा ही सायणाचार्य ने अथर्व० (१।३०।१) के भाष्य में कहा है। समाना वन्धवोऽस्य सवन्धुः। **एते देवदत्तादयः सबन्धवः सनाभयश्च।** समानं नामाऽस्य **सनामा।** समानं गोत्रमस्य **सगोत्रः।** समानं रूपमस्य **सरूपः। सनामानः सगोत्राः सरूपाश्चैते समानकर्म्माणो न, वृत्तशीलभेदात्।** सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ (१।२।६४)। अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां **सरूपाः** (साङ्ख्य कारिका)। समानं स्थानमस्यति सस्थानः। **कवर्गचवर्गौ सस्थानौ न भवतः। ककारश्चकारेण सवर्णो न, स्थानभेदात्।** समानं वयोऽस्य सवयाः। **देवदत्तयज्ञदत्तौ सवयसौ न तु समानप्रज्ञानौ।** समानं वचनमस्येति सवचनः। **मुनयो मन्तारो भवन्तीति प्रायेण सवचना न** (विसंवदन्ति तेषां वचनानि)।

वहुव्रीहि में निष्ठान्त का पूर्वनिपात कहा है (पृ० १४४)। अब यहाँ (पृ० १४५) कुछ एक प्रदेशों में निष्ठान्त का पूर्वनिपात वैकल्पिक होता है, अर्थात् पक्ष में परनिपात भी होता है इसे कहा है। इसे शास्त्रकार **वाऽऽहिताग्न्यादिषु** (२।२।३७) सूत्र से विधान करते हैं। इतना अधिक पढ़ें। यहाँ दिये हुए उदाहरणों के साथ यह भी रामायणीय उदाहरण पढ़ें—

एते चाप्यभिषेकार्था मुनयः कलशोद्यताः (२।११६।५)। उद्यताः कलशा यैस्ते कलशोद्यताः (उद्यतकलशा वा)। यहाँ दिये हुए सावित्रीपतिताः (मनु० २।३९) इस उदाहरण में वहुव्रीहि समास ही अभिप्रेत है, इसमें **'पतिता यस्य सावित्री दश वर्षाणि पञ्च च'**—यह यमस्मृति का वचन प्रमाण है।

पृ० १४७. पं० २. अतद्गुणसंविज्ञान वहुव्रीहि का एक अन्य शास्त्रीय उदाहरण—**जक्षित्यादयः षट्** (६।१।६)। जक्षितिरादिर्येषां ते। यहाँ जक्ष् से भिन्न छः और धातुएँ विवक्षित हैं। जक्ष् सातवीं अभ्यस्त संज्ञक है। तद्गुणसंविज्ञान मानने पर तो 'चकास्' छूट जाती।

पृ० १४८. व्यधिकरण बहुव्रीहि का एक वैदिक उदाहरण—

जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् ।

(अथर्व० १७।१।२७)।

जीर्यतोपि अष्टिः सर्वव्यापारविषया व्याप्तिर्यस्य स जरदष्टिः ।

पृ० १४९. सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य० इस वार्तिक के व्याख्यान में कुछ संशोधन अपेक्षित है। वार्तिकार्थ ऐसा है—उपमानं पूर्वपदं यस्योत्तरपदस्य तस्य पदान्तरेण समासः, तस्योत्तरपदस्य लोपश्च भवति, अर्थात् जिस उत्तरपद का पूर्वपद उपमानवाची हो, उस उत्तरपद का अन्यपद के साथ समास होता है और उत्तरपद का लोप हो जाता है। यथा उष्ट्रमुख का मुख के साथ समास। मुद्रित हिन्दी व्याख्या में उपमान-वाची 'उष्ट्रमुखम्' के स्थान में उपमानवाची पूर्वपद 'उष्ट्र' ऐसा पढ़ें। 'मुख' उष्ट्रमुख का अवयव है—इसके स्थान पर मुख उष्ट्र का अवयव है। कोष्ठकगत 'समुदाय' को समुदाय-उष्ट्र ऐसा पढ़ें। आगे 'उष्ट्रमुखम्' उपमान हो गया—इसके स्थान में 'उष्ट्र' उपमान होगया' ऐसा पढ़ें।

प्रादि पूर्वपद बहुव्रीहि के उदाहरणों में 'उज्ज्यम्' उत्क्रान्ता ज्या यस्मात् ऐसा विग्रह सहित पाठ जानें।

पृ० १५१. पूर्वोत्तरा, दक्षिणपूर्वा में पूर्वपद को पुंवद्भाव कहा है, वह **सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः** इस भाष्य इष्टि से होता है, ऐसा जानना चाहिये।

पृ० १५३. प्रियादि उत्तरपद होने पर पुंवद्भाव का निषेध कहा है। प्रियादियों में 'भक्ति' शब्द पढ़ा है। मेघदूत (३९) में **दृष्टभक्तिर्भवान्या** ऐसा पाठ है। यहाँ **दृष्टाभक्तिः** (दृष्टा भक्तिर्यस्य सः) होना चाहिये, पुंवद्भाव का निषेध होने से। इसका समाधान ऐसे किया जाता है—दृष्टं भक्तिर्यस्य, यह विग्रह वाक्य है। पदसंस्कार पक्ष में सामान्ये नपुंसकम्, विशेषाऽविवक्षा में अन्तरङ्गत्वात् 'दृष्टम्'—यह नपुंसक-लिङ्गक प्रयुक्त होता है, पश्चात् भिन्न-लिङ्गक विशेष्य के साथ सम्बन्ध होने पर भी पूर्वाश्रित नपुंसक लिङ्ग की निवृत्ति नहीं होती। पूर्वपद के स्त्रीत्ववाची न होने से पुंवद्भाव का प्रसङ्ग ही नहीं रहता। ऐसे ही दृढभक्तिरसौ शिवे—यहाँ दृढभक्ति के विषय में जानें।

प्रसूततनया—'तनया' भी प्रियादि है। यहाँ भी 'प्रसूतातनया' ऐसा रूप

होना चाहिये। ठीक है। पर प्रसूतं तनयया यस्याम्—इस प्रकार व्यधिकरण बहुव्रीहि मानकर समाधान किया जाता है। समानाधिकरण बहुव्रीहि में पुंवद्भाव-निषेध कहा है। व्यधिकरण में नहीं।

पृ० १५३. पुंवद्भाव के निषेध का एक और उदाहरण—

शैवीचिन्ताविहीनं मम हृदयमहो मानगर्वाधिरूढम्(शिवापराधक्षमापण स्तोत्र)। शिवस्येयं शैवी। शैवी चासौ चिन्ता च=शैवीचिन्ता (समानाधिकरण तत्पुरुष)।

पृ० १५८. जायाया निङ् इसका एक वैदिक उदाहरण—

विजानिर्यत्र ब्राह्मणो रात्रिं वसति पापया (अथर्व० ५।१७।१८)।

विगता विनष्टा जायाऽस्य स विजानिः, प्रमीतपत्नीक इत्यर्थः।

धनुष् को अनङ् समासान्त के विषय में इतना अधिक जानिये—

वेद में अनेकत्र धनुष् अर्थ में स्वतन्त्र प्रकृति 'धन्वन्' का प्रयोग मिलता है।

यत्र वष्टि प्र तदश्नोति धन्वना (ऋ० २।२४।८)। **इषुर्न धन्वन् प्रतिधीयते मतिः** (ऋ० ६।६६।१)। धन्वन्=धन्वनि, स० एक०।

पृ० १६१. 'उरः प्रभृतिषु कप्'। उरः प्रभृतियों में 'मधु' शब्द पढ़ा है। तो प्रियमधुरसनानि षट्पदाली (किरात० १०।२६)—यहाँ प्रियं मधु यस्याः सा प्रियमधुका, तो प्रियमधुकासनानि'—ऐसा कप्प्रत्ययान्त रूप होना चाहिये। ठीक है। पर उरःप्रभृतियों में नपुंसकलिङ्ग 'मधु' शब्द का पाठ है। प्रकृत में मधु पुं० का उपादान है। मधु शब्द मकरन्द (पुष्परस) अर्थ में भी पुन्नपुंसक है—

मकरन्दस्य मद्यस्य माक्षिकस्यापि वाचकः।
अर्धर्चादिगणे पाठात्पुंनपुंसकयोर्मधुः॥

पृ० १६७. द्वन्द्व में विहित पूर्वनिपात का कहीं-कहीं अपवाद परनिपात देखा जाता है। उसका **राजदन्तादिषु परम्** (२।२।३१)—यह शास्त्र विधायक है। राजदन्तादिगण में ऐसे द्वन्द्व समास भी संगृहीत किये हैं जहाँ अल्पाच्तर होने से, 'घि' होने से, अजाद्यदन्त होने से, अभ्यर्हित होने से, पूर्वनिपात प्राप्त था—यथा **उलूखलमुसलम्** (उलूखलं च मुसलं च तयोः समाहारः)। **तण्डुलकिण्वम्** (तण्डुलाश्च किण्वाश्च तेषां समाहारः)। यहाँ अल्पाच्तर मुसल तथा किण्व का पूर्वनिपात प्राप्त था। **अक्षिभ्रुवम्** (अक्षिणी च भ्रुवौ च)। **दारगवम्**

(दाराश्च गावश्च)—यहाँ भी अल्पाच्तर भ्रू तथा गो का पूर्वनिपात प्राप्त था। **शूद्रार्यम्** (शूद्राश्च आर्यश्च)। अभ्यर्हित होने से 'आर्य' का पूर्वनिपात प्राप्त था। **चित्रास्वाती** (चित्रा च स्वातिश्च) **भार्यापती**। **जायापती**। **पुत्रपती**——इन द्वन्द्व समासों में स्वाति, पति शब्दों के घि-संज्ञक होने से इनका पूर्व-निपात प्राप्त था। धर्मश्चार्थश्च **धर्माथौं**। शब्दश्चार्थश्च **शब्दार्थौ**—यहाँ 'अर्थ' के अजादि अदन्त होने से इसका पूर्वनिपात प्राप्त था।

पर धर्मादिपूभयम्, धर्मादिष्वनियमः इस वचन से यथाप्राप्त पूर्वनिपात करके **अर्थधर्मौ, अर्थशब्दौ** भी कह सकते हैं। **केशश्मश्रु**। **श्मश्रुकेशौ**। **अन्तादी**। **आद्यन्तौ** (अन्तश्चादिश्च)। **गुणवृद्धी**। **वृद्धिगुणौ**। **मधुसर्पिषी**। **सर्पिर्मधुनी** (मधु च सर्पिश्च)।

पृ० १६९. जातिरप्राणिनाम् सूत्र की व्याख्यामें इतना अधिक पढ़िये—

व्यक्तिपरतया प्रयुक्त होने पर एकवद्भाव का नियम नहीं—**इह कुण्डे कतिचिद् बदरामलकानि तिष्ठन्ति**।

पृ० १७७. नपुंसकमनपुंसकेन० का अतिक्रम भी देखा जाता है, उसका एक रुचिर उदाहरण—

राजासनं राजच्छत्रं वराश्वा वरवारणाः।
यस्य पुण्यानि तस्यैते मत्त्वैतच्छाम्य पुत्रक॥ (वि० पु० १।११।१८)

यह माता सुनीति का अपने प्रिय पुत्र ध्रुव के प्रति उपदेश है।

१७८. पञ्चमी के अलुक् के विषय में **ब्राह्मणाच्छंसिन इत्युपसंख्यानम्**——यह वार्तिक पढ़िये। ब्राह्मणादादाय शंसतीति ब्राह्मणाच्छंसी। ऋत्विग्विशेष की संज्ञा है।

द्वितीयखण्डे परिशिष्टांशाः

(कृत्प्रकरणे)

पृ० १. इस खण्ड के आरम्भ में इतना अधिक पढ़िये—तृतीयाध्याय के प्रारम्भ अर्थात् **प्रत्ययः** (३।१।१) से प्रत्यय संज्ञा की है। यहाँ से लेकर पञ्चमा-ध्याय की परिसमाप्ति तक प्रकृति, उपपद, उपाधि, विकार (आदेश), आगम को छोड़कर जो शब्दरूप विधान किया है उसे प्रत्यय कहते हैं। प्रत्यय धातु से अथवा प्रातिपदिक से परे होता है। **परश्च** (३।१।२)। और वह आद्युदात्त

होता है। **आद्युदात्तश्च** (३।१।३)। 'प्रत्यय' यह अन्वर्थ संज्ञा है। **यः स्वमर्थं प्रत्याययति स प्रत्ययः** (भाष्य ३।१।१)।

पृ० ३. पं० २. में कलिर्वर्जितव्यः (वर्जनीयः)[1] ऐसे पढ़ें।

अन्तिम पङ्क्ति में 'हि' से पहले श्रि—श्रेय। भी—भेय। इतना अधिक पढ़ें।

शङ्का—अजन्त धातु से यत् विधान किया है। दित्स, धित्स (दा—सन्, धा-सन्) से आर्धधातुक की विवक्षा में ही (यत् आने से पूर्व) अतो लोपः (आर्धधातुके) (६।४।४८) से 'अ' का लोप होने पर इन सन्नन्त धातुओं के हलन्त हो जाने से ऋहलोर्ण्यत् (३।१।१२४) से ण्यत् होना चाहिये, यत् की प्राप्ति ही नहीं। ठीक है। भूतपूर्वगत्या अजन्त मानने से यत् होने से **यतोऽनावः** (६।१।२१३) से दित्स्य, धित्स्य आद्युदात्त होते हैं। ण्यत् होने पर तो **तित्स्वरितम्** (६।१।१८५) से दित्स्य, धित्स्य स्वरितान्त होते। तत्त्वबोधिनीकार इस को दूषित करता है। उसका कहना है कि अतो लोपः सूत्र में 'आर्धधातुके' यह परसप्तमी है। विषयसप्तमी नहीं। यदि विषयसप्तमी हो तो 'गणयति'—यहाँ अदन्त गण के 'अ' का लोप परनिमित्तक नहीं। परनिमित्तक न होने से स्थानिवद्भाव नहीं होगा, तो गणयति—यहाँ वृद्धि प्रसक्त होगी और 'गाणयति' ऐसा अनिष्टरूप निष्पन्न होगा। **भाव यह है कि अचो यत् प्रत्यय के विधान में अजन्त भूतपूर्व धातु का ग्रहण नहीं।**

पृ० ४. उकारान्त से यत् प्रत्यय के उदाहरणों में स्तु—स्तव्य। गुण होकर वान्तादेश। नु—नव्य=नवितव्यः—यह अधिक पढ़ें। **स्तव्योऽस्य गुणसमुदयः। स्तव्यः=स्तुत्यः। नव्यस्तस्य शास्त्रेऽभियोगः।**

पृ० ६. वह्य का वैदिक उदाहरण—

सा भूमिमारुरोहिथ, वह्यं श्रान्ता वधूरिव (अथर्व० ४।२०।३)।

यहाँ 'वह्य' से 'शिविका' अभिप्रेत है।

पृ० ११. अवश्यम्भाव द्योत्य होने पर कुत्व नहीं होता इस अर्थ में प्रमाणभूत सूत्र **ण्य आवश्यके** (७।३।६५) पढ़ें।

पृ० १२. टिप्पण नं० ३. ण्ये आवश्यके (७।३।६५) के स्थान पर **ओरावश्यके** (३।१।१२५) पढ़ें।

---

१. **लिङ्गे सततं जाग्रद्भिरप्यस्माभिः प्रमत्तम्! किमन्यच्छक्यते वक्तुम्। स्खलनधर्माणो मनुष्याः।**

पृ० १५. पं० २ के प्रारम्भ में **ह्लदा इव स्नात्वा** (ऋ० १०।७१।७) पर निरुक्तकार यास्काचार्य कहते हैं—**प्रस्नेया ह्लदा इव**, जिस पर दुर्ग की व्याख्या है—**'प्रस्नातुं योग्यं येषु'** (निरुक्त १।६।१)। यहाँ भी स्पष्ट रूप से अविकरण में यत् प्रत्यय हुआ है।

भाव में 'तव्य' का एक रामायणीय उदाहरण—**ये त्वया कीर्तिता दोषा वने वस्तव्यतां प्रति** (२।२६।२)। वस्तव्यता=वासः।

पृ० १६. शकि लिङ् च का अन्य उदाहरण—**जलं विस्रावयेत्सर्वमविस्राव्यं च दूषयेत्** (भा० १२।२६३४)। यद् विस्रावयितुं न शक्यं तदविस्राव्यम्।

पृ० २६. प्रयोगमाला के अन्त में यह अधिक पढ़िये—

अरेर्हि दुर्हृदाद् भेयं भग्नपृष्ठादिवोरगात्। (भा० शां० ८२।५५)

पृ० २७. ण्वुल् प्रत्यय के उदाहरणों में यह अधिक पढ़िये। वेञ् तन्तु-सन्ताने से ण्वुल् (=अक) धातु को आदेच उपदेशे (६।१।४५) से प्रत्यय आने से पूर्व ही आत्व होता है। पश्चात् युक् आगम होकर इष्ट रूप सिद्ध होता है। वायकः=तन्तुवायः, कुविन्दः=जुलाहा। **सूच्यां सूत्रं यथा वस्त्रे संसारयति वायकः** (भा० शां० २१७।३६)। महाभारत के इस वाक्य में वायक से सौचिक अर्थ अभिप्रेत है।

शक्य-विषयक टिप्पण में कुमारसंभव के ये दो और उदाहरण पढ़िये—

शक्यमोषधिपतेर्नवोदयाः कर्णपूररचनाकृते तव।
अप्रगल्भनवसूचिकोमलाश्छेत्तुमग्रनखसंपुटैः कराः॥ (८।६२)।
शक्यमङ्गुलिभिरुत्थितैरधः.................।
......................उत्कचयितुं तवालकाः॥ (८।७२)

पृ० ३२. इगुपध से क-प्रत्यय के उदाहरणों में **निकृन्ततीति निकृतः शठः**, इतना अधिक पढ़िये।

पृ० ३३. आकारान्त सोपसर्गक धातुओं से क-प्रत्यय के उदाहरणों में इतना अधिक पढ़िये—**अवतिष्ठत इत्यवस्थः। स न भवतीत्यनवस्थः। अनवस्थौ हि दृश्येते युद्धे जयपराजयौ।**

पृ० ३७. सोपपद कृत् प्रकरण से पूर्व—

आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः (३।३।१७०)। अवश्यम्भाव तथा आधमर्ण्य-विशिष्ट कर्ता के वाच्य होने पर धातु मात्र से णिनि (इन्) प्रत्यय होता है।

आवश्यक तथा आधमर्ण्य उपाधि हैं, उपपद नहीं। उपाधि=विशेषण। अवश्यम्-भावः=आवश्यकम्। अधमर्णस्य भावः=आधमर्ण्यम्। अधम ऋणे=अधमर्णः, ऋणी। आवश्यक—अवश्यं हरतीति हारि। **लोके हारि च वत्सराजचरितं नाट्ये च दक्षा वयम्** (रत्नावली)। **यायिन्यो न निवर्तन्ते सतां मैत्र्यः सरित्समाः**। अविच्छेदेन प्रवर्तन्तेऽवश्यम् इति यायिन्यः।। आधमर्ण्य—शतं दायी। **अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः** (२।३।७०) से षष्ठी का निषेध होने से 'शतम्' में अनुक्त कर्म में द्वितीया हुई है। इतना और पढ़ें।

पृ० ३८. कर्मोपपद धातु से अण् के उदाहरणों में इतना अधिक पढ़िये—

अगदं स्वस्थं, अगदान् भेषजानि वा करोतीत्यगदङ्कारः, भिषक्, वैद्य। **पक्षिणो बध्नातीति पक्षिबन्धः** (शाकुनिकः, चिड़ीमार)। यह प्रयोग तन्त्राख्यायिका में आया है।

पृ० ३९. 'अण् कर्मणि च' का एक वैदिक उदाहरण—

ये पितरो वधूदर्शा इमं वहतुमागमन् (अथर्व० १४।२।७३)। वधूं द्रक्ष्याम इति वहतुं (वह्यं, शिविकाम्) आगमन्।

पृ० ४२. प्रे दाज्ञः सूत्र का एक और उदाहरण—**नाग्निचिन्नरकं याति न सत्पुत्रो न कुप्रदः**। कुं प्रददातीति कुप्रदः, भूमिद इत्यर्थः।

पृ० ४३. सूत्रे च धार्यर्थे इस वार्तिक के विषय में इतना विशेष जानें—**सूत्रग्रहो विद्वान्। सूत्रमवधारयतीति। सूत्रग्राहस्तक्षा** (प्रक्रियासर्वस्व में नारायणभट्ट का वचन)।

पृ०. ५६. आ सर्वनाम्नः के उदाहरणों में **अमूदृशः, अमूदृक्, अमूदृक्षः** भी पढ़ें। यहाँ अदस् के 'स्' को 'आ' होने पर सवर्ण दीर्घ होकर 'अदा' रूप होने पर मुत्व उत्व होकर 'अमूदृश' आदि रूप निष्पन्न होते हैं।

पृ० ५९. ताच्छील्य में णिनि के उदाहरणों में गोतम सूत्र के उद्धरण के साथ **'अथ यः पूर्वोत्थायी जघन्यसंवेशी तमाहुर्न स्वपितीति'**—यह आपस्तम्ब धर्मसूत्र (१।४।२८) का वचन पढ़ें।

स्ववासिनी=स्वस्य (पितुरित्यर्थः) गृहे वस्तुं शीलमस्याः। विवाह के पश्चात् भी जो पिता के घर रहती है उसे स्ववासिनी कहते हैं।

पृ० ७३. 'निष्कुषित' का भट्टिकाव्यगत प्रयोग—

चिरकालोषितं जीर्णं कीटनिष्कुषितं धनुः।
किं चित्रं यदि रामेण भग्नं क्षत्रियकान्तिके॥ (५।४२)

पृ० ७४. इडागमाभाव के विषय में इतना अधिक पढ़ें—

श्र्युकः किति (७।२।११)। श्रिञ् तथा उपदेशावस्था में एकाच् उगन्त धातु को कित् प्रत्यय परे रहते इट् नहीं होता—श्रि—श्रित। 'श्रि' उदात्त है। इट् प्राप्त था। उसका निषेध कर दिया है। एकाच् उगन्त धातु—भू—भूत। पूञ् —पूत। कॄ—कीर्ण। तॄ—तीर्ण। भू, पू, कॄ, तॄ—सभी उदात्त हैं।

पृ० ७६. सौनागों के मत-निदर्शन के रूप में इस खण्ड के अन्त में दिये हुए उदाहरणों के साथ यह रामायणीय उदाहरण पढ़िये—

दिलीपेन महाभाग तव पित्राऽतितेजसा।
पुनर्न शकिता नेतुम्............... ॥ (१।४५।११)

पृ० ७९. सम्प्रसारण के उदाहरणों में व्रश्च्—वृक्ण, यह अधिक पढ़िये।

पृ० ८१. स्फीत (स्फायी—क्त) का उदाहरण—

सुधौतांस्तण्डुलान्स्फीतांस्तोये पञ्चगुणे पचेत् (भावप्रकाश)।

इस उदाहरण में 'स्फीत' शब्द में स्फाय् के मुख्यार्थ (वृद्धि) में प्रयोग हुआ है। स्फीतास्तण्डुलाः=फूले हुए चावल।

पृ० ८२. पं० ६. में **अमांसो दुर्बलश्छातः** (अमर)—इतना अधिक पढ़ें।

पृ० ८६. टिप्पण प्रतिष्णात=शुद्ध। यहाँ **सूत्रं प्रतिष्णातम्** (८।३।९०) यह अधिक पढ़ें।

पृ० ९१ व्येञ् के आगे—शीञ्—शीत। श्रीताः सोमा आयाहि (ऋ० ८।२।२८)। इतना और पढ़ें।

पृ० ९२. मृज् से आगे वृजी—वृक्त। अपवृक्त (समाप्त)। व्यपवृक्त (पृथग्भूत) इतना अधिक पढ़ें।

विज् से परे स्फूर्ज्—स्फूर्ण, इतना अधिक पढ़ें।

पृ० ९४. अन् से आगे तन्—तत और पन् से आगे मन् (तनादि)—मत इतना अधिक पढ़िये।

पृ० ९८. गर्ह् के आगे गाहू (गाह्)—गाढ, इतना अधिक पढ़ें।

पृ० १०४. वस् के आगे दह्—दग्ध। दिह्—दिग्ध। सन्दिग्ध। उपदिग्ध। दिग्धः=विषाक्तो बाणः। **विषाक्ते दिग्धलिप्तकौ** (अमर)। रामायण में प्रयोग भी है—**सा विद्धा बहुभिर्वाक्यैर्दिग्धैरिव गजाङ्गना** (२।३०।२३)।

पृ० १०८. प्रयोगमाला के अन्त में **नातिगाढं प्रहृष्येत्** (भा० ४।११८)। **अयोध्यामेव नगरीं प्रययौ गाढदुर्मनाः** (सुमन्त्रः) रा० २।५७।३॥ इतना और पढ़ें।

पृ० १०६. सामानाधिकरण्य में शतृ का प्रयोग—

कार्याणि घटयन्नासीद् दुर्घटान्यपि हेलया। (राजत० ४।३६४)

पृ० ११२. ब्रू के आगे पूङ्—सुवते (लट्)। सुवान (शानच्)। प्रपूर्वक—प्रसुवान।

पृ० १२१. राजानं कुरु वर्धनम् के आगे **हरिः कर्माण्यारभते कर्तुं कीनाश इव वर्धनः** (भा० ५।२५३६)। कीनाशः=कृपणः। इतना और पढ़िये।

पृ० १२४. आलुच् के उदाहरणों में **प्रासादशोभातिशयालुभिः पथि प्रभोर्निवासाः पटवेश्मभिर्बभुः** (माघ १२।६३)। इतना अधिक पढ़ें।

पृ० १२५. माघ शुद्ध कर्ता में भिद् से कुरच् प्रत्यय मानता है—**अयशोभिदुरा कोपधा मारणादृते** (माघ १९।५८)। उपधा=उपायः।

पृ० १२७. वन्दारुजनमन्दारम् से पहले **वन्दारुस्ते तन्वं वन्दे अग्ने** (ऋ० १।१४७।२) यह वैदिक उदाहरण पढ़िये।

पृ० १३१. भाववाची तुमुन्नन्त के कर्तृरूप से प्रयोगों के उदाहरणों में इतना अधिक पढ़ें—**न युक्तमनयोस्तत्र गन्तुम्** (शाकुन्तल)। **पिशुनवचनं दुःखं नेतुं न युक्तमिमं जनम्।** दुष्करं पुष्करं गन्तुम् एतदानुपूर्वीक पाठ महाभारत भण्डारकर संस्थान संशोधित संस्करण ३।८०।५८ में मिलता है।

पृ० १३७. भृश् से पहले नश्—नशितुम्। नंष्टुम् इतना और पढ़ें।

पृ० १४२. 'घञि च भावकरणयोः' का **रज्यन्त्यस्मिन्निति रङ्गः**—यह प्रत्युदाहरण है। यहाँ अधिकरण में प्रत्यय होने से अनुनासिक का लोप नहीं हुआ।

पृ० १५३. ग्रह-वृ-दृ-निश्चि-गमश्च इस सूत्र के उदाहरणों में शब्दग्रह यह अधिक पढ़ें। **गृह्यतेऽनेनेति ग्रहः। करणेऽप्। शब्दस्य ग्रहः शब्दग्रहः कर्णः। कर्णशब्दग्रहौ पुंसि** (अमर)।

पृ० १६०. क्तिन् के उदाहरणों में प्र-शंस्—प्रशस्ति। अभि शंस्—अभिशस्ति (दूषण, दोषारोप)—यह और पढ़ें।

पृ० १६१. पं० ४. अर्द् से पूर्व—धा—हिति। **कास्मै हितिः का परितक्म्यासीत्** (ऋ० १०।१०८।१)।

श्रुयजीषिस्तुभ्यः करणे इस वार्तिक के उदाहरणों में परि इष्—परीष्टि। परीष्टिः=पर्येषणा=अन्वेषणा यह और पढ़ें।

पृ० १६३. 'अ प्रत्ययात्' के उदाहरणों में पणाया (स्तुति)। गोपाया (गुप्ति) इतना अधिक पढ़ें। आय-प्रत्ययान्त पण् तथा गुप् से अ प्रत्यय। टाप्।

पृ० १६५. अङ् प्रत्ययान्त उपमा का रामायणीय उदाहरण—

आत्मानमुपमां कृत्वा स्वेषु दारेषु रम्यताम् (५।२१।८)।

पृ० १६६. करणाधिकरणयोश्च के उदाहरणों में **अश्वाजनि प्रचेतसोऽश्वान्त्समत्सु चोदय** (ऋ० ६।७५।१३), हे कशे, तू प्रबुद्ध घोड़ों को युद्धों में प्रेरित कर। यह अधिक पढ़िये।

पृ० १७२. घञ् के उदाहरणों में—**विध्यन्ते व्याप्यन्तेऽनेन प्रेक्षकाणां मनांसीति वेषः**— माधव)।

पृ० १७३. दुर्मरत्वमहं मन्ये—यहाँ 'दुर्मर' में भाव में खल् है। तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः इस नियम के अनुसार खल् भाव व कर्म में होता है।

पृ० १८६. स्कन्द् का अनिट् धातुओं के मध्य में संनिवेश समझना चाहिये। विद् (प्राप्त करना)—विदित्वा। वित्त्वा। यहाँ वेदित्वा भी पढ़िये। यहाँ 'रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च' से कित्त्व-विकल्प। या पूर्वं पतिं वित्त्वाऽथान्यं विन्दतेऽपरम् (अथर्व० ५।१६।२७)।

पृ० १६२. ऊह् के ल्यबन्त रूपों में 'प्रत्युह्य' भी पढ़िये। **प्रत्युह्य**=रोक कर।

नैषध में प्रयोग भी है—**इतीन्द्रदूत्याः प्रतिवाचमर्धे प्रत्युह्य सैषाभिदधे वयस्याः** (६।१०१)।

पृ० १६८. 'शो' के ल्यबन्त रूप निशाय के साथ 'संशाय' भी पढ़ें। 'संशाय' का वैदिक उदाहरण पढ़िये—

सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मम् (ऋ० १०।१८०।२)।

पृ० २०४. णमुल् के उदाहरणों में **क्राथं क्राथं** (क्रथं क्रथं) **पशून्श्रेयः स्वं वृङ्क्ते व्याधहतकः**, पशुओं को मार मार कर अभागा व्याध अपने कल्याण का नाश करता है। यहाँ चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम् (६।४।६३) से वैकल्पिक उपधा-दीर्घ। क्षजि गतिदानयोः। घटादिः। घटादि होने से क्षज् मित् है। नुम् होने पर 'अ' उपधा न होने पर भी मित्त्व-सामर्थ्यात् वैकल्पिक दीर्घ होता ही है—**क्षञ्जं क्षञ्जम्। क्षाञ्जं क्षाञ्जम्।**

पृ० २०६. 'कर्मणि दृशिविदोः साकल्ये' का एक और उदाहरण— **ब्राह्मणदर्शं प्रणमति ।** (यं यं ब्राह्मणं पश्यति तं तं प्रणमति) ।

पृ० २२४. 'कृदभिहितो भावः' की व्याख्या में लिङ्ग-संख्यायोगित्वं द्रव्यत्वमिति शाब्दिकाः, जिस पदार्थ का लिङ्ग तथा संख्या से निर्देश किया जा सकता है वह द्रव्य है, ऐसा वैयाकरणों का मत है । इतना विशेष जानें ।

(तद्धितप्रकरणे)

पृ० २६३. शुभ्रादि गण के आकृति गण होने से मृदु से अपत्यार्थ में ढक् होता है । न हास्तिनफलमार्देयाः (६।२।१०१) की वृत्ति में **मृदोरपत्यं मार्देयः,** शुभ्रादित्वाड् ढक्— ऐसा काशिकाकार ने कहा है ।

पृ० २६६. नद्यादियों से ढक् के उदाहरणों में कौशाम्ब्यां भवः=**कौशाम्बेयः ।** श्रावस्त्यां भवः **श्रावस्तेयः ।** । कौशाम्बी, श्रावस्ती, दोनों नगर विशेषों के नाम हैं ।

पृ० ३००. अव्ययात्त्यप् के उदाहरणों में 'अमात्य' पढ़ा है । इसका एक और वैदिक उदाहरण—**स नो वेदो अमात्यमग्नी रक्षतु विश्वतः** (ऋ० ७।१५। ३) । अमात्यम्=अमा गृहे भवम् । वेदः—यह सकारान्त नपुं० धनवाची है । अर्थ—अग्नि हमारे घर में पड़े धन की सब ओर से रक्षा करे ।

अन्तिम पङ्क्ति के अन्त में **शश्वद्भवं शाश्वतम्** (अण्) । यहाँ भी टि-लोप नहीं हुआ ।

पृ० ३१०. वार्षिकं धनुः इससे आगे **त्वमिवाज्ञातवसतिं चन्द्रो वसति वार्षिकीम्** (हरिवंश ३५७१), जैसे तू तेरहवें वर्ष में अज्ञातवास कर रहा है, वैसे ही चन्द्रमा बरसात में अज्ञातवास कर रहा है (मेघाच्छन्न होकर दीखता नहीं) । इतना और पढ़ें ।

पृ० ३११. पं० १ में 'अग्र, आदि, पश्चात्, अन्त से' ऐसा पढ़ें और उदाहरणों में पश्चिम से पूर्व 'आदिम' भी पढ़ें ।

पृ० ३३०. कुलालादिभ्यो वुञ्—इसमें 'तेन कृतम्' अनुवृत्त है । **इन्द्रियेणानुभूयत इत्यैन्द्रियकम् ।** कुलालादित्वाद् वुञ् ऐसी व्युत्पत्ति अमर कोष की व्याख्या में भानुजिदीक्षित ने दी है । काशिका वृत्ति से इसकी समर्थना नहीं होती ।

पृ० ३३६. पं० १० के अन्त में एकाचो नित्यम्—यह वार्तिक पढ़ें । इसक उदाहरणों में अम्मयम् (अपां विकारः) । **नाम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छि-**

लामयाः । भावे हि विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणम् (श्रीमद्भागवत) ॥ किमयः स्विच्चमस एष आस (ऋ० ४।३५।४)। किमयः=कस्य विकारः। इतना अधिक पढ़ें।

पृ० ३५२. अञ् प्रत्यय जो 'तस्य धर्म्यम्' अर्थ में विधान किया है वह विशसितृ (घातक, अंग अंग काटने वाला) शब्द से भी आता है और तब इस के इट् का लोप हो जाता है। विशसितुर्धर्म्यं वैशस्त्रम्। विशसितुरिडभावश्चाञ् च वक्तव्यः ऐसा वार्तिक है। विभाजयितुर्धर्म्यं वैभाजित्रम्। यहाँ भी विभाजयितुर्णिलोपश्चाञ्च वक्तव्यः ऐसा वार्तिक पढ़ा है। इट् परे णिच् का लोप प्राप्त नहीं था, अतः विशेष विधान किया है।

पृ० ३८६. कार्मुक के अर्थ के लिये चरक का एक और प्रयोग पढ़िये—

बहुशो गुलिकाः कार्याः कार्मुकास्स्युस्ततोऽधिकम् (चिकित्सा० ५।८४)।

पृ० ३६०. प्रयोजनम् सूत्र के उदाहरणों में ये उदाहरण और पढ़िये—

स चास्य चक्रे कर्माणि वार्षिकाणि यथाविधि। (बृ० देव० ८।६)

वर्षं वृष्टिः प्रयोजनमेषां वार्षिकाणि। देवापि ने शन्तनु के लिये वृष्टि के निमित्त जो यज्ञ कराया, उसकी ओर संकेत है।

प्रीत्या दत्तं तु यत्किञ्चित् श्वश्र्वा श्वशुरेण वा।
पादवन्दनिकं यत्तल्लावण्यार्जितमुच्यते॥

पादवन्दनं प्रणिपातः प्रयोजनं प्रयोजकं यस्य तत् पादवन्दनिकम्।

पृ० ३६४. पं० ६ के प्रारम्भ में तदर्हम् (५।१।११७) यह सूत्र पढ़ें। इस की व्याख्या दी जा चुकी है, केवल एक और उदाहरण पढ़िये—

कुमारे भरते वृत्तिर्वर्तितव्या (=वर्तयितव्या) च राजवत् (रा० २।५८।२०)। राजानमर्हतीति राजवत्। यथा राज्ञि वर्तितव्यं तथा वर्तस्वेत्यर्थः।

पृ० ३६५. त्व, तल् कर्म में भी होते हैं इसका एक और उदाहरण—

ईशोहमपि सर्वस्य करिष्यामि तु तेऽर्थिताम्। (भा० आदि० ३४।१३)—अर्थिनः कर्म अर्थिता=याच्ञा।

पृ० ३६६. उरु+इमनिच्=वरिमन् (चौड़ाई) का वैदिक उदाहरण—

अयं स यो वरिमाणं पृथिव्या वर्ष्माणं दिवो अकृणोत् (ऋ० ६।४७।४)।

इसी ने पृथिवी के विस्तार और द्युलोक की ऊँचाई को बनाया।

पृ० ३६८. ऐश्वर्यम्=ईश्वरस्य कर्म, शासनम् । इस अर्थ में यह औपनिषद उदाहरण पढ़िये—**पुत्रस्यैश्वर्ये पिता वसेत् परि वा व्रजेत्** (कौ० उ० २।१५), पिता पुत्र के कहने में रहे अथवा संन्यास ले ले ।

पृ० ३६६. पं० २. 'प्रातिभाव्य' में उभयपद वृद्धि हुई है, ऐसा जानें। अनुशतिकादि आकृतिगण माना जाता है । 'आदि वृद्धि । गुण ।' जो यह लिखा गया, वह प्रमाद है ।

ष्यञ् के उदाहरणों में सुप्रख्यस्य भावः कर्म वा **सौप्रख्यम्** । यहां गुरूपोत्तम योपध होने से वुञ् प्राप्त था । चक्षिङ् के स्थान में 'क्शाञ्' आदेश होता है। इस के श् को विकल्प से 'य्' हो जाता है, उसे असिद्धकाण्ड (पूर्वत्रासिद्धीय प्रकरण) में पढ़ा जाता है, अतः 'य्' के असिद्ध होने से ष्यञ् हुआ, वुञ् नहीं ।

पृ० ४०२. योपध गुरूपोत्तम से वुञ् का एक और उदाहरण—**आर्यस्य भावः=आर्यकम् । मयि माऽनार्यकं कृथाः** (हरिवंश १।३६) । मेरे साथ अनार्य (अशिष्ट) व्यवहार न कीजिये ।

पृ० ४३१. उपताप (रोग)-वाची से मत्वर्थीय 'इनि' का एक और उदाहरण—

क्षय्यामयाव्यपस्मारि-श्वित्रि-कुष्ठि-कुलानि च (मनु० ३।७) ।

क्षयि कुलम् । आमयावि कुलम् । अपस्मारि कुलम् । अपस्मार=मिरगी ।

पृ० ४३४. 'रजस्वल' का रजोवकीर्ण अर्थ में एक और प्रयोग—

पङ्कदिग्धान् रजस्वलान् (भा० शां० ११।७) ।

पृ० ४४०. देवता अर्थ में 'वृन्दारक' का प्रयोग—

यौ चक्रतुर्मां मघवन् वृन्दारकमिवाजरम् (भा० ३।१०३।) ।

पृ० ४४२. अतः महाभारतस्थ प्रयोग—**पापान्प्रवर्धतो दृष्ट्वा कल्याणानवसीदतः** (१३।५६१५) । **एकोहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे** (मनु० ८।६१) । **त्वमेव कल्याणि तयोस्तृतीया** (रघु० ६।२६) । इत्यादि में अर्श आदि अच् हुआ है । इतना अधिक पढ़ें ।

पृ० ४४८. प्रयोगमाला के अन्त में

यद्वै वर्चस्वी कर्म चिकीर्षति शक्नोति वै तत् कर्तुम् (श० ब्रा० ५। २।५।१२) । इतना अधिक पढ़िये ।

पृ० ४७०. विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु—सूत्र में तु-ग्रहण का प्रयोजन

यह है कि जो पहले था, वही सब कुछ होता है, अतः लिङ्ग संख्या भी जो प्रत्ययोत्पत्ति से पूर्व प्रकृति-अवस्था में देखे गये हैं वे ही प्रत्ययोत्पत्ति के पीछे भी रहते हैं।

४७७. प्रयोगमाला में नं० १८ से पूर्व यह वाक्य पढ़िये—

न मनसः किञ्चनाशीयोऽस्ति (श० ब्रा० ५।१।४।८), मन से अधिक शीघ्र-गामी कोई पदार्थ नहीं।

नं० १८ के अनन्तर यह वाक्य पढ़िये—

गर्दभः सर्वेषां वाहनानामनाशिष्ठः (ऐ० ब्रा० ४।९), गधा सब भार ढोने वालों में मन्दतम है।

पृ० ४९०. स्वार्थिक कन् का एक और उदाहरण—अन्ति एव अन्तिकम्। अन्ति=समीप। **दूरे वा ये अन्ति वा के चिदत्रिणः** (ऋ० १।९४।९)।

पृ० ४९२. तरप् आदि के अभाव में भी अतिशायन अर्थ की प्रतीति होती है। इसके अन्य रुचिर उदाहरण—

रामाद्रामं जगदभूद्रामे राज्यं प्रशासति (भा०७।२२४६)।

राम=अभिराम।

अपि कुञ्जरकर्णान्तादपि पिप्पलपल्लवात्।
अपि विद्युद्विलसिताद् विलोलं ललनामनः॥

पृ० ४९६. वेद में देव और देवता का एक साथ प्रयोग आया है—

न यस्य देवा देवता न मर्त्या आपश्चन शवसो अन्तमापुः (ऋ० १।१००।१५)। देव एव देवता, स्वार्थ में तल् मानने पर देव और देवता में से एक का प्रयोग व्यर्थ रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल के प्रारम्भ में देवता शब्द का स्त्री-देव के लिये ही प्रयोग होता होगा। कालान्तर में पुंस्त्व-स्त्रीत्व की अविवक्षा में निर्विशेष रूप से देवमात्र में इसका व्यवहार होने लगा। सायण 'देवता' से सुपां सु-लुक्० (७।१।३९) से षष्ठी का लुक् हुआ है, देवता=देवतायाः (इन्द्रस्य) ऐसी कल्पना करता है, जो हमें रुचिकर नहीं।

पृ० ४८९. विनयादिभ्यष्ठक्—इस सूत्र के उदाहरण में 'औपयिक' के और अर्थ के लिये यह पढ़िये—

सत्येन हि स्थितो धर्म उपपत्त्या तथा परे।
साध्वाचारतया केचित्तथैवौपयिकादपि॥

औपयिक उक्तभयप्रदर्शनजा प्रवृत्तिः (नीलकण्ठ)।

पृ० ४४६. राजतरङ्गिणी (६।३५) में वाचिक (=सन्देश वाक्) का प्रयोग—**भृत्यमेकं वणिग्वेश्म प्राहिणोद् दत्तवाचिकम्**।

पृ० ५०१. अव्यविक न्याय का एक और उदाहरण—**मणिरेव माणिक्यम्**। मणि शब्द से विग्रह। मणिक शब्द से प्रत्यय।

तृतीयखण्डे परिशिष्टांशाः

पृ० १६. पूङ् पवने (क्षरणे) के एक दो और वैदिक उदाहरण—

पवस्वाद्भ्यो अदाभ्यः पवस्वौषधीभ्यः। पवस्व धिषणाभ्यः॥

(६।५६।२)। **नेन्द्राहते पवते धाम किञ्चन** (ऋ० ६।६६।६)। इन्द्रं विहाय देवतान्तरस्य धाम सोमो न गच्छतीत्यर्थः। उद्दिशिक्रियामन्तर्णीत्वा पवतेः प्रयोगः, अतः सकर्मकत्वम्।

पृ० ३५. रूष् के विषय में क्षीरस्वामी का मत—**रूषिर्व्याप्त्यर्थो लौकिकः**। भानुजिदीक्षित का इस धातु के विषय में **रूषिर्वेष्टनार्थोऽपठितो पि भ्वादिषु द्रष्टव्यो भ्वादेराकृतिगणत्वात्**—ऐसा दर्शन है।

पृ० ३७. अव् के हिंसार्थ के लिये यह वैदिक उदाहरण पढ़िये—

विश्वा हि माया अवसि स्वधावः (ऋ० ६।५८।१)। अवसि= हिनस्सि, नष्ट करते हो।

पृ० ४०. वम् का गौणार्थ में एक सुन्दर प्रयोग—

यस्तस्य वमतो बाणान् स्थातुमुत्सहतेऽग्रतः। (रा० ५।३६।५५)

वमतः=अनायासमनवग्रहं च निःसारयतः। ऐसे ही गौण प्रयोग को लक्ष्य करके आचार्य दण्डी ने कहा है—

निष्ठ्यूतोद्गीर्णवान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम्।
अतिसुन्दरमन्यत्र ग्राम्यकक्षां विगाहते॥

पृ० ४३. स्वद् के सकर्मकतया प्रयोग के लिये यह वैदिक उदाहरण पढ़िये—

स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन (अथर्व० ५।१२।१०)। स्वदन्तु=स्वदन्ताम्=आस्वादन्ताम्।

पृ० ४६. दय् के हिंसा अर्थ में एक और वैदिक उदाहरण—

स्थिरा चिदन्ना दयते वि जम्भैः। (ऋ० ४।७।१०)

अग्नि स्थिर (कठिन) अन्न (भक्षणीय काष्ठादि) को अपने जम्भों (दाँतों) से खण्डित करता है।

पृ० ४८. पन् का स्तुत्यर्थ में एक वैदिक उदाहरण—

अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनुयच्छन्ति रश्मयः (ऋ० ६।७५।६)। (इन) बागों की महिमा की स्तुति करो, जो सारथि के मन के अनुकूल घोड़ों का संयमन करती हैं।

५६. **मा मां पद्येन रपसा विदत् त्सरुः** (ऋ० ७।५०।१)।

छद्मगामी साँप मेरे पाओं की आहट से मेरे पास मत पहुँचे।

लोक में त्सरु खड्गमुष्टि के अर्थ में प्रसिद्ध है।

७२. 'वह्' हल खींचना अर्थ में रामायण में प्रयुक्त हुआ है—

अन्यदा किल धर्मज्ञा सुरभिः सुरसंमता।
वहमानौ ददर्शोर्व्यां पुत्रौ विगतचेतसौ॥ (रा० २।७४।१५)

८५. वस आच्छादने का वैदिक उदाहरण—

सोमस्त्वा राजामृतेनानु वस्ताम्। (ऋ० ६।७५।१८)

शिजि अव्यक्ते शब्दे का वैदिक उदाहरण—

योषेव शिङ्क्ते वितताऽधि धन्वन्। (ऋ० ६।७५।३)

जैसे स्त्री अपने पति का परिष्वङ्ग (आलिङ्गन) करती है, वैसे ज्या (धनुष् की डोरी) बाण का आलिङ्गन करती है और धनुष् पर फैलाई हुई शब्द करती है।

पृ० ११५. तमु त्वा जहिमो वयम् (अथर्व० ३।२६।२) का प्रथम चरण ऐसे है—**यो नः पाप्मा न जहासि।**

पृ० १२५. टिप्पण नं० ३ पर ज्ञाजनोर्जा (७।३।७६) सूत्र पढ़ें।

पृ० १२८. लिश् का प्रयोग शतपथ (२।४।३।२—३) में आया है—

ततो न मनुष्या आशु र्न पशव आलिलिशिरे ता हेमाः प्रजाः।

आलिलिशिरे=दुर्वल, पतली दुवली हो गई।

पृ० १३२. पुष् दिवा० अकर्मक का एक और वैदिक उदाहरण—

अनु वीरैरनु पुष्यास्म गोभिरन्वश्वैरनु सर्वेण पुष्टैः (वा० सं० २६।१६)।

पृ० १३७. गृध् धातु की अकर्मकता का एक और वैदिक उदाहरण—

ते पत्नीष्वेव गन्धर्वा गर्धिष्यन्ति। (श० ब्रा० ३।६।३।२०)

पृ० १४१. स्पृ प्रीतिपालनयोः का अथर्ववेदीय उदाहरण—

तमाहरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्षमेनं शतशारदाय (३।११।२)

अस्पार्षम्=अपीपलम्=अरक्षिषम्, मैं ने इसकी रक्षा की है।

पृ० १४६. मृण् (तुदा०) का एक वैदिक उदाहरण—

अनासो दस्यूँरमृणो वधेन। (ऋ० ५।२९।१०)

पृ० १७२. श्रीञ् पाके का एक और वैदिक उदाहरण—

तं बह्वीभिर्धानाभिः श्रीत्वा (सत्याषाढ श्रौ० ९।४)।

पृ० १८८. वस स्नेह-च्छेदापहरणेषु चुरादि का छेद (काटना) अर्थ में प्रयोग—

शिश्नं परिवास्याञ्जलावाधाय (आप० ध० सू० १।२५।१)।

परिवास्य=छित्त्वा।

पृ० १९१. धून्प्रीञोर्नुक्—यह वार्तिक इस पत्र के प्रान्त में पढ़ें।

पृ० २००. रिश् हिंसा करना तुदा० अनिट् का वैदिक उदाहरण—

प्र यो मन्युं रिरिक्षतो मिनाति (ऋ० ७।३६।४)।

रिरिक्षतः=रेष्टुं हिंसितुमिच्छतः।

पृ० २६५. अन्तिम पङ्क्ति से पहले 'एकवाक्यता को प्राप्त करते हैं'—यहाँ एकवाक्यता से **वाक्यैकवाक्यता** अभिप्रेत है ऐसा जानें।

पृ० २६६. 'उच्चारणे' से पूर्व 'अध्याहृत' पढ़ें। 'कर्मीभूत' से पहले 'कारक विभक्ति षष्ठी के संभव होने पर शेषषष्ठी की कल्पना अन्याय्य है, अतः'—इतना अधिक पढ़ें।

पृ० २७७. 'कस' के नीचे **व्यय—अवव्ययत्**—इतना अधिक पढ़ें।

पृ० २९२. प्रयोगमाला में **मा वां रातिरुपदसत्कदाचन** (ऋ० १।२०।५)। आप का दान कभी क्षीण न हो। उप-दस् दिवा०—लुङ्। माङ् योग में अट् का अभाव। इतना और पढ़िये।

पृ० ३५०. पं० २. **ज्या—ज्यापयसि।** नाहं जीनः। **त्वं मां ज्यापयसीति द्वेषस्ते मयि। जीनमाचक्ष इति ज्यापयसि।**

(३९७) की व्याख्या के अन्त में सूत्र में जो 'पा' पढ़ा है उससे पै ओवै शोषणे यहाँ पढ़े हुए 'पै' का भी ग्रहण इष्ट है ऐसा एकीय मत है (काशिका)। इसके अनुसार **पाययति पामा नाम रोगः**, यहाँ युक् ह ता है।

पृ० ३५२. णिच् परे स्फाय् के य् को 'व्' आदेश का एक वैदिक उदाहरण—

गयस्फानः प्रतरणः सुवीर इति गवां नः स्फावयिता प्रतारयितैधीत्याह
(ऐ० ब्रा० १।१३)।

पृ० ३६३. अभ्यास को नुक् आगम के विषय में 'स च पदान्तवद् वाच्यः' —यह वार्तिक पढ़ें। इसका अर्थ पहले दिया जा चुका है।

पृ० ३६७. चलीक्लृप्यते। ऋदुपध धातु के अभ्यास को विहित रुक्, रिक्, रीक् आगम क्लृप् के अङ्गभूत हैं, अतः कृपो रो लः की यहाँ भी प्रवृत्ति होती है।

पृ० ३६८. पं० ६ में अभ्यास के 'अ' को—इससे पहले 'हलादिः शेषः' से 'र' शेष रह जाता है, इतना अधिक पढ़िये।

पृ० ४४५. प्रयोगमाला के अन्त में यह अधिक पढ़िये—

व्याप्तव्योमतले मृगाङ्कधवले निर्धौतदिङ्मण्डले
देव त्वद्यशसि प्रशान्ततमसि प्रौढे जगत्प्रेयसि।
कैलासन्ति महीभृतः फणभृतः शेषन्ति पाथोधयः
क्षीरोदन्ति सुरद्विपन्ति करिणो हंसन्ति पुंस्कोकिलाः॥

(राजेन्द्रकर्णपूर)

हे राजान्, जब आप के बढ़े हुए, लोकप्रिय, चन्द्र की तरह धवल, गगनव्यापी यश ने दिक्चक्र को धोकर निर्मल कर दिया है तब सभी पर्वत कैलास बन रहे हैं, सभी सर्प शेषनाग बन रहे हैं, सभी समुद्र क्षीर-सागर बन रहे हैं, सभी हाथी ऐरावत बन रहे हैं और सभी कोकिल हंस बन रहे हैं।

पृ० ४४६. 'निविशते यदि शूकशिखा पदे' इसका द्वितीय चरण—

सृजति सा कियतीमिव न व्यथाम् (नैषध० ४।११) पढ़िये।

पृ० ४५६. समो गम्यृच्छिभ्याम् सूत्र में 'समः' यह पञ्चम्यन्त है (षष्ठ्यन्त नहीं) अतः अव्यवहित उत्तर गम् तथा ऋच्छ् से आत्मनेपद होता है, व्यवहित से नहीं, अतः **रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन**। यहाँ आङ्कृत व्यवधान होने से आत्मनेपद नहीं होता।

पृ० ४५६. सम्पूर्वक विद् से आत्मनेपद का एक वैदिक उदाहरण—

ब्रह्मणाग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः (ऋ० १०।१६२।१)।

संविदानः=संजानानः, ऐकमत्यं गतः।

४५६. 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' सूत्र से सर्ग (उत्साह) अर्थ में आत्मनेपद का एक और उदाहरण पढ़िये—

व्युत्पत्तिरावर्जितकोविदापि न रञ्जनाय क्रमते जडानाम्
(विक्रमाङ्क० १।१६)। व्युत्पत्ति (विशिष्ट ज्ञान, विशेषज्ञता) विचक्षण लोगों को प्रसन्न कर सकती है, जड़ों (मूर्खों) को नहीं।

४८२. सम्पूर्वक वद् से आत्मनेपद के दो और वैदिक उदाहरण पढ़िये—
मृषा वै किल मां संवदिष्ठा ब्रह्म ते ब्रवाणीति (कौ० ब्रा० उ०।४।१८)
स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा इति (बृहदा० उ०।२।१।६)।

४६८. श्वगणिनां धेनुः— इत्यादि उद्धरण कौटलीय अर्थशास्त्र (१४।१०) से लिया गया है।

५१६. विधिनिमन्त्रणामन्त्रण इत्यादि सूत्र के स्थान में कुछ वैयाकरण 'प्रवर्तनायां लिङ्' ऐसा सूत्रन्यास चाहते हैं। प्रवर्तना तीन भेदों में विभक्त होती है—

प्रेषणाध्येषणाऽनुज्ञा त्रिविधा स्यात्प्रवर्तना।
अधःकक्षे चोर्ध्वकक्षे समकक्षे जने क्रमात्॥

अपने से अपकृष्ट की प्रवर्तना=प्रेरणा को 'प्रेषणा' कहते हैं, अपने से उत्कृष्ट की प्रवर्तना को 'अध्येषणा', अपने समान की प्रवर्तना को 'अनुज्ञा' कहते हैं।

५२४. वाक्य नं० १८ में स्त्रियं सम्बभूवुः ऐसा प्रयोग किया है। इसकी साधुता अनभिशङ्कनीय है। द्वितीया भी व्यवहारानुगत है। तृतीया भी इस अर्थ में देखी जाती है—

महर्षिः संविदं कृत्वा संबभूव तया सह (भा० आदि० १७७।४४)।

पृ० ५४०. यहाँ गत्यर्थाकर्मक० (३।४।७२) के स्थान में गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ (१।४।५२) यह पढ़ें।

पृ० ५ (चतुर्थखण्ड) टिप्पण नं० ४ में स्त्रियां च (७।१।९६) से क्रोष्टु को तृज्वद्भाव। (क्रोष्टृ+ङीप्=क्रोष्ट्री)।

पृ० ७ 'वनो र च' का एक वैदिक उदाहरण—

विद्या ह्यस्य वीरस्य भूरिदावरीं सुमतिम् (ऋ० ८।२।२१)।

पृ० ३२ 'वि' का किञ्चिदून अर्थ में प्रयोग—

अध्वनो विमध्यम् (अथर्व० ७।७५।२)।

पृ० ३९२ आविस् अव्यय का वैदिक उदाहरण—

यो नस्तायद् दिप्सति यो न आविः (अथर्व० ७।१०८।१)।
जो हमें छिपकर धोखा देता और जो प्रकट रूप से धोखा देता है।

एतत्खण्डोपात्तसूत्रवार्तिकादीनां सूची।

एतत्खण्डोपात्तपरिभाषासूची

प्रथमखण्डोपात्तकारकसूत्रसूचिका

प्रथमखण्डोपात्तसमाससूत्रसूचिका

द्वितीयखण्डोपात्तकृत्सूत्रवार्तिकादीनां सूची।

द्वितीयखण्डोपात्ततद्धितसूत्रवार्तिकादीनां सूची

द्वितीयखण्डोपात्तकृत्प्रत्ययानां सूची

द्वितीयखण्डोपात्तकृत्प्रत्ययानां सूची

द्वितीयखण्डोपात्ततद्धितप्रत्ययानां सूची ।

संशोधन व परिवर्धन

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	२५	इत्यर्थं	इत्यर्थं
१०	२२	अलङ्ककार	अलङ्कार
१२	२३	म्ना धातु आ प्रयोग	म्ना धातु का प्रयोग
१६	६	नदी	नदी[1]
१६	१६	घि[2]	घि[3]
२४	४	रीदिति	रोदिति
६१	२६	किसी एक भी	किसी एक की भी
६४	५	ऋत् उत्	ऋत उत्
७०	३	यञञोश्च	यञिञोश्च
७३	२१	स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जनेन	स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न
८३	२	अहाय	असहाय
११२	२८	निमित्त-समुदाअ	निमित्त-समुदाय
१२०	२८	थैयाकरण-कृतान्त	वैयाकरण-कृतान्त
१४८	२८	वर्णादाङ्गं बलीयः	वार्णादाङ्गं बलीयः
१४६	१२	अभ्यासस्यासवर्णें	अभ्यासस्यासवर्णे
१८५	१६	ह-शश्वतोर्जङ् च	ह-शश्वतोर्लङ् च
१८८	१७	जो कौमर में	जो कौमार में
१६३	७	गोश्वन्सावर्ण-	न गोश्वन्सावर्ण-
२२७	२६	ने दोनों	वे दोनों
२३२	१६	संज्ञापूर्वकी विधि०	संज्ञापूर्वको विधि०
२३५	१	अनुदात्तेत्वलण०	अनुदात्तेत्वलक्षण०
२७३	२६	कयट	कैयट
२८६	१५	देदितः (दीङ्-क्त)	देदितः (दीङ्-इट्-क्त)
,,	१६	जर्गृधीऽति	जर्गृधीति
४४७	२४	कौतुस्कुतः	कौतस्कुतः

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४५०	५	प्रत्यावत	प्रत्यावर्ते
४५५	७	परे होने पद	परे होने पर
४७३	१८	सुरा-पानं	सुरा पानं
४७४	१९	गर्गभगिनी	गर्गभगिणी
४७८	५	द् को ष्टुत्व	द्-स्थानिक 'न्' को ष्टुत्व
४८१	२३	'कुमति च' से विभक्तिस्थ न् को नित्य	'प्रातिपदिकान्त—' से विभक्तिस्थ न् को वैकल्पिक
४९१	१४	यर कप्	पर कप्
४९५	२४	मन्त्रे घसह्वरनश-	मन्त्रे घसह्वरणश-
४९८	२४	स्थानप्रयत्न साम्य से ङ्	स्थानप्रयत्नसाम्य से ड्
५४१	२५	चिभुवनम्	त्रिभुवनम्
५६३	१०	हरिणास्तवासुराः	हरिणा तवासुराः

५७५ पृष्ठ के नीचे के टिप्पण नं० १ को पृ० ५७४ के नीचे पढ़ें।

४४ (प्र० ख०) हेतु-तृतीया के उदाहरणों में न्यमन्त्रयत वन्येन फलमूलादिना तदा (भा० आदि० ५।१७) यह अधिक पढ़ें।

३६६ (द्वि० ख०) शरीरावयवाद्यत् के उदाहरणों में यह अधिक पढ़ें—

धिया भाग्यानुगामिन्या चेष्टामानो नयोचितम्।
अभूत् सर्वस्य चक्षुष्यः स हि दुर्लभवर्धनः॥ (राजत० ३।४९५)

४३९ 'ऋत्यकः' के उदाहरणों में **पर ऋणा सावीरथ मत्कृतानि** (ऋ० २।२८।९)—यह अधिक पढ़ें। पर=परा (उपसर्ग)। अर्थ—मुझ से उठाए हुए ऋणों को दूर कीजिये।

५८७ प्रथम पङ्क्ति विच्छिन्न हो गई है। इसे इस प्रकार सन्धान-पूर्वक पढ़ें—आर्य लोग उन्हें रजत के अर्थ में तथा रुधिर के पर्यायों को कुङ्कुम के०

५९३ 'प्रत्येकम्' के प्रयोग के विषय में यह अधिक पढ़िये—

प्रत्येकं च समूहोऽसौ समूहिषु समाप्यते। (वा० प० ३।१४।२९)

नम्रनिवेदन—जहाँ कहीं ध-घ, भ-म, ब-व का व्यत्यास हुआ हो तथा मात्रा-हल्-चिह्न आदि की त्रुटि अथवा अनुस्वार का भ्रंश हुआ हो उसे विवेकी पाठक कृपया स्वयं शुद्ध करके पढ़लें।

स्पष्ट किया है। जैसे पूर्व चार खण्डों में वैसे ही यहाँ भी इ
प्रकरण में उदाहरणों की प्रचुरता, प्रत्यग्रता तथा रुचिरत
इस कृति का स्वालक्षण्य है। सर्वत्र वाक्य-सन्दर्भ में सन्धि
दिखाई गई है। पदान्त, अपदान्त उपसर्ग सन्धि तथा समास
सन्धि के सभी उदाहरण पृथक्-पृथक् दिये हैं, साङ्कर्य
नहीं। वाक्यस्थ उदाहरण जहाँ विषय को विस्पष्ट तथ
सुग्रह बनाएंगे, वहाँ शतशः वाक्य इस बहाने से समर्पित
हुए अभि व छात्र मे यथेष्ट रचनाकौशल भी उत्पन्न करेंगे
वैसे तो सभी उदाहरण हृदयङ्गम हैं पर आप विशेषरूप से
'ऋत्यकः' के लौकिक व वैदिक उदाहरण पढ़िये और उनकी
काशिकास्थ खट्व ऋश्यः, माल ऋश्यः उदाहरणों के साथ
तुलना कीजिये।

लिङ्गविषयक पञ्चम प्रकरण का निरूपण पाणिनीय
लिङ्गानुशासन के आधार पर किया है। यहाँ लिङ्गानुशासन
के सूत्रों के नाना उदाहरण साहित्योद्धृत दिये हैं, अमरादि
कृत लिङ्गानुशासनों के साथ संवाद-विवाद भी दिखाय
है। पाणिनीय लिङ्गानुशासन के अतिसंक्षिप्त होने से उसकी
आंशिक पूर्ति के लिये 'लिङ्गानुशासनशेषः' इस नाम का एक
प्रकरण अपनी ओर से जोड़ा है जो ३२ पृष्ठों में समाप्त
हुआ है। इसे ११ अवान्तर विभागों में विभक्त किया है
इसमें बहुत कुछ विद्वानों के लिये द्रष्टव्य है। पर 'शक्यम्'
तथा 'प्रत्येकम्' के विषय में जो विमर्श हमने उपस्थित
किया है, उसे वे अवश्य देखें।

पाँचों प्रकरणों की परिसमाप्ति पर जो 'परिशिष्टांश
नाम से यहाँ रखा गया है वह वह संग्राह्य सामग्री है जो पू
चार खण्डों के प्रकाशित हो जाने के पश्चात् अध्ययन
नैरन्तर्य से प्राप्त हुई। इस में कितना नूतनार्थ संगृही
हुआ है इसे पाठक स्वयं सम्यक् अनुभव करेंगे।

मूल्य : 125.0

व्याकरणचन्द्रोदय

पं० चारुदेव शास्त्री

व्याकरणचन्द्रोदय अब सम्पूर्ण पाँच खण्डों में प्रकाशित हो चुका है। प्रथम खण्ड कारक-निरूपणात्मक है। द्वितीय कृत्तद्धित-विषयक है। तृतीय तिङ्-व्याख्यान-परक है और चतुर्थ स्त्रीप्रत्यय-सुप्-अव्ययार्थ-निदर्शक है। पञ्चम खण्ड शिक्षा-संज्ञा-परिभाषा-सन्धि-लिङ्ग-निरूपक है। प्रक्रिया-ग्रंथ होते हुए भी यह कृति व्याक्रियाप्रधान है। लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्—यह सर्वसम्मत व्याकरण का स्वरूप माना जाता है। तो भी पूर्व विद्यमान व्याकृतिग्रंथों में लक्ष्य का अत्यल्प उपादान है। पुरानी शैली से लिखे गये वृत्ति आदि ग्रंथों में एक-दो लक्ष्यों में लक्षण (सूत्र) की प्रवृत्ति को दिखाने से वृत्तिकारादि अपने को कृतार्थ मानते हैं। नूतन रीति से लिखे गये व्याकरणग्रंथों में प्रयोगों के उदाहरण देने का प्रयत्न तो है, पर वे उदाहरण या तो स्वयं घटित होते हैं, या भट्टिकाव्यादि से उठाये जाते हैं, जहाँ व्याकरण सिखाने के लिये वे घड़े गये हैं और जिनमें अनेकानेक ऐसे हैं जो साहित्य में कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुए, अतः अव्यवहार्य हैं। इस वर्ग के विद्वान् भूल जाते हैं कि व्याकरण अन्वाख्यान-स्मृति है—व्याक्रियन्ते पदानीह क्रियन्ते नूतनानि न।

इस कृति का वाग्व्यवहार सिखाना प्रधान लक्ष्य है। प्रक्रिया इस साध्य में साधनमात्र है। व्यवहार उपकार्य है, प्रक्रिया उपकारक। अतः इस कृति में जहां सूत्रादि की विशद व्याख्या की गई है, सूत्रादि की प्रवृत्ति द्वारा सरल, शङ्कासमाधान सहित, क्रम-बद्ध रूपसिद्धि दी गई है, वहां वैदिक-लौकिक उभय-विध वाङ्मय से शतशः वाक्य उद्धृत किये हैं जो व्याकरण-व्युत्पादित उस-उस लक्ष्य को प्रयोगावतीर्ण दिखाते हुए उसकी साधुता को यथेष्ट रूप से प्रमाणित करते हैं और व्यवहार सिखाने में अत्यन्तोपकारक हैं।

स्थान-स्थान पर अपेक्षित नूतनार्थोपन्यास, पूर्वमतसमीक्षा, संक्षिप्त वैयाकरणोक्तिविशदीकरण, **यथासंभव** अष्टाध्यायीगतसूत्रक्रमाश्रयण, आदि असामान्य धर्म इस कृति को अन्य कृतियों से पृथक् करते हैं और इसकी मौलिकता की ओर संकेत करते हैं।

प्रथम खण्ड (कारक व समास)	(Ed. 1969)	8.00
द्वितीय खण्ड (कृत् व तद्धित)	(Ed. 1970)	22.50
तृतीय खण्ड (तिङन्त)	(Ed. 1971)	40.00
चतुर्थ खण्ड (स्त्रीप्रत्यय-सुप्-अव्ययार्थ)	(Ed. 1972)	20.00
पंचम खण्ड (संज्ञा-परिभाषा-सन्धि-लिङ्गानुशासन)	(Ed. 1973)	55.00

आकार डिमाई :: कुल पृष्ठ २,३३२ :: कपड़े की जिल्द सहित

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली :: पटना :: वाराणसी

ISBN 81-208-2533-0